लघुशब्देन्दुशेखरः

'वैकुण्ठी'-हिन्दीटीकासमलङ्कृत

(संज्ञाप्रकरणतः [illegible])

।। श्रीः ।।

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
२९६

नागेशभट्टविरचितः

लघुशब्देन्दुशेखरः

'वैकुण्ठी'-हिन्दीटीकासमलङ्कृत

(सञ्ज्ञाप्रकरणतः अव्ययीभावान्तपर्यन्तम्)

व्याख्याकारः—
संस्कृतवाचस्पति
पं० वैकुण्ठनाथ शास्त्री
व्याकरणसाहित्यन्यायाचार्यः

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

प्रथम संस्करण १९९४ ई०

मूल्य ३५०–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

फूल प्रिण्टर्स

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
296

LAGHUŚABDENDUŚEKHARAḤ

OF

NĀGEŚA BHAṬṬA

Edited With

'Vaikuṇṭhī' Hindi Commentary

By

Sanskrit-vachaspati

Vaikuntha Nath Shastri

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Publishers & Distributors*)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 333431

First Edition
1994

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 3956391

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 320404

समर्पणम्

स्वर्गस्थिताय दिव्याय चन्द्रशेखरशास्त्रिणे ।
ज्येष्ठभ्रात्रे च गुरवे कृतिरेषा निवेद्यते ॥
विज्ञवैकुण्ठनाथेन छात्राणामुपकारिणी ।
शब्देन्दुशेखरव्याख्या कृता लोके विराजताम् ॥

वैकुण्ठनाथ शास्त्री

भूमिका

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' संस्कृत के व्याकरण का आधारभूत ग्रन्थ है। आज से करीब पच्चीस सौ वर्ष पूर्व तक्षशिला में लिखा गया यह ग्रन्थ संसार की सभी भाषाओं के व्याकरण ग्रन्थों में प्राचीनतम है तथा वैज्ञानिकता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। यह तत्कालीन सूत्रशैली में लिखा गया है। सूत्रशैली गागर में सागर भरने का काम तो करती है, पर सामान्य पाठक के लिए विषय दुरूह हो जाता है। अतः सूत्रों की व्याख्या, टीका, भाष्य आदि आवश्यक हो जाते हैं। इसीलिए पतञ्जलि ने ईसा से करीब १५० वर्ष पूर्व 'महाभाष्य' लिखा और इसके बाद 'काशिका' आयी। इन दोनों ग्रन्थों के सहारे 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों को समझने, पढ़ने और पढ़ाने की परम्परा सोलहवीं शताब्दी तक चलती रही। पर पाणिनि के सूत्रों की दुरूहता पूर्णतः दूर नहीं हो पायी।

सत्रहवीं शताब्दी में भट्टोजि दीक्षित ने इसे दूर करने के लिए 'सिद्धान्तकौमुदी' एवं 'मनोरमा' की रचना की। पर 'सिद्धान्तकौमुदी' ने अनेक नये प्रश्न खड़े कर दिये। इन प्रश्नों के समाधान के लिए सत्रहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के बीच अनेक गन्थ तथा उन पर टीकाएँ लिखी गयीं। इनमें भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हर दीक्षित कृत 'शब्दरत्न' एवं उनके शिष्य नागेश भट्ट कृत 'बृहच्छब्देन्दुशेखर' (अप्राप्य), 'लघुशब्देन्दुशेखर', 'परिभाषेन्दुशेखर' एवं 'मञ्जूषा' प्रमुख ग्रन्थ हैं। टीकाकारों में भैरव मिश्र का नाम अग्रणी है। मौखिक रूप से परिष्कार शैली से इन व्याकरण के ग्रन्थों के विवेचन की परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी में बालशास्त्री ने आरम्भ की।

अब न केवल व्याकरण के अध्यापन की यह परम्परा ही क्षीण हो गई है, अपितु संस्कृत भाषा, विशेषरूप से संस्कृत व्याकरण के गम्भीर अध्ययन-अध्यापन का तीव्र गति से ह्रास हो रहा है। यह असम्भव नहीं लगता कि निकट अथवा दूर भविष्य में संस्कृत व्याकरण के इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ज्ञान ही लुप्त हो जाय। इस परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए मैंने 'लघुशब्देन्दुशेखर' की यह हिन्दी टीका लिखी है। आशा करता हूँ कि इस टीका से 'लघुशब्देन्दुशेखर' को समझने तथा संस्कृत व्याकरण के मार्मिक प्रश्नों के समाधान में सहायता मिलेगी।

मैंने यह पुस्तक तथा 'परिभाषेन्दुशेखर' की संस्कृत टीका अनेक वर्षों पूर्व लिखी थी। ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन अब अत्यन्त कठिन हो गया है। इसलिए प्रकाशक खोजने और प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था करने में पर्याप्त समय लग गया। इन सबको जुटाने में मेरे ज्येष्ठ पुत्र डा० कैलासनाथ शर्मा (सेवा-निवृत्त

प्रोफेसर, समाजशास्त्र, आई० आई० टी० कानपुर ने और विशेष रूप से कनिष्ठ पुत्र नरेन्द्र शर्मा, एडवोकेट ने अथक प्रयास किया। प्रकाशन की व्यवस्था देखने और प्रूफ पढ़ने आदि में मेरे शिष्य डा० जटाशंकर दीक्षित और डा० शिवबालक द्विवेदी एवं प्रकाशक कैलाशनाथ त्रिपाठी ने योगदान दिया। अनेक संकटों से आक्रान्त होते हुए भी कैलाशनाथ त्रिपाठी ने अन्ततोगत्वा यह पुस्तक प्रकाशित कर ही दी। हो सकता है कि इस पुस्तक में अनेक अशुद्धियाँ रह गई हों। विज्ञ पाठकों से निवेदन है कि वे इनका यथावश्यक सुधार कर लें।

मौनी अमावस्या
माघकृष्ण, सं० २०५०
(१० फरवरी, १९९४)

वैकुण्ठनाथ शास्त्री
९/७६, आर्यनगर
कानपुर २०८००२

अनुक्रमणिका

॥ श्री गुरुश्शरणम् ॥

लघुशब्देन्दुशेखरः

आचार्य श्रीवैकुण्ठनाथ शास्त्रिकृत "वैकुण्ठी" हिन्दीटीका समलंकृतः ।

पातञ्जले महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमः ।
शिवभट्टसुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भजः ॥ १ ॥
याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात् ।
शृङ्गिबेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः ॥ २ ॥
नत्वा फणीशं नागेशस्तनुतेऽर्थं प्रकाशकम् ।
मनोरमोमार्द्धदेहं लघुशब्देन्दुशेखरम् ॥ ३ ॥

अथ 'वैकुण्ठी' टीका

गङ्गां षडस्रनिलयः पितुर्मौलिसङ्गाम्,
उल्लासयन् निजकरेण शिवातनूजः ।
कर्षन् मृणालमिव चन्द्रकलांशुजालम्,
सिद्धिं दिशेत् सपदि मे कृतिषु प्रकामम् ॥ १ ॥

या चन्द्रशेखर, शिरः सुमनः प्रतिष्ठा,
वाणी प्रसादमधुरा सरला गभीरा ।
शङ्काशतं तटरुहनिव पातयन्ती,
गङ्गेव सा मममतिं विमलीकरोतु ॥ २ ॥

विद्वत्कण्ठीरवाकुण्ठकण्ठोद्यत्सरलाक्षरा ।
"वैकुण्ठी" तन्यते व्याख्या हिन्द्यां शब्देन्दुशेखरे ॥ ३ ॥

पतञ्जलि द्वारा निर्मित महाभाष्य में अधिक परिश्रम करने वाले, बुद्धिमान् शिवभट्ट के पुत्र तथा सीता देवी के गर्भ से उत्पन्न, याचकों के लिये कल्पवृक्ष

के समान तथा शत्रु रूपी शुष्क तृण के लिये अग्नि की भाँति शृंगबेरपुर के अधीश्वर राम से जीविका पाने वाले नागेश फणीश को प्रणाम करके अर्थ प्रकाशन में समर्थ, मनोरमा के अर्ध भाग का खण्डन करने वाले अथवा अर्ध भाग को बढ़ाने वाले लघुशब्देन्दुशेखर का प्रकाशन करते हैं। शंकर के पक्ष में मनोहर उमा ही है अर्थ देह जिनका, लघु शब्द के समान चन्द्र है शिरोभूषण जिनका।

"महाभाष्य के कथन से ही व्याकरण भाष्य का ग्रहण हो जाता फिर 'पातञ्जले' विशेषण व्यर्थ है"। यह शंका करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि महापुरूषों का नामोच्चारण भी मंगल के लिये होता है अथवा चकार के बिना भी उसका अर्थ ज्ञात होता है इसलिये पातञ्जल योग दर्शन में और महाभाष्य में भूरिश्रम करने वाले नागेश ने योगशास्त्र की वृत्ति भी लिखी है और अच सन्धि में "शब्दज्ञानुपाती वस्त्र शून्योविकल्प:" तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में भाष्यानुकूल विषय का ही प्रतिपादन है। भूरिपरिश्रम से कोई बुद्धिहीन न समझ ले इसलिये 'धीमान्' विशेषण दिया है। जिसके पिता साक्षात् शिवस्वरूप और माता सतीरूपा हो उसके पवित्र और योग्य होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं। जीविका के अभाव से कार्य निष्पन्न होना कठिन होता है इसको दूर करने के लिये 'रामतो लब्ध जीविक:' कहा। राम के कहने से "उनका अन्न दूषित नहीं है" यह व्यङ्ग्य-प्रतीति होती है रमा के साधारण होने से द्रव्य के अभाव में वृत्ति का उच्छेद न हो जाय इसलिये शृङ्गिबेर पुराधीशात् कहा। शृङ्गबेरपुर इस समय गंगातट पर प्रयाग जिले में स्थित है। राम के कृपणत्व दोष को दूर करने के लिये 'याचकानां कल्पतरो:' कहा। राजा के भीरु होने से राज्य परिवर्तन न हो जाय इसलिये अरिकक्षहुताशनात् कहा।

यहाँ प्रथम श्लोक में 'नागेश' और द्वितीय श्लोक में 'राम' के साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलंकार है जिसका लक्षण सम्मट ने लिखा है विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तं परिकरस्तुस:। फिर परिकर अलङ्कार से सर्वसाधन सम्पन्नत्व रूप वस्तु व्यङ्ग्य है। व्यङ्ग्य के प्रधान होने से यह उत्तम काव्य है।

सदीपके लघुशब्देन्दुशेखरे—

ग्रन्थसमाप्तिग्रन्थप्रचारादिप्रतिबन्धकदुरितप्रशमाय समुचितऋषित्रयनमस्काररूपं मंगलमाचरन् शिष्यशिक्षायै व्याख्यातृश्रोतृणामनुषङ्गतो मंगलाय च निबध्नाति—मुनित्रयमिति। कारकविभक्तेर्बलवत्त्वाद् द्वितीया। परिभाव्येति। तच्छब्दस्य बुद्धिस्थपरामर्शकत्वात प्राचामुक्तीस्तिरस्कृत्येत्यर्थ:, मुनित्रयोक्तीर्विचार्येत्यर्थो वा। 'परिभावस्तिरस्क्रिया' इति कोशात्तिरस्कारार्थकस्य धातोर्विचारार्थकत्वेऽपि न बाधकम्। धातूनामनेकार्थत्वात्। अत एव 'परो भुवोऽवज्ञाने' (३।३।५५) इति सङ्गच्छते।

एतेन स्वग्रन्थस्य प्राचीनग्रन्थैरगतार्थता समूलत्वञ्च ध्वनितम् । भाविनोऽपि बुद्धया विषयीकरणादियमिति निर्देशः । सिद्धान्तप्रकाशकत्वे-नातिदुरूहग्रन्थान्तरेभ्यः सिद्धान्तज्ञाने जायमानस्य क्लेशरूपसन्तापस्य शामकत्वेन च कौमुदीसाद्दश्यम् । अनेन वैयाकरणसिद्धान्ता विषयाः, तज्ज्ञानं प्रयोजनं तज्जिज्ञासुरधिकारीत्यादि सूचितम् ॥

ग्रन्थ की समाप्ति तथा ग्रन्थ के प्रचार में समुपस्थित विघ्नों के नाश के लिए योग्य (व्याकरण के निर्माण के कर्ता होने से) तीनों ऋषियों को नमस्कार रूप मंगल को करते हुए तथा शिष्यों की शिक्षा के लिए अर्थात शिष्य भी इस परम्परा को समझें इसलिए व्याख्याता तथा श्रोताओं के अनायास मंगल के लिए ग्रन्थ में लिखते हैं। व्याख्यातृश्रोध्त्तणाम् में "आनङ्ऋतोद्वन्द्वे" से आनङ् तो नहीं होता है क्योंकि पूर्वपद तथा उत्तरपद विद्या सम्बन्धी अथवा योनि सम्बन्धी होने चाहिए । प्रकृत श्रोतृ शब्द विद्या सम्बन्धी नहीं है । "मुनित्रयमिति" यहाँ कारक विभक्ति के बलवती होने से द्वितीया चतुर्थी को बाध कर होती है । यहाँ विभक्ति शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने के कारण बलवती त्वात् लिखना उचित था यह शंका उचित नहीं है क्योंकि स्त्रीत्व की अविवक्षा को कुक्कुटाण्डवत बलवत् शब्द से त्व प्रत्यय करने से सिद्ध हो जायेगा इसी से पृथिव्यागन्धवत्वं लक्षणं इत्यादि प्रयोग भी सिद्ध होते है अब यहाँ यह शंका होती है कि कृ धातु के फलरूप अर्थ में अन्वय की विवक्षा में द्वितीया की प्राप्ति होती है और नमः पदार्थ में अन्वय की विवक्षा में चतुर्थी की प्राप्ति होती है । तब दोनों की एक साथ प्राप्ति न होने से 'कारक विभक्तेः' इत्यादि कथन असंगत है । इस शंका का समाधान यह है कि नमः शब्द निपात होने से द्योतक है द्योतक वाचक के पास में विषयता में उभय प्रयोज्यत्व रहता है । 'काश्यां हरयेनमः' में काशी में चतुर्थी वारण के लिए "नमः पद प्रयोज्य विषयता निरूपित विषयता प्रयोजकत्वेन तात्पर्य विषयी भूता चतुर्थी भवति" यह नमः स्वस्ति का अर्थ स्वीकार करना होगा प्रकृत में 'नमः पद प्रयोज्य विषयता विशेष्यताख्या विषयता तन्निरूपित विषयता प्रकारताख्या विषयता तत्प्रयोजकत्वेन तात्पर्य विषयी भूत मुनित्रय है" अर्थात् कृ धात्वर्थ फल में भी अन्वय विवक्षा में द्वितीया एवं चतुर्थी की प्राप्ति है "परिभाव्येति" । तत् शब्द के बुद्धिरूप के परामर्शक होने से प्राचीनों की उक्ति को तिरस्कार करके अर्थ है मुनित्रय की उक्ति को विचार कर यह भी अर्थ है अर्थात बुद्धि विषयता वच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मा वच्छिन्नमें तत् शब्द की शक्ति है (बुद्धि हम लोगों की उसके विषय में घटपटादि विषय में रही विषयता तदवच्छेदकत्वोपलक्षित धर्म घटत्वादि तदवच्छिन्न घटादि) अर्थात बुद्धि में जो कुछ आ जाये उन सबको तत् शब्द कहता है। अनादरः इत्यादि कोश से तिरस्कार अर्थ वाली धातु का विचार अर्थ मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि धातु अनेक अर्थ वाली होती है। अनेकार्थक होने से "परोभुवोऽवज्ञाने भी

संगत होता है तात्पर्य यह है कि परिपूर्वक भू धातु का तिरस्कार ही अर्थ होता तो 'अवज्ञाने' देने की क्या आवश्यकता थी। "कुर्द खुर्द गुर्द क्रीडायामेव का एवकार भी अनेकार्थ होने में प्रमाण है। इससे अपने ग्रन्थ की प्राचीन ग्रन्थों से अगतार्थता तथा समूलत्व व्यंग्य होता है। इदमस्तु सन्निकृष्टे इत्यादि के आधार पर इदं शब्द का प्रयोग समीप में होता है तो फिर यहाँ इयं निर्देश किस प्रकार से किया, यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि भावी का बुद्धि से विषय करने से निर्देश ठीक है।

सिद्धान्त प्रकाशक होने से अत्यन्त कठिन अन्य ग्रन्थों से सिद्धान्त ज्ञान में उत्पन्न क्लेश रूप सन्ताप के शमन करने से कौमुदी का सादृश्य है। जिस प्रकार से चन्द्रिका अपने प्रकाश से घटपदादि का प्रदर्शन करती है और शीतलता से शान्ति प्रदान करती है उसी प्रकार से यह कौमुदी है। यहाँ रामकत्वेन पाठ उचित है क्योंकि 'नोदात्तोप' से वृत्ति का निषेध हो जायेगा अथवा स्वार्थ में अण् प्रत्यय करके 'शामकत्वेन' भी हो सकता है।

ग्रन्थ के आदि में विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी इन चार अनुबन्धों को दिखलाना आवश्यक होता है 'ग्रन्थाध्ययनानुकूल प्रवृत्ति प्रयोजक ज्ञान विषयत्वम्' यह अनुबन्ध का सामान्य लक्षण है (ग्रन्थ के पढ़ने की जनक प्रवृत्ति का प्रयोजक ज्ञान का जो विषय हो) यहाँ ज्ञान तीन प्रकार का होता है–यह मेरे लिए इष्ट है, इसको मैं कर सकता हूँ, इसके करने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

ज्ञानत्रय में किसी न किसी के विषय चारों हो जाते हैं। नागेश भी अपने ग्रन्थ में उनको दिखलाते है। यहाँ वैयाकरण सिद्धान्त विषय है, उनका ज्ञान प्रयोजन है, उनका जिज्ञासु अधिकारी है प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। वस्तुतः ज्ञान ही प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है इसलिए वैयाकरण सिद्धान्त ज्ञान विषय है और रक्षोहागम इत्यादि भाष्योक्ति प्रयोजन ही प्रयोजन है केवल जिज्ञासु अधिकारी नहीं है क्योंकि चांडाल आदि भी अधिकारी हो सकता है इसलिए काव्यकोश प्रारम्भिक व्याकरण पढ़ा हुआ व्युत्पन्न अधिकारी है।

सदीपके लघुशब्देन्दुशेखरे—

अइउण् (मा० सू० १) एषां क्रमबोधकत्वेऽपि 'आदि' रन्त्येन' (१/१/७१) इत्यनेनैकवाक्यतया वृत्तिपरिच्छेदकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम्। क्रमस्य सञ्ज्ञाद्वारेवोपयोगात्। एकावाक्यता चादिरकारादिरन्त्येनेता तत्सदृशेन णकारादिना सहोच्चार्यमाण आद्यन्ताक्षिप्तावां सञ्ज्ञेति। 'स्वौजस्' (४/१/२) इत्यादीनामप्येतद्वैकवाक्यतया सुबादिसञ्ज्ञासूत्रत्वं स्वादिविधायकत्वञ्चेति बोद्ध्यम्। एषु संहिताया अविवया न संहिताकार्यम्। अनुकरणत्वेन सौत्रत्वाच्च वर्णेभ्यो न विभक्त्युत्पत्तिः। कारप्रत्ययोऽपि न बाहुलकात्।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्र लक्षणम्॥

इन छह प्रकार के सूत्रों में अ इ उ ण् इत्यादि का अन्तर्भाव किसमें होता है इसको स्पष्ट करने के लिए लिखते हैं। अ इ उ ण्॥ इन सूत्रों को क्रमबोधक होने पर भी आदिरन्त्येन के साथ एक वाक्यता होने से शक्ति के नियामक होने के कारण संज्ञा सूत्रत्व है (यद्यपि साक्षात् क्रम विषयक बोध जनकत्व इन सूत्रों में नहीं है तथापि क्रम से ज्ञान होने पर इनको प्रत्याहार पद से युक्त शास्त्र से जन्यअर्थ बोध में उपयोगी है) क्योंकि क्रम का संज्ञा द्वारा ही उपयोग होता है और एक वाक्यता इस बात से है—आदि अर्थात् अकारादि, अन्त्य इत् के सदृश णकारादि के साथ उच्चार्यमाण आद्यन्त से आक्षिप्तों की संज्ञा है। स्वौजस् इत्यादि की भी इनके साथ एक वाक्यता होने से सुबादि संज्ञा सूत्रत्व और स्वादि विधायकत्व है। संहिता की अविवक्षा करने से 'अ इ उ ण्' इत्यादि में 'आद्गुणः' से गुण आदि सन्धि कार्य नहीं होते हैं। अनुकरण होने से सौत्र मानने से अ इ इत्यादि वर्णों से विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती है। यहाँ चकार हेतु में है जिस कारण से सौत्रत्व है उसी से अनुकरणत्व भी है तात्पर्य यह है कि अनुकार्य, अनुकरण में अभेद विवक्षा होने से अनुकार्य निरूपित अनुकरण में शक्ति नहीं होती है। शक्ति के अभाव से प्रातिपदिक संज्ञा के अभाव में विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती है। 'वर्णात्कारः' से कार प्रत्यय भी नहीं होता है क्योंकि उसमें रोगाख्यायाम् से बहुल ग्रहण की अनुवृत्ति होती है।

यत्तु 'उपजीव्यविरोधात् सन्धिर्न। तथा हि अजादिसञ्ज्ञाग्रहकाले 'आद्गुणः' (६/१/८७) इत्यादीनामनिष्पत्त्या तदप्रवृत्तावविकृतरूपाकारादिषु गृहीताजादिपदशक्तिः पश्चादच्प्रत्याहारे ज्ञाते उपेन्द्र इवात्रापि तत्प्रवृत्तौ विरुद्ध्येत। न हि सन्धिकार्ये कृतेऽविकृतरूपश्रवणं भवति' इति। तन्न। पुनरच्पदस्यार्थान्तरे शक्त्यग्रहेण तद्विरोधाभावात्। न च सन्धौ सन्देहः। व्याख्यानतो निर्णयसम्भवात्।

'इकोयणचि' में ङ्मुट की आशंका करके सौत्रत्वात् समाधान से वारण किया वही समाधान यहाँ भी उचित था अथवा संहिता की अविवक्षा से ङ्मुट नहीं होता है यह समाधान ही वहाँ देना था। दो प्रकार का समाधान द्विविधा में डाल देता है। आपका कहना सत्य है परन्तु इकोयणचि में संहिता की अविवक्षा करने पर दो सूत्र होने का भय था यहाँ तो अत्वावच्छिन्नसाधु इत्यादि रीति से अनेक सूत्र मानने वाली कोई आपत्ति नहीं है।

किसी का कथन है कि उपजीव्य विरोध होने से सन्धि कार्य नहीं होता है क्योंकि विकाररहित यकारादि में अजादि पद की शक्ति ग्रहण की गयी अपना उपजीव्य

अविकृतत्व विधायक आद् गुणः इत्यादि की प्रवृत्ति के प्रति निमित्त नहीं हो सकती है। उसी का उपपादन करते हैं। अजादि संज्ञा के ज्ञान के समय आद्गुणः इत्यादि की उत्पत्ति के अभाव से उनकी प्रवृत्ति के न होने पर अविकृत अकारादि में ग्रहण की गयी अजादि पद की शक्ति तत्पश्चात् अच् प्रत्याहार के ज्ञान होने पर उपेन्द्र की तरह यहाँ भी उसकी प्रवृत्ति होने से विरुद्ध हो जायेगा क्योंकि सन्धि कार्य करने पर अविकृत रूप का श्रवण होना कठिन है। परन्तु यह उनका कथन उचित नहीं क्योंकि फिर भी अच् पद की अन्य अर्थ में शक्ति ज्ञान के अभाव से विरोध का अभाव है। 'सन्धि करने से सन्देह हो जायेगा' यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि व्याख्यान से निर्णय हो जायेगा।

ननु चतुर्दशसूत्र्यामक्षरसमाम्नाय इतिव्यहारानुपपत्तिराम्नायसमाम्नायशब्दयोर्वेदे एव प्रसिद्धेरित्यत आह—माहेश्वराणीति। महेश्वरादागतानीत्यर्थः। महेश्वरप्रसादलब्धानीति फलितम्। एवञ्चैवमानुपूर्वीका श्रुतिरेवैषा। तत्प्रसादात्पाणिनिना लब्धा। श्रुतिमूलकत्वादस्यैव वेदाङ्गत्वम् प्रमाणम्—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तम्........' (पा० शि० ५७)

इति शिक्षावचनम्। 'लण्सूत्रे णकारविषयाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—व्याख्यानत इति' इत्यादावाचार्यपदेन महेश्वरः। अनुबन्धाश्च महेश्वरकृता एवेत्यनुपदं स्फुटीभविष्यति। 'ञमङणनम्' (मा० सू० ७) इत्यत्र मकारप्रत्याख्यानपरं भाष्यं तु किमदृष्टार्थमेव तदुच्चारणमुत दृष्टार्थमपीत्येवं विचारपरम्। सर्वत्र प्रत्याख्यानमेवम्परमेव। अन्यथाऽङ्गानामपि पारायणे धर्मश्रवणेन तत्र तत्र पाणिनिन्यासप्रत्याख्यानस्याप्यसङ्गतिः स्यात्। तदुक्तम् 'इको यणचि' (६/१/७७) इति सूत्रे—

'सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्' इति।

किञ्चिद् दृष्टादृष्टार्थवत्, किञ्चिच्छुद्धादृष्टार्थवत्, सर्वथाऽनर्थकं न किञ्चिदिति तदर्थः। वृद्धिसूत्रस्थे–'वर्णेनाप्यनर्थकेन न भवितव्यम्' इति भाष्यग्रन्थेऽनर्थकत्वं बोध्यार्थकत्वं बोध्यार्थराहित्यरूपमिति न निष्प्रयोजनवरूपानर्थक्येन तत्र तत्र प्रत्याख्यानपरभाष्याङ्गतिः। अत एव 'सोऽयमक्षरसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो ब्रह्मराशिः' इति भाष्यमुपादायोक्तं भर्तृहरिणा—'यथैवेदमव्युच्छिन्नं चन्द्रतारकादि एवमस्याक्षरसमाम्नायस्य न कश्चिद् आधुनिकः कर्त्ताऽस्ति एवमेव वेदपारम्पर्येण

स्मर्यमाणः' इति । आधुनिक शरीरी । पुष्पितत्वं तन्मूलकशब्दशास्त्रद्वारेण । शब्दप्रयोगेण च फलितत्वम् । उक्तञ्चैतच्चतुर्दशसूत्रव्याख्यायां नन्दिकेश्वरकृत-काशिकायाम्—

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्च (१४) वारम् ।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥
अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम् ।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये ॥' इति ।

अब यह यहाँ शंका करते हैं कि आम्नाय समाम्नाय शब्द का प्रयोग वेद में ही होता है तब चौदह सूत्रों में अक्षर समाम्मनाय का व्यवहार करना उचित प्रतीत नहीं होता है इसके उत्तर में माहेश्वराणि कहा अर्थात महेश्वर से आगत तथा उनके प्रसाद से लब्ध है। अर्थात यह आनु पूर्वी श्रुति ही है। शंकर की कृपा से पाणिनि को प्राप्त है श्रुति मूल होने से पाणिनीय व्याकरण ही वेद का अंग है। पाणिनीय व्याकरण से पूर्व क्या वेद अंगहीन था ? यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि इसमें लौकिक, वैदिक होने से प्रशंसापरक है अथवा एव को अपि के अर्थ में मानने से कोई आपत्ति नहीं रहती है। इसमें प्रमाण देते हैं—येनाक्षर इत्यादि शिक्षा वचन। जिस पाणिनि ने महेश्वर से अक्षर समाम्नाय को प्राप्त कर सम्पूर्ण व्याकरण को कहा।

लण् सूत्र में णकार विषय की आचार प्रवृत्ति ज्ञापन करती है व्याख्यानत इत्यादि। यहाँ आचार पद से महेश्वर का ही ज्ञान है अनुबन्ध महेश्वर कृत ही है— यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जायेगा।

ञ म ङ: ण न म् में मकार प्रत्याख्यान भाष्य का तात्पर्य यह है कि उसका उच्चारण अदृष्ट के लिए ही है अथवा दृष्ट के लिये भी है। सभी जगह प्रत्याख्यान इसी प्रकार का है 'नहीं' तो अंगों के पारायण में धर्म के श्रवण होने से यत्र तत्र पाणिनि न्यास से प्रत्याख्यान की भी असंगति हो जायेगी जैसा कि 'इकोयणचि' सूत्र में कहा है सामर्थ्य के योग से कुछ भी अनर्थक इस शास्त्र में हो--ऐसा मैं नहीं देखता हूँ कुछ दृष्टार्थक अदृष्टार्थक है कुछ शुद्ध अदृष्ट अर्थ के लिए ही है सर्वथा अनर्थक कुछ भी नहीं है।

वृद्धि संज्ञा विधायक सूत्र के भाष्य में लिखा है। "एक वर्ण भी अनर्थक नहीं होना चाहिए। यहाँ अनर्थकत्व बोध्य अर्थ से रहित नहीं ग्रहण करना, क्योंकि प्रयोजन के अभाव से अनर्थक होने से अनेक स्थलों में प्रत्याख्यान परक भाष्य की असंगति हो जायेगी। इसी से वह अक्षर समाम्नाय पुष्प युक्त फल से समन्वित चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की तरह मण्डित ब्रह्मराशि है। इस भाष्य को लेकर भर्तृहरि ने कहा है कि जैसे यह चन्द्रमा नक्षत्र इत्यादि सर्वदा व्याप्त है उसी प्रकार से इस अक्षर समाम्नाय का भी कोई आधुनिककर्ता नहीं है इसी प्रकार वेद परम्परा से स्मर्यमाण

है। आधुनिकः का अर्थ शरीर धारी है पुष्पित–शब्द शास्त्र के द्वारा है और शब्द के प्रयोग से फलितत्व है। नन्दिकेश्वर कृति काशिका में चौदह सूत्रों की व्याखया में कहा गया है "नृत्य के अन्त में नटराजों के राजा अर्थात शंकर जी ने नौ और पाँच अर्थात चौदह बार डमरू को बजाया। सनकादि सिद्धों की उद्धार कामना वाले शंकर के इस प्रकार के विचार करने पर इन शिव सूत्रों का प्रादुर्भाव हुआ।"

यहाँ सभी सूत्रों में अन्त्य चौदह वर्ण पाणिनि आदि की इष्ट सिद्धि के लिए धात्वर्थ उपदिष्ट है–

धात्वर्थं धातुमूलकशब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थम्। अत एव 'अनुबन्धकरणार्थञ्च वर्णानामुपदेशः' इत्युक्तं भाष्ये अत्र करणशब्दप्रयोगेणानुबन्धानां सादित्वं सूचितम्। तत्करणञ्चोपदेशकर्तृ कर्तृकमेव प्रत्यासत्तेः। तेन तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानादित्वं सूचितम्। अत्र सनकाद्युद्धरणेच्छयाऽस्य ब्रह्मोपदेशरूपत्वं सूचितम्। तच्च श्रुतित्वाभावे न सङ्गच्छते। 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इत्युक्तेः। ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि—'इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तं यथाऽऽचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते, न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिः' इति। ब्रह्मराशिरित्यस्य ब्रह्मप्रतिपादको वर्णराशिरित्यर्थः। तत्त्वञ्च नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायां स्पष्टम्। अत एव 'वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः' इति भाष्ये उक्तम्। पाणिनेर्लाघवेन शास्त्रप्रवृत्तिफलको यः समवायो वर्णानां क्रमेण सन्निवेशस्तदर्थं इति तदर्थः। स चाणादिप्रत्याहारद्वारा शास्त्रप्रवृत्त्यर्थः। एवञ्चायमुपदेशः पाणिनेरन्यकृत इति स्पष्टमेवोक्तम्। मन्त्रोपदेश इतिवच्चात्रोपदेशपदप्रयोगः। अत एवास्य ज्ञाने सर्ववेदपारायणजं पुण्यं फलमिति भाष्ये उक्तम्। व्याकरणमुपक्रम्य 'वेदानां वेदः' इति छान्दोग्यश्रुतिरप्येतत्परैवेति दिक्।

धात्वर्थम्! "धातु का अर्थ धातु, मूलक शब्द शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए है। इसी से अनुबन्ध करने के लिए वर्णों का उपदेश करना चाहिए" ऐसा भाष्य में कहा है। यहाँ करण शब्द के प्रयोग से अनुवन्धों में सादित्व सूचित होता है। सामीप्य सम्बन्ध से उनका करने वाला उपदेशकर्ता ही है। इससे यह सिद्ध होता है—अनुवन्ध से अतिरिक्त सभी कुछ अनादि है यहाँ सनकादि कहने से इसमें ब्रह्मोपदेश की प्रतीति होती है और वह श्रुति के अभाव में संगत नहीं हो सकता है क्योंकि श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः (श्रुति वाक्यों से ब्रह्म का श्रवण करना चाहिए) कहा है। ऋकतन्त्र

व्याकरण में शाकटायन ने भी कहा है--यह अक्षरच्छन्द वर्णों की आनुपूर्वी से प्राप्त हुआ है जैसा कि आचार्यों ने कहा है ब्रह्मा ने बृहस्पति से कहा; बृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भरद्वाज से, भरद्वाज ने ऋषियों से तथा ऋषियों ने ब्राह्मणों से कहा है इसको अक्षर समाम्नाय कहते हैं इसे न तो भोजन करके, न रात्रि में कहना चाहिए क्योंकि यह वेदस्वरूप है। ब्रह्म राशि का अर्थ है--"ब्रह्म प्रतिपादक वर्ण राशि" इसका विशेषत्व नन्दिकेश्वर द्वारा रचित काशिका में स्पष्ट है इसीलिए भाष्य में कहा है--"वृत्ति समवाय के लिए वर्णों का उपदेश करना चाहिए" पाणिनि का लाघव से अर्थात अल्प समय एवं अल्पश्रम के द्वारा शास्त्र में प्रवृत्ति कराने वाला जो समवाय अर्थात वर्णों का क्रम से सन्निवेश, उसके लिए उपदेश है वह अणादि प्रत्याहारों के द्वारा शास्त्र प्रवृत्ति के लिए है इससे यह स्पष्ट है कि वह उपदेश पाणिनि को अन्यकृत ही है। मन्त्रोपदेश की तरह यहाँ उपदेश पद का प्रयोग है इसी से इसके ज्ञान में सभी वेदों के पारायण से उत्पन्न होने वाला पुण्य ही फल है। व्याकरण को प्रारम्भ करके "वेदानांवेदाः" वेदों का जानना यह छान्दोग्य श्रुति की एतत्परक ही है।

तत्प्रयोजनमाह—सञ्ज्ञार्थानीति। एतच्चोपपादितम्। सञ्ज्ञाप्रणयनञ्च लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमिति बोध्यम्।

सञ्ज्ञार्थत्वोपपत्तये आह—एषामिति।

अकारश्चेति। तेन रप्रत्याहारसिद्धिः। अनन्त्यत्वात्पृथगुक्तिः। इदं 'तुल्यास्य' (१।१।९) सूत्रस्थ (१) कैयटानुरोधेन।

उसका प्रयोजन कहते हैं--सञ्ज्ञार्थानीति इसका उपपादन पहले हो चुका है। लाघव से शास्त्र में प्रवृत्ति के लिए संज्ञा सूत्रों का निर्माण हुआ है। सञ्ज्ञार्थ की उपपत्ति के लिए कहते हैं एषामिति। अकारश्चेति इससे रप्रत्याहार की सिद्धि होती है। अन्त्य के न होने से इसका पृथक कथन है। यह तुल्यास्य सूत्र में स्थिति कैयट के अनुरोध से है।

परे त्वस्यानुनासिकत्वे 'अतो ऌः' (७।२।२) इति सूत्रे पाणिनि र्लकारं नोच्चारयेत्। प्रत्याहारेणैव निर्वाहात। किञ्चास्येत्सञ्ज्ञकत्वे बहुषु यण्पदघटितसूत्रेष्वर्द्धमात्रालाघवानुरोधेन यप्रत्याहारेणैव व्यवहरेत्।

**किञ्चानुबन्धानामच्प्रत्याहारे ग्रहणाभावे 'आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः' इति भाष्योक्तस्य तृतीयहेतोरव्यापकत्वापत्तिः तत्र लोपस्य बलवत्त्वेऽपि हल्प्रत्याहारसिद्धेः प्रागच्पदार्थनिष्पत्त्यभावेन। उपदेशेऽज्' (१।३।२) इत्यस्य वाक्यार्थाभावेन लणित्यकारस्येत्सञ्ज्ञालोपयोरभावेन प्रत्याहारेषु जातिग्रहणपक्षस्यैव भाष्यकृता सिद्धान्तितत्वेन हल्प्रत्याहारे लणित्यकारप्रवेशे 'मामाँस्त्रायस्व' इत्यत्रानुनासिकपक्षेऽनुस्वारा-

पत्तिर्दुर्वारा, 'सोऽति' इत्यादौ सुलोपाद्यापत्तिश्च। अत एव—

'प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न।'

इत्यनेन प्रत्याहारे वर्णसमाम्नाये य एतेऽक्षु अज्बोधकसूत्रेषु प्रत्याहारार्थाअनुबन्धाः क्रियन्ते तेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्नेत्यर्थकेनाच्प्रत्याहारे शंकाकृता, न हल्प्रत्याहारे। भाष्ये च 'अइउण्' (मा० सू० १) इत्यादि सूत्रचतुष्टयोपादानेनैवास्य प्रवृत्तिर्दर्शिता। तत्र प्राधान्यं प्रत्याहारेषु ग्रहणार्थत्वरूपं, हल्षु च तथोपदेशस्तेषाम्, अक्षु तु स्वराणामेव तथोपदेश इति प्राधान्यात् तेषामेव सञ्ज्ञित्वमिति भाष्ये स्पष्टम्। न च हशादिप्रत्याहारे टग्रहणस्यापत्तिरिति वाच्यम्। हकारादिषु पुनः पुनरकारोच्चारणेन उच्चारणार्थवर्णरहितहलां तद्घटितप्रत्याहारे ग्रहणाभावस्य वक्तुं शक्यत्वात्; तद्विषयप्रयोगाणामनभिधानाच्च। तस्मादस्यानुनासिकत्वमप्रामाणिकम्। 'उरण् रपरः' (१।१।५१) इत्यत्र लग्रहणं कर्तव्यमेव। ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यवदित्याहुः।

नागेश का कथन है कि यदि लण् सूत्र का अकार अनुनासिक होता तो "अतोल्रान्तस्य" में पाणिनि को लकार उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं थी र प्रत्याहार से ही र, ल का ग्रहण हो जाता। अतोल्रान्तस्य सूत्र में लकार के उच्चारण से र प्रत्याहार को अनित्य मानते हैं। इसी से "रदाभ्याम् इत्यादि में लकार का उच्चारण नहीं किया। इस अरूचि से कहते हैं- किञ्च। यदि यह इत् संज्ञक होता तो बहुत से यण् पद घटित सूत्रों में आधी मात्रा के लाघव से य प्रत्याहार से व्यवहार करना उचित था। कार्य सिद्धि के लिये अकार से केवल र प्रत्याहार की सिद्धि करेंगे इस अरुचि से दोषान्तर देते है किञ्च अनुबन्धों का अच् प्रत्याहार में ग्रहण न होने पर आचारादित्यादि में कहा हुआ भाष्य का तीसरा हेतु अव्यापक हो जायेगा। यह आचार है कि तुल्यजाति वालों को तुल्य जाति वालों में ही उपदेश करते है। अचों का हल् में तथा हलों का अच में अप्रधान भी है क्यों कि हल में हल की प्रधानता है। तृतीय हेतु उपपादन करते है आपके लोप के बलवान होने पर भी हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पूर्व अच् पदार्थ की निष्पत्ति के अभाव में "उपदेशेऽच" का वाक्यार्थ बोध न होने से लण के अकार की इतसंज्ञा और लोप के न होने से तथा प्रत्याहारों में जाति पक्ष का ही भाष्य कार सिद्धान्त होने से। हल् प्रत्याहार में लण् के अकार के प्रवेश होने से "मामॉस्त्रायस्व" में अनुनासिक पक्ष में अकार को अनुस्वार होने लगेगा और सोऽस्ति इत्यादि में सुलोप भी होने लगेगा। इसी से "प्रत्याहारेऽनुबन्धानाम्" इत्यादि से प्रत्याहार अर्थात वर्ण समाम्नाय में जो ये अचों में अच बोधक सूत्रों में प्रत्याहार के लिए अनुबन्ध किये जाते है उनका अच् के ग्रहण से ग्रहण क्यों नहीं

होता है। इसलिये अच् प्रत्याहार में शंका की, हल् प्रत्याहार में नहीं। और भाष्य में अ इ उ ण् इत्यादि चार सूत्रों के पश्चात् ही इसकी प्रवृत्ति दिखलाई वहां प्राधान्य प्रत्याहार में ग्रहण स्वरूप ही है तथा हलों में उनका उपदेश है। अचों में तो स्वरों का ही उपदेश है उनका ही प्राधान्य है और वे ही संज्ञी है यह भाष्य में स्पष्ट है। हशादि प्रत्याहार में टकार के ग्रहण की आपत्ति नहीं है क्योंकि हकारादि में बार-बार अकार के उच्चारण करने से उच्चारणार्थ वर्णों से रहित हलों का उससे युक्त प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होता है ऐसा कह सकते है अथवा उस प्रकार के प्रयोगों का अनभिधान है इसलिए इस अकार का अनुनासिक होना अप्रमाणिक है। ऋ लृ वर्णों के सावर्ण्य के समान "उरण् रपरः" में लकार का ग्रहण करना ही चाहिए।

ननु 'हय' [मा० सू० ५] इत्यादावकारोच्चारणेन तस्य हल्त्व-प्रसङ्गोऽत आह–हकारादिष्विति। 'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति' इति 'उच्चैरुदात्तः' (१।२।२९) इति सूत्रस्थभाष्यात् 'एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते, यन्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति अचोऽक्षु हलो हल्षु' इति प्रत्याहारेऽनुबन्धानामित्यत्र भाष्याच्चेति भावः।

"हकारादि में अकार के उच्चारण होने से उसको हल् मानना चाहिए" इसलिए कहते है हकारादिष्विति। उच्चैरुदात्तः सूत्र के भाष्य में लिखा है कि अच् के बिना व्यंजन का उच्चारण ही नहीं होता यह आचार्य की शैली प्रतीत होती है कि तुल्य जाति वालों को तुल्य जाति वालों में ही उपदेश करते है अचों का अच् में और हलों का हल् में यह प्रत्याहारेऽनुबन्धानाम् के भाष्य से प्रतीत होता है।

स्यादेतत्। 'न विभक्तौ' [१।३।४] इत्यादेः सार्थक्याय 'हलन्त्यम्' [१।३।३] इत्यस्योपदेशेऽन्त्यं हल इदित्यर्थस्यावश्यकत्वेन 'हलन्त्यम्' [१।३।३] 'आदिरन्त्येन' [१।१।७१] इत्यनयोः परस्परापेक्षत्वेनाऽन्योन्याश्रयाल्लकारे इत्सञ्ज्ञामबोधयित्वा हलामित्सञ्ज्ञाबोधनं पाणिनेर युक्तम्। न च 'हयवर' [मा० सू० ५] इत्यादेरावृत्या 'शषसर' [मा० सू० १३] इत्यन्तं समुदायमुद्दिश्य 'हल्' [मा० सू० १४] इत्यनेन हल्सञ्ज्ञाऽपि विधेयेति वाच्यम्। दशसूत्र्याऽऽवृत्तौ गौरवात्।

अस्तु अब प्रकृत का अनुशरण करते हैं 'नविभक्तौ' को सार्थक करने के लिए हलन्त्यम् का उपदेश में अन्त्य हल् की इत्संज्ञा हो यह अर्थ मानना आवश्यक होने से हलन्त्यम् और आदिरन्त्येन के परस्पर सापेक्ष होने के कारण अन्योन्याश्रय होता है अतः लकार में इत्संज्ञा बोधन के बिना हलों की इत्संज्ञा करना पाणिनि के लिए कठिन है स्वज्ञप्त्यधीन ज्ञप्तिकत्वम् ही अन्योन्याश्रय है (अर्थात अपने ज्ञान के अधीन ज्ञान वाला) ह य व र ट् इत्यादि की आवृत्ति करके शषसर अन्त समुदाय को उद्देश्य

कर के हल से हल् संज्ञा का भी विधान करेंगे। यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि दस सूत्रों की आवृत्ति करना गौरव होगा।

ननु 'उपदेशे इदन्त्यम्, अच, अनुनासिकः' इति सूत्रत्रयमस्तु, अजित्य-नन्त्यार्थम्, तृतीयेऽजित्यनुवृत्तिसामर्थ्यादच्चेदिवभ्दति तर्ह्यनुनासिक एवेति नियमाश्रयणाद्रु प्रभृतौ न दोषः, योगविभागसामर्थ्याच्चानन्तरस्येति न्यायं वाधित्वा व्यवहितस्यापि तेन नियमः, 'मिदचोन्त्यात्' (१।१।४७) इति ज्ञापकाच्च न विपरीतनियमः, एवञ्च हल्ग्रहणमपि व्यर्थमन्योन्याश्रय-श्च न। न च पाणिनिसूत्रभेदे पारायणादावदृष्टहानिः। तथा च तत्र तत्र भाष्यम्—'अपाणिनीयन्तु भवति'—इति वाच्यम्। कल्प्यमानन्यासस्य लघु-त्वेऽस्यादोषत्वात्। 'सूत्रभेदं तमुपाचरन्ति यत्र तदेवाऽन्यत् सूत्रं क्रियते भूयो वा, यदि तदेवोपसंहृत्य क्रियते नासौ सूत्रभेदः' इति, 'अच उपसर्गात्तः' (७/४/४७) इति सूत्रभाष्यात्। नासौ सूत्रभेद इत्यस्य दोषाय इति शेषः। सति सम्भवे दृष्टद्वारैवाज्ञानाम दृष्टार्थत्वमिति तदाशयः अत एव तत्र तत्र ज्ञापकपसकलभाष्योच्छेदो नेति चेन्न। योगविभागनियमज्ञापकाश्र-यणेऽतिगौरवात्। न हि वर्णाभिव्यक्तिजनककण्ठाद्यभिघातगौरवमेवादर्त्तव्यं, न तु ज्ञानजनकमनोव्यापारगौरवमिति राजाज्ञाऽस्ति। न च सह आ सम-न्तात् एति गच्छतीति सहेता मध्यमो वर्ण इत्यर्थं इति, अतो नान्योन्याश्रय इति वाच्यम्। अन्योन्याश्रयतत्परिहारादीन् वदता भाष्यकारेण 'कटी' [भ्वा० धा० ३२०] 'वी' [भ्वा० धा० १०४८] इत्यत्र प्रश्लिष्टात् 'ईङ् गतौ' [दि० धा० ११४३] इत्यतश्च सह–आङ–पूर्वात् ञभावबोधनात्। किञ्च योगमर्यादय तत उक्तार्थालाभः। आ समन्तादित्यस्यानन्वितार्थत्वं व्यर्थत्वञ्च। रूढौ तु न मानमतः सूत्रावृत्त्या तं परिहरति—हलन्त्यमिति।

अब यहाँ यह शंका करते है कि उपदेशेऽदन्त्यम्, अच्, अनुनासिकः। इस प्रकार तीन सूत्रों के करने से दोष नहीं होगा। अच् अनन्त्य के लिए है। तृतीय में अच् की अनुवृत्ति करने के कारण यदि इत्संज्ञा हो तो अनुनासिक की ही हो इस नियम को स्वीकार करने से रु प्रभृति में अनुनासिक के न होने से उकार की इत्संज्ञा नहीं होती है। योग विभाग करने के कारण अनन्तरस्य नियम को बाधकर व्यवहितका भी उससे नियम होता है और मिदचोऽन्त्यादि ज्ञापक से विपरीत नियम नहीं होता है। यदि अनुनासिक की इत्संज्ञा हो तो अच् की ही हो यह विपरीत नियम का आकार है। उक्त नियम से नकार की इत्संज्ञा न होने से मिदचोन्त्यात् सूत्र व्यर्थ था। इस प्रकार से हल् ग्रहण भी व्यर्थ है और अन्योन्याश्रय भी नहीं है। पाणिनि के सूत्रों में भेद

करने से पारायणादि में अदृष्ट की हानि होगी जैसा कि तत्तत् स्थलों में लिखा है कि अपाणिनीय तो होता है। यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि कल्पित न्यास में लघुता होने से दोष का अवकाश नहीं है। सूत्र भेद उसको कहते है—उसी को अन्य सूत्र किया जाय अथवा बड़ा किया जाये। यदि उसी को लघु रूप में किया जाये तो सूत्रभेद नहीं होता है। यह अच् उपसर्गान्तः के सूत्र भाष्य में स्पष्ट है। नासौ सूत्रभेदः का तात्पर्य है कि दोष के लिए नहीं होता है। सम्भव होने पर दृष्टि के द्वारा ही अंगों को अदृष्टार्थ मानना चाहिए। इसी से अनेक स्थलों में ज्ञापकपरक सम्पूर्ण भाष्य का उच्छेद भी नहीं होता है इसका उत्तर करते है—उक्त न्यास में योग विभाग, नियम और ज्ञापक के आश्रयण में अत्यन्त गौरव है। वर्णों की अभिव्यक्ति का कारण कण्ठतालु के अभिघात रूपी गौरव का ही आदर नहीं करना चाहिए। ज्ञान जनक मनो व्यापार रूप गौरव नहीं है ऐसी राजा की आज्ञा नहीं है अर्थात् ज्ञान जनक मनो व्यापार रूप गौरव ही गौरव है। मह आसमन्तात् इत्यादि रीति से सहेता मध्यमो वर्ण अर्थ करने से अन्योआश्रय नहीं होगा यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्योन्याश्रय के परिहार कहते हुए भगवान भाष्य कार ने कटी, वी में प्रश्लिष्ट ई से और ईङ्गतौ से सह और आङ् पूर्वक से तृच् नहीं होता है। योग से उक्त अर्थ का लाभ होना भी कठिन है आसमन्तात् के अर्थ का अन्वय भी नहीं है और व्यर्थ भी है रूढ़ि मानने में कोई प्रमाण नहीं है इसलिए सूत्र की आवृत्ति से अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करते है। हलन्त्यमिति।

भाष्येऽप्यन्योन्याश्रयमाशङ्क्य 'हलन्त्यमित्सञ्ज्ञं भवति लकारश्चेद्भवतीति वक्तव्यम्' इत्युक्त्वा 'एकशेषनिर्देशाद्वा सिद्धम्—हल् च हल् च हल्, हलन्त्यमित' इत्युक्तम्। तस्यायं भावः—कृतैकशेषेण हल्पदेन सम्बन्धसामान्यषष्ठया समासोऽन्त्यशब्दस्य च द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यैवोभयत्रान्वयः। एवञ्च हल्सूत्रान्त्यं हल्रूपान्त्यं चेति बोधः। अन्त्ये 'राहोः शिरः' इतिवत् षष्ठीति। अत्रोच्चारयितुरेकशेषनिर्देशो बोद्धुस्त्वावृत्त्या बोधः। हसमीपेलकार इत हल्रूपान्त्यञ्चेति कैयटोक्तव्याख्यायां तु हल् इत्सञ्ज्ञं भवति हलन्त्यञ्चेदिति वदेदित्यूह्यम्।

भाष्य में "अन्योन्याश्रय" की आशंका करके "हलन्त्य मित्सञ्ज्ञम् भवति" अन्त्य हल् इत्सञ्ज्ञक होता है, लकार भी इत्सञ्ज्ञक होता है ऐसा कहना चाहिए" यह कहकर अथवा एक शेष निर्देश से भी कार्य सिद्ध होगा "हल् च हल् च हल् हलन्त्यमित्" कहा है। उसका तात्पर्य यह है कि एक शेष करने के पश्चात् हल् पद् से सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी मानकर समास करना और अन्त्य शब्द का द्वन्द्वान्ते इत्यादि न्याय से उभयत्न अन्वय करना। इस प्रकार से हल् सूत्र का अन्त्य और हल् रूप अन्त्य यह बोध होगा। हल् रूप अन्त्य में राहोः शिरः की तरह षष्ठी समझना। तात्पर्य यह है कि जो राहु है वही

शिर है फिर षष्ठी किस प्रकार से होती है। वहाँ व्यपदेशिवद्भाव से षष्ठी भाष्यकार ने की है उसी प्रकार यहाँ भी करना चाहिए। यहाँ उच्चारण करने वाले को एक शेष निर्देश है और बोद्धा को आवृत्ति से बोध होता है। ह के समीप लकार की इत्संज्ञा होती है हल् रूप अन्त्य भी इत्सञ्ज्ञक होता है इस कैयट व्याख्या में तो हल् इत्सञ्ज्ञक हो हलन्त्य भी इत् हो—कहना चाहिए था।

नन्वेवमपि 'न विभक्तौ' (१/३/४) इति विभक्तिपदबोध्यसुप्तिङ्बोधो 'हलन्त्यम्' (१/३/३) इति वाक्यार्थबोधोत्तरं, तद्बोधश्चापवादवाक्यार्थबोधोत्तरमित्यन्योन्याश्रयस्तदवस्थ एवेति चेत्। न, अपवादवाक्यार्थबोधात्पूर्वं पदपदार्थोपस्थितावुत्सर्गवाक्यार्थबोधे प्रतिबन्धकाभावात्। न ह्यभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्येव प्रतियोगिज्ञानेऽभावज्ञानस्य कारणता कस्यापि सम्मता। प्रतियोगिज्ञानं विना निषेधवाक्यार्थासम्भवाच्च।

फिर भी 'न विभक्तौ' में विभक्ति पद से प्रतीत होने वाले सुप् और तिङ् का बोध हलन्त्यम् के वाक्यार्थ बोध के पश्चात् होगा और हलन्त्यम् बोध अपवाद (न विभक्तौ) के वाक्यार्थ बोध के उत्तर में होगा। इस प्रकार से अन्योन्याश्रय वैसा ही बना है। इस शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं कि अपवाद के वाक्यार्थ बोध से पूर्व पद् और पदार्थोऽपस्थिति होने पर उत्सर्ग शास्त्र के वाक्यार्थ बोध में कोई प्रतिबन्धक नहीं है। अभाव ज्ञान में प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा होने पर प्रतियोगी ज्ञान में अभाव ज्ञान की कारणता किसी को भी सम्मत् नहीं है और प्रतियोगि ज्ञान के बिना निषेध शास्त्र का वाक्यार्थ होना भी सम्भव नहीं है यद्यपि अभावपदार्थः इत्यादि में प्रतियोगिज्ञान की आवश्यकता नहीं है तो भी प्रकृत में आवश्यकता है।

'पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः' इत्यस्य त्वयं भावः—लक्ष्यैकचक्षुष्कः उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने सर्वत्रोत्सर्गकृतसंस्कारबुद्धावुत्सर्गापवादयोर्विषयव्यवस्थानापत्त्या भुक्तवन्तं प्रति 'मा भुक्था' इति वाक्यस्येवापवादशास्त्रवैयर्थ्यापत्त्या चापवादशास्त्रपर्यालोचनेन तद्विषयलक्ष्यसंस्कारं निर्णीय तदविषयं तत्तल्लक्ष्यं तत्तद्विषयवाक्योपप्लवद्वारोत्सर्गेण संस्करोति, अन्यथा विकल्पापत्तिरिति। यद्यपि 'भुक्तवन्तं प्रति' इति न्यायो लुगादिना जातनिवृत्तेर्व्यभिचरितस्तथापि तत्राप्यनुत्पत्तिरेवेति न दोषः, न्यायानङ्गीकारेऽपि विकल्पापत्तेः सत्त्वाच्च। 'अभिनिविशन्ते' इत्यस्य बुद्ध्यारूढा भवन्तीत्यर्थः। लक्ष्यैकचक्षुष्कस्तु यत्तच्छास्त्रपर्यालोचनं विनापि अपवादविषयं परित्यज्योत्सर्गेण लक्ष्यसंस्कारञ्जानीते, तस्यापि शास्त्रप्रक्रियास्मरणपूर्वकप्रयोगे एव धर्मोत्पत्तेः। तदुक्तम्—'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते' इति। प्रकल्प्य—परित्यज्य।

"पहले अपवाद बुद्धि में आते हैं तत्पश्चात् उत्सर्ग" इस परिभाषा का अर्थ इस प्रकार है—लक्षण (सूत्र) को दृष्टि में रखकर कार्य करने वाले को सर्वत्र उद्देश्यता वच्छेदक से मुक्त (सूत्र जिसको निमित्त मानकर लगता है) उत्सर्ग शास्त्र की बुद्धि होने पर उत्सर्ग और अपवाद की विषय व्यवस्था न होने से, "भोजन कर लेने पर भोजन न करो" की तरह अपवाद-शास्त्र के व्यर्थ होने से, अपवादशास्त्र के देखने से, अपवादशास्त्र के विषयभूत लक्ष्य संस्कार का निर्णय करके उसके विषय से रहित उन-उन लक्ष्यों को उन-उन विषय वाले अपने वाक्यों की आपत्ति करके उत्सर्ग से संस्कृत (सिद्ध) होते हैं। यद्यपि भुक्तवन्तम् न्याय लुक् स्थल में व्यभिचरित है क्योंकि लुक् जात की ही निवृत्ति करता है। तो भी लुगादिस्थल में अनुत्पत्ति मानने से कोई दोष नहीं है और न्याय के न मानने पर विकल्प की आपत्ति तो है। अभिनिविशन्ते का अर्थ बुद्धि में आरूढ़ (आना) होना है। लक्ष्यनिष्ठ दृष्टि वाले जो शास्त्र को देखे बिना भी अपवाद विषय को छोड़कर उत्सर्ग से लक्ष्य संस्कार को जानते हैं उनको भी शास्त्र प्रक्रिया के स्मरण का प्रयोग करने पर भी धर्म की उत्पत्ति होती है। कहा भी है प्रकल्प्य-इत्यादि अर्थात् अपवाद विषय को छोड़कर उत्सर्ग प्रवृत होता है प्रकल्प का अर्थ छोड़कर है।

यत्तु प्रकल्प्य चेत्यास्यायमर्थः—यथा 'न सम्प्रसारणे' [६ । १ । ३७] इति वचनात् परस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणं पूर्वस्य तु तन्निमित्तः प्रतिषेधः इति अभ्यस्तसञ्ज्ञासूत्रे कैयटः। तन्न 'न सम्प्रसारणे' [६ । १ । ३७] इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात्। तत्र हि 'एतदेव ज्ञापयति परस्य न पूर्वस्येति। यद्वा 'सम्प्रसारणाश्रयस्य प्रतिषेध' इत्याद्युक्तम्। न हि न्यायेन सिद्धे एवमुक्तिरुचिता। तस्माद् न्यायस्य मदुक्त एव विषय इति बोद्ध्यम्। यदपि 'अपवादवाक्यार्थं विना नोत्सर्गवाक्यार्थं इति तदर्थः' इति। तदपि न। उक्तयुक्तेः। 'न विभक्तौ तुस्माः' (१ । ३ । ४) इति शास्त्रे तुस्पदार्थज्ञान-मात्रेण पादीनामेव तद्विषयत्वाभावबुद्ध्या तेषु हलन्त्यसूत्रप्रवृत्या सुप्तिङ्-रूपविभक्तिपदार्थज्ञानं सुलभमिति दिक्। अत्राप्युपदेश इति सम्बद्ध्यते। तद्बललभ्यमर्थमाह—सूत्रे इति।

किसी के मत से प्रकल्प्य का अर्थ 'यह है' जैसे न सम्प्रसारणे सूत्र से परयण् को पहले सम्प्रसारण होता है और पूर्व को तन्निमित्त प्रतिषेध होता है ऐसा अभ्यस्त संज्ञा करने वाले सूत्र में कैयट ने कहा है। वह ठीक नहीं है क्योंकि न सम्प्रसारणे सूत्र के भाष्य से विरोध होता है वहाँ लिखा है कि यह सूत्र के भाष्य से विरोध होता है वहाँ लिखा है कि यह सूत्र ही ज्ञापन करता है कि ही (परयण) को ही, पूर्व को नहीं अथवा सम्प्रसारण का प्रतिषेध है। न्याय से सिद्ध होने पर इस प्रकार का कथन उचित नहीं था इससे न्याय का विषय मेरे कथनानुसार ही है जो कि कहा है कि

अपवाद वाक्यार्थ के बिना उत्सर्ग का वाक्यार्थ बोध ही नहीं होता है। पूर्वोक्त युक्ति के आधार से वह भी ठीक नहीं है। ''न विभक्तौ तुस्माः'' शास्त्र में तवर्ग सकार और मकार रूपी पदार्थ के ज्ञान मात्र से पादि में ही उसके विषय की अभाव बुद्धि से उनमें हलन्त्यम् सूत्र की प्रवृत्ति होने से सुप्तिङ् रूप विभक्ति पदार्थ ज्ञान सरलता से हो सकता है यहाँ फी उपदेश का सम्बन्ध है उसके बल से प्राप्त अर्थ को कहते हैं सूत्रे इति।

आदिरन्त्येन (१/१/७१)। आदिरिति किम् ? अन्त्यशब्देन पूर्वेषामाक्षेपादिगादिप्रत्याहारेऽकारादिग्रहणं मा भूदिति। एवमादिशब्देन परेषामाक्षेपादिणादिप्रत्याहारेषु ञादीनां ग्रहणं मा भूदित्यन्त्येनेति। आदिः अन्त्येन इत्युभयोपादाने तु न दोषः। अयमादिरन्त्यो वेत्युक्तेऽवशिष्टमपि किञ्चिदस्तीति नियमेन प्रतीतेः। परस्मिन् सति यस्मात्पूर्वो नास्ति स आदिः पूर्वस्मिन् सति यस्मात्परो नास्ति सोऽन्त्य इति अकारादिग्रहणे इकारणकारादीनामाद्यन्तत्वस्यैवानापत्तेः। अत्राद्यन्ताभ्यामवयवत्वेन बोधकाभ्यां स्वघटितः समुदाय आक्षिप्तः सञ्ज्ञी। तस्य चैकत्र लक्ष्ये प्रयोगाभावात्प्रत्येकं सञ्ज्ञित्वम्। अन्त्यस्य तु न तत्कार्यम्। तस्येत्संञ्ज्ञालोपाभ्यामपहारात्। एतत्फलितकथनमेव भाष्ये मूले च–स्वस्य च रूपस्य इति। स्वमित्यनुवृत्तिपरत्वेन व्याख्यानं तु हेयमेव। अनुवृत्तौ फलाभावात्। इतेति किम् ? 'ञमङणनम्' [मा० सू० ७] इति णकारादिभिः प्रत्याहारो मा भूदिति। सहग्रहणाच्च समुदाय एव सञ्ज्ञेति समुदायादेव 'इकः' इत्यादौ विभक्त्युत्पत्तिर्निर्दिमात्रात्। न चान्त्यस्येत्सञ्ज्ञालोपाभ्यामपहारात् 'आदिरन्त्येन' [१/१/८१] इत्यसङ्गतम्। सूत्रेष्वित्सञ्ज्ञायामपि इगादिशब्देषु तदभावात्। अन्त्येनेत्यस्येदन्त्यसदृशेनेत्यर्थात्, व्यक्तिपक्षे एवमेवौचित्यात्, सादृश्यमूलिकैव चात्र तत्त्वप्रत्यभिज्ञेत्याहुः। 'अचिश्नुधातु' [६/४/७७) इति सूत्रे इण इत्येव सिद्धे य्वोरिति निर्देशादिण् परेणैवेति 'लण्' [मा० सू० ६] सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

आदिरन्त्येन। आदि ग्रहण के अभाव में अन्त्य शब्द से पूर्व का आक्षेप होने के कारण इक् आदि प्रत्याहार में अकारादि का ग्रहण हो जाता इसी प्रकार आदि शब्द से पर के आक्षेप से इणादि प्रत्याहार में ञ आदि का ग्रहण न हो इसलिए अन्त्येन भी कहना चाहिए। आदि और अन्त्य दोनों के ग्रहण से दोष नहीं है। यह आदि है। यह अन्त्य है ऐसा कहने पर कुछ अवशिष्ट भी है ऐसी प्रतीति नियम से होती है। पर होते हुए जिससे पूर्व नहीं है वह आदि है, पूर्व होने पर जिससे पर नहीं है वह अन्त्य है। आदि से अकार और अन्त्य से ञ आदि ग्रहण से इकार में आदित्व और

णकार में अन्त्यत्व ही नहीं होता यहाँ आदि अन्त्य का परिष्कार इस प्रकार से है समुदाय विशिष्टत्वम्, आदित्वम् वैशिष्टत्वम् स्वघटकत्व स्वघटकावधिकपूर्वत्व स्वघटकावधिकोत्तरोत्व भाववत्व सम्बन्ध–एवं समुदाय विशिष्टत्वम् अन्त्यत्वम् वैशिष्ट्य स्वघटकत्व स्वघटका वधिकोत्तरत्वस्वघटकावधिकापूर्वत्वा भाववत्वम् सम्बन्धेन्।

जैसे इक् में इकार आदि है वह इक् समुदाय में है इक् के अन्तर्गत उकार से पूर्व भी है और इक प्रत्याहार उपस्थित किसी वर्ण से भी उत्तर नहीं है। इसी प्रकार अन्त्य किसी से पूर्व नहीं होता है। यहाँ अवयव रूप से बोधक आद्यन्त्य शब्दों से आक्षिप्त समुदाय सञ्ज्ञी है उस समुदाय का एक साथ किसी लक्ष्य में प्रयोग न होने से प्रत्येक ही संज्ञा वाला है तात्पर्य यह है कि इक् के इ उ इत्यादि सभी वर्णों का लक्ष्य एक साथ मिलना असम्भव है। इसलिते इ उ इत्यादि सभी इक् है अन्त्य की इत्संज्ञा और लोप से अपहार होने के कारण उसको कार्य नहीं होता है इसी का फलितार्थ भाष्य और मूल में लिखा है। स्वस्य च रूपस्येति। स्वं रूपम् से स्व की अनुवृत्ति करके स्वस्य इत्यादि व्याख्यान तो हेय है अर्थात् मानने योग्य नहीं है क्योंकि अनुवृत्ति में फल का अभाव है। ञ म ङ ण न् के णकारादि से प्रत्याहार न लिया जाय इसीलिये इता कहा है। यह इत् नहीं है। सह ग्रहण करने से इगादि समुदाय की ही संज्ञा होती है और इकः में समुदाय से ही विभक्ति की उत्पत्ति होती है केवल आदि से नहीं होती है। अन्त्य की इत्संज्ञा और लोप से अपहार होने से आदिरन्त्येन कहना संगत नहीं है। सूत्रों में इत्संज्ञा होने पर भी इगादि शब्दों में इत्संज्ञा का अभाव है। अन्त्येन का अन्त्य इत् के सदृश अर्थ है। व्यक्ति पक्ष में यही उचित है। यह सादृश्यमूलिका तत्व प्रत्यभिज्ञा है।

अचिश्नुधातु सूत्र में इणा से ही कार्य चल जाता य्वोः के निर्देश से इण् प्रत्याहार पर णकार से ही लिया जाता है। यह लण् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

हलन्त्यम् (१/३/३)। अत्र पदद्वयं, समासेऽन्त्यशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तेः (४) कर्मधारययोग्यपदानां समासाभावस्य सूत्रकारशैलीसिद्धत्वाच्च। यद्यपि सर्वोऽपि हल् तं तं समुदायं प्रत्यन्त्यो भवति तथाप्यन्त्यपदोपदेशपदाभ्यां प्रत्यासत्या (१) ऽज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकोच्चारणविषयसमुदाय प्रत्यन्त्य इह गृह्यते। अत एव मकारेत्सञ्ज्ञापरित्राणार्थस्स्थमोरुकारश्चरितार्थः। समुदायोपदेश एव सर्वत्र ऋषितात्पर्येणावयवानां नान्तरीयकतया तेषामज्ञातस्व स्वरूपज्ञापकत्वाभावात्। उपदेशेऽन्त्य इति। तत्र विद्यमानमन्त्यमित्यर्थः। तेन 'अइउण्' (मा० सू० १) इत्यादौ णादीनां हल्प्रत्याहारसिद्ध्युत्तरं तत्सिद्धिः। अन्यत्र त्वन्तरङ्गत्वात्प्राय उच्चारणेनाभिव्यक्तस्य तदव्यवधानेनैवेत्सञ्ज्ञा। पदार्थोपस्थितिरनुबन्धविनिर्मुक्तस्यैव। 'उप-

देशोत्तरकाला इत्सञ्ज्ञा' इति 'नाज्झलौ' (१/१/१०) इति सूत्रभाष्यात्। 'घुट्' इत्यादौ सानुबन्धाद्विभक्तिस्तु तेनैवानुबन्धविनिर्मुक्तोपस्थितेस्तस्यैवार्थवत्त्वात्सुलभा; इत्सञ्ज्ञाकार्यं तु यत्र सञ्ज्ञा तत्राऽऽनर्थक्यात् तदुपस्थाप्य एव। स्पष्टश्चेदं 'तित्स्वरितम्' (६/१/८५) इत्यत्र कैयटे। वैयाकरणे चित्स्वरस्तु न। तस्येच्चकारसदृशत्वे तत्त्वाभावात्। विभक्त्यादिञ्ज्ञापि सूत्रान्तर्गतानामेवेति तत्रैव 'न विभक्तौ' (१/३/४) इत्यादीनां प्रवृत्तिः। अत एव 'इदम् इश्' (५/३/३) इत्यादाविण्त्वात्सवर्णग्रहणं प्राप्तयमप्रत्यय इत्यनेन निषिद्धयते इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते। यत्तु 'अनेकाल्' (१/१/५५) सूत्रे 'इशि शिद्ग्रहणाभावेऽपि शित्करणादेव सर्वादेशत्वम्' इति भाष्ये उक्त, तस्येत्सञ्ज्ञकशकरणाद् (२) भूतपूर्वानेकाल्त्वमादाय सर्वादेशत्वमित्यर्थ इति न तद्विरोधः।

हलन्त्यम्। यहाँ दो पद हैं क्योंकि समास में अन्त्य शब्द का पूर्व निपात होने लगेगा और कर्मधारय के योगपदो का समास न करना सूत्रकार की शली है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ समास तथा उसके अभाव में कोई अन्तर न हो वहाँ समास नहीं करते हैं। 'निपात् एकाच्' में समास में एकाच् और समास के अभाव में एकोच् यह विशेषता है।

यद्यपि सभी हल उस-उस समुदाय के प्रति अन्त्य होते हैं तो भी अन्त्य पद और उपदेश पद से सामीप्य सम्बन्ध से अज्ञात जो अपना स्वरूप उसका बोधक जो उच्चारण तद् विषय समुदाय के प्रति अन्त्य का ग्रहण यहाँ लेते हैं। इसी से मकार की इत्संज्ञा के अभाव के लिए थम्र प्रत्यय का उकार चरितार्थ है सर्वत्र समुदाय के उपदेश में ही ऋषि तात्पर्य होने से अवयवों का तो निश्चित होने से अवयवों में अज्ञात स्वस्थ रूप ज्ञापकत्व का अभाव है। उपदेशऽन्त्य इति। उसमें विद्यमान जो अन्त्य यह अर्थ है इससे अ इ उ ण् इत्यादि में णकारादि की हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पश्चात् इत्संज्ञा होती है। अन्यत्र अन्तरंग होने से उच्चारण से अभिव्यक्ति की उसके अव्यवधान से इत्संज्ञा होती है क्योंकि पदार्थोपस्थिति अनुबन्ध से रहित की ही होती है जैसा कि "नाज्झलौ" सूत्र के भाष्य में लिखा है कि उपदेश के पश्चात् इत्संज्ञा। घुट् इत्यादि में अनुबन्ध विशिष्ट से विभक्ति की उत्पत्ति सुलभ है क्योंकि उससे ही अनुबन्ध से मुक्त पदार्थोपस्थिति होने से अर्थवान भी है अर्थात् अर्थवान की प्रातिपदिक संज्ञा होती है और प्रातिपदिक से ही विभक्ति आती है। इत्संज्ञा कार्य तो जहाँ संज्ञा है वहाँ आनर्थक्य होने से उपस्थाप्य में ही होती है यह तित्स्वरितम् के कैयट में स्पष्ट है वैयाकरण में चित्स्वर तो नहीं होता है क्योंकि वह इत् चकार के सदृश्य है पर इत् नहीं है। विभक्ति आदि संज्ञा भी सूत्रान्तरर्गतों की ही होती है। वहीं न विभक्तौ आदि की प्रवृत्ति होती है इसी से

इदम् इश इत्यादि में अण् होने से प्राप्त सवर्ण संज्ञा का अप्रत्यय से निषेध होता है यह भाष्योक्ति भी संगति होता है जो कि अनेकाल् सूत्र में इश में शिद् ग्रहण के अभाव में भी शित् करण से ही सर्वादेश है। ऐसा भाष्य में कहा है उसका अर्थ है इत्सञ्ज्ञक् शकार के करने से भूतपूर्व अनेकाल् मानकर सर्वादेश होता है इस प्रकार से उससे विरोध नहीं है।

अत्र केचित—अनुबन्धा अनैकान्ताः अनवयवाः। यो ह्येकान्तः स कदाचित्तत्रोपलभ्यत एव अयन्तु न तथा, तदर्थभूते (१) विधेये कदाऽप्यदर्शनात्। 'हलन्त्यम्' (१।३।३) इत्यत्रान्त्यशब्दः (२) परसमीपबोधकः, 'चुटू' (१।३।७) इत्यादावादिशब्दः पूर्वसमीपबोधकः, 'अनेकाल् शित्' (१।१।५५) इत्यादौ समीपे सामीप्यमूलकावयवत्वारोपेण बहुव्रीहिः। स्पष्टचचेदं उपदेशेऽज्' (१।३।२) इति सूत्रे भाष्ये 'मपर्यन्तस्य' (७।२।९१) इति सूत्रे कैयटे च। तेन डाणलादौ इशादौ च न दोषः। अत एव 'उपदेशेऽच्' (१।३।२) इति सूत्रे उपदेशग्रहणं चरितार्थम्। तद्धि 'अभ्रू आँ अटितः' इत्यादौ 'आदितश्च' (७।२।१६) इतीटप्रतिषेधाभावाय। अनेकान्तत्वे हि तत्याप्तिरित्याहुः।

यहाँ किसी कथन है कि अनुबन्ध अनेकान्त अनुवयव होते है जो एकान्त अवयव होता है वह कभी तो वहाँ मिलता ही है। यह उस प्रकार का नहीं है क्योंकि विधेय में इसका कभी भी दर्शन नहीं होता है। हलन्त्यम् में अन्त्य शब्द पर होते हुए समीप का बोधक है। चुटू: इत्यादि में आदि शब्द पूर्व होते हुए समीप का बोधक है। अनेकाल् शित् इत्यादि में शित् में समीप में सामीप्य मूलक अवयव का आरोप करने से बहुव्रीहिः समास है यह उपदेशेऽज् सूत्र के भाष्य में और मपर्यन्तस्य सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। इससे डाणल् आदि में और इश् आदि में दोष नहीं है इसी से उपदेशेऽच् सूत्र में उपदेश ग्रहण भी चरितार्थ है उपदेश ग्रहण का फल है कि अभ्रआँ अटितः इत्यादि में इट् के निषेध का अभाव। अनेकान्त मानने पर ही उसकी प्राप्ति है।

यहाँ अनुमान प्रयोग इस प्रकार है "अनुबन्धा बोधकानवयवाः बोधक घटकत्वेनोपलब्धि विषयत्वे सति बोध्यघटकत्वेनोपलब्धि विषयत्वा भावात्।"

अनुबन्ध बोधक के अवयव नहीं होते है क्योंकि बोधक सूत्र के मध्य में तो उपलब्धि होती है परन्तु लक्ष्य के मध्य में उपलब्धि नहीं होती है। उक्त हेतु आनङ के आकार में व्यभिचरित है क्योंकि नकार की उपलब्धि लक्ष्य में नहीं होती है और वह अनुबन्ध नहीं है। तथा चक्रकापत्ति दोष भी है। हेतु साध्य में तब जाये जबकि तस्यलोपः से लोप हो। लोप इत्संज्ञा होने से होगा। हलन्त्यम् से इति संज्ञा उसके वाक्यार्थ होने पर होगी। वाक्यार्थ अन्त्यादि शब्द में लक्षणा होने पर होगा। लक्षणा

अनवयवत्व होने पर होगी। अनवयवत्व हेतु के साधन में जाने पर सिद्ध होगा

(३) परे तु-एकान्ता एव (४) शास्त्र तत्रापलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्च। अनवयवो हि काकादिरेकजातीयसम्बन्धेन गृहवृक्षादिषूपलभ्यते, नैवमयम्। किञ्चानवयवत्वे ण-श-क प्रत्ययादौ णादेरित्त्वानापत्तिः। प्रत्ययादित्वाभावात्। एवमन्त्यत्वाभादिशादेः शस्येत्वानापत्तिः। उक्तार्थलाक्षणिकत्वे तु लक्षणैव दोषः। किञ्च दध्नचश्र्चकारवैयर्थ्यापत्त्याऽवयवत्वमेव न्याय्यम्। अत एव 'वुञ्छण्कठच् (४/२/८०) इतिसूत्रविहितके णित्त्वप्रयुक्तवृद्धिर्न। 'तस्य लोपः' (१/३/१) इति भाष्ये 'एकान्तत्वमेव न्याय्यम्' इत्युक्तेश्र्च। उपदेशेऽन्' (१।३।२) इति सूत्रे उपदेशग्रहणन्तु स्पष्टार्थमेवेत्याहुः। सर्वत्रानुबन्धसहितनिर्देशे विधौ 'गुप्तिन्दिभ्यः' (३।१।५) इत्यादौ (१) नकारेत्संज्ञकः सो भवतीत्यादिक्रमेण बोधः। अनुवादे 'सन्यतः' (७।४।७९) इत्यादौ च नकारेत्सञ्ज्ञके सशब्दे परे इत्यादिक्रमेण बोधः। स्पष्टञ्चेदं निष्ठासञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये। अत एव 'आटश्र्च' (६।१।९०) इत्यादेर्नासङ्गतिः (२)। अन्यथा यत्राऽऽट् सूत्रे तत्र नाच्परो, नेष्यते च तत्र वृद्धिः यत्र प्रयोगे इष्यते वृद्धिस्तत्र नाऽऽडिति तदसङ्गतिः स्पष्टैव। अन्त्यङ्किम्। (१) वाचालः। हलिकम्। 'चिरिणोति' इत्यादौ धातोरन्त्यस्य मा भूत्।

इसलिए नागेश कहते है कि एकान्ता एव। अर्थात् अनुबन्ध अवयव होते है शास्त्र में मिलता है अन्यत्र नहीं मिलता।

अनुमान प्रयोग इस प्रकार है अनुबन्धा बोधक अवयव शास्त्र घटक बोधक घटकत्वे नोपलब्धि बिषयत्वेसति शास्त्रघटक बोधकान्थघटकत्वेनोपलब्धि विषयत्वा भावात्।)

अनवयव काक आदि पक्षी एक जातीय सम्बन्ध से (काक प्रतियोगिक गृहानुयोगिक) गृह तथा वृक्ष आदि में मिलता है यह इस प्रकार का नहीं है। और अनवयव मानने पर ण शक प्रत्यय के आदि में णकार आदि में इत्संज्ञा नहीं होगी क्योंकि प्रत्यय के आदि नहीं है। इसी प्रकार से अन्त्य के अभाव में ईश् आदि के शकार की इति संज्ञा नहीं होगी पूर्वोक्त लक्षणा मानने पर तो लक्षणा ही दोष है और दन्धच् का चकार भी व्यर्थ हो जायेगा इसलिये अवयवों मानना ही उचित है इसी से वुञ्छण् कठच् सूत्र से बिहितक प्रत्यय में णित्व प्रयुक्त वृद्धि नहीं होती है। तस्यलोपः सूत्र के भाष्य में एकान्तत्व (अवयव) पक्ष को ही न्याय कहा है। अनवयव मानने पर णित् का अर्थ--णकार का अर्थ है इत् जिसके पास होता है तब क के पास भी णकार होने से ऋष्यकः में वृद्धि होने लगती उपदेशेऽजिति सूत्र में उपदेश ग्रहण तो स्पष्टार्थ तो ही है।

सर्वत्र अनुबन्ध सहित निर्दिष्ट विधि मुप्तिज्किद्भ्यः इत्यादि में नकार इति संज्ञा वाला सकार होता है। इस प्रकार का ही अर्थ करना। अनुवाद 'सन्यतः' इत्यादि में नकार इति संज्ञा वाले सकार के परे इत्यादि बोध होगा यह निष्ठा संज्ञा विधायेक सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है उक्त सिद्धान्त स्वीकार करने से आटश्र्च में कोई दोष नहीं है अर्थात इनकी असंगति नहीं है नहीं तो जहाँ सूत्र में आट् है वहाँ अच् परे नहीं है तथा वहाँ वृद्धि भी इष्ट नहीं है और वहाँ जहाँ प्रयोग में वृद्धि इष्ट है वहाँ आट् नहीं है तब उसकी असंगति स्पष्ट ही थी अन्त्य ग्रहण के अभाव में वाचालः में चकार की इत्संज्ञा हो जाती चिरणोति में धातु के अन्त्य की इत्संज्ञा न हो इसलिए हल् ग्रहण किया है।

आद्योच्चारणमिति। आद्यमुच्चारणमित्यर्थः, भाव घाञात भावः। तच्च प्रत्यासत्त्यैतच्छास्त्रप्रवर्त्तकाचार्याणामेव। आद्यत्वञ्चाज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकत्वम्। उपस्याद्यर्थत्वाद्दिशेरुच्चारणक्रियत्वात्। अत एव 'एकाच उपदेशे' (७/२/१०) इति सूत्रे कैयटेनोक्तम्—'इत्सञ्ज्ञाविधावुच्चारणवचन उपदिशिर्गृह्यते' इति, 'आदेच' (६/१/४५) इति सूत्रेऽपि 'येषां स्वरूपज्ञापनायापूर्वमुच्चारणं तेषामेवोपदेशव्यवहारः' इति तत्र सूत्रे भाष्येऽपि 'उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेशः' इति, प्रकृतसूत्रे भाष्येऽपि 'प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशः' इत्युक्तम्। तस्य चोक्त एवार्थः।

आद्योच्चारणमिति। आद्य जो उच्चारण यह अर्थ है। उच्चारण में भाव में घञ् प्रत्यय है और वह आद्योच्चारण सामीप्य सम्बन्ध से व्याकरण शास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों का ही है अज्ञात अपने स्वरूप का ज्ञापक ही आद्योच्चारण है क्योंकि 'उप' का आद्य अर्थ है और 'दिश्' का उच्चारण अर्थ है। इसीलिए 'एकाच् उपदेशे' सूत्र में कैयट ने कहा है इत्संज्ञा विधायक सूत्र में उच्चारण वचन उपदिशि का ग्रहण है आदेच सूत्र में भी—जिनके स्वरूप ज्ञान के लिए अपूर्व उच्चारण होता है उनका ही उपदेश व्यवहार होता है। उस सूत्र के भाष्य में भी प्रातिपदिकों को उद्देश्य होता है, उपदेश नहीं होता है। प्रकृत सूत्र के भाष्य में प्रत्यक्ष आख्यान को उपदेश कहा है उसका भी वही अर्थ है।

परे तु 'उपदेश इति किमर्थम्! अभ्र आँ अपः। कः पुनरुद्देशोपदेशयोर्विशेषः' इति भाष्ये उक्तम्। यदि (२) प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशा गुणैः प्रापणमुद्देशस्तर्हि (३) 'लृटः सद्वा' (३/३/१४) 'निष्ठा' (३।२।१०२) इति विहितानां शतृ—शानच्—क्त—क्तवतूनामवयवस्येत्सञ्ज्ञानापत्तिः। तथा 'राजसूयसूर्य' (३।१।११४) 'चित्याग्निर्चित्ये' [३।१।१३२] इत्यादिनिदातनानुमिति [४]क्याबादीनां पादेरित्त्वानापत्तिः। 'वदः सुपि'

[३।१।१०६] इत्यत्रोच्चारितस्तु नैतत्सबन्धी । अत एव 'तस्यापत्यमत इञ' इति न्यासेऽन्यशब्दसम्बद्धापत्यार्थस्यानुक्तरूपशेषत्वमुक्तमाकरे । तस्मादत्र सूत्रे उपदेशशब्देनोद्देशस्यापि ग्रहणं वक्तव्यम् । एवम् 'अभ्र आँ अपः' इत्यादावपि प्राप्नोतीति तेषां सङ्ग्रहोऽस्य व्यावृत्तिर्येन भवति स विशेषः क इति प्रश्नः । तत्सङ्ग्रहार्थमेव लोकव्यवहारेणापि तयोः सङ्कीर्णत्वमुपपाद्यैतव्द्यावृत्तये तत्सङ्ग्रहाय च 'उपदेशेऽनुनासिक इति वक्तव्यम् । किं पुनरुपदेशनं ! 'शास्त्रम्' इत्युक्तं वार्तिककृता । तत्र शास्त्रपदेन प्रयोगशासनकरणभूता धातुप्रादिपदिकप्रत्ययनिपातागमादेशाः 'हलन्त्य' [१।३।३] सूत्रे व्यवसितपदार्थत्वेन भाष्ये उक्ता गृह्यन्ते । एवञ्च तत्सङ्ग्रहः 'अभ्र आँ' इत्येतव्द्यावृत्तिश्च सिद्धा । तस्य च वार्तिकस्य बाहुलकात्करणे घञा प्रत्याख्यानं भगवता कृतम् ।

यहाँ नागेश का मत इस प्रकार है—उपदेश ग्रहण किस लिए है । अभ्र आँ अपः । उपदेश और उद्देश्य में क्या विशेषता है यह भाष्य में कहा है । यदि प्रत्यक्ष कथन ही उपदेश है गुणों से प्राप्त उद्देश्य है (जिस प्रकार कोई मनुष्य गो के कर्णादि ग्रहण करके कहता है कि यह गो है तो यह उपदेश है और किसी के मार्ग पूछने पर कोई कहे--यहाँ से सीधे जाना फिर बाम हस्त की ओर इत्यादि कथन का नाम उद्देश्य है) ऐसा मानने पर लृटः, सद्वा, निष्ठा इत्यादि से विहित शत शानच्क्त व–क्तवतु प्रत्ययों के अवयवों की इत्संज्ञा नहीं होगी क्योंकि इनका प्रत्यक्ष आख्यान नहीं है किन्तु परम्परा से शत् से शतृ शानच् तथा निष्ठा से क्त, क्तवतु का ग्रहण होता है । वस्तुतः तौसत् में सकार ऋकार इत्संज्ञक अत् और शकार चकार इत्संज्ञक आन् का तौ से परामर्श करने से और उनकी संज्ञा करने में दोष नहीं है । इसी प्रकार से क्त और क्तवतु में जानना । और 'राजसूर्यसूर्य' चित्याग्निचित्ये इत्यादि निपातन से अनुमिति, क्यप् आदि प्रत्ययो के पकार की इत्संज्ञा नहीं होगी । पकार और ककार इत्संज्ञा वाले प्रत्यय का निपातन से अनुमान करने से यहाँ भी दोष नहीं है । कालेभ्योभववत्, चरणेभ्यो धर्मवत् इत्यादि अतिदेशों से विहित प्रत्ययों की इत्संज्ञा नहीं होगी यह दोष है । वदः सुपि में उच्चारित क्यप तो इसका सम्बन्धी नहीं है इसी से तस्यापत्यमतइञ् न्यास में ह्रस्व अकार से ही अपत्य का सम्बन्ध होगा उससे भिन्न शब्दों से सम्बन्ध वाले अपत्य अर्थ के अनुक्त होने से शेष होगा ऐसा भाष्य में लिखा है इसलिए इस सूत्र में उपदेश से उद्देश का भी ग्रहण करना चाहिए । तब ''अभ्र आँ अपः'' इत्यादि में भी प्राप्ति है इसलिए उनका संग्रह करने के लिए लोक व्यवहार में उपदेश उद्देश की संकीर्णता लेकर इसकी व्यावृत्ति के लिए और उनके संग्रह के लिए वार्तिककार में ''उपदेशेऽनुनासिक'' का न्यास किया है उपदेश का अर्थ शास्त्र है उपदेशने का अर्थ

शास्त्र है (लोक व्यवहार में अनुवाक् पढने के पश्चात् शिष्य कहता है "उद्दिष्टोमेऽनुवाक:" यहाँ उपदेश का प्रयोग करना उचित था क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष आख्यान है मार्ग पूछने पर मार्ग का यथार्थ पता समझने के बाद पृच्छक कहता है उपदिष्टोमेपन्थाः यहाँ उद्देश का प्रयोग करना उचित था क्योंकि यहाँ गुण द्वारा कथन है यही लोक व्यवहार में संकीर्णता है) वहाँ शास्त्र के प्रयोग से शासनकरण धातु प्रातिपादिक प्रत्यय निपात आगम् आदेश आदि का ग्रहण होता है जो कि हलन्त्यम् सूत्र में व्यवसित सूत्र में कहे गये हैं अब उनका संग्रह और अभ्र आँ की आवृत्ति सिद्ध होती है भगवान भाष्यकार ने उपदेश में बाहुलक से करण में धञ् मानकर प्रत्याख्यान किया है।

किञ्च 'हलन्त्य' (१।३।३) सूत्रे भावघञन्तोपदेशपदानुवृत्तौ 'भवतष्ठक्छसौ' (४।२।११५) इत्यादिविहितेष्वित्यसञ्ज्ञनापत्तिः। परस्य सत्त्वेन कादेरन्त्यत्वाभावात् (१)। यदि तूपदेशे (२) प्रत्ययत्वादिविशिष्टान्त्य इत् इत्यर्थ इत्युच्यते तदोपदेश इति व्यर्थम्। अन्त्यपदसामर्थ्येनैव तल्लाभात्। अत एवात्र सूत्रे उपदेशग्रहणस्य 'अनुबन्धा अनेकान्ताः' इत्यस्थित पक्षे 'अभ्र आँ अटितः' इति प्रयोजनमुक्तं, न तूत्तरार्थमित्युक्तम्। न च करणसाधनोपदेशशब्दानुवृत्त्या सिद्धे 'हलन्त्य' (१।३।३) सूत्रे 'व्यवसितान्त्यमिति वक्तव्यम्। के पुनर्व्यवसिताः? धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातागमादेशाः' इतिवार्त्तिकानुत्थानमिति वाच्यम्। समुदायद्वाराऽवयवस्याप्युपदेशकरणत्वात्तदन्त्यस्यापि लोपापत्तिरित्याशयात्। भाष्यकृता चान्त्यग्रहणसामर्थ्येन प्रत्याख्यातम्। तत्रानुबन्धविशिष्टानां धातुत्वादि तु धातुत्वादियोग्यघटितत्वाद् (३) बोध्यम्। निपातानां द्योतकत्वेन ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन च पृथग् ग्रहणम्। व्यवसितत्वञ्च धातुत्वादिना परिच्छिन्नत्वादिति कैयटः। एवञ्चोदश्विदादिप्रातिपदिकान्त्यस्यापि लोपः प्राप्नोतीति 'प्रातिपदिकानां' (४) प्रतिषेधो वाच्योऽकृत्तद्धितान्तानाम्' इति वार्त्तिककृतोक्तम् 'कुम्भकारः' इत्यादौ अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गप्रवृत्तेः * पूर्वं प्रातिपदिकत्वे णादिलोपो न स्यादिति अकृदित्यादि तञ्च फलाभावानेत्सञ्ज्ञेत्यादिना भाष्ये प्रत्याख्यातम्। अत्राद्योच्चारणार्थकोपदेशपदानुवृत्तौ त्वस्य बार्तिकस्यानुत्थानमेव स्यात्। 'उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेशः' इति 'आदेच' (६।१।४५) इति सूत्रभाष्ये उक्तेः। एतद्भाष्यैकवाक्यतया पस्पशाह्निकान्तस्थे 'अग्रहणप्रातिपदिकानामुपदेशः कर्त्तव्यो मञ्चको मञ्जक इति मा भूत' इति भाष्ये उपदेशशब्दो ग्रहणं कर्त्तव्य-

मित्यर्थकः। तच्चानुवादरूपमेव सन्देहनिवर्त्तकमिति बोद्ध्यम्।

और यदि 'हलन्त्य' सूत्र में भावघञन्त उपदेश पद की अनुवृत्ति होती तो भवतष्ठक्छसौ इत्यादि से बिदित प्रत्ययों में इत्संज्ञा नहीं होगी क्योंकि पर छकार के रहते ककार में अन्त्यत्व नहीं है परन्तु यह नागेश का कथन उचित नहीं है क्योंकि ढक् का अन्त्य ककार है यदि उपदेश में प्रत्ययत्वादि विशिष्ट का अन्त्य इत् हो यह अर्थ स्वीकार करते हैं तो उपदेश ग्रहण अर्थ व्यर्थ हो जायेगा। अन्त्य पद के सामर्थ्य से ही उपदेश का लाभ सिद्ध है इसलिए इस सूत्र में उपदेश ग्रहण का "अभ्रआँ अटितः" प्रयोजन अनुबन्ध अनवयव होते हैं इस अस्थिर पक्ष में प्रयोजन तो कहा पर उसको उत्तरार्थ नहीं कहा अब यहाँ यह शंका करते हैं कि करण प्रत्यान्त उपदेश की अनुवृत्ति से ही सिद्ध था फिर हलन्त्य सूत्र में 'व्यवसितान्त्यमितिवक्तव्यम् (व्यवसित का अन्त्य ऐसा कहना चाहिए) कौन व्यवसित है धातु प्रतिपादिक प्रत्यय निपात आगम और आदेश इस वार्तिक का उत्थान नहीं होना चाहिए था इसका उत्तर यह है—समुदाय के द्वारा अवयवों को भी उपदेश करण होने से अन्त्य उसके अन्त्य का भी लोप होने लगेगा। भाष्यकार ने अन्त्य ग्रहण करने के कारण उस वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया धातु प्रातिपदिक इत्यादि में अनुबन्ध सहितों की धातुत्व के योग्य से मुक्त होने से समझना वास्तव में धातुत्वादि धातुत्वापि के बोधक हैं प्रातिपदिक से पृथक निपातों का ग्रहण द्योतक होने से अथवा ब्राह्मण वशिष्ट न्याय से है तात्पर्य यह है कि द्योतक होने से उनका अर्थ नहीं है। अतः वे प्रातिपदिक नहीं द्योत्यार्थ मानने पर सामान्य विशेष रूप से जानना प्रातिपदिक सामान्य है। निपात विशेष है व्यवसित का अर्थ कैयट ने किया है कि धातुत्व आदि से नपे तुले हैं अब उद्श्वित् आदि प्रातिपदिकों के अन्त्य का भी लोप प्राप्ति है इसलिए प्रातिपदिकानाम् इत्यादि वार्तिक का निर्माण वार्तिककार ने किया है (कृदन्त और तद्धितान्त से भिन्न प्रातिपदिकों का प्रतिषेध कहना चाहिए) उक्त वार्तिक मानने पर भी चित्रड़ के ङकार की इत्संज्ञा नहीं होगी इसलिए वार्तिक का अर्थ इस प्रकार से है स्ववृत्तिः प्रातिपदिक वृत्तिश्च या आनुपूर्वी तादृशानुपूर्व्यवच्छिन्न विषयता प्रयोजकानाय् प्रातिपादिकानाम् प्रतिषेधो वक्तव्यः अकृदित्यादि तात्पर्य ग्रहकम् (स्ववृत्ति और प्रातिपदिक वृत्ति जो आनुपूर्वी, उस आनुपूर्वी से युक्त विषयता के प्रायोजक प्रातिपदिकों का प्रतिरोध कहना चाहिए। अकृत् इस अर्थ में तात्पर्य ग्रहक है) चित्रङ् चित्र शब्दत्व वच्छित्व का बोधक और चित्रशब्दत्व तो स्ववृत्ति आनुपूर्वी नहीं है चित्रङ् में जो आनुपूर्वी है वह प्रातिपदिक वृत्ति नहीं है कुम्भकार इत्यादि में अपवाद विषय को छोड़कर उत्सर्ग की प्रवृत्ति होने से पहले प्रातिपदिक संज्ञा होने पर णकार आदि का लोप नहीं होगा इसलिए अकृत कहा फल के न होने से इत्संज्ञा नहीं होगी इत्यादि कहकर भाष्यकार ने उसका प्रत्याख्यान किया है। यदि यहाँ भावघञन्त आद्योच्चारण अर्थ वाले उपदेश की अनुवृत्ति होती तो

वार्तिक का उत्थान सम्भव नहीं था 'आद्रेच' सूत्र के भाष्य में कहा है उद्देशश्च—अर्थात प्रातिपदिकों का उद्देश होता है उपदेश नहीं इस भाष्य की एक वाक्यता से ही प्रथम आह्निक के अन्त में "अग्रहण प्रतिपदिकानामुपदेशः कर्तव्यो मञ्चको मञ्जक् इति भाभूत" इस भाषा में भी उपदेश शब्द का अर्थ ग्रहण करना है वह अनुवाद रूप ही संदेह का निवर्तक है।

नन्वेवं 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' (१।१।६६) इति सूत्रे षष्ठीप्रकल्पकत्वं तस्येति पक्षे 'गुप्तिज्किद्भ्यः' (३।१।५) इत्यादावपि षष्ठीप्रक्लृप्त्यापत्तिः। न च सनः सनेवादेशो भविष्यतीति बाधकाभाव इति वाच्यम्। 'उपदेशे इत्युच्यमाना इत्सञ्ज्ञा न प्रकल्पेत' इत्युक्तं भाष्ये, तद्विरुद्ध्येतात्रोपदेशपदाननुवृत्तौ, इति चेत्? न, तस्यैकदेश्युक्तित्वेनासाधकत्वात्। तथा हि—तत्र 'ङमो ह्रस्वादचि' (८।३।३२) इत्यादौ यत्र सप्तमी पञ्चमी चेत्युभयं निर्दिश्यते तत्र किं पूर्वस्य कार्यमथ परस्येति सन्देहे 'परत्वानवकाशत्वाभ्यां पञ्चमीनिर्देशो बलवान्' इति सिद्धान्तिनोक्तम्। तत एकदेशिना 'यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः कर्त्तव्यः' इति समाधानान्तरमुक्तम्। यथाविषयं प्रागुक्तेषु कार्यिणः षष्ठ्या निर्देष्टव्य इति तदर्थः। तेषु सप्तमीनिर्देशस्य क्वचित् पूर्वत्र क्वचिदुत्तरत्राऽऽवश्यकत्वेनोभयनिर्देशे गौरवेणैकदेश्युक्तिः। ततः परेणैकदेशिना षष्ठीपदानुवृत्त्या 'तस्मिन्' [१।१।६६] इत्यादेरेव षष्ठीप्रकल्पकत्वमाश्रित्य 'यथार्थं वा षष्ठी' इत्येकदेश्युक्तिः प्रत्याख्याता। षष्ठीपदानुवृत्तौ गौरवादुभयोः प्रकल्पकत्ववारणाय परत्वानवकाशत्वयोः 'एकः पूर्वपरयोः' [६।१।८४] इति पूर्वपरग्रहणस्य युगपत्प्रकल्पकत्वाभावे ज्ञापकस्य चावश्यकत्वाच्चेयमप्येकदेश्युक्तिः। ततः पूर्वेणैकदेशिना तत्पक्षे 'गुप्तिज्' [३।१।५] इत्यादौ दोषः शङ्कितः। ततः षष्ठीप्रक्लृप्तिवादिनैकदेशिनोक्तम्—'स्यादेष दोषो यदीत्सञ्ज्ञा आदेशं प्रतीक्षेत। तत्र खलु कृतायामित्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते आदेशो भविष्यति। उपदेश इति हीत्सञ्ज्ञोच्यते' इति। एवञ्च त्वदुक्तिर्व्याहतेत्याशयः। तदग्रे उपदेशपदाननुवृत्तिमभिप्रेत्य 'अथवा नानुत्पन्ने सनि प्रक्लृप्त्या भवितव्यम्। यदा चोत्पन्नः सन् तदा कृतसामर्थ्या पञ्चमीति प्रक्लृप्तिर्न भविष्यति' इति समाधानान्तरं कृतम्। तत्र 'परत्वविशिष्टस्य सन उत्पादने पञ्चम्या उपक्षयात् प्रवृत्त्यन्तराभावान्नास्ति तस्याः प्रकल्पकत्वम्' इति तदर्थं कैयट आह। एवञ्च प्रकृतसूत्रस्थस्य सूत्रार्थप्रतिपिपादयिषया प्रवृत्तस्य भाष्यवार्तिकस्यैकदेश्युक्तभाष्यबलेन प्रौढिवादत्वकल्पनं

नोचितम्, लक्ष्यासिद्धेश्च। 'अइउण्' (मा० सू० १) इत्यादीनामपि क्रम-बोधकत्वेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वम्। चित्रङः 'चोः कुः' (८।२।३०) इत्यादेरपि प्रातिपदिकत्वम्। लोपश्चेत्यत्रापि शकारस्य स्वरूपेणार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वम्। अनुबन्धानामेकान्तत्वे तु 'लोपो यि' (६।४।११८) इत्यतो लोपग्रहणेऽनुवर्त्तमाने पुनर्लोपग्रहणात् सर्वादेशत्वं बोद्धयम्। 'एकाच उपदेशे' (७।२।१०) इत्यत्रत्यः कैयटोऽपि चिन्त्य एव। अन्योऽपि तज्जातीयश्चिन्त्य एव। 'एकाच उपदेशे' (७।२।१०) 'आदेच उपदेशे' (६।१।४५) इत्यादौ तु भावसाधन एवेति सुधियो विभावयन्त्वित्याहुः।

अब शंका करते हैं कि तस्मिन्निति षष्ठी प्रकल्पकत्व पक्ष में गुप्तिज् किद्भ्यः इत्यादि में षष्ठी की कल्पना करनी पड़ेगी तब प्रथमान्त सन् षष्ठयन्त होगा तब भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि सन् को सन् ही आदेश होगा आपका कथन सत्य है परन्तु उपदेश में होने वाली इत्संज्ञा नकार की नहीं होगी ऐसा भाष्य में कहा है। यहाँ उपदेश की अनुवृत्ति न करने पर उससे विरोध होगा इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह भाष्य एक देशी की उक्ति होने से साधक नहीं है। उसका उपपादन करते हैं "ङमो ह्रस्वादचि" में सप्तमी और पंचमी दोनों का निर्देश है वहाँ सन्देह होता है कि पूर्व का कार्य हो या परकार तब पर तथा अनवकाश होने के कारण पंचमी निर्देश बलवान है या सिद्धान्त पक्ष का कथन है तब एक देशी ने कहा कि यथार्थ षष्ठी निर्देश ही करना उचित था यह एक समाधान कहा यथा विषयप्रयुक्त स्थल में कार्यी को षष्ठी से निर्देश करना चाहिए उन स्थलों में सप्तमी निर्देश की कहीं पूर्व और कहीं उत्तर में आवश्यकता होने से, उभय निर्देश में गौरव होने से एक देशी की युक्ति है। तब अन्य एक देशी ने षष्ठी पद की अनुवृत्ति करके तस्मिन् को ही षष्ठी प्रकल्पकत्व मान कर यथार्थम् वा इत्यादि एक देशी की युक्ति का खण्डन कर दिया। षष्ठी पद की अनुवृत्ति में गौरव होने से दोनों का प्रकल्पकत्व निवारण करने के लिए परत्व और अनवकासत्व दोनों का एकः पूर्व परयोः में पूर्व और पर ग्रहण का एक साथ प्रकल्प-कत्व न होने से ज्ञापक की आवश्यकता होने से यह भी एक देशी की युक्ति है।

प्रथम एक देशी ने उस पक्ष में गुप्तिज् इत्यादि में दोष की आशंका की तब षष्ठी प्रकल्पकत्व वादी एक देशी ने कहा यह दोष हो सकता था यदि इत्संज्ञा आदेश की प्रतीक्षा करती वहाँ इत्संज्ञा और लोप करने पर आदेश हो जायेगा उपदेश में इत्संज्ञा कही है इस प्रकार से आप की युक्ति उचित नहीं है। उसके आगे उपदेश पद की अनुवृत्ति को न समझकर अथवा "शब्द के द्वारा कहा कि सन् अनुत्पन्न होने पर प्रक्लृप्ति होनी चाहिए जब सन् की उत्पत्ति हो गयी तब सामर्थ्य की समाप्त होने के कारण पंचमी प्रक्लृप्ति को नहीं करेगी इस प्रकार का एक अन्य समाधान किया

कैयट ने उसका अर्थ इस प्रकार किया है---परत्व से युक्त सन् के उत्पादन में पंचमी के क्षीण हो जाने से अन्य प्रकृत के अभाव में वह प्रक्लृप नहीं हो सकती है इस प्रकार से प्रकृत सूत्र में स्थिति सूत्र के अर्थ का प्रतिपादन करने की इच्छा से प्रवृत्त भाव से वार्तिक की एक देशी के प्रति कहे हुए उस भाष्य के पद से प्रौढ़िवादिता की कल्पना उचित नहीं है और लक्ष्य की सिद्ध होना भी सम्भव नहीं है अ इ उ ण् इत्यादि को क्रमबोधक होने से अर्थवान मानकर प्रातिपदिक संज्ञा जानना चाहिए चित्रङ् और चोः कुः इत्यादि की भी अर्थबोधमता होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा सिद्ध होती है। लोपश्च में भी सकार की स्वरूप से ही अर्थवत्ता होने से प्रातिपदिक संज्ञा है अनुबन्धों के अनेकान्तत्व पक्ष में तो लोपोयि से लोपग्रहण की अनुवृत्ति हो जाती फिर लोप ग्रहण के करने से सर्वादेशत्व जानना चाहिए एकाच् उपदेशे का कैयट भी चिन्त्य है अन्य भी उस प्रकार के चिन्त्य ही है एकाच् उपदेशे "आदेच उपदेशे इत्यादि में तो करण साधन के न होने से भाव में घञ् प्रत्यान्त ही है ऐसा विद्वानों को जानना चाहिए।

ननु शास्त्रेऽनुनासिकोच्चारणाभावात तत्त्वज्ञानं दुर्लभमत आह—प्रतिज्ञेति। प्रतिज्ञाविषयानुनासिक्यवन्त इत्यर्थः। पाणिनीया इत्यस्य पाणिनीप्रभृतिप्रोक्ता वर्णा इत्यर्थः। प्रतिज्ञाचायमेवमिति कथनं, वर्णानां तत्त्वज्ञापको व्यवहारश्च। ताभ्यां तज्ज्ञानं सुलभमिति भावः। प्रतिज्ञातारश्च प्रत्यासत्त्यैतच्छास्त्रकर्त्तार एवेति दिक्। निर्देशादिति। तेषां तत्र ग्रहणे हि नासिकादौ (१) यणापत्तिरिति भावः। न चेत्वविधानसामर्थ्याद् यणभावः सिद्धः। तस्यापि प्रत्याहारेष्वनुबन्धाग्रहणज्ञापनद्वारैव यणभावकल्पकत्वौचित्यात्। साक्षाच्छास्त्रबाधकल्पनापेक्षयाऽस्यार्थस्यौचित्यात्। निर्देशादित्यस्य तन्मूलभूतेत्वविधानसामर्थ्यादित्यर्थ इति तात्पर्यम्। आदिना 'तृषिमृषिकृषेः' (१।२।२५) 'एकः पूर्व' (६।१।८४) इत्यादिसङ्ग्रहः। ननु 'प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न' (का० वा०) इति वार्त्तिके प्रत्याहारशब्दस्य वर्णसमाम्नाये प्रसिद्धेः प्रत्याहारेष्वितामित्यनुपपन्नमत आह—आदिरन्त्येनेतीति वार्त्तिके तादार्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति भावः।

शास्त्र में अनुनासिक के उच्चारण के अभाव में अनुनासिक का ज्ञान कठिन है इसलिए कहते है प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञा के विषय अनुनासिक वाले है पाणिनीयाः का अर्थ है कि पाणिनि प्रभृति से प्रोक्त वर्ण। प्रतिज्ञा का अर्थ "यह एक प्रकार" यह कथन है वर्णों का तत्वज्ञापक व्यवहार। उनके द्वारा उसका ज्ञान सुलभ है प्रतिज्ञाता इस शास्त्र के कर्ता ही है ऐसा जानना चाहिए निर्देशादित। यदि इतसंज्ञको का प्रत्याहारों में ग्रहण होता तो नासिका आदि में यण् होने लगता। यहाँ शंका करते है कि अनु-

नासिक में यस्येति च से अकार के लोप होने से न तो यण् की प्राप्ति है और न इत्व की। इसके उत्तर में कहते हैं 'यचिमम्' यकार के सायचर्य से यचत्व और हलत्व दोनों धर्मों से रहित अच् लिया जाता है। ककार में उभय होने से इसका ग्रहण नहीं होगा। इत्व विधान के कारण य ण् नहीं होगा यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि उससे प्रत्याहारों में अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता हैं इस ज्ञापन के द्वारा य ण् के अभाव की कल्पना ही ठीक है साक्षात् सूत्र बाध करने की अपेक्षा प्रत्याहारेषु इत्यादि वचन कल्पना में ही लाघव है अर्थात उचित है निर्देशात् का अर्थ है उसके मूल रूप इत्व विधान करने के कारण आदि से तृषि, मृषि, कृषे:, ऐक: पूर्व: इत्यादि का संग्रह है। प्रत्याहारेऽनुबन्धानाम् इत्यादि वार्तिक में प्रत्याहार शब्द की वर्ण समाम्नाय में प्रसिद्ध होने से प्रत्याहारेष्वितम् इत्यादि कथन अनुपपन्न है इसका उत्तर देते है आदि-रन्त्येनेतीति वार्तिक में तादर्थ्य से (लक्षणा) तत् शब्द का प्रयोग है।

ऊकालोऽच। (१।२।२७) कुक्कुटरुते उकारे एकद्वित्रिमात्रत्व प्रसिद्धे-रकारादयो नोक्ता:। ऊ इति (१) एकद्वित्रिमात्राणां क्रमेण प्रश्लेषनिर्देशो व्याख्यानात। तेन स्वोच्चारणकालसदृशो लक्ष्यते। स कालो यस्येति बहुव्रीहि:। तत्फलितमाह--उश्च ऊश्च उ३श्श्चेति। ननु उकालो ह्रस्व इतिवाक्ये (२) ऽण्त्वात्सवर्ण द्वित्रियमात्रयोरपि ह्रस्वसञ्ज्ञायां 'प्रदाय, प्रलय' इत्यादौ 'ह्रस्वस्य' (६।१।७१) इति तुक स्यादिति चेत्? न, ऊ अजित्येवाऽज्ग्रहणसामर्थ्यादृसदृशोऽजित्यर्थे सादृश्यस्य व्याख्यानात् कालकृतस्यैव ग्रहणमिति सिद्धे अधिक कालग्रहणमुच्चारितसम्बन्धिकालसदृशकालस्यैव सञ्ज्ञा, न तु तेन गृहीतसम्बन्धिकालसदृशाकलस्यापीत्यर्थेना-दोषात्। तदुक्तं भाष्ये--'यावत्तपरकरणं तावदत्र कालग्रहणम्' इति। न चाजिति (३) वर्णग्रहणे जातिग्रहणस्य दुर्वारत्वात् (१) 'तितउच्छत्रम' इत्यत्र 'दीर्घात्' (६।१।७५) 'पदान्ताद्वा' (६।१।७६) इति तुगापत्तिरिति वाच्यम्। ज्ञापकसिद्धत्वेन तस्यासार्वत्रिकत्वात् (२), अन्तरङ्गत्वेन ह्रस्वत्वनिमित्तनित्यतुक एव प्राप्तेश्च। अज्ग्रहणं 'प्रतक्ष्य' इत्यादौ 'ह्रस्वस्य' (६।१।७१) इति तुग्व्यावृत्त्यर्थम।

ऊकालोऽच। मुर्गे के शब्द में उकार की एक दो तीन मात्राओं की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण ऊकारादि का कथन नहीं किया ऊ में एक दो तीन मात्राओं का क्रम से व्याख्यान तो प्रश्लेष निर्देश है उससे अपने उच्चारण काल में सदृश काल की लक्षणा से प्रतीति होती है स कालो यस्य विग्रह में बहुव्रीहि समास है उसका फलितार्थ कहते है–उश्च-ऊश्च उ३श्श्चेति। उकालो ह्रस्वा इस वाक्य में अण् होने से सवर्ण ग्रहण

होने पर दो एवं तीन मात्राओं की भी ह्रस्व संज्ञा होने पर प्रदाय, प्रलूय में ह्रस्वश्च से तुक् हो जाना चाहिए–यह शंका ठीक नहीं है। ऊ अच् कहने से अच् के ग्रहण से सदृश अच् अच् अर्थ होने पर व्याख्यान से काल कृत सादृश्य के ही ग्रहण से कार्य सिद्ध था अधिक काल ग्रहण से उच्चारित के सम्बन्धी काल के सदृश काल की ही संज्ञा होती है। उससे ग्रहण किये सम्बन्ध वाले काल के सदृश काल का ग्रहण नहीं होता है साक्षात् का ही ग्रहण है परम्परा से होने वाले का ग्रहण नहीं है उक्त स्थल में सवर्ण ग्रहण से प्राप्ति है भाष्य में कहा है–जब तक तपर कर्ण है। तब तक काल ग्रहण है। अत्र शंका करते है कि अच् इस वर्ण ग्रहण में जाति ग्रहण के दुरबार होने से तित–उच्छत्रम में दीर्घात् पदात्ताद्वा से तुक् हो जाना चाहिए इसके उत्तर में कहते है–ज्ञापक सिद्ध होने से वह सार्वत्रिक नहीं है परिभाषा का स्वरूप है "ज्ञापक सिद्धम् न सर्वत्र। और अन्तरंग होने से ह्रस्व को मानकर नित्य तुक् की ही प्राप्ति है प्रतक्ष्य इत्यादि में ह्रस्वस्य से तुक् न हो इसलिए अच् ग्रहण किया।

उच्चैरु [१।२।२९] ॥ नात्र श्रुतिकृतमुच्चेस्त्वमुपांशप्रयोगेऽव्याप्तेः श्रुतिप्रकर्षस्याव्यवस्थितत्वाच्च, किन्तु स्थानकृतम् । उच्चैरित्यधिकरण-शक्तिप्रधानम् । अधिकरणत्वञ्चोच्चारणं प्रति, तच्च ताल्वादीनां सभागत्वे एवेत्याशयेनाह्––ताल्वादीति । इदं प्राचामनुरोधेन । वर्णसमास्नायेऽका-रस्य प्राथम्यात् कण्ठादीति वक्तुमुचितम् । एवमन्यत्रापि बोद्धयम् । प्रयत्न-प्रेरितो वायुर्यदोर्ध्वभागे प्रतिहतोऽचं व्यञ्जयति तदा स उदात्त इति भावः । अजिति । 'ऊकाल [१।२।२७] इत्यतस्तदनुवर्त्तते । उदात्तत्वादीनामज-धर्मताया एव लोकप्रसिद्धत्वेन हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनस्याविद्यामानत्वाच्चेदं स्वरूपकथनपरं बोध्यम् । आये इति । यच्छब्दः 'फिषोऽन्त' (फि० सू० १) इत्यन्तोदात्तः, जस्सुप्त्वादनुदात्तः, एकादेश उदात्तेन' (८।२।५) इत्येकार उदात्तः ।

उच्चैरु। यहाँ श्रुतिकृत उच्चैस्त्व नहीं है। अर्थात् जिसका उच्च स्वर से श्रवण होता है क्योंकि उपांशु प्रयोग में अव्याप्त होगी।

धिया यदक्षरश्रेणी वर्ण स्वरपदात्यिका।
निःसरेदर्थ सङ्गत्या स उपांशुजपः स्मृतः ॥

वर्ण स्वर पद रूपी अक्षर श्रेणी अर्थ संगत पूर्वक बुद्धि से निकले उसको उपांशु कहते हैं।

और श्रुति के प्रकर्ष की व्यवस्था भी ठीक नहीं है। किन्तु स्थान कृत है उच्चैः शब्द में अधिकरण शक्ति प्रधान है अधिकरणत्व उच्चारण के प्रति है वह उच्चारण

तात्वादि स्थानों के सभाग में ही सम्भव है इस आशय से कहते हैं तात्वादीति। यह प्राचीनों के अनुरोध से ही वर्ण समाम्नाय में अकार के प्रथम बैन से कण्ठादि कहना उचित था इस प्रकार से अन्यत्र भी जानना। प्रयत्न से प्रेरित वायु जब ऊपर के भाग में टकराकर अच् को अभिव्यक्ति करता है तब वह उदात्त है अजिति। ऊकाल से अच् की अनुवृत्ति होती है उदात्त आदि अच् के धर्म ही ऐसा लोक में प्रसिद्ध है और हल के स्वर प्राप्त होने पर व्यञ्जन को अभिद्यमान वदभाव होने से यह स्वरूप कथन है। आये यत् शब्द प्रातिपदिक होने से फिषोऽन्तः से अन्तोदात्त है जस्सुप् होने से अनुदात्त है इसका गुण रूप एकादेश एकार एकादेश उदात्तेन उदात्त है।

अर्वाङिति। अभिमुखवाच्यव्युत्पन्नं 'फिषोऽन्त' (फि० सू० १) इत्यन्तोदात्तम्। आद्यस्य शेषनिघातेनानुदात्तत्वम्। अर्वन्तमञ्चतीत्यर्थे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वम्।

अर्वाङिति। अभिमुखवाची आव्युत्पन्न प्रातिपदिक अर्वाङ् फिषोऽन्तः से अन्तोदान्त है प्रथम अकार शेष निघात से अनुदान्त है (जैसा कि नियम है अनुदान्तम पदमेकवर्जम्) अर्वन्तमञ्चति विग्रह में गतकारकोप पदान्तेक्त से अन्तोदान्त है।

एकस्मिन्नच्युदात्तानुदात्तयोर्धर्मिणोर्मेलनविरोधादाह—वर्णधर्माविति। बाहुलकादधिकरणे घञ्। अर्शआद्यजित्यन्ये इयं त्रिसूत्री स्पष्टार्था। लोकवेदयोरुदात्तादिव्यवहारस्य प्रसिद्धत्वात्।

एक अच् में उदान्त अनुदान्त धर्म वालों के सम्मेलन के विरोध से कहते हैं वर्णधर्माविति। बहुल मानकर अधिकरण में धञ् प्रत्यय् है कोई अर्शादि अच् मानते हैं यह त्रिसूत्री स्पष्टार्थ है क्योंकि लोक और वेद में उदात्तादि व्यवहार प्रसिद्ध है।

ह्रस्वग्रहणमिति। ह्रस्वपदघटितग्रहणमित्यर्थः। अतन्त्रमिति। स्वशास्त्रसङ्केतितरूपेणाबोधकमित्यर्थः, किन्त्वर्धमात्रारूपार्थबोधकमिति भावः। एवञ्च दीर्घादिष्वप्यर्धमात्रैवोदात्ता। इत आरभ्य नवसूत्र्या 'अ अ' (८।४।६८) इत्यतः प्रागुत्कर्षेणास्य त्रिपाद्यामपि प्रवृत्तिः। सर्वञ्चेदं भाष्ये स्पष्टम्। 'अर्धमुदात्तम्' इति वृत्तिस्तु सत्या सत्यभामेतिवद् व्याख्येया। उत्तरार्धमित्यस्य चार्धमात्रातोऽवशिष्ट उत्तरो भाग इत्यर्थः। वेदे तु यथाप्रयोगं प्रातिशाख्यादस्माच्च व्यवस्था। तस्य चेति। अनुदात्तस्येत्यर्थः। उदात्तेति। उदात्तस्वरितयोः परत्वे सतीत्यर्थः। तयोः परत्वञ्चोपस्थितानुदात्तापेक्षयैव। अन्यत्र उदात्तस्वरितयोः परत्वाभावे। प्रातिशाख्ये इति। लोके त्वनुदात्त एवेति भावः। ह्रस्वस्वरितमुदाहरति—क्वेति। 'किमोऽत्' (५।३।

१२) इत्यत, 'क्वाति' (७।२।१०५) इति क्वादेशे 'तित्स्वरितम् (६।१। १८५) इति स्वरितः दीर्घं तमुदाहरति–रथानमिति। येऽरा इति। 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' [८।२।६] इत्येकारः स्वरितः 'नोदात्तस्वरितोमयम्' [८।४।६७] इति निषेधस्तु 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' [८।४।६६] इत्यस्यैव 'अनन्तरस्य' इति न्यायात्। स्वरितपरमुदाहरति–शतचक्रमिति। अहेरित्यर्थेऽह्यः। वृत्रस्येत्यर्थः। 'छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्युपधायाः' इति वचनाद् गुणाभावः। 'उदात्तस्वरितयोः' [८।२।३] इतिस्वरितः 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' [६।१।१७४] इति तु न छान्दसत्वात्। यच्छब्दः 'फिषः' (फि० सू० १) इत्यन्तोदात्तः, तदेकादेशश्च वा स्वरितः। स इति। उदात्तादिह्रस्वादिसञ्ज्ञक इत्यर्थः।

ह्रस्वग्रहणमिति। ह्रस्व पद से घटित का ग्रहण अर्थात अर्ध ह्रस्व ग्रहण अतन्तमिति। अपने शास्त्र में संकेत रूप से बोधक नहीं है। किन्तु अर्थ मात्रा रूप अर्थ का बोधक है इस प्रकार से दीर्घादि में भी आधी मात्रा ही उदात्त होती है यहाँ से लेकर नौ सूत्रों की अ अ से पहले उत्कर्ष से इसकी त्रिपादी में भी प्रवृत्ति होती है। यह सब भाष्य में स्पष्ट है "अर्थमुदान्तम्" जो कि वृत्तिकार ने लिखा है सत्यभामा की तरह है (बिनापि प्रत्यम् पुर्वोत्तर पदयोरिलोपोवक्तव्य) से उत्तर पद मात्र का लोप है उत्तरार्धम् अर्ध मात्रा से अवशिष्ट उत्तरभाग अर्थ है। वेद में तो प्रयोगः अनुसार प्रातिशाख्य और इससे व्यवस्था करना। "तस्य चेति" अनुदात्त अर्थ है उदात्तेति उदात्त और स्वरित के परे रहते यह अर्थ है उनका परत्व उपस्थित अनुदात्त की अपेक्षा ही जानना अन्यत्र उदात्त और स्वरित के परत्व न होने पर प्रातिशाख्ये इति। लोक में अनुदात्त ही है ह्रस्व स्वरित का उदाहरण देते हैं क्वेति। किमोऽत् किमोऽत् से सत् और क्वाति से क्व आदेश तथा तित्स्वरितम् से स्वरित होता है दीर्घ का उदाहरण देते हैं। स्थानामिति। येऽराइति। स्वरितो वा इत्यादि से एकार स्वरित है नोदात्तस्वरितो दयमिति निषेधतो अनन्तरस्य न्याय से उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः का ही है। स्वरित का उदाहरण देते हैं। शतचक्रमिति अहेः के अर्थ में ह्य है। यह षष्ठयन्य है इसलिए इसका अर्थ व्रत्रस्य होता है। यहाँ घेङिति से गुण नहीं होता है क्योंकि छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्युपधायाः यह वचन ही प्रमाण है। उदात्तस्वरितयोः से स्वरित है छान्दस्य होने से उदात्तयणो हल्पूर्वात् की प्रवृत्ति नहीं होती है। यच्छब्दः फिषः से अन्तोदात्त है उनकाएकादेश स्वरितो वानुदत्तो पदादौ से विकल्प से स्वरित है स इति उदात्त ह्रस्वादि संज्ञा वाला है।

मुख (१।१।८) उच्चतेऽसौ वचनः। बाहुलकात् कर्मणि ल्युट्। मुख सहिता नासिकेति (१) विग्रहः। तया वचन इति, 'साधनं कृत' (भा०

इ०) इति समासः, तदाह—मुखसहितेत्यादि। मुखेति किम् (२) यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत। एवञ्च 'आङोऽनुनासिकः' (६।१।१२६) यत्रानुस्वारः स्यात्। नासिकेति किम्? 'शक्ता' इत्यादौ 'अनुदात्तोपदेश' (६।४।३७) इत्यादिना कलोपो मा भूत्। अष्टादशेति। यद्यपीदं (३) न व्यक्तिपक्षे व्यक्तीनामानन्त्यात्, तथाप्यष्टादशधर्मवत्त्वमकारजातीयादेरित्यर्थः। ह्रस्वत्वादीनां (४) तत्तत्समानाधिकरणोदात्तत्वानुनासिकत्वादीनाञ्च भेदमाश्रित्येदं बोद्धयम्। एवमग्रेऽपि। लृवर्णस्येति। विवृतस्येत्यर्थः। तेन 'लृति लृवा' (का० वा०) इति विधेयस्येषत्पृष्टस्य दीर्घत्वेऽपि न क्षतिः। दीर्घाभावादिति। अत एव 'तुल्यास्य' (१।१।९) सूत्रे भाष्ये 'लृति सवर्णे' (का० वा०) इत्यनेन पक्षे द्विलकारकाभावे 'अकः सवर्णे' (६।१।१०१) इति दीर्घत्वे 'होतृकारः' इति ऋकारघटितप्रयोगः सङ्गच्छते। ह्रस्वाभावादिति। इदम् 'एओङ्' (मा० सू० ३) इत्यादौ भाष्ये स्पष्टम्। गानरोदनादौ चतुर्मात्राऽर्धमात्रादीनामुपलम्भेऽपि शास्त्रीयकार्ये उपयोगाभावाल्लोके प्रयोगेष्वप्रयोगाच्च चोक्ताः। अत एवानुदात्ततरस्यानुक्तिः। (५) एकश्रुतेः स्वरान्तरत्वे इदमुपलक्षणम्। तस्या लोकेऽपि सत्त्वात्।

मुख वचन शब्द से बहुल से कर्म में ल्युट् प्रत्यय है (उच्यतेऽसौ वचनः) मुख सहित नासिका मुख सहिता नासिका तयः वचनः मुख नासिकावचनः साधनम् कृतेति से समास है परन्तु मुख सहिता नासिका यह विग्रह उचित नहीं है क्योंकि उत्तरपद के नित्य लोप होने से वृत्ति में मुख सहितया इत्यादि लेख अनुचित होगा इसलिये मुख पद की मुख सहित में लक्षणा है। मुख सहितेति। मुख ग्रहण के अभाव में यम् और अनुस्वारों को ही होगा तब आङोऽनुनासिकः के लक्ष्य में अनुस्वार हो जायेगा नासिका के अभाव में शक्ता में अनुदात्तोपदेश से ककार का लोप होने लगेगा। अष्टादशेति। यद्यपि यह कथन व्यक्तिपक्ष में सम्भव नहीं है क्योंकि व्यक्ति अनन्त है तो भी अठारह धर्म वाला अकार जातीय आदि को समझना चाहिए। ह्रस्व, दीर्घत्व आदि का उन उन के समान अधिकरण वाले उदातत्व और अनुनासिकत्वादि का भेद मानकर यह कथन है आगे भी इसीं प्रकार समझना चाहिए लृवर्णस्येति। विवृत की निवृत अर्थ करने से लृति लृवाप से होने वाले ईषत् स्पष्ट लृकार का दीर्घ होने पर भी कोई दोष नहीं है। दीर्घाभावादिति। इसी तुल्यास्य सूत्र के भाष्य में लृत् सवर्णे के पक्ष में दो लकार वाले अभाव में 'अकः' सवर्ण से दीर्घ होने पर होतृकार यह ऋकार घटित प्रयोग भी संगत होता है। ह्रस्वाभावादिति। यह एओङ् सूत्र के भाष्य में

स्पष्ट है। गाने तथा रोने में चार मात्रा वाले तथा अर्ध मात्रा आदि उपलब्ध होने पर भी शास्त्रीय कार्य में उपयोग न होने से और लोक में भी प्रयोग न होने से उनका कथन नहीं किया इसीलिए अनुदात्ततर का भी कथन नहीं किया।

तुल्यास्य। [१।१।९]। [६] तुल्यावास्यप्रयत्नौ यस्येत्यर्थः। [१] आस्ये भवमास्यं [२] व्याख्यानात्। तच्च [३] वर्णोपयोगित्वात्स्थानमेव, प्रयत्नस्य पृथगुपादानात्। प्रकृष्टो यत्न आभ्यन्तरः। तस्य वर्णोत्पत्त्यव्यवहितप्राग्भावित्वरूपप्रकर्षवत्त्वात् [४] जनकत्वं षष्ठ्यर्थः। तत्तत्कार्यगतभेदं स्थानेष्वारोप्य भेदघटिततुल्यत्वस्य निर्वाहः। वस्तुतः सादृश्यं [५] न भेदघटितमिति भाष्यसम्मतमिति न कश्चिद्दोषः। स्पष्टश्चेदं भाष्ये। तदाह—तात्वादीति। शिक्षायां कण्ठादीनां कण्ठत्वादिनैव स्थानतोक्त्या तद्रूपेणैवाऽऽस्यशब्देन ग्रहणमिति तद्भागभेदमादाय नोदात्तादिषु सावर्ण्यभङ्ग इति बोद्धयम्। यस्यैतद्द्वयं येन यदीयेनैतद्द्वयेन तुल्यमित्यर्थः। 'यजुष्येकेषाम्' [८।३।१०४] इति निर्देशाद् [६] यावदास्यभवतुल्यत्वं ग्राह्यम्। अत एवैचोः सावर्ण्यमाशंक्य 'नैतौ तुल्यस्थानौ' इति भाष्ये समाहितम्। अत एव वलयोर्न सावर्ण्यम्। तेन 'तद्वानासाम्' [४।४।१२५] इत्यादौ 'तोर्लि' [८।४।६०] इति न। अत एव प्रयत्नशब्देन यत्नमात्रग्रहणमिति पक्षे यत्किञ्चित्प्रयत्नभेदे यत्किञ्चित्प्रयत्नैक्यमादाय सवर्णसञ्ज्ञेत्यर्थौ 'झरो झरि सवर्णे' [८।४।६५] इति सवर्णग्रहणेन ज्ञापकेन साधितौ भाष्ये। तेन स्थानांशे यावस्थानसाम्ये इत्येव स्वारसिकोऽर्थ इति प्रतीयते। न च यावदास्यभवतुल्यत्वविवक्षणे प्रयत्नग्रहणं व्यर्थं प्रयत्नस्याप्यास्यभवत्वात्; इति वाच्यम्। ह्रस्वदीर्घयोः सावर्ण्यानापत्तेः। तयोर्जनकानामास्यभवानां वायुसंयोगानामतुल्यत्वात्। तस्मादास्यभवानां कण्ठादीनामेव ग्रहणमिति बोधनाय तत्सार्थक्यात्। आस्येति किम्? तप्र्ता। 'झरो झरि' [८।४।६५] इति लोपो मा भूत्। प्रयत्नेति किम्? [१] वाक्श्चोतति। प्रेति किम्। शषयोः श्वासाघोषविवाराख्यबाह्यप्रयत्नसाम्येन [२] तत्रैव दोषात।

तुल्यास्य। तुल्य है आस्य- प्रयत्न जिसके यह अर्थ है व्याख्यान से आस्य में होने वाला आस्य है वह वर्णोपयोगी होने से स्थान नहीं है क्योंकि प्रयत्न का ग्रहण अलग किया है। प्रकृष्ट जो अर्थ वहीं प्रयत्न अर्थात आभ्यन्तर है क्योंकि वर्ण की उत्पत्ति में अव्यवहित पूर्व में होने से प्रकृर्षवत्ता है षष्ठी का अर्थ जनकत्व है तत् तत्

कार्य में रहने वाले भेद को स्थान में आरोपित करके भेद घटित तुल्यत्व का निर्वाह करना चाहिए। तात्पर्य यह है तद्भिन्नत्वेसति तद्गत भूयोधर्मवत्व रूप सादृश्य है (उससे भिन्न हो और उसमें रहने वाले बहुत से धर्मो से युक्त) उसको स्वीकार करने पर दैत्यारि में दीर्घ नहीं होगा क्योंकि दोनों का स्थान एक ही है इसलिए कार्यगत भेद मानकर निर्वाह किया। वस्तुत: वैयाकरण के मत में सादृश्य भेद घटित नहीं है अत: कोई दोष नहीं है यह भाष्य में स्पष्ट है। ताल्वादीति। शिक्षा में कण्ठत्वादिकों की कण्ठत्वादि रूप से ही स्थानित्य कहने से उसी रूप से आस्य शब्द से ग्रहण करना। इस प्रकार उसके भाग के भेद को लेकर उदात्तदि में सावर्ण्य भंग नहीं है "मनुष्ये-द्वैभिति। जिसके दोनों स्थान प्रयत्नों से तुल्य है। मनुष्येकेषाम्। निर्देश से भावदास्य भवतुल्य का ग्रहण करना। तात्पर्य यह है कि यदि कुछ साम्य में सवर्ण संज्ञा होती तो इकार एकार की सवर्ण संज्ञा होने से दीर्घ हो जाता यावदास्यभव का परिष्कार इस प्रकार से है—स्वजनक स्थान जन्यत्व स्वजनक प्रयत्न जन्यत्व स्वजनक स्थान प्रयत्न। जन्यत्व त्रितय सम्बन्धेन स्व: विशिष्टत्वम् इकार का एकार में स्व(इकार) का जनक स्थान तानु उससे जन्य एकार है और दोनों का प्रयत्न भी विवृत्त ही परन्तु स्व: (इकार) का अजनक स्थान कण्ठ से भी जन्य है अत: अजन्य न होने से तृतीय सम्बन्ध के अभाव में सावर्ण्य नहीं होता है। इसीलिये ऐचों की सवर्ण्य संज्ञा की आशंका करके इनका स्थान एक नहीं है यह भाष्य में समाधान किया है और इसी से वकार लकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है क्योंकि वकार में ओष्ठ स्थान अधिक है। इसी से तद्वात्नासाम् इत्यादि में तोर्लि से दकार को लकार नहीं होता है और इसी से प्रयत्न शब्द से केवल यत्न मात्र का ही ग्रहण है इस पक्ष में कुछ प्रयत्न के भेद होने पर कुछ प्रयत्न का साम्य लेकर सवर्ण संज्ञा होती है ऐसा अर्थ "झरो झरि" के सवर्ण ग्रहण के ज्ञापन से भाष्य में कहा है इससे स्थान के अंश में यावत्स्थान साम्य होना यह स्वाभाविक अर्थ प्रतीत होता है उक्त सूत्र में डकार के परे लोप के लिये सम्पूर्ण प्रयत्न साम्य में सवर्ण संज्ञा होने पर डकार ढकार के प्रयत्न भेद से सवर्ण संज्ञा का अभाव सिद्ध था तो सवर्ण ग्रहण व्यर्थ था।

अब यहाँ शङ्का करते हैं कि यावदास्यभवतुल्य होने से अच में प्रयत्न ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि प्रयत्न भी आस्यभव हैं। इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं उक्त व्यवस्था में ह्रस्य दीर्घ की सवर्ण संज्ञा नहीं होगी क्योंकि उनके जनक आस्य में होने वाले वायु संयोग में तुल्यता नहीं है। इसलिए आस्य में होने वाले कण्ठादि का ही ग्रहण है इस ज्ञान के लिए प्रयत्न ग्रहण सार्थक है तप्र्ता में 'झरोझरि' से पकार का लोप न हो इसलिए आस्य ग्रहण किया है यहाँ पकार और तकार का स्थान भिन्न है प्रयत्न के अभाव में वाक्श्चोतति में शकार और चकार का स्थान एक होने से सवर्ण संज्ञा होने पर सकार का लोप हो जायेगा। पकार के प्रभाव से सकार चकार का श्रावस्व अघोर

अघोष विवार बाह्य प्रयत्न के साम्य से वाक्श्चोतति में दोष था यहाँ सकार का लोप हो जाता।

कस्य किं स्थानमित्याशङ्कायामाह—अकुहेति। यद्यपि सर्ववर्णोच्चारणे (३) कण्ठव्यापार आवश्यकस्तथापि चकाराद्युच्चारणे तल्वादिव्यापारोऽपि, तथाऽकारादीनामुच्चारणे तु नेति भावः। कचयोस्तु न सावर्ण्यम्। यावत्स्थानसाम्याभावात्, भिन्नस्थानकथनवैयर्थ्यापत्तेश्च। अत्र कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वामूलस्थानोभयपरम्[४]। तेन 'कण्ठ्यावहौ' [पा० शि० १७] 'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः' [पा० शि० १८] इति शिक्षया न विरोधः। जिह्वामूलीयपदस्य च वर्णविशेषे रूढिरिति न व्यवहारातिप्रसङ्गः। अत एवायोगवाहेषु जिह्वामूलीयगणनं भाष्ये। तत्तद्वर्णोत्पत्तेः प्राक् तत्तस्थानादौ जिह्वास्पर्शाद्यनुभवेन तत्तद्वर्णानां तत्तत्स्थानत्वनिर्णयेऽपि 'अकुह' इत्यादिकथनं साधारणधर्मबोधनायानुवादकं, नत्वेतदेव कण्ठादिस्थानविधायकमिति भ्रमितव्यम्। विसर्जनीयपदेनात्र साहचर्यादिकाराश्रयस्य ग्रहणम्। अत एव

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः'। (२२)

इति शिक्षया न विरोधः। दन्ता इति। दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव। उश्च पश्च ध्मायेते अनेन तत्र भव इति योगेनोपध्मानीयस्यौष्ठ्यत्वमित्याह—उपूपेति। रूढत्वाच्च न व्यवहारातिप्रसङ्गः। नासिका चेति। चेन स्वस्ववर्गानुकूल तात्वादि गृह्यते। अत एवैषां प्रातिशाख्ये नासिकायां भव इत्यर्थकनासिक्यशब्देन व्यवहारः। यत्तु-

'अनुस्वारयमानां च नासिकस्थानमिष्यते'। (पा० शि० २२)

इति शिक्षोक्तेरेषां नासिकाकरणम्।

किसका क्या स्थान है इस आशंका में कहते हैं। अकुहेति। यद्यपि सभी वर्णों के उच्चारण में कण्ठ व्यापार आवश्यक है तो भी चकारादि के उच्चारण में तालु आदि भी आवश्यक है। अकारादि के उच्चारण में कण्ठ से अतिरिक्त की आवश्यकता नहीं ककार, चकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होती क्योंकि इनका यावत् स्थान साम्य नहीं है और यदि इनके सवर्ण संज्ञा होती तो भिन्न-भिन्न स्थान का कथन व्यर्थ हो जाता यहाँ कण्ठ पद का अर्थ कण्ठस्थान तथा उसके समीपस्थ जिह्वा मूल स्थान को भी कहता है उक्त अर्थ करने से कण्ठ याव है इत्यादि शिक्षा से विरोध नहीं होता है अकार, हकार कण्ठ है और जिह्वामूल में कवर्ग कहा है जिह्वामूलीय पदों की वर्ण विशेष योगरूढ़ि है इससे व्यवहार में कोई दोष नहीं है। इसीलिए अयोग बाहों में जिह्वामूलीय की गणना भाष्य में की है। उन-उन वर्णों की उत्पत्ति से पूर्व उन-उन स्थानों में जिह्वा का

स्पर्श का अनुभव होने से उन-उन वर्णों का वह-वह स्थान निर्णय होने पर भी अकु इत्यादि कथन साधारण धर्मबोधन के लिए अनुवादक है यही कण्ठादि स्थान का विधायक है ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए।

विसर्जनीय पद से साहचर्य से अकारादि का ग्रहण है इसीलिए अयोग वाह्य के आश्रय से स्थान के भागी होते हैं–इस शिक्षा से विरोध नहीं है। अर्थात विसर्गादि अच् से परे ही होते हैं हलों से परे नहीं होते। दन्ता इति। इसका अर्थ है दन्त युक्तदेश अर्थात स्थान। इसीलिए जिसके दाँत गिर गये हैं वह भी इन वर्णों का उच्चारण करता ही है "उ, पु जिससे सम्बन्ध हो—उसमें होने वाले" इस व्युत्पत्ति से उपध्मानीय का ओष्ठत्व कहा है। रूढ़ होने के कारण इस व्युत्पत्ति से अन्यत्र दोष नहीं है। नासिकाचेति। चकार से अपने-अपने वर्ग में आये हुए तालु आदि स्थान भी उनके हैं इसलिए इन वर्णों के दो स्थान समझने चाहिए। इसी कारण से प्रातिशाख्य में नासिक्त शब्द से इनका व्यवहार किया है। नासिक्त शब्द का अर्थ है नासिका में होने वाला। 'अनुस्वार और यमों का नासिका स्थान इष्ट है' इस शिक्षा के आधार पर इनका नासिका करण है।

किञ्च स्थानत्वे ङञयो ? सावर्ण्यानापत्तिः यावत्स्थानैक्याभावात्। यत्किञ्चित्स्थानैक्येन तत्त्वे तु यमामपि परस्परं सावर्ण्यापत्तिरिति, तन्न, कण्ठादीनामपि करणत्वस्यैव 'अस्यन्त्यनेन वर्णान्' इति भाष्यात्प्रतीतेः। स्थानत्वव्यवहारस्तु वर्णाभिव्यक्तिजनकताल्वादौ वर्णजनकवायुसंयोगाधारे वर्णाधारत्वाऽऽरोपेण। तत्तत्स्थानजिह्वाग्रादिसम्बन्धेन वर्णोत्पत्त्या जिह्वाग्रादौ तत्सम्बन्धजनकप्रयत्नविशेषे स्पृष्टतादौ च करणत्वव्यवहारः। वर्णाभिव्यक्त्यनन्तरभावी सावर्ण्यानुपयुक्तश्च कण्ठविवरादिनिष्ठविकासादेरास्यबहिर्देशावच्छिन्नकार्यस्य जनको यत्नो गुणशब्देनोच्यते। अकारादिनिष्ठानुनासिक्यस्य 'भेदकत्वाद् गुणस्य' इत्यादौ (१) गुणत्वेन व्यवहारस्तु कण्ठाद्यवच्छिन्नवायुसंयोगेनोत्पन्नेषु नासावच्छिन्नवायुसंयोगेन तद्रूपधर्मोत्पत्त्या। एवञ्च नासिकायास्तत्र गुणजनकत्वादनुनासिकाकारादीनां नासिकास्थानं नोक्तं मूले। 'एकोऽयमात्मोदकन्नाम तस्य गुणभेदादन्यत्वं भवति अन्यदिदं शीतमन्यदिदमुष्णम्' इति दृष्टान्तपरभाष्येण तथैव प्रतीतेः। आत्माऽत्र द्रव्यम्। उदात्तत्वादीनां गुणत्वव्यवहारस्तु सावर्ण्यानुपयुक्तत्वाऽऽन्तरम्यपरीक्षोपयोगित्वरूपसादृश्येनेति बोद्धव्यम्। ङादीनान्तु तद्गुणरहितस्वरूपानुलम्भेन उभयावच्छेदेन वायुसंयोगोत्तरमेव स्वरूपोत्पत्त्या विनिगमनाविरहेणोभयोः स्थानत्वम्। 'अनुस्वारयमानाञ्च' (पा० शि० २२) इति शिक्षायां

चेन ङादीनामपि सङ्ग्रह इति युक्तम् । 'अत एव कण्ठ्योऽकारः' इत्याद्युक्त्वा 'नासिक्यान्नासिक्ययमानुस्वारानिति स्थानानि' इत्युक्तं प्रातिशाख्ये । 'नासिक्याः ङञणनमाः' इति तद्व्याख्यातारः कङयोः सावर्ण्यन्तु भवत्येव 'आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नम्' (का० वा०) इति वार्त्तिके 'किमास्योपादाने प्रयोजनम्' इति प्रश्ने 'प्रयत्नविशेषणमास्योपादानाम्' इत्युक्त्वा तद्व्यावर्त्यत्वेन बाह्यप्रयत्नान् प्रदर्श्य 'यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः, आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः' इति भाष्येण तस्य बाह्यप्रयत्नत्वोक्त्यात्र सूत्रे नासिकाया आस्यशब्देन तत्रत्यप्रयत्नस्य च प्रयत्नशब्देनाग्रहणबोधनात, नासिका आस्यबाह्येति वदतां मते तद्ग्रहणाभावाच्च । अत एव बाह्यप्रयत्नानुपक्रम्य—

'अमोऽनुनासिको न ह्रौ, नादिनो हझषः स्मृताः ।
ईषान्नादा यणश्चैव, श्वासिनस्तु खफादयः ।। (३९)
ईषच्छ्वासाँश्चरो विद्यात् (पा० शि० ४०) इत्युक्तं शिक्षायाम् ।

यदि स्थान मानने पर क और ङ् की भी सवर्ण संज्ञा होने लगेगी। साधारण स्थान मानने पर ङ और म जमों की भी सवर्ण संज्ञा हो जायेगी—यह कहो तो उचित नहीं है कण्ठादिव्यों का भी करणत्व ही है। अस्यत्त्यनेन वर्णान् इस भाष्य की व्युत्पत्ति से ऐसा प्रतीत होता है। स्थान का व्यवहार तो वर्ण की अभिव्यक्ति का कारण तालु आदि में वर्ण के जनक वायु के संयोग के आधार पर वर्ण के आधारत्व का आरोप करने से होता है। तत् तत् स्थान में जिह्वा के अनुभाग का सम्बन्ध होने से वर्ण की उत्पत्ति होने के कारण जिह्वा के अग्रभाग आदि में भी उसके सम्बन्धजनक प्रयत्न विशेष से स्पृष्ट आदि में भी करणत्व व्यवहार जानना चाहिए।

वर्ण की अभिव्यक्ति के पश्चात् होने वाला सवर्ण संज्ञा में होने वाला अनुपयुक्त और आन्तरतम् परीक्षा में उपयुक्त कण्ठ के विवरादि में रहने वाला आस्य बाहर देश से युक्त कार्य का जनक यत्न का गुण शब्द से व्यवहार है। अकारादि में रहने वाले अनुनासिक्य का भेदकत्वाद्गुणस्य इत्यादि में गुण से व्यवहार तो कण्ठ सहित वायु के संयोग से उत्पन्नों में, नासिका से युक्त वायु संयोग से तद्रूप धर्म की उपपत्ति होती है इस प्रकार से नासिका वहाँ गुण की जनक होने से आनुनासिक अकारादि का नासिका स्थान मूल में नहीं कहा। 'यह एक ही उदक नाम वाला आत्मा है उसका गुण भेद से प्रथक-प्रथक व्यवहार होता है यह गर्म है यह शीतल है' इत्यादि दृष्टान्तरूप भाष्य से उसी प्रकार की प्रतीति होती है आत्मा का अर्थ यहाँ द्रव्य है।

उदान्तादि का गुणत्व व्यवहार सावर्ण्य में उपयोग होने से और आन्तरतम् परीक्षा में उपयोगितारूप सादृश्य से समझना चाहिए। ङ्कारादि की तो अनुनासिक गुण से रहित स्वरूप की उपलब्धि होने से दोनों (कण्ठनासिकों) में वायुसंयोग के पश्चात् ही

स्वरूपोत्पत्ति होने से विनिगम् के अभाव से दोनों ही स्थान है। अनुस्वारयमानाञ्च। इत्यादि शिक्षा में चकार से ङकार आदि का भी संग्रह समझना चाहिए इसीलिए प्रातिभाष्य में अकार कण्ठ है यह कहकर नासिक्य होने से अनुस्वार का नासिक्य स्थान ञ म ङ ण न में यह नासिक्य है यह उसकी व्याख्या में कहा है ककार और ङकार की सवर्ण संज्ञा तो होगी ही आस्य इत्यादि वार्तिक में आस्य ग्रहण का क्या प्रयोजन है। इस प्रश्न पर—प्रयत्न का विशेषण है आस्योपादान यह ककार उसके व्यावर्त्य रूप से वाह्य प्रयत्नों का प्रदर्शन करके जैसे तीसरे वैसे ही पाँचवें आनुनासिक्य ही इनका अधिक गुण है इस भाष्य से उसका वाह्य प्रयत्न कहने से इस सूत्र में नासिका का आस्य शब्द से और वहाँ के प्रयत्न शब्द से ग्रहण नहीं होता है नासिका का आस्य से वाह्यवादियों के मत में उसका ग्रहण सम्भव नहीं है। इसी से वाह्य प्रयत्नों का उपक्रम करके।

'हकार रकार को छोड़कर अम् अनुनासिक है झष् नाद प्रयत्न वाले हैं यहाँ हकार पादपूर्ति के लिए है और यण् ईषन्नाद् है खफादि श्वास है तथा चर ईषच्छवासाँ है ऐसा शिक्षा में कहा है।

नादेति संवारघोषयोरूपलक्षणं, श्वासेति विवाराघोषयोः, न ह्यावित्युपलक्षणम ऐचः सवस्य, प्लुतलृकारस्य च, अनुनासिकस्यादर्शनादित्यलम्।

'एदैतोः' इत्यादौ लोकानुभवसिद्धार्थानुवादके तपरशास्त्राप्रवृत्या प्लुता नामपि तत्स्थानत्वं बोध्यम्। तथा च पाणिनीयांशिक्षा—

'कण्ठ्यावहाविचुयशास्तलव्या, ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः॥ (१७)
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो, दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
एऐ तु कण्ठ्यतालव्या ओऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ॥' (१८)
'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥' (१३)
'हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
औरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यामाहुरसंयुतम्॥' (१६) इति।

यत्तु—'दन्तोष्ठादि समुदितं स्थानम्' इति, तन्न, शिक्षायां 'दन्त्योष्ठ्यः' 'कण्ठ्यतालव्यौ' इत्यादौ 'तत्र भवः' (४।३।५३) इत्यधिकारविहितयतः प्रत्येकमनुत्पत्त्यापत्तेः। दन्तोष्ठ्यमित्यादि त्वसङ्गतमेव। स्वाङ्गसमुदायस्य स्वाङ्गत्वाभाववच्छरीरावयवसमुदायस्य शरीरावयवत्वा-

भावात्। एतेन 'दन्तोष्ठरूपमतिरिक्तं स्थानम् इत्यपास्तम्, 'अष्टौ स्थानानि' (पा० शि० १३) इति प्रतिज्ञाविरोधाच्चेति दिक्।

नादेति। यह संवारघोष का भी उपलक्षण है। श्वासेति। यह विवारघोष का उपलक्षण है न ह्वा। यह सम्पूर्ण ऐच् का उपलक्षण है और प्लुत लृकार का भी उपलक्षण है। क्योंकि वे अनुनासिक उपलब्ध नहीं होते हैं। एदैतोः इत्यादि में तपरस्तत्कालस्य की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि यह लोकानुभव से सिद्ध अर्थ के अनुवादक हैं इसलिए प्लुतो का भी वही स्थान है। उसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा है—

अकार हकार का कण्ठ स्थान है। इकार च वर्ग यकार और शकार तालव्य है उकार पवर्ग का ओष्ठ है। ऋकार ट वर्ग रकार और षकार मूर्धा है लृकार ट वर्ग लकार और सकार का दन्त क वर्ग का जिह्वा मूल एवं वकार का दन्तोष्ठ है ए ऐ का कण्ठ तालु एवं ओ औ का कण्ठोष्ठ है वर्णों के आठ स्थान हैं। उर (वक्ष स्थल) कण्ठ, सिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु। अन उर का विषय दिखलाते हैं। पंचम् अक्षरों से युक्त तथा अन्तस्य (य व र ला) से युक्त हकार का उरः स्थान है तथा असंयुक्त का कण्ठ स्थान है दन्तोष्ठ को समुदित स्थान मानना उचित नहीं है क्योंकि शिक्षा में दन्तोष्ठये कण्ठ्य तालव्य इत्यादि में तत्रभवः के अधिकार में होने वाला यत् प्रत्येक से नहीं हो सकता है तन्त्योष्ठ्यम् तो असंगति ही है। क्योंकि जिस प्रकार स्वांग समुदाय में स्वांगत्व नहीं हो सकता है उसी प्रकार शरीरावयव समुदाय में शरीरावयव व्यवहार नहीं हो सकता है तन्तोष्ठय के अतिरिक्त स्थान मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि अष्ठौ स्थानानि इस प्रातिशाख्य से विरोध होगा।

सूत्रे प्रशब्देन विलक्षणार्थबोधेऽपि लोके यत्नप्रयत्नयोः पर्यायतेति ध्वनयन्नाह—प्रयत्नो द्विधेति। क्वचिद् यत्न इत्येव पाठः। चातुर्धेति। यत्तु—

स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम्।

तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचो तथैव च ॥' (२१)

इति शिक्षावाक्याद्विवृततरविवृततमयोः प्रतीत्या 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इति सूत्रभाष्यादूष्मणामीषद्विवृतत्वस्य च प्रतीत्या चतुर्धेत्यासङ्गतमिति तन्न, 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इति सूत्रेण विवृतत्वव्याप्यानामेषां सवर्णसञ्ज्ञानुपयुक्तत्वबोधनमित्याशयात्। भाष्यमते त सन्तु सप्त प्रयत्नाः। एवञ्चैदैतोरोदौतोश्च न सावर्ण्यप्रसक्तिः प्रयत्नभेदादिति बोद्ध्यम्। 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इति सूत्रमपि प्रयत्नभेदप्राप्तसावर्ण्याभावानुवादकं सत् यस्यैव बोधकम्। अत एव भाष्ये तन्न वक्तव्यम्' इति नोक्तम् ' स्पष्टादीनामाभ्यन्तरत्वं त्वोष्ठप्रभृतिकाकलकपर्यन्तरूपास्यान्तर्गततत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादीनां

स्पर्शेषत्स्पर्शदूरावस्थानसमीपावस्थारूपाभ्यन्तरकार्यकारित्वाद्वर्णोत्पत्त्यव्यवहितप्राग्भावित्वाच्च बोध्यम् । तत्र बहूनामेकस्थानत्वेऽपि कस्यचिदुच्चारणे सम्यक्स्पर्शः कस्यचिदीषदिति शिक्षाकारोक्तिमनुभवं चानुसृत्य विवेक्तव्यम् । प्रयतनमिति नपुंसके भावे ल्युट् । प्रयत्नमित्यपाठो नङन्तस्य पुंस्त्वात् । तथा च शिक्षा-'स्वराणामूष्मणाञ्च' (पा० शि० २१) इत्याद्यनन्तरम्—

'अचोऽस्पृष्टाः यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः ।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता……।' (पा० शि० ३८) इति ।

अचोऽस्पृष्टाः स्पर्शाभावरूपविवृतत्ववन्तः यणस्त्वीषदिति, अनेन तेषामीषत्स्पृष्टत्वमीषद्विवृतत्वञ्च बोधितम् । नेम इत्यर्धे । तेन शलामीषद्विवृतत्वं यणपेक्षयाऽधिकविवृतत्वं चेति बोदध्यम् । अत्र शिक्षोक्तव्याप्यधर्मवतां व्यापकधर्ममादाय न सावर्ण्यमिति यणां चवर्गादिभिर्न सावर्ण्यम् । तेन 'अञ्चितः' इत्यादौ न यादिः परसवर्णः । विवृतमेवेति । प्रक्रियादशायां विवृतत्वं प्रतिज्ञयमित्यर्थः । तेन दण्डाढकादौ दीर्घसिद्धिः । अन्यथा संवृतस्य ह्रस्वाकारस्य विवृतेन दीर्घेण सावर्ण्याभावात् स न स्यादिति भावः । दीर्घाकारस्य (१) विवृततरत्वन्त् पाणिनीशिक्षाऽनुक्तत्वान्नैतच्छास्त्रप्रक्रियोपयोगीति दिक् ।

तस्य प्रयोगे संवृतत्वे मानमाह—अ अ (८।४।६८) । (२) प्रयत्नभेदा दीर्घाभाव (१) । अत्रोद्देश्ये सवर्णग्रहणं जातिनिर्देशो वा न, व्याख्यानात् ।

सूत्र में प्रशब्द से विलक्षण अर्थ के बोध होने पर भी लोक में यत्न और प्रयत्न में पर्यायत्व है इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रयत्न दो प्रकार का है । कहीं केवल यत्न पाठ है । चतुर्धेति । जो कि (ऐसा कहते हैं कि स्वरों का और उष्म वर्णों का विवृत करण (यत्न) है उनसे भी विवृत्त ऐङ् है विवृततर है । और उनसे भी अधिक विवृत्त अर्थात विवृततम् ऐच् है इस शिक्षा से विवृततर और विवृतक्रम की प्रतीति से तथा नाज्सलौ सूत्र के भाष्य से उष्माओं का ईषद विवृत (प्रयत्न) की प्रतीत से चतुर्धा कब्जा असंगत है परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि नाज्झलौ सूत्र से निवृतत्व के व्याप्य इनकी सवर्ण संज्ञा में अनुपयोगिता बोधन मात्र है । भाष्यकार के मत में तो सात प्रयत्न रहे ।

इस प्रकार से प्रयत्न भेद होने से ए ऐ की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है नाज्झलौ सूत्र भी प्रयत्न भेद से प्राप्त सवर्ण संज्ञा के अभाव का अनुवाद होता हुआ उसी का बोधक है । इसी से भाष्य में-'उसको नही कहना चाहिए' यह नहीं कहा स्पृष्ट आदि

को आभ्यन्तर ओष्ठ प्रभृत का कल्प प्रयत्न मुख के अन्तर्गत उन स्थानों में जिह्वा के अग्रभाग से स्पर्श, ईषत् स्पर्श, दूर अवस्थान समीप अवस्थान रूप अभ्यन्तर कार्य के करने से और वर्ण की उत्पत्ति में अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से जानना चाहिए वहाँ बहुतों के एक स्थान होने पर भी किसी के उच्चारण में अच्छी तरह स्पर्श होता है और किसी के उच्चारण में थोड़ा ही होता है ऐसा शिक्षाकार भी युक्ति और अनुभव को लेकर विचार करना चाहिए प्रयत्नम् में नपुसंके भावे से ल्पुट् प्रत्यय है। प्रयत्नम् पाठ अनुचित है क्योंकि नङन्त पुलिङ् होता है शिक्षा में भी स्वराणाम् उष्माणाम् के पश्चात् अचोऽस्पृष्टा इत्यादि कहा है।

अचो का अस्पृष्ट अर्थात स्पर्श के अभाव वाले विवृत प्रयत्न होता है यणों का ईषत् स्पर्श और ईषद् विवृत समझना चाहिए नेम का अर्थ है अर्ध इसमें शलों का ईषद् विवृत अर्थात यण् की अपेक्षा अधिक विवृत समझना चाहिए यहाँ शिक्षोक्त व्याप्त धर्मवालों के व्यापक धर्म को लेकर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है इसलिए यणों की चवर्गादि से सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। इसीलिये अनुञ्चितः इत्यादि में यादि पर सवर्ण नहीं होता है।

विवृत मेवेति। प्रक्रिया दशा में विवृतत्व जानना चाहिए जिससे कि दण्डाढ़क आदि में दीर्घ सिद्ध होती है नहीं तो संवृतह्रस्व अकार के विवृत दीर्घ आकार से सावर्ण्यन होने से दीर्घ नहीं होता। शिक्षा में दीर्घ आकार का विवृततर (प्रयत्न) कहा है परन्तु वह इस शास्त्र की प्रक्रिया के लिये उपयोगी नहीं है।

उसके प्रयोग में संवृत होने में प्रमाण कहते है अ अ प्रयत्न के भेद होने से दीर्घ नहीं हुआ यहाँ उद्देश्य सवर्ण्य ग्रहण यह जाति निर्देश व्याख्यान से नहीं होता है।

अधिकारत्वे फलमाह--त्रिपाद्यामपीति। अन्यथा 'गोधुङ्मान्' इत्यत्र (२) घत्वजश्त्वानुनासिकेषु भाष्भावानापत्तिरिति भावः। वस्तुतो धत्वे कृते 'झषः' (८।२।१०) इति (३) वत्वापत्तिर्दोषः न च ततः परत्वाज्जश्त्वानुनासिकत्वयोस्तदप्राप्तिरिति वाच्यम्। 'विप्रतिषेध परम्' (१।४।२) इत्यस्य यथोद्देशत्वेन त्रिपाद्यामप्रवृत्तेः। 'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य' इत्यनेन तस्या यथोद्देशत्वस्यैव बोधनात्। अन्यथा परस्यासिद्धत्वे 'विप्रतिषेध' (१।४।२) सूत्रस्य सिद्धत्वात्परिभाषान्तराणामिवास्यापि कार्यकालपक्षे तेनाकर्षणापत्तेः। अत एव भाष्ये वत्वमेवापादितम्। अधिकारत्वादेव 'श्चुत्व धुटि सिद्ध वाच्यम्' (का० वा०) इत्यादि चरितार्थम्। एवं च यत्रानुवृत्तिस्तस्यासिद्धत्वम्। पूर्वत्वञ्च क्वचित्सपादसप्ताध्याय्याः क्वचित्सूत्रान्तरसहितायाः। तत्रायमर्थः 'होढ' (८।२।३१) इत्यादावस्योपस्थितौ वाक्यभेदेनान्वयः हस्य ढो भवति, इदञ्च शास्त्रं

पर्वत्रासिद्धमिति। अत एव 'नमुने' (८।२।३) इत्यादिभिस्तन्निषेध उपपद्यते। पूर्वत्रेति सङ्ग्राहकमेव। (४) शृङ्गग्राहिकयैव तु तत्तच्छास्त्र प्रति तस्यासिद्धत्वं प्रतिपाद्यते। तेनापवादस्य यं प्रत्यपवादत्वं तत्रासिद्धत्वाभावेऽप्यन्यत्रासिद्धत्वं भवत्येव। असिद्धमिति। सिद्धं निष्पन्नं, प्रवृत्तम्। 'सिद्धश्च प्रत्ययविधौ' इत्यादौ तथा दर्शनात्। तद्भिन्नमसिद्धम्—अनिष्पन्नमप्रवृत्तम्। यद्यपि लोके (१) नाहार्यज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वं निवर्त्तकत्वञ्च दृष्टं तथाऽपीह शास्त्रप्रमाण्यादाहार्यारोपोऽपि शास्त्रप्रवृत्तावप्रवृत्तौ च नियामक इति बोध्यम्। अत्र कार्यासिद्धत्वे 'अम्' इत्याद्यसिद्धिः। 'अद् अ औ' इति स्थिते परत्वान्मुत्वे तस्य सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यदृष्टयाऽसिद्धत्वेऽपि देवदत्तहन्तृहतन्यायेनाकाराभावेन (२) पररूपाद्यनापत्तिः। अतिदेशस्याऽऽरोपरूपत्वान्निरधिष्ठानारोपासम्भवेन कार्यप्रवृत्तेरत्र पक्षे आवश्यकत्वात्। शास्त्रासिद्धत्वे तु यत्राप्यन्तरङ्गत्वात् (१) त्रैपादिकं प्रवृत्तं तत्रापि तत्तच्छास्त्रे एवाभावारोपेण तन्निवृत्तिबुद्धेरभाव आदेशबुद्ध्यभावो लक्ष्ये जातत्वबुद्ध्यभावश्च। जायमानं कार्यं त्वादेशे एव स्थानिबुद्ध्या प्रवर्त्तते। 'न हि रजतभ्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयति' इति न दोषः। यत्र तु सहप्रङ्गस्तत्राप्रवृत्तिरेवाभावारोपात्। न च 'पूर्वत्र न' इत्येव सूत्रमस्त्विति वाच्यम्। पूर्वशास्प्राप्तौ निषेध इत्यर्थे 'नलोपः सुप्' (८।८।२) इति सूत्रासङ्गतेः। तद्धि नियमार्थम्। त्वद्रीत्या 'राजन् अश्व' इत्यस्यां दशायां कस्यापि पूर्वशास्त्रस्याप्राप्त्यैतन्निषेधाप्रवृत्तौ नलोपे जाते 'भुक्तवन्तम्' इति न्यायेनैतदप्रवृत्तौ राजाश्वे दीर्घसिद्ध्या नियमानुपयोगात्, 'राजभ्याम्' इत्यादावपि दीर्घापत्तेश्च। 'पूर्वशास्त्रवषयसम्भावनायामित्यर्थे' 'राजभ्याम्' इत्यादौ नलोपे सुब्विधिदीर्घविषयसम्भावनया सर्वथा नलोपानापत्तेरिति (२) दिक्।

त्रिपाद्यामिति। विधि मानने पर गोधुङ्मान् में घत्व, जश्त्व, अनुनासिको में भष्भाव नहीं होगा। अब यहाँ यह शंका है कि घत्वादि के करने पर अथवा प्राप्त होने पर अर्थ है। यदि प्रथम कल्प स्वीकार करते हैं तो इनके करने पर किसी प्रकार से भी भष्भाव की प्राप्ति न होने से मूल ही असंगति होगा। द्वितीय कल्प में घत्व से पूर्व झषन्तु के अभाव में भष्भाव की प्राप्ति न होने से मूल असंगत है। अब यहाँ चक्रक दिखलाते हैं कि जश्त्व का अपवाद बाधकर भष्भाव उसको परित्वाद बाधकर अनुनासिक उसको अन्तरंग होने से बाधकर जश्त्व उसका अपवाद होने से भष्भाव तद्ग्रह

सापेक्ष ग्रह सापेक्ष ग्रह सापेक्षत्व रूप चक्रक है इसका उत्तर यह है कि अपवाद होने से जश्त्व अन्तरंग होने से अनुनासिक को बाधकर भष्भाव हो जायेगा। कार्य काल पक्ष में त्रिपादीमें अन्तरंग परिभाषा की अप्रवृत्ति होने से यह दोष नहीं है इस अरुचि से दूसरा दोष देते हैं। वस्तुतः घत्व करने पर 'झय:' से वत्व होने लगेगा उससे भी परे होने से जश्त्व और अनुनासिक के करने पर वत्व की प्राप्ति नहीं है–यह ठीक नहीं है क्योंकि परं में यथोद्देश होने से उसकी त्रिपादी में प्रवृत्ति नहीं होती है "पूर्वत:सिद्धे" इत्यादि से उसका यथोद्देश होना ही ज्ञात होता है। त्रैपादिक कार्य में विप्रतषेध सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि त्रिपादी में पर के असिद्ध होने से पर का अभाव है नहीं तो पर के असिद्ध होने पर विप्रतिषेध सूत्र के सिद्ध होने से अन्य परिभाषाओं की तरह इसका भी काल कार्य पक्ष में उससे आकर्षण होने लगेगा। इसी से भाषा में वत्व की ही आपत्ति की। अधिकार होने से ही श्चृत्वं धुटि सिद्धं वाच्यम् इत्यादि भी चरितार्थ हुआ इस प्रकार से जहाँ अनुवृत्ति है वह असिद्ध है पूर्वत्व–कही सपाद–सप्ताध्यायी का और अन्य कहीं सूत्रों से सहित का। अब यह अर्थ है कि होढ़: में इसकी उपस्थित होने पर वाक्यभेद से अन्वय होता है अर्थात् हकार को ढकार होता है और यह सूत्र पूर्व की दृष्टि में असिद्ध है। इसी से नमूने से उसका निषेध भी उपपन्न होता है। पूर्वत्र संग्राहक की ही है शृङ्ग ग्राहिका से तत् तत्शास्त्र के प्रति उसको असिद्ध कहते है तात्पर्य यह है जिस प्रकार शृङ्ग पकड़कर यह गाय ही ऐसा बतलाते है उसी प्रकार उन-उन सूत्रों का अनुवाद करके उसकी दृष्टि में असीवत्व प्रतिपादन करते हैं। इससे अपवाद को जिसके प्रति अपवाद है वहाँ असिद्ध का अभाव होने पर भी अन्यत्र असीषत्व होगा।

असिद्धमिति। सिद्ध का अर्थ निस्पन्न अर्थात् प्रवृत्ति है क्योंकि सिद्धश्च प्रत्यय विधै में सिद्ध का निस्पन्न अर्थ ही दृष्टिगोचर होता है सिद्ध से भिन्न असिद्ध अभिपन्न अर्थात् अप्रवृत्ति है यद्यपि लोक में अनाहार ज्ञान ही प्रवर्तक अथवा निवर्तक होता है तो भी शास्त्र के प्रामाण्य से आहार्यारोप भी प्रवर्तक तथा निवर्तक है "बाधज्ञान समकालिकेच्छा जन्य ज्ञान माहार्य ज्ञानम्। बाधज्ञान के समकाल में इच्छा से जन्य ज्ञान ही आहार ज्ञान है जैसे शुक्ति में रजत् ज्ञान के साथ ही यह रजत नहीं है। ऐसा ज्ञान होता है।

यहाँ कार्यासिद्धत्व पक्ष मानने से अमू:इत्यादि की सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि अद् अ औ इस स्थित में पर होने से मुत्व के करने पर उसको सपाद सप्ताध्यायीस्थ कार्य की दृष्टि में असिद्ध होने पर भी देवदत्त हन्तृहतन्यास से (देवदत्त के मारने वाले को मारने पर भी देवदत्त नहीं जीवित होता है) अकार के अभाव में परस्यादि नहीं होगे। आदि पद से वृद्धि का ग्रहण करना "अदस् शब्द के प्रथम अकार और सकार के स्थान में होने वाले अकार को लेकर पर रूप हो जायेगा" यह कहना भी

ठीक नहीं है क्योंकि वह पर रूप इष्ट नहीं है पर रूप नहीं होगा इसका अर्थ इष्ट पर रूप नहीं होगा यह कहना चाहिए। किसी का यहाँ यह कथन है कि मुव के असिद्ध होने पर भी उसका उच्चारणाधीकरण काल है उसके व्यवधान से संहिता अधिकारस्य पर रूप नहीं होगा आधी मात्रा से अधिक काल व्यवधान नहीं होना चाहिए परन्तु यह कथन उचित नहीं है क्योंकि यहाँ काल व्यवधान नहीं माना जाता है इसी से सिज्लोप एकादेशे सिद्धोवाच्याः। यह वार्तिक भी संगत होता है अन्यथा यहाँ उच्चारणाधीकरण काल के व्यवधान से आतीत में दीर्घ नहीं होता। वास्तव में कार्यासिद्धत्व पक्ष में अमूः अमीष में दोष नहीं है क्योंकि उकार में अकार बुद्धि की सम्भावना करके पर रूप हो जायेगा फिर उकार के संयोग से होने वाला मुत्व भी निवृत्त हो जायेगा। पुनः वृद्धि उत्त्व मत्वादि करने से 'अमूः अमी की सिद्ध हो जायेगी लक्ष्ये लक्षण व्यतो यह विषय नहीं है क्योंकि यहाँ तल लक्षत्व नहीं है। "शास्त्र विशिष्टत्वम् तललक्षत्वम्' वैशिष्ट्यम्

स्वीय प्राथमिक प्रवृत्तावुद्धे श्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वे नाश्रीयमाणो यावान् शब्द स मुदायस्तद् विशिष्टा घटितेत्वम् वैशिट्यम्।

स्वाघट कत्व स्वघटक मात्रोद्देश्य कवि कारे तरत्व उभय सम्बन्धेन अदसोऽसे सः से प्रथम प्रवृत्ति में उद्देश्यता वच्छेद्कता वच्छिन्त्वेन अर्थात् निमित्त से। आश्रीय-मान् शब्द समुदाय अद् था उस समुदाय का अघटक 'औ' है पूर्व और पर के स्थान में होने में स्व समुदाय घटकाभाव को उद्देश करके न होने से विकार नहीं है किन्तु विकारेतर है उससे अघटित औ किन्तु धटित ही है। अतः पुनः उत्त्व मत्व होने से अमू अमी की सिद्ध हो जायेगी अतः अमूभ्याम् तथा आमूदृक के दोष ही यहाँ प्रथम में सुपिच् से दीर्घ तथा द्वितीय में आसर्वनाम्नः से आत्व ढकार के अकार को ही होता है। अतः स्वघटक मात्रोदेश्यक का विकार ही आकार है उससे इतर उदासीन कोई उससे अघटित होने से वल्लवयत्व होने के कारण फिर उत्व मत्व नहीं होंगे।

अतिदेश का अर्थ है—आरोप। उसका बिना अधिष्ठान के होना असम्भव है अतः कार्यासिद्धत्व पक्ष में कार्य की प्रवृत्ति अत्यन्त आवश्यक है शास्त्रासिद्धत्व पक्ष में तो जहाँ भी अन्तरंग होने से तैपादिक शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है वहाँ भी उन-उन सूत्रों में अभाव के आरोप से उसकी निवृत्ति बुद्धि का अभाव, आदेश बृद्धि का अभाव, और लक्ष्य में होने वाली बुद्धि का अभाव होता है जायमान कार्य स्थानीय भी बुद्धि से आदेश नहीं होता है रजत जानकर होनेवाली प्रवृत्ति को शुक्ति नहीं करती है—ऐसा नहीं किन्तु करती ही है इसलिए ही कोई दोष नहीं है। जहाँ एक साथ ही प्राप्ति हो वहाँ अभाव के आरोप से अप्रवृत्ति ही जानना। अतः शास्त्रासिद्धत्व पक्ष ही उचित है नमुने-ज्ञापक से लक्ष्येलक्षण न्याय की अप्रवृत्ति मानने पर कार्यासिद्धत्व में भी दोष नहीं है। परन्तु मेरी समझ से कार्यासिद्धत्व में अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करने की अपेक्षा शास्त्रासिद्धत्व ही उचित है 'पूर्वत्र न' न्यास करना उचित नहीं है क्योंकि पूर्वशास्त्र

की प्राप्ति में निषेध हो इस अर्थ में 'न लोपः सुप्' सूत्र असंगत हो जायेगा। क्योंकि वह नियमार्थ है आपकी रीति से राजन्, अश्व, इस, दशा में किसी भी पूर्व शास्त्र की अप्रवृत्ति होने पर राजाश्व में दीर्घ सिद्ध होने से नियम का उपभोग नहीं होगा और राजभ्याम् में दीर्घ होने लगेगा। पूर्वशास्त्र की विषय की सम्भावना में अर्थ करने पर राजभ्याम् में ङ्कार का लोप करने पर सुप् की विधि दीर्घ की सम्भावना से किसी प्रकार से 'न लोप' नहीं होगा। इतिशास्त्र।

बाह्यप्रयत्न इति। काकलकाधस्ताद्गलविवरसङ्कोचविकासश्वासोत्पत्तिध्वनिविशेषरूपनादतद्विशेषरूपघोषाल्पघोषप्राणाल्पत्वमहत्त्वरूपकार्यकरत्वमेषाम्। तथाहि—

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥' (पा० शि० ६)
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते……' इति शिक्षायामुक्तम्। (पा० शि० ९)

आत्मा अन्तःकरणं संस्काररूपेण स्वगतानर्थान् बुद्ध्या स्ववृत्त्या समेत्य एकबुद्धिविषयान् कृत्वा तद्बोधनेच्छया मनो युक्तं करोति, तदिच्छावन्मनः कायाग्नि जाठरमग्निमभिहन्ति, स कायाग्निः, सोदीर्णः स मारुतः उदीर्णः ऊर्ध्वं प्रेरित इत्यादिस्तदर्थः। एवञ्च शब्दप्रयोगेच्छयोत्पन्नयत्नाभिहताग्निना नाभिप्रदेशात्प्रेरितो वायुर्वेगान्मूर्धपर्यन्तङ्गत्वा प्रतिनिवृत्तो वक्त्रं प्राप्य उक्तयत्नसहायेन तत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकं तत्तत्स्थानान्याहत्य वर्णानभिव्यनक्ति। ततो यत्नविशेषेण गलविवरविकासादीन् करोति, तत्र ये तत्तत्स्थानाभिघातका यत्नास्ते आस्यान्तर्गततत्तत्कार्यकारित्वादाभ्यन्तरा इत्युच्यन्ते। गलविवरविकासादिकराश्चास्यबहिर्भूतदेशे कार्यकरात्वाद् बाह्या इति। मात्राकालिकत्वादिरूपह्रस्वत्वादिकन्तु वाय्वल्पत्वमहत्त्वकृतमिति नाभिप्रदेशात्प्रेरकयत्न एव कश्चिद्विलक्षणोऽल्पं वायुं प्रेरयति कश्चिदधिकमिति तस्य वायुप्रेरणारूपङ्कार्यमास्यबाह्यदेशमिति तदपि बाह्यमेव। अत एव 'अइउण्' (मा० सू० १) सूत्रे भाष्ये ह्रस्वत्वादिजनकयत्नस्यास्यविशेषणेन सवर्णसूत्रेऽग्रहणमित्युक्तम्। यद्यप्येक एव यत्नः सर्वकार्यजनको वर्णनाशकश्चेति 'परः सन्निकर्षः' (१।४।१०९) इति सूत्रे भाष्ये उक्तं तथापि तत्तत्कार्येणोपाधिना एकस्मिन्नपि भेदमारोप्य तथा व्यवहार इति बोद्ध्यम्। उदात्तादिजनकयत्नस्याभ्यन्तरकार्यकरत्वेऽपि उदात्तादिशब्दैर्विना

बोधितानां तेषां 'अनङुदात्त' इत्यनेनाविवक्षाबोधनात्। सवर्णसंज्ञानुपयुक्तत्वान्तरतम्यपरीक्षोपयुक्तत्वरूप सादृश्येन बाह्येषु गणनम्। इदं ह्रस्वत्वादेरानुनासिक्यस्य चोपलक्षणम्।

बाह्य प्रयत्न इति। काकत्व के नीचे गले में विवर के संकोच विकास आदि स्वांस की उत्पत्ति ध्वनि विशेष रूपनाद उससे विशेष रूप घोष अल्प घोष अल्पप्राण महाप्राण रूप कार्य करना ही इनका काम है शिक्षा में कहा भी है आत्मा बुद्धया इत्यादि अर्थात् अन्तःकरण संस्कार रूप से अपने में विद्यमान अर्थों को अपनी वृत्ति रूप से मिलकर अर्थात् एक बुद्धि विषयकर उसके बतलाने की इच्छा से मन को तैयार करती है। उस इच्छा वाला मन कायाग्नि अर्थात् जाठराग्नि से सम्बन्ध करता है, वह कायाग्नि वायु को प्रेरित करता है। वह वायु ऊपर जाकर मस्तक में टकराता है फिर मुख में आकर वर्णों को पैदा करता है।

इस प्रकार से शब्दों की प्रयोग की इच्छा से उत्पन्न यत्न से टक्कर लगी अग्नि से नाभि प्रदेश से प्रेरित वायु मस्तक तक जाकर पुनः मुख में आकर उक्त यत्न की सहायता से उन-उन स्थानों में जिह्वा के अग्रादि भाग के स्पर्श पूर्वक उन-उन स्थानों में टक्कर मारकर वर्णों में अभिव्यक्ति करती है। फिर विशेष यत्न से गले के बिवर का विकास आदि करती है। उन-उन स्थानों के अविघातक यत्न आस्य के अन्तर्गत होने के कारण और उन-उन कार्यों के करने से आभ्यन्तर कहे जाते है गल बिवर के विकासादि करने वाले तो आस्य के बाहर करने से वाह्य कहे जाते है। एक मात्रा काल वाले ह्रस्वादि तो वायु के अल्प और अधिक होने से जानना। नाभि प्रदेश से होने वाला कोई विलक्षण यत्न ही अल्प वायु को प्रेरित करता है। और कोई अधिक वायु को प्रेरित करता है उसका वायु प्रेरणात्मक कार्य भी आस्थ में वाह्य के समान होने से वह भी वाह्य है इसी से अ इ उ ण् सूत्र के भाष्य में ह्रस्वत्वादि के जनक यत्न का भी आस्य विशेषण होने से सवर्ण सूत्र में ग्रहण नहीं होता है। यद्यपि एक ही यत्न सभी कार्यों का जनक है और वर्णों का नाशक है जैसा कि "परः–सन्निकर्षः" सूत्र के भाष्य में कहा गया है तथापि उन-उन कार्य रूप उपाधि से एक में भी भेद मानकर उस प्रकार का व्यवहार होता है ऐसा समझना चाहिए उदात्तादि का जयक यत्न का भी आभ्यन्तर कार्य करने पर भी उदात्तादि शब्दों के बिना कहने पर उनकी अनङुदात्तः इत्यादि से अबिवक्षा का बोधन होने से सवर्ण संज्ञा में उपयोग का अभाव और आन्तरतम् परीक्षा में उपयुक्तत्व रूप सादृश्य से शास्त्र में गणना है यह ह्रस्वत्व आदि तथा आनुनासिक्य का भी उपलक्षण है।

शर इति। शषसाः। अनुप्रदानं बाह्यप्रयत्नः। विवृण्वते इति। तदभिव्यक्त्युत्तरञ्जायमाने कण्ठविवरविकासे तेषां कर्तृत्वविवक्षा बोध्या। विवार एषां प्रयत्न इति भावः।

शर इति। शषसाः अनुप्रदान अर्थात् ब्राह्यप्रयत्न विवृण्वते इति। उनकी अभिव्यक्ति के पश्चात् होने वाले कण्ठ के विवर के विकास में उनकी करने की विवक्षा जानना अर्थात् वे कर्ता है अर्थात् उनका विवार प्रयत्न है।

अन्ये त्विति। वर्गतृतीयचतुर्थपञ्चमास्तद्यमा हकारानुस्वारौ यरलवा इत्यर्थः। नादभागिनः तत्प्रयत्नकाः। यद्यपि खयादिषु घोषाघोषान्यतरप्रयत्नमात्रेणापि प्रक्रियांशनिर्वाहस्तथापि शिक्षानुरोधेनान्येषामुक्तिः। अल्पासवः- अल्पप्राणाः। यत एतदुच्चारणोत्तरं प्राणानामल्पत्वमिव भवति।

अन्येत्विति। वर्ग के तीसरे, चौथे, पाँचवे और उनके यम् हकार अनुस्वार य र ल वा। नादभागिनः नाद प्रयत्न वाले है। यद्यपि खयादि में घोष अल्प घोष में एक के ग्रहण से भी प्रक्रिया का निर्वाह हो सकता है तो भी शिक्षा के अनुरोध से और का भी उपयोग है असु प्राण का पर्याय है इसलिए अल्पासवः का अर्थ अल्पप प्राण है है क्योंकि इनके उच्चारण में प्राणों को अल्पत्व का सा ज्ञान होता है।

वर्गेष्विति। विद्यमानानामिति शेषः। चतुर्णामिति। निर्धारणे षष्ठी। अन्यतमादिति शेषः। पूर्वसदृश इति। सादृश्यं यत्नकृतम्। अत एवायोगवाहेषु यमानां गणनं भाष्ये 'चत्वारश्च यमाः स्मृताः' (पा० शि० ४) इति पाणिनिशिक्षा च सङ्गच्छते। अयञ्च वेदे एव; तदाह—प्रातिशाख्ये इति। अन्येषामिति। अचाम्, उक्तान्यहलाञ्चेत्यर्थः। यरलवाश्चेति। चेनाचामपि ग्रहणम्। 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इति सूत्रे 'इकारस्यान्तर्यतो दकारः' इति भाष्यात्। घोषसंवारनादाल्पप्राणत्वमचाम्। अन्यथा तदौ पर्यायेण स्याताम्। अल्पप्राणत्वानङ्गीकारे दधौ पर्यायेण स्याताम्। अचां घोषत्वं 'परः सन्निकर्षः' (१।४।१०९) इति सूत्रे भाष्येऽपि स्पष्टम्। अन्ये इति। द्वितीयचतुर्थौ तद्यमौ, शषसहा अयोगवाहाश्चेत्यर्थः। जिह्वामूलीययमादीनां स्थानबाह्यप्रयत्नकथनं तु स्वरूपनिर्णयाय न तु सावर्ण्यान्तरतम्यपरीक्षादावुपयोगीति बोध्यम्।

वर्गेष्विति। इसका शेष विद्यमान है। चतुर्णामिति। हाँ चतुर्थी निर्धारण में है अन्यतमादिति। इसकी शेष है पूर्व संदृश इति। साद्यन्य यत्नकृत है इसी से अयोग्यवादी में यमों की गणना भाष्य ने की है और यम् चार है यह पाणिनीय शिक्षा भी संगति होती है यह वेद में ही है जैसाकि कहा है प्रातिशाख्येइति। अन्येषामिति। अच और औशिष्ट हलों का। यरणवाश्चेति चकार से अचों का भी ग्रहण है सुपां सुलुक्। सूत्र के भाष्य में इकार आन्तर्य दकार कहा है इसलिए घोष सकार नाद अल्पय प्राण अचों का है नहीं तो पर्याय से त द होने लगेंगे। अल्प प्राण न मानने

पर त द पर्याय से होने लगेंगे। अचों का घोष प्रयत्न परः सन्निकर्षः सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है अन्येइति। द्वितीय, चतुर्थ, उनके यम श ष स ह और अयोगवाह है जिह्वा-मूलीय और यमाद का स्थान से वाह्य प्रयत्न का कथन स्वरूप निर्णय के लिए है सावर्ण्य या आन्तरतम् परीक्षा में उपयोगी नहीं है।

अनुपयुक्ता इति। 'तुल्यास्य' (१।१।९) सूत्रे प्रशब्दग्रहणात्। उपयुक्तत्वे हि शछयोरपि सावर्ण्यं स्यादिति भावः। आन्तरतम्यपरीक्षा च घोषवत इत्यादिना तत्र तत्र स्फुटीभविष्यति। स्पर्शाः तत्पदव्यवहार्याः। अन्तस्थाशब्द आदन्तः। स्पर्शोष्मणोरन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति तदर्थः। ऊष्माण इति। ऊष्मा वायुस्तत्प्रधाना इत्यर्थः। एवं सोष्माण इत्यस्य वायुना सह वर्त्तन्त इत्यर्थ इति प्रातिशाख्यभाष्ये स्पष्टम्। यद्यपि वर्गद्वितीयचतुर्थयोरपि 'स्थानेऽन्तरतम' (१।१।५०) सूत्रभाष्यादूष्मत्वं तथापि विवृतमूष्मणामित्यत्रैत एव गृह्यन्ते। अन्यथा खादीनां सावर्ण्यानापत्तौ 'नाऽऽज्झलौ' (१।१।१०) इत्यादिनिर्देशासङ्गतिरिति भावः अचः स्वरा इति। उदात्तादिभिः स्वयमेव राजन्त इति व्युत्पत्तेः, तद्धर्मत्वादुदात्तादयोऽपि स्वरा इत्युच्यन्ते। कपाभ्यामिति। खफयोरप्युपलक्षणम्। 'अं अः' इत्युपलक्षणमिकारादेरपि। तदाह—अचः पराविति।

अनुपयुक्ता इति। तुल्यास्य सूत्र में प्र शब्द के ग्रहण से उपयुक्त होने पर सकार, छकार की भी सवर्ण संज्ञा हो जाती। आन्तरतम् परीक्षा तो घोषवत इत्यादि उन-उन स्थानों में स्पष्ट होगी।

स्पर्शाः। उस पद से व्यवहार के योग्य है अन्तस्थः शब्द आदन्त स्त्रीलिङ् है। स्पर्श और उष्मों के मध्य में रहने से अन्तस्थ कहे जाते हैं। ऊष्माण इति। ऊष्मा वायु को कहते हैं उसके प्रधान होने से इनका यह नाम है सोष्माणः का वायु के साथ रहने वाले—अर्थ है यह प्रातिशाष्य में स्पष्ट है यद्यपि वर्ग के द्वितीय और चतुर्थों का भी स्थानेऽनन्तरमः सूत्र के भाष्य से ऊष्मत्व है तो भी विवृतमूष्मणाम् में इनका ही ग्रहण है नहीं तो क ख की सवर्ण संज्ञा न होने से नाऽऽज्झलौ इत्यादि निर्देश ही असंगत हो जाते। अचः स्वराइति। उदात्तादि से स्वतः ही शोषित होते हैं। उस धर्म के होने उदात्तादि भी स्वर कहे जाते हैं कपाभ्यामिति। यह ख फ का भी उपलक्षण है अं अः। यह इकारादि का भी उपलक्षण है। जैसा कि कहा है अचः पराविति।

ऋलृवर्णयोरिति। (१) आ च लृवर्णश्चेति विग्रहः। 'ऋत्यकः' (६।१।१२८) इति प्रकृतिभावः। एतदर्थमेव वर्णोपदेशे लृकारपाठः। अन्यथा तस्यासत्त्वशङ्कयाऽस्य वचनस्यैवाशक्यत्वं स्यात्। ध्वनितञ्चेदम् 'एओङ्'

(मा० सू० ३) इति सूत्रशेषे भाष्ये। तत्र हि-सय्यन्तेत्यादौ 'हलोऽनन्तराः' (१।१।७) इति सूत्रे प्रत्याहारघटकेष्वपि ग्रहणकशास्त्रप्रवृत्त्या मात्राकालिकस्य यद्वयादेः 'अणुदिति' (१।१।६९) सूत्रेण यादिग्रहणेन ग्रहणाद् द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न प्राप्तोतीत्याशङ्क्य मात्रिकव्यञ्जनानुपदेशादनुपदिष्टस्यासत्त्वात् असत्प्रतिपत्तेरशक्यत्वान्न 'अणुदित्' (१।१।६९) सूत्रेण तद्ग्रहणमित्युक्तम्। न च 'क्लृउप्तशिख:' इत्यादौ 'अनृत' इति निषेधात् प्लुतानापत्तिः। ऋलृवर्णयो पृथगनुबन्धत्वकरणेन क्वचित्परस्पराग्राहकत्वकल्पनेनादोषात्।

ऋलृवर्णयोरित। यहाँ आच् लृवर्णश्च विग्रह है। ऋ लृ अवस्था में ऋत्यकः से प्रकृतभाव होता है इसीलिए वर्णो के उपदेश में लृकार का भी पाठ है अन्यथा लृकार के अभाव में यह वार्तिक ही कठिन था एओङ्। सूत्र के अन्त में भाष्य में ध्वनित है। भाष्य में सय्यन्तः इत्यादि में हलोऽनन्तराः सूत्र में प्रत्याहार के अन्तर्गतो में यदि ग्रहणक शास्त्र अनुदित् की प्रवृत्ति होने से एक मात्रा काल वाले दो यकारों का अणुदित् सूत्र से यदि ग्रहण से ग्रहण होने पर दो व्यंजन मानकर होने वाली विधि प्राप्त होती है। ऐसी आशंका करके एक मात्रा वाले व्यंजन उपदेश नहीं है अनुपदिष्ट की सत्ता नहीं है और जो नहीं है उसका ज्ञान सम्भव नहीं है इसलिए अणुदित् सूत्र से उसका ग्रहण नहीं होता है दोनों की सवर्ण संज्ञा मानने पर क्लृउप्तशिषः। इत्यादि में अनृतः के निषेध से प्लुप्त नही होगा। यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि ऋवर्ण और लृवर्ण को अलग-अलग अनुबन्ध मानने से कहीं पर आपस में उनका ग्रहण नहीं होता है।

अकारहकारयोरिति। एकारस्य तालव्यत्वमोकारस्यौष्ठयत्वमिति मते एकारशकारादीनामप्युपलक्षणमिदम्। एतेन 'नाकशलौ' इत्येव सूत्रयितुमुचितमित्यपास्तम् (१)। 'हशि च' (६।१।११४) इत्येव सिद्धे 'अतोरोः' (६।१।११३) इत्याकारे व्यावृत्त्यर्थम्।

सूत्रे द्विवचनोपपत्तये मध्यमपदलोपिसमासं दर्शयति--अकारसहित इति। अत एव 'वेलासु' इति निर्देश उपपद्यते। समाहारद्वन्द्वे तु टच्प्रसङ्गोऽज्झलिति समाहारद्वन्द्वं कृत्वा आपदेन द्वन्द्वे तु अज्भिरप्याकारस्य सावर्ण्यं न स्यादिति भावः। अत एव भाष्ये प्रयत्नभेदेनैषां (२) सावर्ण्याभावः साधितः। एतेषु परेष्विति। इदमुपलक्षणम्। एतेषु विद्यमानस्येत्यपि बोद्धयम्। तेन हकारादीनामकारादिषु परतो दीर्घादिसङ्ग्रहः। अच्त्वं

स्यादिति । अच्पदबोद्ध्यत्वं स्यादित्यर्थः । इदं प्रत्याहारघटकेष्वपि ग्राहक-शास्त्रप्रवृत्तिरिति मते व्यक्तिपक्षे च बोद्धयम् ।

अकारहकारयोरिति । एकार का तालव्य और ओकार को औष्ठय मानने पर एकार शकारादि का भी उपलक्षण है । इससे नाक्शलो न्यास के पक्षपाती भी परास्त है । हशि च से सिद्ध था फिर अतोरोः सूत्र आकार में व्यावृत्ति के लिए है । सूत्र में द्विवचन की उत्पत्ति के लिए मध्यमपद लोपी समास दिखलाते हैं अकारसहित इति । आकार के प्रश्लेष से काल समय वेलासु से निर्देश सिद्ध होता है अन्यथा वेलासु शब्द मूर्धन्य से होने लगता । समाहार द्वन्द्व टच् हो जाता । अच् झलि् का समाहार करके 'आपद' से द्वन्द्व करने पर तो अच् के साथ भी आकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होगी इसी से भाष्य में प्रयत्नभेद से सावर्ण का अभाव सिद्ध किया । एतेषु परेष्विति । यह उपलक्षण है इसमें विद्यमान का भी । इससे हकारादि के अकारादि के पर दीर्घादि भी नहीं होते हैं । अच्त्वं स्यादिति । अर्थात अच्पदसे बोद्ध्यर्थ हो जायेगा । यह प्रत्याहार घटकों में भी ग्राहक शास्त्र की प्रवृत्ति होती है इस पक्ष में और व्यक्ति पक्ष में जानना चाहिए ।

अणुदि (१।१।६९) । अणमुद्दिश्य सवर्णबोधकताऽत्र विधीयते । सबर्णस्येत्यत्य (१) बोधकमिति शेषः । आदेशादौ सवर्णग्रहणवारणायाह--प्रतीयते इति ।

अणुदित् । अण् को उद्देश करके यहाँ सवर्ण बोधकता का विधान है । सवर्णस्य का शेष बोधक है अर्थात सवर्ण के बोध के लिए है । आदेश आदि में सवर्णग्रहण के लिए कहते हैं । प्रतीयतेइति ।

परे तु प्रत्ययग्रहणमेकदेशानुमत्या 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न इति परिभाषां (२) ज्ञापयतीति युक्तम् । प्रत्ययपदस्य तदर्थत्वन्तु न युक्तं वार्तिककृता टिटिकन्मित्सूपसंख्यानोक्तेः । भाष्यकृता चाप्रत्ययग्रहणमेतत्परिभाषाज्ञापकमित्युक्तम् । 'ज्यादादीयसः' (६।४।१६०) इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितमिदम् । तत्र हि—'किमर्थमादित्युच्यते ज्याद इत्येवोच्यताम् । का रूपसिद्धिः ! आन्तर्यतो दीर्घो भविष्यति । एवन्तर्हीदमेव ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा 'भाव्यामानेन' इत्यादि । त्वदुक्तव्याख्याने हि पूर्वपक्षसिद्धान्तयोरुभयोरपि निर्दृलत्वापत्तिः । जातिपक्षेऽप्यनयैव परिभाषया सवर्णग्रहणं वारणीम् । व्यक्तिपक्षे गुणाभेदकत्वप्राप्तञ्च वारणीयम् । तेन घटवदित्यादौ नानुनासिको वकारः । एतेनाजुदिदित्येव सिद्धेऽण्ग्रहणेन यण्सु गुणभेदकत्वं ज्ञाप्यते इति परास्तमित्याहुः ।

अब यहाँ पर विचार होता है कि भाष्यकार के मत से प्रयत्न भेद होने से सवर्ण संज्ञा न होनी चाहिए। परन्तु सूत्रकार के मत से अच् हल् की सवर्ण संज्ञा न होने का क्या उपाय है। तुल्यास्य सूत्र में नाज्झलौ के निषेध से अजझलभिन्नत्वेन संकोच करने पर अच् हल् की सवर्ण संज्ञा नहीं होगी यह कहना उचित नहीं है क्योंकि उक्त संकोच से अचो तथा हलो की भी आपस में सवर्ण संज्ञा नहीं होगी आवृत्ति करके तुल्यास्य सूत्र के दो अर्थ इस प्रकार से करेंगे। अज्भिन्नेन तुल्यास्यप्रयत्नयज्भिन्नं सवर्ण संज्ञं भवति। हलुभिन्नेद तुल्यास्य प्रयत्नम् हलभिन्नसवर्ण संज्ञं भवति। 'नाज्झलौ' उक्त अर्थ में तात्पर्य ग्रहक है। यहाँ प्रथम-अर्थ से हलों की और द्वितीय से अचो की सवर्ण संज्ञा होती है।

नागेश का मत है कि प्रत्यय ग्रहण एक देशानुमिति (स्थाली पुलाकन्याय) से भाव्य मानेनसवर्णानाम्ग्रहणं न परिभाषा का ज्ञापन करता हैं। प्रत्यय पद का पूर्वोक्त विधीयमान अर्थयुक्त नहीं है क्योंकि वार्तिककार ने टित् कित् मित् में उप संख्यान कहा है और भाष्यकार ने अप्रत्यय ग्रहण उक्त परिभाषा में ज्ञापक कहा है यह ज्यादा-दीयशः सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ लिखा है कि आत् क्यों कहते है। ज्यादः ही कहो। क्या रूप सिद्धि होगी। आन्तर्य से दीर्घ को दीर्घ होगा तब यह व्यर्थ होकर भाव्यमानेन् परिभाषा में ज्ञापक होता है आपके व्याख्यान में पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष दोनों ही निर्बल हो जायेंगे। जातिपक्ष में भी उक्त परिभाषा से ही सवर्ण ग्रहण का वारण करना और व्यक्ति पक्ष में गुणाभेदकत्व से प्राप्त का भी वारण करना। इसी से घटवत् में मकार के लिए अनुनासिक वकार नहीं होता है। उक्त कथन में अणुदित् से ही कार्य हो जाता। अण् ग्रहण से यण् में गुणभेदकत्व पक्ष का ज्ञापन होता है वे परास्त है। परिभाषा का अर्थ इस प्रकार है।

विधेयता प्रयोजकेन पदेन स्वावृत्तिश्रावण प्रत्यक्षविषयतावच्छेदक धर्मवतां ग्रहणं न।

जिस प्रकार इको यणचि में विधेयता प्रयोजक यण् पद से उसमें प्रवृत्ति श्रवण प्रत्यक्ष वाले अनुनासिक वालों का ग्रहण नहीं होता है।

ननु 'चोः' (८।२।३) इत्यादावनुवादे कथमुदित्त्वमिति चेत्? न, व्याकरणान्तरे एषामुदित्संज्ञकत्वेनादोषात्। उपदेशशब्दस्य करणसाधनत्वेन शास्त्रपरत्वेऽस्यापि शास्त्रत्वेनेत्त्वप्रवृत्तेः सुलभत्वाच्च। चो भिन्नक्रम इत्याह-उदिच्चेति। यद्यपि समुदायसवर्णिनोप्रसिद्धास्तथापि तदवयवचादिसवर्णा एवाऽत्र तत्सवर्णा बोद्धयाः। ह्रस्वाकाराद्योरपि कालपुरुषाद्युपाधिभेदेन स्थानेषु भेदमारोप्य तुल्यस्थानत्वं सूपपादम्। अत्रेति। ग्राहकसूत्र एवेत्यर्थः। व्याख्यानादिति भावः। 'उपसर्गादृति' (६।१।९१) इत्यादितपरकरणादिति तु न युक्तम्। लृकारग्रहणेन चारितार्थ्यात्। एवमिणपि परेणैव। 'अचि श्नु

(६।४।७७) इति सूत्रे इण इत्येव सिद्धे य्वोरिनि गुरुनिर्देशाद्व्याख्यानाच्चेति 'लण्' (मा० सू० ६) सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। नन्वेवं 'अस्य च्वौ' (७।४।२३) इत्यादौ सवर्णग्रहणं न प्राप्नोति। अण्ग्रहणेन वर्णसमाम्नायस्थानामेव ग्रहणेन णकारादिचिह्नेन प्रत्याहारे तत्प्रत्यभिज्ञानेन तत्रत्याद्यवर्णोपस्थितेषु उच्चारिताभेदेन गृहीतेषु सूत्रस्य (१) चारितार्थ्येन व्यक्तिपक्षे तत्रत्यात्रत्यव्यक्त्योर्भेदेन प्रकृते प्रत्याहारघटकद्वितीयवर्णादौ चोच्चारितस्यैव ग्राहकत्वादप्रवृत्तेरिति चेत्? न, (२) जातिपक्षाश्रयणेनादोषात्। अत एवानेकतकारादीनां झल्वादिसिद्धिः। सूत्रेऽण्ग्रहणं च न कार्यम्। 'ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यम्' इत्यनेन समानजातित्वस्यैवातिदेशेन 'उपसर्गादृति' (६।१।९१) इत्यादौ न दोषः। एतद्व्यतिरिक्तसवर्णे समानजातित्वसत्त्वात्। पृथगनुबन्धकरणाच्च न ऋदिल्लृदित्प्रयुक्तकार्यसङ्करः। अत्रपक्षे 'अइउण्' (मा०सू० १) सूत्रे शेषोक्तभाष्यरीत्या 'तपर' (१।१।७०) सूत्रस्य जातिग्रहणप्राप्तसवर्णग्रहणनियामकत्ववत् 'अप्रत्ययः' इत्यस्य योगविभागेन तत्प्राप्तसवर्णग्रहणनिषेधकत्वात् 'त्यदादीनामः' (१।१।७४) इत्यादौ विधेये न दोषः। एवं गुणाभेदकत्वप्राप्तसवर्णग्रहणनिषेधकत्वमप्यस्य बोद्ध्यम्। अत एव 'घटवत्' इत्यादौ मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः। सामर्थ्यादिति। 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) इत्यादौ 'स्थानेऽन्तरतम' (१।१।५०) सूत्रेणैव निर्वाह इति वक्ष्यते। 'न य्वाभ्याम्' (७।३।३) इत्यत्र एऔ स्वरूपेण पाठ्यौ, 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) इत्यत्राप्येङित्येव पाठ्यम्। तत्र गुणसूत्रे च परस्परसवर्णसञ्ज्ञावादिमते चतुर्णां ग्रहणसत्त्वात्। अत्रैतत्सूत्रवैयर्थ्योपन्यासेन तन्मूलकस्य गुणवृद्धिसञ्ज्ञाविधौ प्रत्याहारद्वयग्रहणवैयर्थ्यस्य 'प्लुतावैचः' (८।२।१०६) 'एचोऽप्रगृह्यस्य' (८।२।१०७) इत्यत्र तद्ग्रहणवैयर्थ्यस्य च सङ्ग्रहो बोध्यः। प्रयत्नभेदेनाप्यसावर्ण्यमेतयोः प्रागुक्तं न विस्मर्त्तव्यम्।

चोः। इस अनुवाद में उदित इस प्रकार से है यहाँ शंका नहीं करना क्योंकि अन्य व्याकरण में इनको उदित संज्ञक माना है और उपदेश में करण में प्रत्यय करने से शास्त्र अर्थ होने पर इसको भी शास्त्र होने से इस प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं है। यहाँ चकार का क्रम भिन्न है जैसा कि लिखा है उदिच्चेति। यद्यपि समुदाय के सवर्णी अप्रसिद्ध है। तो भी अवयव चादि के सवर्ण ही उसके सवर्ण है। ह्रस्व अकारादि का भी कार्यरूप उपाधिभेद से पुरुषोपाधिभेद से स्थानों में भेद का आरोप करके तुल्य स्थानत्व समझना। अत्रेत। ग्राहक सूत्र में अर्थात अणुदित में। इसमें व्याख्यान ही

शरण है। उपसर्गादृति। इत्यादि में तपर करण से उकतार्थ की प्रतीति होती है। यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि तकार लृकार के ग्रहण से चरितार्थ है। इस प्रकार अम् भी परणकार से लेना। अचिश्नु। सूत्र में इणा कहने से ही कार्य चल जाता फिर य्वोः। यह गुरू निर्देशरूप व्याख्यान से इण् पर णकार से ही ग्रहण करना चाहिए। यह यण् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। अब यहाँ शंका करते हैं अस्यच्वौ में सवर्ण ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि अण् ग्रहण से वर्ण समाम्नाय में स्थितों का ही ग्रहण होने, णकारादि चिह्न से प्रत्याहार का ज्ञान होने से वहाँ के प्रत्याहार के आदि वर्णों में उच्चारिता भेद बुद्धि से ग्रहीतो में सूत्र के चरितार्थ होने से व्यक्ति पक्ष में वहाँ तथा यहाँ की व्यक्तियों में भेद होने से प्रकृत में प्रत्याहार के मध्यस्थ द्वितीय वर्णों में उच्चारित के ही ग्रहक होने से प्रवृत्ति नहीं होगी। इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जातिपक्ष के आश्रयण से कार्य हो जायेगा। जातिपक्ष में अत्वजाति सभी अकारों में है इसी से जाति अनेक तकारों में भी झल्त्व सिद्ध होता है अतैव अवात्ताम् झलोझलि से सकार का लोप सिद्ध होता है। अन्यथा व्यक्तिपक्ष में एक तकार का ही ग्रहण झल् में होता तो लोप होना सम्भव नहीं था। सूत्र तो अभित्थाः में चरितार्थ है अब सूत्र में अण् ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऋलृवर्णयोः से समान जातित्व का अतिदेश कहने से उपसर्गादृति इत्यादि में दोष नहीं है। इससे अतिरिक्त सवर्ण में समान जाति विद्यमान है अलग-अलग अनुबन्ध करने से ऋकार में लृकार प्रयुक्त कार्य का संगत ही नहीं होगा। जातिपक्ष में अ इ उ ण् सूत्र के अन्त में कही हुई भाष्य की रीति से तपर सूत्र जातिग्रहण से प्राप्त सवर्ण ग्रहण का जिस प्रकार से नियामक है उसी प्रकार अप्रत्यय को भी समझना अर्थात अप्रत्यय योगविभाग से जातिग्रहण से प्राप्त सवर्ण ग्रहण का निषेध करता है इसलिए त्सदादीनामः से इदम् के अनुनासिक मकार को अनुनासिक अकार नहीं होता है। इसी प्रकार से गुणाभेदकत्व से प्राप्त सवर्ण ग्रहण का भी यह निषेध करता है। अतएव घटवत् इत्यादि में मतुप् के मकार को अनुनासिक वकार नहीं होता है सामर्थ्यादिति।

एचोऽयवायावः। इत्यादि में स्थानेन्तरतमः सूत्र से ही निर्वाह हो जायेगा। न खाभ्याम्। में ऐ औ का स्वरूप से पाठ करना चाहिए। वृद्धिरादैच् में भी एङ् ही पढ़ना चाहिए। वृद्धि सूत्र तथा गुण सूत्र में भी परस्पर सवर्ण संज्ञा के मानने वालों के मत में चार का ग्रहण है। यहाँ इस सूत्र के व्यर्थ उपन्यास से और तन्मूलक गुणसंज्ञा वृद्धि संज्ञा विधि में दो प्रत्याहारों के ग्रहण का वैयर्थ्य और प्लुतावैचः एचोऽप्रगृह्यस्य में उसके ग्रहण प्रगृह्यस्य का संग्रह जानना चाहिए। प्रयत्नभेद के होने से भी ए ऐ ओ औ की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है यह पहले कह चुके हैं उसका भी विस्मरण नहीं करना चाहिए।

यद्यपीति। इदं व्यक्तिपक्षे। 'वर्णानामुपदेशस्तावदुपदेशोत्तरकाले-त्सञ्ज्ञा तदुत्तरकालम् 'आदिरन्त्येन' (१।१।७१) इति प्रत्याहारस्तदुत्तर-

काला सवर्णसञ्ज्ञा तदुत्तरकालम् 'अणुदित्' (१।१।६९) इति, एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानाङ्ग्रहणं भवति, न चात्रेकारः 'शकारं गृह्णाति' इति 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इतिसूत्रभाष्योक्तवाक्यापरिसमाप्ति-न्यायादित्यर्थः। अयं भावः—'आदिरन्त्येन' (१।१।७१) इति प्रत्याहार-सिद्धौ 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इत्येतद्वाक्यार्थबोधे सति निर्णीतैद्विषयपरि-हारेण सवर्णसञ्ज्ञाबोध्यनिश्चये 'अणुदित्' (१।१।६९) सूत्रेण तावतां ग्रहणं बोधनीयम्। अन्यथा बाधकसम्भावनया 'तुल्यास्य' (१।१।९) सूत्रज-शक्तिग्रहेऽप्रामाण्यसन्देहेन 'अणुदित्' (१।१।६९) शास्त्रजबोधानापत्तिः। न चैतद्वाक्यार्थबोधात्प्राक् तन्निश्चय इति।

यद्यपीति। यह व्यक्तिपक्ष में है "पहले वर्णों का उपदेश होता है उसके पश्चात् इत्संज्ञा पश्चात् इत् संज्ञापश्चात् आदिरन्त्येन सूत्र से प्रत्याहार एवं उसके पश्चात् सवर्ण संज्ञा उसके उत्तर काल में अणुदिति् से सवर्ण बोधकता होती है" इस समुदित वाक्य से अन्यत्र सवर्णों का ग्रहण होता है यहाँ इकार, सकार का ग्रहण नहीं करता है यह नाज्झलौ सूत्र के भाष्य में कहे गये वाक्यापरिसमाप्ति न्याय से जानना चाहिए तात्पर्य यह है कि आदिरन्त्येन से प्रत्याहार की सिद्धि होने पर नाज्झलौ के वाक्यार्थ बोध होने पर इसके विषय को छोड़कर सवर्ण संज्ञा बोधनिश्चय के पश्चात् अनुदिति सूत्र से उनका ग्रहण समझना चाहिए अन्यथा बाधक की सम्भावना से 'तुल्यास्य' सूत्र से होने वाले शक्ति ज्ञान में अप्रामाण्य सन्देह होने से अनुदिति सूत्र का बोध नहीं होगा इसके वाक्यार्थ बोध से पूर्व उसका निश्चय नहीं है।

हो ढ इति। हकारेणाऽऽकारग्रहणे सति यद्यत्प्राप्नोति तस्य सर्वस्या-प्युपलक्षणमिदम्। ननु यण्सवर्णिनामप्रसिद्धेरज्ग्रहणेनव सिद्धेऽण्ग्रहणं व्यर्थमत आह—यवला इति। 'अमोऽनुनासिका न ह्रौ' इति शिक्षोक्तेर्यण इति नोक्तम्। तेन 'सँय्यन्ता' इत्यादौ परसवर्णनिष्पन्नानुनासिकयवलानाम् 'अनचि च' (८।४।४७) इति द्वित्वं सिद्ध्यति। हलो यमाम्' (८।४।६४) इति लोपस्तु वैकल्पिकः। अत्रेदं बोद्धयम्—व्यक्तिः पदार्थो गुणा भेदका इत्यभिमानेनात्र सूत्रेऽग्रहणमिति।

होढइति। हकार से आकार के ग्रहण होने पर जो जो प्राप्त होता है उस सबका यह उपलक्षण है। यण् के सवर्णनीय प्रसिद्ध नहीं है तब तो अच् के ग्रहण से कार्य चल जायेगा अतः अण् ग्रहण व्यर्थ है। इसी से कहते हैं। यवलाइति। अमोऽनुनासिका इत्यादि शिक्षा के कथनानुसार यण् नहीं कहा। इसी से सँय्यन्ता इत्यादि में परसवर्ण से निरपन्न अनुनासिक य व ला का अनचि च से द्वित्व सिद्ध होता है हलो यमाम् से लोप

तो विकल्प से होता है यहाँ यह समझना चाहिए—व्यक्तिपक्ष है और गुण भेदक होते हैं इस अभिमान से इस सूत्र में अण् ग्रहण है।

'अतो भिसः' (७।१।९) इत्यादौ तपरकरणात् 'सहिवहो' (६।३।११२) इति सूत्रस्थवर्णग्रहणाद्व्याख्यानाच्च तपरपदे बहुव्रीहिपञ्चमीतत्पुरुषावित्याह—तः पर इत्यादिना। वर्णग्रहणे तु तत्सामर्थ्यादत्वावच्छिन्नसर्ववर्णग्रहणबोधनेन तपरसूत्राप्रवृत्तिः। आद्योदाहरणम् 'अतो भिसः' (७।१।९) इति। अन्योदाहरणं 'वृद्धिरादैज' (१।१।१) इति। यद्यप्यत्र सञ्ज्ञा तात्परा, न च तत्समकालस्तत्सवर्णो वा प्रसिद्धस्तथापि तपरकरणाद् भाष्यप्रामाण्याच्च तात्परशब्दबोद्धयो वर्णः स्वसमकालग्राहक इत्यर्थेनादोषः। इदं च विद्धयर्थमेवाणग्रहणानुवृत्तेः। गुणानां भेदकतयाऽनणि विधित्वेऽपि 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) इत्यादावाकारांशे सावकाशेनानेन 'अतो भिस' (७।१।९) इत्यादौ परत्वेन 'अणुदित्' (१।१।६९) सूत्रबाधः। संख्याकृतव्यवहारस्य परस्परपरिहारेणैव दृष्टतयेह विरोधस्य सत्त्वात्। गुणानामभेदकत्वे त्वनवकाशत्वाद् बाध इति बोद्ध्यम्। अत्रावश्यंवधिमतोः साजात्येन वर्णस्यैव सञ्ज्ञात्वेऽपि विशिष्टाद्विभक्त्युत्पत्तिः सौत्रत्वाद् बोध्या। तत्कालस्येत्यस्य तदुच्चारणकालसमकालस्येत्यर्थस्तदाह—समकालस्यैवेति। एवकारो न्यायसिद्धबाध्यबाधकभावस्यानुवादक इति भावः। जातिपक्षे तु नियमार्थमेव सवर्णग्रहणानुवृत्तेः। एवं गुणानामभेदकत्वमिति 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) इति सूत्रभाष्यसम्मतसिद्धान्तपक्षेऽपि नियमार्थमेव। इदम् 'आद् गुणः' (६।१।८७) इत्यादौ विभक्तितकारे न प्रवर्त्तते। 'उपसर्गादृति' (६।१।९१) इति तपरकरणात्। 'ऋदोरप्' [३।३।५७] इत्यादौ दकार एवेति न दोषः। स च पञ्चमीसमासाभावे तकार इवोच्चारणार्थो मुखसुखार्थो वा। 'तपर' [१।१।७०] सूत्रे दकारप्रश्लेषपक्षे तु धकारादिस्थानिको दकारो बोध्यः।

अतो भिसः इत्यादि में तपर करने से सहिवहोः सूत्रस्थ वर्ण ग्रहण से तथा व्याख्यान से तपर पद में बहुव्रीहि एवम् पंचमी तत्पुरुष समास है। जैसा कि कहा है तः पर इत्यादिना। वर्ण ग्रहण करने पर तो उसकी सामर्थ्य से अत्व से युक्त सभी वर्णों के ग्रहण बोधन से तपर सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रथम बहुव्रीहि का उदाहरण अतोभिस है द्वितीय पंचमी तत्पुरुष का उदाहरण वृद्धिरादैध् है। यद्यपि यहाँ संज्ञा तकार से परे नहीं है और न उसका समकाल है तथा सवर्ण प्रसिद्ध है तो भी तपर करने से और भाष्य के प्रामाण्य से तकार से परे जो शब्द से बोध्य वर्ण है वह अपने समकाल का ग्रहक होता है। यह अर्थ समझना चाहिए अण् ग्रहण की अनुवृत्ति न होने

से यह विद्धयर्थ ही है गुणों के भेदक पक्ष मानने से अण् में विधि होने पर भी वृद्धि राद्धैच् इत्यादि में आकारांश में सावकाश होने से अतोभिस ऐस् में परत्व होने से अणुदिति सूत्र का बाध होता है। संख्याकृत व्यवहार का आपस में परिहार से देखने से यहाँ विरोध है। गुणों के अभेदकत्व पक्ष में तो अनवकाश होने से बाध होता है यहाँ अवधि और अवधिमान के साजात्य से वर्ण की संज्ञा होने पर भी विशिष्ट से विभक्ति की उत्पत्ति सौत्र है तत्कालस्य का उसके उच्चारण काल के समकाल अर्थ है। समकाल्यैव एवकार न्यायसिद्ध बाधबाधक भाव का अनुवाद है। जातिपक्ष में तो सवर्ण ग्रहण की अनुवृत्ति से नियमार्थक ही है। इस प्रकार से वृद्धिराद्धैच् सूत्र के भाष्य सम्मत गुणों के अभेदकत्व पक्ष में भी नियमार्थ है यह आदिगुणः इत्यादि में विभक्ति के तमार में प्रवृत्ति नहीं होता है इसमें प्रमाण उपसर्गाद्दिति में तपर करण ही है। अन्यथा उस सर्गाति के तकार के परे ह्रस्व ऋकार ही ग्रहित होता। फिर तपर करण व्यर्थ ही था। ऋदोरप् में दकार होने से दोष नहीं है। वह दकार पंचमी समास के अभाव में तकार की तरह उच्चारण के लिए अथवा मुख सुखार्थ है तपर सूत्र में दकार के प्रश्लेष पक्ष में तो धकार के स्थान में होने पर दकार जानना चाहिए।

वृद्धिरादैच् [१।१।१] वृद्धिः, आत्, ऐच् इति पदत्रयमिति न समासान्तादिप्रवृत्तिशङ्का। तपरकरणमसन्देहार्थतया पूर्वार्थं प्रकृतसूत्रे भाष्येऽत्र शास्त्रे गुणानामभेदकत्वं ज्ञापकाश्रित्य सवर्णग्रहणार्थत्वाभावस्योक्तत्वात्। 'कृष्णौत्कठ्यं' 'गङ्गौघः' इत्यादौ त्रिमात्रव्यावृत्तये परार्थमपि। वृद्धिशब्दोऽत्र पदपरोऽर्थपरत्वासम्भवात्। आदैचो वृद्धिपदाभिन्ना इति वाक्यार्थः। पदपदार्थयोः [१] तादात्म्यस्याङ्गीकारात्।

'रामेति द्वयक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः'

इत्यादौ तयोरभेदप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वादित्यन्यत्र विस्तरः। वृद्धिशब्दस्य सञ्ज्ञात्वं तु व्याख्यानात्। विधेयत्वेऽपि तस्य पूर्वपाठो मङ्गलार्थः। 'अपृक्त एकाल्' (१।२।४२) इत्यादौ तथा करणं विधेयस्य प्रथमं प्रयोगेऽसाधुत्वभ्रमनिवारणायेति भाष्ये स्पष्टम्। सर्वशब्दानां सर्वार्थवाचकत्वेऽपि वाचकत्वस्य गृहीतस्यैव बोधजनकतया सञ्ज्ञासूत्राणामज्ञातशक्तिज्ञापकतया विधित्वम्। (२) किञ्च 'सर्वे सर्वार्थाः' इत्यभ्युपगमो योगिदृष्टया नास्मद्दृष्टया, सर्वशब्दानामर्थानाञ्च विशिष्यज्ञानाभावात्। सामान्यतस्तथा ज्ञानञ्च न बोधोपयोगि। शास्त्रं त्वस्मदाद्युद्देशेनैव प्रवृत्तमिति बोद्धयम्। तत्रैव सङ्केतग्राहकशास्त्रकरणं स्वेच्छयैवेत्येषां यदृच्छाशब्दत्वेन व्यवहारः, स्वेच्छया सञ्ज्ञाः क्रियन्त इति च। एतदुपदेशरूपसंकेतात्प्राक् तत्र सञ्ज्ञा-

त्वाग्रहेण तासामनित्यत्वव्यवहारः। अत एव तत्तत्सञ्ज्ञाकरणज्ञानरूप-प्रकरणादन्यार्थाग्रहणरूपनियमः कृत्रिमाकृत्रिमन्यायमूलतयोक्तः संख्यासञ्ज्ञा-सूत्रे भाष्ये। आर्थिकमेवामुं नियममादाय सञ्ज्ञासूत्रेषु नियमत्वव्यवहारो व्यवहाराय नियमः सञ्ज्ञायाः सञ्ज्ञिनि कचिदित्यादिना कृतः। वाचकता-बोधकत्वेऽपि तदनुत्पादकत्वान्न शब्दार्थसम्बन्धनित्यताहानिः। आसाञ्च शिष्टप्रयुक्तत्वात्साधुत्वमित्यन्यत्र विस्तरः। कार्यकालपक्षे 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) इत्यादौ वृद्धिपदार्थजिज्ञासायां 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) इत्युपस्थितया तदर्थबोधरूपे शक्तिग्रहे वृत्ते विधिवाक्यार्थबोधः। अत एव 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) इति सूत्रे भाष्ये—'कार्यकालं सञ्ज्ञापरि-भाषं भस्येत्युपस्थितमिदं भवति' 'यचि भमिति' इत्युक्तम्। 'ईदूदेद्' (१।१।११) इति सूत्रे भाष्येऽपि 'कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषं, प्रगृह्यः प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति इदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमिति।' 'निष्ठा' (३।२। १०२) इति सूत्रे कैयटोऽपि 'निष्ठेत्युक्ते सञ्ज्ञावाक्यं क्तक्तवतू निष्ठेऽति स्मर्यते' इत्याह। अत्र पक्षे एकत्र शक्तिग्रहे वृत्तेऽपि तत्प्रदेशस्थस्यैव तत्रार्थे शक्तिरिति सम्भावनया प्रदेशान्तरस्थे बोधो न स्यादिति सर्वप्रदेशेषु तत्त-त्पदशक्तिग्रहपूर्वकं विविधवाक्यार्थबोधः। यथोद्देशे तु एकदैव शक्तिग्रहा-त्सर्वत्र बोध इति विशेषः। एतेन 'कार्यकालपक्षे तपरत्वं स्पष्टार्थमेव। आदैच्पदार्थस्य वृद्धिविशेषणतया विधेयत्वेन सवर्णग्रहणाप्रसक्तेः। यत्र वृद्धि-पदं तत्रादैजित्युपतिष्ठते इति क्रमेण सञ्ज्ञासूत्रणामर्थात्' इत्यपास्तमित्य-न्यत्र विस्तरः। अत्रातद्भावितानामपि आदैचां ग्रहणं, तेन शालीयादि-सिद्धिः।

बृद्धिराद्वैच्। बृद्धि, आत्, ऐच्। ये तीन पद है द्वन्द्व समास नहीं है। इसी से समासान्त होने की कोई शंका नहीं है। तपरकरण असन्देहार्थ होने से पूर्व के लिए है प्रकृतसूत्र के भाष्य में लिखा है कि इस शास्त्र में गुणों में अभेदकत्व पक्ष ज्ञापक से स्वीकार करके सवर्ण ग्रहण नहीं होता है।

कृष्णौत्कव्य गङ्गौघः इत्यादि में तीन मात्रा वाले आदेश की व्यावृत्ति के लिए पदार्थ भी है। यहाँ बृद्धि पद अर्थ परत्व के सम्भव न होने से पद परक है आदैच् बृद्धि पद से अभिन्न है। यह उसका अर्थ है क्योंकि पद और पदार्थ का तादात्म्य स्वीकार करते हैं राय यह दो अक्षरवाला नाम पिनाकी (शिवा) के मानभंग का कारण है इत्यादि स्थल में अभेद प्रतीत अनुभव सिद्ध है। यह राम शब्द तथा उससे बोध्य व्यक्ति ऐक्य स्पष्ट प्रतीत होता है व्याख्यान से वृद्धि शब्द संज्ञा है यद्यपि वृद्धि में विधेयता है

तो भी मंगल के लिए उसका प्रथम पाठ है अन्यथा अदैच वृद्धि कक्षा था क्योंकि उद्देश के पश्चात् ही विधेय होता है। अपृक्त एकाल् में अपृक्त का पूर्व पाठ विधेय के प्रथम प्रयोग में असाधुत्व भ्रम के निवारण के लिए ही ऐसा भाष्य में स्पष्ट है सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं। ऐसा स्वीकार करने पर भी ग्रहीत वाचकत्व में बोध-जनकता होने से भ संज्ञा सूत्र अज्ञात शक्ति के ज्ञापक होने से विधि रूप है और सभी सवार्थ के वाचक हैं यह सिद्धान्त की योगिजनों की दृष्टि में हो सकता है। हम लोगों की दृष्टि में होना सम्भव नहीं है क्योंकि सभी शब्दों तथा सभी अर्थों का विशेष रूप से ज्ञान सम्भव नहीं है और सामान्य रूप से ज्ञान बोध में उपयोगिता नहीं रखता है शास्त्र तो हम लोगों को उद्देश करके ही प्रवृत्त हुआ है वहाँ संकेतग्राहक शास्त्र का करना अपने इच्छा से ही है। इसलिए इनमें यदृच्छा शब्द से व्यवहार होता है और अपने इच्छा से संज्ञा की जाती है। इस उपदेश रूप संकेतपूर्व वहाँ संज्ञात्व का ज्ञान न होने से उनका अनित्यत्व व्यवहार भी होता है। इसी से उन-उन संज्ञाओं के करने से ज्ञानरूप प्रकरण से अन्य अर्थों का ग्रहण नहीं होता है। यह कृत्रिमाकृत्रिम न्याय का मूल संख्या संज्ञा सूत्र के भाष्य में कहा है। इस आर्थिक नियम को लेकर ही संज्ञासूत्रों में नियमत्व का व्यवहार, व्यवहार के लिए कही संज्ञा का संज्ञी में नियम होता है। इत्यादि से किया है। वाचकता की बोधकता होने पर भी उसके उत्पादक के अभाव में शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता में कोई हानि नहीं है। शिष्ट प्रयुक्त होने से इनमें साधुता है। यह बिस्तार अन्यत्र स्पष्ट है। कार्यकाल पक्ष में मृजेर्वृद्धिः इत्यादि में वृद्धि पदार्थ की जिज्ञासा में वृद्धि शदैच् की उपस्थिति होने से उसके अर्थ का बोध रूप शक्तिज्ञान होने पर विधि शास्त्र का वाक्यार्थ बोध होता है। इसीलिए ष्यङसम्प्रसारणम् सूत्र के भाष्य में—कार्य काल इत्यादि कहकर भस्य की उपस्थिति में यचिमम् की उपस्थिति होती है। ईदूदेद्। सूत्र के भाष्य में भी कार्यकाल पक्ष में प्रगृह्य और प्रकृतया की उपस्थित ईदूदेत् में होती है। निष्ठा सूत्र में कैयट ने भी कहा है कि निष्ठा कहने पर क्त क्त वत् निष्ठा। इस संज्ञा वाक्य का स्मरण होता है। इस कार्यकाल पक्ष में एक स्थान में शक्तिग्रह होने पर भी उन-उन प्रदेस्थ की ही उस अर्थ में शक्ति है। इस सम्भा-वना से अन्य प्रदेश में स्थित में बोध नहीं होगा इसलिए सभी प्रदेशों में तत् तत् पद की शक्ति के ज्ञानपूर्वक ही विधिशास्त्र का वाक्यार्थ बोध होता है। यथो देश पक्ष में तो एक बार ही शक्तिग्रह होने से सभी स्थानों में बोध होता है। यह इन दोनों पक्षों में भेद है। उक्त विवेचन से कार्यकाल पक्ष में तपरत्व स्पष्टार्थ ही है क्योंकि अदैच् पदार्थ वृद्धि के विशेषण होने से, विधेय होने से सवर्ण ग्रहण की प्राप्त नहीं है क्योंकि सवर्ण बोधकता विधीयमान से अतिरिक्त स्थान में होती है। जहाँ वृद्धि पद का श्रवण हो वहाँ अदैच की उपस्थिति होती है। यह क्रम से संज्ञा सूत्रों का अर्थ है। यह कथन उनका निरस्त है। यहाँ अवद्भावित आदैचों का ग्रहण होता है जिससे शालीय इत्यादि में वृद्धाच्छः से छः होता है।

भूवादयो (१) (१।३।१)। (२) क्रियावाचिनः किम् ? विकल्पार्थकवाशब्दस्य निपातस्य धातुत्वेऽप्रातिपदिकत्वात्सुबभावे पदत्वानापत्तेः। तदुक्तौ तु न दोषः। वार्थस्य विकल्पस्य भूतभविष्यत्कालसम्बन्धाभावेन क्रियात्वाभावात्। अस्त्याद्यर्थस्यापि तत्त्वं भूतभविष्यत्कालसम्बन्धात्। भ्वादयः किम् ? 'आणवयति' 'वट्टयति' इत्यादीनां धातुत्वे शास्त्रविषयतया (१) साधुत्वापत्तेः। (२) सूत्रशेषे भाष्ये स्फुटमेतत्। स्तम्भ्वादीनामुदित्त्वेन धात्वधिकारविहितकार्योद्देश्यत्वादिना स्थितपाठभ्रंशानुमानान्न तेषु दोषः।

भूवादया क्रियावाचिनः किम् निपात विकल्प अर्थ वाले वा शब्द की धातु संज्ञा होने से प्रातिपदिक संज्ञा के अभाव में पद संज्ञा नहीं होगी। क्रियावाची कहने पर निपात 'वा' के अर्थ में भूत भविष्य काल में सम्बन्ध के अभाव में क्रियात्व नहीं है अस्त्य आदि के अर्थ को भूत भविष्यकाल के सम्बन्ध से क्रियावाचित्व नहीं है। भ्वादयः किम्। आणवयति वट्टयति इत्यादि की धातु संज्ञा होने पर शास्त्र विषयता होने से साधुता होने लगेगी। इस सूत्र के अन्त में भाष्य में स्पष्ट है स्तम्भु आदि की उदित् होने से धातु के अधिकार में होने वाले कार्यों के उद्देश होने से उनके पाठ का भ्रंश होना अनुमान से सिद्ध होता है इसलिए उनमें दोष नहीं है।

भूवादया में यदि भूश्च वाच् भूवौ आदी येषाम् यह विग्रह किया जाये तो सह विवक्षा के अभाव में द्वन्द्व नहीं होगा क्योंकि एक धर्म विच्छिन्न में भू और वा का अन्वय नहीं है अर्थात् भू का प्रभृतिवाची आदि में अन्वय है और 'वा' का सादृश्यवाची आदि में अन्वय है। क्रिया वाचित्वेन सादृश्य नहीं ले सकते हैं क्योंकि सादृश्य प्रतियोगितावच्छेदक् व्यापक धर्म ही सादृश्य का नियामक होता है प्रकृति में 'वा' सदृश में सादृश्य का प्रतियोगितावच्छेदक वात्व का व्यापक क्रिया वाचित्व नहीं हैं। क्योंकि अव्यय वा शब्द में भी वात्व है परन्तु क्रिया वाचित्व नहीं है। इसलिए परस्पर साहचर्य ग्रहण कर क्रियावाचित्व लेना चाहिए। परस्पर सादृश्य इस प्रकार है—भूवादयश्च् भूवादयश्च् यह तन्त्र से निर्देश है। भू 'वा' दोनों का दोनों आदि में अन्वय है। 'भू' के साहचर्य से 'वा' अनव्यय लिया जाता है। अनव्यय 'वा' क्रियावाची है उसके साहचर्य से 'भू' भी क्रियावाची का ग्रहण है। अथवा वा शब्द असत्ववाची है उसके साहचर्य से 'भू' भी असत्ववाची लिया जाता है। असत्ववाची भू क्रियावाची है। उसके साहचर्य से 'वा' भी क्रियावाची लेंगे।

प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६)। 'अधिरीश्वरे' (१।४।९७) इत्यभिव्याप्य प्राङ्निपाता इत्यधिकारः। प्राक् निपाताः सन्तो गत्यादिसञ्ज्ञका इत्यर्थः। तेन ताभिः समावेशः 'अधिरीश्वरे' (१।४।९७) 'विभाषा कृञि' (१।४।

९८) इत्यत्र निपातपदसम्बन्धश्च सिद्धः। एषां द्योतकत्वं वाचकत्वञ्च यथाकार्यं यथाप्रयोगं बोद्ध्यमित्यन्यत्र विस्तरः।

असत्वे इति पर्युदासो लाघवादित्याह–अद्रव्येति। (३) विशेष्यतया द्रव्यभिन्नार्था इत्यर्थः। तेन क्रियाविशिष्टद्रव्यवाचिनां विप्रादिघटकप्रादीनां न। चादयः किम् ? स्वरादिपठितानामसत्त्ववृत्तित्वे आद्युदात्तात्वं मा भूदिति।

प्राग्रीश्व अधिरीश्वरे पाङ् निपाता का अधिकार है। अर्थात् पहले निपात होकर गत्यादि सञ्ज्ञक होते ही इससे उन संज्ञाओं का समावेश है और अधिरीश्वरे विभाषा कृञि में निपात पद का सम्बन्ध भी सिद्ध होता है इनमें द्योतकता और वाचकता दोनों ही प्रयोगानुसार समझना। असत्वे यह लाघव के कारण यर्युदास है। इसीलिए कहते है अद्रत्येति विशेषता से द्रव्य से भिन्न अर्थ वाले होना चाहिए इससे क्रिया विशिष्ट द्रव्य वाची विप्र शब्द में मध्यस्थ प्रादिकों की संज्ञा नहीं होती है।

चादि ग्रहण स्वर आदि में पठित की असत्व वृत्ति होने पर आद्युदात्तत्व निवारण के लिए है अन्यथा निपात संज्ञा होने पर निपाताआद्य उदात्त से आद्युदात्तव्य हो जाता।

उपसर्गाः (१।४।५९) योगग्रहणं यदर्थे प्रादीनामन्वयः (४) तं प्रत्येवोपसर्गत्वादित्यर्थबोधनाय। तेन विगताः सेचका अस्माद्विसेचको ग्राम इत्यादौ षत्वं न।

उपसर्गाः योग ग्रहण का फल यह है कि जिस अर्थ से प्रादिकों का अन्वय ही उसके प्रति ही उपसर्ग संज्ञा हो इस अर्थ के लाभ के लिए ही इसी से विसेचको ग्रामः में सत्व नहीं होता है। विगतः सेचका इस विग्रह में गम् धातु के प्रति वि का उपसर्गत्व ही सिंच के प्रति नहीं है।

गतिश्चेति। 'च' उपसर्गसञ्ज्ञासमावेशार्थः। तेन 'प्रतिप्रणीतम्' इत्यादौ गतित्वात् 'गतिरनन्तरः' (६.२।४९) इति स्वर उपसर्गत्वात् णत्वञ्च सिद्ध्यति। प्रादय इति योगविभागस्तु क्रियायोगाभावेऽपि निपातत्वाय एतत्सिद्धमेवोपसर्गप्रतिरूपकस्य निपातत्वमुक्तं चाद्यन्तर्गणसूत्रेणेति दिक्। प्रपरेत्यादावनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षया सुबनुत्पत्तिः। निस्दुसिति। अत्रेदं बोध्यम्—सान्तग्रहणे रान्तस्याग्रहणमेव। यत्र तु रुत्वमसिद्धं तत्र रान्तग्रहणेऽपि न सान्तग्रहणं तद्दृष्टया रुत्वस्यासिद्धत्वात्। यत्र तु रुत्वस्य सिद्धत्वं यथा षत्वणत्वयोस्तद्विषयोपसर्गत्वप्रतिषेधपरे 'दुरः षत्वणत्वयोः' (का० वा०) इति वार्त्तिके कृतरेफसान्तस्यापि ग्रहणम् षत्वणत्वयोरित्यस्य

तद्विधायकशास्त्रयोरित्यर्थात् । (१) अत एव सुषामादिषु दुःष्ठुशब्दपाठः सार्थकः । स हि 'अपदुःसुषु स्थः कुः' (उ० सू० २५) इति दुस्पूर्वकस्था-धातोः कुप्रत्यये साधुः । अन्यथा दुस्पूर्वकात्कुप्रत्यये 'उपसर्गात्' (८।३।६५) इत्येव षत्वे सिद्धे (२) तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । न चास्य रूढत्वेनावयवार्थाभा-वादुपसर्गत्वाभावः । अत्यन्तरूढेषु प्रतिष्ठानिष्ठादिषु षत्वानापत्तेः । अर्थव-त्त्वारोपेण चेत्प्रकृतेऽपि । दुसः पाठस्तु 'दुरयते' इत्यादौ रुत्वासिद्धया लत्वा-भावार्थ इति दिक् ।

गतेश्चेति । चकार उपसर्ग संज्ञा समावेश के लिए है । उपसर्ग संज्ञा होने से प्रतिप्रणीतम् इत्यादि में गति होने पर गतिरन्तरः से स्वर और उपसर्ग होने से णत्व भी सिद्ध होता है । प्रादयः के योग विभाग से क्रियायोग के अभाव में निपात संज्ञा होती है । इससे सिद्ध अर्थ को मानकर ही उपसर्ग प्रतिरूपक की निपात संज्ञा चाद्यन्तर्गण सूत्र से की है । प्रपरा में अनुकार्य अनुकरण की अभेद विवक्षा मानने से ही विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती है । निस्दुसिति यहाँ यह जानना चहिए कि सान्त के ग्रहण में रात का अग्रहण ही है और जहाँ अत्व असिद्ध है वहाँ रात के ग्रहण में भी सान्त का ग्रहण नहीं होता है । क्योंकि उसकी दृष्टि में सत्व असिद्ध है और जहाँ कत्व सिद्ध है जैसे सत्व और णत्व में उनके विषय में उपसर्गत्व को निषेधक से वाले दुरःषत्वणत्वयोः वार्तिक में कतरेफसान्त का भी ग्रहण है अर्थात वहाँ सकार के स्थान में रेफ है । षत्वणत्वनोः का अर्थ है षत्वणत्व विधायक सूत्र इसी से सुषामादिषु में दुष्ठु शब्द का पाठ सार्थक है वह अपदुःसुषु स्थः कुः से दुस्पूर्वक स्था धातु से कु प्रत्यय करने से सिद्ध है नहीं तो दुस्पूर्वक से कु प्रत्यय से कू उपसर्गाति से सत्व सिद्ध होने पर वह व्यर्थ ही था । इसमें फढ़ होने से अवयवार्थ के अभाव में उपसर्गत्व नहीं होगा यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अत्यन्त रूढ़ प्रतिष्ठा निष्ठा आदि में सत्व नहीं होगा यदि वहाँ अर्थ वत्व का आरोप किया जाय । तो प्रकृत में भी आरोप होगा । दुस् का पाठ इसलिए किया है कि दुरयने में सत्व के असिद्ध होने से लत्वन हो ।

न वेति (१।१।४४) । इतिर्लोकेऽर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत् । यथा 'गवित्ययमाह' इत्यादावनुकरणे । इह तु 'स्वं रूपम्' (१।१।६८) इति परिभाषणाच्छब्दपदार्थकस्यार्थपदार्थकत्वकृत् । क्वचित पदार्थविपर्यासकत्वं यथाऽनुवादवाक्ये । स च नवाशब्दाभ्यां प्रत्येकं सम्बध्यते व्याख्यानात् । तेन नवाशब्दयोरर्थौ संज्ञिनौ । स्वं रूपमित्यस्य प्रत्याख्याने तु (३) इति-शब्दोव्यर्थ एव; अर्थे कार्यस्याबाधात् । तयोरेव संज्ञित्वे तु 'विभाषा श्वेः'

(६।१।३०) इत्यादौ नवाशब्दावादेशौ स्याताम्। प्राप्तविभाषासु नास्योपयोगः, तासां पक्षे निवृत्तिमात्रफलकत्वात्। अप्राप्तविभाषास्वपि न, तासां पक्षे विधिमात्रार्थत्वात्, अप्राप्तत्वेन निषेधासम्भवाच्च। तस्मादुभयत्र विभाषार्थमिदम्। 'विभाषा श्वे' (६।१।३०) इत्यादौ एतद्भावे यदि विधिमुखेन प्रवृत्तिस्तर्हि पित्स्वेव विकल्पः स्यात्। कित्सु तु नित्यमेव सम्प्रसारणं स्यात्। निषेधमुखेन प्रवृत्तौ कित्स्वेव प्रवर्त्तेत न पित्सु। उभयथा प्रवृत्तिस्तु वैरूप्याद्वाक्यभेदापत्तेश्चाशक्या। सञ्ज्ञाकरणे तु श्रुतक्रमानुरोधात्पूर्वं कित्सु निषेधस्ततः किदकिद्रूपे सर्वस्मिन् लिटि ऐकरूप्यं प्रापिते सति पक्षे भवतीत्येकरूपेण विधिमुखेनैव विकल्पः। भाष्यकृतस्तु एव हि 'हृकोरन्यतरस्याम्' (१।४।५३) इत्यादावनुपपत्तिविभाषापदाभावात। इतिशब्दस्य 'विभाषा' इत्यत्रापि सम्बन्धात् विभाषापदार्थः सञ्ज्ञेति तु न युक्तम्, अर्थे सञ्ज्ञात्वस्यादृष्टत्वात्। अर्थाक्षिप्तशब्दमात्रं सञ्ज्ञेत्यपि न युक्तम्। एकस्यार्थस्य समानफलकानेकसञ्ज्ञकरणस्य 'अनाकृतिः सञ्ज्ञा' इति वृद्धिसञ्ज्ञासूत्रस्थभाष्येण तिरस्कारात्। तस्मात्तत्र लक्ष्यानुसारेणैवोभयमुखेन प्रवृत्तिर्वाच्येति विभाषापदघटितेऽपि तथैवास्तु किं सूत्रेणेति जातिव्यक्तिपक्षयोरुभयोरपि सूत्रं प्रत्याचख्युः।

न वेति। श्लोक में अर्थ पदार्थक का शब्द पदार्थकत्व करने वाला है। जैसे गवित्यमाह इत्यादि अनुकरण में होता है। इस सूत्र में स्वं रूपम् के कहने से शब्द पदार्थक को अर्थ पदार्थकत्व करता है कहीं इति पदार्थ के विपर्यास को करता है जैसे अनुवाद वाक्य में उस इति का नवा प्रत्येक शब्द से सम्बन्ध होता है इससे नवा शब्द के अर्थ संज्ञी है। स्वं रूपम् के प्रकाष्पान पक्ष में तो इत् शब्द व्यर्थ ही है क्योंकि अर्थ में कार्य का बाध नहीं होता है। नवा को ही संज्ञी मानने पर तो विभाषाश्वेः इत्यादि में नवा शब्द की आदेश होने लगते प्राप्त विभाषा में इसका कोई उपयोग नहीं है। क्योंकि प्राप्त विभाषाओं के पक्ष में निवृत्ति मात्र ही फल है। अपर्याप्त विभाषाओं में नहीं है क्योंकि उनका पक्ष में विधि मात्र ही फल है और अपर्याप्त होने से निषेध की सम्भावना सी नहीं है इसलिए दोनों स्थानों में विकल्प के लिए यह सूत्र ही विभाषाश्वः इत्यादि में यदि इसके अभाव में विधि मुख से प्रवृत्ति होगी तो पित् में ही विकल्प होगा। किन्तु प्रत्ययों में नित्य ही समप्रसारण होगा निषेध मुख से प्रवृत्त में कित् में प्रवृत्ति होगी पित् प्रत्ययों में नहीं होगी। उभयथा प्रवृत्ततो वैरूप्य और वाक्यभेद होने से असम्भव है। संज्ञा करने पर तो श्रुत क्रम के अनुरोध से पहले कित् में निषेध होता है। फिर कित् अकित् रूप सभी लिट् में एक रूप प्राप्त

होने पर पक्ष में होता है इस एक रूप विधि मुख से ही विकल्प होता है भाष्यकार का कथन है—'इस प्रकार से ह्रक्रोरन्यतरस्याम् इत्यादि में विभाषापद के अभाव से अनुपपत्ति होगी। इत् का विभाषा में सम्बन्ध होने से विभाषा पदार्थ संज्ञा है यह कहना उचित नहीं है क्योंकि अर्थ में संज्ञात्व दृष्टि पथ में अवतीर्ण नहीं होता है। अर्थ से आक्षिप्त शब्द मात्र संज्ञा यह भी उचित नहीं है क्योंकि यह अर्थ की समान फल वाली अनेक संज्ञा नहीं करना चाहिए अनाकृति संज्ञा इससे बृद्धि संज्ञा विधायक सूत्र के भाष्य में तिरस्कार किया है। इसीलिए वहाँ लक्ष्यानुसार उभयमुख से प्रवृत्ति कहनी चाहिए विभाषापद से युक्त में उसी प्रकार से कार्य होगा सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है इस प्रकार से जाति तथा व्यक्ति दोनों ही पक्षो में सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। इस सूत्र में नवा द्वन्द है। विभाषा पदार्थ में होने का अन्वय स्वीकार करने से सादित्य रादित्य की कल्पना व्यर्थ है।

स्वं रूपं श (१।१।२८) स्वं रूपमित्यस्य बोध्यमिति शेषो व्याख्यानात्; तदाह—संज्ञीति। राज्ञो यत्' इत्यादौ लौकिकव्युत्पत्त्योपस्थितार्थस्य प्रत्यये पौर्वापर्यासम्भवात्प्रातिपदिकादित्यनेनान्वयासम्भवाच्च तदर्थकशब्दमात्रग्रहणापत्तौ नियमार्थं सूत्रम्। तत्र स्वशब्द (१) आत्मीयत्वेनार्थमाह। रूपशब्देन शब्दस्वरूपम्। 'एतदुभयं सञ्ज्ञीत्यर्थः। तत्रार्थो न विशेष्यः, उक्तयुक्तेः। किन्तु शब्दविशेषणम्। एवञ्चार्थविशिष्टः शब्दः सञ्ज्ञीत्यर्थवद्ग्रहणपरिभाषा सिद्धा। अत्र चार्थः कल्पितान्वयव्यतिरेककल्पितः प्रकृतिप्रत्ययादिबोध्यः शास्त्रीयोऽपि। स च मुख्यः प्रसिद्धश्चेति गौणमुख्यन्यायः 'अभिव्यक्तपदार्था ये' इति न्यायश्च सिद्धः। अत एवेयं (१) विशिष्टरूपोपादान एव, इदं सूत्रञ्च, तत्रैवार्थोपस्थितेस्तत्रैवानियमप्रसक्तेश्च, न तु वर्णग्रहणे इत्याकरे स्पष्टम्। 'दाधा घ्वः' (१।१।२०) इत्यस्य 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) इत्यादौ चारितार्थ्येन 'उपसर्गे घोः' (३।३।९२) इत्यादौ 'स्वं रूपम्' (१।१।६८) इत्यनेन परत्वाद् बाधशङ्कावारणार्थम्। अशब्दसञ्ज्ञेति। नात्र षष्ठीतत्पुरुषः। कर्मसञ्ज्ञादेरर्थसञ्ज्ञात्वेन निषेधाप्रवृत्तौ 'कर्मण्यण्' (३।२।१) इत्यादौ स्वरूपग्रहणापत्तेः। किन्तु सप्तमीतत्पुरुषः। शब्दपदेन च शब्दशास्त्रं तदाह—शब्दशास्त्रे इति। भाष्ये तु अर्थे कार्यस्य बाधेऽपि उपस्थितत्वात् 'राज्ञः' इत्यादौ तज्जन्यबोधे (२) प्रकारतया भासमानस्य राजन्शब्दस्यैव ग्रहणं भविष्यतीति व्यर्थं सूत्रम्। उपस्थितार्थत्यागे मानाभावेन तस्य विशेषणतयाऽन्वयसम्भवेन च 'अर्थवत्' (प० १४) परि-

भाषाऽपि सिद्धा। लक्ष्यानुसारात् तत्तत्संज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणाच्च षान्त-संख्यावाचकषष्शब्दस्य षटसंज्ञाकरणेन शब्दशास्त्रीयसंज्ञायां स्वरूपाग्रहण-ज्ञापनाच्च 'उपसर्गे घोः' (३।३।९२) इत्यादावदोषेणाशब्दसञ्ज्ञेत्यपि व्यर्थमित्युक्तम्। अत एव जनपदापत्यपशुदेवतादिशब्देषु न दोषः। अत एव वृक्षादिषु विमेषाणां ग्रहणम्, 'स्वे पुषः' (३।४।४०) इत्यत्र पर्यायाणां विशेषाणां स्वरूपस्य च ग्रहणं, 'सभाराजा' (४।२।२३) इत्यत्र पर्यायाणा-मेव ग्रहणं, 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (४।४।३५) इत्यादौ मृगपक्षिणोः पर्यायाणां विशेषाणां स्वरूपस्य च ग्रहणं, मत्स्यपदेन स्वरूपस्य विशेषाणां मीन-रूपपर्यायस्य च ग्रहणं सिद्ध्यति। अन्यथा तदर्थं यत्नः कर्त्तव्यः। 'परेश्च घाङ्कयोः' (८।२।२२) इत्यत्र घशब्देन स्वरूपग्रहणं 'नदीपौर्णमासी' (५।४।११०) इत्यत्र नदीपदेन च स्वरूपग्रहणं सिद्ध्यति। लक्ष्यानुसारिव्याख्या-नेन च मम सर्वेष्टसिद्धिः। ज्ञापकपक्षेऽपि ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वान्न दोषः। अत एव भगवता ज्ञापकेन सिद्धं वचनं प्रत्याख्यातमिति [३] दिक्।

स्वं रूपम् श। स्वं रूपम् का शेष बोध्यम् व्याख्यान से है तो वहीं कहा है संज्ञीति 'रासोयत्'इत्यादि लौकिक कुत्पत्ति से उपस्थित अर्थ का प्रत्यय के द्वारा पौर्वापर्य असम्भव होने से और प्रातिपदिक के साथ अन्वय असम्भव होने के कारण उस अर्थ वाले शब्द मात्र का ग्रहण होने लगता। इसलिए यह सूत्र नियमार्थ है वहाँ वहाँ स्वशब्द आत्मीय होने से अर्थ को कहता है और रूप शब्द से शब्द स्वरूप का ग्रहण ही ये दोनों ही संज्ञी है वहाँ अर्थ विशेष्य नहीं हो सकता है क्योंकि अर्थ में कार्य का बाध है परन्तु वह शब्द का विशेषण है। इस प्रकार से अर्थ विशिष्ट शब्द संज्ञी होता है। इस प्रकार से अर्थवत् परिभाषा सिद्ध होती है। यहाँ वैशिष्ट स्वविषयक बोध जनकत्व है। स्वशब्द से अर्थ का ग्रहण करना चाहिए अर्थात् अर्थ विषयक बोध का जनक शब्द होता है। यहाँ अर्थ कलिपत जो अन्वय व्यतिरेक उनसे कलिपत प्रकृति प्रत्यय से बोध्य शास्त्रों का भी ग्रहण है वह अर्थ मुख्य और प्रसिद्ध होना इसी से गौणमुख्यन्याय और अभिव्यक्ति पदार्थ न्याय सिद्ध होते हैं इसीलिए यह परिभाषा और यह सूत्र विशिष्ट रूप के उपादान में ही लगता है। (आनुपूर्वी से युक्त विषयता के प्रयोजक पद के उपादान में ही) क्योंकि वहाँ ही अर्थ की उपस्थित होती है और वहाँ ही अनियम प्रशक्ति होती है वर्ण ग्रहण में नहीं होती ऐसा भाष्य में स्पष्ट है दा धा धु की ई हल्यधोः इत्यादि में चरितार्थ होने के कारण उपसर्गे घोः इत्यादि में स्वं रूपं से परे होने से बाध शंका वारण के लिए अशब्द संज्ञा का कथन है अशब्दसञ्ज्ञेति। यहाँ षष्ठी तत्पुरुष नहीं है क्योंकि कार्म संज्ञा आदि के अर्थ, अर्थ संज्ञा होने पर निषेध की अप्रवृत्ति होने से कर्मण्यण् इत्यादि में स्वरूप ग्रहण की आपत्ति होती। किन्तु

सप्तमी तत्पुरुष है शब्द पद से शब्द शास्त्र का ग्रहण है इसीलिए कहते है शब्द-शास्त्रेऽइति। भाष्य ने तो कहा है कि अर्थ में कार्य के बाध होने पर भी उपस्थित होने से राज्ञः इत्यादि में उससे होने वाले बोध में विशेषणता से प्रतीयमान् राजन् शब्द का ही ग्रहण होगा तब सूत्र व्यर्थ है। उपस्थित अर्थ के त्याग में प्रमाण न होने से उसको विशेषणता से अन्वय सम्भव न होने से अर्थवत् परिभाषा भी सिद्ध होती है। लक्ष्यानुसार उन-उन संज्ञाओं के करने के ज्ञान रूपी प्रकरण से षान्त संज्ञा वाचक षष् शब्द की संज्ञा करने से षट् शब्द की संज्ञा करने से शब्द शास्त्रीय संज्ञा में स्वरूप ग्रहण नहीं होता है ऐसा ज्ञापन करने से उपसर्ग घोः इत्यादि में दोष के अभाव में अशब्द संज्ञा भी व्यर्थ है। अतः जनपद, अपत्य, पशु, देवता इत्यादि शब्दों में दोष नहीं है। और इसीलिए वृक्ष इत्यादि में विशेषों का ग्रहण होता है स्वे पुषाः में पर्याय विशेष और स्वरूप ग्रहण होता है। समाराजा में पर्यायों का ही ग्रहण होता है।

पक्षिमत्स्यमृगानहन्ति् इत्यादि में मृग और पक्षियों के पर्याय विशेष और स्वरूप का ग्रहण होता है। मत्स्य से स्वरूप विशेष और केवल मीन् रूप पर्याय का ग्रहण सिद्ध होता है अन्यथा उसके लिए यत्न करना चाहिए था परेश्च घाङ्कयों में घ शब्द से स्वरूप ग्रहण और नवीपौर्णमासी में नवी शब्द से स्वरूप ग्रहण सिद्ध होता है यहाँ लक्ष्य के अनुसार व्याख्यान से मेरी सही इष्ट सिद्ध होती है ज्ञापक पक्ष में भी ज्ञापक सिद्ध के सार्वत्रिक न होने से दोष नहीं है इसी से भगवान ने ज्ञापक से सिद्ध वचन का प्रत्याख्यान किया है।

(१) येन वि (१।१।७२)। येनेति करणे तृतीया। विधिरिति भावे किः। कर्मात्र विधेयं, कर्ता चाचार्यः प्रसिद्धत्वाल्लभ्यत एव। यत्तु 'करणं कर्तृपरतन्त्रमिति तृतीयया पारतन्त्र्यं लक्ष्यते, तच्च शब्दानां विशेषणत्वेनेति (२) विशेषणमिति लब्धम्' इति, तन्न, 'सुब्विभक्तौ न लक्षणा' इत्यस्य सर्वसम्मतत्वात्। किं बहुना येषां प्रत्ययानामन्येषां वा शब्दानामर्थे विधानं कृतं शास्त्रेण, तेषामन्यत्रार्थे तदर्थे चान्येषां लक्षणयाऽपि साधुत्वाभावस्य 'प्रत्ययः' (३।१।१) 'पुंयोगाद्' (४।१।४८) इत्यादिभाष्यतो लाभात्। करणस्य व्यापारवत्त्वनियमादन्येषां च व्यापाराभावाद्विशेषणमेवात्र करण-तृतीयान्तेनोच्यते। तस्य चेतरव्यावृत्तिकरणमेव व्यापारः। तदुक्तं भाष्ये—'येनेति करणे एषा तृतीयाऽन्तेन चान्यस्य विधिर्भवति। यथा—चैत्रस्य सङ्ग्रामं हस्त्यश्वादिभिर्विधत्तो, एवम् अचो यदिति अचा धातोर्यतं विधत्त' इति। अन्येन चान्यस्येति। अनेन यस्य कार्यं, यस्मिन्परतश्च, तयोरकरण-त्वं दर्शितम्। अन्यस्येत्यन्यस्मिन्नित्यस्याप्युपलक्षणम्। तत्र शब्दोपस्थित-

विशेष्यस्य तादृशं विशेषणमेव तदन्तग्राहकम् । क्वचित्सति गमके तादृशं शब्दरूपं विशेष्यमादायापि तदन्तविधिः । तच्चान्तरङ्गत्वात्समानाधिकरण-मेव । तत्र तदन्तविधौ सति तथा [३] विशेषणत्वयोग्यताप्येतत्प्रवृत्तौ निमित्तम् । अत एव 'इन्हन्' [६।४।१२] इत्यादौ इनंशे तदन्तविधिः । न हि इन् अङ्गमित्यन्वयो भवति । तदन्तस्येत्यस्य तदन्तशब्दस्येत्यर्थः नन्वेवम् 'एरच्' [३।६।५६] इति 'अयः' इत्यत्र न स्यादत आह—स्वस्य चेति । स्वमित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते इति भावः । 'स्वं रूपम्' [१।१।६८] इत्यस्य प्रत्याख्याने तु तदन्तस्य चेति पाठ्यमिति बोध्यम् ।

येन विधि यह तृतीयाकरण में है। विधि में भाव में कि प्रत्यय है। यह कर्म विधि विधेय है और कर्ता आचार्य है यह प्रसिद्ध होने से प्राप्त है जो कि किसी ने कहा था कि करण कर्ता के परतन्त्र होने से तृतीया से परतन्त्र की लक्षणा से प्रतीति होती है वह शब्दों के विशेषण होने से विशेषण की प्राप्ति होती है परन्तु यह कथन उचित नहीं है क्योंकि सुप् विधि में लक्षणा नहीं होती है इसको सब आचार्य मानते हैं अधिक कहना व्यर्थ है जिन प्रत्ययों का अथवा अप शब्दों का अर्थ में शास्त्र ने अर्थ में विधान किया है उनका अन्य अर्थ में अथवा उस अर्थ में अन्यों का लक्षणा से भी साधुत्व के अभाव का "प्रत्यय और "पुंयोगाद्" इत्यादि सूत्रों के भाष्य से लाभ होता है। करण व्यापारवान होता है अन्य कारक व्यापार से रहित होते हैं इसलिए यहाँ विशेषण की करण तृतीयान्त से कहा जाता है इसलिए यहाँ विशेषण की करण तृतीयान्त से कहा जाता है उस विशेषण का इतर से व्यावृत्त करना ही व्यापार भाष्य में भी कहा है। तेन् यह तृतीयाकरण में है। अन्य से अन्य की विधि होती है। जैसे चैत्र का संग्राम हाथी घोड़ा से होता है। इसी प्रकार अचोयत् अजन्त धातु से यत् का विधान करता है अन्येन चान्यस्य से जिसका कार्य हो और जिसके परे हो वे दोनों करण नहीं होते हैं अन्यस्य या अन्यस्मिन् का भी उपलक्षण है वहाँ शब्द से उपस्थित विशेष्य का उस प्रकार का विशेषण ही तदन्त का ग्राहक है कहीं गमक् होने पर उस प्रकार के शब्द स्वरूप को विशेष्य मानकर भी तदन्त विधि हो जाती है वह भी अन्तरंग होने से समानाधिकरण ही है। जहाँ तदन्त विधि होने पर उस प्रकार के विशेषण की योग्यता भी इसकी प्रवृत्त में कारण है अर्थात निमित्त है अभेदसम्बन्धा वच्छिन्नप्रकारता प्रयो-जकत्वेन संभावितम् स्ववोध्यार्थ निष्ठ चरमा वयवता निरूपक परम बोध्यम् यह येन् विधि का अर्थ है इसी से इन् हन् में इनंश में तदन्त विधि होती है इन ङ् यह अन्वय नहीं होता है तदन्तस्य का अर्थ तदन्त शब्द है उक्तार्थ मानने पर ऐरच् अचः में नहीं होगा। इससे कहते हैं स्वस्यचेति अनुवृत्त स्व का षष्ठी से विपरिणाम् होता है स्वं रूपं के प्रत्याख्यान पक्ष में तो तदन्तस्य पढ़ना होगा।

समासप्र [का० वा०] इति । विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासे तात्पर्य-ग्राहकमिदम् । एवञ्च 'द्वितीयाश्रित' [२।१।४] इत्यादौ श्रितादयोऽधिकारप्राप्तसमर्थैरित्यस्य विशेष्यभूता इति न तदन्तविधिः । तस्य तत्प्रकृतिके लक्षणया 'सुपा' इत्यनेनान्वयः । तेन 'कृष्णं परमश्रितः' इत्यत्र न समासः । 'नडादिभ्यः फक्' [४।१।९९] इत्यादावपि नडादि विशेष्यं, प्रातिपदिकं विशेषणमिति सौत्रनाडिरित्यत्र न फक् ।

समासग्र । विशेषण विशेष्य भाव के व्यात्यास अर्थ विपरीत यह तात्पर्य ग्राहक है इसी प्रकार से "द्वितीयाश्रित" आदि में श्रितादि अधिकार प्राप्त समर्थैः के भविष्य-भूत हो जाते हैं । इससे तदन्त विधि नहीं होती है । उसकी उसके प्रकृति वालों में लक्षना से सुपा के साथ अन्वय होता है । इससे कृष्णम् परमश्रियतः में समास नहीं होता है । इसी तरह नडादिभ्यः फक् इत्यादि में नडादि विशेष्य है प्रतिपादिक विशेषण होने से सौत्रनाडिः में फक् नहीं होता है ।

उगिद् [का० वा०] इति । तेन 'अतिभवती' इत्यत्र 'उगितश्च' [४।१।६] इति ङीप्, 'दाक्षिः' इत्यत्र 'अत्र इञ्' [४।१।९५] च सिद्धः । एवञ्चोक्तनिषेधः प्रत्ययांशे गृह्यमाणप्रातिपदिकविषये, प्रत्ययविधिविषयेण गृह्यमाणप्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इत्यनेनैकवाक्यत्वलाभात् । उगिद्वर्ण' [का० वा०] इति त्वेकदेशानुवाद इति बोध्यम् । अत एव 'वनो र च' [४।१।७] इत्यादौ 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' [प० २३] इत्यस्य नायं निषेध इति दिक् ।

उगदि् इति । इससे अतिभवती में तदन्तविधि होने से उगितश्च में ङी और पाक्षिः में इञ् सिद्ध होता है । इस प्रकार से निषेध प्रत्ययांश गृहामाण प्रातिपदिक विषय में ही प्रत्ययविधि विषय से गृहामाण प्रातिपदकेन इत्यादि के साथ एक वाक्यता का लाभ होता है । उगिद्वर्ण यह एक देश का अनुवाद है । इसी से 'वनो रच' इत्यादि में प्रत्यय ग्रहण तदन्तग्रहण का यह निषेध नहीं है ।

विरामः [१।४।११०] भावे घञ् । शब्दानुशासनप्रस्तावादाह—वर्णानामिति । [१] उच्चारणाभाव इत्यर्थः । स च व्याख्यानात्किञ्चिद्वर्णोच्चारणानन्तरकालिक एव गृह्यते । प्रदेशाः 'वाऽवसाने' [८।४।५६] इत्यादयः । अभावस्यापि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यं, वर्णवत् ।

परशब्दो नान्यार्थोऽन्यत्वस्याव्यभिचरितत्वादत आह—अतिशयित इति । स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायेन रहितः । तेन तव्यवायेन

वाक्योच्चारणे सञ्ज्ञा न। सन्निकर्षश्च प्रायः परेण, क्वचित्पूर्वेणापि। अत एवावसानकार्याणां संहिताधिकारे पाठः। न चावसानसञ्ज्ञया परसत्त्वे 'सावकाशायाः संहितासञ्ज्ञायाः सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति' इति न्यायेन विषयभेदेऽपि [१] बाधः स्यादिति तदसङ्गतिरेवेति वाच्यम्। तदधिकारे तेषां पाठेन 'आकडार' [१।४।१] सूत्रस्य स्वशास्त्रीयसञ्ज्ञामात्रविषयत्व-कल्पनात्। एते तु न तथा, लोकेऽपि सत्त्वात्। तदुक्तं वार्तिककृता-'संहि-तावसानयोर्लोकविदितत्वात् इति। न चावसानकार्येषु संहिताधिकारासम्बन्ध एवास्तु, अग्रे च मन्डूकप्लुतिरस्त्विति वाच्यम्। सत्यामुपपत्तौ मण्डूकानु-वृत्तेरयुक्तत्वात्। ध्वनितञ्चेदं 'विसर्जनीयस्य सः' [८।३।३४] इति सूत्रे भाष्ये। सन्निकर्षः-सामीप्यम्।

विरामः भाव में घञ् प्रत्ययक से विरामः सिद्ध होता है। शब्दानुशासन के प्रस्ताव से कहते हैं वर्णानामिति उच्चारण का अभाव ही उसका अर्थ है वह भी व्याख्यान से किसी वर्ण के उच्चारण के अनन्तर काल वाला ही लेते हैं। वाऽवसाने इत्यादि प्रदेश ही अभाव का भी बुद्धिकृत पौर्वापर्य वर्ण की तरह है। पर शब्द का अन्यार्थ नहीं है क्योंकि उसमें कोई व्यभिचार नहीं है इससे कहते हैं अतिशमित इति एक वर्ण से दूसरे वर्ण के उच्चारण में स्वाभाविक आधी मात्रा से अतिरिक्त काल का व्यवधान नहीं होना चाहिए। इससे अधिक व्यवधान से वाक्योच्चारण करने पर संज्ञा नहीं होती। सन्निकर्ष प्रायः पर से होता है। कहीं पूर्व से भी होता है इसीसे अवसान कार्यों का संहिता के अधिकार में पाठ है अवसान संज्ञा से पर के रहने पर सावकाश संहिता संज्ञा का सत्यपि सम्भव होने पर भी बाध होता है इस न्याय से विषयभेद में भी बाध होने पर भी वह असंगत है। यह कहना भी उचित नहीं है उसके अधिकार उनके पाठ होने से आकडार सूत्र का अपने शास्त्र वाली संज्ञा मात्र विषय स्वीकार करने से दोष नहीं है। लोक में होने से यह इस प्रकार के नहीं हैं। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है कि संहिता और अवसान लोक में प्रसिद्ध है अवसान कार्यों में संहिता अधिकार का असम्बन्ध हो आगे मण्डूक प्लुति होगी। यह कहना भी उचित नहीं है। उपपत्ति होने पर मण्डूकानुवृत्ति करना युक्ति नहीं है। यह विसर्ज-नीय सूत्र के भाष्य में ध्वनित है सन्निकर्ष सामीप्य को कहते हैं।

सुप्तिङ् (१।४।१४)। सुबिति सुपः पकारेण प्रत्याहारो व्याख्या-नात्। यद्यपि 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' (प० २३) इत्युक्तेः शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तग्रहणं सिद्धम्। प्रत्ययेन स्वप्रकृत्यवयवकसमुदायस्याक्षे-पात्तद्विशेषणत्वेन तदन्तविधिरिति न युक्तम्। इयान् इत्यादौ तस्य तादृश-

समुदायेन व्यभिचारेणाक्षेपासम्भवात्, आक्षिप्तस्य शाब्देऽनन्वयाच्च । तथाऽपि सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणाभाव (१) ज्ञापनार्थमन्तग्रहणम् । तेन घसञ्ज्ञा तरप्तमपोरेव, न तदन्तस्य । तेन (२) 'गौरीब्राह्मणितरा' इत्यत्र न ह्रस्वः । (३) एतन्निषेधसामर्थ्यादेव प्रदेशेष्वपि न तदन्तविधिः । न च ज्ञापितेऽपि व्यर्थम्, पदप्रदेशे प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणेनैव सिद्धेरिति वाच्यम् । पदत्वस्य प्रकृतिसाधारणतया पदग्रहणे प्रत्ययग्रहणस्यैवाभावात् । 'यस्मात्प्रत्ययविधिः' (१।४।१३) इत्याद्यनुवृत्तो पदसमुदायस्य न पदत्वम् । 'इयान्' इत्यादौ यस्मात्प्रत्ययविधिरतदादितद्धितान्तत्वं (४) व्यपदेशिवद्भवेन बोद्धयम् । तेनाशास्त्रीयस्याप्येकाच्त्वादेरतिदेशात् । विशिष्टनिष्ठव्यवहारनिमित्तकार्याणि असहायेऽपि कर्तव्यानीति तदर्थात । अत एव 'इयन्मात्रम्' इत्यादौ 'वत्वन्तात्स्वार्थे' इति मात्रच्सिद्धिः । 'हरिषु' इत्यादौ सोस्तु नैवं पदत्वं, 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति निर्देशेन ससहाये तदप्रवृत्तेः । 'निजौ चत्वार एकाचः' इति भाष्यन्तु (१) अभ्युपेत्यवादेन । ध्वनितञ्चेदम् 'आदेच उपदेशे' (६।१।४५) 'तास्यनुदात्तेत्' (६।१।१८६) इत्यादौ भाष्ये । तत्र हि 'ढौकते' इत्यौकारस्य 'हतः' इत्यादावकारस्यैजन्तोपदेशत्वमकारान्तोपदेशत्वं व्यपदेशिवद्भावेनाशङ्क्यार्थवता व्यपदेशिवद्भाव इत्युक्तम् । यो वर्णोऽर्थवांस्तेन व्यपदेशिवद्भावः । वर्णस्यार्थवत्त्वञ्च 'इयाय' इत्यादावसहाये एव, न तु प्रकृते इति तदर्थः । एवञ्चैकस्मिन्नित्यास्यार्थवतेत्यनेनोक्त इति दिक् ।

सुप्तिङ् । सुप् सुप् के पकार से प्रत्याहार है यद्यपि प्रत्ययग्रहण में तदन्त ग्रहण होता है । इससे शब्द स्वरूप को विशेष्य मानकर तदन्तग्रहण सिद्ध हो प्रत्यय से अपनी प्रकृति के अवयववाली समुदाय के आक्षेप से उसके विशेषण स्वीकार करके तदन्त विधि मानना ठीक नहीं है क्योंकि इमान् में उस प्रकार के समुदाय का व्यभिचार है अर्थात यहाँ केवल प्रत्यय मात्र ही शेष रहता है प्रकृति नहीं इसलिए आक्षेप का होना सम्भव नहीं है । और आक्षिप्त का शाब्द बोध में अन्वय भी नहीं होता है । तो भी संज्ञाविधौ इत्यादि परिभाषा के ज्ञापन के लिए अन्तग्रहण है । इससे घ संज्ञा तरप और तमप प्रत्यय की ही होती है तदन्त की नहीं । इससे गौरी ब्राह्मणतरा में गौरी के इकार को ह्रस्व नहीं होता है इस निषेध के होने से ही प्रदेशों से भी तदन्त की विधि नहीं होती है । फिर शंका करते हैं कि ज्ञापन करने पर भी अन्तग्रहण व्यर्थ है क्योंकि पद प्रदेश प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से ही तदन्तग्रहण हो जायेगा । उत्तर पदत्व प्रकृति में भी रहता है । स्वादिषु से पदत्व प्रकृति को भी होता है । इसलिए पद के ग्रहण में

प्रत्याग्रहण का ही अभाव है। यस्मात् प्रत्ययविधि की अनुवृत्ति होने से पद समुदाय की पद संज्ञा नहीं होती है। इयान् इत्यादि में यस्मात् प्रत्ययविधि तदादि तद्धितान्तत्व व्यपिदेशिवम्दवेन समझना चाहिए तात्पर्य यह है कि वहाँ केवल तद्धित शेष है। व्यपिदेशवदभाव से आशास्त्रीय एकाच्त्व का भी अतिदेश होता है। विशिष्ट वृत्ति व्यवहार निमित्तक कार्य असहाय में भी करने चाहिए इसी से इयन्मात्रंमे वत्वन्त से स्वार्थ में मात्रच् प्रत्यय सिद्ध होता है। हरिषु में षु की पद संज्ञा नहीं होती है। क्योंकि हलि सर्वेषाम् इस निर्देश से सहाय वाले में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। निज में चार एकाच् हैं निज्, इच्, निः, ई, यह भाष्य तो अभ्युपेत्यवाद आग्रह से है। अर्थात असहाय को न समझकर है आदेश्च तास्यनुदात्तेत सूत्रों के भाष्यों में स्पष्ट है। भाष्य में ढौकते में औकार को हत में अकार को एजन्ततो पदेशत्व और अकारान्तोपदेशत्व व्यपेदशिवद् भाव से आशंका कर अर्थवान से व्यपदेशिवद्भाव होता है। ऐसा कहा जो वर्ण अर्थवान है। उससे व्यपदेशिवद्भाव होता है वर्ण का अर्थवान होना इयाय इत्यादि में असहाय में ही होता है प्रकृत में नहीं यह उसका अर्थ है एकस्मिन् की अर्थवताः से उक्त अर्थ सिद्ध होता है।

हलोऽनन्तराः (१।१।७) 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्' इत्यत्र (२) समुदाये शतदण्डनवदत्र समुदायस्यैव सञ्ज्ञा, न प्रत्येकम्, (३) अनन्तरा इत्युक्तेश्च तस्य विशेषणताया एवौचित्यात्। यत्तु 'संयुज्यन्ते वर्णा यत्रेत्यन्वर्थसञ्ज्ञाबलान्न प्रत्येकं संज्ञा' इति, तन्न, घटपटौ संयुज्येते यत्रेत्यादौ संयुज्यमानपदार्थातिरिक्तस्यैवान्यपदार्थतया प्रतीतेर्व्युत्पन्नत्वेन वदतिरिक्ततद्धटितपदवाक्यरूपसमुदायस्य सञ्ज्ञापत्तावनिष्टापत्तेः। महासञ्ज्ञा तु प्राचामनुरोधादेव। तेन 'सुदृषभ्दाति' इत्यत्र संयोगान्तलोपो नेत्यन्यत्र विस्तरः। 'हल' इति बहुवचनं (४) सौत्रम्। यद्वा, हलौ च हलश्चेत्येकशेषः। स्वरितात्संहितायम्' (१।२।१९) इति सूत्रेऽनुदात्तानामिति पदे तथैकशेषस्य भाष्ये करणात्। तेन द्वयोरपीति 'शिक्षा' इत्यादौ 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) इति अप्रत्ययः सिद्धयति। तत्रापि बहवः श्लिष्टास्तत्रापि द्वयोर्द्वयोरेव न बहूनाम्, झलि परे संयोगादिलोपविधानात्। बहूनामपीति चिन्त्यमेव, (१) फलाभावात्। तत्र तत्राङ्गपदधात्वबयबसंयोगस्यैवाश्रयणेन तादृशस्य च त्रयाणां संयोगस्याभावादिति भाष्ये स्पष्टम्। आनन्तर्यं व्यवधानाभावः, व्यवधानञ्च विजातीयेनैवेत्याशयेनाह—अज्भिरिति। अत्र कुत्वं न्याय्यम्। अत एव 'हयवरट्' (मा० सू० ५) सूत्रे 'अचोऽक्षु' इति भाष्यप्रयोगे कुत्वं दृश्यते। स्वरैरव्यवहिता इति तूचिता वृत्तिः। हलः किम्! तितउ देव।

अत्र 'गुरोः' (८।२।८६) इति प्लुतः स्यात्। अनन्तराः किम् ? द्रप्सम्। अत्र सकारमकारयोः संयोगत्वे 'स्कोः' इति लोपः स्यात्।

हलोऽनन्तराः। गर्गाः शतमित्यादि गर्ग को सौदण्ड देना चाहिए की तरह समुदाय की ही संयोग संज्ञा होती है। प्रत्येक की नहीं होती है। अनन्तराः भी कहा है। उसको विशेषण मानना ही उचित है। जो कि किसी ने कहा था कि 'वर्ण जहाँ संयोग को प्राप्त हों' इस अन्वर्थ संज्ञा के बल से प्रत्येक की संज्ञा नहीं होती है। परन्तु यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि "घटपटौ" इत्यादि स्थल में जहाँ घट-पट संयोग को प्राप्त हों। इस स्थल में संप्रयुज्यमान घट पट से अतिरिक्त ही अन्य पदार्थ की प्रतीति स्पष्ट होने से उससे अतिरिक्त उससे युक्त पद वाक्य से रूप समुदाय की संज्ञा होने पर अनिष्ट होने लगेगा यह संज्ञा तो प्राचीनों के अनुरोध से ही है। इससे सुदृषद्भाति से संयोगान्त लोप नहीं होता यह अन्यत्र विस्तार से कहा है। हलः यह बहुवचन सौत्र है हलौ च हलश्च विग्रह में एक शेष है क्योंकि अनुदान्तनाममे स्वरितात्संहितायाम् सूत्र में इसी प्रकार से भाष्य में एक शेष किया है इससे दो की भी संयोग संज्ञा होगी इसी से शिक्षा में गुरोश्च हलः अप्रत्यय होता है जिस स्थान में बहुत हल हैं वहाँ भी दो-दो हलों की ही संयोग संज्ञा होगी बहुत की नहीं होगी क्योंकि झलके परे संयोगादि लोप का विधान है। फल के न होने से बहुतों की भी संज्ञा होती है। यह चिन्त्य है वहाँ अंगपद धातु के अवयव संयोग के ही आश्रयण से उस तरह का तीनों का संयोगः भाव है आनन्तर्य का अर्थ व्यवधान का न होना है और व्यवधान विजातीय से ही होता है इस आशय से कहते हैं अज्भिरिति। यहाँ कुत्व करना उचित था इसी से हयवरट् सूत्र में अचोऽक्षु इस भाष्य प्रयोग में कुत्व दृष्टि पथ में आता है। स्वरैरव्यवहिताः वृत्ति में लिखना उचित था हल के अभाव में तितउ देव में संयोग संज्ञा होने से गुरोः अनृत से प्लुत हो जाता है अनन्तरा के न करने से द्रप्सम् सकार मकार की संयोग संज्ञा होने से स्कोः से सकार का लोप हो जाता है।

संयोगे गुरु (१।४।११)। 'भेत्ता' इत्यादौ गुणस्तु क्नोः कित्त्वसामर्थ्येन (२) भूतपूर्वलघूपधग्रहणाद् बोध्यः।

संयोगे गुरू। भेत्ता में क्नोः की कित्त्व करने से भूनपूर्व लघू पद्य के ग्रहण से ही जानना।

इति सञ्ज्ञेति। प्रथमाध्यायस्थानां सन्धिकार्योपयोगिनीनां सञ्ज्ञानां प्रकरणमिति समाप्तमित्यर्थः। तेनाम्रेडितप्रगृह्यभसञ्ज्ञालोपसञ्ज्ञाद्यनुपन्यासेऽपि न क्षतिः। 'अ अ' (८।४।६८) इत्याद्युपन्यासस्तु प्रासङ्गिकः।

इति सञ्ज्ञाप्रकरणम्॥

इति सञ्ज्ञेति। प्रथमाध्याय में स्थित सन्धिकार्य के लिए उपयोगी संज्ञाओं का प्रकरण समाप्त हुआ। यह अर्थ करना उक्त अर्थ करने से आम्रेदित प्रगृह्य भसंज्ञा लोप संज्ञा आदि के उपन्यास के अभाव में भी कोई क्षति नहीं है। अ अ का उपन्यास तो प्रासंगिक है।

॥ इति सञ्ज्ञाप्रकरणम् ॥

अथ परिभाषा प्रकरणम्

इको गुण (१।१।३)। परिभाषेयं (१) व्याख्यानात्। गुण वृद्धि-शब्दाभ्यामिति। गुणवृद्धिग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धे पुनर्गुणवृद्धिग्रहण (२) सामर्थ्यादिति भावः। अनुवर्त्तमानञ्च (३) सञ्ज्ञिपरमेव स्यात्। सञ्ज्ञा-करणेनान्यत्र (४) सञ्ज्ञिपरत्वात्। यद्वा, तदप्यनुवर्त्य गुणो वृद्धिरिति योजनयैतल्लाभः। 'स्वादिषु' (१।४।१७) इति सूत्रेऽनुवृत्तपदपदस्य सञ्ज्ञा-परताया एव (४) दृष्टत्वात्। 'ष्णान्ताः' (१।१।२४) इति सूत्रे संख्या-पदस्य तदन्तत्वासम्भवादर्थपरतेति बोद्धयम्। लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया तु नात्र निर्वाहः। तत्र 'प्रतिपदोक्तस्य' इत्यस्य साक्षादुच्चारितस्येति साक्षा-त्तत्तच्छब्दानुवादेन विहितस्येति वा (१) ऽर्थात्। ध्वनितञ्चेदमत्रैव भाष्ये। अस्वाञ्च (२) विधेयसमपर्कंगुणवृद्धिपदश्रुतिर्लिङ्गं, तदाह—विधीयते इति। अत एव 'अतोगुणे' (६।१।९७) 'वृद्धिर्यस्य' (१।१।७३) इत्यादौ न दोषः। एतेन 'शब्दपरयोः' पूर्वयोर्गुणवृद्धिपदयोरनुवृत्या यत्र ते पदे तत्रेदमुपतिहते इत्यर्थेन 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) इत्यादिव्यावृत्तौ सिद्धायामिह गुणवृद्धी इति 'व्यर्थम्' इत्यपास्तम्। एतन्मूलक 'एव विधौ परिभाषोपतिष्ठतेनानुवादे' इत्युद्घोषः। एवञ्च पदोपस्थापकपरिभाषा-विषये 'विधीयते' इत्यस्यैवाध्याहारो बोद्धयः। एवञ्च 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' (१।१।६६) 'षष्ठीस्थाने' (१।१।४९) इत्यादेरनुवादेऽपि प्रवृत्तिः। तेन 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य' (७।३।४४) 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' (८।२।४) इत्यादौ न दोषः। 'उदीचामातः स्थाने' (७।३।४६) इति स्थानेग्रहणन्तु स्पष्टार्थमेव। तत्र विधिवाक्ये प्रथमाया विधेयविक्तक्तित्वेन तदन्तस्य (३) विधेयसमर्पकत्वनिर्णयः। अत एव गुणादिपदानामिक्पदोपस्थापनेन चरिता-र्थानामपि वाक्यार्थान्वयिता। तदर्थस्य तदनन्वयित्वे विधेयत्वाभावेन उपस्थापकत्वस्यैव भङ्गापत्तेः। इयञ्च 'एधिता' इत्यादौ व्यञ्जनानां

गुणाव्यावृत्त्यर्थं, 'भिन्नम्' इत्यादौ निषेधप्रवृत्तये इग्लक्षणत्वसम्पत्त्यर्थञ्चेति दिक् (१)।

अथ परिभाषा प्रकरणम्

इको गुणो। व्याख्यान से यह परिभाषा है। गुणवृद्धि शब्दाभ्यामिति। 'अदेङ्-गुणः' से गुण तथा "वृद्धिरादैच्" से वृद्धि की अनुवृत्ति से ही कार्य सिद्ध हो जाता फिर गुणवृद्धिग्रहण करने के कारण उक्तार्थ का लाभ होता है। अनुवृत्ति से आये संज्ञी ही होते हैं। क्योंकि संज्ञा करने से अन्यत्र संज्ञिपरक ही होते हैं। अथवा गुणवृद्धि की अनुवृत्ति करके गुण जो गुण, वृद्धि जो वृद्धि इस योजना से भी उक्तार्थ का लाभ हो सकता है। क्योंकि 'स्वादिषु' सूत्र में अनुवृत्त पद संज्ञापरक देखा जाता है। 'ष्णान्ताः' सूत्र में संख्या पद को तदन्त के असम्भव होने से अर्थपरकत्व है। 'लक्षणप्रतिपदोक्त' परिभाषा से तो यहाँ निर्वाह होना कठिन है। उस परिभाषा में प्रतिपदोक्त का साक्षात् उच्चारित अथवा साक्षात् तत् तत् शब्द के अनुवाद से विहित का ही ग्रहण है। यह भाष्य में ध्वनित है। इसमें विधेय समर्पक गुणवृद्धि पदों का ग्रहण ही लिङ्ग है। विधीयते इति। इसी से 'अतो गुणे' 'वृद्धिर्यस्य' इत्यादि में दोष नहीं है। क्योंकि वहाँ गुण वृद्धि के नाम से गुण वृद्धि का विधान नहीं है। उक्त व्यवस्था होने से पूर्व में शब्दपरक गुण वृद्धिपद की अनुवृत्ति से जहाँ वे पद हों वहाँ यह उपस्थित होते हैं। इस अर्थ से 'त्यदादीनामः' इत्यादि की व्यावृत्ति सिद्ध थी। फिर यहाँ गुणवृद्धि ग्रहण व्यर्थ है। यह कथन उचित नहीं है। एतन्मूलक ही "विधौ परिभाषा" इत्यादि कथन है। परिभाषा विधेय में उपस्थित होती है। अनुवाद में नहीं होती है। इस प्रकार से पद को उपस्थित करने वाली परिभाषा के विषय में विधीयते का अध्याहार करना ही उचित है।

तस्मिन् और "षष्ठी स्थाने" की अनुवाद में प्रवृत्ति होती है। इससे "प्रत्ययस्थात्" "उदान्त स्वरितयोः" में दोष नहीं है। "उदीयामातः" में स्थाने ग्रहण तो स्पष्टार्थ ही है। वहाँ विधिवाक्य प्रथमा को विधेय विभक्ति होने से तदन्त को विधेय समर्पकत्व निश्चय होता है। इसीलिए गुणादि पद इक् पद की उपस्थिति करा करके चरितार्थ होने पर भी वाक्यार्थ में अन्वय लाभ होता है। यदि उनके अर्थ का वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता तो विधेयक न होने से उपस्थापकत्व ही नष्ट हो जाता। इस प्रकार से 'एधिता' इत्यादि में व्यञ्जनों को गुणवारण के लिए तथा भिन्नम् इत्यादि में निषेध प्रवृत्ति के लिए इग्लक्षण सम्पादन के लिए है।

प्लुतशब्दैरिति। 'ऊकाल' (१।२।२७) इति सूत्राद् ह्रस्वदीर्घप्लुत इति, अजिति चानुवर्त्तते; ह्रस्वेत्यादिपदञ्च तृतीयया विपरिणतमिति भावः। तेन 'दिव उत्' (६।१।१३१) 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) इत्यादावेतदनुपस्थितिः। शेषं प्राग्वत्।

'ऊकाल' सूत्र से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा अच् की अनुवृत्ति होती है। ह्रस्व इत्यादि षद का तृतीया से वि परिणाम होता है। इससे 'दिव उत्' 'अष्टम् आ विभक्तैः'' इत्यादि में इस अचश्च की उपस्थिति नहीं होती है अर्थात् वहाँ हल् के स्थान में भी होते हैं। शेष कार्य पूर्ववतः ही समझने चाहिये।

आद्यन्तौ (१।१।४६)। यद्यप्यत्र मिलितस्य नैकत्रान्वय इति द्वन्द्वो न प्राप्नोति, तथापि समूहयोरन्वयबोधोत्तरं 'यथासंख्यम्' (१।३।१०) इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात्पुनः प्रत्येकान्वयः। लोके त्वेवंरीत्या प्रयोगो (२) ऽसाधुरेवेति भाष्ये स्पष्टम्। अत्रैव 'यथासंख्यं' (१।३।१०) सूत्रोपन्यासो युक्तः। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्येच्छब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः। पुरस्तादपवादन्यायेन स्थानेयोगत्वस्यायमपवादः। प्रत्ययपरत्वन्तु परत्वादमुं बाधते। तेन चरेष्ठादयः परा एव भवन्ति। अत एव यत्रैतदभावे स्थानषष्ठीसम्भावना तत्रैवेदं प्रवर्त्तते; यदाह—यस्योक्ताविति। आद्यन्ताक्षिप्तोऽवरावी यच्छःब्दार्थः। यथासंख्यसिद्धमर्थमाह—क्रमादिति। इताविति किम्? टुक् पर्यायेणाद्यन्तयोर्मा भूत्।

आद्यन्तौ। यद्यपि यहाँ इन दोनों का एक में अन्वय नहीं है अर्थात आदि का तित् में और अन्त का कित् में अन्वय है इसलिए द्वन्द्व की प्राप्त नहीं है तो भी समूहों के अन्वय बोध के पश्चात् यथासंज्ञा सूत्र में आरम्भ करने के कारण फिर प्रत्येक में अन्वय होता है। अर्थात् आद्यन्त समुदाय का नित् कित् समुदाय में समुदायत्वेन अन्वय होता है लोक में इस प्रकार का प्रयोग असाधु ही है—यह भाष्य में स्पष्ट है यहाँ पर ही यथासंख्य सूत्र का लिखना उचित था द्वन्द्व के अन्त में श्रुयमाणे इत् शब्द का प्रत्येक में अन्वय में है। पुरस्तादपवाद न्याय से स्थाने योगत्व का भी अपवाद है। प्रत्यय का परत्व आद्यन्तौ के पर होने से बाध देता है उससे चरेष्ठा; आदि से होने वाले तकारादि प्रत्यय पर ही होते हैं। कित् होने से आदि में नहीं होते इसीलिए जहाँ इसके अभाव में स्थान षष्ठी की सम्भावना हो वहाँ ही यह प्रवृत्ति होती है जैसा कि कहा है यस्योक्ताविति आदि और अन्त से आक्षित्व अवयवी–यत् शब्द का अर्थ है यथासंख्य सिद्ध शब्द के लिए कहते हैं। क्रमादिति तुक् प्रर्याय से आदि और अन्त का न हो इसलिए इतौ कहा है तुक् का टकार कित् संज्ञक नहीं है।

मिदचो (१।१।४७)। अयं बाध्यसामान्यचिन्तया स्थानेयोगत्वमत्ययपरत्वयोरपवादः, 'तृणहः' (७।३।९२) इति निर्देशात्। (१) निर्धारणे इति। यस्य समुदायस्य मिद्विहितस्तस्याचां मध्ये इत्यर्थः, सौत्रमेकवचनमिति भावः। तस्येवेति। यस्य विहितस्तस्यैवेत्यर्थः। अत एव 'समुदायभक्तोऽसौ

नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुम्', इति भाष्यं सङ्गच्छते। अन्तावयव इति। पूर्वसूत्रात्समस्तमप्यन्तपदमे(२)कदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलादनुवर्त्तते इति भावः। 'मुञ्चति' इत्यादिविषये तु फलाभावादयोग्यत्वाच्चान्तावयव इत्यंशाप्रवृत्तिः

मिदचो। यह बाध्य सामान्य चिन्ता से स्थानेयोगः और प्रत्यय परत्व का अपवाद है इसमें तृणहः यह निर्देश ही प्रमाण है। 'नम्' न पर हुआ है और न किसी के स्थान में हुआ है निर्धारणे इति। जिस समुदाय को मित् का विधान हो उस समुदाय के अचो के मध्य में हो ऐसा अर्थ है एक वचन सौत्र है अर्थात् अचाम् कहना उचित था तस्यैवेति। जिसकी वेति हो उसी का ही होता है। इसी से समुदाय का भक्त होने से अवयव की इ`गन्ततः का विधान नहीं कर सकता है वह भाष्य भी संगत होता है अन्तावयवइति। पूर्व सूत्र आद्यन्तो से समस्त अन्त पद एकदेश में स्वरितत्व प्रतिज्ञा के कारण अनुवृत्ति होता है मुञ्चति इत्यादि के विषय में तो फल के अभाव से और अयोग्यता के कारण अन्तावयव की अंश की प्रवृत्ति नहीं होती है।

परिभाषाणामनियमे नियमकारिणीत्वादाह—अनिर्धारितेति। तेन 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) इत्यत्र स्थानेयोगत्वं न। उपधापदसन्निधानेनावयषष्ठीत्व(१)निर्णयात्। 'स्थानेयोगा'इत्यस्य(२)स्थानपदार्थनिरूपितसम्बन्धार्थिकेत्यर्थः। स्थानेन योगो यस्या इति विग्रहे निपातनात्साधुत्वस्य भाष्ये उक्तत्वात्। 'अस्तेरनन्तरे' इत्यादेरपि अनन्तरादिनिरूपितसम्बन्धे इत्येवार्थः। षष्ठीमात्रोच्चारणे स्थानपदाद्यध्याहार इत्यन्यत्र विस्तरः। प्रसङ्ग इति। 'दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्' इत्यादौ (३) तथा दर्शनात्। भावे ल्युट् स्थानशब्दे। प्रसङ्गश्च सति सम्भवेऽर्थवत एव, अर्थप्रत्यायनार्थं शब्दप्रयोगात्। 'इको यण्' (६।१।७७) इत्यादेरच्परेकारघटितशब्दस्यार्थबोधनाय प्रसङ्गे तत्परयकारघटितः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः। 'एरुः' (३।४।८६) इत्यादेश्च (१) 'तेस्तुः' इति; अतो न शब्दनित्यताहानिः। किञ्च इकारबुद्धिप्रसङ्गे यकारबुद्धिरित्यर्थः। अत एव 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इत्यादि सङ्गच्छते। स्पष्टञ्चेदं 'दाधाघु' (१।१।२०) इति सूत्र-'स्थानिवत्' (१।१।५६) सूत्रयोर्भाष्ये।

परिभाषायें अनियम में नियम कारिणी होती है इसलिये कहते है अनिर्धारितेति। इससे ऊदुपधायामोहः स्थाने योगत्व की प्रवृत्ति नहीं होती है उपधा पद के रहने से अवयव षष्ठी ही होती है स्थानेयोग। इसका स्थान पदार्थ निरुपित सम्बन्ध अर्थ वाली अर्थ है स्थानेनयोगोयस्याः इस विग्रह से निपातन से सिंह भाष्य ने भाष्यकार

ने की है अस्तिर्य. में अस्ति की इत्यादि का भी अनन्तरादि पद अध्याहार करने से तत्ररुपितसम्बन्ध में हो यही आर्थ है षष्ठी मात्र के उच्चारण में स्थान पद का अध्याधर होता है प्रसङ्गाइति। दर्भो (कुश्) के स्थान में सर बिछाने चाहिए इत्यादि स्थल में उसी प्रकार के अर्थ का दर्शन होता है स्थान शब्द में भाव में ल्युट् प्रत्यय है और प्रसंग भी सम्भव होने वाले अर्थवान का ही लेना चाहिए क्योंकि अर्थ के ज्ञान के लिये शब्द का प्रयोग होता है इकोयण् इत्यादि का भी अच् परे रहते इकार घटित शब्द के अर्थ बोधन के लिये अच्परक यकार घटित्वो करना चाहिए यक: इत्यादि का इति के स्थान में तु का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार के अर्थ करने से शब्द के नित्यता की हानि नहीं होती है अथवा इकार बुद्धि के प्रसंग में यकार बुद्धि करना ऐसा अर्थ समझना चाहिए इसी से अचः परस्मिन् इत्यादि भी संगत होते हैं यह सभी दाधातुः तथा स्थानिवत् सूत्र में स्पष्ट है।

स्थानेऽन्त (१।१।५०)। षष्ठीत्यनुवृत्त्या यत्र स्थानषष्ठी तत्रेदमुपतिष्ठते इति विध्येकवाक्यतयैवास्य नियामकत्वं न तु विहितानां नियमः, 'भुक्तवन्तम्' इतिन्यायविरोधात्। फलितमाह—प्रसङ्गे इति। (२) सदृशतम् इति। अर्थात्प्राप्यमाणानां मध्ये एव। अत एव 'गङ्गोदकम्' इत्यादौ त्रिमात्रो न। तम्पू किम् ? 'वाग्घरिः' इत्यादौ महाप्राणत्वसाम्येन जायमामः पूर्वसवर्णो वर्गद्वितीयो मा भूत्, किन्तु नादवान् महाप्राणश्चतुर्थो 'घ' एव यथा स्यादिति। स्थानेऽन्तरतमे इति सप्तम्यन्तपाठस्तु (१) दीर्घेषु यणसिद्धया दुत इति भाष्ये स्पष्टम्। यत्रानेक इति। स्थानेग्रहणे एकदेशानुवृत्त्याऽनुवर्त्तमाने पुनः स्थानेग्रहणं तृतीयया विपरिणामेन वाक्यभेदमाश्रित्य प्रसङ्गे सति सम्भवे स्थानत एवान्तरतम इत्यर्थमिति भावः। स्थानत इति। स्थानेनेत्यर्थः। तत्र स्थानतः—'इको यणाचि' (६।१।७७) इति। अर्थतः—(२) 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७।१।९५) इति, इह क्रोष्टुशब्दस्थाने पक्तृशब्दो नादेशः। गुणतस्तु 'वाग्घरिः' इत्यादौ। प्रमाणतः—(३) 'अदसोऽसेः' से (८।२।८०) इत्यादौ।

स्थानेऽन्त। षष्ठी की अनुवृत्ति से जहाँ स्थान षष्ठी हो वहाँ इसकी उपस्थित होती है ऐसा विधि के साथ एक वाक्यता होने से यह नियामक है विहितों (होनेवालों) का नियम नहीं है क्योंकि भुक्तवन्तं न्याय से विरोध हो जायेगा (भोजन करने पर भोजन न करो) यह कथन जिस प्रकार से व्यर्थ है फलित कहते है। प्रसंगेइति सदृशतमइति अर्थात प्राप्त होने वालों के ही मध्य में सदृशतम हो इसी लिये गंगोदकम् तीन वाक्यों वाला नहीं होता है। क्योंकि वह प्राप्त ही नहीं है तमप् का फल

है की वाग्घरिः इत्यादि में महाप्राणत्व साम्य लेकर खकार पूर्व सवर्ण न हो किन्तु नादप्रयत्न वाला महाप्राण चतुर्थ घकार ही हो स्थानेऽन्तरतमे यह सप्तम्यन्त पाठ तो दीर्घ ईकारादि में यण् न होने के कारण भाष्य में दूषित कर दिया है यण् आधी मात्रा वाला है उसका अनन्तरतम् किसी प्रकार से एक मात्रिक हो सकता है इसलिए दध्यत्र आदि में यण् होगा सुध्युपास्यः में नहीं होगा । यत्रानेकइति । स्थानेग्रहण की एक देश की अनुवृत्ति से आ जाता फिर स्थाने ग्रहण को तृतीया से विपरिणाम करने वाक्य भेद मानकर प्रसंग में सम्भव होने पर स्थान से ही अन्तरतम् हो यह अर्थ है स्थानतः इति । अर्थात् स्थान से । वहाँ स्थानतः का उदाहरण इकोयणचि है अर्थतः तृज्वत्क्रोष्टुः यहाँ क्रोष्टु के स्थान पक्तृ आदेश नहीं होता है गुणतः का वाग्घरिः इत्यादि है गुण शब्द से वाह्य प्रयत्न व्यवहरित है प्रमाणतः का अदसोऽसेः से इत्यादि है।

तस्मिन्निति (१।१।६६) अत्र 'तस्मिन्' इति उत्तरत्र 'तस्मात्' इति च सप्तम्यन्तपदपञ्चम्यन्तपदार्थकः स्वतन्त्रस्य सर्वनाम्नो निर्देशो व्याख्यानात्, बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधाच्च; न तु तत्तत्पदपरम् । अन्यथा 'तस्मिन्नणि च' (४।३।२) 'तस्मान्नुडचि' (६।३।७४) 'तस्माच्छसो नः' (६।१।१०३) इत्यत्रैव प्रवर्त्तेयाताम् । सप्तमी तु सप्तम्यन्तानामेव तच्छब्दार्थत्वमिति बोधनाय, यद्बोध्यार्थस्य निर्दिष्टे इत्यनेन समानाधिकरण्याय च । इतिशब्दः पुनस्तस्य तदर्थपरत्वं बोधयति । निःशब्दो नैरन्तर्ये, दिशिरुच्चारणे । एवञ्च सप्तम्यन्तार्थेऽव्यवहितोच्चारिते उपश्लिष्टस्य (४)पूर्वस्य कार्यमितिवाच्योर्थः । एवञ्चैतत्परिभाषाद्वयोपस्थितौ सप्तम्यन्तपदस्य पञ्चम्यन्तपदस्य चार्थो लिङ्गम् । अत्र सूत्रे उपश्लिष्टपदाध्याहारेण निर्दिष्टे इति औपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तम्येवोचिता 'उपपदविभक्तेः' (प० १०२) इति न्यायात्, न तु सतिसप्तमीति 'तत्र च दीयते' (५।१।९६) इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम् । 'स्नुक्रमोः' (७।२।३६) इति सूत्रे च कैयट आह—'तस्मिन्निति परिभाषायां सत्यां सत्सप्तम्याश्रयणमशक्यम्' इति । उपश्लेषः समीपवृत्तित्वं, तच्च वर्णयोर्बोद्धं द्रष्टव्यम् । एवम् 'इको यणचि' (६।१।७७) इत्यादावर्षायमेवेति 'संहितायाम्' (६।१।७२) इति सूत्रे भाष्ये । तत्रोपश्लेषः पूर्वस्येव परस्याव्यवहितस्येव व्यवहितस्य चेति पूर्वस्यैवेति नियमार्थमिदमव्यवहितस्यैवेति च । अत एव लक्ष्यानुसारात् क्वचित्सतीत्यध्याहारात् सत्सप्तम्याश्रयणे नास्याः प्रवृत्तिरिति 'श्नान्नलोपः' (६।४।२३) इत्यत्र भाष्ये उक्तम् । अत एव 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) इत्यत्र नास्याः प्रवृत्तिः, कृति सति

प्रत्यासत्त्या तत्प्रकृत्यर्थकर्तृकर्मणोः षष्ठीति तदर्थात्। 'तस्मात्' (१।१।६७) इति सूत्रे निर्दिष्टे इति निर्दिष्टादित्यर्थकं विभक्तिविपरिणामात्। सा चोत्तरस्येति दिग्योगलक्षणा इति दिग्योगलक्षणपञ्चम्यामेव तत्प्रवृत्तिः। 'उदः स्था' (८।४।६१) इत्यादौ च 'उदः' इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी। तत्रानियतदिक् शब्दाद्ध्याहारे प्रसक्ते परशब्दस्यैवाध्याहार इति 'तस्मात्' (१।१।६७) इत्यनेन नियम्यते। अव्यवहितोच्चारितात्पञ्चम्यन्तात्परस्येति तदर्थः। तत्फलितमाह—सप्तमीनिर्देशेन इत्यादि। यदि तु अर्धमात्राधिककालेन वर्णान्तरे वा व्यवधाने उपश्लेष एव नेत्युच्यते तदा निर्दिष्टपदं संहिताधिकारश्च विफल इति 'संहितायाम्' (६।१।७२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अवग्रहे च सम्प्रदाय एव शरणमिति आनङ्दिविषये आदेशोत्तरमेवावग्रहोऽन्यत्र ततः प्राक्। अकृतव्यूहपरिभाषात्वनित्या, नास्त्येव वा। 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकौरर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' इति भाष्येण तदनुरोधेन शास्त्रासङ्कोचस्य शास्त्रकरणाभावस्य च स्पष्टमुक्तत्वाच्च। एतेन संहिताधिकारहस्तद्वहिर्भूतानामर्धमात्राधिककालव्यवाये प्रवृत्तिज्ञापनार्थम्। तेन 'अग्नाविष्णू' इत्यादावग्रहे आनङ्दिसिद्धिरित्यापास्तम्। 'प्रत्ययः' (३।१।१) 'परश्च' (३।१।२) इत्यादौ तु(१)त्तरांशविकला 'तस्मात्' (१।१।६७) इति परिभाषा प्रवर्त्तते। तेन न प्रत्यया व्यवहिताः। अत एव 'छन्दसि परेऽपि' (२) 'व्यवहिताश्च' इति सूत्रं सार्थकम्। आगमविधावपि 'आने मुक्' [७।२।८२] इत्यादौ 'तस्मिन्' [१।१।६६] इति परिभाषया पूर्वसम्बन्धित्वनिर्णयः। अत एवात्र पूर्वस्येत्यादि न स्थानषष्ठी। तत्तद्विधिभिरेव सम्बन्धस्य निर्णीतत्वेन 'षष्ठी स्थाने' [२।१।४९] इत्यस्याप्रवृत्तेः। 'गाङ्कुटादिभ्यः' [१।२।१] इत्यादावपि षष्ठ्यंशविकलैतत्परिभाषाप्रवृत्तिबोद्ध्या। परिभाषाणां नियमत्वन्तु यदि परिभाषासूत्रं न स्यात्तदा व्यवहितादावपि प्रवृत्तिः स्यादित्येतावतेति दिक्।

तस्मिन्निति। इस सूत्र में तस्मिन् अग्रिम सूत्र में तस्मात् सप्तम्यन्त, पंचमम्यन्त पदार्थ वाले स्वतन्त्र सर्वनाम का व्याख्यान से निर्देश है और बहुत से लक्ष्यो के संस्कार के अनुरोध से ऐसा मानना उचित है। तत्वत् पद परक नहीं है यदि पद परक होता तो तस्मिन् तस्मात् सूत्र वाले तस्मिन्नणि च, तस्मान्नुडचि, तस्माच्छसो नः आदि में ही इनकी प्रवृत्ति होती है सप्तमी तो इसलिए है कि सप्तम्यन्त ही तच्छब्द के अर्थ और उससे बोध्या निर्दिष्टे से सामानाधिकरेण्य के लिए है इति शब्द उसको तदर्थवत्व

कहता है निःशब्द का नैरन्तर्य अर्थ है दिश का उच्चारण अर्थ है। इस प्रकार से सप्तम्यन्त अव्यवहित उच्चारित होने पर उपशिलष्ट पूर्व को कार्य यह अर्थ है इस प्रकार से इन दोनों परिभाषाओं की उपस्थित में सप्तम्यन्त और पंचमम्यन्त पद का अर्थ लिङ्ग है इस सूत्र में उपशिलष्ट पद के अध्याहार से निर्दिष्टे में औशश्लेषिक अविकरण में सप्तमी है।

उपपदविभक्तेः, इस न्याय से सति सप्तमी नहीं है यह 'तत्र च दीयते।' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है स्नुक्रमोः सूत्र में कैयट ने भी कहा है कि तस्मिन्निति परिभाषा में सत्सप्तमी का आश्रयण सम्भव नहीं है। उपश्लेष का अर्थ समीपवृत्तिता है उसको वर्णो का बौद्ध देखना इस प्रकार से इकोयणचि् इत्यादि में भी यही है। ऐसा संहितायाम् के भाष्य में स्पष्ट है वहाँ उपश्लेष पूर्व की तरह पर का भी है और अव्यवहित की तरह व्यवहित का ही वहाँ यह नियम-नियम करता है कि पूर्व को ही हो और अव्यवहित को ही हो इसी से लक्ष्यानुरोध से कहीं सति के अध्याहार से सत्सप्तमी के आश्रयण में इसी की प्रवृत्ति नहीं होती है यह श्नान्नलोपः के भाष्य में स्पष्ट है इसी से कर्तृव्यमणोः कृति में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है कृति होने पर सामीप्य से कृत् की प्रकृति के अर्थ में जो कर्ता और कर्म है उनमें षष्ठी है। तस्मात् सूत्र विभक्ति के विपरिणाम से निर्दिष्टे निर्देष्टात् के अर्थ को कहता है वह और उत्तर दिग्योगलक्षणा है इससे दिग्योगलक्षण पंचमी में ही प्रवृत्ति होती है। उदस्था इत्यादि में उदः दिग्योगलक्षण पंचमी है। वहाँ अनियति दिक् शब्द के अध्याधार की प्राप्ति होने पर पर का ही अध्याहार हो ऐसा तस्मात् नियम करता है। अव्यवहितोच्चारित पंचमस्यन्त से पर को ही यह उसका अर्थ है उसका फलितार्थ कहते है। सप्तमी निर्देशेन इत्यादि यदि अर्द्धमात्रा से अधिक काल से या वर्णान्तर के व्यवधान में उपश्लेष का अभाव मानने पर निर्दिष्ट पद तथा संहिताधिकार विफल है ऐसा संहितायाम् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है अवग्रह में (सन्धि विश्लेष) सम्प्रदाय ही शरण है आनङ्ग आदि के विषय में आदेश के उत्तर ही अवग्रह है और उससे भिन्न स्थल में उससे पूर्व अवग्रह जानना चाहिए अकृतव्यूह परिभाषा तो अनित्य है अथवा है ही नहीं लक्षण से पद कर अनुवर्त्य नहीं है। पदकारो से लक्षणानुवर्त्य करनी चाहिए। इस भाष्य से उसके अनुरोध से शास्त्र में संकोचन करना तथा शास्त्र के करने के अभाव को स्पष्ट ही कहा है उक्त कथन से संहिताधिकार से भिन्न आधी मात्रा से अधिक काल व्यवाय में प्रवृत्ति ज्ञापन के लिए है इससे अग्नाविष्णू इत्यादि में अवग्रह में आनङ्ग की सिद्धि होती है। इत्यादि पूर्वोक्त वक्ता परास्त है प्रत्ययःपरश्च इत्यादि में तो उत्तरांश विकल तस्मात् परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। इससे प्रत्यय व्यवधान में नहीं होते है इसीलिए छन्दसि परेऽपि व्यवहिताश्च सूत्र भी सार्थक है आगम विधि में भी आने मुक् इत्यादि में तस्मिनइति परिभाषा से पूर्व सम्बन्धी का निर्णय होता है

इससे यहाँ पूर्वस्य स्थान षष्ठी नहीं है क्योंकि उन उन विधि सूत्रों से ही सम्बन्ध के निर्णय होने से षष्ठी स्थान की प्रवृत्ति नहीं होती है गाङ्कुटादिभ्यः इत्यादि में भी षष्ठ्यंश विकल इस परिभाषा की प्रवृत्ति जानना परिभाषाओं को नियम कहना तो इस प्रकार है कि यदि परिभाषा सूत्र न होगा तो व्यवहित में प्रवृत्ति हो जायेगी।

अलोऽन्त्यस्य [१।१।५२]। षष्ठी स्थाने इत्यनुवर्त्तते; तदाह—षष्ठी इत्यादि। स्थाने विधीयमानः स्थानषष्ठीनिर्दिशष्टान्त्स्येत्यर्थः। स्थाने इत्यादि किम्? इत् तृच ऋकारात्पूर्वो मा भूदिति। अन्त्यस्येति साहचर्या-दल इति षष्ट्यन्तम्, अन्त्यस्याल इत्यर्थः। अल इति किम्? पदस्येति विधीयमानं 'वसुस्रंसु' [८।२।७२] इति दत्वं 'स्वनडुद्भ्याम्' इत्यादाव-न्त्यस्य पदस्य मा भूत्। स्थाने विधीयमान इति प्रत्यासत्तिलब्धम्। एव-ञ्चाव एवेति, अन्त्यस्यैवेति नियमद्वयमत्र। अल्समुदायबोधकपदोत्तरं स्थानषष्ठी अस्या लिङ्गम्। [१] अत एव 'इतोऽत्' [७।१।८६] इत्यादौ नास्याः प्रवृत्तिः। पथ्यादीनामित्यस्यावयवषष्ठीत्वात्, इत इत्यास्यालसमुदा-योत्तरत्वाभावाच्च।

अलोऽन्त्यस्य। इसमें षष्ठी स्थान की अभिव्यक्ति होती है। जैसाकि कहा है षष्ठी इत्यादि। स्थान में विधीय मान स्थान षष्ठी से निर्दिष्ट अन्य का हो स्थाने के अभाव में इट् तृच् लट्कार से पूर्व होने लगता। अन्त्यस्थ साहचर्य से अतः यह षष्ठयन्त ही अर्थात अन्त्यअल के हों। अल ग्रहण के अभाव में पदस्य से विधीयमान सुस्त्रंसु से दत्व स्वनुड्द्भ्याम् में अन्त्यपद को होने लगता। स्थाने विधीयमान प्रत्या-सन्ति [सामीप्य] से प्राप्त है इस प्रकार से अल को ही और अन्त्य को ही हो यह दो नियम यहाँ पर है अलसमुदाय बोधक पद के उत्तर स्थान षष्ठी ही उसका लिंग है इसीलिए इतोऽत् इत्यादि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि पश्यादि अवयव षष्ठी के कारण ही और इत् अल् समुदाय के अन्तर भी नहीं है।

ङिच्च [१]। अनेकालर्थमिदम्।

आदेः इति। आदेरल इत्यर्थः। तेन 'द्वीपम्' इत्यादौ पान्तसमुदायस्य न ईत्वम्। अत्र परस्येत्यावर्त्तते तेन परबोधकशब्देन यत्र परस्य स्थाने विधानं, तत्रैवेदम्। तेन 'नित्यं ङितः' [३।४।९९] इत्यादौ [२] न दोषः। तत्र विकरणव्यवधाने प्रवृत्तये धातोरित्यस्यं विहितविशेषणत्वात्।

ङिञ्च। यह अनेकाल के लिए है आदेरिति। आदि अलको हो इसीलिए द्वीपम् में पान्त समुदाय को ईत्व नहीं होता है यहाँ परस्य की आवृत्ति होती है इससे पद बोधक शब्द के जहाँ पर के स्थान में विधान होता है वहाँ इसकी प्रवृत्ति होती है।

इससे नित्यमङितः इत्यादि दोष नहीं है वहाँ विकरण के व्यवधान में प्रवृत्ति के लिये धातोःविहित विशेषण है।

अनेकाल् शित् (१।१।५५)। शित उदाहरणम् 'इदम इश्'। ननु शकरोच्चारणसामर्थ्याद् (३) भूतपूर्वानेकाल्त्वमादाय सर्वादेशत्वे सिद्धे शिदिति व्यर्थम् 'किञ्च सानुबन्धकनिर्देशे' यथा (४) नालः स्थानित्वं 'भोभगो' (८।३।१७) इति सूत्रे भाष्ये उक्तम्, तथा (५) ऽऽदेशत्वमपि (६) सूत्रोपात्तस्यैवेति तद्व्यर्थम्। (१) विधौ निर्दिष्टो योऽनेकालस सर्वस्येति सूत्रार्थः। (२) उद्देश्यत्वाविधेयत्वाख्यविषयतया बोधविषयता तु अनुबन्धविनिर्मुक्तस्येति। न अणुदित् (१।१।६९) सूत्रभाष्यविरोधः। 'ध्वसोः' (६।४।११९) इति 'लोपस्य लोपो यि' (६।४।११८) इति प्रकृते पुनर्लोपग्रहणसामर्थ्यात्सर्वादेशत्वसिद्धिः। अनुबन्धानामेकान्तत्वमेव न्याय्यमित्युक्तमिति चेत्? न, 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (प० ५) इति ज्ञापनेन (३) चारितार्थ्यात्। तेन 'दिव औत्' (७।१।८४) इत्यादीनां न सर्वादेशत्वम्। अस्य च यथेत्सञ्ज्ञा तथा वक्ष्यते। 'नानेकाल् शित्' इति तु नोक्तम्, 'अनन्तरस्य' इति न्यायेन 'आदेः परस्य' (१।१।५४) इत्यस्यैव निषेधापत्तेः। परत्वात्। इति। 'आदेः परस्य' इत्यस्यावकाशः 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः' [७।१।९], द्वीपम्। शित्सर्वस्य 'इदम इश्' [५।३।३] एवम् 'अतो भिसः' [७।१।९] इत्यादिविषये 'अनेकाल्' [१।१।५५] इत्यनेन 'आदेः परस्य' [१।१।५४] इति परत्वाद् बाध्यते। एतेन 'ङिच्च' [१।१।५३] इत्यत्र 'ङिदेवानेकालन्त्यस्येति नियमेन सिद्धेऽनेकाल्ग्रहणं व्यर्थम्' इत्यपास्तम्।

अनेकाल्शित्। शित् का उदाहरण इदम इश् है अब यहाँ शंका करते हैं कि शकारोच्चारण करने के कारण भूतपूर्व अनेकाल मानकर सर्वादेशत्व सिद्ध था फिर शित् ग्रहण कार्य है और अनुबन्ध विशिष्ट निर्देश में जैसे अल् स्थायी नहीं होता है यह भोभगो सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है उसी प्रकार से आदेशत्व भी सूत्रोपात्त का ही होगा अतः वह व्यर्थ है विधि में निर्दिष्ट जो अनेकाल वह सभी का होता है यह सूत्र का अर्थ है उद्देश्यत्व और विधेयत्व अप बोध विषयता अनुबन्ध विनुमैक्त की ही होती है अतः अणुदित् सूत्र के भाष्य से विरोध भी नहीं है ध्वसोः से जो लोप है वह लोपो यि से लोप ग्रहण की अनुवृत्ति हो जाती फिर लोप ग्रहण करने से सर्वा देशत्व के लिए है और अनुबन्धों को एकान्तत्व मानना ही उचित है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शित ग्रहण नानुबन्धकृत मनेकाल्त्वम् परिभाषा में ज्ञापन करने से चरितार्थ

है इसीलिये दिवऔत इत्यादि को सर्वादेशत्व नहीं होता है। इसकी जिस प्रकार से इत्संज्ञा होती है वैसा आगे कहेंगे नानेकाल्सिट् न्यास तो नहीं किया क्योंकि अनन्तरस्य न्याय से आदेः परस्यकाही निषेध होने लगता परत्वात इति आदेः परस्य का अवकाश ह्युन्त रुप सर्गेभिः द्वीप में ही सित्सर्वस्य का इदम् इश में ही इस प्रकार से अतोभिषः इत्यादि के विषय में अनेकाल से पर होने से आदेह परस्य का बाध होता है। इससे ङित अनेकाल, अन्त्य को ही होता है इस नियम से सिद्ध था। अनेकाल ग्रहण व्यर्थ है ऐसा कहने वाले परास्त हैं।

स्वरितेन [१।३।११] इत्थंभूतलक्षणे [४]तृतीया। [५]स्वरितत्वज्ञाप्योऽधिकारो विनियोग इत्यर्थः। स्वरितत्वञ्चेदं दोषविशेषरूपमज्झल्साधारणं स्वरूपमविक्रियमाणपदघटका[१]ऽज्निष्ठं वा। तच्चानुनासिक्यवत्प्रतिज्ञागम्यम्। विनियोगश्च प्रायेणोत्तरत्रोपस्थितिः, क्वचित्पूर्वत्रापि। कियद् दूरमधिकार इत्यत्रासति गमके व्याख्यानमेव शरणम्। किं च स्वरितेनाधिकारगतिः। तेन 'गोस्त्रियोः' [१।१।४८] रित्यादौ स्त्र्यधिकारस्थप्रत्ययग्रहणमित्याद्याकरादवसेयम्। एतेन 'व्याख्यानादेव निवृत्तिवदनुवृत्तिरपि भविष्यति आकाङ्क्षायान्तु सत्यामश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्छ्रुतापेक्षणस्य न्याय्यत्वाच्च किं सूत्रेण' इत्यपास्तम्। स्पष्टं चेदं भाष्ये। **परनित्य** इति [१०] परं विप्रतिषेधसूत्राद् बलवत्। नित्यं कृताकृतप्रसङ्गि, तद्विपरीतमनित्यम्। तत्राक्लृप्ताभावकल्पनापेक्षया क्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनं युक्तमिति तस्य बलवत्त्वे बीजम्। अन्तर्मध्ये [२]बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्येऽन्तर्भूतान्यङ्गानि निमित्तानि यस्य तदन्तरङ्गम्। तदीयनिमित्तसमुदायाद्बहिर्भूताङ्गकं बहिरङ्गम्। तस्य बलवत्त्वे बीजमाह--असिद्धम् इति। इयञ्च 'वाह ऊठ्' [६।४।१३२] इति [३] सूत्रेण ज्ञापिता। यद्यपि 'प्रत्यङ्गवर्ती लोको दृश्यते, मनुष्योऽयं प्रातरुत्थाय प्रथमं शरीरकार्याणि करोति ततः सुहृदां ततः सम्बन्धिनाम्' इतिन्यायमूलकत्वमस्या 'अचः परस्मिन्' [१।१।५७] इति भाष्ये उक्तं तथापि तेन न्यायेन युगपदप्राप्तिविषयतैव स्यात्; ज्ञापकेन तु सर्वविषयता बोद्धयत् इति 'वाह ऊठ्' [६।४।१३२] इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। अन्यथा वाहः सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते ण्याश्रये गुणे 'वृद्धिरेचि' [६।१।८८] इति वृद्धौ 'प्रष्ठौहः' इत्यादिसिद्धावूठ्विधानं व्यर्थं स्यात् नाजानन्तर्यपरिभाषा तु नास्त्येवेति न 'अयजे इन्द्रम्' इत्यादौ दोष इति। परिभाषेन्दुशेखरे विस्तरः। अपवादस्तु वचन-

प्रामाण्याद् बलवान्। अकृत [प०] इति। न कृतो विशिष्ट ऊहस्तर्को [१] निमित्तविनाशेऽपि कार्यस्थितिरूपः, यथा दण्डविनाशेऽपि घटस्थितः, स यैस्ते इत्यर्थः, तदाह—निमित्तम् इत्यादि। तत्प्रयुक्तं कार्यं जातमपि न **कुर्वन्ति—नोच्चारयन्तीत्यर्थः; इति कैयटादयः। अन्ये तु** व्यूहोऽन्तरङ्गशास्त्र वहिरङ्गापोहनरूपत्वात्। तत् निमित्तविनाशं दृष्ट्वा पूर्वमपि न कुर्वन्तीत्यर्थ इत्याहुः। **इयं परिभाषा** [२] **निष्फला निर्मूलेति** परिभाषेन्दुशेखरे **निरूपितम्।**

॥ इति परिभाषाप्रकरणम् ॥

स्वरितेन। यह तृतीया इत्थंभूत लक्षण में स्वरितत्व से साथ अधिकार का विनियोग है यही स्वरित्व दोष विशेष रुप है और अच् तथा हल् दोनों में रहता है स्वर रुप है अधिकार से प्राप्त पद में मध्य में स्थिति अच् में रहता है वह अनुनासिक की तरह प्रतीज्ञा से ज्ञात होता है और विनियोग का अर्थ उत्तर में उपस्थिति है कही पूर्व में भी उपस्थित होती है इतनी दूर अधिकार है इसमें गम क् के अभाव में व्याख्यान की शरण है और स्वरित से अधिकार की प्राप्ति होती है इसी से गोस्त्रियौः इत्यादि स्त्री के अधिकार में स्थिति प्रत्ययो का ग्रहण होता है—इत्यादि विषय भाष्य से जानना। उक्त व्यवस्था करने से व्याख्यान से ही निवृत्त की तरह अनुवृत्त भी हो जायेगी और आकांक्षा होने पर असुत्व कल्पना के न्याय न होने से तथा श्रुतकी अपेक्षा न्याय होने से सूत्र की आवश्यकता नहीं है यह कथन भी निरस्त है। परिनित्यइति। पर विप्रतिषेध सूत्र से बलवान नहीं। जो करने से भी प्राप्त और न करने से भी प्राप्त होता है वह नित्य ही उससे विपरीत अनीत्य है वहाँ अकलत्व अभाव वाले की अभाव कल्पना की अपेक्षा क्लृप्त अभाव वाले की अल्पना भी उचित है यही उसके बलवत्व में बीज है अतः अर्थात मध्य में वहिरङ्ग सूत्र के निमित्त समुदाय के मध्य में अन्तरभूत है अंग अर्थात विभिन्न जिसके वह अनतरंग है अन्तरंग निमित्त शास्त्र के बाहर है निमित्त जिसमें वह वहिरंग है उसके बलवान होने में वीज है असिद्धम इति। यह वाह ऊठ सूत्र से ज्ञापित है यद्यपि मनुष्य त्यंगवर्ती दृष्टि पथ में आता है क्योंकि मनुष्य प्रातः काल उठकर शरीर के कार्य शौच स्नानादि कर्ता है फिर मित्रों के कार्य करता है तदनन्तर सम्बन्धियों के कार्य करता है उक्त न्याय मूलक ही यह परिभाष है। ऐसा अचः परस्मिन् के भाष्य में कहा है तो भी उस न्याय से एक साथ प्राप्ति होने पर ही परिभाषा का विषय होता है ज्ञापक से उसकी सार्वतिक विषयता होती है यह' वाह ऊठ्' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है अन्यथा वाह को समप्रसारण और पूर्व रुप करनेपर णिच् को मानकर गुण के पश्चात् 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि करने पर 'प्रष्ठौहः इत्यादि की सिद्ध हो जाती अतः उठ् करना व्यर्थ

ही था नाजानन्तर्थ परिभाषा तो नहीं है अतः अयजेइन्द्रम् में दोष नहीं है इसका विशेष विचार परिभाषेन्दु को घर में किया है अपवाद तो वचन के प्रामाण्य से ही बलवान है अकृतेति नहीं किया विशेष ऊठ अर्थात तर्क निमित्त के नाश होने पर भी कार्य की स्थिति रूप जैसे निमित्त कारण दण्ड के नाश होने पर घटका नाश नहीं होता है अर्थात उसकी स्थिति रहती है वह जिन्होंने नहीं किया है। निमित्तादि उससे होने वाले कार्य नहीं करते हैं। अर्थात उच्चारण नहीं करते है ऐसा अर्थ कैयट आदि ने कियाहै अन्य कहते है कि व्यूह अर्थात अनतरंग शास्त्र क्योंकि वह बहिरङ् की व्यवृत्ति करता है उस निमित्त विनाश को देख करके भी पहले ही उस कार्य को नहीं करते है। यह परिभाषा निष्फल और निर्मूल है ऐसा परिभाषेन्दुशेखर में नागेश भट्ट ने निरुपण किया है।

वस्तुतः वैभाजित्रम् के लिए परिभाषा माननी आवश्यक है यहाँ पर (विभाज्यतु न लोपोऽचवाच्यः) इससे ऋलोप तथा अण् प्रत्यय करने से उक्त प्रयोग की सिद्ध होती है परिभाषा के अभाव में अन्तरगगुण अण् आदेश करने पर अन्त्यमकार के लोप करने से उक्त प्रयोग की सिद्धि नहीं होगी परिभाषा को स्वीकार करने पर अन्तरंग भुजादि नहीं होते है।

अथ स्वर सन्धि प्रकरणम्

स्यात् इति। कार्यशब्दवादे इदम्। संहितायां विषये इति। इदं कार्यिनिमित्तयोः संहितायां विषयभूतायामित्यर्थः। स्थानत् इति। इदं 'यथासंख्य' (१।३।१०) सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। जातिपक्षे यथासंख्येनापि निर्वाह इति 'स्थानेऽन्तरतम' (१।१।५०) सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अनुनासिक-स्थानेऽपि निरनुनासिक एव, विधीयमानत्वेन सवर्णाग्राहकत्वात्। गुणाभेदक-त्वपक्षोऽपि न विधेयान्विषये। दीर्घादीनामिगादिपदैरुपस्थितये प्रत्याहारेषु जातिपक्ष एवेति 'अणुदित्' (१।१।६९) सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अत एव सर्वतकारादीनां झल्त्वादिसिद्धिः। 'ल्वादयः' (८।२।४४) इत्यादिनिर्देशा-दयश्च जात्याश्रयणे मानमिति दिक्। व्याकरणस्य साध्वनुशासनत्वन्तु शब्द-नित्यतापक्षे शब्दानां सिद्धत्वेन शास्त्रवैयर्थ्यापत्त्या मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधु-र्भवतीत्यादिवृद्धिसञ्ज्ञासूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येन यदिह परिनिष्ठितत्वेन ज्ञाप्यं तस्मादित्यर्थापत्तिकल्प्यवाक्येन बोद्धयम्। कार्यशब्दवादे तु पूर्वभाष्योन्नीता (१) ऽनादितात्पर्यवशात्तत्कल्पनं बोद्धयम्। एतेन स्थानप्रमाणोभयान्तरतमे ह्रस्वेकारे चरितार्थो यण् दीर्घे कथं स्यादित्यमास्तम्। (२) स्थानत आन्त-र्यस्य सर्वतो बलवत्त्वात्, 'स्थानेऽन्तरतमे' इति। सप्तम्यन्तपाठस्य चैत-द्दूषणेनैव भाष्ये दूषितत्वादिति भावः।

॥ अथ स्वर सन्धि प्रकरणम् ॥

स्यात्इति। यह कथन कार्यशब्द वाद में ही अर्थात् शब्द के अनित्य पक्ष में है। संहितायां विषये कार्यी। (जिसको कार्य करना हो) और निमित्त दोनों संहिता के विषयभूत हो। प्रकृति में इक् कार्यी है और अच् निमित्त। स्नानतः इति। यह यथा-संख्य सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है जातिपक्ष में यथासंख्य सूत्र से भी निर्वाह हो सकता है। यह स्थानेऽन्तरतम् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है अनुनासिके स्थान में भी निरनुनासिक भी होता है क्योंकि विधीयमान होने से सवर्ण ग्राहकता नहीं है। गुणों का अभेदपक्ष भी विधेयअण् के विषय में नहीं है। दीर्घइकारादि की इक् पद से उपस्थित के लिए प्रत्या-

हारों में जातिपक्ष का ही मानना उचित है यह अणुदित् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है इसीलिए सम्पूर्ण नकारों में झलत्व की सिद्ध होती है। अन्यथा अवान्तम में झलो-झलि से सकार का लोप नहीं होता क्योंकि सबमें एक तकार का ही ग्रहण होता है जाति के आश्रयण है—झलत्व जात्याश्रय से सभी तकारों का ग्रहण होता है। सूत्र वैयर्थ्य की सम्भावना नहीं है। क्योंकि अभित्था में चरितार्थ है वहाँ एक तकार है और दूसरा यकार। त्वादयः इत्यादि निर्देश ही जात्याश्रमण में प्रमाण है "व्याकरण साधु शब्दों का अनुशासन करता है।" यह तो शब्द नित्यतापक्ष में शब्दों के सिद्ध होने से शास्त्र न हो इसलिए मृज के प्रसंग में मार्जिः साधु होता है। इत्यादि वृद्धि संज्ञा विधायक सूत्र के भाष्य से जो यहाँ परिनिष्ठित रूप से ज्ञाप्य है। वे साधु है इस प्रकार की अर्थापत्ति कल्पना जानना चाहिए। कार्य (अनित्य) शब्दवाद पक्ष में पूर्व भाष्य से अनादितातपर्य के कारण उसकी कल्पना करना। उप व्यवस्था करने से स्थान और प्रमाण से अन्तरतम् ह्रस्व इकार में चरितार्थ यण् दीर्घादि में नहीं होगा यह कथन विरस्त है क्योंकि जातिपक्ष का आश्रयण कर चुके हैं। स्थानतः आन्तर्य सबसे बलवान होता है। और स्थानेन्तरतमः इस सप्तंयन्त पाठ को दीर्घादि में यण् न होने के कारण ही भाष्य में दूषित किया है।

चो विध्यर्थः। ध्वनितञ्चदम् 'एओङ्' (मा० सृ० ३) सूत्रे भाष्ये, तदाह—द्वे वा स्तः इति। सूत्रकृता शाकल्यमते सर्वत्र द्वित्वाभावोक्तेरिति भावः। अवसाने द्वित्वसिद्धयेऽनचीति प्रसज्यप्रतिषेधः, तदाह—न त्वचि इति। इदं द्वित्वं षाष्ठद्वित्ववद् द्विःप्रयोग एव। 'यरः' इत्यादेरध्याहृतोच्चारणक्रियानिरूपित–[३] कर्मषष्ठीत्वस्यौचित्यात्। इति धकारस्य इति। न तु द्वित्वे पूर्वधस्थाने जश्त्वनिष्पन्नदस्यापि 'लक्ष्ये लक्षणम्' इति न्यायात्। विकारान्यत्वेन]४] न लक्ष्यभेद इत्यन्यत्र प्रपञ्चितम्।

चो विध्यर्थः। अनचि् च सूत्र में चकार विधि सूत्र के लिए है। यह एओङ् सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। द्वे वा स्तः सूत्रकार ने शाकल्प के मत में सर्वत्र द्वित्व का अभाव कहा है अवसान द्वित्व करने के कारण अनचि् यह प्रसज्य प्रतिषेध है जैसा कि कहा है—न त्वचिइति। यह दित्व षाष्ठ द्वित्व की तरह दो बार प्रयोग मात्र है। यर में षष्ठी अध्याहार से प्राप्त उच्चारण क्रिया को मानकर कर्म में है इनि धस्यइति। द्वित्व करने पर पूर्वधकार के स्थान में अथवा जरत्व से हुए दकार के स्थान में द्वित्व नहीं होता है क्योंकि लक्ष्य में लक्षण एक बार ही प्रवृन्ति होता है और विकार कृत लक्ष्य भेद का आश्रयण भी नहीं होता है। अतः दकार को भी नहीं होता है।

(१) स्थान्यादेशयोर्भेदात् (२) 'स्वं रूपम्' (१।१।६८) इत्युक्तेश्च तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते, यथा गुरोः स्थाने शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा-

ऽग्रासनादीनि लभते' इति लोकन्यायेन स्थानिकार्यमादेशे न स्यादतः स्थानिवत्सूत्रम्। न तु स्थान्यल इति। (३) प्रत्यासत्तिन्यायलब्धमिदम्।

(४) आदेशस्य स्थानिभूतो योऽल् :—

(१) तत्स्थानिसम्बन्धी च सोऽल्; तद्वृत्तिधर्माश्रये नेत्यर्थः। अत एव रेफस्थानिकविसर्गस्य रुशब्दत्वं न स्थानिवत्त्वेनेति 'भोभगो' (८।३।१७) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। ऋधातोर्द्वित्वेऽभ्यासस्य 'उरत्' (७।४।६६) अत्वेऽरित्यस्य हलादिः शेषस्तु– अरित्यस्य पुनः 'पूर्वोऽभ्यासः' (६।१।४) इत्यनेन भ्यासत्ववात्, तस्यापि (२) द्विरुक्तधातुपूर्वभागत्वात्। प्रक्रियाज्ञानवतां तथा ज्ञानस्य सुलभत्वात्।

स्थानीय और आदेश में भेद होने से तथा स्वंरूपम् के कथन से उसके स्थान में होने वाला उसके धर्म को प्राप्त करता है जैसे गुरू के स्थान शिष्य याज्य कुलों में जाकर अग्र आसनादि को प्राप्त करता है। इस लोक न्याय से स्थानीय का कार्य आदेश में नहीं होता है इसलिए स्थानवत् सूत्र का निर्माण है तात्पर्य यह है कि शिष्य अग्रआसन तो प्राप्त करता है परन्तु उसका उच्छिष्ट भोजन या पैर दबाना आदि नहीं होता है। न तु स्थान्यलइति। यह प्रत्या सन्ति (सामीप्य) न्याय से प्राप्त है यद्यपि अल् के समीप आदेश ही है तो भी शाब्दक्रम से आर्थक्रम बलवान होता है इसलिए स्थानीय का अवयव ही अल् लेना चाहिए जैसे कि अग्निहोत्रं जुहोति यवांगूपचति। में शाब्दक्रम में अग्निहोत्र पूर्व है। परन्तु यवींगूम निर्माण के बिना अग्निहोत्र होना सम्भव नहीं है। इसलिए आर्थक्रम में यवागूम् पचति का कार्य प्रथम होता है पश्चात् अग्निहोत्रम जुहोति होता है। आदेश का स्थानभूत जो अल् अथवा उसके स्थानीय का सम्बन्धी जो अल् उसमें रहने वाले धर्माश्रय से स्थानिवद्भाव नहीं होता है। यहाँ प्रथममत नवीनों का है और द्वितीय प्राचीनों का है। प्रथम नवीनार्थ स्वीकार करने से ही रेफ स्थानीय विसर्ग को रु शब्दत्व स्थानिवद्भाव से नहीं आता है। यह भोभगो सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है वह धातु को द्वित्व करके अभ्यास को उरत् से अत्व रेफादि करने पर अर् में हलादि शेष की प्रवृत्ति अर् की पुनः अभ्यास संज्ञा करने से होती है क्योंकि अर् भी द्विरुक्त धातु का पूर्वभाग है प्रक्रिया ज्ञान वाले को उस प्रकार का ज्ञान सुलभ है।

अत एव 'धिन्वन्ति इत्यादाविण् (१) न। उकारवृत्त्यार्धधातुकत्वस्य वकारेऽनतिदेशात्। यत्तु अत्रेण्निवृत्तये स्वविधावपि स्थानित्वमपरविधाविति न्यासेन साधितं भाष्ये, सा त्वेकदेश्युक्तिः। असिद्धवत् (६।४।२२) सूत्रेण सिद्धस्याऽऽयन्नासन्नित्यादेस्तत्फलत्वेनोपन्यासात्, अस्यापि 'अचः पूर्वत्वविज्ञानात्' (का० वा०) इति वार्त्तिके पञ्चमीसमासेन सिद्धेः

कैयटेनोक्तत्वाच्च। 'प्रदीव्य' इत्यादौ च वलादिलक्षण इण्न। (१) स्थान्य-लित्युक्तेः (२) 'बभूविव' इत्यादौ वलादिलक्षणेट्सिद्धिः। न हि तत्र वला-दित्वं स्थानितो लभ्यं; किन्तु स्वाश्रयमेव।

प्रथम नवीनार्थ स्वीकार करने से ही धिन्वन्ति में इट् नहीं होता है। क्योंकि उकार में रहने वाला अर्धधातुकत्व का वकार में अतिदेश नहीं होता है स्थानिरूप अल् उकार में रहने वाला धर्म आर्धधातुकत्व उसको निमित्त मानकर इत् होता है। अतः नवीनार्थ से निषेध हो जाता है। जो कि धिन्वन्ति में इट् निवृत्ति के लिए स्व विधि में भी स्थानिवद् भाव होता है ऐसा अपरविधौ न्यास से भाष्य में सिद्ध किया है वह एक देशी की उक्ति है असिद्धवत् सूत्र से सिद्ध आयन् आसन इत्यादि ही उसके फल हैं इसकी भी अचः पूर्वत्व विज्ञानात् इस वार्तिक में पंञ्चमी समास से सिद्ध की है। ऐसा कैयट ने कहा है। द्वितीय प्राचीनार्थ स्वीकार करने से ही प्रदीव्य इत्यादि में आर्धु-धत्वकस्येट् वलादेः से इट् नहीं होता है स्थानीत्कातद्वयवः तकार में रहने वाला वला-दित्व निमित्तक इट् नहीं होता है। स्थानल्यल् कहने से वभूभिव इत्यादि में वलादि मानकर इट् होता है वहाँ वलादिकत्व की स्थानी से प्राप्त नहीं होती है। किन्तु स्वतः सिद्ध है।

यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तावतिदेशो मृग्यते तस्य निमित्तस्य (३) स्थान्यलसाधारणधर्मत्व एव निषेधप्रवृत्तेः। प्रकृते चाऽऽर्द्धधातुकत्ववै-कल्यप्रयुक्ताऽप्राप्तिर्न तत्स्थान्यलसाधारणं यच्च तादृशवल्त्वघटितं बलादित्वं न तद्वैकुल्यप्रयुक्ताऽप्राप्तिरिति बोद्ध्यम्। प्रत्यासत्त्या च शास्त्रीयकार्ये एव स्थानिवत्त्वं, तेन (४) नायकसिद्धिः।

जिस निमित्त की विकलता (अभाव) के उपदेश शास्त्र की अप्रवृत्ति में अतिदेश की आवश्यकता होती हो। उस निमित्त के स्थान्यल् असाधारण धर्मत्व में ही निषेध प्रवृत्ति होती है। प्रकृत में आर्ध धातुकत्व की विकलता होने से जो अप्राप्ति है वह स्थान्यल् असाधारण नहीं है। और जो बल्त्वघटित बलादित्व है उसकी विकलता को लेकर अप्राप्ति नहीं है। प्रत्यासत्ति न्याय से शास्त्रीय कार्य में स्थानिवद् भाव होता है इसी से नायकः आदि की सिद्धि है तात्पर्य यह है कि ण्वुल् सानिवद्भाव से नहीं आता है अतः आय् आदेश हो जाता है।

(१) प्राधान्यात्कार्यातिदेशोऽयम्। शास्त्रातिदेशस्तु कार्यातिदेशाद-भिन्नरूपः। तस्यापि कार्यफलकत्वादिति 'तृज्वत्' (७।१।९५) सूत्रे कैयटः। भाष्येऽपि 'तत्राऽङ्गशास्त्रातिदेशात्सिद्धमाङ्गं तत्कार्यं तदतिदिश्य' इत्युक्त्या तयोरभिन्नरूपत्वं सूचितम्। तत्रानपेक्षितार्थसन्निधानस्तत्तन्निमित्तरूपकार्य-व्यवहार एवानेन। कार्यन्तु स्वशास्त्रेणैवेति। अत एव 'रामाय' इत्यादौ

'स्थानिवत्त्वेन सुप्त्वात् सुपि चेति दीर्घः' इति सङ्गच्छते 'परिवीः' इत्यादौ परत्वात् दीर्घ इति च सङ्गच्छते। यद्वा किं चिन्निमित्तवैकल्येऽपि दीर्घादिकार्यमनेन क्रियते। तच्च कार्यं किमित्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपनिर्णयस्य विधिशास्त्रमूलकत्वेन तद्देशेनैव परशास्त्रविहितत्वरूपं परत्वं तेषां बोद्ध्यम्। एतदेवाभिप्रेत्यातिदिश्यमानकार्याणामुपदेशदेश एव देश इत्यभियुक्ताः।

प्रधान न होने से यह कार्याति देश है शास्त्रातिदेश तो कार्याविदेश से अभिन्न स्वरूप है क्योंकि शास्त्रातिदेश का भी फल कार्य ही है ऐसा तृज्वत् सूत्र में कैयट ने कहा है भाष्य में भी—"वहाँ आङ्शास्त्र के अतिदेश से सिद्ध जो आङ् कार्य (अंङ्—सम्बन्धी) है उसका अतिदेश होता है। इस कथन से शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश की अभिन्नता ही सिद्ध की है। वहाँ अर्थ सन्निधान की अपेक्षा न करके उसे निमित्त मानकर होने वाला कार्य व्यवहार ही यह करता है कार्य तो उस शास्त्र से ही होता है शास्त्र से ही कार्य होता है यह स्वीकार करने से रामाय इत्यादि में स्नानवद्भाव से सुप्त्व मानकर सुपिच से दीर्घ होता है। यह कथन भी संगत होता है और परिवीः इत्यादि में पर होने से दीर्घ होता है अथवा थोड़े निमित्त की विकलता होने पर भी दीर्घादिकार्य यह करता है। वह कार्य क्या है इस आकांक्षा में उसके स्वरूप का निर्णय विधि शास्त्र के अधीन होने से विधिशास्त्र की देश की ही पर शास्त्र से विहित ही परत्व जानना चाहिए। यह जानकार ही अतिदिश्यमान कार्यों का उपदेश देश ही देश है। ऐसा विद्वान कहते हैं।

अत्राऽऽद्यपक्ष एव भाष्यसम्मतः। अत एव 'स्थान्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिबां प्रतिषेधो वक्तव्यः' इत्येतदुपपादनावसरे 'स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं च लघूपधत्वादि, तत्र लघूपधगुणादिः प्राप्नोति' इत्यादिभाष्योक्तेरिति बोद्धयम्। एवं (१) यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तातिरिक्तसर्वनिमित्तकत्वमतिदेशस्यापि। अत एवेष्ठवद्भावेनातिदिष्टभत्वस्य वर्णाश्रयत्वमित्यादिव्यवहारः। सर्वातिदेशेष्विदं तुल्यम्। यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तंशास्त्रीयमेव प्रत्यासत्तेः।

यहाँ आद्य (नवीन) पक्ष ही भाष्य सम्मत है नवीन पक्ष से स्थानीक अल् प्रतिषेध में कुरूवधपिव का प्रतिषेध कहना चाहिए इस वार्तिक के उपपादन के समय स्थानवद भाव से अंगसंज्ञा और स्वाश्रय (स्वाभाविक) लघूपधत्व है तब लघूपध गुण आदि की प्राप्ति है इत्यादि भाष्य की उक्त से नवीनार्थ ही भाष्य सम्मत प्रतीत होता है। इसी प्रकार जिस निमित्तक विकलता से उपदेश सूत्र की अप्रवृत्ति हुई है उस निमित्त को छोड़कर और सभी निमित्त अतिदेश के भी होते है। इसी से इष्टवद् भाव से अतिदिष्ट (आद्य) भत्व को वर्णाश्रयत्व भिद का अतिदेश होता है सम्पूर्ण अतिदेशों

में यह समान ही है। जिस निमित्त की विकलता से उपदेश शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हुई हो। वह निमित्त में प्रत्यासत्ति न्याय से शास्त्रीय ही लेना।

स्थानिवदित्युक्तेः (२) सम्बन्धिशब्दमहिम्नैवाऽऽदेशलाभे आदेशग्रहणं श्रौतस्थान्यादेशभावस्यैव ग्रहणमितिशङ्कावारणद्वारा 'एरुः' (३।४।८६) इत्यादौ शब्दानित्यत्ववारणाय 'सर्वे सर्वपदादेशाः' इति न्यायेन कल्प्यमानस्य (१) तेस्तुरित्यानुमानिकादेशस्य सङ्ग्रहार्थम्। तेन 'पचतु' इत्यादेः पदत्वसिद्धिरिति भाष्ये स्पष्टम्।

स्थानिवत् कहने से सम्बन्धी शब्द की महिमा से आदेश लाभ हो जाता फिर आदेश ग्रहण करने से यह सिद्ध होना है कि श्रोत स्थान्यादेश का भी ग्रहण होता है। इस शंका की निवृत्ति द्वारा आनुमानिक स्थानान्यादेश देश का भी ग्रहण होता है। अतएव एरुः इत्यादि में शब्द के अनित्यत्व कारण के लिए सर्वेसर्वपदादेशाः इस न्याय से कल्पना किया गया। 'ति' के स्थान में 'तु' आदेश होता है आनुमानिक का भी संग्रह होता है। इससे पचतु इत्यादि की पद संज्ञा होती है।

ननु तोस्तित्वमपि छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारवल्लोकन्यायेनैव सिद्धम्। तदुक्तं—'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) इति सूत्रे भाष्ये 'दीव्यतिशब्दैकदेशदीव्यच्छब्दानुकरणमिदम्' इत्युक्त्वा 'किमर्थं विकृतनिर्देशः? (४) एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति। (३) अत एवात्र विकारोऽशास्त्रीयोऽपि। अत एव श्रायसशब्दादणन्ताद् द्विवचने 'श्रायसौ' इत्यत्र वृद्धौ कृतायां सान्तस्योगित्त्वेनानेन न्यायेनाङ्गतया प्राप्तो नुम् पूर्वसम्बन्धिविधित्वेन 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इति स्थापिनवत्त्वेन वारितः 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७ इति सूत्रे भाष्ये। एतन्न्यायानाश्रयणे त्वङ्गत्वमेव दुर्लभम्। 'अन्तादिवत्' (६।१।८५) सूत्रे भाष्यकैयटयोरपि 'गुडोदकम्' इत्यादावेकादेशे कृते दशकशब्दस्यानेन न्यायेनो (४) दकशब्दत्वमाश्रित्य 'उदकेऽकेवले' [६।२।९६] इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वमुक्तम्। शब्दानित्यत्वं तु रेखागवयन्यायेन समाधेयम्। अनन्यवदित्यस्यान्यवन्नेत्यर्थः। तत्रा [१] ऽन्यसादृश्यनिषेधेऽन्यत्वाभावः सुतरामिति चेत्? न, अर्द्धस्यान्यत्वे जतिव्यञ्जकभूयोऽवयवदर्शनाभावेन तौ तित्त्वप्रतीतेर्न्यायेनानुपपादनात्। किं च तिङ्सञ्ज्ञायास्तिबादिसूत्रोपात्त [२] परिच्छिन्नपरिमाणनिष्ठतया परिच्छिन्नपरिमाणार्थवाचकशब्दानां न्यूनेऽधिके वा शास्त्रव्यापारं विनाऽप्रवृत्तेः 'येन विधिः' [१।१।७२] इति

सूत्रेऽङ्गसंज्ञासूत्रे च भाष्ये उक्ततया तदभावात्। न्यूनाधिकत्वञ्च वैरूप्य-स्योपलक्षम्।

अब यहाँ शंका करते हैं कि पुच्छ कटे हुए कुत्ते में जिस प्रकार कुते का व्यवहार लोक में होता है। उसी प्रकार तु में तित्व भी आ जायेगा यह प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र के भाष्य में लिखा है। वहाँ कहा है कि दीव्यति शब्द के एक देश दीव्यत् का अनुकरण ही यह कहकर विकृत निर्देश क्यों किया है तो यह निर्देश है "एक देश विकृत मनन्यवत्" परिभाषा को सापित करता है इस परिभाषा में विकार अशास्त्रीय भी लेते हैं। अशास्त्रीय के लेने से ही अण् प्रत्यान्त श्रायस शब्द से द्विवचन में श्रायसौ में वृद्धि करने के पश्चात् सान्त के उगित् होने से एक देश विकृत न्याय से अंग होने के कारण प्राप्तनुम् पूर्व सम्बन्ध विधि होने से अचः परस्मिन् से स्थानिवद् भाव करके वारण किया है अचः परस्मिन् सूत्र के भाष्य में इस न्याय की सहायता के बिना तो अंग मिलना ही कठिन था सर्व अन्तादिवच्च सूत्र के भाष्य और कैयट में भी गुडोदकम् एकादेश करने पर इस न्याय से दक् को उदक् मानकर उदके केवले से पूर्वपद को अन्तोदान्त स्वीकार किया है इस प्रकार से प्राप्त शब्दानित्यत्व का वारण रेखागवय न्याय से करना चाहिए अनन्यवत् का अर्थ है कि अन्य की तरह नहीं होता है। वहाँ अन्य के सादृश्य निषेध होने पर अनयत्व का न होना तो स्वतः सिद्ध है परन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आधे के अन्य होने पर जाति के व्यंजक बहुत से अवयवों के दर्शन के अभाव से तू में तित्व की प्रतीत का न्याय से उपपादन सम्भव नहीं है और तिङ् संज्ञा तिप्तस् इत्यादि सूत्र में उपात्त परिच्छिन परिमाण होने से परिच्छिन्न और परिमाण अर्थ के वाचक शब्द का न्यून या अधिक में शास्त्र व्यापार के बिना प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसा मेन विधिः और अंग संज्ञा विधायक सूत्र के भाष्य में कहने से उसका अभाव होगा। पचतु में न्यून या अधिक नहीं है यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि न्यूनाधिक वैरुप्य का भी उपलक्षण है।

न च 'तण्डुलान्' इत्यादौ स्थानिवद्भावेन प्रत्ययान्तत्वेऽपि स्वतः प्रत्ययान्तभिन्नत्वात् (३) प्रातिपदिकत्वापत्तिरिति वाच्यम्। अतिदेशस्व-भावेना (४) ऽतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयकार्याभावात्। अत एव 'जहि' इत्यादौ जादेशस्यासिद्धत्वे स्वाश्रयो हेलुंगन, सिद्धत्वासिद्धत्वयोर्विरोधात्। 'असिद्धवत्' (६।४।२२) सूत्रं तु 'शाधि' इत्यादौ स्थानिप्रयुक्तधिभावसम्पा-दनेन चरितार्थम्। न च 'अप्रत्ययः' इत्यस्य पर्युदासत्वे शास्त्रीयकार्याभा-वात्स्थानिवत्त्वं दुर्लभमिति वाच्यम्। 'वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्' [८।३।७३] इति षत्वविधायके तिङन्तेषु षत्वाभावायाऽऽवश्यकेन न्याय्येन चानिष्ठाया-मिति पर्युदासेन वृत्त्यादिसम्मतेन पर्युदासलभ्याशास्त्रीयेऽपि शास्त्रतात्प

र्यंविषये शास्त्रीयवदतिदेशबोधनात् । 'विस्कन्न:' इत्यादौ हि निष्ठानत्वस्य नित्यता स्थानिवत्त्वेनैव निष्ठात्वस्य वक्तव्यत्वात् तस्य प्रसज्यप्रतिषेधत्वे तु लक्ष्यानुपारिव्याख्यानादेवोक्तार्थसिद्धिरिति बोद्धयम् ।

अब यहाँ शंका करते है कि तण्डुलान इत्यादि प्रयोगों में स्थानिवत्भाव से प्रत्यान्त होने पर भी स्वाभाविक प्रत्यान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हो जानी चाहिए। प्रातिपादिक संज्ञा होने से न लोप: से नकार का लोप होने लगेगा इसका उत्तर देते हुए कहते है—अतिदेश का यह स्वभाव है कि अतिदिम्यमान धर्म के विरूद्ध स्वाश्रय कार्य नहीं होता है उक्त नियम स्वीकार करने से ही जहि इत्यादि में जादेश के असिद्ध होने पर भी जकार में स्थिति अदन्त मानकर अतोहक से 'हि:' का लुक नहीं होता है क्योंकि सिद्धतत्व और असिद्धतत्व का विरोध है असिद्धवत् सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। यह शंका करना व्यर्थ है क्योंकि शाधि में स्थानी को मानकर 'धि:' करने से चरितार्थ है अब शंका करते हैं कि अप्रत्यय को पर्युदास मानने पर शास्त्रीय कार्य के अभाव में स्थानिवत् भाव होना कठिन है। इसका उत्तर देते है वे: स्कन्देरनिष्ठायाम् षत्व करने वाले इस सूत्र में तिङन्त में षत्व के अभाव में लिये आवश्यक तथा न्यायी होने से वृत्यादि सम्भव अनिष्ठायाम्, इस पर्युदास से प्राप्त अशास्त्रीय में भी शास्त्र तात्पर्य विषय होने पर शास्त्रीय की तरह अतिदेश होता है विस्कन्ना: में नित्य होने से निष्ठा को नत्व पूर्व में होने पर स्थानिवद् भाव से निष्ठात्व आवेगा उसको प्रसज्य प्रतिषेध मानने पर तो लक्ष्यानुसारी व्याख्यान से ही पूर्वोक्त अर्थ की सिद्ध करना।

केचित्तु भाष्ये 'तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभस्य तत्कार्यस्य च लोकन्यायेनैव सिद्धेरयमतिदेश: स्वं रूपमित्येतच्छास्त्रसत्त्वाद्धन्ते कार्यं वधौ न स्यादिति' इत्युक्तम् । एवञ्च 'स्वं रूपम्' (१।१।६८) इति शास्त्राविषये तेन सिद्धिरिति सूचितम् । एवञ्चाशास्त्रीयस्यापि धर्मस्यातिदेशो भवत्येव । अति प्रसङ्गस्तु लक्ष्यानुसारेण क्वचिल्लोकन्यायानाश्रयणेन परिहरणीयो यदि प्राप्नोति । एवञ्च न कश्चिद्दोष: । 'न पदान्त' (१।१।५८) इति सूत्रे 'ब्राह्मण-कण्डूति:' इत्युदाहरणाच्च क्वचित्तदनाश्रयणम् । तत्र हि कण्डूयते: क्तिचि तत्राल्लोपे तस्य स्थानित्त्वादूबङि (१) यणि वाऽनादिष्टादच: पूर्वत्वे स्थानिद्वार के गृह्यमाणे ऊठ् न स्यादित्याहु: ।

कुछ लोगों का कथन है कि भाष्य में जो किसी के स्थान पर आता है उसमें उसके धर्म का लाभ और कार्य का लाभ लोक न्याय से ही सिद्ध है। यह अतिदेश (स्थानिवत्) एवं रूपम् शास्त्र के रहने पर हन् का कार्य वध में नहीं होगा इस प्रकार

से भाष्य में कहा है इससे यह सिद्ध होता है कि स्वं रूपम् का जहाँ विषय नहीं होता है वहाँ उससे सिद्धि होती है। इस प्रकार से अशास्त्रीय धर्म का अतिदेश भी होगा ही। अति प्रसंग की प्राप्ति होने पर लक्ष्य के अनुसार कहीं लोकन्याय का आश्रयण न करके परिहार करना इस प्रकार से कोई दोष नहीं है। न पदान्त सूत्र में ब्राह्मण कण्डूतिः इस उदाहरण से भी कहीं लोक न्याय का आश्रयण नहीं होता है। भाष्य में कण्डूय् धातु से क्तच् प्रत्यय करने पर अल्लोप के होने पर उसके स्थानिवत् भावं से उवङ् या यण् करने में स्थानी के द्वारा अनादिष्ट अच् से पूर्व ग्रहण करने पर ऊठ नहीं होगा।

अनादिष्ट अच् अशास्त्रीय धर्म है जिसका शास्त्रकार संकेत करते हैं वही शास्त्रीय धर्म है कण्ड्वादि धातु और प्रातिपदिक दोनों ही होते हैं। धातु पक्ष में उवङ् की प्राप्ति है और प्रातिपदिक पक्ष में यण् की प्राप्ति है।

(२) अत एव अर्थवत्सूत्रशेषे 'अप्रत्ययः' इत्यस्य पर्युदासत्वमेवोक्तं भाष्ये। तत्र पक्षे (३) 'काण्डे' इत्यत्र पूर्वान्वतद्भावेन प्रत्ययान्तभिन्नत्वाद् दोषः शङ्कितो न तु स्वाश्रयाप्रत्ययान्तत्वेन। 'क्षियो दीर्घात्' (८।२।४६) इति सूत्रे भाष्येऽपि अतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयकार्याभाव इति स्फुटम्। तत्र हि 'क्षियः' इत्यत्रेयङर्थं प्रकृतिवदतिदेशे स्वाद्यनुत्पत्तिमाशङ्क्य 'एवं तर्हि आतिदेशिकानां स्वाश्रयाणि न निवर्त्तन्ते' इति समाधायाऽतिदिश्यमानधर्म-विरुद्धस्वाश्रयनिवृत्तेराऽवश्यकत्वाभिप्रायेण—'अथाप्येतन्न' इत्याशङ्क्य 'निर्दे-शसामर्थ्याद्विभक्तिः' इत्युक्तम्। 'असिद्धवत्' (६।४।२२) सूत्रे च कैयटे स्फुटमेतत्। यत्तु 'गाङ्कुटादि' (१।२।१) सूत्रे भाष्ये 'सृजिदृशोः' (६।१। ५८) इत्यत्राकितीति पर्युदासात् 'सिसृक्षति' इत्यत्र 'हलन्ताच्च' (१।२। १०) इति कित्त्वातिदेशेऽपि अमागममाशङ्क्य प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणेन समा-हितं, तत्तु वार्त्तिककृदुक्तमुपायान्तरं बोध्यम्। 'अनल्विधौ' इति विधि-ग्रहणात् (१) अलाश्रये विधावित्यर्थात यत्र विधौ शब्दतः स्थानिस्थान्य-वयवा (२) ऽन्यतराल्वृत्तिधर्मवतस्तेन तस्मात्तस्य तस्मिंस्तदादेरित्यादि-प्रकारेण विशेष्यतया विशेषणतया वा अलाश्रयणं तत्र निषेधः। 'व्यूढोर-स्केन' 'द्यौः' 'द्युभ्यां' 'क इष्टः' 'प्रपठ्य' इत्युदाहरणानि। शब्दत इत्युक्ते 'अग्रहीत्' इत्यादौ (३) 'इट ईटि' (८।२।२८) इति सिद्ध्यति। दीर्घ-विधावत्र च इट इति समुदायाश्रयणात्। अन्यथा टस्यानुबन्धत्वादिकारस्यै-वोभयत्राश्रयणमित्यल्विधित्वं स्यात्। अत्र सूत्रे विशेषातिदेशोऽपि। अन्यथा इडादेरपि क्त्वः सत्त्वात् वलादित्वस्य तद्विशेषधर्मत्वात् उपस्थितधर्मैस्त-

द्व्यापकधर्मैश्च विध्याकाङ्क्षापूरणे सति तदतिरिक्तविशेषग्रहणे मानाभाव इत्येतन्न्यायमूलकेन सामान्यातिदेशे (४) विशेषानतिदेशेन सिद्धौ विशेषणतयाऽलाश्रयणे निषेध इत्येतत्प्रतिपादकस्यानल इत्येव सिद्धे कृतस्य विधिग्रहणस्य वैयर्थ्यं स्यात्। हलादिक्ङिन्निमित्तकेत्वप्रतिषेधकात् (५) 'न ल्यपि' (६।४।६९) इति लिङ्गाच्च । अनुबन्धकार्ये त्वनल्विधाविति निषेधो न, अनुबन्धानामनेकान्तत्वात्, एकान्तत्वेऽपि शिद्ग्रहणेन तेषामल्व्यवहाराभावज्ञापनात् । 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (प० ६) इति ज्ञापयतीति भाष्ये (१) ऽल्त्वव्यवहाराभावबोधनद्वारेति शेषः। ध्वनितञ्चेदं 'क्ङिति च' (१।१।५) 'गाङ् लिटि' (२।४।४९) 'हलः श्नः' (३।१।८३) इति सूत्रेषु भाष्ये। तत्राऽऽद्ये 'यासुटो ङिद्वचनात् ङिदादेशा ङितो न इति ज्ञाप्यते' इत्युक्तम्। द्वितीये गाङो ङित्त्वस्य सानुबन्धकादेशे इत्कार्याभावज्ञापकतोक्ता, तिबाद्यादेशेषु पित्त्वासिद्ध्या दूषितं च ज्ञापकम्। अन्त्ये शानचः शित्त्वस्य सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धास्थानिवत्त्वज्ञापकत्वमुक्तम्, उक्तदूषणैरेव दूषितञ्च। अन्यथाऽनल्विधाविति निषेधेन तत्त्वाप्राप्त्या ज्ञापकत्वासङ्गतिः, तिबाद्यादेशेषु पित्त्वाद्यसिद्धिश्चेति बोद्धयम्।

पर्युदास से लभ्य अशास्त्रीय में भी शास्त्रीय की तरह अतिदेश स्वीकार करने से ही अर्थवत् सूत्र के अन्त में भाष्य में अप्रत्यय को पर्युदास ही माना है वह भाष्य में काण्डे में प्रत्यान्त भिन्नवत पूर्वान्त वद भाव से मानकर दोष की शंका की है स्वाश्रय अप्रत्यान्त मानकर नहीं की है क्षियोदीर्घात् सूत्र में भी अतिदिश्यमान धर्म के विरुद्ध स्वाश्रय कार्य का अभाव ही कहा है काण्डे में गुण करने के पश्चात् ह्रस्वोनपुस्के प्रातिपदिकस्य से ह्रस्व प्राप्ति की आशंका की है परन्तु लक्ष्येलक्षण न्याय से यहाँ ह्रस्व की प्राप्ति न होने से यह शंका उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक लक्ष्य में एक बार ही सूत्र की प्रवृत्ति होती है। काण्डे में प्रथम बार ह्रस्व हो चुका है अतः पुनः ह्रस्व नहीं होगा परन्तु यह कथन उचित नहीं है क्योंकि गुण पूर्व पर के स्थान में होता है अतः वह स्वघटक मात्रोद्देश्यक विकार नहीं है। किन्तु विकार से इतर है एकार उससे काण्डे अघटित नहीं है किन्तु घटित ही है। "क्षियोदीर्घात" सूत्र के भाष्य में भी अतिदिश्य मानधर्म के विरुद्ध स्वाश्रय कार्य का अभाव ही स्पष्टतया कहा है वहाँ भाष्य में क्षियः में १ प्रकृतिवत् के अतिदेश होने पर

(१) इयङ् के लिए स्वादिप्रत्ययों की अनुत्पत्ति की आशंका कर कहा है कि अतिदेश से प्राप्त होने वालों के स्वाश्रय कार्य निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा समाधान कर अतिदिश्यमान धर्म के विरुद्ध स्वाश्रय की निवृत्ति आवश्यक है। इस अभिप्राय से अथापि इत्यादि से आशंका कर निर्देश सामर्थ्य से विभक्ति होती है इस प्रकार वहाँ

का कथन है कि असिद्धवत् सूत्र के कैयट में भी यह स्पष्ट है जो कि गांङ्टादि सूत्र के भाष्य में सृजिदृशो: इत्यादि अंकित को पर्युदास मानने से सिसृक्षति में हलन्ताच्च से कित्व के अतिदेश मानने पर भी अमागम की आशंका करने से प्रसज्य प्रतिषेध मानकर समाधान किया है वार्तिककार अन्य उपाय है अनल्विधौ विधिग्रहण से अमाश्रय विधि में कार्य स्वीकार करने से जिस विधि में शब्द से स्थानी या स्थानीय के अवयव के अल् में रहने वाले धर्म वाले का तेन तृतीया समास पञ्चमी समास षष्ठी समास सप्तमी समास । (अल: विधि: अल: विधि: अलि विधि अल्विधि:) तदादि को इत्यादि क्रम से विशेष्यरूप से अथवा विशेषण रूप से अल् का आश्रयण हो वहाँ अनल्विधौ से निषेध होता है। शब्दत: स्थानीय कहने से नवीन के अर्थक ग्रहण है अलत्व व्याप्त धर्मा वच्छिन्नत्यादि स्नान्यवयवक कहने से प्राचीन मत संग्रह है धर्म अन्यतर के अल् में वृतिता विवक्षित है तृतीया समास का उदाहरण व्यूठोरस्केन है यहाँ विसर्ग-वृत्त अटत्व राकरणत्व की प्राप्ति थी परन्तु अल् से व्यवधान होने के कारण निषेध होता है पंचमी समास का उदाहरण द्यौ: है यहाँ दिव वृत्ति हलन्तत्व लकार हलऽयादि से मकार का लोप नहीं होता हैं क्योंकि अल से परे सकार का लोप करना है षष्ठी समास का उदाहरण द्युम्यां है यहाँ द्वित्र उत् से वकार को उकार होता है। उकार को स्थानवद् भाव से वकार मानकर लोपोव्योर्बलि से लोप नहीं होता है क्योंकि अल् के स्थान में कार्य करना है सप्तमी समास का उदाहरण क इष्ट: है। यहाँ यज् धातु से क्त प्रत्यय सम्प्रसारण करने से इष्ट: बनता है फिर क के उत्तर स कारुत्व यत्न य लोप करने पर का इष्ट: की सिद्धि होती है अब यहाँ सम्प्रसारण को स्थानिवद् भाव कर यकार के परे "हशि च" से उत्व करने में स्थानिवद् भाव का निषेध हो जाता है क्योंकि अल के पर उत्वादि विधि करनी है यद्यपि रुत्व उत्वगुण अवादेश करने पर यकार के लोप करने से क इष्ट: की सिद्ध हो सकती है परन्तु वकार का लोप विकल्प से होने से पक्ष में कविष्ट: भी होगा और यत्वादि करने से कविष्ट: है। अल् के विशेषण का उदाहरण प्रपद्य है क्योंकि वलादि में वल विशेषण रूप से टहीत है शब्दत: कहने से अटहीत की सिद्ध होती है अर्थात यहाँ ईट् ईटि से सकार का लोप सिद्ध होता है। क्योंकि ग्रहोऽलिटि दीर्घ विधायक सूत्र में तथा ईट ईटि में समुदाय का ही आश्रयण है अन्यथा टकार के अनुबन्ध होने से दीर्घविधायक तथा सकार के लोप विधायक सूत्र में इकार के ही आश्रयण से अल् विधि हो जाती ग्रहो-ऽलिटि सूत्र में इट् को ही स्थानीय माना है इसलिए उस सूत्र की स्थानीयता अलत्व व्याप्त धर्माविच्छिन्न ही है क्योंकि इट् में इकार और टकार दो अल् है इस सूत्र में विशेष्यति देश भी होता है। उसके अभाव में इजदि भी क्त्वा होने पर वलादित्व उसका विशेष धर्म है। उसके होने पर उपस्थित धर्म या उसके व्यापक धर्मों से विधि शास्त्र की आकांक्षा पूर्ति होने पर उससे अतिरिक्त विशेष ग्रहण के ग्रहण में प्रमाण के अभाव से इस न्याय के मूलवाले सामान्य के अतिदेश में विशेष का अतिदेश नहीं होता

है इस परिभाषा से भी कार्य सिद्ध था फिर विशेषण के रूप में भी अल् के आश्रयण में निषेध होता है इस अर्थ को सिद्ध करने वाले विधि ग्रहण का वैयर्थ्य हो जाता है। हलादि कित् दित् निमित्त मानकर इत्व के निषेध करने वाले नल्यापि सूत्र से यह सिद्ध है। अनुबन्ध कार्य में अनल्विधौ यह निषेध नहीं होता है क्योंकि अनुबन्ध अनेकान्त अनवयव होते हैं। अनुबन्धों को अवयव मानने पर भी अनेकाल सूत्र में शित् ग्रहण से उनके अल् व्यवहार का अभाव ही रहता है जो कि भाष्य में शित् ग्रहण नानुबन्धकृत मनेकालत्वम् परिभाषा में ज्ञापक है उसका भी तात्पर्य अलत्व व्यवहार के अभाव को बोध न करके ही उक्त परिभाषा में ज्ञापक समझना चाहिए यह विषय क्ङिति च गाङ् लिटि हलःश्न सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है प्रथम सूत्र के भाष्य में यासुट् के ङित्व से ङिन्त के स्थान में होने वाले आदेशङिन्त नहीं होते हैं ऐसा कहा है। द्वितीय सूत्र के भाष्य में गाङ् के ङित्व से अनुबन्ध विशिष्ट आदेश में इत् कार्य के अभाव का ज्ञापन किया है। तिप् आदि के आदेशों में पित्व को असिद्ध मानकर ज्ञापक को दूषित भी किया है। तृतीय सूत्र के भाष्य में शानच् के शित्व को सार्वधातुक आदेश में अनुबन्ध स्थानीय नहीं होता है। उक्त दोषों से उसको दूषित भी किया है। नहीं तो अनल्विधौ निषेध से ही उन धर्मों की अप्राप्ति से ज्ञापक ही असंगत थे और तित् आदि के आदेशों में पित्व आदि की असिद्ध थी।

अचः पर (१।१।५७) आदेशग्रहणमनुवर्त्तते, तदनुरोधात् 'अचः' इति स्थानषष्ठी। 'परस्मिन्' इत्यादेशविशेषणं, तदाह–परनिमित्त इत्यादि। (२) अच एवादेश इत्यर्थः। तेन—

(१) मरुतमाचष्टे 'मारयति' इत्यादौ वृद्धिः। अत्र सूत्रे—

(१) प्रयोगे योऽच् तत्स्थानिक इत्यर्थः; (२) न तु सूत्रे स्थानित्वे नोपात्ताच्स्थानिक इत्यर्थस्तेन णिलोपादेरनेन स्थानिवत्त्वं सिद्ध्यति। अत एव चङ्परनिर्ह्रासे ण्यन्तात् णिचि 'अवीवदत्' इत्यादिसिद्धयर्थो निषेधः सार्थकः। अच इति किम् ? (३) आगत्य, मलोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'ह्रस्वस्य' (६।१.७१) इति तुग्न स्यात्। परस्मिन्निति किम् ? (४) युवजानिः। निङः स्थानिवत्त्वेन यलोपो न स्यादिति। पूर्वविधाविति किम् ? नैधेयः। निपूर्वाद्धाञः किप्रत्यये आतो लोपे तस्य स्थानिवद्भावान् (५) त्र्यच्त्वव्यपदेशविरोधात्स्वाश्रयद्वयच्त्वनिवृत्तौ ढगनापत्तेरिति दिक्।

अत्र स्थानिनि सति यद्भवति, तदादेशेऽपि भवति, स्थानिनि (१) यन्न भवति तदादेशेऽपि नेति भावाभावयोरुभयोरप्यतिदेशः। तत्र भावोदाहरणं 'निगाल्यते' इति, अन्त्योदाहरणं 'ण्टयति' इत्यादि। स्थानिमित्तकं

भवत्यादेशनिमित्तकं नेति च तदर्थः। लघूपधत्वसम्पादनद्वारा लोपनिमित्तिका वृद्धिरित्याहुः।

अचः परस्मिन्स्थानित्रत् सूत्र से आदेश की अनुवृत्त होती है उसके अनुरोध से अचः यह स्थान षष्ठी है। परस्मिन् आदेश का विशेषण है इसलिये कहते है परनिमित्त इत्यादि पर को निमित्त मानकर अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानीय की तरह होता है स्नानिभूत अच् से पूर्व दृष्टि होने पर अच् के स्थान में ही आदेश हो इससे मझतमाघष्टे विग्रह में सिद्ध मारयति इत्यादि में वृद्धि होती है उक्त प्रयोग में लट्ट के लोप होने से केवल लोप अच् स्थानिक नहीं है इस सूत्र में प्रयोग में जो अच् स्थानिम् यह अर्थ है सूत्र में स्थानित्वेन उपान्त अच् स्थानिक यह अर्थ नहीं है इसणिलोपादिक् स्थानिवत् भाव भी इसी से होता है। इसीलिये चङ् परक निर्हास उपधालोप में ज्यन्त से ङिच के परे अवीवदत् इत्यादि की सिद्धि के लिये निषेध सार्थक होता है अन्यथाः णिलोपकेस्थानिवत् भाव की प्राप्ति के अभाव में निषेध की कोई आवश्यकता नहीं थी। अचः न कहने पर आगत्य में मलोप के स्थानिवत् भावहोने पर ह्रस्वस्व से तुक् नहीं होता परस्मिन् न कहने पर युवजानिः में दोष था निङ् के स्थानिवत् भाव होने से मलोप नहीं होता परन्तु निङ़ पर निमित्तक नहीं है अतः स्थानिवत् भाव से आकार नहीं आता है और निङ़् को मानकर मलोप हो जाता है पूर्व विधौ का फल नैद्यंयः ही तिङ् पूर्वक धाञ् धातु से कि प्रत्यय करने पर आकार के लोप होने पर उसके स्थानिवत् भाव से तीन अच् होने से (निङ़् की इकार धातु का आकार और कि प्रत्यय की इकार द्वयचत्व की निवृत्ति होने से द्विचा ढक से नही होता। स्थानी के रहने पर जो कार्य होता है वह आदेश के रहने पर भी होता है "स्थानी के रहते जो कार्य नहीं होता वहाँ आदेश में भी नहीं होता" अर्थात यह सूत्र भाव और अभाव दोनों का अतिदेश करता है भावातिदेश का उदाहरण निगालते है यहाँ णि को मानकर लत्व होता है। आभावाति देश का उदाहरण पटयति है। यहाँ पटु के उकार रहने पर वृद्धि नहीं होती है तो उसके लोप करने पर भी नहीं होती तात्पर्य यह है कि स्यानिनिमित्तक कार्य होता है और आदेश को निमित्त मानकर होने वाला कार्य नहीं होता लघूपध (अघुपध) होने से वृद्धि लोप निमित्तक है। स्थानी के रहने पर इत्यादि अर्थ मानने पर देवपते से द्विव करने पर दयू सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वकार ऊठ होने पर अभादेश होता है स्थानी की सत्ता में अयादेश नहीं होता था तो लोप करने पर भी नहीं होना चाहिए। आदेशे स्थानिवृत्त धर्म सम्भावनायाम् यद भवति तद्भवति यत्र न भवति तत्र भवति (आदेश में स्थानी के रहने वाले धर्म की सम्भावना में जो कार्य होता है वही और को नहीं होता है वह नहीं हो प्रकृतिणित्व की सम्भावना करने पर भी क्विप को निमित्त मानकर ऊठ हो ही गया है अतः अमादेश हो जायेगा उक्त अर्थ में ऐषोगमयत् में दोष आता है अर्थात

एतददौः से सुलोप होने लगेगा इसका उत्तर देते हुए कहते है स्थानिनिवृत्ति आदेशोग-जातइति सम्भावनायाम् यद्भवति तद्भवति यत्भवति तत्भवति ऐसा अर्थ मानने पर कोई दोष नहीं है प्रकृति में स्थानीय इण् की निवृत्ति नहीं हुई है और आदेशगम् भी नहीं हुआ है ऐसी अवस्था में सुलोप की प्राप्त नहीं है।

स्थानिभूतादच इति। सूत्रे श्रवणाव्याख्यानाच्च तस्यैव पूर्वत्वेऽव-धित्वमिति भावः। 'पूर्वविधौ' इत्यस्य पूर्वसम्बन्धिन्येव शास्त्रविधेये कर्त्तव्ये इत्यर्थः। तेन पूर्वपरयोर्विधौ न। तेन (२) 'आरतुः' इत्यादौ 'ऋच्छत्यताम्' (७।४।११) इति गुणस्य सवर्णदीर्घे न स्थानिवत्त्वम्। वस्तुतोऽत्र पूर्वविधि-शब्दे तन्त्रम्। एकस्योक्तोऽर्थः, द्वितीये भावे किः। सम्बन्धसामान्यषष्ठयन्त-पूर्वशब्देन समासः। विधिर्भावः पूर्वसम्बन्धिभावे तत्स्थितौ स्थानिवदित्यर्थः। अत एव 'ऐनेयः' इत्यादौ 'यस्येति च' (६।४।१४८) इति लोपे तस्य स्था-निवत्त्वात्सन्नियोगशिष्टन्यायप्राप्तनिवृत्तिप्रतिबन्धेन नकारस्थितिः। 'न पदान्त' (१।१।५८) सूत्रे पञ्चेन्द्राण्यां देवता अस्य 'पञ्चेन्द्रः' इति 'लुकि न स्थानिवत्' इत्यस्योदाहरणं दत्तं भाष्ये। अन्यथा तत्र पूर्वत्वेन दृष्टस्य सम्बन्धिनः कस्यचिद्विधेयस्याभावात्स्थानिवत्त्वाप्राप्तिरेवेति तदसङ्गतिः स्पष्टैव। प्रकृतसूत्रेऽपि भाष्ये 'कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्व-मिष्टं सङ्गृहीतमिति भावसाधनो विज्ञास्यते पूर्वस्य विधानं प्रति पूर्वस्य भावं प्रति स्थानिवत्' इत्युक्तम्। तत्र भावसाधन इत्यस्य (१) तोऽपीत्यर्थः। पूर्वत्पञ्च व्यवहिताव्यवहितसाधारणम्, अव्यवहितग्रहणे मानाभावात्, निषेधाच्च। तेन 'पटयति' इति सिद्धम्। प्रकृते च द्वित्वनिषेधे स्थानि-वत्त्वप्राप्तिः।

स्थानिभूतादच इति। सूत्र में सुनने से और व्याख्यान से अच् ही पूर्वत्व में अवधि है "पूर्वविधौ" का अर्थ यह है कि पूर्वसम्बन्धी शास्त्र विधेय करने में यह अर्थ है इससे पूर्वपद विधि भी स्थानिवत् भाव नहीं होता है इससे आरतुः इत्यादि में सवर्ण — दीर्घ करने में ऋच्छत्यृताम् से विहित गुण का स्थानिवत् भाव नहीं होता है। वास्तव में यहाँ पूर्वविधि शब्द में तन्त्र है (एक बार उच्चारण अनेकार्थ की प्राप्ति को तन्त्र कहते हैं) एकार का तो पूर्वोक्त ही अर्थ है द्वितीय विधि में भाव में कि प्रत्यय है। सम्बन्ध सामान्य में षष्ठयन्त पूर्व शब्द से समास है (पूर्वस्य विधिः) विधि का अर्थ भाव है अर्थात पूर्व सम्बन्धी भाव में (सत्ता में) अर्थात उसकी स्थिति में स्थानिदत् भाव होता है उक्तार्थ स्वीकार करने से ही ऐनेयः इत्यादि में 'यस्येति च' से इकार लोप करने पर उसके स्थानिवत् भाव से नकार की निवृत्ति नहीं होती है। येनी में तकार को नकार

और ङीप् साथ-साथ ही होते हैं इकार के लोप होने पर सन्नियोग शिष्ट न्याय से नकार की भी निवृत्ति पायी थी उक्तार्थ के स्वीकार करने से ही "न पदान्त" सूत्र में लुक्नस्थानिवत् का प्रच्चेन्द्राण्यो देवतायस्य विग्रह में सिद्ध पंचेन्द्रः उदाहरण दिया है। अन्यथा उक्त उदाहरण में पूर्व से दृष्टि सम्बन्धी के स्थान में कुछ भी विधेय नहीं है तवस्थानिवत् भाव के अभाव में निषेध व्यर्थ था अतः भाष्य की असंगति भी स्पष्ट ही है प्रकृति सूत्र के भाष्य में लिखा है कि "कर्मसाधन विधि शब्द के उपादान से सभी इष्ट स्थलों का संग्रह नहीं होता है इसलिए भाव साधन भी स्वीकार करने में अर्थात पूर्व के लिए विधान के प्रति पूर्व के भाव के सत्ता के प्रति स्थानिवत् भाव हो।" "भाष्य में भाव साधन का अर्थ भाव साधन भी है" अर्थात कर्मसाधन और भावसाधन दोनों ही है। व्यवहित और अव्यवहित दोनों ही पूर्व से लेना। क्योंकि अव्यवहित ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है और स्वर में निषेध करने से भी अव्यवहित का ग्रहण होता है। चिकीर्षिका में लिति च से आद्युदान्त करने में अलोप का स्थानिवत् भाव नहीं होता है क्योंकि न पदान्त से स्वर करने में निषेध हो जाता है। उक्त उदाहरण में व्यवहित को ही कार्य करना है। क्योंकि सकार का व्यवधान है। इससे पटयति की सिद्ध होती है। क्योंकि स्थानिङ्कार के रहते वृद्धि नहीं होती थी तो लोप करने पर भी नहीं होती है। प्रकृत सुध्युपास्यः में द्वित्व के निषेध करने में स्थानिवत् भाव की प्राप्ति थी।

न पदान्त (१।१।५८)। अत्र द्विर्वचनसवर्णादिग्रहणं वतिघटिता (२) ऽन्यातिदेशानां त्रिपाद्यामपि प्रवृत्तिबोधनार्थम्। तेन 'रामः' इत्यादौ विसर्गादिसिद्धिः। अत्र विधिशब्दो (३) भावसाधनः। पदान्तेत्यत्रान्तशब्दश्चरमावयववाची। कर्मषष्ठया समासः। तेन 'एषो यन् हसति' इत्यादौ 'एतत्तदोः' (६।१।३२) इति सुलोपो न। इणः शतरि 'यन्' इति रूपम्। तत्र यणः स्थानिवत्त्वात्। उत्वे च न स्थानिवत् अनेन निषेधात्। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये इति भाष्यप्रदीपोद्द्योते निरूपितम्। अत्र पदेऽन्त इति सप्तमीसमासो भाष्ये उक्तः, तेन प्रत्यासत्त्या पदे परतः चरमावयवे कार्ये कर्त्तव्ये (१) परपदस्थाजादेशस्यैवानेन स्थानिवत्त्वनिषेध इति (२) वेतस्वान् इत्यादौ न दोषः न चैवमपि 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' (का० वा०) इति निषेधोऽत्र दुर्वारः। पदेऽन्त इत्यर्थेन तत्र स्थानिवत्त्वनिषेधव्यावृत्तिपरभाष्यप्रामाण्येन पूर्वत्रासिद्धे इत्यत्र। (३) पदचरमावयवविधायकातिरिक्तस्यैव त्रैपादिकस्य ग्रहणात्। अत एव (१) महिष्मान् इत्यत्र जश्त्वं अ सूत्रे जश्पदेन। (२) 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) इत्यस्यैव ग्रहणम्,

चरसक्तिहितस्यैव ग्रहणौचित्यात्। कार्यकालपक्षेऽपि त्रिपाद्यामन्तरङ्गपरिभाषा न प्रवर्त्तते इति वक्ष्यते इति न तयाऽस्य सिद्धिः। 'गोचा' इत्यादौ 'गतिकारकोपपदानाम्' (प०) इत्यस्यानित्यत्वेन सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समासः। 'उत्तरपदत्वे च' (का० वा०) इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधश्च प्रत्यासत्त्योत्तरपदस्य कार्यित्वे एवेति न दोषः। पदे इति (३) पदत्वयोग्योपलक्षणं वा। अत्रेदं भाष्यमपि मानम्। अत्र पदचरमावयवादि (४) साधकः (५) प्रतिबन्धकश्च स्थानिवद्भावो निषिद्ध्यते; विनिगमनाविरहात्। एतत्सूत्रभाष्य 'कमेर्णिङ्' (३।१।३०) इत्यादिसूत्रभाष्यैः 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इत्यवष्टभ्य वरेयलोपस्वर (१) दीर्घग्रहणवर्जं द्विर्वचनादि प्रत्याख्यातमिति लभ्यते। निषेध इति। द्विर्वचनग्रहणात् 'पूर्वत्रासिद्धे' इति निषेधाद्वेति भावः। दकार इति। स्थानत आन्तर्यादिति भावः।

न पदन्ति। इस सूत्र में द्विर्वचन तथा सवर्णादिग्रहण से ज्ञापित होता है कि वतिघटित अतिदेश त्रिपादी में भी प्रवृत्त होते है ज्ञापन से स्वांश में चरितार्थ कठिन था। अतः पूर्वोक्त ज्ञापन ही उचित है यदि त्रिपादी में अतिदेश की प्रवृत्ति न होती हो तो द्विर्वचनाकि में निषेध करने की क्या आवश्यकता थी यहाँ विधि शब्द में भाव में विप्रत्यय है वास्तव में कर्म साधन मानने में भी कर्मधारय में समास स्वीकार करने से पदचरभावयवादि विधेय करने पर ऐसा अर्थ मानने में कोई दोष नहीं है (पदान्त रचासौ विधिः इत्यादि) पदान्त में अन्त शब्द चरमा (अन्तिम) अवयव को कहता है। कर्म षष्ठी से समास करने पर कार्य सिद्ध होता है उक्तार्थ स्वीकार करने से एषोयन् हसति में एतन्तदोः से सुलोप नहीं होता है इण् धातु से शत् प्रत्यय करने पर मन् की सिद्ध होती है। यहाँ यण् को स्थानिवत् भाव करने से इकार के आने से सुलोप नहीं होता है और उत्व करने में स्थानिवत् भाव नहीं होता है। क्योंकि 'न पदान्त' से निषेध हो जाता है लोप करने में निषेध नहीं होता है विधेय जो लोप (अभाव) है वह अवयव नहीं है यह सभी भाष्य में स्पष्ट है।

यहाँ पदे अन्तः यह सप्तमी समास भाष्य में कहा है इससे प्रत्यासन्ति (सामीप्य) से पद से परे चरमावयव कार्य के करने से पर पद स्थिति अजादेश का भी यह स्थानिवत् भाव का निषेध करता है इससे वेतस्वान् इत्यादि में दोष नहीं है। अर्थात् रुत्व नहीं होता है अतएव प्रत्यौषिषन् देवदत्तः में पर रुप के स्थानिवत् भाव होने से जुस् नहीं होता है। क्योंकि उस स्थानिवत् भाव का यह निषेध भी नहीं करता है सन् के अकार अन्तः देश के अकार के साथ पर रूप होता है। अब यहाँ पूर्वत्रासिद्धीयेन स्थानिवत् से निषेध हो जायेगा यह शंका भी उचित नहीं है पदेअन्तः इस अर्थ से वहाँ स्थानिवत् भाव की निषेध व्यावृत्ति परक भाष्य के प्रभाष्य से पूर्वत्रासिद्धे

में पद के चरमावयव के विधायक कार्य से अतिरिक्त ही त्रैपादिक लेना चाहिए। उक्तार्थ स्वीकार करने से महिष्मान् में जश्त्व नहीं होता है। सूत्र में जश् पद से झलां जश् झशि का ग्रहण करना उचित है। क्योंकि चर के सन्नहित का ही ग्रहण ठीक है कार्य काल पक्ष में भी त्रिपादी में अन्तरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है यह कहेंगे इसलिये उस परिभाषा से भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकती है। गोचाइत्यादि में गतिकारकोपपदानाम् परिभाषा के अनित्य होने से सुबुत्पत्ति के पश्चात् ही समास होता है अतः अलोप्य के स्थानवित् भाव का निषेध होता है अन्यथा अवादेश हो जाता। 'उत्तरपदत्वे च' से जो प्रत्यय लक्षण का प्रतिषेध होता है। वह उत्तर पद को कार्य करने में ही होता है। अतः कोई दोष नहीं है। अथवा पदे को पदत्व योग्य का उपलक्षण मानेंगे (पद संज्ञा प्रयोजक प्रत्यय निष्ठ विधेयता निरूपितोद्देश्यता वच्छेदक धर्मत्वम् पदत्वम् योग्यत्वम्) पद संज्ञा की प्रयोजक प्रत्यय सुप् और तिङ उनमें रही विधेयता जो उद्देश्य हो अर्थात सुप्तिङ प्रत्यय आने की जिसमें योग्यता हो। यहाँ पद चरमावयवादि का साधक तथा प्रतिबंधक स्थानिवत् भाव का निषेध होता है क्योंकि किसी एक के ग्रहण करने में विनिगमक (युक्त) नहीं है वह चार प्रकार का है परम्परया पदचरमावयव का साधक, साक्षात् पद चरमावयव का प्रतिबन्ध परमावयव परम्परा से वहां दूसरे को छोड़कर तीनों का निषेध का यह करता है इस सूत्र के भाष्य से तथा कर्मेणिङ्। सूत्र के भाष्य से यह सिद्ध होता है पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् को स्वीकार कर वरेपलोप स्वर दीर्घ को छोड़कर द्विर्वचनादि ग्रहण का भाष्य में प्रत्याख्यान किया है। निषेधइति द्विर्वचन ग्रहण से अथवा पूर्वत्रासिद्धे से निषेध जानना। दकार इति, स्थानकृत आन्तर्य से धकार को दकार होता है।

अदर्शनम् (१।१।६०)। स्थाने इति वर्त्तते, प्रसङ्गे सतीति तदर्थः, तदाह–प्रसक्तस्य इति। शास्त्रतोऽर्थतो वेतिः भावः। अत्र दृशिर्ज्ञान-सामान्ये। तत्र ज्ञानस्यावर्जनीयत्वेन तत्सामग्रयन्तर्गता उच्चारणकृता (२) सत्ता निषिद्ध्यते। तत्र प्रत्ययलोपे शास्त्रतोऽर्थतश्च प्रसक्तोच्चारणस्य लोपविधानेन तस्य तस्मिन् विषये (३) ऽनुत्पत्तेरेवान्वाख्यानं प्रत्ययलक्षणा-र्थमिति बोद्ध्यम्। अर्थस्यैषा सञ्ज्ञा व्याख्यानात्। यत्तु 'प्रसक्तस्येति किं ग्रामे तिष्ठतोत्यादौ 'ल्यब्लोपे' इति पञ्चम्यापत्तेः। अस्ति चात्र ल्यपो-ऽदर्शनम्। शास्त्रतोऽर्थतश्च न तत्प्रसक्तिरिति न दोषः' इति, तन्न, तेन प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तार्थकर्माधिकरणयोरेव पञ्चमीविधानेन तस्यात्राप्राप्तेः। तत्त्वे तु अस्त्येवार्थतो ल्यबन्तस्य प्रसक्तिः। तस्मात् (१) त्रपु इत्यत्र क्विपोऽदर्शनसत्त्वेन प्रत्ययलक्षणेन तुगापत्तिर्दोषः। कृत्प्रत्ययेन प्रकृत्याक्षेपस्तु

न। अत्रैव प्रकृतिं विनाऽतिदेशतः प्रत्ययज्ञानसत्त्वेन व्यभिचारात्तदाक्षेपासम्भवात्।

अदर्शनम् यहाँ स्थानी की अनुवृत्ति होती है। उसका अर्थ प्रसंग है इसी से प्रसक्त कहा। वह प्रसक्त शास्त्र या अर्थ से अभीष्ट है यहाँ दृश धातु ज्ञान सामान्य में है। वहाँ ज्ञान का वर्णन होना कठिन है अतः उसकी सामग्री के अन्तर्गत उच्चारण की सत्ता का निषेध समझना वास्तव में उच्चारण का अभाव ही अदर्शनम् पद का अर्थ है। क्योंकि सत्ता तो अवर्जनीय है वहाँ प्रत्यय के लोप में शास्त्र से और अर्थ से प्रसक्त उच्चारण का लोप करने से उसकी उस विषय में अनुत्पत्ति का ही अनुवादख्यान प्रत्यय लक्षण के लिए है। व्याख्यान से यह संज्ञा अर्थ की ही होती है। जो कि कहा है कि प्रसक्तस्य के ग्रहण न करने पर ग्रामे तिष्ठति इत्यादि में ल्यब्लोपे से पंचमी हो जायेगी। क्योंकि यहाँ ल्यप् का अदर्शन है अर्थात यहाँ ल्यप् नहीं दीखता है। परन्तु वहाँ शास्त्र से और अर्थ से उसकी प्रसक्ति नहीं है। अतः पंचमी की प्राप्ति नहीं है। परन्तु उनका कथन उचित प्रतीति नहीं होता है क्योंकि वहाँ प्रत्यासत्ति न्याय से ल्यबन्तार्थ कर्म और अधिकरण में ही पंचमी करता है अतः उनकी प्राप्ति नहीं है यदि विचार किया जाये तो वहाँ अर्थ से ल्यबन्त की प्रसक्ति है। इसलिए त्रप में क्विप् के अदर्शन से प्रत्ययलक्षण से तुक् होने लगेगा। कृतप्रत्यय से प्रकृति का आक्षेप तो नहीं होगा। क्योंकि यहाँ ही प्रकृत के बिना अतिदेश से प्रत्यय ज्ञान होने से व्यभिचार के कारण आक्षेप सम्भव नहीं है।

इति पक्षे इति। (२) विनिगमनाविरहादिति भावः। द्वित्वस्य त्रैणादिकत्वात्तत्र न यणो बहिरङ्गासिद्धत्वम्। अत एव 'दद्ध्यत्र' इति भाष्ये उदाहृतम्। धकारयकारयोरिति। तेन विसर्गादिद्वित्वेनाऽऽधिक्येऽपि न क्षतिः। द्विधमिति। द्विधत्वं प्रक्रियायां बोध्यम्। 'एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो न। द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च भविष्यति' इति 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' (३।१।४०) इति सूत्रभाष्योक्तन्यायेनकस्य द्वित्वे परस्य तदभावोऽनुचित इति न वाच्यम्, सार्थकानेकविषये तन्न्यायाङ्गीकारात; यत्रान्याकृतिकरणे भिन्नार्थत्वसम्भावना (४) तद्विषयत्वाच्च। 'हलो यमाम् (८।४।६४) इति लोपे द्वित्वाभावे चैकधमेव रूपम्।

इतिपक्षे इति। विनिगमना के अभाव में यणः यह पंचमम्यन्त तथा षष्ठत्यन्त दोनों ही है। किसी एक पक्ष को सिद्ध करने वाली युक्त का नाम विनिगमना है) द्वित्व के त्रैपादिक होने से बहिरंग परिभाषा से यण् असिद्ध नहीं होता है। असिद्ध न होने से ही भाष्य में दध्यत्र उदाहरण दिया है। धकारयकारयोरिति। इससे विसर्ग आदि को द्वित्व करने अधिक रूप होने पर भी कोई आपत्ति नहीं है। द्विधमिति। दो धकारों

की प्रक्रिया में समझना 'कृच्चानुप्रयुज्यते' सूत्र के भाष्य में एकस्या इत्यादि परिभाषा से 'एक आकृति में चरितार्थ प्रयोग द्वितीय के लिए नहीं होता है' एक को द्वित्व करने पर के लिए उसका अभाव अनुचित है यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि सार्थक अनेक के विषय में उस न्याय को स्वीकार किया है। और अन्य आकृति करने में अर्थ में भेद की सम्भावना हो वही उसका विषय है 'हलो यमाम्' से लोप करने पर एक सा ही रूप होता है।

नादिन्या (८।४।४८) 'यरोऽनुनासिके' (८।४।४५) इत्यतो यर इति वर्त्तते। पुत्रशब्दस्येत्यवयवषष्ठी 'आदिनीशब्दे परे' इति च प्राधान्याद् यर एव विशेषणम्। सूत्रे आदिनीति ङ्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तमीकम्। अत एव 'तत्परे च' (का० वा०) इत्यस्याऽऽदिनीशब्दो यस्मात्परस्तत्र परे इत्यर्थं हरदत्तो व्याख्यत्। अद्धातौ माधवोऽप्येवमेव। इदृशाक्रोशस्य स्त्रीष्वेव दर्शनाच्च। आक्रोशो निन्दा तदाह—पुत्रादिनि इति। तादृशाक्रोशस्य स्त्रीष्वेव दर्शनादाह—पुत्रहति इति। 'अनचि च' (८।४।४७) इति सिद्धे पुत्रस्य क्तान्ते चेद्धतजग्धयोरेव, आक्रोशे एवेति नियमार्थमिदम्।

नादिन्या 'यरोऽनुनासिके'। से यरः की अनुवृत्ति होती है पुत्रशब्दस्य यह षष्ठी अवयव में है और आदिनीशब्दे परे वह प्राधान्य से यर का ही विशेषण है सूत्र में आदिनी यह ङ्यन्त का अनुकरण है और इसकी सप्तमी का लुक् हो गया है। लुप्त सप्तमी के होने से ही 'तत्परे च' का आदिनी शब्द जिससे परे है उसके परे यह अर्थ हरदत्त ने कहा। अद धातु में माधौ ने भी ऐसा ही कहा है। और इस प्रकार का कोसना (पुत्र के खाने वाली है) प्रायः स्त्रियों में ही देखा जाता है। इससे कहते हैं पुत्र हतिइति। 'अनचि च' से द्वित्व सिद्ध था नियमार्थ है नियमाकार पुत्र को क्तान्त के परे हो तो हत् और जाधि के ही परे हो और कोसने में ही हो।

संयुक्तेषु इति। 'त्रिप्रभृतिषु' (८।४।५०) इति सूत्रे वर्णानां सजातीयानामेव ग्रहणं; परस्परसाहचर्यात्। न च तथाऽचः सम्भवति। अत एव (१) 'अचो रहाभ्याम्' (८।४।४६) इति सार्थकम्। निर्धारणे सप्तमी, 'अच' इत्यनुवर्त्तते, त्रिप्रभृतिसंयुक्तवर्णमध्येऽचः परस्य यरो द्वे वा न स्त इत्यर्थः। तेन 'इन्द्रः राष्ट्रम्' इत्यत्र नकारषकारयोः प्राप्तद्वित्वस्यैव निषेधविकल्पः। 'अनचि च' (८।४।४७) 'सर्वत्रशाकल्यस्य' (८।४।५१) इत्येव सिद्धे इदं सूत्रद्वयं विकल्पस्य मतभेदप्राप्तव्यवस्थाबोधनार्थमिति बोध्यम्। 'यरोऽनुनासिके' (८।४।४५) इत्यतो वेत्यनुवृत्त्या 'अनचि' (८।४।४७) इत्येव सिद्धे तु सूत्रत्रयमपि तथेति बोद्ध्यम्।

संयुक्तेषुइति । 'त्रिप्रभृतिषु' सूत्र में परस्पर के साहचर्य से सजातीय (हल्) वर्णों का ही ग्रहण है। सजातीय अच् नहीं हो सकता है। इसी से अचोरहाभ्याम् भी सार्थक है। यह सप्तमी निर्धारण में है अच की अनुवृत्त होती है तीन आदि संयुक्त वर्णों के मध्य में अच् से परे यर को विकल्प से द्वित्व नहीं होता है। उक्तार्थ से इन्द्रः राष्ट्रम में नकार और षकार को प्राप्त द्वित्व का ही विकल्प से निषेध है। 'अनचि च' तथा सर्वत्रशाकल्यस्यं इनसे ही कार्य सिद्ध था यह दोनों सूत्र विकल्प के मतभेद से प्राप्त व्यवस्था करने के लिए है। 'यरोऽनुनासिके' से ना की अनुवृत्ति करने पर अनचि च से ही कार्य सिद्ध होने पर तो तीनों सूत्र ही व्यवस्था के लिए है।

अचो र (८।४।४६) अच इति श्रुतत्वाद्व्याख्यानाच्च रहाभ्यां सम्बध्यते। 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१ १।६७) इत्येतल्लभ्यमाह–अचः पराभ्याम् इति।

वा यमि इति। 'झयो हः' (८।४।६२) इत्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवृत्तेरिति भावः। दीर्घादाचार्याणाम्' [८।४।५२] इत्युत्तरम्' 'अनुस्वारस्य ययि' [८।४।५८] 'वा पदान्तस्य' [८।३।५९] 'तोलि' [८।४।६०] 'उदः स्थाः' [८।४।६१] 'झयो हो' [८।४।६२] 'शश्छोऽटि' [८।४।६३] इति षट्सूत्रीपाठोत्तरं 'झलां जश् झशि' [८।४।५३] 'अभ्यासे चर्च' [८।४।५४] 'खरि च' [८।४।५५] 'वाऽवसाने' [८।४।५६] 'अणोऽप्रगृह्यस्य' [८।४ ५७] इति पञ्चसूत्र्याः पाठ इति [२] भाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठे तु 'वैकल्पिकत्वं लण्' [मा० सू० ६] सूत्रे भाष्ये।

आदित्य इति। आदित्यशब्दा(३)च्छेषार्थण्वान्ताद्देवतार्थे ण्यः। 'यस्येति च' [६।०।१४८] इत्यल्लोपेऽनेन यलोपः। 'आपत्यस्य' [६।४। १५१] इति तु न। आपत्यत्वाभावात्। हल इति किम्? शय्या। यमामिति किम्? आध्नोंत्। यमीति किम्? रामाभ्याम्।

अचोर। अचः यह पद श्रुत तथा व्याख्यान से रहाम्याम् से सम्बन्ध करता है। तस्मादित्युत्तरस्य के सहयोग से प्राप्त अर्थ कहते हैं। अचः पराभ्याम् इति। वायमि इति। झयो हः से अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति से उक्त वा का अर्थ सिद्ध होता है। "दीर्घादाचार्याणाम्"। आगे अनुस्वासस्य ययि इत्यादि छः सूत्र के पाठ के आगे झलां जश् झशि भाष्य सम्मत पंचसूत्रीय मानने पर तो वाऽवसाने से वा की अनुवृत्ति जानना यह विकल्प से द्वित्वकरता है यह विषय लण् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। 'आदित्य इति'। शेष अर्थ में ण्यन्त आदित्य शब्द से देवता अर्थ में ण्यः प्रत्यय होता है। यस्येति च से अकार लोप करने पर 'हलोयमाम्' से यकार का लोप होता है। आपत्यस्च से

तो लोप नहीं होता है। क्योंकि आपत्यत्व नहीं होता है देवतार्थक है। हल ग्रहण न करने पर आर्ध्नोत् में धकार का लोप होने लगता यमि न करने पर रामाभ्याम् में य का यकार का लोप होने लगता।

एचोऽय [६।१।७८] । 'इ्चोऽचि यणयवायाव:' 'अवावौ यि प्रत्यये' इति सूत्रयितुमुचितमित्याहुः । यथासङ्ख्यसूत्रलब्धमर्थमाह—क्रमाद् इति । उदात्तादिगुणयुक्तानामन्यगुणकव्यावृतिस्तु स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया बोद्ध्या । एतदेवाभिप्रेत्य यथासङ्ख्यसूत्रे भाष्ये प्रकृतसूत्रे स्थानेऽन्तरतम'— [१।१।५०] सूत्रेण व्यवस्थोक्ता—(१)'संवृतावर्णस्य संवृतावर्णोविवृतावर्णस्य विवृतावर्ण' इति एतद्भाष्यप्रामाण्येन एओ इत्यनयोरकारांशे सवृतत्वम्; इतरांशे विवृतक्तत्वं, तदुपरागाच्च न संवृतत्वस्य पृथग् ग्रहणम् । ऐओ इत्यनयोस्त्वकारांशेऽपि विवृतत्वमेवेति बोध्यम् ।

ह "इचोऽचि यणयवायाव:" अवावौ यि प्रत्यये इस प्रकार के सूत्र इकोयणचि एचोयवायाव: वान्तोयि प्रत्यय के स्थान में करना उचित था यथा संख्यसूत्र के सहयोग से प्राप्त अर्थ को कहते हैं। क्रमाद्इति। उदान्तादि गुण वालों से अन्य गुण वालों की निवृत्ति तो स्थानेन्तरतम् परिभाषा से जानना। यह बात समझकर ही यथासंख्य सूत्र के भाष्य में प्रकृतसूत्र में (एचोयवाया: स्थानेन्तरतम्) सूत्र से व्यवस्था की है। संवृत वर्ण को संवृतवर्ण और विवृतवर्ण को विवृतवर्ण हो इत्यादि प्रकार से इस भाष्य के प्रामाण्य से ऐ औ के अकारांश में संवृत और अन्य अंश में विवृततर जानना चाहिए। उसके उपराग से संवृत का अलग ग्रहण नहीं है। ऐ औ के भी अकारांश में विवृतत्व ही है।

तस्य लो (१।३।९) । 'उपदेशेऽज्' (१।३।२) इत्यत इदित्यनुवृत्त्या विभक्तिविपरिणामेन च सिद्धौ 'तस्य' ग्रहणं सर्वलोपार्थम् । तेन जिटुडूनामन्त्यस्य लोपो न । 'नाऽनर्थके' (प) इति परिभाषा तु भाष्ये प्रत्याख्यातैवेति दिक् । न भवति इति । फलाभावादिति भाव: ।

उपदेशेऽच् से इत् के अनुवृत्ति तथा विभक्ति के विपरिणाम से कार्य सिद्ध हो जाता फिर तस्य का ग्रहण सब लोप के लिए है। इससे जिटुडू में अन्त्य का लोप नहीं होता। नाऽनर्थ के परिभाषा से तो कार्य सिद्ध सम्भव नहीं है क्योंकि भाष्य में उसका प्रत्याख्यान कर दिया है न भवति इति। उच्चारण के कारण जब लोप नहीं होता है तो फल के अभाव से इत्संज्ञा भी नहीं होती है।

वान्तो (६।१।७९) । 'येन विधि:' (१।१।७२) इत्यस्यापवादभूतया (२) 'तस्मान्नुडचि' (६।३।७४) ईत्याद्यर्थमावश्यिकया—(१) वाचनिक्या

'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे (५०) इति वार्त्तिककृदुक्त-(२) परिभाषया लब्धमर्थमाह—यकारादाविति । ओदौतोरित । 'ओदौतोरिति वक्तव्यम्' इति वार्त्तिकमूलाद्व्याख्यानादिति भावः । 'पूर्वसूत्रे वान्तौ प्रतितयोरेव स्थानित्वनिर्णयात्' इति 'स्थानेऽन्तरतम्' (१।१।५०) सूत्रस्थ—केयटावक्तं तु न युक्तम् । वान्तज्ञानाय सूत्रपर्यालोचनस्याऽऽवश्यत्वेऽपि तद्वाक्यार्थपर्यालोचने मानाभावात् । 'यथासंख्य' [१।३।१०] सूत्रसहकारेण [३] बोधोत्तरं तयोस्तत्त्वनिर्णयात्ः । अन्तरतमपरिभाषया निर्वाहे तु लक्ष्यपर्यालोचनकाले तन्निर्णयः । अत एव 'पूर्वसूत्रे स्थानिविशेषलाभो यथासंख्यसम्बन्धनात्, इह तु निमित्ताभावात्तल्लाभाभावः' इति षष्ठे [४] प्रकृतसूत्रे कैयटः । गव्यमिति । भत्वाद्वलोपो न । यीति किम् ? गोभ्याम् । प्रत्यये किम् ? गोयानम् ।

वान्तोयेन विधिः की अपवाद रूप तथा 'तस्मान्नुऽचि' के लिये आवश्यक वाचनि की यस्मिन्विधि इत्यादि परिभाषा से प्राप्त अर्थ को कहते हैं यकारादाविति । यहाँ किसी का कथन है कि यान्त प्रत्यय का मिलना ही सम्भव नहीं है अतः स्वयं यादि प्रत्यय अर्थ हो जायेगा परन्तु यह उनका कहना उचित नहीं है क्योंकि यस्यापत्यय इः ऐः अरि यरिः गोयरिः गव्यरिः यहाँ वान्त प्रत्यय सम्भव है क्योंकि इकार प्रत्यय है उसके स्थान में जो यण् हुआ है वह यान्त है । भाष्य में—वचन रुप से पढ़ी हैं ज्ञापक भी इसमें नल्यपि है उक्त सूत्र प्रदाय में इत्व का निषेध करता है । उक्त परिभाषा के अभाव में ईत्व विधायक घुमास्था सूत्र का हलादि कान्त अर्थ होने पर ईत्व की प्राप्ति के अभाव में निषेध व्यर्थ था अतः व्यर्थ होकर उक्त परिभाषा में ज्ञापक है । परिभाषा का अर्थ इस प्रकार का है (अल् मात्र वृत्ति विषयता प्रयोज के सप्तम्यन्ते विशेषणता प्रयोजके यो विधिः स तदादौवोध्यः) वान्तो यि में णि प्रत्यय में विशेषण है तथा अल् को ही कहते है और सप्तम्यन्त भी है यि अल् मात्र वृत्ति विषयता का प्रयोजक सप्तम्यन्त तथा विशेषण है अतः तदादि विधि होने से यहाँ प्रत्यय अर्थ सम्पन्न होता है । ओ दौ दोरिति । औदोदोरिति वक्तव्यम् इति वार्तिक के आधार से उक्त अर्थ होता है पूर्व सूत्र एचो यवायावः में वान्त आदेशो के प्रति ओ औ को ही स्थानी का निर्णय किया है । इस प्रकार का स्थानेन्तरतम् सूत्र में कैयट का कथन उचित प्रतीति नहीं होता है । क्योंकि वान्त ज्ञान के लिये सूत्र की पर्यालोचना की आवश्यकता होने पर भी उसके वाक्यार्थ की पर्यालोचना करना व्यर्थ है उसमें कोई प्रमाण भी नहीं है । यथा सम्भव सूत्र के सहयोग से बोध के पश्चात् ही अव्आव् का तत्व निर्णय ही अन्तरतम् परिभाषा से निर्वाह होने पर तो लक्ष्य के विचार करने पर उसका निर्णय होगा इसी से पूर्व सूत्र (एचो) में स्थानी विशेष का लाभ यथा संख्य सम्बन्ध से ही

होता है प्रकृत इस सूत्र में तो निमित्त के न होने से उसका लाभ होना कठिन है। ऐसा कैयट ने छठे अध्याय के प्रकृत सूत्र में कहा है गव्यमिति। भा संज्ञा होने से वकार का लोप नहीं होता है। क्योंकि वह पदान्त में होता है णि के न कहने पर गोम्याम् में भी भवादेश होने लगेगा प्रत्यय ग्रहण न करने पर गोयानम् में भी अवादेश हो जायेगा।

ननु 'गव्यूतिः' इत्यत्र वस्य 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति (१) 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) इति वा लोपः स्यादत आह—वान्त इत्यत्रेति। न च विशेषविहितेन कार्यित्वेत लोपे वस्य निमित्तत्वबाध इति वाच्यम्। निमित्तत्वान्प्रकान्ते विषये (२) कार्यित्वस्य चारितार्थ्यात्। तक्रकौण्डिन्यन्यायश्चानवकाशविषयो (३)विधेयविषयश्चेति स्पष्टं 'तद्धितेष्वचाम्' (७।२।११७) इति सूत्रे यङ्विधायके च भाष्ये। अन्त्ये 'उत्तरयोर्विग्रहेण विशेषासम्पत्ययान्नित्यग्रहणानर्थक्यं, क्रियासमभिहारे च नैतेभ्यो यङा भवितव्यम्' इति भाष्ये चेन विशेषासम्प्रत्यादित्यनुकृष्यते। अन्यथा तक्रकौण्डिन्यन्यायेन सिद्धे विशेषःसम्प्रत्ययादित्यनुकर्षकचकारवैयर्थ्यापत्तिः। निरूपयिष्यते चेदं यङन्ते। तस्य च वार्त्तिकेऽनुवृत्त्या यूतौ श्रूयमाणवकारान्त आदेश इत्यर्थः। सूत्रे तु न फलं, गव्यादौ भत्वेन वान्तस्य पदत्वाभावात्; लव्ये स्वत एव तदभावात् लोपाप्राप्तेः। गोशब्दादिभ्यः क्यजादावपि 'नः क्ये' (१।४।१५) इति नियमेन पूर्वस्य पदत्वाभावात्। एवं तर्हि वार्तिके एव प्रश्लेष उचित इत्याशयेनाह—छकाराद्वेति। 'लोपो व्योः' (६।१।६६) इति सूत्रे वकारप्रत्याख्यानं तु लौकिकोदाहरणाभावेन तदर्थतया बोद्धयम्। अत एव 'इको गुण' (१।१।३) इति सूत्रे 'अतो ल्रान्तस्य' (७।२।२) इत्यत्र लुप्तनिर्दिष्टो वकार इत्युक्तं भाष्ये। शास्त्रीयसौत्रप्रयोगार्थं तदिति तदाशय। न चैवं 'विष्णवे' इत्यादौ 'तस्य लोपः' (१।३।९) इति दुर्वारं, गव्यूतावुच्चारणस्य चारितार्थ्यादिति वाच्यम्। 'गवि च युक्ते' (का वा०) इत्यादिनिर्देशैर्वारणात्।

व्यूतिः में हलि सर्वेणाम् या लोपः शाकल्यस्य से वकार का लोप हो जाना चाहिए इसका उत्तर देते हुए कहते हैं। वान्त इत्यत्रेति। अर्थात वृवात्तरक के वकार का लोप कर देते हैं। अतः वान्त ही रहता है लोप नहीं होता है। अब यहाँ शंका करते हैं कि वकार (वल्) को निमित्त मानकर वकार का ही लोप करना है। तब वकार ही कार्यी है और वही निमित्त है। तब विशेष विहित कार्यित्व से लोप में वकार की

निमित्तता का वाध हो जाना चाहिए परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ वकार को निमित्तता नहीं है अर्थात् वल् में अन्य वर्णों को है। उस स्थान में लोपरूप-कार्य चरितार्थ है। तक्रकौडिन्यन्याय तो अनवकाश विषय में तथा विधेयविषय में प्रवृत्ति होता है। यह विषय तद्धितेष्वचाम् इति सूत्र में तथा यङ विधायक सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है यङ् विधायक भाष्य में लिखा है कि उत्तर के दोनों सूत्रों में नित्यमकौटिल्ये-गतौ, लुपसद्, विग्रह से विशेष अर्थ का ज्ञान नहीं होता है अर्थात यङ से ही होता है। फिर नित्य ही यङ् होगा। नित्य ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है और क्रिया समभिहार में इन धातुओं से यङ् सम्भव नहीं है। इस भाष्य में चकार से विशेषः सम्प्रत्प्रयात् का अनुकर्षण होता है नहीं तो तक्रकौडिन्यन्याय से ही कार्य सिद्ध था विशेषा इत्यपि अनुकर्ष के लिए चकार व्यर्थ था इस विषय का निरूपण यङ्त में करेंगे उसी व् वान्त की अनुवृत्ति वार्तिक में होने से यूति के परे श्रूयमाण वकारान्त आदेश होता है। अर्थात उसका लोप नहीं होता है—ऐसा अर्थ सम्पन्न होता है वस्तुतः प्रश्लेष का सूत्र में कोई फल नहीं है। क्योंकि गत्यम् में भसंज्ञा होने से वान्त में पदत्व का अभाव है। लब्यम् में स्वयं दीपदत्व का अभाव है। अतः लोप की प्राप्ति नहीं है। गो शब्द से क्यच् प्रत्यय करने पर नः स्ये के नियम नान्त की ही पद संज्ञा होगी अतः लोप की प्राप्ति नहीं है। इसलिए वार्तिक में प्रश्लेष करना आवश्यक है। इस अरुचि से छकाराद्वेति। अर्थात वकार का प्रश्लेष वार्तिक में ही आवश्यक है लोपोव्योः सूत्र में वकार का प्रत्याख्यान तो लैविक उदाहरण में न होने से ही समझना इसीलिए इको गुणः सूत्र में अतो ल्वान्तस्य में वकार लुप्त निर्दिष्ट ही ऐसा भाष्य में लिखा है। शास्त्रीय सौत्र प्रयोग के लिए उसका होना आवश्यक है। यहाँ शंका करते हैं कि विष्णवे इत्यादि में वकार का तस्यलोपः से लोप हो जाना चाहिए क्योंकि वकार का उच्चारण तो गव्यूतिः में चरितार्थ है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं। 'गवि चउक्ते' इत्यादि निर्देश से वकार का लोप नहीं होता है।

परे तु सा पूर्वपक्ष्युक्तिरिति न वकारप्रश्लेषो लोपेनोचितः। किञ्च छन्दसि सर्वविधीनां व्यवस्थितत्वान्न वलोपप्रसक्तिस्तन्त्रत्ये गव्यूतौ। अध्वपरिमाणेऽपि सञ्ज्ञाशब्दोऽयम्, तत्र (१) सञ्ज्ञात्वभङ्गापत्तेर्न वलोपः। यथा 'रघुनाथ' इति सञ्ज्ञाशब्दे नित्यस्यापि णत्वस्याभावः, सर्वनामशब्दे णत्वाऽऽशङ्का तु तस्य सञ्ज्ञिविशेषे आधुनिकविनियोगात् शास्त्रानुसारि-शब्दस्यैव विनियोग उचित इत्यभिप्रायेण। निरूपितञ्चैतत्सर्वादिसूत्रे भाष्यप्रदीपोद्द्योते इत्याहुः। निरूपयिष्यते चेदं 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' (८।४।३) इति सूत्रे।

यहाँ नागेश का कथन है कि यह उक्ति पूर्व पक्ष की है। क्योंकि वकार का प्रश्लेष

लोप से उचित नहीं है। वेद में सभी विधि व्यवस्थित होने से वैदिक गत्यूति में वकार के लोप की प्राप्ति ही नहीं है। मार्ग के परिमाण (लोक) में भी संज्ञा शब्द होने से संज्ञा भंग के भय से वकार का लोप नहीं होता है। जैसे रघुनाथ शब्द में नित्य थी णत्व नहीं होता है। सर्वनाम शब्द में णत्व की आशंका का तात्पर्य यह है कि उसकी सञ्ज्ञि विशेष में आधुनिक विनियोग होने से शास्त्रानुसारी शब्द का ही विनियोग उचित है। यह सर्वाधिसूत्र के भाष्य में प्रदीप उद्योत में स्पष्ट है। यह मैं पूर्वपदात्संज्ञायाम् सूत्र में निरूपण करूँगा।

(२)धातोस्त (६।१।८०)। धातोरित्यस्याभावे (३) प्रातिपदिकमात्रविषयो नियमः स्यात्, तथा च 'गव्यम्' इत्यत्र न स्यात्; 'ओयते' इत्यत्र च स्यात्। तदभावे सामान्यतो नियमापादनन्तु योगविभागैवकारवैयर्थ्यापत्तेरयुक्तम्। 'तन्निमित्तस्य चेद्धातोरेवे'ति नियमे बाभ्रव्यासिद्धेस्तद्वारणाय एवकारः। लव्यमित्यादि। अत्र गुणवृद्ध्योर्यण्ण्यन्निमित्तकत्वेनैचो यादिप्रत्ययनिमित्तकता। तन्निमित्तस्येति किमिति। सूत्रमेव किमर्थमिति प्रश्नः। ओयत इति। वेञः कर्मणि लटि यकि यजादित्वात्सम्प्रसारणे 'अकृत्सार्व' (७।४।२५) इति दीर्घे आङा सहाऽऽद्गुणः। 'न धातुलोप' (१।१।४) सूत्रभाष्यरीत्या बहिर्भूतधातूपसर्गकार्यस्य बहिरङ्गत्वाद्वान्तादेशे गुणोऽसिद्ध (१) इत्यरुचेराह—औयतेति। तस्मादेव कर्मणि लङि आडागमे वृद्धिः पूर्ववत्।

धातोस्त उक्त सूत्र में धातु ग्रहण न करने पर केवल प्रातिपदिक विषय का नियम होगा अर्थात प्रातिपदिक के ओकार को यदि वान्तादेश हो तो यादि प्रत्यय निमित्तक को ही हो उक्त नियम में गव्यम् में अवादेश नहीं होगा क्योंकि 'गो' में ओकार स्वाभाविक है। यादि प्रत्यय निमित्तक नहीं है और ओयते में अवादेश होने लगेगा। धातु ग्रहण के अभाव में सामान्य रूप से (धातु प्रातिपदिकादि) नियम करना तो उचित नहीं है। क्योंकि योग विभाग तथा एवकार व्यर्थ हो जायेगा। यादि प्रत्यय निमित्तक को हो तो धातु को ही हो ऐसा नियम मानने पर बाभ्रव्यम् की सिद्ध नहीं होगी अर्थात् अवादेश नहीं होगा। लव्यमित्यादि। यहाँ गुणवृद्ध यत् और ण्यत् निमित्तक होने से एच् में यादि प्रत्यय निमित्तकता है। 'तन्निमित्तस्येतिकिमिति'। इसका आशय है कि सम्पूर्ण सूत्र करने की क्या आवश्यकता है। ओयत इति। वेञ्धातु से कर्म में लट् यक् करने पर यजादि होने से वकार को उकार सम्प्रसारण तथा अकृत्सार्व धातुकयोः से दीर्घ आङ् के साथ आदि गुणः से गुण करने पर उक्त रूप की सिद्धि होती है। 'न धातुलोपः' सूत्र के भाष्य की रीति से बहिभूत धातूपसर्ग कार्य को बहिरंग मानने से वान्तादेश करने में गुण असिद्ध हो जायेगा तब ओयते में दोष नहीं है। इस अरुचि से

औयत में दूषण दिया। वास्तव में तो नाजानन्तर्ये से निषेध हो जायेगा। बहिरंग परिभाषा का निषेध हो जायेगा। अरुचि व्यर्थ है। वेञ् धातु से कर्म में लुङ आङ्गम तथा वृद्धि करने पर उक्तरूप की सिद्ध है।

क्षय्यज (६।१।८१) क्षि क्षये, जि जये, इत्यनयोरेव। ग्रहणं न तु क्षीष् हिंसायाम्, क्षै क्षये, इत्यनयोर्व्याख्यानात्। अत एव 'क्षिज्योरेवैच:' इति भाष्ये उक्तम्।

तस्मै प्रेति। क्रयार्थे वस्तुनि क्रय्य इति निपात्यते इत्यर्थो, व्याख्यानाद् गुणभूतस्यापि तदा परामर्श: क्रयार्थत्वञ्च फलोपधानरूपं तदर्थे इति विशेषणात्, तदाह—क्रेतार इति। योग्यतामात्रग्रहणे त्वव्यावर्तकं तत्स्यादिति भाव:। केचित्तु स्वीयं धान्यादि दत्वा यत्र तन्मूल्यग्रहणं, तत्र धन्यं क्रय्यम्। यत्र तु स्वयं द्रव्यं दत्वा परकीयधान्यादिग्रहणं तत्र धान्यं क्रेयम्। (२) द्रव्ये तु न क्रय्यत्वं नापि क्रेयत्वं; किन्तु धान्यादेरेव, शक्ति स्वभावात्, भाष्य स्वरसो ऽप्येवमेवेत्याहु:।

क्षय्यज। इस सूत्र में क्षि क्षये, जि जये, का ही ग्रहण है क्षीष् हिंसायाम् क्षै, जै क्षेय का ग्रहण नहीं है। इसमें व्याख्यान ही प्रमाण है इसी से भाष्य में क्षिज्योरेवैच: क्षि और जि को ही ऐच् को कहा है। तस्मैइति। खरीदने वाली वस्तु में क्रय्य यह निपातन होता है। व्याख्यान का गुण भूत का भी तत् से परामर्श होता है। तात्पर्य है कि सर्वनाम् प्रधान को ही परामर्श नहीं करते है परन्तु विशेषणीभूत प्रकृति को भी करते हैं। तदर्थ इस विशेषण से क्रयार्थ फलोपधान रूप लेना अतएव लिखा है क्रेतार इति। योग्यता मात्र के ग्रहण करने पर तो वह विशेषण अव्यवर्तक हो जाता किसी की व्यावृत्ति करना ही विशेषण का कार्य है। किसी का कथन है कि अपने धान्यादि देकर जहाँ उसके मूल्य का ग्रहण होता है। वहाँ धान्य क्रय्य है और जहाँ स्वयं रुपया देकर दूसरे के धान्यादि लेते हैं वहाँ क्रेय है। द्रव्य में तो क्रय्यत्व या क्रेयत्व व्यवहार नहीं होता है किन्तु शक्ति के स्वभाव से धान्यादि में ही उस प्रकार का व्यवहार होता है भाष्य का भी तात्पर्य इसमें ही प्रतीति होता है। वास्तव में तो द्रव्य में भी उसी प्रकार का व्यवहार होता है। बाजार में रेजगारी पैसा आदि की बिक्री होती ह।

लोप शा (८।३।१९)। 'भोभगोअघोअपूर्वस्य' इति आशीति चानुवर्त्तते। तत्र ओकारान्तेषु 'ओतो गार्ग्यस्य' (८।३।२०) इति बाधकमित्याशयेनाह—अवर्णपूर्वयोरिति। व्योरित्यनुवृत्तवपि वर्णसमाम्नाये यकारस्य प्राक्पाठात्तत्क्रमेणाह—यवयोरिति। 'स तस्मा आचष्ट' इत्यादिभाष्यप्रयोगादत्र रोरित्यस्यासम्बन्ध:। इदं सूत्रं लघुप्रयत्ने न (३) शाकटायनमते

तयोर्विधानेन शाकल्यमते तदभावात् । अवर्णेति किम् ? गौर्यत्र । पदान्तयोः किम् ? हरये ।

लोपशा । भोभगो सूत्र से अपूर्वस्य और असि की अनुवृत्ति आती है वहाँ ओकारान्त में "ओतोगार्ग्यस्य" बाधक है इस आशय से कहते हैं । अवर्ण पूर्वयोरिति । व्योः की अनुवृत्त होने पर भी वर्णसमाम्नाय (ह य व र ट्) में यकार का प्रथम पाठ होने से उसी क्रम से करते हैं । ययवोरिति । स तस्मा आचष्ट इस भाष्य प्रयोग से यहाँ रु का सम्बन्ध नहीं है । उक्त स्थल में आयादेश होकर यकार का लोप हो रहा है । यह सूत्र लघु प्रयत्न में प्रवृत्त नहीं होता है । शाकटायन के मत में उनका विधान है अतः शाकल्य के मत में उनका अभाव है । अवर्ण के ग्रहण के अभाव में गत्तैर्यत्र में दोष होता है । पदान्त के अभाव में हर में ये दोप आ जाता ।

अशि किम् ? वृक्षं वेतीति वृक्षवीः, क्विप्, तमाचष्टे इति ण्यन्ताद्विच् । वृक्षव् करोति । क्विपि तूठ् स्यात । विज्निमित्तको 'लोपो व्योः' (६।१।६६) इति लोपस्तु न, णिलोपटिलोपयोः स्थानिवत्त्वात्, प्रातिपदिकाण्णिजुत्पत्त्या पदत्वाभावेन परपदस्थाजादेशाभावेन च लोपस्य पदचरमावयवत्वाभावेन च 'न पदान्त' (१।१।५८) इति निषेधाप्रवृत्तेः । (१)एतेन 'वनिमित्तको वलोपोऽत्र दुर्वार' इत्यपास्तम् । किञ्च स्थानिवत्त्वनिषेधं विनाऽस्य पदान्तत्वासिद्धयाऽत्र निषेधाप्रवृत्तिः । स्थानिवत्त्वनिषेधज्ञाने पदान्तत्वज्ञानं, तन्निर्णये च स्थानिवत्त्वाभावज्ञानमित्यन्योन्याश्रयस्तत्राप्रवृत्तौ मानम् । इदञ्च 'न पदान्त' (१।१।५८) सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

न च पदसञ्ज्ञायां टिलोपस्य स्थानिवत्त्वाद्वस्य पदान्तत्वमेव नास्तीत्यशीति व्यर्थमिति वाच्यम्, 'पूर्वत्रासिद्धीये' इति निषेधात् । साक्षात् पदत्वाद्द्वारकपरम्परया वा पूर्वत्रासिद्धीयप्रापकस्य वत्प्रतिबन्धकस्य वाऽतिदेशस्य तेन (२) निषेधादिति केचित् ।

अशि के अभाव में विच् प्रत्यान्त वृक्षव् करोति में वकार का लोप हो जाता क्विप् प्रत्यय करने से तो ऊठ हो जाता । विच् को विभक्ति मानकर लोपो व्योः से लोप तो नहीं होता है क्योंकि णि् लोप तथा टि लोप का स्थानिवत् भाव हो जाता है यदि प्रातिपदिक से णिच् स्वीकार करे तो पदत्व के अभाव से और पर पदस्थ अजादेश के अभाव से और लोप अभाव पद का अन्तावयव भी नहीं होता है । अतः न पदान्त से स्थानिवत् भाव का निषेध नहीं हो सकता है । उक्त कथन से व निमित्तक व लोप यहाँ अश्वय होगा । यह कथन भी निरस्त है और स्थानिवत्व निषेध के बिना इसको पदान्तत्व की असिद्ध होने से यहाँ निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी । स्थानिवत्व

के निषेध ज्ञान में पदान्तत्व ज्ञान होगा और उसमें निर्णय होने पर स्थानिवत् भाव का अभाव ज्ञान होगा। इस प्रकार से अन्योन्याश्रय होने से वहाँ अप्रवृत्ति में प्रमाण है यह न पदान्त सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है यहाँ शंका करते हैं कि पद संज्ञा में टि लोप के स्थानिवत् भाव होने से वकार में पदान्ततत्व ही नहीं है। फिर अंशग्रहण व्यर्थ है। इस शंका का समाधान करते है। पूर्वत्रासिद्धीयेन स्थानिवत् भाव से निषेध हो जायेगा। साक्षात् या पदत्वादि के द्वारक परम्परा से पूर्वत्रा सिद्धाय के प्रापक अथवा प्रतिबन्धक अतिदेश का वह निषेध करता है (यह किसी का मत है तात्पर्य यह है कि साक्षात् पूर्वत्रासिद्धीय के साधक का परम्परा से पूर्वत्रासिद्धीय के साधक का साक्षात् पूर्वत्र सिद्धीय के प्रतिबन्धक का अथवा परम्परा से पूर्वत्रासिद्धीय के प्रतिबन्धक का स्थानिवत् भाव का यह निषेध करता है। अब क्रमशः चारो के उदाहरण देते हैं साक्षात् साधक का उदाहरण किम् सत्ति है यह श्नसोरल्लोप के अल्लोप का स्थानिवत् भाव पूर्वत्रासिद्धीय मप् उतो वोवा" के वत्व का साक्षात् साधक है परम्परा से साधक का उदाहरण पिपठीस्तत्र है। यहाँ अकार के लोप का स्थानिवत् भाव पद संज्ञा के प्रतिबन्ध के द्वारा षत्व का साधक है पूर्वतासिद्धीय से निषेध होने से नहीं होता है साक्षात् प्रतिबन्धक का उदाहरण राज्ञः है यहाँ अल्लोप का स्थानिवत् भाव साक्षात् श्चुत्व का प्रतिबन्धक है परम्परा से प्रतिबन्धक का उदाहरण पिपठीः यहाँ अल्लोप का स्थानिवत् भाव पदसंज्ञा के प्रतिबन्ध के द्वारा कत्व का प्रतिबन्धक है।

परे तु 'न पदान्ता (३)हलोऽणः सन्ति' इति लण्सूत्रस्यभाष्याद् वृक्षवादेरनभिधानमेव। 'भोभगो' इति सूत्रेऽश्ग्रहणमनर्थकमन्यत्राभावादिति वार्तिकाच्च। अशोन्यत्र तन्निमित्तकार्यिणोऽभावादिति तदर्थः। न ह्यन्यत्र रुरस्तीति तद्व्याख्यानभाष्ये रुग्रहणमुपलक्षणम्। एतदाशयमजानानैकदेशिना 'उत्तरार्थं हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति 'वृक्षव् करोति' इत्यत्र मा भूत्' इत्युक्तम्। अस्य चैकदेश्युक्तित्वं 'लण्' (मा० सू० ६) सूत्रस्थोक्तभाष्यविरोधेन स्पष्टमेव कैयटेनोक्तम्। अत एव भाष्ये उत्तरार्थमित्युक्त्वा 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इत्यत्रैव प्रयोजनमुक्तम्। 'हलि सर्वेषाम्' (३।८।२५) इत्यत्र वकारनिवृत्त्यैवात्र तद्वारणसम्भवान्न तत्राप्यशग्रहणस्य प्रयोजनमिति तद्भाष्यमेकदेश्युक्तिरेवेत्याहुः।

परेतु (नागेश का मत है हल् अण् पदान्त में नहीं होते हैं। इस लण् सूत्र के भाष्य में वृक्षव् इत्यादि प्रयोगों का अनमिधान भी है।) भोभगो सूत्र के वार्तिक से भी यही प्रतीति होता है। वार्तिक का स्वरूप यह है "अंश ग्रहण मनर्थक मन्यत्राभावेत" अर्थात अन्यत्र न मिलने से अंश ग्रहण व्यर्थ है। अश् के अन्यत्र अश् निमित्तक कार्यी का अभाव है। अन्यत्र रु का मिलना सम्भव नहीं है इस भाष्य व्याख्यान में रु उप-

लक्षण है। इसके आशय को न जानने वाले एक देशी ने हलिसर्वेषाम् इस उत्तरसूत्र के लिए कहा है अतएव वृक्षव्करोति में लोप नहीं होता है। परन्तु यहाँ पर अण् वकार के पदान्त में नहीं रहेगा लण् सूत्र के भाष्य के विरोध से उक्त भाष्य एक देशी का है ऐसा कैयट ने कहा है एक देशी होने के कारण ही भाष्य में उत्तरार्थं कहकर हलिसर्वेषाम् में प्रयोजन दिखलाया है हलिसर्वेषाम् में वकार की निवृत्ति से ही वृक्षव में वारण होने से वहाँ भी अश् ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं है यह भाष्य की उक्ति में एक देशी की है।

कानि सन्तीति। वाक्यसंस्कारपक्षेऽपि पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वमादायान्तरङ्गाणां पूर्वं प्रवृत्तिरितीकारादेः स्थानिभूतादचः पूर्वत्वं बोद्धयम्।

कानि सन्तीति। वाक्य संस्कार पक्ष में भी जिसका निमित्त पूर्व में उपस्थित है वह अन्तरंग है और अन्तरंगों की प्रवृत्ति प्रथम होती है इसलिए 'कानि के इकार की अंश के लोपभूत अकार रूपी अच् से पूर्व है।

एकः पूर्व (६।१।८४) गुण इत्यादे[१]र्विधेयसमर्पकत्वेन तत्रैकत्वसंख्याया विवक्षणेनोभयोः पूर्वपरयोरेकवाक्यतयैव विधेयान्वयेन चानयोः पूलयोः कटं कुर्वित्यादित इवोभयसम्बन्ध्येकविधेयस्यैव प्रतीतेरेकग्रहणं[२]स्पष्टार्थम्

एकः पूर्व गुण इत्यादि विधेय समर्पक होने से और वहाँ एकत्व संख्या के विवक्षा होने से पूर्व पर दोनों की एक वाक्यता से विधेय में अन्वय होने से इन दोनों पूरों (गट्ठर) की चटाई बनाओ। इस वाक्य में कटं के एकवचन से दोनों पूरों की एक ही चटाई बनती है उसी प्रकार यहाँ एकवचन के श्रवण से एक ही आदेश होगा अतः एक ग्रहण स्पष्टार्थ है।

उरण् [१।१।५१] उःस्थाने इति 'षष्ठी स्थाने' [१।१।४९] इतिपरिभाषया लब्धम्, उदात्तस्वरितयो [१]र्यणः' इतिवत्। 'स्थानेऽन्तरतम' इत्यतः स्थानेग्रहणमनुवर्त्तते, तस्य लक्षणया प्रसङ्गावस्थायामित्यर्थस्तदाह रपरः सन्नेवेति। रपर इत्य[१]वयववाचिना परशब्देन [२] षष्ठयर्थे बहुव्रीहिस्तेनास्यावयवत्वात् यदागमा इति न्यायेन विशिष्टस्य गुणवृद्धित्वेन ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेवेति[३] नियमोपपत्तिः। अत एव 'रदाभ्याम्' [८।२।४१] इति सूत्रे 'थलि च सेटि' [६।४।१२१] इति सूत्रे च भाष्ये— 'गुणो भवति वृद्धिर्भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसञ्ज्ञकोऽभिनिर्वर्त्तते' इत्युक्तम्। उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति, पूर्वभक्तश्च रेफ इत्यर्थ इति कैयटः। अवयवत्वं वाचनिकमेव तत्सादृश्यबोधनपर्यवसायि। अन्यथा

वर्णस्य वर्णान्तरावयवत्वं 'हलन्ताच्च' [१।२।१०] इति सूत्रभाष्योक्तरीत्याऽससङ्गतं स्यात्। पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहिणाऽनवयवत्वे तु गुणवृद्धिशब्देनाकारादेरेव रेफपरस्यैतदेकवाक्यतया विधानं स्यात्। गुणत्वादिकन्त्वकारादिनिष्ठमेव स्यादित्यु[४]क्तनियमानुपपत्तिः।

अत एव 'वव्रे' इत्यादौ 'हलादिः शेष' (७।४।६०) सिद्धिः। अभ्यासावयवस्यैवानादेस्ते निवृत्तेः। एतेनाणमनूद्य रपरत्वं विधीयते इति परास्तम्। उक्तनियमानुपपत्तेः। अत्र पक्षे क्व रपरत्वं क्व लपरत्वमिति व्यवस्थाऽनुपपत्तिस्तु न। रेफवत्स्थानिकस्य रेफपरत्वं, लकारवत्स्थानिकस्य लपरत्वमिति व्यवस्थासम्भवात्। तत्रान्तरतम्यादिति। स्थानत इति भावः। रेफादिद्वाराऽऽदेशस्यापि मूर्धादिस्थानत्वात्। तत्र तत्राऽऽदेशानेव रलपरानुच्चार्येदं सूत्रं न कार्यमिति तु न वाच्यम्। 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' (७।४।५५) (१) 'भृञामित' (७।४।७६) इत्यादौ दोषापत्तेः। अत्राण् पूर्वेणैव प्रशास्तृणामिति निर्देशात्। वस्तुतो रप्रत्याहाराभावे 'रपर' इत्यस्य स्थाने 'लंपर' इति पठनीयमिति 'लपरत्वं वक्ष्यामि' इति तुल्यास्यसूत्रभाष्याल्लभ्यते।

उरण् रपरा। षष्ठी स्थाने परिभाषा से स्थाने का लाभ होने से उ (ऋकार) के स्थान का लाभ होता है। जैसे उदान्त स्वरितयोर्यणः में होता है। स्थानेऽन्तरतम्: से स्थानेग्रहण की अनुवृत्ति होती है। उसकी प्रसंग में लक्षणा करने से प्रसंगावस्था का लाभ होता है इसलिए कहते हैं रपरः सन्नेवेति। रपरः में अवयववाची की पर शब्द से षष्ठी के अन्त में बहुव्रीहि समास करने से यह रेक अवयव होता है। फिर यदागम परिभाषा से विशिष्ट (रेफ विशिष्ट में) अर्, आर में गुण वृद्धि का व्यवहार होता है। अतएव ऋकार के लिए गुण अर् तथा वृद्धि आर् यह नियम भी सिद्ध होता है। इसी से रदाभ्याम् और थलिच् सूत्र के भाष्य में गुण वृद्धि संज्ञा वाला होता है। गुण और वृद्धि रेफ शिर वाले होते हैं। अर्थात इनके आगे रेफ रहता है कैयट ने भी इस भाष्य को स्पष्ट किया है कि ऋकार के स्थान में होने वाला अण् रेफ सहित ही होता हैं और पूर्व का शक्त (अवयव) होता है। अवयव वाचनिक ही है अर्थात उसके सदृश ही होता है इसमें ही उसका पर्यावसान है नहीं तो हलन्ताच्च् सूत्र के भाष्यानुसार वर्ण का अन्य वर्ण अवयव नहीं होता है। यह कथन असंगत हो जायेगा। पंचमी के अर्थ में बहुब्रीहि समास करने से अनवयव स्वीकार करने से तो गुण और वृद्धि शब्द से उरण् रपरः के साथ एक वाक्यता होने से रेफ परक अकार आदि का भी विधान होगा गुण यह वृद्धि तो केवल अकारादि में रहेगी तब उक्त नियम अर् आर् ही गुण वृद्धि होते

हैं। असंगत हो जायेगा अर् आदि के होने से ही कर्वे इत्यादि प्रयोगों में हलादिशेषः से रेफ की निवृत्ति होती है वह आदि भिन्न अभ्यास के अवयव की ही निवृत्ति करता है उक्त कक्ष से अण् को उद्देश्य करके रेफ का विधान होता है। यह उचित नहीं है क्योंकि उक्त नियम (रेफस्य) की अनुपपत्ति होगी।

इस पक्ष में कहाँ रपर होगा और कहाँ लपर होगा इस व्यवस्था की अनुपपत्ति भी नहीं है। रेफ विशिष्ट स्थानीय वाले को रेफ परत्व, लकार विशिष्ट स्थानीयवाले को लकार परत्व दोनों की व्यवस्था हो जायेगी। तन्त्रान्तरम्यादिति। आन्तर्यतम्य स्थानकृत अर्थ है रेफादि के द्वारा आदेश भी मूर्धादि स्थान वाला है। तत्तत् स्थानों का रपर्, लपर् विशिष्ट आदेशों के विधानकार्य सिद्ध हो जायेगा सूत्र की आवश्यकता नहीं होगी यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि आप्ज्ञत्यृधामीत् भृजामित् इत्यादि में दोष होगा। यहाँ अण्प्रत्याहार पूर्वबकार से ही है इसमें प्रमाण 'प्रशास्तृणाम्' अर्थात यहाँ रेफ नहीं होता है। वस्तुतः र प्रत्याहार के अभाव में रपरः के स्थान में लपरः पढ़ना उचित है। ऐसा लपरत्वम् वक्ष्यामि इस तुल्यास्य सूत्र के भाष्य से प्राप्त होता है।

झरो झ (८।४।६५) 'झयो हः' (८।४।६२) इत्यतो (२) 'वाऽवसाने' (८।४।५६) इत्यतो वा विकल्पोऽनुवर्त्तते। हयरट्सूत्रशेषे भाष्ये स्पष्टमिदम्। लोपे इति। ऋधधातोर्झर इति भावः। असतीति। 'द्वित्वाभाव' इत्यनुकृष्यते। त्रिधमिति त्रिधकारत्वं (३) प्रक्रियाभिप्रायेण।

न च द्वित्वभिन्ने पूर्वत्रकर्त्तव्ये परमसिद्धमित्यर्थकेन 'पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे' (प० भा०) इत्यनेन धातुधकारस्य जश्त्वे दस्य द्वित्वमिति इदमयुक्तमिति वाच्यम्। फले विशेषाभावेन (४) तदनादरणात्। न ह्यत्र जश्त्वात्पूर्वमनन्तरं वा द्वित्वे रूपे विशेषोऽस्ति। तदनन्तरञ्जश्त्वप्रवृत्तेः। तस्य परिभाषात्वेन फलविशेषे एव प्रवृत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः। पञ्चमीति। (५) विनिगमकाभावादिति भावः। (६) अत एवास्य वैकल्पिकत्वम्।

सरो झ 'झयो हः' से अथवा 'वाऽवसाने' से विकल्प की अनुवृत्त होती है यह विषय हयवरट सूत्र के अन्त में स्पष्ट है। लोपे इति। लोप ऋधधातु के झरि धकार का जानना। असतीति। द्वित्वाभाव का अनुकर्ष होता है। त्रिधमिति। प्रक्रिया के अभिप्राय से तीनधकार वाला लिखा है द्वित्व से भिन्न पूर्व के करने में पर असिद्ध होता है इस प्रकार के अर्थ वाले पूर्वता सिद्धीयद्वित्वे से धातु के धकार, जश्त्व दकार करके दकार को द्वित्व करके पूर्व कथन असंगत है—फल में विशेषता न होने के कारण यह कथन उचित नहीं है। पूर्वत्रासिद्धीय न्याय का आदर नहीं किया है। क्योंकि यहाँ जश्त्व से पूर्व या पश्चात् द्वित्व करने पर रूप में विशेषता नहीं है। द्वित्व करने पर जश्त्व की प्रवृत्ति हो जायेगी उस न्याय की परिभाषा होने से फल विशेष होने पर ही

प्रवृत्ति होती है। पञ्चमीति। विनिगमक के अभाव में षष्ठी और पञ्चमी दोनों का ही आश्रपण होगा इसी से विकल्प सिद्ध होती है यह विषय भाष्य में स्पष्ट है।

कृष्णैकेति। कृष्णेति सम्बुद्ध यन्तं (१) पृथक्पदमिति (१) कश्चित्।

एत्येध (६।१।८९) ऊठ् अत्राऽऽदेश एवं; व्याख्यानात्। एचीति नोठो विशेषणमूठस्त (३) त्वासम्भवात्। 'एतेधत्योः' (६।१।८९) इति योगं विभज्य तयोरेवैचीति विशेषणस्य भाष्ये कृतत्वाच्च तदाह—एजाद्योरिति। एतिरत्र इणेव प्रसिद्धत्वात्। 'उपैति' इत्यादौ 'वृद्धिरेचि (६।१।८८) इत्यनेन गतार्थत्वमाशङ्क्याह—पररूपगुणेति। एत्येधत्योरेङि पररूपस्योठि। चाऽऽद्गुणस्येति विवेकः।

कृष्णैकेति। कृष्ण यह सम्बुद्धयन्त अलग पद है यह किसी का मत है एत्येध यहाँ व्याख्यान से ऊठ् आदेश का ही ग्रहण है। एचि ऊठ का विशेषण नहीं है क्योंकि एजादिऊठ का मिलना संभव नहीं है और 'एतेधत्योः' ऐसा योग विभाग करके उन दोनों का ही विशेषण भाष्यकार ने किया है इसलिये कहते है। एजाद्योरिति। यह प्रसिद्ध होने से एति से इण् धातु का ही ग्रहण है उपैति इत्यादि स्थल में वृद्धि रेचि् से कार्य हो जायेगा ऐसी आशंका करके कहते है। पररूपगुणेति। इण् और एध् में पर रूप की प्राप्ति थी और ऊठ में गुण की प्राप्ति थी यह सूत्र दोनों का अपवाद होने से वाधक होता है।

उपैधते इति। अत्र न सर्वादेशः एत्येधत्याद्यवयवेऽचीत्येवं क्रमेण (४) सूत्राणामर्थात्। अयमेवार्थ इति प्रत्ययलक्षणसूत्रस्थभाष्यस्वरसः। वृक्षे शाखेतिवदेत्येधत्यूठ्सु (६।१।८९) इति सप्तमी बोध्या। प्रष्ठौह। प्रष्ठं बहतीत्यर्थे वहेण्वौ ततः शस्यूठि सम्प्रसारणे पूर्वरूपेऽनेन वृद्धिः।

उपैधते इति। यहाँ सर्वादेश नहीं होता है एत्येधत् के अवयव अच् के परे ऐसा क्रम से सूत्रों का अर्थ है वास्तव में भावेः अलोऽक्त्यस्य से सर्वादेशत्व का वारण सम्भव है। उक्तार्थ में प्रत्यय लक्षण सूत्र के भाष्य का भी स्वारस्य है। एत्येधत्योः में सप्तमी वृक्षे शाखा की तरह है अवयवावयवि भाव है। प्रष्ठौह इति प्रष्ठं वहति इस अर्थ में वह धातु सेण्वि प्रत्यय होने पर शस् में ऊठ सम्प्रसारण करने पर पूर्व के रूप के पश्चात् एत्येधत्योः से वृद्धि होती है।

प्रेदिधदिति। परे तु 'इणीकारादौ प्रतिषेधः' (का० वा०) इति वार्त्तिके एधत्यनुपादानात् 'न त्वेधतेरव्यभिचारात्' इतिवृत्तेश्चास्यानभिधानमेव। 'एत्येधत्योरेचीति विशेषणम्' इति भाष्यस्यैधत्यंशे सम्भवमात्रेणोपरञ्जकतया विशेषणमित्याशय (५) इत्याहुः। 'उपैधयत' इत्यादावपि

वृद्धिर्भवत्येव। प्रकृतिभागस्यैध् पत्वात्। किं च एत्येधत्यववेऽचीत्यर्थः प्रत्यय लक्षणसूत्रभाष्यसम्मत इति अत्र न दोषः।

पुरस्तादिति। पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायः। अवश्यं स्वपरस्मिन्बाधनीये (६) भेदेनापेक्षायां प्रथमोपस्थित-बाधेना(१)ऽऽकाङ्क्षानिवृत्तिर्हि तद्बीजम्। असाधुरेवेति। आङिणोरेका-देशस्य पूर्वान्ततयाऽऽङि पररूपेण बाधादिति भावः। अर्थवद्ग्रहणे इति। अस्या बीजं 'स्व रूपम्' (१।१।६१) इतिसूत्रे उक्तम्। पररूपे प्राप्ते इति 'पूर्वन्धातुः साधनेन युज्यते' इति सिद्धान्तादिति भावः।

यहाँ नागेश का मत इस प्रकार है। इणि इकारादि इण् में प्रतिषेध करना इस वार्तिक में एध् का उपादान नहीं है। एध में एजादि निश्चित होने से व्यभिचार होने से उसका भी विशेषण नहीं है। इस वृत्ति से इस प्रयोग का अनभिधान है। भाष्य में एत् और येधति का एच् विशेषण है। इससे येध् में सम्भव मात्र से शोभा के लिए विशेषण है। व्यावर्तक नहीं है। यह आशय है। उपैधयति इत्यादि स्थल में वृद्धि होगी क्योंकि, प्रकृतऐध है और प्रत्यय लक्षण सूत्र के भाष्य से एध इण् के अवयव अच् के परे यह अर्थ किया है इसलिए यहां दोष नहीं है। पुरस्तादियेति पूर्व में पढ़े अपवाद समीपस्थ विधि का ही बाध करते हैं। उत्तर विधि का बाध नहीं करते हैं अवश्य ही पल का बाध करना है तब विशेष्य की अपेक्षा में प्रथम उपस्थित विधि के बाध से आकांक्षा की निवृत्ति होना ही उस न्याय का बीज है। असाधुरेवेति आङ् और इण् के एकादेश को पूर्वान्त वद् भाव से आङ् मानकर पर रूप से उसका बाध हो जाता है। अर्थवद्ग्रहणे। इस परिभाषा का ज्ञापक स्वं रूपम् सूत्र में कहा है। पररूपेप्राप्ते इति। पहले धातु का साधन से योग होता है। इस सिद्धान्त के आधार पर उक्त कथन है।

उपसर्गादृति (६।१।६१)। तपरकरणा(२)दुप ॠकारीयतीत्यादौ 'वा सुपि' (६।१।६२) इति न वृद्धिः। सौत्रऋतिस्तु न गृह्यते; व्याख्या-नात्। आदित्यनुबृत्तेन तदन्तविधिरित्याह-अवर्णान्तादिति। 'यस्मिन्विधिः' इति परिभाषयाऽऽह—ऋकारादाविति। पूर्वपरयोस्तयोः समुदाययोरन्त्याद्यो-र्वर्णयोरेकादेश इत्यर्थः। उपसर्गावयवाकाराद्धात्ववयवे ऋकारे तयोः पूर्व-परयोर्वृद्धिरित्यु(३)चितम्। गतेरिति तु नोक्तम्। (४)'अच्छर्छति इत्यादौ दोषात्।

तपर के करने से उपॠकारयति इत्यादि दीर्घ में वासुपि से वृद्धि नहीं होती है। व्याख्यान से सूत्र में पठित ऋत् का ग्रहण नहीं है। आ अनुवृत्त आत् से कदन्त विधि

होती है इसलिए लिखते हैं अवर्णान्तादिति। यस्मिन् विधिः परिभाषा के सहयोग से कहते हैं ऋकारादाविति। पूर्व पर का अथवा उनके समुदायों का अन्त्य आदि वर्णों का एकादेश—यह इसका तत्व है उपसर्ग के अवयव अकार से धातु के अवयव ऋकार के परे उन पूर्व पर के स्थान में वृद्धि हो—यह कहना उचित है गति का कथन नहीं किया क्योंकि अच्छद्गिन्ति इत्यादि में दोष हो जाता क्योंकि यहाँ वृद्धि हो जाती।

अन्ता (६।१।८५)। (५) इह पूर्वपरयोरिति वर्तते; यथासंख्यञ्च; अन्तादिशब्दावुपस्थितैकदेशस्थानिपरौ। पूर्वपरशब्दा च (६) तद्घटित-समुदायपरौ। एवञ्च पूर्वस्य परस्य समुदायस्यान्तादिभ्यां वर्णाभ्यां पृथगवस्थिताभ्यां ये व्यवहारात् प्रातिपदिकत्वसुजन्तत्वप्रत्ययत्वादयस्ते कृतैकादेशस्य भवन्ति, न तु तद्वर्णमात्रवृत्तयोऽत्वह्रस्वत्वादय इत्यर्थस्तत्फलितमाह योऽयमित्यादि। तेन रामावित्यादौ परादिवत्त्वेन औ इत्यस्य सुप्त्वे पूर्वमान्तस्यैकदेशविकृतन्यायेन प्रकृतित्वे यस्माद्विहितस्तदादितदन्तत्वमार्थसभाजग्रस्तमिति पदत्वसिद्धिः। (१) तद्वर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशात् खट्वाभिरित्यत्राऽत्वनिबन्धन ऐस्न, अयजे इन्द्रमित्यादौ सवर्णदीर्घश्च न। अत एव (२) तुक्यसिद्धवचनं चरितार्थम्। अन्यथा 'अधीत्य' इत्यादावादिवत्त्वेन ह्रस्वत्वप्रयुक्ततुक्सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तदुक्तम्–वर्णाश्रये चान्तादिवत्त्व-प्रतिषेधो वक्तव्यो; न वाऽताद्रूप्यातिदेशात्' इति। अन्तादिवर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशादिति तदर्थः। 'क्षीरपेण' इत्यादावेकारविशिष्टे (३)एकाजुत्तरपदत्वं भवत्येव। स्थानिवद्भावेन तु नैतल्लभ्यम्। अप्राधान्येनालाश्रयणात्। किं च एकादेशे वर्णयोरेव स्थानित्वं न समुदायस्येति भी ई भियः इत्यादावेकादेशविशिष्टे धातुत्वानापत्तिः। धातुत्वस्यैकादेशस्थानिधर्मत्वाभावात्। आनुमानिकादेशकल्पकवाक्यमन्तादिघटितसमुदायस्यैकादेशघटित आदेश इत्येव, न तु प्रत्येकं तयोः स्थानित्वबोधकं, तथा सति स्वाश्वशब्दस्य स्थानित्वेन स्वशब्दतया तत ईरिन्शब्दे वृद्ध्यापत्तेः। किं च भवत्सम्मतस्य 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इत्यस्यासङ्गतौ भवत्सम्मत 'अभीयात्' इत्याद्यसिद्धिः। स्थानिवत्त्वं तूभयत आश्रयणे इष्यत एव। अन्यथा 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इत्यस्याप्युभयत आश्रयणेऽप्रवृत्त्यापत्तौ 'प्लायते' इत्याद्यसिद्धिरिति(१) दिक्।

यहाँ पूर्व पर की अनुवृत्त होती है और यथासंख्य भी है अन्त और आदि शब्द उपस्थित एकादेश के स्थानिपरक है। पूर्व और पर शब्द पूर्व घटित समुदाय तथा पर-

घटित समुदाय कहा है। इस प्रकार से पूर्व पर समुदाय अन्त्य आदि वर्णों से अलग उपस्थित होने के कारण जो व्यवहार प्रातिपदिकत्व सुबन्तत्व प्रत्ययत्वाद के एकादेश करने पर भी होते हैं उस वर्ण में वृन्त अत्व ह्रस्वत्व आदि नहीं आते हैं। यह इसका फलितार्थ है। उसी तरह कहते हैं कि योऽयंमित्यादि इससे रात्रौ में पूर्वान्तम परादिवद् भाव से औ से सुप्त्व् एकदश विकृत मनन्यवत से प्रकृतित्व आता है। इनके आने पर जिससे विहित हो इत्यादि तदन्त है। स्वयं आ जायेगा तब पदत्व की सिद्ध होती है। केवल उस वर्ण से रहने वाले धर्म का अतिदेश नहीं होता है उक्तार्थ होने से खट्वाभिः में टाप् के साथ एकादेश से पूर्व खट्व में वृत्ति अत्व को मानकर अतोमिस् ऐस से ऐस् नहीं पु होता है। और अयजे इन्द्रम् में सवर्ण दीर्घ नहीं होता है उक्तार्थ करने से 'षत्वतुपोरसिधः' यह सूत्र भी चरितार्थ होता है अन्यथा अधीत्य, येत्य इत्यादि में आदिवद् भाव करके ह्रस्त्व मानकर तुक् सिद्ध था फिर सूत्र की आवश्यकता नहीं थी कहा भी है वर्णाश्रय विधि में अन्तादिवत्व का प्रतिषेध करना चाहिए इसकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ताद्रूप्य धर्म का अतिदेश नहीं होता है अर्थात् अन्त या आदि वर्ण मात्र में वृत्ति धर्म का अतिदेश नहीं करता है क्षीरषेण में एकार विशिष्ट में एकाजुन्तर पदत्व हो ही जायेगा स्थानिवद्भाव से कार्य सिद्ध, नहीं होती क्योंकि अप्रधानता से अल का आश्रयण है और एकादेश में वर्णो का ही स्थानिवद् भाव होता है समुदाय का नहीं होता है। भी, ई भियः इत्यादि में एकादेश विशिष्ट में धातुत्व नहीं होगा क्योंकि धातुत्व का एकादेश स्थानि वृत्ति धर्म नही है। आनुमानिक स्थान्यादेश कल्पक वाक्य भी अन्तादिघटित समुदाय को एकादेश घटित आदेश होता है— इस प्रकार का ही होता है प्रत्येक को स्थानित्व बोधक नहीं होता है यदि प्रत्येक को माना जाय तो स्वाश्व शब्द में स्थानिवद् भाव से स्व शब्द मानकर उससे ईरिन् के परे वृद्धि होने लगेगी और आप से सम्मत् उभयता आश्रयणे नान्तादिव्यत् की असंगत होने पर आपके अभी यात् की असिद्ध हो जायेगी। स्थानिवद् भाव तो उभयता आश्रयण में इष्ट ही है अन्यथा अचः परस्मिन् की उभयतः आश्रयण में अप्रवृत्ति होने पर प्लायते इत्यादि की असिद्ध हो जायेगी यहाँ दिगर्थ इस प्रकार है स्थानिवत् सूत्र से ही अन्तादि बच्च गतार्थ है।

निर्देशादिति। न च 'कर्त्तरि चर्षि' (३।२।१८६) इत्यादौ गुणस्य पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयाश्रितत्वेन बहिरङ्गत्वाद्रेफाभावेन न विसर्ग इति वाच्यम्। गुणस्येव पदद्वयसम्बन्धिरेफस्वरात्मकवर्णद्वयाश्रितत्वेन विसर्गस्यापि तत्त्वात्। परनिमित्तिकत्वमप्युभयोः समम्। किं च कार्यकालपक्षे त्रिपाद्यां तदुपस्थितावपि पूर्वं प्रति परस्यासिद्धत्वादन्तरङ्गाभावेन पूर्वस्यान्तरङ्गनिरूपितबहिरङ्गत्वाभात् (१) कथ तस्यासिद्धत्वप्रतिपादनम्। न चानया

पूर्वस्यासिद्धत्वादभावेन तं प्रति परासिद्धत्वं 'पूर्वत्र' (८।२।१) इत्यनेन वक्तुमशक्यमिति वाच्यम् । एवं हि विनिगमनाविरहादुभयोरप्यप्रवृत्तो विसर्गो दुर्वारः । एवञ्च विरोधात्कार्यकालपक्षेऽपि तदनुपस्थितिरेव त्रिपादीस्थेऽन्तरङ्गे उचिता । अत एव विसर्जनीयसूत्रे भाष्ये इमामेव युक्तिमुक्त्वा '(२)अयुक्तोऽयं परिहारो न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्' इत्युक्तम् । एवञ्च तत्र तत्र वचनान्येव कार्याणि, ज्ञापकानुसरणं वा कर्त्तव्यम् । अतएव 'निगाल्यते' इत्यादौ लत्वाद्यर्थं 'तस्यदोषः' (का० वा०) इति वचनमेवारब्धम् । अन्यथाऽन्तरङ्गत्वात् णिलोपात्पूर्वं वैकल्पिकलत्वे चक्रयत्र, माषवपनीत्यादौ बहिरङ्गासिद्धत्वेन च सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । यत्तु लक्ष्यानुरोधात्कार्यकालपक्षे उपस्थितयाऽन्तरङ्गपरिभाषयाऽऽनुमानिक्या प्रत्यक्षसिद्धस्यापि 'पूर्वत्र' (८।२।१) इत्यस्य बाध इति, तन्न लक्षणैकचक्षुषामादरणीयम् । अत एव 'उरण्' (१।१।५१) इति सूत्रे 'रेफस्य पूर्वान्तवत्त्वे(३)विसर्जनीयप्रतिषेधो वक्तव्यो नार्कुटाद्यर्थम्' इत्युक्तं भाष्ये इति दिक् ।

निर्देशादिति । भाव यहाँ शंका करते है । कि कर्त्तरि चर्षि इत्यादि में गुण बहिरंग है क्योंकि दोनों पदो के सम्बन्धी दो वर्णों के आश्रित है । इसलिए असिद्ध होने से रेफ के अभाव में विसर्ग होने की सम्भावना नहीं है । इसका उत्तर यह है कि गुण की तरह रेफ और खर को मानकर होने वाला विसर्ग भी बहिरंग है क्योंकि दो पद सम्बन्धी रेफ तथा खर रूप वर्ण द्वय के आश्रित है पर निमित्तकत्व भी गुण तथा विसर्ग में समान है और भी बहिरंग परिभाषा की कार्यकाल पक्ष में त्रिपादी में उपस्थिति मानने पर भी पूर्व के प्रति पर के असिद्ध होने से पूर्व के अन्तरंग न होने से पूर्व को अन्तरंग मानकर बहिरंग के अभाव से असिद्धत्व का कथन सम्भव नहीं है । इस परिभाषा से पूर्व के असिद्ध होने से, पूर्व के अभाव से, उसके प्रति पर को असिद्धत्व पूर्वत्रा सिद्धम् से कहना उचित नहीं हैं । इस प्रकार से विभिगमना के अभाव में दोनों की अप्रवृत्ति होने से विसर्ग दुरवार है । इस प्रकार से कार्यकाल पक्ष में भी त्रिपादीस्थ अन्तरंग करने में बहिरंग परिभाषा की अनुपस्थिति ही उचित है इसीलिए विसर्जनीय सूत्र के भाष्य में पूर्वोक्त युक्त को कहकर बहिरङ्ग के कारण लक्षणत्वात् यह परिहारयुक्त नहीं है । इस प्रकार से उन-उन स्थानों पर वचनों का कहना ही उचित है अथवा ज्ञापक अनुसरण करना उचित है इसी से निगाल्यते इत्यादि में लत्व के लिए तस्य दोषः इस वचन का ही निर्माण किया नहीं तो अन्तरंग परिभाषा से णि लोप से पूर्व विकल्प से लत्व और चक्रयत्र भाषवयनी इत्यादि में बहिरंग परिभाषा से ही संयोगादि लोप तथा णत्व का

वारण सिद्ध होने से तस्य दोष: व्यर्थ ही था । तस्य के अनुरोध से कार्यकाल पक्ष में उपस्थित आनुमानिक ही अन्तरंग परिभाषा से प्रत्यक्ष सिद्ध पूर्वत्रासिद्धम् बाध हो जायेगा यह किसी का कथन उचित नहीं है क्योंकि लक्षण सूत्र के अनुसार चलने वालों को आदरणीय नहीं है । इसी से उरण् रपरः सूत्र में रेफ के पूर्वान्तवत्व मानने पर नार्कुता नार्पत्यः के लिए विसर्जनीय का प्रतिषेध कहना होगा । विसर्जनीभोऽत्तुरपदे वार्तिक है। इस वार्तिक में उत्तरपद अर्थवान लेना । तब अर्थवत् विशिष्टस्य रेफस्य विसर्गा न भवति यह अर्थ सिद्ध होगा । वैशिष्ट्यम् स्वाव्यवहित पूर्वत्व स्वोत्तर प्रत्यय निमित्तकत्व उभयसम्बन्ध से नार्कुट में कुट से पूर्व भी रेफ है अपने से उत्तर अण् प्रत्यय निमित्तक भी है । अत: विसर्ग नहीं होते है उक्तार्थ स्वीकार करने से कर्त्तरि चर्षिः इत्यादि निर्देश भी संगत होते हैं ।

उपसर्गेणैवेति । तत्सञ्ज्ञायाः [१] क्रियायोगनिमित्तत्वादित्यर्थः । यदर्थे क्रियारूपे प्रादीनामन्वयस्तं प्रत्येवोपसर्गत्वमिति भावः । प्रकृते च [२] प्रत्यासत्त्या ऋकारादिनिमित्तोपसर्गग्रहणात्प्रगतः ऋद्धः 'प्रर्द्धः' इत्यत्र न । पुनरिति । प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्फुटमेतत् । सुब्धाताविति । [३] सुबन्तप्रकृतिके धातावित्यर्थः । तुल्यास्यसूत्रे उपार्कारीयतीत्यादेरेतदुदाहरणत्वस्य भाष्ये उक्तत्वात् । शास्त्रे सुबन्तस्य [४] धातुप्रकृतित्वेनोक्ततया तत्प्रकृतिके इति व्याख्यानमेवोचितम् । ऋषभस्य समीपमुपर्षभं तदिच्छति उपर्षभीयतीत्यत्र तु न वृद्धिः । उपेत्यस्यानुपसर्गत्वात् । अत्रापि 'धातौ' इत्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयं, तेन सुब्धातावपि न प्रकृतिभावः ।

प्रार्षभीयतीति । अत्र 'शरोऽचि' [८।४।४९] इत्यस्यानुपन्यासेन व्यञ्जनात्परस्यैकस्यानेकस्य वोच्चारणे विशेषाभावेन 'अचो रहाभ्याम्' [८।४।४६] इत्यस्य तन्निषेधस्य चानावश्यकता सूचिता । वाक्यभेदेति । इदं वृत्तौ स्पष्टं, भाष्ये तु न दृश्यते । 'एवे च' [का० वा०] इति वार्तिकं सूत्रे धातावित्यनुवृत्तेरारब्धम् । अवधारणम्—नियमः । एवशब्दस्य द्योत्यमर्थद्वयमवधारणमसम्भवरूपामनवक्लृप्त्यादि च, तयोरन्त्योऽत्र एवशब्दार्थ इत्यभिप्रेत्याह—अनवक्लृप्ताविवेति । 'क्वेव भोक्ष्यसे' इत्युक्तेः स्थलसङ्कीर्णत्वादिना नास्ति सम्भवस्तव भोजनस्येति गम्यते ।

उपसर्ग संज्ञा । क्रिया के योग को निमित्त मानकर होती है क्रिया रूप इस अर्थ में प्रादिकों का अन्वय होता है । उसके प्रति ही उपसर्ग संज्ञा होती है । प्रकृति में प्रत्यासन्ति से ऋकारादि निमित्तक उपसर्ग के ग्रहण करने से प्रगतः ऋद्धः प्रर्द्धः में प्रको गम् धातु के प्रति ही उपसर्गत्व हैं ऋद्धः के प्रति नहीं है अतः यहाँ वृद्धि नहीं होती है

पुनरिति। प्रकृत सूत्र भाष्य में स्पष्ट है सुब्धातीविति सुबन्त प्रकृति प्रत्यान्त धातु यह उप का अर्थ है तुल्यास्य सूत्र में उपार्कारीयत इत्यादि उदाहरण भाष्य में कहे हैं। शास्त्र में सुबन्त धातु प्रकृतिक का है इसलिए धातु प्रकृतिक व्याख्यान ही उचित है। धातु प्रकृतिक अर्थ धातु संज्ञा प्रयोजक प्रत्यय प्रकृतिक कहना नहीं तो धातु में प्रत्ययत्व के अभाव से उक्त कथन असंगत हो जाता ऋषभस्य समीप मुपषेभं तदिच्छति विग्रह में उपर्षभीयत् सिद्ध प्रयोग में वृद्धि नहीं होती है क्योंकि उप में उपसर्गत्व नहीं है इस सूत्र से धातु की अनुवृत्ति कर वाक्यभेद से व्याख्या करना चाहिए जिससे सुब्धातु में भी प्रकृति भाव नहीं होता है। प्रार्षभीयतीति।

यहाँ शरोऽचि सूत्र के न लिखने से व्यंजन से परे एक या अनेक के उच्चारण में विशेषता न होने से अचो रहाभ्याम् इसके तथा उसके निषेध शरोऽचि की आवश्यकता नहीं है। वाक्यभेदेति यह वृत्ति में स्पष्ट है भाष्य में नहीं दिखलाई देता है। एवे च्। यह वार्तिक सूत्र में धातु की अनुवृत्ति आने पर ही लिखा है। अवधारण का अर्थ ही नियम एवं शब्द के द्योत्य दो अर्थ है अवधारण तथा असम्भव अनवक्लृप्ति उनमें असम्भव रूप अर्थ ही यहाँ एव शब्द का अर्थ है यह जानकर ही लिखते है अनवक्लृप्त वेचेति'। कहाँ खाओगे ऐसा करने पर स्थल संकीर्ण होने से यहाँ आपके भोजन की संभावना ही नहीं है। यह अर्थ स्पष्ट ही प्रतीति होता है।

अचोऽन्त्या (१।१।६४)। अच इति (१) निर्धारणे षष्ठी। अन्ते भवोऽन्त्यः। अन्त्यादीति (२) गमकत्वाद् बहुव्रीहिः। मार्त्तण्ड इति। मृताण्डादागतो मार्त्तण्डः। अण्विषये एव पररूपम्। ननु मार्त्तशब्दान्त्याच्—तकाराकारः; स आदिर्यस्येत्यन्यपदार्थो दुर्लभ इति? न, एकस्मिन्नेव समुदायकरूपत्वारोपेण तदवयवत्वारोपेण च तदुपपत्तेः। एतन्मूलकमेव 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' इति पठयते इत्यलम्। वस्तुत (३) आरोपस्य नात्रोपयोगः। 'शब्दाज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इति पतञ्जल्युक्तेरर्थाभावेऽपि (४) विकल्पात्मकं ज्ञानमत्र, तदपि लक्ष्यानुरोधाच्छास्त्रप्रवृत्त्युपयोगीति बोद्ध्यम्। पतञ्जलिरिति तु अञ्जलेः पतित (५) इति विग्रहे मयूरव्यंसकादित्वात्समासे तत्रैव निपातनानितशब्दस्य लोपे पृषोदरादित्वाद्वा तल्लोपे साधु। गोनर्ददेशे कस्य चिदृषेरञ्जलेः सन्ध्याकरणसमये पतित इत्यै (६) तिह्यात्।

अचोऽन्त्या। अच् यह षष्ठी निर्धारण में ही अन्तेभवः इस विग्रह में यत् प्रत्यय करने से अन्त्यः की सिद्ध होती है। अन्त्यादि में गमक नित्य साकांक्ष होने से बहुव्रीहि समास होता है। तात्पर्य यह है कि नित्य साकांक्ष में 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति' यह नहीं लगता है। मार्त्तण्डइति। मृताण्डादागतः इस विग्रह में अण् के विषय में ही पर रूप

करने पर मार्त्तण्डा की सिद्ध होती है। अब यहाँ शंका करते है कि मार्त्त शब्द में अन्त्यअच् तकार का अकार है वह किसी के आदि में नहीं है। क्योंकि उसके आगे कोई वर्ण नहीं है। तब बहुव्रीहि समास का होना कठिन है। इसका उत्तर देते हैं कि एक में ही समुदाय के रूप का और उसके अवयव के रूप का आलोप करने से समास सुलभ है। एतन्मूलक ही 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' यह परिभाषा भी सिद्ध होती है अर्थात् उक्त परिभाषा के बल से वह अपने ही आदि में मान लेते हैं वस्तुत: आरोप विपर्यय ज्ञान की यहाँ आवश्यकता नहीं है जैसा कि योगदर्शन का सूत्र हैं। शब्दाश्नानानुपाती वस्तु शून्यों विकल्प अर्थात् अर्थ के अभाव में विकल्पात्मक ज्ञान होता है। वह ज्ञान भी लक्ष्य के अनुरोध से शास्त्र प्रवृत्ति का उपयोगी होता है वस्त्व विषये कत्वेसति प्रमाणावाधितम् शब्द जनितम् ज्ञानम्" वस्तु के अभाव में भी प्रमाण से अवाधित् शब्द मात्र से होने वाला ज्ञान—यह उसका लक्षण है। जैसे राहो:शिरा में राहु कोई वस्तु नहीं है तथापि शाब्द बोध होता है। पतञ्जलिरिति अञ्जलि से गिरा उस विग्रह में मयूरव्यंस्नकादि मानकर समास करने पर निपातन से इत् शब्द का लोप करने पर अथवा पृषोदरादि मानकर लोप करने पर पतञ्जलि की सिद्ध होती है उक्त विग्रह में प्रमाण देते है कि गोनर्ददेश (पंजाव) में संध्या करने के समय किसी ऋषि की अञ्जलि से गिरने से उक्त नाम हुआ ऐसा इतिहास है। (इत्यैह्य पौराणिक के मत में प्रमाण है।)

ओत्वोष्ठयो: (का० वा०)। अत्र समर्थपरिभाषा नोपतिष्ठते; 'समासेऽङ्गुले: सङ्ग:' (८।३।८) इत्यादौ समासग्रहणेन; पदविधिरितिसूत्र, स्वरसेन; भाष्यादिस्वारस्येन च पदत्वेन सुबन्तत्वेन वा यत्र साक्षादुद्देश्यता तत्रैवैतत् (७)परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकारात्। ओत्वोष्ठादिमात्रस्य पदत्वाभावात्। अवर्णादोत्वोष्ठयोरति तद्घटितसमासे इत्यर्थाद्, दन्त्योष्ठयो व: स्मृत:' इतिप्रयोगसिद्धि:। अन्यथा प्रत्यासत्त्योत्वाद्युत्तरपदकसमास एव प्रवृत्त्यापत्तौ तद्सङ्गति: स्पष्टैव। ओतुबिडाल:।

ओत्वोष्ठयो: यहाँ समर्थ परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि समासेऽङ्गुले: सङ्: में समास ग्रहण करने से पद विधि सूत्र के करने से और भाष्य के स्वारस्थ से पदत्व या सुबत्तत्व से जहां उद्देश्यता साक्षात् होती है वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। ओतु तथा ओष्ठ मात्र में पदत्व का अभाव अवर्ण से ओतु और ओष्ठ सम्बन्धी अच् के परे और उससे युक्त समास में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है उक्तार्थ करने से दन्त्योष्ठयों व: स्मृत: इत्यादि प्रयोगों की सिद्ध होती है अन्यथा प्रत्यासन्ति से ओतु आदि उत्तर पद वाले समास में प्रवृत्ति होने पर उसकी असंगति स्पष्ट ही है ओतु बिलौटा का नाम है।

ओमाङो (६।१।९४)। अत्र एङीति नानुवर्त्तते, तेनेषदर्थकाऽऽङा सह ऋषभशब्दस्य समासे 'अद्य अर्षभः' इत्यत्र पररूपेऽद्यर्षभसिद्धिः। न चात्र परत्वाद्दीर्घप्रसङ्गः, प्रतिपदविधित्वञ्च निरवकाशत्वे सत्वेव बाधकत्वे प्रयोजकमिदञ्च 'मध्येऽपवाद' न्यायेन 'अवेहि' इत्यादौ वृद्धेरेव बाधकं स्यादिति वाच्यम्, लक्ष्यानुरोधेनात्र बाध्यसामान्यचिन्ताश्रयणात्। अन्यत्र प्रतिपदविधित्वस्य बलवत्त्वे प्रयोजकतादर्शनेन परदीर्घात्पूर्वं पररूपप्रवृत्तेश्च।

ओमाङो। इस सूत्र में एङ की अनुवृत्त नहीं होती है इससे ईषदर्थ वाले आङ के साथ ऋषभ शब्द का समास करने पर अद्य अर्षभ में पर रूप करने पर अद्यर्षभ की सिद्धि होती है। यहाँ पर होने से दीर्घ की शंका व्यर्थ है। प्रतिपद विधि भी निरववाश होने पर बाधक होती है। यह मध्ये पठिता इत्यादि न्याय से अवेरि इत्यादि में वृद्धि का बाधक होगा। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि यहाँ लक्ष्य के अनुरोध से बाध्य सामान्य चिन्ता का आश्रयण है और अन्य स्थलों में प्रतिपद विधि भी बलवत्ता के देखने से परदीर्घ से पूर्व ही पर रूप की प्रवृत्ति होती है।

अव्यक्तशब्दार्थो ध्वनेरिति। अविद्यमानकत्वादिशब्दस्येत्यर्थः। तस्य चाच्छब्दो ऽनुकरणे एव सम्भवतीत्याह—अनुकरणेस्येति। अत्रालोन्त्यस्येति न प्रर्वते, 'नानर्थके' (प० भा० १०६) इति निषेधात्। 'आम्रेडितस्य वा' इति वक्तव्ये 'नाम्रेडतस्य' (६।१।९९) इत्या (१) रम्भाद्वा। अत इति किम्? वटगिति्।

अव्यक्त शब्द का अर्थ ध्वनि है इसलिये कहते है। ध्वनेरिति। अविद्यमान कत्वादि शब्द का उसका अत् शब्द अनुकरण में सम्भव इसलिये कहते है अनुकरणस्येति। यहाँ अलोन्त्य परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि नानर्थक से निषेध हो जाता है अनर्थक परिभाषा के प्रत्याख्यान में अन्य उपाय कहते है 'आम्रेडितस्य वा' के कथन से कार्य सिद्ध हो जाता है फिर 'नाम्रेडितस्य' का आरम्भ व्यर्थ था अत् के अभाव में वटगिति को अंग् को भी पूर्व रुप हो जाता।

नाम्रेडित (६।१९।९)। अव्यक्तानुकरणस्य इति, अत इति च वर्त्तते। अव्यक्तानुकरणावयवीभूताम्रेडितावयवाच्छब्दस्येत्यर्थः। 'नाम्रेडितस्य तस्तु वा' इति न सूत्रितं वैचित्र्यार्थम्। फलकल्पनाभिनिवेशस्तु न युक्तो, भाष्यानुक्तेः। अत एव 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) इति सूत्रे 'द्विस्तद्ग्रहणं प्रमादकृतमाचार्यस्य' इति भाष्ये उक्तम्। लाघवानवधानलक्षणोऽत्र प्रमाद इति कैयटः। क्व तदवधानं क्व तदनवधानमिति तु भाष्यकृदुक्त

प्रयोजने तद्वधानमन्य त्रान्यदिति निर्णयम्। ननु डाचोऽभावादेतप्राप्तिरत आह—बहुलवचनादिति।

इस सूत्र में पूर्व सूत्र अत्यक्तानुकरणस्य और अतः की अनुवृत्ति होती है। उसका अर्थ इस प्रकार से है—अव्यक्तानुकरण का अवयवी जो आम्रेडित उसके अवयव अत् शब्द को होता है वैचित्य के लिए 'नाम्रेडितस्य तस्तु वा' सूत्र का निर्णय नहीं किया फल की कल्पना में आग्रह करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भाष्य में नहीं कहा है इसलिये 'तदधीते तद्वेत' इस सूत्र में दो बार तत् का ग्रहण आचार्य ने प्रमाद् से किया है लाघव का विचार न करना ही प्रमाद् है यह कैयट ने लिखा है कहाँ उसका अवधान है और कहाँ अनवधान है इसका निर्णय तो भाष्यकार के प्रयोजन देने पर सावधान का है — न देने पर अनवधान लक्षण प्रमाद है– प्रमादोऽनवधानता यह ओष्ठ भी है डाच् के न होने से इसकी प्राप्ति नहीं है यह नहीं करना चाहिए क्योंकि बहुल वचन से सिद्ध है।

तस्य परम् (८।१।२)। अवयववाचिपरशब्दयोगेऽत एव (२) ज्ञापकात् षष्ठी। 'तस्य' ग्रहणं स्पष्टार्थं, द्वे इत्यनुवर्त्य षष्ठया (१)विपरिणामेन सिद्धेः। अन्यद्विरुक्तपरस्य तु न सञ्ज्ञा, अष्टमे 'सर्वस्य' इत्येतत्प्रकरणे सञ्ज्ञाकरणात्।

इसमें षष्ठी देखने से अवयव वाची पर शब्द के योग में षष्ठी होती है अवधि अर्थ में पंचमी तस्यग्रहण स्पष्टार्थ है पूर्वोभ्यासः की तरह द्वे की अनुवृत्ति करके षष्ठी से विपरिणाम करने से कार्य सिद्धि हो जायेगा।

अन्यद्विरुक्त वाले की तो संज्ञा नहीं होगी क्योंकि अष्टमाध्याय में सर्वस्य के प्रकरण में इस संज्ञा का उल्लेख है। इससे वह सिद्ध है कि जहाँ आम्रेडित होगा वहाँ ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

झलां ज (८।४।५३)। अन्तग्रहणं झलीत्तिनिवृत्त्यर्थम्। सर्वोपकारकतया च प्रकरणान्तेऽस्य लेखः। एतेन 'श्रत्' इत्यत्रैव लेख उचित इत्यपास्तम्।

अज्झलोः सावर्ण्यनिषेधादाह -अचि किमिति। अनिष्पत्तोरिति। नाज्झलाविितिसूत्रविषयनिर्णयेऽपवादविषय (२) परिहारेण तत्तद्वर्णीयसर्वपदवाच्यनिर्णयोत्तरं तावतां ग्रहणस्य ग्रहणकशास्त्रबोद्ध्यतया एतद्बोधकाले ग्रहणकशास्त्रस्य तावद्ग्रहणबोधकत्वानि(३)ष्पत्तोरित्यर्थः।

सलि की निवृत्ति के लिए अन्तग्रहण किया है। सबके उपकारक होने के कारण प्रकरण के अन्त में इसका उल्लेख हैं परोपकारक होने के कारण श्रुत् में ही इसका उल्लेख उचित था—यह कथन व्यर्थ है।

अच् झलिकी सवर्ण संज्ञा निषेध के विषय में कहते है। अचिकिमित। अनिष्पत्तेरिति। नाज्झलौ सूत्र के विषय निर्णय में अपवाद के विषय को त्याग कर ही उत्सर्ग प्रवृत्ति होती है इस सिद्धान्त से उन उन वर्णों की सवर्णपद वाच्यता निर्णय के अनन्तर ही उनका ग्रहण अणुदित् सूत्र से होने के कारण इसके बोध के समय ग्रहणक शास्त्र को उनके (दीर्घादि) ग्रहण भी बोधमता की निष्पत्ति नहीं है।

सूत्रस्थसवर्णपदानुवृत्तिमभिप्रेत्याह्–ऋति सवण इति। तत्फलं दध्यृकारादावेतदप्रवृत्तिः। एतद्विधेययोः 'अइउण्' (मा० सू० १) सूत्रानन्तरं पाठादच्त्वं, तेन तयोः स्थाने प्लुतसिद्धिस्तयोश्च (४) न रपरत्वम्। द्विमात्रमिति। (५)अत एव 'अकः सवर्णे' (६।१।१०१) इत्यनेनैव ऋकारद्वयस्य स्थाने रेफद्वयवत्तारूपगुणकृतान्तर्येण कदाचिद्रेफद्वयगर्भस्य विवृतत्वान्तर्येण कदाचिद्विवृतस्य, लृकारे लकारवत्तान्तर्येण कदाचिद्द्विलकारस्य कदाचिद्विवृतत्वसाम्येन रेभवत्तासाम्येन च तादृशस्य ऋकारस्य (६) सिद्ध्या विकल्पफलंसिद्धिमाश्रित्यैतद्वचनद्वयं 'तुल्यास्य' (१।१।९) इति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यातम्। द्वौ रेफाविति। अत्रापि तदेव भाष्यं मानम्। द्विरेफत्वे हि रेफद्वयवति स्थानिन्ययं, लकारवत्यपर इति व्यवस्था सिद्धयति। अभित इति। द्वौ रेफावित्यनुषज्यते, तच्च द्वितीयान्तम्, अभितः पदयोगात्।

सूत्र में स्थिति सवर्ण पद की अनुवृत्त को मानकर कहते है। ऋषि सवर्ण इति। उसका फल है कि दध्यृकारादि में दीर्घा नहीं होता है इस वार्तिक से होने वाले ऋकारादि का अ इ उ ण सूत्र के पश्चात् पाठ होने से अचत्व की सिद्ध होती है। उससे उनके स्थान में प्लुत की सिद्ध होती है। और उनको रपर नहीं होता है। क्योंकि अ इ उ ण के पश्चात पाठ होने से अण् अभाव है। द्विमात्रमिति। द्विमात्रिक होने से ही अका सवर्णे से दो ऋकारों के स्थान में रेफ द्वय वाले गुण कृत आन्तर्य से कभी दो रेफ वाले विवृत्त के आन्तर्य से कभी विवृतत्व के साम्य से और रेफ वत्ता के साम्य से ऋकार में लकार वत्ता के आन्तर्य से कभी दो लकार। कभी विवृत्व के साम्य से और रेफ वत्ता के साम्य से उसी प्रकार लृकार की सिद्ध होने से विकल्प की सिद्धि को फल मानकर इन दोनो वार्तिको का तुल्यास्य सूत्र के भाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया है। "द्वौ रेफाविति"। यहाँ भाष्य ही प्रमाण है। दो रेफ होने से दो रेफ वाले स्थानो में ऋकार, लकार वाले में द्वितीय वार्तिक की प्रवृत्ति होती है अभितः इति। दो रेफो की सम्बन्ध––होता है और अभितः के योग में वह द्वितीयान्त है।

(१) 'एओङ्' (मा० सू० ३) सूत्रे भाष्ये मातृणामित्यादौ णत्वादिसिद्धयर्थमवश्यमङ्गीकर्त्तव्ये 'वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते, इति पक्षे प्रलूय खट्वाभिबार्चा तरतीत्यादौ तुगसद्व्यज्लणक्षानां शङ्कायाः, 'दीर्घात्' (६।१।

७५) इति तुग्विधानसामर्थ्यतपरकरणसामर्थ्यं 'नौद्व्यचः' (४।४।७) इति सूत्रस्थनौग्रहसामर्थ्यैर्भेदेनाप्रतिभासमानेषु वर्णावयवेषु अवयवसदृशस्वतन्त्र-वर्णाश्रयकार्याभावज्ञापनरूपसभाधानस्ये च करणवत् 'प्रातॠतम्' इत्यत्र 'रोरि' (८।३।१४) इत्यस्य 'तद्लृकारः' इत्यादौ 'तोर्लि' (८।४।६०) इत्यस्य च शङ्कासमाधानाकरणेन 'यत्तद्रेफात्परं भक्तेः' इति 'हयवरट्' (मा० सू० ५) सूत्रस्थ भाष्येण च ॠलृक्सूत्रस्थयोरर्धमात्राज्भागस्यार्पितः क्लृप्तत्वेन तथैवोचितत्वादिति भावः। द्वौ लकाराविति। हलद्वयवत्पूर्व-साहचर्यादिति भावः। अत्र ह्रस्वॠकारद्वयस्थानिकैकादेशे एव पूर्वस्य साधुत्वं ह्रस्वॠकारलृकारस्थानिकैकादेशे एवोत्तरस्य साधुत्वम्। (२) अत एव लृति न ॠकारो नाप्यृति लृकारः। (३) अत एव वार्तिके 'ॠति' इति तपकरणमुत्तरवार्तिके 'लृति' इति च चरितार्थम्। 'तुल्यास्य' (१।१।९) सूत्रे भाष्ये यदेतदृतीति इति वक्ष्यामीत्येतद्वचनाश्रयणेन 'ॠलृवर्णयोः सावर्ण्यम्' (का वा) न कार्यमिति च सङ्गच्छते। उपस्थितरेफीयप्रयत्नत्यागे मानाभावादीषत्स्पृष्टाविमौ। विवृतत्वे हि विवृतॠकारलृकाराभ्यामनयो-रपि ग्रहणे 'अकः सवर्णे' (६।१।१२७) इत्यनेनैव सिद्धे वार्त्तिकस्यैव वैयर्थ्यापत्तेः।

दोनों वार्तिकों से होने वाले ॠकार और लृकार में दोनों ओर अच् होने में प्रमाण देते हैं। एओङ् सूत्र के भाष्य में मातृणामि णत्व सिद्धि के लिए 'वर्णैक देशाः वर्ण गृहणेय गृह्यन्ते" (वर्ण का एक देश भी वर्ण के ग्रहण से ग्रहण होता है) इस पक्ष में प्रलूय खट्वाभिः, वाचा तरति इत्यादि में क्रम से तुक ऐस्, दो अच् मानने वाले ठक् शंका का 'दीर्घात्' सूत्र तुक् करता है। अत् तुक् नहीं होगा। अत् में तपर करने से ऐस नहीं होगा। 'नौद्व्यच' नौ ग्रहण से जहाँ भेद से प्रतीति नहीं होती है। ऐसे वर्णों के अवयव में अवयवसदृश स्वतंत्र वर्णाश्रय कार्य अभाव का ज्ञापन किया है इस प्रकार से 'प्रात्रॠतम' में रोरितथा तद् लृकार में तोलि इत्यादि की प्राप्ति की शंका तथा समाधान के न करने से और यत्तद्रेफात्परं भक्त इस हयवरट्सूत्र के भाष्य से ॠलृक् सूत्र में स्थिति में ॠकार लृकार में आधी भाग अच् भाग भी निश्चित होने से पूर्वोक्त कथन ही उचित है। द्वौ लकराविति। दो हल वाले पूर्व की साहचर्य से उक्त सिद्ध होती हैं।

यहाँ हृस्व दो ॠकार वाले एकादेश पूर्व सिद्ध है तथा हृस्व ॠकार लृकार स्थानी वाले एकादेश में उत्तर की सिद्धि है। उक्त अर्थ करने से ही लृकार में ॠकार तथा ॠकार में लृकार नहीं होता है। उसमें प्रमाण देते हैं कि ॠति में तपरकरण

तथा उत्तरवार्तिक में लृति में चरितार्थ है। तुल्यास्यसूत्र के भाष्य में 'यदेतदृतीति' एतदृत यह कहेंगे इस वचन के आश्रयण से लृ वर्ण की सवर्ण संज्ञा नहीं करनी चाहिए। यह भी संगत होता है। उपस्थिति रेफ के स्थान त्यागने में मान के न होने से वार्तिक से विधेय ऋकार लृकार ईषत् स्पष्ट है। विवृत के ग्रहण में तो विवृत ऋकार लृकार से इनके ग्रहण होने से अकः सवर्णे से सिद्ध थी फिर वार्तिक व्यर्थ था।

एङः (६।१।१०९)। पदान्तात् किम् ? भवति।

एङः पदान्तग्रहण के अभाव में भो अति इस अवस्था में भवति में पूर्व रूप हो जाता है। परन्तु ओ में पदान्तत्व नहीं है।

सर्वत्र वि (६।१।१२२) 'प्रकृत्याऽन्तः' (६।१।११५) इति सूत्रात्प्रकृत्येत्यनुवर्त्तते। प्रकृतिशब्दोऽत्र स्वभाववाची 'दुस्त्यजा प्रकृतिः' इत्यादौ तथा दर्शनात्। प्रकृतया स्वभावेनावस्थानमित्यर्थः। अत एव प्रकृतिभावे न पूर्वरूपं नाप्ययादय इति भावः। 'नान्तः पादम्' इति पाठे त्वनेन सूत्रेण गोशब्दस्य यत्प्राप्तं तन्नेति व्याख्यानेन 'नान्तः पादम्' इत्यनेनैव पूर्वरूपत्वादिकं विकल्पेन निषिद्धयत इति बोद्ध्यम्।

सर्वत्रवि। प्रकृत्याऽन्तः सूत्र से प्रकृत्या की अनुवृत्ति होती है। यहाँ प्रकृति शब्द स्वभाव वाची है। जैसा कि माघ में लिखा है। सतिवयोषित् प्रकृतिः सुनिश्चिता। 'दुस्त्यजा प्रकृतिः इत्यादि स्थल में स्वभाव अर्थ दृष्टिगोचर होता है। प्रकृटया स्वभाव से अवस्थान (स्थिति) है। यह अर्थ है स्वाभाविक स्थिति के कारण ही पूर्व रूप नहीं होता है और न अयादि ही होते हैं। 'नान्तः पादम्' इस पाठ में तो इस सूत्र में गो शब्द को जो प्राप्त है वह नहीं होता है। इस व्याख्यान से नान्तः पादम् से ही पूर्व रूपादि का विकल्प से निषेध होता है।

अवङ् (६।१।१२३)। स्फोटोऽयनं यस्य सः, स्फोटप्रतिपादक इत्यर्थः स्फौटायनस्येतिपाठे नडादित्वं कल्प्यम्। स्फोटायनोऽवङः। स्मर्त्ता, अन्यस्तु तदभावस्येति स्मृत्यन्तरानुसन्धानद्वरेणात्र विकल्पो बोद्धयः। निवृत्तमिति। अत एव 'इन्द्रे' (६।१।१२४) इति सामर्थ्यान्नित्यमिति (१)भाष्यादावुक्तम्। गवाग्रमिति। सन्निपातपरिभाषयाअनित्यत्वाद्दीर्घ इति बोद्धयम्। व्यवस्थितेति।

(२) 'देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः।
मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥

तेन प्राण्यवयवे न' इति 'शाच्छोः' (७।४।४१) इति सूत्रे भाष्ये। स्पष्टम्। 'अग्नीत्प्रेषणे' (८।२।९२) इति सूत्रे 'अग्निदग्नीन्विहर' इत्यत्र

एतद्व्यावृत्यर्थं वार्त्तिककृद् बहुलग्रहणघटितं न्यासं कृतवान् । तत्प्रत्याख्यानाय भाष्ये कृतेन विभाषेति योगविभागेन विभाषेत्यस्य व्यवस्थितविभाषात्वं ध्वनितम् । तथा 'अजेर्व्यघञ्पोः' (२।४।५६) इति च व्यवस्थितविभाषेति अजेर्वीतिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । न च (३)व्यवस्थितविभाषयेन्द्रे नित्यावङि सिद्धे 'इन्द्रे च' (६।१।१२४) इति व्यर्थमिति वाच्यम्, भाष्योक्तातिरिक्तव्यवस्थितविभाषाणामप्रामाणिकत्वज्ञापनार्थं तत्सत्त्वादित्याहुः ।

अयङ् ॥ स्फोट है अयन् (स्थान) जिसका अर्थात स्फोट का प्रतिपादक। स्फौटायनस्य पाठ में नङादित्व की कल्पना करना । स्फोटायन अवङ के स्मरण करने वाले ही अन्य अवङ के अभाव में इस प्रकार अन्य स्मृति के अनुसंधान द्वारा विकल्प समझना । निवृत्तमिति । निवृत्त न होने से ही भाष्य में लिखा है कि "इन्द्रे च" आरम्भ सामर्थ्य से नित्य ही नित्यग्रहण किमर्थं इत्यादि भाष्य से प्रतीत होता है। गवाग्रमिति । सन्निपातपरिभाषा के अनित्य होने से यहाँ दीर्घ होता है। व्यवस्थितेति। देवता तो गलो ग्राह इति योगे च सिद्धि धिः । मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥ व्यवस्थित विभाक्ष का यह कार्य होता है कि विकल्प विधायक सूत्र का कहीं भाव ही रहता है और कहीं अभाव ही रहता है। दोनों प्रयोग नहीं होते हैं। जैसे व्रातः में नुदविदोनदन्व्रः से नत्व नहीं होता है गलः में अच् विभाषा से लत्व होने से गल. ही होगा ग्राहः में लत्व नहीं होगा । सत् से शतृ और शानच् का ग्रहण होता है। जैसे लृटः सद्वा गवाक्षः में सर्वत्रविभाषा से नित्य ही अवङ् होगा संशितव्रतः में शाच्छोः से इत्वं वृतअर्थ में नित्य ही होगा। व्यवस्थित विभाषा का लक्षण है कि "विभाषाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक व्याख्यान रूपव्यापक भावाभावान्यतर विधायकत्वम् । इससे प्राणी के अवयव में अवङ् नहीं होता है। यह शाच्छोः सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है अग्नीत्प्रेषणे में सूत्र में 'अग्निदग्नीन्विहर' यहाँ पर व्यवस्थित विभाषा की व्यावृत्ति के लिए वार्तिक कार ने बहुल ग्रहण से युक्त न्यास किया । उस न्यास के प्रत्याख्यान के लिए भाष्य में किये विभाषायोग विभाग से विभाषा को व्यवस्थित विभाषा ध्वनित होता है और अजेर्व्यधञयोः भी व्यवस्थित विभाषा है। यह उसी सूत्र से स्पष्ट है व्यवस्थित विभाषा से इन्द्र में नित्य अवङ सिद्ध होने से इन्द्रे च सूत्र व्यर्थ है। यह शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उक्त सूत्र से वह ज्ञापन करते हैं कि भाष्योक्तिविषये अतिरिक्त स्थल में व्यवस्थित विभाषा अप्रमाणिक है।

इन्द्रे च (६।१।१२४) क्वचिद्भाष्यपुस्तके चशब्दरहितः पाठः । इन्द्रावयवेऽचीत्यर्थस्तेन षष्ठीसपुरुषोत्तरपदषष्ठीतत्पुरुषे 'गवेन्द्रयज्ञः' इत्यादाववङ्सिद्धिः । अन्यथा वाक्ये गोशब्दस्येन्द्रपरत्वासम्भवेन समासा (४) क्षेपादिन्द्रशब्दस्योत्तरपदत्व एव प्रवृत्ति स्यात् ।

इन्द्रेच ।। किसी पुस्तक में च शब्द से रहित पाठ है। इन्द्र के अवयव अच् के परे अवड़ होता है। यह अर्थ है उक्तार्थ करने से षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर 'गवेन्द्रयज्ञः' में अयड् की सिद्ध होती है। उक्तार्थ के अभाव में वाक्य में गो शब्द से इन्द्र परे मिलना असम्भव होने से समास से श्रुतार्थापत्ति से आक्षिप्त इन्द्रशब्द जहाँ उत्तरपद होगा वहीं इसकी प्रवृत्ति होगी उक्त उदाहरण में इन्द्र उत्तरपद नहीं है। क्योंकि उत्तरपद समास के अन्तावयव को कहते हैं वह उक्त प्रयोग में यज्ञ है।

'प्लुतप्रगृह्या' (६।१।१२५) इत्यस्य प्रकृत्येति पाठे एव सामञ्जस्यं मत्वाऽऽह–अथ प्रकृतीति। न चैतद्घटकपदार्थज्ञानाय प्रगृह्यत्वादिकथनं पूर्वं युक्तमिति वाच्यम्, 'इन्द्रे च' (६।१।१२४) इत्यत्र प्राचीनपठितनित्य-ग्रहणस्य प्रामादिकत्वं बोधयितुं तदव्यवहितमेतत्सूत्रलेखनात्। तत्र नित्य-ग्रहणे तदव्यवहितोत्तरैतत्सूत्रे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याशयेनाह—प्लुताः प्रगृ-ह्याश्च वक्ष्यन्त इति। अचीत्यनुवर्त्तमाने पुनरज्ग्रहणं प्रत्यासत्त्या यत्राचि अनयोः प्रकृतिभावस्तदज्निमित्तकार्यस्यैव तेनाभाव इत्यर्थलाभार्थं, तेन जानु उ अस्य रुजति 'जानू अस्य' इत्यादौ सवर्णदीर्घरूपसन्धि (१) र्भवत्येव। एहि कृष्णेति 'दूराद्धूते च' इतिप्लुतः। अत्रप्लुतस्याऽऽश्रयात् सिद्धत्वं बोध्यम्। नित्यमितिकथमिति। वाग्रहणनिवृत्त्यैव लल्लाभ इति प्रश्नः। मा भूदिति। नित्यग्रहणसामर्थ्येन पुनर्विधानाद् बाधकविषयेऽप्य (२) यमेवेति भावः।

'प्लुतप्रगृह्या'। यहाँ प्रकृत्या पाठ में कार्य चल सकता है इस बात को स्पष्ट करते है अथ–प्रकृतीति। अब यहाँ शंका करते है कि इस सूत्र में विद्यमान पदार्थ ज्ञान के लिये प्रगृह्य संज्ञा का कथन इस सूत्र से पूर्व आवश्यक था शंका समाधान करते हुये कहते है कि इन्द्रे च में प्राचीन पठित नित्य ग्रहण की प्रामादिक द्योतन—करने के लिए उसके अव्यवहित इस सूत्र का उल्लेख किया है वहाँ नित्य ग्रहण के रहने पर उसके अव्यवहित उत्तर इस सूत्र के करने पर नित्य ग्रहण की व्यर्थता स्पष्टता व्यर्थ ही है इस आशय से कहते है प्लुताः प्रगृह्यश्च वक्ष्यन्त इति। अच् की अनुवृत्ति आ जाती फिर अच् ग्रहण से प्रत्यासन्ति से जिस अच् के परे दोनों को प्रकृति भाव हुआ है। उस अच् को निमित्त मानकर कार्य का ही अभाव होता है। इस लाभ के लिये ही अच ग्रहण है। उक्तार्थ से 'जानु उ अस्य रुजति जानू अस्य' में सवर्ण दीर्घ हो ही जायेगा क्योंकि यहाँ प्रकृतिभाव अस्य के अकार को लेकर हुआ है। एहि कृष्णेति। दूराद् द्यूते च से प्लुत होता है यहाँ प्लुत को आश्रय से सिद्ध समझना। नित्यमिति कथमिति वह ग्रहण की निवृत्ति से ही नित्य का लाभ है। मा भूदिति। नित्य ग्रहण की सामर्थ्य से ही फिर विधान करने से बाधक विषय में यही होता है।

इकोऽसवर्णे (६।१।१२७) 'एङः' (६।१।१०९) इत्यतः पदान्तादित्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यत इत्याह–पदान्ता इति । वेति । ह्रस्वयणोर्विधानसामर्थ्यात्तु न विकल्पसिद्धिः । अपदान्तादौ यणश्चरितार्थत्वात् । सामर्थ्यादेवेति । चेन प्रकृतिभावाकर्षणेऽपि 'ऋत्यकः' (६।१।१२८) इत्यत्र चानुकृष्टत्वेन तद्सम्बन्ध इति तदर्थं ह्रस्वविधानसामर्थ्यस्याऽऽवश्यकत्वेन चकारो व्यर्थं इति भावः । भाष्ये स्थितमिति । प्रकृतसूत्रे इति शेषः । एतेन 'ह्रस्वाभावे प्रकृतिभावार्थं चकारः' इति न्यासाद्युक्तमपास्तम् । 'चक्री अत्र' इति तु संहिताया अविवक्षायों बोद्धयम् । 'न समासे' (का० वा०) 'सिति च' (का० वा०) इति वार्त्तिकम् । पार्श्वमिति । 'पर्श्वाणस् वक्तव्यः' (का० वा०) इति णस् । 'सिति च' इति पदत्वम् ।

इकोऽसवर्णे ।। एङ: सूत्र से पदान्त अनुवृत्ति करके प्रथमा से उसका विपरिणाम करने पर अर्थ करते है—पदान्ताइति । वेति । ह्रस्व तथा यण् के विधान से तो विकल्प की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि अपदान्त के आदि में यण् चरितार्थ है सामर्थ्यादेवेति । चकार से प्रकृतिभाव के आकर्षण करने पर भी 'ऋत्यकः' में अनुकृष्ट होने से उसका असम्बन्ध ही उसके लिए ह्रस्व विधान के सामर्थ्य की कल्पना आवश्यक है। इससे चकार व्यर्थ है भाष्ये स्थितमिति । प्रकृति सूत्र के भाष्य में स्थिति ही उक्त व्यवस्था होने पर न्यास कार का यह कथन कि ह्रस्व के अभाव में प्रकृतिभाव के लिए चकार है—व्यर्थ है 'चक्री अत्र' प्रयोग सन्धि की अविवक्षा में जानना । न समासे 'सिति च' वार्तिक है । पार्श्वमिति । पर्श्वाणस् वक्तव्यः से णस् प्रत्यय तथा 'सिति च' से पदत्व होता है ।

ऋत्यकः (६।१।१२८) सवर्णार्थमनिगर्थञ्चेदम् । होतृऋकारः । ब्रह्मऋषिः । आर्छदिति । आटो धात्ववयवत्वेनापदान्तत्वादिति भावः * । एतेन 'आटश्च' (६।१।९०) इति पुनर्वृद्धिविधानार्थेन चेन 'उस्योमाङक्षु' (का० वा०) पररूपबाधवत्प्रकृतिभावस्यापि बाधेनेष्टसिद्धिरित्यापास्तम् । समासेऽपीति । (१) व्याख्यादिति भावः । सप्तऋषीणामिति । 'दिक्संख्ये' (२।१।५०) इति समासः । प्रकरणशुद्धये प्रकृतिभावविधायक सूत्रद्वयमुपन्यस्य 'प्लुतप्रगृह्या' इतिसूत्राकाङ्क्षितप्लुतप्रगृह्ययोर्मध्ये प्रथमोपात्तत्वात् प्लुतप्रकरणमारभते—वाक्यस्य टेः (८।२।८२) । वाक्यस्येत्यभावे पदस्य टेरित्यर्थेऽनन्त्यस्यापि पदस्य टेः प्लुतः स्यात् । तत्सत्त्वे तु वाक्यस्य टिरन्त्यपदस्यैव सम्भवतीति न दोषः । टिग्रहणाभावे प्लुतश्रुत्योपस्थिता-

चपरिभाषयाऽजन्तस्यैव स्यात् टिग्रहणे तु तत्सामर्थ्याट्टिनाऽचो विशेषणाद्व्यञ्जनान्तस्यापि भवति।

ऋत्यकः। यह सूत्र सवर्ण के लिए तथा इक् भिन्न के लिए है होतृऋकारः में सवर्ण ऋकार ही ब्रह्मऋषि में अकार इक् से भिन्न है। आर्च्छदिति। आट् धातु का अवयव होने से अपदान्त है। आट्श्च का चकार दुबारा वृद्धि विधान के लिए है उससे उस् ओम् और आङ् में पर रूप के पाठ की तरह प्रकृतिभाव का भी बाध होने से इष्ट सिद्ध हो जायेगी—यह कथन भी व्यर्थ है क्योंकि उक्त प्रयोग में आकार में पदान्तत्व ही नहीं है। समासेऽपीति। व्याख्यान से सिद्ध होता है। सित् का आश्चर्य ही मूल है सप्तऋषीणमिति। दिक् संख्ये से समास होता है।

प्रकरण शुद्ध के लिए प्रकृतिभाव के करने वाले दो सूत्रों का उपन्यास करके प्लुपप्रगृह्य इस सूत्र की आकांक्षा के विषय प्लुत प्रमृह्य के मध्य में प्रथम उपस्थित प्लुत प्रकरण का आरम्भ करते है। वाक्यस्य हेः वाक्यस्य के अभाव में पद की टि की हो इस अर्थ में अन्त से भिन्न भी पद की टि को प्लुत हो जायेगा। वाक्य के रहने पर तो वाक्य की टि अन्त्य पद में ही संभव है अतः दोष नहीं है। टि के ग्रहण न करने पर प्लुत के श्रवण से उपस्थित अचश्च परिभाषा सूत्र से अजन्ति को ही होगा। टि का ग्रहण करने पर तो सामर्थ्य से टि से अच् का विशेषण होने से विशेषण को भी सिद्ध होता है।

प्रत्यभिवादे (८।२।८३)। प्रणामादिभिराशिषं वाच्यमानो गुर्वादिर्यत्प्रतिसम्भाषते तत्प्रत्यभिवाद, न त्वाशीर्वचनम्। शूद्रे आशीर्वादरूपप्रत्यभिवादेनाऽशूद्रे इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः। अत एव भाष्ये 'अशूद्रे इति किम्? कुशल्यसि तुषजक' इत्युक्तम्। अभिवादये इति नमस्कारादिपूर्वमाशीरादि वाचयामीत्यर्थः। आयुष्मानित्यायुष्मत्त्वस्य। विधेयत्वात्सम्बोधनविभक्त्यभावः। एधीति। भवेत्यस्याप्युपलक्षणम्। प्रत्यभिवादे शर्मादिप्रयोगो न नियतः 'एचोऽपगृह्यस्य' (८।२।१०७) इति सूत्रे प्रत्यभिवादेऽन्त्यस्यैचः प्लुतविधानात्। 'आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इ' इति भाष्ये तदुदाहरणाच्च। शर्मादिप्रयोगे तु तट्टेरेव प्लुतः। 'शर्मान्तं नाम ब्राह्मणस्य इत्यादिस्मृत्या तस्य नामावयवत्वबोधनात्। स्त्रियां नेति। स्त्रिया अपि नाम्नाऽभिवाद(२)प्रत्यभिवादे इत्यर्थस्य भाष्यसम्मतत्वादिति भावः। नाम गोत्रे वेति। अभिवादप्रत्यभिवादे नामगोत्राभ्यामेव स्मृतिषु प्रसिद्धे। तत्राधिकृतस्य पदस्येत्यस्य प्रत्यभिवादे इत्यनेन विशेषणात्प्रत्यासत्त्या प्रत्यभ्युद्यमानार्थवाचकस्यैव प्लुत इति भावः। तत्र नामशब्देन द्वादशेऽह्नि

पित्रादिकृतं गृह्यते । अत एव 'आयुष्मान् भव दण्डिन्' इत्यादौ प्लुतो नेति स्पष्टं भाष्ये । 'भोराजन्य' (का० वा०) इति । भोःशब्दस्य राजन्यवैश्य (१) वाचकनाम्नश्च टेः प्लुत इत्यर्थः । भोःशब्दस्याप्राप्ते इतरयोस्तु नाम-त्वात्प्राप्ते (२) विभाषेयम् ।

प्रत्यभिवादे ।। प्रणामापि के पश्चात् आशीर्वाद के रूप में जो गुरू आदि कहते है उसको प्रत्यभिवाद कहते है । केवल आशीर्वाद ही नहीं हो क्योंकि शूद्र में आशीर्वाद रूप प्रत्यभिवाद के न होने से अशूद्रे का ग्रहण ही व्यर्थ होगा । शूद्र में आशीर्वाद के अभाव से ही भाष्य में अशूद्रे के अभाव में कुशल्यसि तुषजक कहा । अर्थात् तुम कुशल से हो कहा आशीर्वाद नहीं दिया अभिवादये इति नमस्कारादिपूर्वक आशीष कहते है आयुष्मानिति आयुष्यमत्व में विधेयता होने से सम्बोधन विभक्ति नहीं होती है। उसका विधान उद्देश्य में होता है । 'एधि' यह 'भव' का भी उपलक्षण है । प्रत्यभिवाद शर्मादि का प्रयोग निश्चित नहीं है । क्योंकि एचोऽप्रगत्यस्य सूत्र से प्रत्यभिवाद में अन्त ऐच् को प्लुत किया है । शर्मादि में रोच् की सम्भावना नहीं है येचः सूत्र का उदाहरण भाष्य में आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इइति दिया है शर्मादि के प्रयोग में तो उसी की टि को प्लुत होगा । क्योंकि शमन्ति नाम ब्राह्मण का करना चाहिये । इस मनुस्मृति के आधार से वह भी नाम का अवयव है ।

स्त्रियानेति । स्त्री का भी अभिवादन प्रत्यभिवादन नाम से होना उचित है यह अर्थ भाष्य सम्मत है नाम गोत्रम्वेति अभिवादन तथा प्रत्यभिवादन नाम और गोत्र से स्मृति में प्रसिद्ध है वहाँ अधिकृत पदस्य का प्रत्यभिवाद में विशेषण होने से प्रत्या-सन्ति से प्रत्यभ्युद्यमान वाचक को ही प्लुत होता है । यहाँ नाम शब्द से बारहवें दिन में पिता आदि से किये नाम का ही ग्रहण है जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्याम् वापिकारयेत् । पितृकृत नाम के ग्रहण करने से ही आयुष्मान् भव दण्डिन् इत्यादि में दण्डिन में प्लुत नहीं होता है भोराजन्य इति । भो शब्द और राजन्य (क्षत्रीय) वैश्य वाचक नाम की टि को प्लुत होता है भो शब्द की अप्राप्त अन्य दोनों के नाम होने से प्राप्त होने के कारण यह निभाषा है अर्थात उभयत्व विभाषा है ।

दूराद्धूते (८।२।८४) । यावति देशे प्राकृतप्रयत्नोच्चारितं सम्बो-द्ध्यमानो न श्रृणोति किं त्वधिकं प्रयत्नमपेक्षते तावद्दूरम् । दूरादाह्वा-नञ्च दूराद्बोधनस्योपलक्षणं न तु सम्बोधनविभक्तिनियामकस्याभिमुखी-कृत्य बोधनरूपस्य (३) सम्बोधनस्योपलक्षणम्, आगच्छतु भवान्देवदत्त' इत्येवमाह्वानस्यापि सम्भवात् । (४) अत एवाऽऽकडारसूत्रे नदीगुरुसञ्ज्ञयोः समावेशे 'वात्सीबन्धुः' इत्यत्र 'गुरोः' (८।२।८६) इति प्लुतो 'नदी बन्धुनि'

(६।२।१०९) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वञ्च फलमुक्तं भाष्ये । अन्यथाऽत्र सम्बोधनाभावेन 'गुरो:' (८।२।८६) इत्यस्याप्राप्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।

उपलक्षणत्वादसत्यप्याह्वाने भवति; तदाह—सक्तूनित्यादि । अत्रापि दूराद्धूते' (८।२।८४) इत्येतदनुवृत्तस्य 'पदस्य' इत्यस्य विशेषणं, तेन हूयमानार्थवाचितः पदस्यैव टेः प्लुतः । तच्च रूढं यौगिकं वेत्यन्यदेतत् ।

दूराद्धूते । जितने देश में स्वाभाविक प्रयत्न से उच्चारित किये को सम्बोद्य मानकर (जिसको नाम लेकर बुलाया जाता है) नहीं सुनता है । किन्तु अधिक प्रयत्न की अपेक्षा होती है । वहाँ तक दूर है । दूर से आह्वान दूर से बोधन का उपलक्षण है । सम्बोधन विभक्ति का नियामक अपनी ओर आकृष्ट करके बोधन रूप सम्बोधन का उपलक्षण नहीं है । सम्बोधन पदार्थ इस प्रकार का है ''सिद्धस्वाभिमुखीभूत मात्रम् सम्बोधनं विदुः ।''

सम्बोधन के उपलक्षण मानने पर तो आगच्छतु भवान्देवदत्त इस प्रकार का भी आह्वान सम्भव है । उक्त उपलक्षण मानने से भी आकनुर सूत्र में नदी गुरु संज्ञा तथा गुरु संज्ञा समावेश से वात्सीबन्धुः में गुरोः से प्लुत और 'नदी बन्धुनि' से पूर्व पद को अन्तोदात्तत्व होना भी इसका फल भाष्य में कहा है यदि सम्बोधन का ग्रहण होता तो यहाँ सम्बोधन के अभाव से गुरोः की अप्राप्ति होने से असंगत ही था । उपलक्षण मानने से आह्वान के अभाव में भी होता है । जैसे सक्तूतित्यादि में इस सूत्र में भी दूराद्धूते अनुवृत्त पद का विशेषण है । इससे हूयमान अर्थ को कहने वाले पद की ही टि को प्लुत होता है वह पद रूढ़ हो या यौगिक हो यह दूसरी बात है ।

हैहेप्र० (८।२।२१) । हैहयोः सम्बोधनद्योतकत्वेन केवलाभ्यामपि ताभ्यां सम्बोधनदर्शनेन च तयोरपि हूयमानार्थपदत्वाद् (५) 'गुरोरनृतः' (८।२।८६) इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—हैहयोरेवेति । 'हैहेयऽन्ते' इत्येव सिद्धे प्रयोगग्रहणादनन्त्ययोरपि, तदाह—हे३ रामेति । केचित्तु एकं हैहेग्रहणमानन्त्यार्थम् । अन्यथा 'वाक्यस्य टे' रित्याधिकारादन्त्ययोरेव तयोः स्यात्, तदाह—हे३ राम इति । (१) प्रयोग इति तु–यत्र सम्बोधनोत्तरं तयोः प्रयोगस्तत्र तेनैवाभिमुख्यस्य द्योतितत्वेन द्योत्याभावादनर्थकयोरपि तयोः प्लुतार्थं, तदाह–राम है ३ इति । अन्यथाऽप्रयुक्तयोः प्लुतासम्भवात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । 'हैहयो' रिति तु—तयोर्हूयमानार्थपदत्वाभावादप्राप्ते विध्यर्थम् । नियमे तु न मानं, तेनात्र प्लुतसमावेशः । एतत्सर्वं भाष्यकैयटयोः स्पष्टमित्याहुः । यत्तु अयं हूयमानार्थपदस्य टेः प्लुतस्य बाधकस्तत्र-

कौण्डिन्यन्यायादिति । तन्न 'शिव हे' इत्यादौ तस्या (२) प्राप्तेस्तन्न्याय-विषयाभावात् ।

है हे दोनों को सम्बोधन के द्योतक होने से केवल उन दोनों से सम्बोधन होने से वे भी हूयमान अर्थ पद है अतः उन दोनों को 'गुरोरनृतः' से कार्य सिद्ध था अतः यह सूत्र नियमार्थ है उसका आभार लिखते हैं। हैहृयोरेवेति हैहेऽन्ते कहने से भी कार्य सिद्ध हो जाती फिर प्रयोग ग्रहण से अन्त्य होने पर भी होता है जैसे कि हेइ रामेति है। किसी का कथन है कि एक है हे ग्रहण अन्त्य के लिये है नहीं तो वाक्यस्य टे के अधिकार से उनके अन्त्य होने पर ही होता उसी से कहते है हे रामेति प्रयोग ग्रहण का फल है कि जहाँ सम्बोधन के पश्चात है हे का प्रयोग हो वहाँ उससे ही अभिमुण्य का द्योत्य होने से द्योत्य के अभाव में अनर्थको में थी प्लुत के लिये है जैसे राम हैइ इति। अन्यथा अप्रयुक्त में प्लुत की सम्भावना के अभाव में प्रयोग ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता है। हे सूत्र उनमें हूयमानार्थ बोधक पदत्व के न होने से पूर्व से प्लुत प्राप्त नहीं है। अतः यह सूत्र विध्यर्थ है। अर्थात प्लुत करने के लिए है। नियम में कोई प्रमाण नहीं है। इससे यहाँ प्लुत का समावेश होता है। यह विषय भाष्य और कैयट में स्पष्ट है। किसी का यह कथन तक्र कौडिन्य न्याय से यह हूयमानार्थ पद की टि के प्लुत का बाधक है सत्य नहीं है। क्योंकि शिव हे इत्यादि में उसकी प्राप्ति न होने से तक्र न्याय का विषय नहीं है। क्योंकि हे हूयमानार्थक नहीं है। अब यहाँ विचार इस का है कि गुरोरमृतः का उद्देश्यता वच्छेदक हूयमानार्थ बोधकम् वाक्य प्रकार घटकम् यत् है हे पदम् तत्सम्बन्धि भिन्नमत्यगुरुत्वं टित्वम् है। हे हे सूत्र का उद्देश्यता-वच्छेदक तोहूयमानार्थ बोधक वाक्य घटकम् यत् है। हे पदम् तत्सम्बन्धित टित्वम् है। इन दोनों को समानाधिकरण्य ही नहीं है फिर व्याप्य व्यापक भाव का होना तो सम्भव ही नहीं है। बिना व्याप्य व्यापक भाव के नियम नहीं होता है। उत्तर आह्वान विषयक वाक्य घटक ऋदिभ्न्नानन्त्य तत्सम्बन्धि टित्वंग्च गुरोरनृतः का उद्दे-श्यतापच्छेदक स्वीकार करने से कोई दोष नहीं है।

गुरो० (८।२।८६)। दूराद्धूते (८।२।८४) इत्यनुवर्त्तते, तेन दूराद् बोधन एव प्रवृत्तिः तदाह—दूराद्धूत इति। दूरत्वञ्चात्राविवक्षितं, तेन प्रत्यभिवादे 'भोराजन्य' (का० वा०) इत्यस्य विषयेऽप्यस्य प्रवृत्तिः तद्वि-षयेऽप्युपलक्षणबोधनसत्त्वात् । सर्वप्लुतप्रकरणस्य तु न शेषः। तथा हि सति 'वाक्यस्य टे' रित्यनेन सहैवास्याप्यधिकारत्वमेव कुर्यात् । एतत्त्रयवि-षयमेवेदमिति प्रकृतसूत्रे 'अनुदात्तं प्रश्नान्त' (८।२।१००) इति सूत्रे च वृत्तौ स्पष्टम् । अपिशब्दो यथाप्राप्तटिसमुच्चयार्थः । यदि तु गुरोः सन्नि-धानादन्त्यो गुरुरेव समुच्चीयेत तदाऽन्त्यलघुमपि अनन्त्यगुरावेतस्य, अन्त्य-

लघौ 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) इत्यादीनां दुर्वारत्वेन प्लुतसमावेशापत्तिः। एकैकग्रहणं त्वेतद्विहितानामेव पर्यायार्थं स्यात्। तेन यत्रान्त्योऽपि गुरुरनन्त्यगुरुद्वयं वा तत्रैव पर्यायः स्यात् (३) व्याख्यानाच्चैतदर्थलाभः। अनन्त्यस्यापीति।। अपिनाऽन्त्यस्य गुरोरगुरोश्चेत्यर्थः। पर्यायार्थमिति। अन्यथा समावेशः स्यादिति भावः। 'अनुदात्तं पदम्' (६।१।१५८) इति तु त्रिपाद्यां न प्रवर्त्तत इति तत्रैव (४) वक्ष्यते। प्राचामिति तु पक्षे सर्वेषां प्लुताभावार्थम्। विकल्पत इति। सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन 'अग्नीदग्नीन्विहर' इत्यादौ 'अग्नीत्प्रेषणे' (८।२।९२) इति न। भाष्ये तु 'विभाषापृष्ट' (८।२।९३) इति सूत्रे विभाषेति योगविभागो दर्शितः। साऽपि व्यवस्थितविभाषेति कैयटः। अत एव 'ओश्रावये परस्येति वक्तव्यम्' इति वचनस्य 'अग्नीदग्नीन्' इत्यादौ प्लुतनिवृत्तये कृतस्य विभाषेति योगविभागेन (१) प्रत्याख्यानं भाष्योक्तं सङ्गच्छते। एवञ्च भाष्यसंमतैषा व्यवस्थितविभाषेत्याहुः।

इस सूत्र में इराद्धूते की अनुवृति होती है इससे इसकी भी प्रवृत्ति दूर से बोधन में ही होती है वही कहते हैं इराद्धूते इति यहाँ दूरत्व की विवक्षा नहीं है इससे प्रत्याभिवाद में 'भोराजन्य' सूत्र के विषय में भी इसकी प्रवृत्ति होती है उसके विषय में भी उपलक्षण का बोधन है सर्वप्लुत प्रकरण का तो यह शेष नहीं है उसके होने से 'वाक्यस्य टेः' साथ इसको भी अधिकार ही कर देते। इन तीनों के विषय में ही इसकी प्रवृत्ति होती है यह प्रकृति सूत्र में अनुदात्तं प्रश्नान्त इति सूत्र और वृत्ति में स्पष्ट है। अपिशब्द क्रम से प्राप्त टि के समुच्चय के लिए है यदि गुरु के समीप होने से अन्त्य का गुरू भी समुच्चय होता है तब अन्त्य लघु वालों में अन्त्य गुरू में इसकी अन्त्य लघु में दूराद्धूते च इत्यादि के दुरवार होने से प्लुत का समावेश होने लगेगा एकैक ग्रहण तो इससे विहितों के ही पर्याय के लिए है इससे जहाँ अन्त्य भी गुरु या अन्त्य गुरद्वय हो वहाँ ही पर्याय होगा। अनन्त्यस्यापि इसके सामर्थ्य रूपी व्याख्यान से इस अर्थ का लाभ होता है। अनन्त्यस्यापि इति। अपि से अन्त्य गुरू या अगुरू ग्रहण करना। पर्यायार्थमिति। यदि पर्याय नहीं मानते तो समावेश हो जाता अनुदात्तं पदं परिभाषा तो त्रिपादी में प्रवृत्ति नहीं होती है यह स्वर प्रकरण में स्पष्ट करेंगे प्रचाम् ग्रहण तो प्लुत भाव के लिए है। विकल्पे इति। वह व्यवस्थित भाषा है इससे 'अग्नीदग्नीन्-बिहर' इत्यादि में अग्नीतिप्रेषणे की प्रवृत्ति नहीं होती है। भाष्य में विभाषा पृष्ट सूत्र में विभाषा का योग विभाग दिखलाया है वह भी व्यवस्थित विभाषा है यह कैयट ने लिखा है इसी से 'ओश्रावये परस्येति वक्तव्यम्' अग्नीदग्नी इत्यादि में प्लुत निवृत्ति के

लिए किये विभाषा योग विभाग से भाष्योक्त प्रत्याख्यान संगत होता है। इससे यह सिद्ध है कि व्यवस्थित विभाषा भाष्य सम्मत है।

अप्लुतवदित्युक्त्या प्लुत इत्यध्याहारस्तदाह–प्लुतोऽप्लुतवदिति। प्लुत एव निषिद्धयेतेति। तत्स्थाने अप्लुतस्य विधानेन स एव निवर्त्तेते–त्यर्थः। प्रसज्यप्रतिषेधेन व्याख्यानं तु न युक्तम्, (२) गौरवात्। किं च तथा सति प्लुतप्रकरणे एव नोपस्थितें इति वदेत्। न च पर्युदासे 'अग्नी ३ इति' इत्यादौ प्रगृह्याश्रयप्रकृतिभावं बाधित्वा परत्वादप्लुतवद्भावे-दीर्घादिकं स्या (३) दिति वाच्यम्। शब्दत इतिशब्दसापेक्षाप्लुतवद्भावापे-क्षया वर्णमात्रापेक्षप्रकृतिभावस्यान्तरङ्गत्वात्। अप्लुतवदित्यस्य प्लुतकार्यं नेत्यर्थस्तु न शब्दमर्यादालभ्यः। प्लुतेऽप्लुतसादृश्यविधानस्यैव शब्दतो लाभात्। भाष्ये प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थमित्युक्तिस्तु फलितार्थाभिप्रायेणैवेति बोद्धयम्। प्रगृह्याश्रये इति। प्लुते कृतेऽपि तस्यासिद्धत्वाद्दीर्घत्वबुद्धिवत् तद्गतं प्रगृह्यत्वमनुकार्ये सुलभम्। अनुकरणे तु 'प्रकृतिवदनुकरणम्' (प० भा०) इत्यतिदेशात्तत्त्वमिति भावः।

अप्लुतवत् कहने से प्लुत का अध्याहार होने से प्लुत अप्लुत की तरह होता है। यह अर्थ सिद्ध होता है प्लुत एवं निषिद्धयेयेति। उसके स्थान में अप्लुत का विधान होता तो उसकी ही निवृत्ति होती। प्रसज्य प्रतिषेध से व्याख्यान से गौरवात के कारण युक्त नहीं है क्योंकि असमर्थ समास तथा क्रिया का अध्याहार आवश्यक है और उसी प्रकार का अर्थ करना था तो प्लुत प्रकरण में ही नोपस्थिते कहते अबशंका करते हैं कि पर्युदास में 'अग्नी इ इति' इत्यादि में प्रगृह्य संज्ञा को मानकर होने वाले प्रकृति भाव को बाधकर पर होने से अप्लुतवद्भाव में दीर्घादि हो जाना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं। शब्द से इति शब्द में सापेक्ष अप्लुतवद्भाव की अपेक्षा से वर्णमात्र की अपेक्षा करने वाला प्रकृतिभाव अन्तरंग है पर से अन्तरंग बलवान होता है आप्लुतवद् प्लुतकार्य न हो यह अर्थ तो शब्दमर्यादा से प्राप्त नहीं है क्योंकि प्लुत में अप्लुत के सदृश विधानकारी शब्द से लाभ होता है। भाष्य में प्लुतकार्य के प्रतिषेध के लिये है यह कथन तो फलितार्थ रूप में है। प्रगृह्याश्रये इति। प्लुत के करने से भी उसके असिद्ध होने दीर्घत्व बुद्धि की तरह उसमें रहने वाली प्रगृह्यसंज्ञा अनुकार्य में सुलभ है अनुकरता में तो 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इस अतिदेश से प्रगृह्यसंज्ञा सुलभ हैं।

किं मया कर्त्तव्यमिति पृष्ट आह–चिनु ही ३ इदमिति। विभाषा पृष्ठप्रतिवचने हेः' (८।२।१३) इति प्लुतः। इदंशब्दोऽत्र वाक्यान्तरस्थ इति हेरिकारस्य वाक्यादित्वम्। उभयत्र विभाषेयमिति। उपस्थिते प्राप्ते-

ऽनुपस्थिते चाप्राप्ते इत्यर्थः। विभाष्यते विकल्प्यते; इति विभाषा। 'गुरोश्च हलः' [३।३।१०३] इत्प्रत्ययये टाप्, न वेति विभाषायामिति भाष्यप्रयोगात्। भाष्ये तु 'किमर्थमिदमुच्यतेऽनुपस्थितार्थं, तत्र ईग्रहणेन नार्थः, अविशेषेण चाक्रवर्मणस्याप्लुतवदित्येव इदमपि सिद्धं वशा 'इयं वशेयम्' इत्युक्तम्। तद्बलेनोपस्थिते पूर्वविप्रतिषेधेन ईग्रहणेऽपि नित्याप्लुतवद्भाव एवेष्टः। प्रत्याख्याने नित्याप्लुतवद्भावस्य येननाप्राप्तिन्यायेन वैकल्पिकतद्बोधिताभावांशबाधकत्वात्। उपस्थित इत्यस्य निवृत्त्या परविप्रतिषेधादुभयत्र विभाषेयमिति [१] कैयटस्थ प्रमादः मूलं तु इतिशब्दभिन्ने वैदिकेतिशब्दे चेत्येवंपरतया कथंचिद्व्याख्येयमित्यन्ये। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरैक्यमापादयत् सर्वनामपर्यायेण तत्तल्लिङ्गभागियमिति निर्देशः।

मुझको क्या करना चाहिए इसके उत्तर में कहता है चिनु ही ३ इदमिति। 'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः' से प्लुत हुआ इदं शब्द यहाँ वाक्य में स्थित है इसलिए हि का इकार वाक्य में टि है उभयत्र विभाषेयमिति। उपस्थित में प्राप्त है और अनुपस्थित में अप्राप्त है विभाष्यते विग्रह में 'गुरोश्च हलः'' से अप्रत्यय कर प्राप्त करने पर उक्त प्रयोग की सिद्ध होती है, इसका अर्थ विकल्प होता है क्योंकि भाष्यकार ने न वेति (न, वा) विभाषायाम् प्रयोग किया है। भाष्य में लिखा है कि इस सूत्र को किस लिये कहते हैं अनुपस्थित के लिये तब ई ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। अविशेष (सामान्य) रूप से चाक्रवर्मणि को अप्लुतवत् करने पर वशा इयं वशेयम् भी सिद्ध हो जायेगा। उसके बल से उपस्थित में पूर्व विप्रतिषेध से ई ग्रहण करने पर भी नित्य अप्लुतवद् भाव ही इष्ट है प्रत्याखमान पक्ष में नित्याप्लुतवद् येननाप्राप्ति न्याय से विकल्प से उसमें बोधित अमावांश का बाधक है उपस्थित की निवृत्ति से पर विप्रतिषेध से यह विभाषा उभय है यह कैयट का प्रमाद है मूल की व्याख्या इस प्रकार से करना इति शब्द से भिन्न और वैदिक इति शब्द में इस रूप में किसी प्रकार व्याख्या करना। उद्देश्य तथा विधेय की एकता का प्रतिपादन करने वाला सर्वनाम पर्याय से दोनों के लिंग का भागी होता है अतः प्रकृति में विभाषा के स्त्रीलिंग को लेकर यह स्त्रीलिंग है सूत्र की नपुसंक लिंग नहीं है शैत्यं हियसा प्रकृति जलस्य यह कालिदास का भी प्रयोग है। 'णे रणौयत्कर्म णौ चेत्सकर्ता 'स' यह पुल्लिग का निर्देश भी उक्त न्यायमूलक ही है भाष्यकार ने भी किमयत् तद् स शब्दः लिखा है।

विशेषणेन तदन्तविधिमाश्रित्याह— इदूदेदन्तमिति। द्विवचनमिति। सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिनिषेधा [२] दिति भावः। एदन्तमिति व्याख्याने फलमाह—पचेते इति।

विशेषण में तदन्त विधिमानकर कहते है इ दू दे द्विवचनमिति। संज्ञाविधो प्रत्ययग्रहणे परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध हो जाता है। अतः द्विवचनान्त अर्थ नहीं होता है एदन्त मिति व्याख्यान में फल है पचेतेइति।

निपात ए (१।१।१४) निपात इति किम्! (३) चकारात्र। प्रत्ययस्य शास्त्रकल्पितार्थवत्वात, एकाजिति कर्मधारयो वर्त्तिपदार्थप्रधानत्वेना (१) न्तरङ्गत्वाद्, 'व्याहरति मृगः' इत्यादिनिर्देशाच्च। तेन प्रेदमित्यादौ न दोषः; तदाह—एकोऽजिति। आङ्वर्ज इति। पर्युदासस्यौचित्यात्। अत एवैकाज्नाङिति नासूत्रि। वासुदेववाचकस्य अशब्दस्य आङा सहाव्ययीभावे आ आत् अमित्यादो (२) सत्यभिधाने स्वत आङ्भिन्नत्वेन पूर्वान्तवत्त्वेन निपातत्वेऽपि प्रगृह्यत्वन्न। पून्र्वातवत्त्वेनाऽऽङ्त्वातिदेशेऽतिदिश्यमानधर्म (३) विरुद्धस्वाश्रयधर्मप्रयुक्तकार्यनिवृत्तेरतिदेशस्वभावसिद्धत्वात्। ओदिति सूत्रे आ उ ओ, इत्यत्र अनाङिति 'प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भ' इति तु भाष्यं तु पर्युदासेऽपि गम्यस्य प्रतिषेधस्य सत्त्वान्ननुपपन्नम्। अनाङिति पर्युदासादेव निपातैकाज्रूपत्वे लब्धे निपातैकाज्ग्रहणं स्वष्टार्थम्। स्वाङ्गसमुदाये (४) स्वाङ्गत्वाभाववदच्समुदायेऽच्त्वाभावाद् अच् इत्येवाच्समुदायग्रहणाभावे सिद्धे एकग्रहणमन्यत्र (५) वर्णग्रहणे (६) जातिग्रहणार्थम्। तेन (७) घिप्सतीत्यादिसिद्धिरिति भाष्ये स्पष्टम्। जातिग्रहणार्थमित्यस्योपात्तजात्याश्रयैकानेकव्यक्तिग्रहणार्थमित्यर्थः। तेन तितउशब्दैकदेशस्य अउ इत्यस्यानुकरणे अउ अकरोदित्यत्र 'अनुकरणं चानिति' (६।४।६२) इति निपातत्वेऽपि प्रगृह्यत्वाभाव एकग्रहणफलं बोद्धयम्। ननु ङकारस्य काप्यश्रवणेन ङिदङिद्विवेको दुर्ज्ञेय इत्यत आह—वाक्यस्मरणयोरिति। वाक्यशब्देन स्वार्थगतमनभिमतत्वम्। स्मरणं–विस्मृतस्य स्मृतिविषयता। एवं किल तदिति—स्मृतार्थनिर्देशः।

निपातग्रहण के अभाव में 'चकारात्र' में 'णल्' की प्रगृह्य संज्ञा हो जाती। क्योंकि प्रत्यय का अर्थ भी शास्त्र से कल्पित है। एकाच् में कर्मधारय समास है क्योंकि वृत्ति घटका पदार्थ के प्रधान होने से वह समास अन्तरङ्ग बहुब्रीहि में अन्य पदार्थ प्रधान मानना होगा। इसमें निषादस्य पति प्रमाण है। वहाँ कर्मधारण ही माना है। षष्ठी नहीं माना है। उक्त समास में यज्ञादि के अभाव आने पर उस अंश का अधिकार भी उसको स्वीकार किया है। 'व्याहरतिमृगः' यह निर्देश भी कर्मधारय में प्रमाण है। बहुब्रीहि मानने से यहाँ भी 'वि' की इकार की प्रगृह्य संज्ञा होने से यण् नहीं होता।

उक्त समास को स्वीकार करते से 'प्रेदम' में दोष नहीं है। एकोऽजिति। आङ्वर्गइति। पर्युदास मानना ही उचित है। इससे ही 'एकाजमाङ्ति' सूत्र का निर्माण नहीं किया। "अकारो वासुदेवःस्यात्" के सिद्धान्त से वासुदेव वाचक अशब्द का आङ् के साथ अव्ययीभाव समास में आ, आत्, अम् इत्यादि के अभिधान (व्यावहारिक) होने पर स्वयं आङ् से भिन्न होने से तथा पूर्वान्तिवत् भाव से निपात लाने पर भी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। क्योंकि पूर्वान्तवत् भाव से आङ्त्वादि देश आङ्त्व के अतिदेश में अतिदिश्यमान से विरूद्ध स्वाश्रय धर्म को मानकर कार्य नहीं होता है यह अतिदेश का स्वभाव सिद्ध अधिकार है ओत् सूत्र में अ, उ, ओ में अनाङित प्रतिसिद्धार्थोयमारम्भ प्रतिषेध के लिए यह आरम्भ है यह भाष्य तो पर्युदास में भी प्रतिषेध के गम्य(व्यंग्य) होने से अनुपपन्न नहीं हैं अनाङ् इस पर्युदास से ही निपात् एकाच्त्व लाभ होने पर निपात् तथा एकाच् ग्रहण स्पष्टार्थ है जिस प्रकार स्वाङ्ग समुदाय में स्वाङ्गत्व व्यवहार नहीं होता है उसी प्रकार अच् समुदाय में अचत्व का अभाव है अच् के कथन से ही अच् समुदाय के ग्रहण का अभाव सिद्ध था फिर एक ग्रहण व्यर्थ होकर अन्य स्थल में वर्ण के ग्रहण में जाति के ग्रहण के लिए है उससे धिसिति इत्यादि की सिद्ध होती है। जाति ग्रहणार्थम् का तात्पर्य यह है। उपात्व जाति के आश्रयीभूत एक तथा अनेक व्यक्तियों के बोध के लिए है इससे ति त उ शब्द के एक देश अ उ के अनुकरण में अ उ अकरोति में 'अनुकरणं चानिति' से निपात संज्ञा होने पर प्रगृह्यसंज्ञा का न होना भी एकक् ग्रहण का फल है अब यहाँ शंका करते है कि ङ्कार का कहीं श्रवण नहीं होता है तब ङित् अङित का ज्ञान होना कठिन है उसके उत्तर में कहते है कि वाक्यस्मरणयोरिति। वाक्य शब्द से स्वार्थगत अनभिमत लेना। स्मरण का अर्थ है भूले हुए का स्मृति में आ जाना।

निपात इत्यनुवृत्तमोदित्यनेन विशेष्यत इत्याह—ओदन्त इति। निपातसञ्ज्ञा चादिपदोपस्थित (१) चादीनां सति सम्भवेऽर्थवतामेवेति सार्थकनिपातानां निपातपदेन तत्तदर्थविशिष्टानामेवोपस्थितिरिति। गौणमुख्यन्यायेन प्रकृतसूत्रस्थनिपातपदेन गौणार्थानां न ग्रहणमिति गोऽभवदित्यादौ च्व्यन्ते नास्य प्रवृत्तिः। एवञ्च कार्यकालपक्षेऽपि च्व्यन्ता निपाता इत्यस्यानुपस्थितिरेतत्परिभाषावशात्। अव्ययसञ्ज्ञादौ तु नैतत्परिभाषावृत्तिरनित्यत्वात्। अत एवानर्थकेऽपि निपाते सा सञ्ज्ञा सिद्धयति।

अनुवृत्त निपात ओत् का विशेषण है इससे कहते है ओदन्तइमि। निपातसंज्ञा चादि पद से उपस्थित चादियों की संभव होने पर अर्थ वालों की ही होती है। इसलिए निपात पद से तत्तदर्थ विशिष्टों की उपस्थित होती है गौणमुख्यन्याय से यह निपात से गौण अर्थ वालों को ग्रहण नहीं होता है। इसलिए गौणभव इत्यादि च्वि

प्रत्यय के स्थल में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इस तरह से कार्यकाल पक्ष में भी च्वयन्त निपात की इस परिभाषा के बल से अनुपस्थित ही रहती है। अनित्य होने से अव्यय संज्ञा आदि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए अनर्थक निपात की भी अव्यय संज्ञा होती है।

त्रपो इतीत्यादौ प्रगृह्यत्वायाह—सम्बुद्धिनिमित्तक इति। सम्बुद्धिपर इति व्याख्याने तु सोर्लुका लुप्तत्वेन तत्परत्वाभावान्न स्यात्। 'न लुमता' इति निषेधानित्यत्वं त्वगतिकगतिः। इताविति किम्? पट्वोऽत्र। अनार्षे किम्? ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। संहितायां विवक्षायामप्यवादिरहितप्रयोगार्थमिदम्। तद्विवक्षा च वर्णोच्चारणे नियतेनार्धमात्राकालव्यवायेनो(२)च्चारणेच्छा। तदधिकार्द्धमात्राकालव्यवायेनोच्चारणेच्छा च तदविवक्षेति बोद्धयम्।

त्रपोइति में प्रगृह्य क्रिया करने के लिए सम्बुद्धिनिमित्तक कहा है। सम्बुद्धि के परे संज्ञा हो इस व्याख्यान में सुलुक होने से उसका पर में मिलना कठिन है। न लुमताङ्गस्य को अनित्य मानना तो अगतिकगति है। इतौ के अभाव में पट्वोऽत्र में भी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती। अनार्षे के अभाव में ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् से दोष होता। संहिता की विवक्षा में भी अवादि से रहित प्रयोग के लिए यह सूत्र है संहिता की विवक्षा तो वर्ण के उच्चारण में नियत आधी मात्रा के काल के व्यवधान से उच्चारण करने की इच्छा है उससे अधिक काल से व्यवधान की इच्छा को संहिता की अविवक्षा जानना चाहिए।

टीकाकार का मत है कि अर्ध मात्रा से अधिक काल के अव्यवधान से उच्चारण की इच्छा संहिता है। मूलोक्त मानने से अर्धमात्रा से न्यून उच्चारता में संहिता नहीं होगी। वास्तव में न्यूनकाल में उच्चारण सम्भव नहीं है क्योंकि एक वर्ण से द्वितीय वर्ण के उच्चारण में आधी मात्रा में स्वाभाविक ही है।

उञः (१।१।१७) अत्रोङ् (३) निपात एव। उञ ऊँ इत्येकसूत्रत्वे तु शाकल्यग्रहणाननुवृत्तौ ऊँ इतीत्येकमेव स्यात्। प्रगृह्यसञ्ज्ञाप्रकरणेन प्रगृह्यत्वस्यादेशस्य च सह विधानात्। उ इति वितीति च न स्यात्। आदेशे प्रगृह्यत्वकार्यन्तु स्थानिवद्भावेन बोद्धयम्। प्रगृह्यत्वस्य साक्षादुद्देश्यसम्बन्धस्य क्लृप्ततया विधेयाविशेषणत्वे मानाभावात्। शाकल्यग्रहणानुवृत्तावपि प्रगृह्यत्वस्य ऊँआदेशस्य विकल्पे ऊँ इति वितीति सिद्धयति; न तु उ इतीति। प्रगृहयत्वविकल्पेन पक्षे तद्भावेऽपि अस्य (१) तात्पर्यात्। एतदभावे निपात एकाजित्यस्याप्रवृत्तेः। तदुक्तं भाष्ये योगविभागं प्रदर्श्य

किमर्थो योगविभागः शाकल्यमते ऊँ विभाषा यथा स्यात् । ऊँ इति उ इति । अन्येषामाचार्याणां मतेन वितीति । अनेन हि योगविभागस्य 'उ इति' इति रूपसिद्धिः फलमिति स्पष्टमेव (२)लभ्यते । अतो योगविभागेन व्याचष्टे उञ इति । (३) उञो वाचकं प्रगृह्यपदमित्यर्थः ।

यहाँ लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा के बल से निपात उञ का ग्रहण है। यहाँ 'ऊँ उञ' यह सूत्र करने पर तो शाकल्यग्रहण की अनुवृत्ति न होने पर ऊँ यह एक ही रूप होगा क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा के प्रकरण से आदेश तथा प्रगृह्य संज्ञा का साथ ही विधान होगा। उ इति, विति यह दोनों नहीं होंगे आदेश में स्थानिवत् भाव से प्रगृह्य संज्ञा का कार्य होगा प्रगृह्यत्व उद्देश्य का ही साक्षात् विशेषण निश्चित है फिर विधेय का विशेषण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रगृह्यत्व उञ् उद्देश्य का ही विशेषण है। विधेय ऊँ का नहीं है। अतः स्थानिवत् भाव करना होगा शाकल्य ग्रहण की अनुवृत्ति करने पर भी प्रगृह्यसंज्ञा तथा उञ् आदेश के विकल्प से ऊँइति और विति सिद्ध होते हैं। उ इति सिद्ध नहीं होता है क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा के विकल्प होने से पक्ष में उसके अभाव में इसका तात्पर्य है। क्योंकि प्राप्त विभाषा होने से पक्ष में अभाव का विधान भी आवश्यक है। इसके अभाव में निपात् एकाच् की प्रवृत्ति नहीं होती है। भाष्य में कहा है योग विभाग का प्रदर्शन कर योगविभाग किसलिए है। इसका उत्तर देते हैं कि शाकल्य के मत में ऊँ विकल्प से हो। ऊँ इति उ इति। अन्य आचार्यों के मत में विति हो। उक्त कथन से उ इति की सिद्ध ही योग विभाग का फल स्पष्ट प्रतीति होता है। इससे योग विभाग से व्याख्या करते हैं उञ इति उञ के वाचक की प्रगृह्य संज्ञा होती है।

शाकल्यस्येतौ प्रगृह्यमित्यनुवर्त्तते, तदाह-उञ इतौ वेत्यादि । विकल्पाननुवृत्तौ हि निपात एकेत्येव सिद्धे इदं व्यर्थमेव स्यात । एवञ्च प्राप्तविभाषेयम् । ऊँ इत्यत्र शाकल्यप्रगृह्यपदयोरसम्बन्धे उञ इत्यर्थाधिकाराद्प्रगृहयस्यैवादेशे तस्य 'इको यण्' (६।१।७७) इति यणि ऊँ इतीत्यस्यासिद्धिः, दीर्घोच्चारणवैयर्ज्यापत्तिश्च । विकल्पमात्रसम्बन्धेऽपि ऊँ इतीत्यस्यासिद्धिरिति विधानसामर्थ्यात्प्रगृह्यपदसम्बन्धः । प्रगृह्यपदमात्रसम्बन्धेऽर्थाधिकारादप्रगृहयस्य नित्ये ऊँआदेशेऊँतीति, प्रगृह्यस्य उ इतीति सिद्धेऽपि वितीति न सिद्धयेत्; तदाह—उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिक इत्यादि । अत्र (४)विशिष्टस्य विधिरिति न वाक्यभेदः । न च प्रगृह्यत्वमादेशश्च शाकल्यमते इति तयोरेकप्रयोगे एव प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यम्, योगविभागसामर्थ्येन शाकल्यमते एव भावाभावकल्पनात् । वस्तुत उञनुवादेन सञ्ज्ञा-

ऽऽदेशयोः सहविधानमेव न्याय्यम् । आदेशे स्थानिवद्भावात्प्रगृह्यकार्यम् । भाष्ये 'प्रगृह्यसञ्ज्ञश्च' इत्यपि स्थानिवद्भावलब्धार्थस्वरूपकथनमिति न्यायविदो (५) विचारयन्तु ।

शाकल्यस्येतौ प्रगृहयत्व की अनुवृत्ति होने से कहते है उञइतौवेति । विकल्प की अनुवृत्ति न होने पर तो निपात् एकाच् से सिद्ध होने पर यह व्यर्थ ही होता । इससे प्राप्त विभाषा सिद्धि है । ऊँ सूत्र में शाकल्य तथा प्रगृह्य पद के असम्बन्ध होने पर उञ् के अर्थाधिकार से अप्रगृह्य के आदेश होने पर उसको इकोयणचि यण् करने पर ऊँ इति भी सिद्ध नहीं होगी । और दीर्घ का उच्चारण भी व्यर्थ हो जायेगा केवल विकल्प के सम्बन्ध में भी ऊँ इति की सिद्ध सम्भव नहीं है इससे विधान सामर्थ्य से प्रगृह्य पद का सम्बन्ध है । केवल प्रगृह्य पद के सम्बन्ध में अर्थाधिकार से अप्रगृह्य को नित्य ऊँ आदेश करने पर उञ् इतीति और प्रगृह्य उ इति प्रयोगद्वय सिद्ध होने पर भी विति की सिद्ध नहीं होगी इससे कहते है उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिक इत्यादि । यहाँ प्रगृह्यत्व विशिष्ट के विधान से वाक्य भेद नहीं होता प्रगृह्यत्व और आदेश शाकल्य के मत में होने से उन दोनों की एक ही प्रयोग में प्रवृत्ति होगी । यह कथन सत्य नहीं है । क्योंकि योग विभाग के कारण शाकल्य के मत में ही भाव और अभाव की कल्पना है वास्तव में उञ् के अनुवाद से संज्ञा और आदेश का एक साथ विधान ही श्रेयस्कर है आदेश में स्थानिवत् भाव से प्रगृह्य कार्य होता है । भाष्य का प्रगृह्य संज्ञक कथन भी स्थानिवत् भाव से प्राप्त अर्थ का स्वरुप कथन मात्र है । इसका विचार विद्वान करें ।

मय उञो (८।३।३३) । (१) व्याख्यानादत्रमय् प्रत्याहारः । अस्य त्रैपादिकत्वेनासिद्धत्वान्न 'प्लुतप्रगृहया' (६।१।१२५) इत्यनेन बाधः । नानुस्वार इति । किं वितीत्यादौ प्रगृहयसञ्ज्ञाऽभावेऽस्यासिद्धत्वाद् 'इको यण्' (६।१।७७) इति यणि अनुस्वारो भवत्येव ।

अनेक लक्ष्यों के संस्कार के अनुरोध रूपी व्याख्यान से मम प्रत्याहार है इसको त्रैपादिक असिद्ध के कारण प्लुतप्रगृह्य से बाध नहीं होता है । नानुस्वार इति । कि विति इत्यादि में प्रगृह्य संज्ञा के अभाव पक्ष में इसके असिद्ध होने से 'इकोयणचि' से यण् करने पर अनुस्वार हो ही जायेगा ।

ननु 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी' इति न्यायेन गौरीशब्दस्य सप्तम्यर्थवृत्तित्वेऽपीकारस्य तत्त्वाभावोऽत आह—ईदूदन्तमिति । (२) शब्दस्वरूपस्य विशेष्यत्वात्तदन्तविधिरिति भावः । मामकी तनू इति । प्रगृह्येषु इतिशब्दप्रयोगस्य पदकारैर्नियमितत्वात्पदपाठे (३) प्रगृह्यत्वफलमत्र बोद्धयम् । ईदूतौ किम् ? अग्ना भवाति, सप्तम्या डादेशः । तपरत्वम् (४)

सन्देहाय । सप्तमीति किम् ? धीती मती; ह्रस्वान्ताभ्यां तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णे सवर्णदीर्घः । अर्थग्रहणं किमिति । न च तदभावे 'ईदुदेद्' इतिवदीदूदन्ता या सप्तमीत्यर्थापत्तिः । यथा च 'ययी' इत्यादावेव स्यात् एकादेशस्य परादिवद्भावेन सप्तमीत्वात्, न तु 'गौरी' इत्यादाविति तत्सिद्ध्यर्थं तदावश्यकमिति वाच्यम्, ईदूतौ सप्तमी प्रगृह्यम्' 'अदसः' 'एच्च द्विवचनम्' इत्येव सिद्धे गुरुभूतन्यासकरणेन तत्प्रकरणापेक्षया वैजात्यबोधनादूकारांशेऽसम्भवाच्च 'सञ्ज्ञाविधौ' (प० भा०) इति तदन्तग्रहणनिषेधाप्रवृत्त्या ईदूदन्तं सप्तम्यन्तमित्यर्थेनेष्टसिद्धेरिति प्रश्नः । 'ययी' इत्यादेर (५) नभिधानमेवेति परे ।

शंका करते है कि "जो शेष रहता है वह लुप्यमान अर्थ का भी कहने वाला होता है" । इस न्याय से गौरी शब्द की सप्तम्यर्थ में वृत्तिता होने पर भी केवल ईकार में सप्तम्यर्थ वृत्तिता नहीं है इसलिए कहते है ईदू दन्तमिति । शब्दस्वरूप को विशेष्य मानकर तदन्त विधि होती है अर्थात सप्तमी से आक्षिप्त विद्यमान पदर्स बोध्य की मामकी तनू इति । पदकारों ने प्रगृह्ययों इति शब्द प्रयोग के नियति होने से पद पाठ में प्रगृह्य संज्ञा का होना ही फल है उदाहरण मामकी इति—तन् इति । ई दू तौ के ग्रहण के अभाव में अग्नाभवाति में दोष है अग्ना में सप्तमी को डा करके इकार का लोप समझना तपर करना असन्देह के लिये है क्योंकि अण् के न होने से सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकती है सप्तमी के ग्रहण के अभाव में धीती मती में दोष है उभयत्र ह्रस्वान्त शब्दो से तृतीया के एक वचन में पूर्व सवर्ण करने पर सवर्णदीर्घ है ।

अर्थ ग्रहण किमिति । अर्थ ग्रहण के अभाव में ई दू दे द् सूत्र की तरह ईदूदन्ता या सप्तमी यह अर्थ होने लगेगा तब केवल ययी इत्यादि में सूत्र की प्रवृत्ति होगी क्योंकि वहाँ एकादेश को परादिवत् भाव करने से सप्तमी है । गौरी आदि में नहीं लगेगा । अतः उसकी सिद्ध के लिये अर्थग्रहण आवश्यक है । यह कथन उचित नहीं है क्योंकि 'ईदूतौ' सप्तमी 'प्रगृह्य' अदसः एच्यद्विवचनम् इस लघुन्यास से ही कार्य सिद्ध होता । फिर गुरुतरन्यास करने से तथा उस प्रकरण की अपेक्षा से विलक्षण बोधन से औंर उकारांश में उदाहरण के अभाव से यत्र 'संज्ञाविधौ' यह निषेध तदन्त विधि के अभाव का बोधक नहीं है तब ई दून्तं सप्तम्यन्तम् अर्थ के होने पर कार्य सिद्ध हो जायेगी फिर अर्थ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है यह प्रश्न है ययी का अनभिधान भी किसी के मत में है ।

वृत्ताविति । अर्थग्रहणसामर्थ्यात् (६) सप्तम्यर्थमात्रे पर्यवसन्नमित्यर्थेनात्र । तत्संसृष्टाऽऽधेयार्थेऽपि वृत्तेर्न दोषः । 'सञ्ज्ञायाम' इति समासे जहत्स्वार्थायां वृत्तौ पूर्वपदस्याऽऽनर्थक्येऽपि 'सुप्सुपा' इति समासे अजहत्-

स्वार्थायां प्रसक्तदोषस्योक्तरीत्यैव वारणमिति भावः। 'गौरी अधिश्रितः' इत्यत्राधिश्रयणक्रियायामेव गौरी पदबोद्धया (१) धिकरणत्वान्वय इति गौर्यधिकरणके लक्षणायां मानभाव इति न तत्र दोषः। वाप्यामश्व इति। सुप्सुपेति समासः, 'सञ्ज्ञायाम्' (२।१।४४) इति वा। ननु सञ्ज्ञायामिति समासे वाक्येनं सञ्ज्ञाऽनवगमान्नित्यसमासत्वेन विग्रहोऽनुचित इति चेत्? न, तेषु समाससमानार्थकवाक्याभावेन नित्यसमाससदृशत्वेऽपि नित्यसमासत्वाभावात्, विभाषाधिकारबाधे मानाभावात्। नित्यसमासे हि वृत्तिघटकपदानां पृथक् प्रयोगाभाव एव। अत्र तु पृथक्प्रयोगेऽपि तद्बोद्धयविशिष्टार्था (२) ऽप्रतीतिमात्रमित्याहुः।

अर्थग्रहण करने से केवल सप्तम्यर्थ में ही हो इस अर्थ से यहाँ दोष नहीं है क्योंकि यहाँ सप्तमी के अर्थ से मिला आद्येय अर्थ में भी वृत्ति है यहाँ वापीनिष्ठाधिकरणता निरूपिता द्येयतावान अश्वः यह बोध होता है। संज्ञायाम् से समास करने पर जहत्स्वार्था वृत्तिपक्ष में पूर्वपद के अनर्थक होने पर भी 'सुप्सुपा' से समास तथा अजहत्स्वार्था में प्राप्त दोष का वारण उक्त रीति से ही सम्भव है। गौरी अधिश्रत में अधिश्रयण क्रिया में ही गौरीपद से बोध्यअधिकरणत्व का अन्वय होता है गौरी गौर्यधिकरण्यक में लक्षणा में कोई प्रमाण नहीं है अतः कोई दोष नहीं है। वाप्यामश्व इति। सुप्सुपेतिः अथवा संज्ञायाम् से समास है अब यहाँ शंका है कि संज्ञायाम् समास करने पर वाक्य से संज्ञा का ज्ञान न होने से नित्य समास की तरह विग्रह अनुचित है उत्तर इस प्रकार है। उनमें समास के समान अर्थ वाले वाक्य के अभाव से नित्य समास के सदृश होने पर नित्य समाज नहीं है क्योंकि विभाषाधिकार के बाध में प्रमाण नहीं है नित्य समास में वृत्त में रहने वाले पदों का प्रथक प्रयोग नहीं होता है यहाँ पर पृथक प्रयोग करने पर भी उससे बोध्य विशिष्ट अर्थ की केवल अप्रतीति ही होती है।

अणोऽप्र (८।४।५७)। अण इति किम्? कर्त्तॄं, हर्त्तॄं। अत्राण् पूर्वणैत्र (३) व्याख्यानात्। 'आगच्छतमग्नी' इत्यादौ प्लुतस्यासिद्धत्वात्ततः प्रागेब यथोद्देशत्वात् प्रगृह्यत्वे जाते पश्चात्प्लुते तस्याप्यनुनासिकप्रतिबन्धार्थं पुनः सञ्ज्ञेति नानुनासिकः। सञ्ज्ञायाः कार्यार्थत्वात्पुनः प्रवृत्तौ कार्यमेव बीजम्। स्थानिवत्त्वन्तु न, प्लुतस्थान्या (४) ल्वृत्तिधर्मत्वेना (५) ल्विधित्वात्। पूर्वसवर्णे कृते द्विवचनत्वन्तु (६) परादिवद्भावेन। तेन—

(१) ताद्रूप्यानतिदेशेऽप्येतद्धर्मातिदेशाङ्गीकरात्। अत एव 'रामौ' इत्यादौ परादिवद्भावेन सुप्त्वात्पदत्वं साधितम् 'अन्तादिवत्' (६।१।८५) इत्यत्र भाष्ये इति स्पष्टमाकरे।

अण् के अभाव में कर्तृ हर्तृ में दोष है यहाँ अण् प्रत्याहार व्याख्यान से पूर्व से णकार से ही है 'आगच्छतमग्नी' इत्यादि में प्लुत के असिद्ध होने से यथोदेश पक्ष में उससे पूर्व ही प्रगृह्य संज्ञा करने पर फिर प्लुत करने पर उसको भी अनुनासिक रोकने के लिये फिर संज्ञा होती है इससे अनुनासिक नहीं होता है संज्ञा कार्य के लिये अतः दूसरी बार संज्ञा की प्रवृत्ति में कार्य ही बीज है।

स्थानिवत् भाव तो नहीं होता है। प्लुतस्थानी अल्वृत्ति धर्म होने से अनल्विधौ से निषेध हो जाता है। पूर्ण सवर्ण करने पर द्विवचनत्व णरादिवत् भाव से आता है, उससे तद्रूप्य के अतिदेश के अभाव में भी उक्त धर्म का अतिदेश प्रमाणिक है इसी से रामौ में परादिवत् भाव से होने से पदत्व की सिद्ध की है अन्तादिवत् के भाष्य में स्पष्ट है।

अच्सन्धिरिति। 'सिद्धमनच्त्वाद्' इति वार्तिकप्रयोगेण 'अल्पाच्तरम्' (२।२।३४) इति सौत्रप्रयोगेण 'कथमनच्त्वम्' इति भाष्यप्रयोगेण च वृत्तिघटका (२) च्पदे पदान्तकार्यस्य तत्सन्निधानेन श्चुत्वस्य चाभावो बोध्यते इति केचित्।

॥ इति स्वरसन्धिः ॥

अच्सन्धिरिति यहाँ कुत्व नहीं होता है। 'सिद्धमनच्त्वाद्' इस वार्तिक प्रयोग से अल्पाच्तरम् इस सूत्र प्रयोग में कथमनच्त्वम् इस भाष्य प्रयोग से कल्पना करते है कि वृत्ति के मध्य में स्थिति अच् पद में पदान्त कार्य तथा उसके सन्निधान से श्चुत्व का भी अभाव होता है वास्तव में उक्त कल्पना में–अजन्त में जश्त्व नहीं होगा इससे उक्त प्रयोगों से यह कल्पना करनी उचित है कि अच् पद घटक चकार का चुपद से ग्रहण नहीं होता है।

॥ इति स्वरसन्धिः ॥

हल् सन्धि प्रकरणम्

स्तोः श्चु (८।४।४०) स् इति श् इति च लुप्तविभक्तिके भिन्ने पदे। योगे इति। संयोगे इति तदर्थः। तेन 'चितम्' इत्यादौ न दोषः। अत्र 'पदस्य' (८।१।१६) इत्यधिकृतमपि (३) न सम्बद्धयते, 'शात्' (८।४।४४) इति ज्ञापकात्। तेन 'याच्ञा' सिद्धा। शात्परस्य स्तोः श्चुत्व-निषेधकात् 'शात्' इति लिङ्गादेव निमित्तकार्यिणो (४) यथासंख्यं न। एवमुत्तरसूत्रेऽपि 'तोः षि' (८।४।४३) इति ज्ञापकान्न तत्। शकारचवर्णौ स्त इति। यथासंख्यमिति शेषः। हरिश्शेते इति। 'वा शरि' (७।४।३६) इति विसर्गाभावे शः। सच्चिदिति। चुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दत्वे तस्य चुत्वेन जकारे चर्त्वमिति बोद्धयम्। तयोरत्रालेखस्तु वैचित्र्यार्थः।

स्तोश्चु। स और श् लुप्त विभक्ति वाले भिन्न-भिन्न पद है। योग इति। सत्या-भामा की तरह योग का संयोग अर्थ है। संयोग अव्यवहित का ही होता है। इसलिए चितम् में इकार के व्यवधान होने से तकार को श्चुत्व नहीं होता है अर्थात् चकार नहीं होता है। यहाँ अधिकार प्राप्त पदस्य का सामानाधिकरण से अन्वय नहीं होता है इसमें 'शात्' सूत्र ही ज्ञापक है इसी से याच्ञा में श्चुत्व होता है सकार से परे शकार त वर्ग श्चुत्व निषेध होने 'शात' इस ज्ञापक से ही निमित्त और कार्यि की यथासंख्य नहीं है स्थानी और आदेश का तो है ही यदि यथासंख्य का होता तो स् श का और त वर्ग च वर्ग का होता तब विश्नाः में शात् से त वर्ग को निषेध करना व्यर्थ था इसी प्रकार ष्टना सूत्र में तो शि ज्ञापक से निमित्त कार्य का यथासंभव नहीं है। शकारचवर्णोस्त इति। इसका शेष यथासंख्य है। हरिश्शेते इति 'वा शरि' से जब विसर्ग न होने पर तब सकार को शकार होता है। सच्चिदिति श्चुत्व को असिद्ध करके जश्त्व से दकार होने पर उसको श्चुत्व से जकार फिर चर्त्व से चकार होता है है जश्त्व और चर्त्व का यहाँ उल्लेख न करना विचित्रता के लिए है।

विश्न इति। 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (३।३।९०) इति नङि 'च्छ्वोः' (६।४।१९) इति शादेशे ङित्वाद् गुणाभावः। 'प्रश्ने चासन्न-काले' (३।२।११७) इति निर्देशात्सम्प्रसारणाभावः।

यजयाचयत से नङ् प्रत्यय होता है फिर च्छ्वोः से स करने पर ङित होने से

गुण नहीं होता है 'प्रश्ने चासन्नकाले' निर्देश से सम्प्रसारण नहीं होगा है।

न पदान्ता (८।४।४२)। पदाट्टोरित्येव सिद्धेऽन्तग्रहणं (१) स्पष्टार्थम्। टोः किमिति। षकारस्यापि पदान्ते जश्त्वविधानात्प्रश्नः। 'ह्रस्वात्तादौ' (८।३।१०१) इति षत्वस्या (२) ऽसिद्धत्वाज्जश्त्वाभाव इत्युत्तरम्। षण्णवतिरिति। षडधिका नवतिरिति विग्रहः। षण्णगर्य इति (३) पृथक्पदे।

न पदान्ता। पदाट्टो कहने से ही कार्य सिद्ध हो जाता। अन्त ग्रहण स्पष्टार्थ है। समर्थ परिभाषा अप्रवृत्ति के लिए नहीं है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति पद विधि में ही होती है। पद विधि का लक्षण इस प्रकार है पद संज्ञा प्रयोजक प्रत्ययोपत्ति प्रयोजक संज्ञा शास्त्रीयोछेश्यतावच्छेदक रूपावच्छिन्न संपादक विधित्वं। टोः किमिति। पदान्त में षकार को जश्त्व होने से ट वर्ग हो जायेगा। फिर टोः ग्रहण की क्या आवश्यकता है सरपिष्ठमम् ह्रस्वान्तादौ से विहित सत्व के असिद्ध होने से जश्त्व नहीं होगा। षण्णवतिरिति। छः से अधिक नब्बे अथात् छियानबेवें षडणगर्य यह अलग-अलग पद है क्योंकि 'दिक्संज्ञे संज्ञायाम्' के नियम से समास नहीं होगा।

यरोऽनु (८।४।४५)। पदान्तस्येति किम्! वेद्मि, बध्नाति। स्पर्शे चरितार्थ इति। उपलक्षणमिदं (५) वलयोऽपि प्रवृत्तेः। एतच्च जातिपक्षे स्पष्टमेव। व्यक्तिपक्षेऽपि तादृशव्यक्तौ चरितार्थस्य एतद्व्यक्तिविषयतयोपप्लव एव नेति बोद्धयम्। स्पष्टञ्चेदम् 'इको यणचि' (६।१।७७) इत्यत्र कैयटे। परेतु स्थानेऽन्तरतमसूत्रे सप्तम्यन्तपाठस्य भाष्यकृता दूषितत्वेनैतद्युक्तेरुक्तिसम्भव एव न। तस्मात् 'अनुस्वारस्य' (८।४।५८) इति सूत्रात्सवर्णग्रहणमपकृष्य परः सवर्णोऽनुनासिको भवतीत्यर्थान्न दोषः। तदुक्तं भाष्ये–रेफेऽनुनासिकपरसवर्णत्वयोः प्रतिषेधो वक्तव्यो, न वक्तव्यो; 'रेफोष्मणां (१) सवर्णा न सन्ति' इति। चिन्मयमिति। स्वार्थिकः 'तत्प्रकृतवचने' (५।४।२१) इति मयट्। तत्र तदिति वाक्यभेदेन क्वचित्प्राचुर्यरूपप्रकृतवचनाभावेऽपि मयडर्थम्। अत एव 'चिन्मयं ब्रह्म' इति सामानाधिकरण्यम्। 'चिन्मात्रम्' इति क्वचित्कोऽपपाठः, मात्रचः प्रत्ययस्यात्रोपपत्त्यभावात्। मयूरव्यंसकादिष्वेवार्थमात्रशब्देनात्र समासस्य वक्ष्यमाणत्वात्। निपातनादिति। यवादिगणे 'ककुद्मान्' इति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः पठयये इति मतेनेदम्।

पदान्तस्य के अभाव में वेद्मि बध्नाति चरवनतुः जगमतु में भी अनुनासिक होने

लगता। स्पर्श चरितार्थ इति। यह य, व, ल, प का भी उपलक्षण है यह जातिपक्ष में स्पष्ट ही है। व्यक्तिपक्ष में भी उस प्रकार की एक व्यक्ति में चरितार्थ होने से इस व्यक्ति के लिए उसकी आवृत्ति ही नहीं हुई यह 'इको यणचि' के कैयट में स्पष्ट है। नागेश का मत है कि सुध्युपास्यः में यण् नहीं होगा इसलिए भाष्यकार ने सप्तम्यन्त पाठ को स्थानेन्तरम् सूत्र में दूषित कर दिया है। इसलिए यह समाधान संभव नहीं है। इसलिए अनुस्वारस्य सूत्र में सवर्ण पद का अपकर्ष कर सवर्ण अनुनासिक होता है ऐसे अर्थ के करने से दोष नहीं है। जैसा की भाष्य में कहा है। रेफ में अनुनासिक पर सवर्ण का प्रतिषेध करना चाहिए, नहीं कहना चाहिए, क्योंकि रेफ और उष्मा का सवर्ण नहीं है। चिन्मयमिति। यहाँ स्वार्थिक मयट प्रत्यय है मयट् विधायक सूत्र में तप्त वाक्यभेद से कहीं प्राचुर्य रूप प्रकृत वचन के अभाव में भी मयट के लिए है इसी से चिन्मयं ब्रम्ह में सामानाधिकरण ही चिन्मात्रम्पाठ अप पाठ है क्योंकि मात्रच् प्रत्यय की यहाँ उपपत्ति नहीं हो सकती है मयूरव्यंसकादि ने एव के अर्थ मात्र से समास कहा जायेगा निपातनादिति। यवादि गण में ककुदमान ऐसा प्रकृति-प्रत्यय समुदाय का पाठ है इस मत से यह है।

उदः स्था (८।४।६१) 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१।१।६७) इति परिभाषालभ्यमर्थमाह—उदः परयोरिति। अत्राघोषस्येति। समनियतत्वेनान्यतमाग्रहणे बाधकाभावेन श्वासविवारयोस्त्यागेऽपि (१) न न्यूनतेति बोद्धयम्। यस्यासिद्धत्वादिति। त्रिपाद्यां परत्वादिति भावः। 'हलो यमाम्' (८।४।६४) इति सूत्रोक्तभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठे तु यस्यासिद्धत्वाभावेन चर्त्वं भवत्येव। अत एव 'उत्पूर्वस्कन्दे रोग उपसंख्यानम्' 'उत्कन्दो रोगः' इति भाष्यं सङ्गच्छते। मूलन्तु प्राचामनुरोधेनेति परे। न चेदं सूत्रं व्यर्थं 'झलो झलि' (८।२।२६) इत्यनेन सस्य लोपे उत्थानस्य सिद्धेरिति वाच्यम्, झलादौ प्रत्यये तेन लोप इत्यर्थस्या (२) ऽनेन ज्ञापनात्। उदस्थादित्यत्र तु निर्दिश्यमानपरिभाषया निर्दिश्यमानादेरेव स्थानित्वान्न (३) दोषः।

'तस्माद्वित्युत्तरस्य' परिभाषा से प्राप्त अर्थ को कहते हैं—उदः परयोरिति। अत्राघोषस्येति। समनियत होने से अन्यतम के ग्रहण में भी बाधक के न होने से श्वास विवार के त्यागने से भी न्यूनत नहीं है। अर्थात् अशोक वाटिका न्याय से अन्यतम का उल्लेख है यस्यासिद्धत्वादिति। त्रिपादी में पर होने से 'हलोयमाम्' सूत्र में कहे भाष्य सम्मत अष्टाध्यायी पाठ में तो यकार के असिद्ध न होने से चर्त्व होगा ही। इसीसे 'उत्पूर्वस्कन्दे रोगे उपसंख्यानम्' उत्कन्दो रोगः यह भाष्य भी संगत होता है। मूल तो प्राचीनों के अनुरोध से है। 'झलो झलि' से सकार के लोप होने

से उत्थानं की सिद्ध होने पर यह सूत्र व्यर्थ है। यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि झलो-झलि से झलादि प्रत्यय के परे लोप होता है। उदस्थात् में निर्दिश्यमान परिभाषा से निर्दिश्यमान का आदि ही स्थानी होता है। इससे दोष नहीं है क्योंकि यहाँ अकार का व्यवधान है।

'झयः' इति पञ्चमीत्याह--झयः परस्येति। पूर्वस्येत्यनुवर्त्तते। घोषवत इति। समनियतत्वेऽपि विनिगमना (४) विरहात्स्वरूपप्रतिपादनाय च त्रितयग्रहणम्।

झयः को पंचमी मानकर लिखते हैं झयः परस्येति। पूर्वस्य की अनुवृत्त होती है घोषवत इति। समनियत होने पर विनिगमना विरह व्याप्तिन न्याय, से और स्वरूप के प्रतिपादन के लिये तीनों का ग्रहण है।

झय इति। पदान्तादित्यपि बोध्यम्। तेन (५) 'विरप्शम्' इत्यादौ छत्वं न जकारे कृते इति। छत्वमिति शेषः, पूर्वोक्तभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठे चर्त्वस्य छत्वं प्रत्यसिद्धत्वात्।

पदान्तादि को भी समझना इससे विरप्शम् में छत्व नहीं होता है तथा चक्षौ में भी नहीं होता है जकारे कृते इति। इसका शेष छत्व है। पूर्वोक्त भाष्य सम्मत अष्टाध्यायी पाठ में छत्व के प्रति चर्त्व असिद्ध है।

मोऽनु (८।३।२३) पदस्येत्यधिकृतं म इत्यनेन विशेष्यत इत्याह---मान्तस्येति। 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२३) इत्यतो हलीत्यनुवर्त्तते। हलि किम्? राममाश्रय।

नश्चा (८।३।२४) चैन मोऽनुकृष्यते। अपदान्तस्य किम्! राजन्याहि। यशांसीति। यशश्शब्दाद् जसः शौ 'नपुंसकस्य' (७।१।७२) इति नुमि 'सान्त' (६।४।१०) इति दीर्घः। आक्रंस्यत इति क्रमेर्लृट्, 'आङ उद्गमने' (१।३।४०) इति तङ्, स्यः।

अधिकार प्राप्त पदस्य म से विशेषित होता है। इसलिये मान्तस्य लिखा है—'हलि सर्वेषाम्' से हलि की अनुवृत्ति होती है। उसका फल है रामम् आश्रय में अनुस्वार का न होना। नश्चा। चकार से म का अनुकर्ष होता है। अपदान्त का फल है राजन्याहि। यहाँ नकार को अनुस्वार नहीं हुआ यशांसीति। यशस शब्द से जस को शी करने पर नपुंसकस्य से नुम् तथा सान्त से दीर्घ होता है। आक्रंस्यते। क्रम से लृट् लकार 'आङुउद्गमने' से आत्मने पद तथा स्यः करने पर सिद्ध होती है।

अनुस्वारस्य (८।४।५८) परेति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम्। अत एव 'उदः स्था' (८।४।६१) इत्यादौ सवर्णग्रहणानुवृत्तिः 'यरोऽनुनासिके' (८।

४।४५) इत्यत्र तद्पकर्षश्च सिद्धः। ययोति स्पष्टार्थम्। 'दंशनम्'। इत्यादौ तु न दोषः, शकारसवर्णा (१) ऽप्रसिद्धेः, प्रयत्नभेदेनाज्झलोः सावर्ण्याभावात्। *अचि अनुस्वाराभावात्।

मो राजि० (८।३।२५) नेति सिद्धे म इत्युक्तिः 'हे मपरे' (८।३।२६) इत्येतद्विषये 'प्रशाम् ह्मलयति' इत्यादौ 'मो नो धातोः [८।२।६४] इति नत्वबाधनार्था। निषेधस्त्वनन्तरत्वादनुस्वारस्यैव स्यात्। ध्वनितञ्चेदम् 'एतदोऽन्' [५।३।५१] 'अमो मश्' [७।१।४०] इति सूत्रयोर्भाष्ये।

पर यह लुप्त षष्ठी वाला अलग पद है इसी से 'उदः स्था' इत्यादि में सवर्ण ग्रहण की अनुवृत्ति होती है और यरोऽनुनासिक इत्यादि में सवर्ण पद का अपकर्ष भी सिद्ध होता है एक पद मानने वाले पर सवर्ण में केवल सवर्ण में स्वरितत्व प्रतिज्ञा से कार्य करते है। यय ही पद स्पष्टार्थ है। दंशन में कोई दोष नहीं है क्योंकि शकार का सवर्ण प्रसिद्ध नहीं है। प्रयत्न भेद होने से अच् हल् की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है अच् के परे अनुस्वार का सम्भव नहीं है। मो राजि। नकार के कहने से ही कार्य सिद्ध यहाँ मकार की उक्ति हे मपरे के विषय में प्रशाम् ह्मयलयत इत्यादि में मो नो धातोः से प्राप्त नत्व के बाँधने के लिए है निषेध से अनन्तर होने से अनुस्वार का ही होता यहाँ एतदोऽन् "अमो मश" इन सूत्रो के भाष्य में स्पष्ट है।

हे मपरे (८।२।२६)। मपरे इति (२) बहुव्रीहिः न तु तत्पुरुषोऽसम्भवात्। 'मोऽनुस्वारः' (८।३।२३) इत्यतो म इत्यनुवर्त्तते।

(३) यथासंख्य (१।३।१०) सम्यक् ख्यानं संख्या—

(१) क्रमवैशिष्टयेन ज्ञानम्, 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' इत्यत्र संख्या शब्दस्य ज्ञानार्थताया दृष्टत्वात्। तामनतिक्रम्य यथासंख्यम्। अनुदेशः—पश्चाद्भववाक्यार्थं (२) बोधकालिकः सम्बन्धः। साम्यं—(३) संख्यया, योग्यत्वाद्व्याख्यानाच्च। एवञ्च (४) समसंख्यायां येन क्रमेण पदज्ञानं (५) पदादुपस्थितिर्वा, तेनैव क्रमेण वाक्यार्थबोधविषयः सम्बन्धस्तेषामित्यर्थः। फलितमाह—समसम्बन्धीति। यद्यपि (६) स्थानाख्यलौकिकप्रमाणादेव सिद्धं, तथापि परस्मैपदानाम्' (३।४।८२) 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) इत्यादौ शब्दतः सूत्रान्तरस्थक्रममादाय सम्बन्धबोधार्थम्, 'आद्यन्तौ टकितौ' (१।१।४६) इत्यादौ समासनिर्देशे साहित्ये द्वन्द्वविधानादप्राप्तक्रमान्वयबोधनार्थञ्चेदम्। एवञ्च तत्र यथासंख्येनान्वयबोधवाक्य (७) कल्पना एतत्प्रामाण्यात्, ततश्च बोध इति बोध्यम्। अत्र 'स्वरितेन' (१।३।११)

इत्यपकृष्यते इति 'ख्यत्यात्' (६।१।११२) इत्यादौ (८) नातिप्रसङ्गः। तत्र प्रतिपत्तिकालिकमेव संख्यासाम्यमेतच्छास्त्रप्रवृत्त्युपयोगीति 'अमङणनम्' (मा० सू० ७) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

मपरे यह पंचमम्यर्थ में बहुव्रीहि है असम्भव होने से तत्पुरूप समास नहीं है। 'मोऽनुस्वारः' से म की अनुवृत्ति होती है यथासंख्य सम्यक् ख्यान को संख्या कहते हैं संख्या का अर्थ क्रम के वैशिष्ट से ज्ञान है वास्तव में क्रम ही संख्या का अर्थ है। 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' जिस स्थान को ज्ञानी पाते है यहाँ संख्या का ज्ञान अर्थ देखा जाता है। उस संख्या का अतिक्रमण न होना यथासंख्य है पीछे होने वाले वाक्यार्थ बोध विषय सम्बन्ध को अनुदेश कहते है योग्यता तथा व्याख्यान से साम्य संख्या लेना इस प्रकार बराबर संख्या वालों को सम्बन्ध जिस प्रकार से पदज्ञान या पद से उपस्थित ही हो उसी क्रम से उनका वाक्यार्थ बोध विषय सम्बन्ध होता है। इसीलिये इसका फलितार्थ है समसम्बन्धीति। यद्यपि स्थान नाम वाले लौकिक प्रमाण से सिद्ध (जैसे प्रतिपदा को सोना देना चाहिए द्वितीया को चाँदी तृतीया को वस्त्र चैत्र प्रतिपदा को जाय इत्यादि यहाँ चैत्र को सोना दो न कहने पर भी सुवर्ण मिलता है) तो भी परस्मैपदानाम् एचो यवाभावः इत्यादि में शब्द से अन्य सूत्र में स्थिति क्रम को लेकर सम्बन्ध बोध के लिए है 'आद्यन्तौटकितौ' इत्यादि में समस्त होने से साहित्य में द्वन्द्व होने के कारण अप्राप्त क्रमान्वय बोध के लिये है। इस प्रकार वहाँ यथासंख्य से अन्वयबोधक वाक्य की कल्पना इस सूत्र के प्रामाण्य से होती है फिर बोध होता है यहाँ स्वरितेन का अपकर्ष होता है इसलिये ख्यत्यात् में दोष नहीं है क्योंकि स्वरितत्व का अभाव है प्रतिपत्ति (ज्ञान) के समय होने वाला संख्या का साम्य ही इस सूत्र की प्रवृत्ति में उपयोगी है। यह अमङणनम् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

एते यवला निरनुनासिका एव विधीयमानत्वेन सवर्णग्राहकत्वात्, जातिग्रहणप्राप्तस्यैव गुणाभेदकत्वप्राप्तस्यापि 'अप्रत्यय' इत्यनेन निषेधाच्च। एवं 'मय उञ' (८।३।३३) (१) इत्यत्रापि। अत एव मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः। अन्यथा (२) 'तद्वानासाम्' (४।४।१२५) इत्यादौ नित्यानुनासिकापत्त्या तन्निर्देशासङ्गत्यापत्तिरित्याहुः।

चयो द्वितीया (का० वा०) इति। 'नादिन्याक्रोशे' (८।४।४८) इत्यत्र भाष्ये इदम्। एतत्सामर्थ्यादेतत्कृतद्वितीयस्य न चर्त्वम्।

'ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम्। इति प्रातिशाख्येऽपदान्तभाजमिति चर्त्वासिद्धत्वलब्धार्थानुवादः, पदान्ते जश्त्वप्रवृत्त्या चयोऽलाभात्। अत्र तु कृते न जश्त्वप्राप्तिरस्यासिद्धत्वात्। 'अफ्सरा'

'वथ्सा' इति भास्योदाहृते छान्दसत्वाच्चत्वंस्यासिद्धत्वं न। एवञ्च प्रातिशाख्येऽपदान्तभाजमित्युत्सर्गः। यद्वा तयोरव्युत्पन्नत्वं, न त्वप्पूर्वात्सर्त्तेरसिर्वदेः सो वेत्यन्यत्र विस्तरः।

यह य व ल निरनुनासिक ही है क्योंकि विधीयमान होने से सवर्ण के ग्रहक नहीं हो सकते है और जाति ग्रहण से प्राप्त की तरह गुण अभेदक होते है इससे प्राप्त का भी अप्रत्यय निषेध करता है इसी प्रकार मय उज में भी जानना। इसी से मतुम के मकार को अनुनासिक वकार नहीं होता है अन्यथा तद्वानासाम् में नित्य अनुनासिक होने से वह निर्देश ही असंगत हो जाता।

चमो द्वितीया इति। 'नादिन्याक्रोशे' के भाष्य में यह वार्तिक है वार्तिक के आरम्भ के कारण इससे विहित द्वितीय अक्षर को चर्त्व नहीं होता है।

'उष्मोदयं' इत्यादि प्राति शाख्य में अपदान्त भाजम् यह चर्त्व के असिद्धत्व के प्राप्त अर्थ का अनुवाद है। पदान्त में जश्त्व की प्रवृत्ति होने से चय का अभाव है इसके करने पर इसके असिद्ध होने से जश्त्व की प्राप्ति नहीं है अपसरा वथ्सा इत्यादि में छान्दस होने से चर्त्व असिद्ध नहीं होती है। इस प्रकार से अपदान्त भाजम् यह उत्सर्ग है यद्वा वे प्रयोग अत्युत्पन्न है आम पूर्वक सर से असि और वद् से स नहीं है।

ङः सि (८।३।२९) 'सि' इति सप्तमी (३) षष्ठयर्थे; व्याख्यानात् तदाह—सस्येति। पदस्येत्यनुवर्त्तमानस्य वैयधिकरण्येनान्वयात्पदावयवस्य सस्येत्यर्थः। षट्त्सन्त इति। धुटि धस्य चर्त्वे (४) लक्ष्यभेदात्पुनर्डस्य चर्त्वम्।

नश्च (८।३।३०)। नकारान्तादिति। पदस्येत्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यत इति भावः। (२) वैधिकरण्येनैवान्वय इति ङमुट्सूत्रस्थभाष्यस्वरसः। नस्य पदान्तस्येति। अपदान्तनकारेऽनुस्वारप्रवृत्त्या फलितार्थप्रदर्शनमिदम्। नान्तस्य पदस्येत्युचितम्। चतुष्टयमिति। वक्ष्यमाणविकल्पैरिति भावः। तेन तुकश्चुत्वे छत्वस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः' (का० वा०) इति पक्षे चस्य छत्वेन छकारछकारछकारशकारघटितरूपद्वयाधिक्ये नशानुस्वारविसर्गाणां द्वित्वविकल्पेनाऽऽधिक्येऽपि न क्षतिः।

'सि' सप्तमी व्याख्यान से षष्ठी के अर्थ में है। वह कहा है सस्येति अनुवर्त्तमान पदस्य का वैधिकण्य अन्वय होने से पद के अवयव सकार को यह अर्थ हैं षट्त्सन्त इति। धुटि करने पर धकार को चर्त्व लक्ष्यभेद होने से फिर ड्कार को चर्त्व होता है।

नश्च नकारान्तादिति। अनुवृत्त पदस्य का पंचमी से विपरिणाम होता है। (सकार के अव्यहित पूर्वत्व युक्त जो नकारतदन्त से अव्यव हित उत्तर वाले को

सकार होता है। यहाँ वैयधि करण्य से ही अन्वय होता है। यहङ्मुट सूत्र के भाष्य का अभिप्राय है नस्य पदान्तस्येति। अपदान्त नकार को अनुस्वार होने से यह फलित अर्थ का प्रदर्शन है। नान्तपद को ही कहना उचित था। चतुष्टयमिति। आगे के विकल्पो से इससे तुक् को चुत्व करने पर छत्व के असिद्ध होने से चयो द्वितीया से चकार को छकार करने पर तीन छकार और शकार से युक्त दो रूप के अधिक होने पर जशा अनुस्वार विसर्ग को द्वित्व विकल्प को अधिक होने पर भी क्षति नहीं है।

ङमो (८।३।२)। पदस्येत्यनुवृत्तं सामानाधिकरण्यानुरोधात्पञ्चम्या विपरिणम्यते इत्याह–तदन्तं तस्मादिति। तत्र ङम् स्वयं ह्रस्वादितित्रिशेषण (३) सम्बन्धमनुभूय पदविशेषणत्वेन तदन्तपर इति भावः। ङम इति पञ्चमीबलादचीति सप्तमी (४) षष्ठयर्थे, तदाह–अच इति। सप्तमी-निर्देशस्तु लाघवार्थः। 'ङम उत्तरस्याचः' इति 'तस्मिन्' (१।१।६६) इति सूत्रस्थभाष्यात्। ङमन्तं यत्पदमिति किम्? 'अनिति' ङमुण्मा भूदिति। भाष्ये तु विभक्तिव्यत्ययकल्पने गौरवात्पदावयवङमः परस्येति (५) वैयधिकरण्यमेवोक्तम्। 'दण्डिना' इत्यत्र ङमुडभावो मण्डूकप्लुत्या 'उजि च पदे' [८।३।२१] इत्यतः पदे इत्यनुवर्त्याजादेः पदस्य ङमुडित्यर्थेन बोद्ध्यः। पदस्येत्यस्याऽऽवृत्त्या सम्बन्धेऽपि विशेषणविशेष्ययोरुभयोः सप्त-म्यन्तत्वे एव तदादिविधिप्रवृत्त्या [१] तदलाभः स्यात्। एतदर्थमेवाचीति सप्तमीनिर्देशः। ङमन्तं यत्पदमित्यर्थेऽपि 'परमदण्डिना' इत्यादावेतद्वारणाय 'पदे' इत्यनुवृत्तिरावश्यक्येव। अन्तर्वर्त्तिविभक्त्या दण्डिन्नित्यस्य पदत्वात्। 'उत्तरपदत्वे च' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधस्तु न, भाषकुम्भवापेनेत्यादौ 'पदव्यवायेऽपि' [८।४।३८] इति निषेधसिद्धये तस्य यत्रोत्तरपदस्य [२] कार्यित्वं तत्रैव प्रवृत्तेः। तेन निषेधेन सिद्धम्' इत्येतत्सूत्रस्थ भाष्योक्तिस्त्वे-कदेशिन इति दिक्। 'इको यणचि' [६।१।७७] इति सौत्रो निर्देशः।

रुप्रकरणे इति। अत एव 'समः सुटि' [८।३।५] इत्यादौ प्रश्लेषेण सविधानमिति भाष्ये उक्तम्। रोः पूर्वस्येत्युपलक्षणं [१] रुप्रकरणविधे-यस्य। एवमुत्तरत्र रोः पूर्वस्मादित्यपि। अयमधिकारः। तेनोत्तरसूत्रविषये एवास्य प्रवृत्तिः, न तु 'मतुवसोः' [८।३।१] इत्यत्र, तत्सूत्रस्थ [२] वार्त्तिकयोश्च। अत्रेति तु–रुप्रकरण एवास्य सम्बन्धो, न त्वग्रे 'ढो ढे लोपः' [८।३।१३] इत्यादाविरयर्थसूचनार्थं, स्पष्टार्थमेव। तुशब्द. परस्य नित्यं रुत्वं वाऽनुनासिक इति विशेषद्योतनार्थः। पूर्वस्येत्यस्य च [३] रुस्थानिनः पूर्वस्येत्यर्थो बोद्धयः।

अनुवृत्त पदस्य सामानाधिकरण के अनुरोध से पंचमी से विपरिणाम करते है। इसी से कहा है।

तदन्त यत्पदं तस्मादिति। तदन्त जो पद उससे परे वहाँ ङ्म स्वंय ह्स्वादि विशेषण के सम्बन्ध का अनुभव कर पद के विशेषण होने से तदन्त पर है वास्तव में जैसे गभीरायां नद्यां घोषः में नदी पद की गाम्भीर्य नदी तीर में लक्षणा है और गभीरा पद लक्षणा में तात्पर्य ग्रहक है उसी प्रकार ङ्म पद की ह्स्वात परत्व विशिष्टङमन्त में लक्षणा है ह्स्वात् तात्पर्य ग्रहक है ङ्मः इस पंचमी के वल से अचि यह सप्तमी षष्ठी के अर्थ में है वास्तव में अजव्यवहित पूर्वत्व विशिष्टो-योऽम तदन्तम् यत पदम् तद व्यवहितोन्तरस्य अचः ऽमुट इस प्रकार के अर्थ से कार्य सिद्ध हो जायेगा। अच् इति। सप्तमी निर्देश लाघव के लिए है। इसमें ङ्म उत्तर-स्याचः यह तस्मिन् सूत्र का भाष्यय ही प्रमाण है। ङ्मन्तं यत्पदम् के अभाव में अनित में भी ङमुट जायेगा। भाष्य में तो विभक्ति के व्यत्यय करने में गौरव होने से पद के अवयव ङ्म सें परे यह वैयधिकरण्य ही स्वीकार किया है। दण्डिना में ङमुट तो नहीं होगा क्योंकि 'उञि च पदे' से पदे की अनुवृत्ति कर अजादि पद के परे ङमट होता है इस अर्थ के होने से समझना आ पद नहीं है पद की आवृत्ति कर सम्बन्ध करने पर भी तदादि विधि का होना सम्भव नहीं है क्योंकि विशेषण और विशेष्य दोनों सप्तम्यन्त होने पर ही उसकी प्रवृत्ति होती है इसीलिए अच् पद में सप्तमी निर्देश है ङमन्त जो पद इस अर्थ में भी परमदण्डिनौ में ङ्मुट वारण के लिये पद की अनुवृत्ति आवश्यक है। क्योंकि अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को लेकर दण्डिन में पदत्व है उत्तर पदत्वे से प्रत्यय लक्षण का निषेध सम्भव नहीं है क्योंकि जहाँ उत्तरपद कार्यी होता है वहाँ ही वह निषेध करता है इसी से माष कुम्भवापेन में पदव्यवायेऽपी से निषेध सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ कुम्भ को कार्य नहीं करना है इस लिये उत्तरपदत्वे से निषेध होने पर प्रत्ययलातल से पदत्व मानकर पदत्यवायेऽपी से णत्व का निषेध होता है उस निषेध से सिद्ध है यह प्रकृति सूत्र में स्थिति भाष्य एक देशी का है। 'इकोयणचि' इत्यादि में सौत्र होने से ङ्मुट नहीं होता है।

रूप्रकरणेइति। इसी से 'समः सुटि" इत्यादि में प्रश्लेष से सकार विधान भाष्य में कहा है। रोः पूर्वस्य से रूप्रकरण विधेय का उपलक्षण है। इसी प्रकार रोः पूर्व-स्मात् भी उपलक्षण जानना। यह अधिकार है अधिकार होने से आगे के सूत्रों के विषय में ही इसकी प्रवृत्ति होती है 'मनुवसोः' तथा उसके वार्तिक में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी से "हरिवोमेदिनं त्वा" तथा भोभगोअधो में रू को अनुनासिक नहीं होता है अत्रेति। अत्र और तु का रूप्रकरण में ही सम्बन्ध होता है आगे ढो टे लोपः में नहीं यह सूत्र सूचना करने के लिये स्पष्टार्थ है। तु शब्द पर को नित्व रूत्व हो पूर्व को विकल्प से अनुनासिक हो यह विशेष द्योतन के लिये है और पूर्वस्य का अ स्थानी

पूर्व का अर्थ जानना इसी से 'समः सुटि' से सकारादेश कल्प में अनुनासिक सिद्धि होती है।

अनुनासिकात्पर इत्यत्रानुनासिकादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, व्याख्यानात्। अयमागमोऽनवयव एव, अवयवत्वे (४) मानाभावात्।

खरीति। विसर्गाक्षिप्तस्याप्यवसानस्य न सम्बन्धो (५) व्याख्यानात्। सो वक्तव्य इति। 'समः सुटि' (८।३।५) इत्यादिसूत्रत्रये स इत्युपसंख्याय 'समः सुटि' (८।३।५) इत्यत्र सकारं प्रश्लिष्य वा एतैः सकार एव विधेय इत्यर्थः। एवाञ्चास्यासिद्धत्वाद्रुत्वाभावेन विसर्गाभावे तत्तद्विधीनामप्राप्तिरेवेति भावः। स्पष्टं चेदं भाष्ये। विसर्गस्यानेन सत्वविधाने तु गौरवं स्फुटम्। लोपस्यापीति। यत्तु—

उपधारञ्जनं कुर्यान्नमो रुकरणे सति।
लोपे प्रकृतिभावे वा नोपधारञ्जनं मतम्॥

उपधारञ्जनम्—अनुनासिकानुस्वारागमरूपम्। नमोर्नकारमकारयोः। प्रकृतिभावोदाहरणं 'नॄन्पाहि' इति। यत्तु प्रातिशाख्यत्वात्तच्छाखामात्रविषयमिति भावः। अत एव भाष्ये—'समादिषु सत्वं वक्तव्यम्' इत्युक्तम्। रुत्वपक्षे चानुनासिकाद्यापत्तिर्दोषत्वेन नोक्ता। ननु लोपपक्षे एव द्वित्वेन द्विसकारस्य सिद्धत्वात् 'समः सुटिः' इति व्यर्थमित्यत आह—त्रिसकारकमपीति। 'स्कोः' (८।२।२९) इति लोपस्तु न, अस्यासिद्धत्वात् पुनर्द्वित्वेन त्रिसकारस्य सिद्धिरिति तु न युक्तं, 'लक्ष्ये लक्षणस्य' इति न्यायात्। एतेन 'समः सुटि' (८।३।५) इत्यत्र वेति पाठेनैव पक्षे मोऽनुस्वारेण सिद्धे 'अनुनासिकात्परः' (८।३।४) इति व्यर्थमित्यपास्तम्।

अनुनासिकात्परः में अनुससिकात्म ही पंचमी ल्यप् लोप में है। यह आगम अनवय ही है। क्योंकि अनवय होने का प्रमाण नहीं है। खरीति। विसर्ग से आक्षिप्त अवसान का यहाँ सम्बन्ध नहीं होता है इसमें व्याख्यान ही शरण है खरवसानयोश्यः से कार्य सिद्ध हो जाता है। फिर 'विसर्जनीयस्य सः का निर्माण ही प्रमाण है। सो वक्तव्यइति समःसुटि इत्यादि तीनों सूत्रों सकार का उपसंख्यानकर अथवा 'समःसुटि' में सकार का प्रश्लेष कर इन तीनो से सकार का ही विधान करना चाहिए। इस प्रकार से इसके असिद्ध होने से सत्व के न होने से विसर्ग के न होने पर उन-उन विधियों की प्राप्ति नहीं है। यह भाष्य में स्पष्ट है विसर्ग को इससे सत्व करने में गौरव स्पष्ट है। लोपस्यापीति जो कि किसी ने कहा है। उपधा इत्यादि नमों अर्थात् नमकार मकार की रुप्रकरण होने पर अनुनासिक और अनुस्वार का आगम करना

चाहिए (उपधारञ्जन का अर्थ अनुस्वार, आनुनासिक का आगम रूप है।) लोप या प्रकृति भाव होने पर उपधारञ्जन अभीष्ट नहीं है। प्रकृति भाव का उदाहरण नह्न्याहि है वह कथन सार्वत्रिक नहीं है क्योंकि प्राति शाख्य के होने से केवल उसी शास्त्र के लिए है। इसी से भाष्य में 'समादिषु सत्वं वक्तव्यं' (समादि में सत्व कहना चाहिए) रुत्व पक्ष में अनुनासिक आदि की आपत्ति रूप दोष नहीं कहा है लोपपक्ष में ही द्वित्व से दो सकार वाला रूप सिद्ध है फिर 'समःसुटि' व्यर्थ है इस शंका का उत्तर करते है। त्रिसकारकमपीति। इसके असिद्ध होने स्कोः से लोप नहीं होता है फिर द्वित्व करने से तीन सकार वाला भी सिद्ध हो जायेगा। यह कहना उचित नहीं है क्योंकि लक्ष्य में लक्षण एक बार ही प्रवृत्ति नहीं होता है। 'समःसुटि' यह सूत्र से इस न्याय भी ज्ञापक है इससे समः सुटिमें वेति पाठ से पक्ष के मोऽनुस्वार से अनुस्वार कार्य सिद्ध हो जायेगा। अनुनासिकात्परः व्यर्थ है यह उनका कथन ही व्यर्थ है।

ननु व्यञ्जनात्परस्यैकस्यानेकस्य वोच्चारणे विशेषाभावोऽत आह—अनुनासिकवतामिति। तत्रोच्चारणे विशेषाभावकल्पने इदं वचनं व्यर्थमेव स्यादिति भावः। हयवरट्सूत्रभाष्योक्ते शर्षूपसंख्याने फलमाह—अनुस्वारवतामिति। अपिना कस्य सङ्ग्रहः। लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तेराह—वचनान्तरेणेति। 'यणो मयः' [का० वा०] इत्यनेन। एकस्यैव शास्त्रस्य पुनः प्रवृत्तौ हि स न्याय इति भावः। पूर्वत्रासिद्धत्वेन पूर्वद्वित्वस्य पूर्वं प्रवृत्त्या तेन द्वितीयस्य साधुत्वे बोधिते तदनन्तरं परद्वित्वप्रवृत्त्या तयोर्मध्ये पुनरन्यस्य साधुत्वं बोध्यते इति त्रितस्य निर्वाहो बोद्धयः। 'अनचि च' [८।४।४७] इत्यत्र 'यणो मयः' [का० वा०] इत्यस्यो पसंख्यानात् 'अचो रहाभ्याम्' [८।४।४६] इत्यतस्तस्य परत्वं बोद्धयम्।

पुमः ख [८।३।६]। अम्पर इति [१] बहुब्रीहिः। ≍क≍ पयोरिति। 'कुप्वोः' [८।३।३७] इति सूत्रविधेययोरित्यर्थः। 'इदुदुपधस्य' [८।३।४१] इति सूत्रेऽप्रत्ययस्येत्यस्य प्रत्ययावयवभिन्नस्येत्यर्थादिति भाव। अव्युत्पत्तीति। तत्पक्षे [१] प्रकृतिप्रत्ययविभागाभावादिति भावः। षत्वेति। इदमनुनासिकपक्षे। अनुस्वारपक्षे तु 'कुप्वोः' [८।३।३७] इत्यस्यैव प्राप्तिः, अनुस्वारव्यवधानेनोदुपधत्वाभावात्। पुंक्षीरमिति। क्षरधातोरुपधाया ईश्वेऽच्प्रत्यये क्षीरमिति भावः।

व्यंजन से परे एक या अनेक के उच्चारण में विशेषता नहीं है। इसका उत्तर करते है अनुनासिकवतामिति। उच्चारण में विशेषाभाव की कल्पना में यह वचन भी व्यर्थ हो जायेगा। हयवरट् सूत्र के भाष्य में शर्ष में इनके पाठ का फल कहते है।

अनुस्वारवतामिति। अपि से ककार का संग्रह है लक्ष्य में लक्षण एक ही बार प्रवृत्त होता है। इस संदेह को दूर करने के लिए लिखते है वचनान्तरेणेति अर्थात् 'यणोमयः' से एक सूत्र के द्वितीय बार कार्य करने में ही उस न्याय की प्रवृत्ति होती है दो सूत्रों से करने में नहीं। पूर्वत्रासिद्धत्व होने से पहले पूर्व द्वित्व की प्रथम प्रवृत्ति से द्वितीय को साधुत्व बोधन के पश्चात् परद्वित्व की प्रवृत्ति से उन दोनों के मध्य में अन्य को साधुत्व बोधन से तीन सकारों का निर्वाह होता है। 'अनचि च' में यणोमयः का उपसंख्यान होने से 'अचोरहाभ्याम्' से वह पर है।

पुमः ख अप्परे यह पंचमम्यर्थ में बहुव्रीहि है। ≍क≍ पयोरिति 'कुप्वोः' सूत्र से विधीयमान जानना क्योंकि 'इदुदुपधस्य' सूत्र में अप्रत्यस्य का प्रत्यय के अवयव से भिन्न अर्थ किया है। अव्युत्यन्तीति। उस पक्ष में प्रकृति प्रत्यय का विभाग नहीं होता है। षत्वेति। यह अनुनासिक पक्ष में ही अनुस्वार पक्ष में तो 'कुप्वोः' की ही प्राप्ति है क्योंकि अनुस्वार के व्यवधान में ईदुदुपदस्य का अभाव है। पुक्षीरमिति। क्षरधातु की उपधा को ईत्व और अच् प्रत्यय करने पर क्षीरम् की सिद्ध होती है।

नश्छवि (८।३।७) 'अप्रशान्' इति षष्ठयर्थे प्रथमा।

नृन्पे (८।३।१०)। नृनिति द्वितीयान्तानुकरणम्, षष्ठयाः सौत्रो लुक्। नलोपस्तु सौत्रत्वान्न। एवं 'कान्' (८।३।१२) इत्यत्रापि। चाद्विसर्ग इति। 'शर्परे' (८।३।३५) इति सूत्रात्तदनुकर्षश्च नेति भावः।

येन नेति। 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारम्यते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनेत्यर्थः। येन नेत्यादेर्यत्कर्त्तृका (२) वश्यप्राप्तावित्यर्थः, नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थदार्ढ्यबोधसत्वात्। 'प्राप्त' इति भावे क्तः। (३) तदप्राप्तियोग्यविषयेऽचारितार्थ्यं हि बाधकत्वे बीजम्। तदुक्तं 'शपूर्वाः' (७।४।६१) इति सूत्रे भाष्ये—'शर्पूर्वा इत्येतद्धलादिःशेषस्य बाधकम्। ननु विषयभेदे कथं बाधकत्वम्। इदं तावदयं प्रष्टव्यः, यदि तन्नोच्येत किमिह स्यात्, हलादिःशेषश्चेत्? नाप्राप्ते तस्मिन्नारम्भादिदं तद्बाधकं भविष्यति' इति। 'अजादेर्द्वितीयस्य' (६।१।२) इति सूत्रे भाष्येऽपि स्फुटमेतत्।

'अप्रशान्' षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है। नृन्पे। नृ द्वितीयान्त का अनुकरण है। षष्ठी को सूत्र मानकर लुक् ही सौत्र होने से नलोप भी नहीं होता है। इसी प्रकार 'कान्' में भी समझना।

चाद्विसर्ग इति। चकार का 'शर्परे' सूत्र से अनुकर्ष है।

येननेति। येन नाप्राप्ते न्याय से जिसकी अवश्य प्राप्ति में जिस विधि का आरम्भ होता है। वह उसकी बाधक होती है। येन न इत्यादि का यत्कर्तृक अवश्य प्राप्त होने पर अर्थ है। क्योंकि दो नकार प्रकृति अर्थ को दृढ़ करते है। प्राप्त में भाववत् प्रत्यय

है। उसके अप्राप्ति योग्यविषय में अचरितार्थ ही बाधकत्व में बीज है। 'शर्पूर्वाः' सूत्र के भाष्य में कहा है शर्पूर्वा हलादि शेष का बाधक है विषय भेद में बाधक कैसे होता है। यहाँ यह पूछना है कि उसके न कहने पर यहाँ क्या होता हलादि शेषः कहा जाय उसकी अवश्य प्राप्ति में आरम्भ करने से यह बाधक हो जायेगा। आजादे-र्द्वितीयस्य सूत्र केभाष्य में यह स्पष्ट है।

न तु शर्पर इति। न चास्य विसर्गस्य ≍क≍पा दुर्वारौ, किं चास्यैव तौ स्यातां, 'खरवसानयोः' (८।३।१५) इति विहितस्य तु एतयो-रसिद्धत्वात्सत्वमेव स्यादिति वाच्यम्, शर्परे' (८।३।३५) इति सूत्रं 'कुप्वोः' [८।३।३७] इत्यत्रानुवर्त्य शर्परयोः कुप्वोः ≍क≍पयोरपवादो विसर्ग इति वाक्यभेदेन व्याख्यानेनादोषात्। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये।

वार्त्तिके कान्ग्रहणं शक्यमकर्तुमित्याह—यद्वेति। एवं सम्ग्रहणमपि त्यक्तुं शक्यम्। पुम्ग्रहणं त्वावश्यकमेव, अनुनासिकपक्षे इणः परत्वेन षत्वापत्तेः। एष्विण इति। गणे कृतसत्वषत्वानामेव पाठादिति ≍क≍पयोरपवात इति। तद्विहितविसर्गस्यापीत्यपि बोद्धयम्। कांस्कानिति। वीप्सायां द्वित्वम्।

संहितायाम् [६।१।७६]। संहिता च स्वारसिकार्धमात्राकालव्य-वायेनो [१] च्चारणम्। ततोऽविकार्धमात्राकालेनोच्चारणे एतदधिकारो-क्तकार्यव्यावृत्तये इदम्। तदधिककालव्यवाये तु न साधुत्वं; नापि बोध इष्यते इति—वृद्धा इति, तेषां शास्त्रविषयतैव नेति भावः।

छ च [६।१।७६]। छे इत्यकार उच्चारणार्थः, तेन 'आच्छिन्नम्' इत्यत्र तुक्। ह्रस्वस्य पिति' [६।१।७१] इत्यतो ह्रस्वस्येति तुगिति च वर्त्तते। जश्त्वेनेति। स्वशब्दे उपपदे छयतेः के स्वच्छशब्दो निर्मले रूढः, एवं नञ् पूर्वाच्छादयतेर्डे अच्छशब्द इति पदान्तत्वं बोद्ध्यम्। स्पष्टञ्चेद-ममरटिप्पणे।

आङ्माङ् [६।१।७४]। आङ्साहचर्यान्माङव्ययमेव।

दीर्घस्यायमिति। [२] वक्ष्यमाणज्ञापकाद् [३] व्याख्यानाद्वा दीर्घा-दिति [१] षष्ठयर्थे पञ्चमीति भावः। एओङ्सूत्रभाष्ये ध्वनितमेतत्। चेच्छिद्यते इति। तुको हलादिःशेषस्तु न, अभ्याससञ्ज्ञाप्रवृत्तिकाले स्थानिद्वारा साक्षाद्वा सन्निहितानां हलामेव तेन [२] निवृत्तेः। अत एव 'नुगतो' [७।१।८५] इत्यादि चरितार्थम्।

इस विसर्ग को ≍क≍पा दुर्वारौ है और इस विसर्ग को वे दोनों होगें। 'रखखसानयों', से विहित को तो ≍क≍ पा के असिद्ध होने से सत्व ही होगा। इस शंकाउत्तर करते है शर्परे सूत्र को कुप्वो: में अनुवृत्ति कर शर है परे जिससे ऐसे क वर्ग प वर्ग के परे ≍क≍ पा के अपवाद विसर्ग को विसर्ग ही हो यह वाक्य भेद से व्याख्या करने से दोष नहीं है यह भाष्य में स्पष्ट है।

वार्तिक में कान् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है यद्वेति। इस प्रकार से सम्ग्रहण की भी आवश्यकता नहीं है पुम्ग्रहण तो आवश्यक ही है अनुनासिक पक्ष में इण् से परे होने से षत्वापत्ते षत्व हो जायेगा। एष्विण इति। गण में सत्व में षत्व विशिष्ट का पाठ है।

≍क≍ पयोरपवाद इति। उससे विहित विसर्ग का भी अपवाद जानना काँस्कानिति वीप्सा में द्वित्व है।

संहितायाम्। स्वाभाविक एक वर्ण से तृतीय वर्ण के उच्चारण करने में आधी मात्रा का समय लगता है। उससे अधिक समय का लगना ही संहिता है उससे अधिक अर्द्ध मात्रा काल से उच्चारण में इस संहिता के अधिकार में कहे गये कार्यों की निवृत्ति के लिये संहितायाम् अधिकार है। उससे अधिक काल के व्यवधान में धातु साधुता भी नहीं है और बोध भी इष्ट उनको शास्त्र विषयता ही नहीं है। ऐसा वृद्धों का मत है।

छकार में अकार उच्चारण के लिये है इससे 'अच्छिन्नम्' में भी तुक् होता है। यदि उच्चारणार्थ नहीं मानते तो यहाँ छि के परे तुक् नहीं होता अर्थात मात्राओं का विचार नहीं है 'ह्रस्वस्यपिति' ह्रस्वस्य और तुक् की अनुवृत्ति होती है जश्त्वेनेति। स्व शब्द उपपद हो धातु से क प्रत्यय में स्वच्छ शब्द की सिद्ध होती है। और यह निर्मल अर्थ में रूढ़ है इसी प्रकार नज् पूर्वक छादि से उ प्रत्यय में अच्छ शब्द है। इसलिये पदात्तत्व है यह अमर टिप्पण में स्पष्ट है।

आङ्मा। आङ् के साहचर्य से माङ् अव्यय ही है। दीर्घस्यायमिति। वक्ष्चमाण ज्ञापक या व्याख्यान से दीर्घात् षष्ठी के अर्थ में पंचमी है एओङ् सूत्र में ध्वनित है। चेच्छिद्यते इति। तुक् की हलादि शेष से निवृत्ति नहीं होती है क्योंकि अभ्यासस‌ंज्ञा की प्रवृत्ति के समय स्थानी के द्वारा या साक्षात् उपस्थित हलों की है वह निवृत्ति करता है इसी से नुगतो इत्यादि भी चरितार्थ है इस ज्ञापक से हल अनुबन्ध वाले आगम की हलादि शेष नहीं होता है।

दीर्घात्पदान्तादिति। (३) पदान्तस्य दीर्घस्येत्यर्थः। योगविभागोऽनयोः 'एओङ्' (मा० सू० ३) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टः। दीर्घान्तस्य पदस्येत्यर्थेन सिद्धेऽन्ग्रहणं पदान्तविधित्वमस्य, न पदविधित्वमिति बोधन-

द्वारा समर्थपरिभाषानुपस्थित्यर्थम् । तेनासामर्थ्येऽप्यस्य प्रवृत्तिरिति समर्थ-सूत्रे (४) कैयटः ।

॥ इति हल्सन्धिः ॥

पदान्त दीर्घ को अर्थ है इनका योग विभाग एओड्सूत्र के भाष्य में कहा है दीर्घान्तस्य पदस्य अर्थ से ही सिद्ध था फिर अन्तग्रहण से स्पष्ट होता है कि यह पदान्तविधि है पदविधि नहीं है इसी से समर्थ परिभाषा की उपस्थित नहीं होती है इससे असमर्थ्य में इसकी प्रवृत्ति होती है ।

'इति हल्संधि प्रकरणम्'

विसर्ग संधि प्रकरणम्

विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४)। प्राग्व्याख्यातमपि विसर्जनीयपदानुवृत्तिप्रदर्शनाय स्मारितम्।

शर्परे इति बहुव्रीहिः। विशेष्यश्चावध्यवधिमतोः साजात्याद्विसर्जनीयाक्षिप्तः खरेव। विसर्गस्य विसर्गविधौ फलमाह—न त्वन्यदिति। अन्यदेव विवृणोति—इहेति। त्रैरूप्यमिति। विकल्पद्वयसामर्थ्यादिति भावः।

सोऽप (८।३।३८)। अपदाद्योरिति। सूत्रे सौत्रत्वादेकवचनम्।

अनव्ययस्येति। अत्राव्ययीभावातिरिक्ताव्ययस्यैव ग्रहणं, (१) व्याख्यानात्। तेन 'उपपयस्काम्यति' इत्यादौ सत्वसिद्धिरिति स्पष्टम् 'अव्ययीभावश्च' (१।१।४१) इत्यत्र भाष्ये। गीः काम्यतीति। 'वाः काम्यति' इत्यस्याप्यु (२) पलक्षणमिदम्।

॥ विसर्ग सन्धि प्रकरणम् ॥

इसकी व्याख्या पूर्व में हो चुकी है विसर्जनीय पद की अनुवृत्ति प्रदर्शन के लिये फिर स्मरण करा दिया है।

शर्परे में बहुव्रीहि है अवधि और अवधिमान के साजात्य होने से विसर्जनीय से आक्षिप्त खर ही विशेष्य है विसर्ग को विसर्ग करने का हल् कहते है न त्वन्यदिति। अन्य का ही विवरण करते है—इहेति। त्रैरूप्यमिति। दो विकल्प होने से तीनरूप होते है।

सोऽप। अपदाद्योरिति। सूत्र में सौत्र होने से एक वचन है।

अनव्ययव्येति। यहाँ अस्ययीभाव से अतिरिक्त अव्याय का ही व्याख्यान से ग्रहण है भाष्य में अव्ययी भाव के अव्यत्व में लुड्मुखस्वरोपचारा ही प्रयोजन कहे है इसी से 'उपपयस्काम्यति' में सत्व सिद्ध होती है यह अव्ययी भावश्च के भाष्य में स्पष्ट है। गीः काम्यतीति। यह 'वाः काम्यति' का उपलक्षण है।

इणः षः (८।३।३९)। 'इदुदुपधस्य' (८।३।४१) इत्यस्यासिद्धत्वात् 'सर्पिष्पाशम्' इत्यादौ सत्वनिवृत्त्यर्थं, 'गीष्पाशं' 'दोष्कल्पम्' इत्याद्यर्थञ्चेदम्। अत्रानव्ययस्येत्यपदादाविति काम्ये इति च सम्बद्धयते। तेनोच्चैःकल्पं, दोः पश्य, गीः काम्यतीत्यादौ षत्वं न। अत एवात्र प्रकरणे सर्वत्र सत्वमेव

विधेयमिण उत्तरस्य विसर्गस्थानिकसस्यानेन षत्वमिति भाष्योक्तपक्षान्तरं सङ्गच्छते। विसर्जनीयस्थानिकेत्युक्त्या 'पुंस्पुत्रः' इत्यादौ न दोषः। तत्र हि मस्थानिकः सः। अत्र विसर्जनीयस्येत्यनुवृत्त्यैतदर्थलाभः। अनव्ययस्येत्यादि त्वत्र पक्षेऽत्र न सम्बद्ध्यते। तेन 'द्विष्कृतं' 'दुष्काम्यति' इत्यादौ षत्वसिद्धिः। गीः काम्यतीऽत्यादौ सकाराभावादेव न दोषः। अपदादाविति च न सम्बद्ध्यते। तेन 'दुष्करोति' इति षत्वसिद्धिः। परन्त्वयं पक्षो-(३) ऽसङ्गतः उत्तरसत्वस्यासिद्धत्वेन 'निष्कृतम्' इत्यादौ षत्वासिद्धेः। 'प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं न योगे योगः' इति पक्षस्तु (१) नास्त्येव ज्ञापकासम्भवादिति 'उपसर्गादसमासेऽपि' (८।४।१४) इत्यत्र निरूपयिष्यामः। विसर्जनीयस्यैव षत्वमिति मूलोक्तपक्षे तु सकारषकारयोः स्वरितत्वेऽपि यथायोगं सम्बन्धो मण्डूकप्लुत्येत्यन्यत्र विस्तरः।

'इदुदुपधस्य' के असिद्ध होने से 'सर्पिष्पाशम्' इत्यादि में सत्व निवृत्ति के लिये है 'गीष्पाशं' 'दोष्कल्पम्' इत्यादि के लिये है। यहाँ अनन्ववयस्य अपदादाव और काम्ये का सम्बन्ध है इससे उच्चैः कल्पं दोः पश्य गीः काम्यतइत्यादि में षत्व नहीं होता है। इसी से इस प्रकरण में सर्वत्र सत्व ही करना चाहिए इण् से उत्तर विसर्ग स्थानिक सकार को इससे षत्व होता है यह भाष्योक्त पक्षान्तर भी संगत होता है। विसर्ग स्थानी कहने से 'पुँस्पुत्रः' में नहीं होता है क्योंकि यहाँ मकार के स्थान वाला सकार है यहाँ विसर्जनीय की अनुवृत्त से इस अर्थ का लाभ है। अनव्ययस्य इत्यादि का तो इस पक्ष में यहाँ सम्बन्ध नहीं होता है इससे 'द्विवकृतं' दुष्काम्यति इत्यादि में षत्व सिद्ध होती है। गीः काम्यत इत्यादि में सकार के न होने से ही दोष नहीं है। अपदादाव का सम्बन्ध नहीं होता है। इससे दुष्करोति में षत्व सिद्ध होती है परन्तु यह पक्ष संगत नहीं है उत्तर षत्व के असिद्ध होने से निष्कृतम् इत्यादि में षत्व सिद्ध नहीं होगी। प्रकरण में प्रकरण असिद्ध नहीं होता है। और योग में योग यह पक्ष तो नहीं है। क्योंकि इसमें ज्ञापक मिलना असम्भव है इसका निरुपण उपसर्गादसमासे में करेंगे। विसर्ग को षत्व होता है इस मूलोक्त पक्ष में तो सकार और षकार में स्वरितत्व होने पर भी मण्डूक प्लुत से यथागोग सम्वन्ध कर लेना।

नमस्पु (८।३।४०)। इत उत्तरमपदादाविति न सम्बद्धयते, (२) व्याख्यानात्। साक्षात्प्रभृतित्वादिति। ऊर्यादित्वान्दतित्वं, स्वरादिपठितस्य तु गतित्वाभावः, तेन साक्षात्प्रभृतिषु च्व्यर्थवचनेऽपि न क्षतिरित्यन्ये। इदुदु (८।३।४१)। अप्रत्यस्येति पर्युदासो लाघवात्। तत्र प्रत्ययपदं तत्सम्बन्धिपरं, तेन प्रत्ययसम्बन्धिभिन्नस्येत्यर्थः। अत एव 'कविभिः कृतम्' इत्यादौ न षत्वम्। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये इत्य(३)न्यत्र विस्तरः।

एकादेशशास्त्रेति । एकादेशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्जनीयस्यैकादेशशास्त्रनिमित्तकत्वं बोद्धयम् । स्पष्टञ्चेदमत्र सूत्रे, 'उरण् रपरः' (१।१।५१) इति सूत्रे च भाष्ये इत्यन्यत्र विस्तरः । प्रत्ययभिन्नसम्बन्धिन इति तु नार्थः । 'अग्निः करोति' इत्यादावपि प्रत्ययभिन्नसमुदायसम्बन्धित्वेन (१) षत्वापत्तेः । तपरकरणं किम् ? गीः करोति । उपधाग्रहण व्यर्थम् 'उपधा ग्रहणं न करिष्यते, इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्यामः' इति हयवरट्सूत्रभाष्योक्तेः ।

इसमें उत्तर अपदादाव का व्याख्यान से सम्बन्ध नहीं होता है नारायणं नमस्कृत्य इत्यादि लक्ष्य दर्शन ही व्याख्यान ही प्रमाण है। साक्षात्प्रभृतित्वादिति। ऊर्यादि होने से गत संज्ञा होती है। स्वरादि में पाठ वाले को गत् संज्ञा का अभाव है इससे साक्षात् प्रभृति में चव्यर्थ वचन मानते में भी कोई आपत्ति नहीं है।

इदुदु । अप्रत्य लाघव से पयुदात्त है। वहाँ प्रत्यय पद प्रत्यय सम्बन्धी को कहता है इससे प्रत्यय सम्बन्धी से भिन्न अर्थ का लाभ होता है। उक्तअर्थ करने से कविभिः कृतम् इत्यादि में षत्व नहीं होता है यह भाष्य में स्पष्ट है।

एकादेशशास्त्रेति । ऋषिउत् एकादेश शास्त्र विहित रेफ के स्थान में होने से विसर्ग को एकदेश शास्त्र निमित्तिकत्व है यह सूत्र में तथा उरण् रपरः के सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है प्रत्यय से भिन्न सम्बन्धी को हो यह अर्थ है क्योंकि 'अग्नि. करोति' में प्रत्यय भिन्न समुदाय के सम्बन्धी होने से षत्व होने लगेगा। तपरकरण के अभाव में गीः काम्यत में दोष था। उपधाग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है। उपधाग्रह्य इत्यादि हयवरट् सूत्र का भाष्य प्रमाण है।

तिरसोऽन्य (८।३।४२) । अत्र प्रतिग्रहणं नानुवर्त्तते, पराभवे तिरस्कारशब्दप्रयोगात् । अन्तर्धाविव तिरसो गतित्वात् ।

द्विस्त्रि (८।३।४३) । 'कृत्वोऽर्थ' इति न विसर्गविशेषणं चतुःशब्देऽसम्भवात्, किन्तु द्विरादीनामित्याह—वर्तमानानामेषामिति । 'इसुसोः' (८।३।४४) इतिसूत्रवक्ष्यमाणरीत्या (२) 'सुचः' इति सूत्रयितुमुचितम्, सुजन्तान्तस्य पदस्येत्यर्थात् । चतुष्कपाल इति । 'इदुदुपधस्य' (८।३।४१) इति । नित्यं षः चतुःशब्दोऽव्युत्पन्न इति अप्रत्ययस्येति पर्युदासो न । अत एव 'चतुष्पाद्भयो ढञ्' (४।१।१३५) इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते । चतुष्पञ्चाशत्' इत्यत्रापि षत्वं भवत्येव । न चेदुदुपधस्य सस्य यो विसर्ग इति हयवरट्सूत्रभाष्योक्तेः कथमत्र षत्वमिति वाच्यम्; विसर्गस्य पाठाभावेनोपधात्वासम्भवात्तत्स्थानिनिमित्तमुपधात्वं ग्राह्यमिति भाष्यतात्पर्यात् ।

अत एव 'समः सुटि:' (८।३।५) इति सूत्रभाष्ये 'सम्पुङ्कानाम्' (का० वा०) इत्यनेन रुविधिरेवास्त्वित्याशङ्क्य 'पुंस्कामा' इत्यत्र षत्वापादनं सङ्गच्छते।

यहाँ गत ग्रहण की अनुवृत्ति नहीं होती है क्योंकि पराभाव में भी तिरस्कारशब्द का प्रयोग होता है और तिरस की गतसंज्ञा अन्तर्ध में ही होती है।

कृत्वोऽर्थ विसर्ग का विशेषण नहीं है क्योंकि चतुः शब्द में सम्भव नहीं है किन्तु द्वि आदि का ही है वर्तमानानामेषामिति। इसुसोः सूत्र में कही जाने वाली रीति से 'सुचः' सूत्र करना ही उचित है उसका अर्थ सुजन्त पद है। चतुष्कपाल इति। इदुदुपधस्य से नित्य 'ष' होता है चतुः शब्द के अव्युत्पन्न होने से अप्रत्ययस्य पर्युदास प्रवृत्त नहीं होता है इसीसे चतुष्पाद्भयो ढञ् यह निर्देश भी संगति होता है चतुष्पञ्चाशत में भी षत्व भी होगा। इकार, उकार है उवधा में जिसके ऐसा जो सकार उसके विसर्ग को इत्यादि हयवरट् सूत्र के भाष्यानुसार यहाँ षत्व किसी प्रकार होता है इस शंका का उत्तर करते है विसर्ग का पाठ न होने से उसमें उपधात्व सम्भव नहीं है इसलिये विसर्ग के स्थानी का उपधा ग्रहण करना यह भाष्य का तात्पर्य है इसीसे समः सुटि सूत्र के भाष्य में 'सम्पुङ्कानाम्' से रूविधान ही ठीक है ऐसी आशंका कर पुंस्कामा में षत्व का आपादन भी संगत होता है।

न च कृत्वोऽर्थे विद्यमानस्य पदस्येदुदुपधस्य यो विसर्ग इत्यर्थान्न 'पञ्चकृत्वः करोति' इत्यादौ दोषो, नापि 'चतुष्करोति' इत्यादावव्याप्तिरिति द्विस्त्रिश्चतुरिति व्यर्थमिति वाच्यम्, कृत्वोऽर्थे इत्यस्यासिद्धत्वेन चतुःशब्दे 'इदुदुपधस्य' (८।३।४१) इति नित्यषत्वापत्तेः। 'प्रकरणे प्रकरणमसिद्धम्' इति पक्षस्तु 'उपसर्गादसमासेऽपि' (८।४।१४) इति सूत्रे कैयटे 'पूर्वपदात्' (८।१।१३) इति सूत्रे भाष्ये च (१) दूषित एव। 'उपसर्गात्' (८।३।१०३) इति सूत्रे चोपपादयिष्यते। किञ्च पूर्वत्रेति पूर्वशब्देन प्रकरणग्रहणेऽव्यवहितप्रकरणे एव त्रिपाद्यसिद्धत्वं स्यात्, न सम्पूर्णसपादसप्ताध्याय्याम्। (२) किञ्चास्याधिकारत्वाप्रतिसूत्रमुपस्थित्या प्रतियोगमसिद्धत्वं (३) दुर्वारमित्यन्यत्र विस्तरः।

अब यहाँ शंका करते है कि कृत्वोर्थ में विद्यमान पद इदुदुपध के जो विसर्ग अर्थ से पंञ्चकृत्वः करोति इत्यादि में दोष नहीं है और चतुष्करोति में अव्याप्ति भी नहीं है फिर द्विस्त्रिश्चु सूत्र व्यर्थ है उत्तर कृत्वोर्थ के असिद्ध होने से चतुः शब्द में इदुदुपधस्य से नित्य षत्व होने लगेगा। प्रकरणे प्रकरणम सिद्धम् इत्यादि पक्ष भाष्य में दूषित है और पूर्वत में पूर्व शब्द से प्रकरण के ग्रह्य करने से अव्यबहित प्रकरण में ही त्रिपादी असिद्ध होगा। सम्पूर्ण सपादसप्ताध्यायी में नहीं होगा और इसके अधिक होने से

प्रतिसूत्र में इसके असिद्ध होने से प्रतिसूत्र में उपस्थित होने से प्रतियोग में असिद्धत्व दुर्वार होगा।

इसुसोः (८।३।४४)। अत्रेसुसोः (४) प्रातिपदिकावयवयोर्ग्रहणम्। तेन 'पेचुः काष्ठैः' 'सख्युः पाकः' 'कविभिः कृतम्' इत्यादौ षत्वं न। 'नित्यं समासे' (८।३।४५) इति सूत्रोदाहरणे समासविषये तयोरेव सम्भवेनार्थाधिकारानुरोधात् (५) साहचर्याच्च। इसुसन्तपदावयवविसर्गस्येत्यर्थः पदस्येत्यधिकारात्। न च प्रत्ययग्रहणपरिभाषया 'परमसर्पिष्करोति' इत्यादौ (६) षत्वानापत्तिरवयवस्येसुसन्तत्वेऽपि (७) 'उत्तरपदत्वे च' इति निषेधेनापदत्वादिति बाच्यम्, अनुत्तरपदस्थस्येति निषेधेन क्वचिदुपात्तविशेष्यसत्त्वेऽपि (८) शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तविधिज्ञापनेन शब्दरूपं विशेष्यमादाय प्रत्ययग्रहणपरिभाषया लब्धतदन्तार्थकस्य पदविशेषणतया (१) इसुसन्तान्तस्येत्यर्थेनादोषात्। अत एव 'बनोरच' (४।१।७) इत्यादौ (२) न दोषः। 'ब्राह्मणस्य' 'सर्पिष्करोति' इत्यादौ सापेक्षत्वेनासामर्थ्यं नाशङ्क्यं; तस्यै (३) कार्थीभावसामर्थ्यविषयत्वात्। (४) 'अधात्वभिहितं समानाधिकरणमसमर्थवत्' इत्युक्तेः 'सर्पि कालकम्' इत्यादौ न षत्वम्। अधात्वभिहितमित्युक्तेः 'सर्पिष्पीयते' इत्यत्र षत्वसिद्धिः (५) धातुसहचरितप्रत्ययाभिहितार्थेन (६) समानाधिकरणसमर्थवन्नेति तदर्थः।

यहाँ इस् उस् प्रातिपदिक के अवयव ही लेना तात्पर्य यह है कि इस् के साहचर्य से उस् तिङ् के अवयव से भिन्न लेते है। उसी प्रकार उस् के साहचर्य से इस् भी सुप् का अवयव लेते हैं। इसी से पेचुः कापठैः, सख्युः पाकः, कविभिः कृतम् इत्यादि में षत्व नहीं होता है। 'नित्यंसमासे' सूत्र के उदाहरण में समास के विषय में उनका ही होना सम्भव है अर्थाधिकार के अनुरोध से और पूर्वोक्त साहचर्य से इसन्त और उसन्त जो पद उसके अवयव विसर्ग को षत्व हो यह अर्थ है। क्योंकि यहाँ पदस्य का अधिकार है। प्रत्यय ग्रहणोपरिभाषा से परमसर्पिष्करोति इत्यादि में षत्व नहीं होगा यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अवयव के इसन्त, उसन्त होने पर भी उत्तरपदत्वे से निषेध होने से पदत्व का अभाव है यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि अनुत्तर पदस्य के निषेध से कहीं उपस्थित विशेष्य के होने से भी तदादि रूप शब्दस्य स्वरूप को विशेष्य मानकर तदन्तविधि ज्ञापन करने से शब्दस्य रूप को विशेष्य मानकर प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से प्राप्त तदन्त अर्थ वाले को पद का विशेषण मानकर इससान्तस्ण इत्यादि अर्थात् इसन्त, उसन्त जो तदादि तदन्त जो पद उसको हो इसीसे 'वनोरच्' इत्यादि में भी दो तदन्तविधि मानने से दोष नहीं है। ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोति इत्यादि

में सापेक्ष होने से असामर्थ्य की शंका नहीं करना। क्योंकि वह एकार्थीभाव सामर्थ्य के लिए है। क्योंकि अधात्वभिहित इत्यादि कहने से सर्पिःकालकम् में षत्व नहीं होता है। अधातुभिहितम् कहने से सर्पिष्पीयते में षत्व सिद्ध होता है। धातु के साथ रहने वाली प्रत्यय से उक्त अर्थ से सामानाधिकरण असमर्थ की तरह नहीं होता है।

यदा तु सर्पिरादिकमव्युत्पन्नं प्रातिपदिक पाणिनेरुणादिष्वव्युत्पत्ति-पक्ष एवेति 'आयनेयीनी' (७।१।२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमुक्तेः। तत्र हि 'शंखः' इत्यादावादेशानाशङ्क्य 'उणादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः प्रातिपदिक-विज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्' इत्युक्तम्। 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' इति सूत्रं व्याकरणान्तररीत्यैव, सर्वनामस्थानमिति महासञ्ज्ञावत्। अत एव भाष्ये—'उणादयोऽव्युत्पन्नानि' इत्येवोक्तं; न तु 'अनेकार्था अपि धातवः' इतिवदव्युत्पन्नान्यपीत्युक्तं, तदा 'इदुदुपधस्य' (८।३।४१) इति नित्ये षत्वे प्राप्तेऽनेन विकल्प इति प्रत्ययग्रहणाभावात्तत्परिभाषनुपस्थितेः 'परमसर्पिष्करोति' इत्यादौ षत्वविकल्पः सिद्धः। 'नित्यं समासे' (८।३।४५) इति सूत्रमनुत्तरपदस्थस्येति प्रतिषेधार्थम्। नित्यग्रहणं तु न कर्त्तव्य-मेव। समासे नित्यषत्वस्य 'इदुदुपधस्य' (८।३।४१) इत्येव सिद्धेः। 'सर्पिषा' इत्यादौ षत्वं त्वत्र पक्षे क्वचिदन्यदेवेत्यर्थकाद् बहुलग्रहणादिनि स्पष्टं भाष्ये। व्यपेक्षेति। (१) व्याख्यानात्। एकार्थीभावसामर्थ्यग्रहणे 'परम-सर्पिः कुण्डिका' इत्यादौ समासे विकल्पापत्तिः। अनुत्तरपदस्थस्येति निषेधादुत्तरसूत्रस्य न प्रवृत्तिरिति भावः।

जब सर्पि आदि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है और पाणिनि को उणादि में अव्यु-त्पन्ति पक्ष ही है। यह 'आयनेयीनी' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट ही कहा है। भाष्य में शंङ्कः इत्यादि में इणा देशा की आशंका कर उणादियों को प्रतिषेध कहना चाहिए और प्रातिपदिक के विज्ञान से भगवान पाणिनिको सिद्ध हैं।

'आयान्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' सूत्र अन्य व्याकरण की रीति से है। जैसे सर्वनाम-स्थान महासंज्ञा है। इसी से भाष्य में उणादअव्युत्पन्न है। यहीं कहा "अनेकार्था अपि घातव" धातु अनेकार्थक भी होते है। इसी तरह अव्युत्पन्न भी होते हैं, कहा है। तब इदुदुपधस्यसें नित्यषत्व प्राप्त था इससे विकल्प से होता था। प्रत्यय ग्रहण न होने से प्रत्यय ग्रहण की परिभाषा की अनुपस्थित के कारण परमसर्पिष्करोति में विकल्प से षत्व होता है 'नित्यं समासे' में अनुन्तरपदस्यस्य निषेध के लिए है नित्य ग्रहण तो करना ही चाहिए। समास में नित्य षत्व इदुदुपधस्य से ही सिद्ध है। इस पक्ष में सर्पिषः इत्यादि में षत्व तो कहीं अन्य ही होता है। व्यपेक्षेति। उत्तरसूत्रमें समास ग्रहण

के होने से यहाँ व्ययपेक्षा का ग्रहण है। क्योंकि यहाँ समास में एकार्थी भाव होता है। एकार्थीभाव सामर्थ्य के ग्रहण में परमसर्पिः कुण्डिका इत्यादि में समास में विकल्प लगेगा। अनुन्तर पदस्यस्य के निषेध से उत्तर सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी।

नन्वनेनैव सिद्धे कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दपाठो व्यर्थ इत्यत आह—कस्कादिष्विति। एतेन तत्सामर्थ्यादुत्तरपदस्थस्यापि [२] षत्वमित्यपास्तम्। व्यपेक्षाविरहेऽपीति। 'आनय सर्पिः, कुण्डिका तिष्ठति' इत्यादौ। व्यपेक्षायामिति। 'इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः' इत्यत्र। प्रत्ययभिन्नविसर्गस्येत्यर्थम् 'इदुदुपधस्य' [८।३।४१] इत्यत्र व्याचक्षाणानां व्याख्यादर्शकृतां मतेऽव्यपेक्षायां तेन सिद्धेरिति भावः। एतेन कस्कादिपाठस्याव्यपेक्षायां चारितार्थ्येन व्यपेक्षायां तस्यासिद्धत्वा [३] द्विकल्प एवोचित इत्यपास्तम्। प्रत्ययसम्बन्धिभिन्नविसर्गस्येत्यर्थे तु तदप्राप्तिरेवेति व्यपेक्षायां विकल्प एवेति बोद्ध्यम्।

अतः कृ (८।३।४६) कृशब्देन (१) तदादिग्रहणं, समासाक्षिप्तोत्तरपदस्य विशेष्यत्वात्। 'विष्वग्देवयोः' (६।३।९२) इति सूत्रे वप्रत्ययग्रहणेन (२) धातो (३) र्विशेषणत्वे तदादिविधिज्ञापनात्। 'अयस्कुम्भी' इत्यादौ लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सत्त्वं बोद्धयम्।

भाष्कर इति। तपरकरणात् 'अतः कृः' (८।३।४६) इत्यस्याप्राप्तिः।

॥ इति विसर्गसन्धिः ॥

इससे ही सिद्ध था फिर कस्कादि में सर्पिष्कुण्डिका शब्द का पाठ व्यर्थ है। इसका उत्तर करते हैं। कस्कादिष्विति। उक्त प्रमाण में गण् में पाठ होने के कारण उत्तरपदस्य को षत्व होता है। यह व्यर्थ है। व्यपेक्षाविरहेऽपीति। आनयसर्विण्कुण्डिका तिष्ठति इत्यादि में व्यपेक्षायामिनि। इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः उदाहरण है 'इदुदुपधस्य' का प्रत्यय भिन्न विसर्ग को षत्व हो इस व्याख्या दर्शोक्त अर्थ में अव्यपेक्षा में 'इदुदुपधस्य' से षत्व सिद्ध है। इससे कस्कादि में पाठ व्यपेक्षा में चरितार्थ होने से व्यपेक्षा में उसके असिद्ध होने से विकल्प ही उचित है ऐसा कहने वाले परास्त है। प्रत्यय के सम्बन्धी से भिन्न विसर्ग को षत्व हो इस अर्थ में तो उसकी प्राप्ति होने से व्यपेक्षा में विकल्प से ही षत्व होता है।

अतः कृ। समास से अक्षिप्त उत्तरपद के विशेष्य होने से कृ शब्द से तदापि ग्रहण होता है। क्योंकि 'विष्वग्देवयोः' सूत्र में अप्रत्यय ग्रहण से धातु के विशेषण होने पर तदापि विधि का ज्ञापन होता है। अयस्कुम्भी इत्वादि लिंग विशिष्ट परिभाषा से षत्व होता है। भाष्करइति तपरकरवो से 'अतः कृ'। इसकी प्राप्ति नहीं है।

॥ स्वादि संधि प्रकरणम् ॥

यत्तु स्वौजसित्यत्र रुरेव पाठ्यः, सर्वत्र सुग्रहणे रुग्रहणमेवास्त्विति । तन्न, 'यशोऽत्र' इत्यादौ रोरसिद्धत्वाद् (४) त्वानापत्तेः, 'अतो रोः' (६।१।११३) इत्यस्य प्रथमैकवचने चारितार्थ्यात् । तद् ध्वनयन्नाह—स्वौजसेति । पदस्येत्यनुवृत्तं ससजूभ्यां विशेष्यते, तेन तदन्तविधिः । आदेशस्त्वलोऽन्त्यस्येत्यन्त्यस्य । तत्फलितमाह—पदान्तस्येत्यादिना । 'सजूः' इत्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन सिद्धिः । 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रपातिपदिकेन' (प० भा०) 'ग्रहणवता प्रतिपादिकेन तदन्तविधिर्न' (प० भा०) इति परिभाषाद्वयं (१) प्रत्ययविधिविषयमिति 'असमासे निष्कादिभ्यः' (५।१।२०) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । इदञ्जश्त्वापवादः । 'श्रेयान्' इत्यादौ रुत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोप एवेति दिक् । यत्वस्यापवाद इति । यदीदं न स्यात्तर्हि यत्वं प्राप्नोतीत्येतावता । कृते त्वस्मिन् यत्वस्यासिद्धत्वादुत्वगुणयोर्यत्वाप्रासिरेवेति भावः ।

प्रथमयोः (६।१।१२०) । (२) व्याख्यानात् प्रथमयोरित्यनेन प्रथमाद्वितीयारूप (३) सुब्विभक्तयोर्ग्रहणम् । तदाह—प्रथमाद्वितीययोरिति । पूर्वग्रहणं किम् ? 'अग्नी' इत्यत्र पक्षे परसवर्णो मा भूदिति । दीर्घग्रहणं तु त्रिमात्रस्य स्थानिनस्त्रिमात्रो मा भूदिति । सवर्णग्रहणं तु स्पष्टार्थम् । पूर्वस्या (१) ऽदीर्घत्वात् पूर्वजातीय इत्यर्थेनेष्टसिद्धेरिति स्पष्टं भाष्ये । आद्गुण इति । 'तौ सत्' (३।२।१२७) इति निर्देन भ्रष्टावसरन्यायस्यात्र शास्त्रे (२) ऽनाश्रयणादिति भावः ।

किसी का कथन है कि स्वौजस के स्थान में रु का पाठ ही उचित हैं। सुपिच् के स्थान में आपिच् करने से रामः में दीर्घ नहीं होगा परन्तु रु करना ठीक नहीं है क्योंकि 'यशोऽत्र' इत्यादि में रुत्व के असिद्ध होने से उत्व नहीं होगा। 'अतो रोः' प्रथमा के एकवचन में चरितार्थ है इसको स्पष्ट करके कहते हैं। स्वौजसेति। अनुवृत्तिपदस्य ससजू से विशेषित होता है। इससे तदन्त विधि होती है। आदेश तो अलो-त्यस्य से अन्त को होता है। फलित कहते हैं। पदान्तेस्येत्यादिना। सजू में व्यपदेशिवद्भव से कार्य होगा। व्यपदेशिवद्भावोप प्रातिपदिकेन और ग्रहणवता परिभाषा प्रत्ययविधि

विषय में प्रवृत्ति होती है। यह "असमासे निष्कादिभ्य" के भाष्य में स्पष्ट है। प्रत्यय विशिष्ट विधायक से सतिप्रत्ययधिकारघटित्वम् प्रत्ययविधित्वम् वैशिष्टत्वम् स्वतादात्म्य स्वनिष्ठोद्देश्यता निरूपित विधेयता सयत्व अन्यन्तरसम्बन्ध से प्रथम सम्बन्ध का फल गर्गादिभ्योइज् इत्यादि है। द्वितीय का फल 'नान्तादसंख्यादेः क्योंकि यह ड्ट प्रत्यय को उद्देश्य करके मट् का विधान करता है इसी से पंचमा की सिद्ध होती है। यह जश्त्व का अपवाद है श्रेयानित्यादि में तो इसके असिद्ध होने से संयोगान्त लोप ही होता है। यत्वस्यापवादइति। यदि यह नहीं होता तो यत्व प्राप्त होता। इस प्रकार की सम्भावना से ही इसके करने पर यत्व के असिद्ध होने से उत्व और गुण के होने से यत्व की प्राप्ति नहीं है।

प्रथमयोः। व्याख्यान से प्रथमयोः से प्रथमा द्वितीया सुप् विभक्ति का ही ग्रहण है। इसमें 'दीर्घाज्जसि च' प्रमाण है। लिखा है प्रथमाद्वितीयोरिति। पूर्व ग्रहण का फल है कि अग्नी के पक्ष में पर सवर्ण न हो दीर्घग्रहण का फल है कि तीन मात्रा वाले स्थानी के स्थान त्रिभात्रिक न हो सवर्ण ग्रहण स्पष्टार्थ है। क्योंकि पूर्व को दीर्घ का अभाव है। पूर्वजातीय अर्थ करने से इपर सिद्ध है यह भाष्य में स्पष्ट है। आद्गुण इति। 'तौ सत्' निर्देश से भ्रष्टावसरन्याय का इस शास्त्र में आश्रयण नहीं होता है। वास्तव में भ्रष्टावसरन्याय का इस शास्त्र में विषय ही नहीं है।

देवदत्तहन्तृहतन्यायस्य तु [३] नात्र प्रवृत्तिः। देवदत्तहन्तृहनने हि नोज्जीवनं, [४] देवदत्तहननप्रसक्तहनने त्वस्त्वेय देवदत्तजीवनं, प्रकृते, तु न हननस्थनीया वृद्धिहन्तुः पूर्वसवर्णदीर्घस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः, किन्तु हननोद्यमसजातीयं प्रसक्तिमात्रं, प्रसक्तस्य निषेधे बाध्योज्जीवने न बाधकमिति। स्पष्टं चेदं 'स्वादिषु' (१।४।१७] इति सूत्रे कैयटे।

सुस्रोत इति। सुस्रोतस्शब्दः कस्यचित्सञ्ज्ञा। सम्बुद्धौ 'दूराद्धूते च' [८।२।८४] इति प्लुतः। तत्सामर्थ्यादिति। प्रतियोगित्वेन तदाश्रयणसमर्थ्यादित्यर्थः, (५) आश्रयात्सिद्ध इति भाष्योक्तेः। पयस्यटति पयो ददातीत्यर्थे 'आगच्छ हे पयो३ट्' 'आगच्छ हे पयो३द्' इत्यादावेकपदस्थवर्णद्वयसापेक्षमन्तरङ्गमुत्वं प्रति वाक्यसम्पादकपदान्तरसापेक्षप्लुतस्यासिद्धत्वाद् [१] त्वे प्लुतसिद्धिः। अन्यथा प्लुतस्योत्वदृष्ट्या सिद्धत्वात्परत्वात् प्लुते आद्येऽप्लुतपरत्वाभावादन्त्येऽप्लुतात्परत्वाभावादुत्वं न स्यात्। परिभाषादृष्टया बहिरङ्गासिद्धत्वेऽपि न क्षतिः। स्वदृष्टयाऽसिद्धस्यापि परं प्रत्यसिद्धत्वप्रतिपादनसम्भवात्, स्वदृष्टयाऽविद्यमानस्य परं प्रत्यविद्यमानत्वप्रतिपादनवत्। अन्तरङ्गस्यासिद्धत्वे तु प्रतिपाद्याभावे इव कं प्रत्यसिद्धत्वं

प्रतिपाद्येत। तत्राद्ये 'वाक्यस्य टेः' [८।२।८२] इत्यट्शब्दाकारः प्लुतः, अन्त्ये रेफदकारसंयोगपरत्वेनाकारस्य गुरुत्वात् 'गुरोः' [८।२।८६] इति प्लुतः। आश्रयेण तु येननाप्राप्तिन्यायेन [२] प्रत्यक्षत्वेन च पूर्वत्रासिद्धत्वमेव बाध्यते न त्विदम्। 'सुस्रोतः' इत्यादौ त्वेकवाक्यमात्रसापेक्षत्वात् प्लुतोऽन्तरङ्गो, भिन्नवाक्यस्थाकारसापेक्षत्वादुत्वं बहिरङ्गमिति स्पष्टं भाष्ये। उकारानुबन्धेति। उकारेत्सञ्ज्ञकरेफस्येत्यर्थ [३] इति भावः तेन 'देव रुहि' इत्यादौ न दोषः।

यहाँ देवदत्त हन्तृहतन्याय का तो यहाँ विषय ही नहीं है देवदत्त के मारने वाले को मारने से उज्जीवन नहीं होता है। देवदत्त को मारने के लिए उदस्त को मारने से तो उज्जीवन है प्रकृत में भी वृद्धि को मारने के लिये पूर्व सवर्ण दीर्घ चला कि नादिच ने उसको नष्ट कर दिया। तब वृद्धि का हनन नहीं हुआ जैसा कि लिखा है कि प्रकृत ने तो हनन स्थानीय वृद्धि को हनन करने वाले पूर्वसवर्ण दीर्घ की लक्ष्य में प्रवृत्ति नहीं होती है। किन्तु मारने के उद्योग की तरह प्राप्तिमात्र है। उसके निषेध होने से बाध्य के उज्जीवन में कुछ बाधक नहीं है यह 'स्वादिषु' के कैयट में स्पष्ट है।

सुस्रोत इति। सुस्रोत स् शब्द किसी की संज्ञा है। संबुद्ध में 'दूराद्धूते च' प्लुत है। तत्सामर्थ्यदिति। प्रतियोगी के रूप में प्लुत के आश्रयण करने से जानना अर्थात् अप्लुत में प्रतियोगी प्लुत है आश्रय असिद्ध है ऐसा भाष्यकार ने कहा है पयस्यटति और पयोददाति इस अर्थ में 'आगच्छ हे पयो३ट्' 'आगच्छ हे पयो३द' इत्यादि एक पद में स्थिति दो वर्णों की अपेक्षा करने से अन्तरंग उत्व के प्रति वाच्य सम्पादक अन्य पद की अपेक्षा करने वाले प्लुत के असिद्ध होने से उत्व करने पर प्लुत की सिद्ध होती है नहीं तो उत्व की दृष्टि में प्लुत के सिद्ध होने में पर प्लुत होने पर प्रथम पयोट् अप्लुत से परे न होने से उत्व नहीं होगा। परिभाषा की दृष्टि में बहिरंग सिद्धत्व होने पर भी क्षति नहीं है। अपनी दृष्टि से असिद्ध का भी पर के प्रति असिद्धत्व का प्रतिपादन सम्भव है अन्तरंग के असिद्ध होने में तो प्रतिपाद्य के अभाव में किसके प्रति असिद्धत्व प्रतिपादन किया जाय ? प्रथम में वाक्यस्य टेः से अट् शब्द का अकार लुप्त होता है अन्त्य में रेफदकार के संयोग परे होने से अकार के गुरु होने से 'गुरोः' से प्लुत होता है। आश्रय से तो प्रत्यक्षत्वेन ना प्राप्ति न्नाय से पूर्वत्रासिद्धमं का ही बाध्य होता है। इसका नहीं होता सुस्रोत इत्यादि में तो केवल एक वाक्य के सापेक्ष होने से प्लुत अन्तरंग है।

भोभगो (८।३।१७) 'रोः सुपि' (८।३।१६) इत्यतो रोरिति वर्त्तते; न तु 'रो रि' (८।३।१४) इत्यतो र इति, 'प्रातरत्र' इत्यादावतिप्रसङ्गात्। अशब्दान्तद्वन्द्वेन पूर्वशब्दस्य बहुव्रीहिमभिप्रेत्याह—एतत्पूर्व-

स्येति । नन्वेवं पूर्वरूपापत्तिरत आह—असन्धिरिति । भगोऽधोशब्दौकारयोरकाराभ्यां प्राप्तपूर्वरूपात्मकसन्धिकार्याभाव इत्यर्थः । इदं प्राचामनुरोधेन । वस्तुतः सूत्रे (१) रान्तानामेवानुकरणमसन्धिर्न्याय्य एवेति बोद्धयम् ।

न ह्ययमिति । इदम् (२) वाचामनुसारेण । भाष्ये तु (३) रेफस्य (४) विसर्गस्थानित्वेन (५) तद्वृत्तिरुत्वाश्रयमपीदमल्विधिरेव, स्थान्यल्यवृत्तिधर्माश्रयत्वात् । 'अग्रहीत्' इत्यत्र च दीर्घे लोपे च इट्त्वेनैव निवेश इति विशेषः । अतः 'पयःसु' इत्यादौ दोषः । तत्र हि 'रोः सुपि' (८।३।१६) इति विसर्गः । नियमशास्त्राणि च (६) विधायकान्येव वाच्यवृत्त्या । आर्थिकार्थमदाय तु निषेधकानीति । तत्रापि रो रेफस्य विसर्ग इत्यर्थे त्वशग्रहणं व्यर्थमित्युक्तम् । नन्वेवं 'हे राम' इत्यादौ सम्बुद्धयवयस्य हलः सस्य लोपे तद्वृत्तिसुप्त्वस्याल्धर्मत्वेन स्थानिवत्त्वाभावे पदत्वासिद्धिरिति चेत् ? न, आनुमानिकादेशस्य रामेत्यस्य स्थानिवद्भावेन सुबन्तत्वस्य तत्प्रयुक्ताकार्यस्य वा लाभेन (१) तत्सिद्धेः । प्रत्ययलक्षणेनापि न प्रत्ययवृत्तिधर्मलाभः; लक्षणपदोपादानेन प्रत्ययनिमित्तककार्यस्य तन्निमित्तकव्यवहारस्य वाऽतिदेशात् । एवं 'दीर्घाहोः निदाघ' इत्यादौ हल्ङ्यादिलोपे उक्तरीत्या स्थानिनि जायमानस्यासुपीति रत्वनिषेधस्यादेशे दीर्घाहन्शब्देऽतिदेशेन प्रवृत्त्या न रेफ इति (२) दिक् ।

भोभगो । 'रो सुपि' से रो की अनुवृत्ति होती है । 'रोरि' से र की अनुवृत्ति नहीं होती । र की अनुवृत्ति होने से 'प्रातरत्र दोष था । अशब्दान्त द्वन्द्व से पूर्व शब्द को बहुव्रीहि समास समझकर कहते है एतत्पूर्वस्येति । यहाँ पूर्व रूप तो नहीं होता है । क्योंकि सौत्र होने से असन्धि है भगो अधो शब्दों के ओकारों को अकारों से प्राप्त पूर्व रूप सन्धि नहीं होती यह सब प्राचीनो के अनुरोध से है वास्तव में सूत्र में रान्तों का ही अनुकरण है तब तो असंधि न्याय्यी है ।

नह्ययमिति । यह दीक्षित के कथनाऽनुसार है भाष्य में तो रेफ को विसर्ग के स्थानी होने से उसमें वृत्ति रूत्वाश्रय भी यह अल्बिधि ही है क्योंकि स्थानीय रूप अल् में रहने वाले धर्म के आश्रय होते हैं । अर्थात वीनन के मत से अनल्विधौ निषेध हो जायेगा । अल्त्व व्याप्य धर्मावच्छिन्न स्थानिता खरवसानयोः सूत्र की रत्वावच्छिन्ना स्थानिता है तन्निरूपिता आदेशता विसर्ग में है तदाश्रय विसर्ग है तद्धर्मिक आरोप विसर्गा रूत्ववान है । उसका प्रकाशी रूप भुत्व है उस रूत्वधर्म से साक्षाद अवच्छिन्ना उद्देश्यता भोभगो की है वास्तव में प्राचीनों का मत ही ठीक है । धिन्वन्ति में पंचमी समास से स्थानिवत् भाव होने पर तन्निनिमित्तक होने से यण् को बहिरंग

होने से असिद्ध के कारण दोष नहीं है अग्रहित में तो दीर्घ और लोप में इट् ही के स्थानी के होने से विशेषता है इसलिये अस् ग्रहण का फल पयःस्वि है वहाँ रोः सुपि से रू को ही विसर्ग होते हैं वाच्य वृत्ति से नियमशास्त्र विधायक ही होते है आर्थिक अर्थ को लेकर निषेधक भी होते है वहाँ भी रू रकार को विसर्ग मानने पर अस् ग्रहण व्यर्थ हे हे राम इत्यादि में सम्बुद्ध के अवयव हल सकार के लोप होने पर उसमें रहने वाले सुप्त के अल धर्म होने से स्थानिवत् भाव के अभाव में पदत्व की सिद्ध सम्भव नहीं है। इस शंका का उत्तर करते है कि अनुमानिक आदेश का स्थानिवत् भाव करने से सुबन्त या तत्प्रयुक्त कार्य के लाभ से पदत्व की सिद्ध है प्रत्यय लक्षण से भी प्रत्यय वृत्ति धर्म का लाभ नहीं होता है। क्योंकि लक्षण पद के ग्रहण करने से प्रत्यय निमित्तक कार्य या तन्निमित्तक व्यवहार का ही अतिदेश होता है। इसी प्रकार दीर्घा हो निदाध इत्यादि में हल्ङ्यादि लोप करने पर उक्त रीति से स्थानीय में होने वाले असुपि से रत्व के निषेध का आदेश दीर्घहिन शब्द में अतिदेश से प्रवृत्ति होने से रेफ नहीं होता है।

तेषां रोरिति। इदञ्च निपातानाख्याय 'विभाषा भवत्' (का० वा०) इति वार्तिकं प्रत्याचक्षाणस्य वृत्तिकृतो मतेन। परे तु तेषामपि रोरित्यर्थः। अपिना 'विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य' इति वार्त्तिक-निष्पन्नसङ्ग्रहः। एषामन्त्यस्य रुः स्यादवस्य चोकारः सम्बुद्धाविति तदर्थः। अवग्रहण (१)सामर्थ्यात् 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इति नेति बोद्धयम्। वार्त्तिकनिष्पन्नानां त्रयाणां भोस्शब्दनिपातस्य चावश्यकत्वमन्यत्र स्पष्ट-मित्याहुः।

व्योर्लघु (८।३।१८)। यद्यपि वर्णसमाम्नाये यस्य प्राथम्यात्। य्वोरित्युचितं; तथापि 'लोपो व्योः' (६।१।६६) इति लोपवारणाय सौत्र-त्वमाश्रयणीयं स्यात्, अतो व्योरित्युक्तम्। लघुतरः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नतरः। अन्यपदार्थसम्बन्धोत्तरं वर्त्तिपदार्थप्रकर्षविवक्षया (२) साधुः। प्रयत्ने लघुतरत्वं चैषां (३) शैथिल्यजनकत्वमेव। लघूच्चारणा-विति। लघुतरोच्चारणावित्यर्थ। सूत्रे सौत्रत्वादेकवचनम्। वकारोदाहर-णम् 'असावादित्यः' इति वृत्तिः।

तेषांरोरित। यह निपातों को कहकर 'विभाषा भवत्' वार्तिक को प्रत्याख्यान करने वाले वार्तिककार का मत है। नागेश का मत है कि उनमें भी रु को ही यह अर्थ है। अपि से विभाषा इत्यादि वार्तिक से निष्पन्नों का भी संग्रह है। इसमें अन्त्य को रुहो और औ को ओकार सम्बुद्ध में यह अर्थ है अब ग्रहण करने के कारण "अलो-

ऽन्त्यस्य" नहीं लगता। वार्तिक निष्पन्न तीनों को और निपात भोस् शब्द की आवश्यकता अन्यत्र स्पष्ट है।

व्योर्लघु। यद्यपि वर्णसमाम्नाय में यकार के प्रथम होने से य्वोः कहना उचित था तो भी 'लोपो व्योः' से-लोप वारण के लिए सौत्र आश्रयण करना होगा। इसलिए व्योः कहना उचित है। जिसके उच्चारण में प्रयत्न लघुतर है वह लघु प्रयत्नतर है। अन्य पदार्थ के सम्बन्ध के पश्चात् वार्ति पदार्थ की प्रकर्ष विवक्षा में साधु है इनका प्रयत्न में लघुतरत्व शैथिल्य जनकत्व ही है लघूच्चारणाविति। इसका अर्थ है। लघुतर उच्चारण वाले सूत्र में एक वचन सोत्र ही वकार का उदाहरण 'असावादित्य' है।

ओतो (८।३।२०) 'व्योः' इत्यत्र (५) यकारसाहचर्याद्वकारोऽपि धात्वनवयव एव। अत्राप्यर्थाधिकारात्तथैव। तेन (६) 'स्मृतोवाच्युत' इत्यादौ न दोषः, तदाह–यस्येति। तादृशवस्यासम्भवादिति भावः। 'भोभगो' इति तु नानुवर्त्तते विच्छेदात्, तद् ध्वनयन्वक्ष्यति—'पदान्तस्य किं तोयम्' इति। इदं लघुप्रयत्नयोर्न (७) गार्ग्यश्रुतेः, तदाह—अलघुप्रयत्नस्येति पूजार्थमिति। व्याख्यानादिति भावः। तादृशश्च भोसादिपूर्वक एवेत्याशयेनाह—भो अच्युतेति।

भाष्यानुसारिणस्तु—भो इत्याद्यनुवृत्तेः 'स्मृतोत्' इत्यादौ न दोषः, तस्या (८) नभिधानाच्च। 'अपूर्वस्य' इति तु ओत इत्यनेन विरोधान्न सम्बध्यते। 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) इत्येव भोभगो इत्याद्यनुवृत्त्या सिद्धे नित्यत्वार्थमिदमित्याहुः।

ओतो। 'व्योः' में मकार के साहचर्य से वकार भी धातु के अवयव से भिन्न ही है। अर्थाधिकार के कारण यहाँ भी उसी प्रकार का अर्थ लेना। इससे स्मृतोवच्युत इत्यादि में दोष नहीं है। यस्येति। उस प्रकार के वकार सम्भव नहीं है। विच्छेद होने से भोभगो की अनुवृत्ति नहीं होती है। इसी को स्पष्ट करने के लिए 'पदान्तस्य कि तोयम्' कहेंगे। गार्ग्य के श्रवण होने से यह लघु प्रयत्नों को नहीं होता है। इसी से कहा है अलघुप्रयत्नस्येति। पूजार्थमिति। इसमें व्याख्यान ही शरण है। उस प्रकार का भोसादि पूर्वक ही होगा इस आशय से कहते है भो अच्युतेति।

भाष्यानुसारिणों का कथन है कि भो की अनुवृत्ति होने से स्मृतोव् इत्यादि में दोष नहीं है और उसका अनभिधान भी है ओत से विरोध के कारण 'अपूर्वस्य' का सम्बन्ध नहीं होता है भोभगो की अनुवृत्ति कर 'लोपःशाकल्यस्य' से सिद्ध था यह नित्य विधान के लिये है।

भो इत्यादि पूर्व को तो पूर्व से सिद्ध था इससे कहते है अवर्णपूर्वयोरिति। यह भी नित्य है। यहाँ भी गार्ग्य ग्रहण की अनुवृत्ति होने से अलघुप्रयत्न का ही लोप होता है।

उक्त कथन से भो इत्यादि पूर्व में लघुप्रयत्न लोप के लिये यहाँ भी उसकी अनुवृत्ति है वह ठीक नहीं है वकार का उदाहरण 'असा उ एकाग्निः' है। उत्तरार्थमिति। 'ङो ह्रस्वादचि' के लिये है यह उस सूत्र पर ही कह चुके है "हलि सर्वेषाम्" में उसका सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि व्यवहित ङ्म में ही भाष्यकार ने प्रयोजन कहा है। इसी से 'लिट्त्सु' में 'धुडादयः' होते है। नहीं सादिपद के परे अर्थ करने पर न होते इसीसे 'माध्याम्' में 'हलि सर्वेषाम् से लोप सिद्ध होता है।

ऊञि च (८।३।२१) भोइत्यादिपूर्वस्य पूर्वेण सिद्धेराह—अवर्णपूर्वयोरिति। एतदपि नित्यमेव अत्रापि (१) गार्ग्यग्रहणानुवृत्त्याऽलघुप्रयत्नस्यैव लोपः एतेन भोइत्यादिपूर्वे लघुप्रयत्नलोपार्थमत्रापि तदनुवृत्तिरित्यपास्तम्। वकारोदाहरणन्तु 'असा उ एकाग्निः' इति वृत्तिः। (२) उत्तरार्थमिति। (३) 'ङमो ह्रस्वादचि' (८।३।३२) इत्यर्थमित्यर्थः। एतत्तत्रैव निरूपितम 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इत्यादौ तु न सम्बद्ध्यते; व्यवहिते ङ्म इत्यत्रैव प्रयोजनकथनपरभाष्यप्रमाण्यात्। अत एव 'लिट्त्सु' इत्यादौ धुडादयः। अन्यथा सादौ पटे इत्यर्थान्न स्युः। अत एव 'माभ्याम्' इत्यादौ 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति लोपसिद्धिरिति दिक्।

भो इत्यादि पूर्व को तो पूर्व से सिद्ध था इससे कहते है—अवर्णपूर्वयोरिति। यह भी नित्य है। यहाँ भी गार्ग्य ग्रहण की अनुवृत्ति होने से अलघुप्रयत्न का ही लोप होता है। उक्त कथन से भो इत्यादि पूर्व में लघुप्रयत्न लोप के लिये यहाँ भी अनुवृत्ति है। वह ठीक नहीं है। वकार का उदाहरण 'असा उ एकाग्निः' है। उत्तरार्थमिति। "ङमोह्रस्वादचि" के लिये है यह उस सूत्र पर ही कह चुके है। "हलि सर्वेषाम्" में उसका सम्बन्ध नहीं होता है। क्योंकि व्यवहित ङ्म में ही भाष्यकार ने प्रयोजन कहा है इसी से 'लिट्त्सु' में 'घुड़ादयः होते है नहीं सादिपद के परे अर्थ करने पर न होते। इसी से 'माभ्याम्' में 'हलिसर्वेषाम्' से लोप सिद्ध होता है।

हलि स (८।३।२२)। 'भोभगो' इत्याद्यनुवर्त्तते तत्रौकारात्परस्य लघुच्चारणस्यैवानेन लोपः अलघूच्चारणस्य तु 'ओत' (८।३।२०) इत्येव सिद्धम्। अपूर्वे तूभयोरपि न चापूर्वालघुप्रयत्ने अस्यासिद्धत्वात् 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) इति प्राप्नोतीति वाच्यम्। लघुप्रयत्नस्यैवानेन लोपे 'व्योः' (८।३।१८) इति सूत्रेऽचीति करणेन हलि विधानाभावेनैव सिद्धावस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्त्या तद्बाधात्। न चालघुप्रयत्नयोरेव लोपः स्यात्, व्योरित्यर्थाधिकारादिति वाच्यम्, ऋषिमात्रग्रहणार्थस्य सर्वेषामित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, विकल्पस्य विच्छिन्नत्वेन नित्यत्वसिद्धेः। अत्र च

यकार एवानुवर्त्तते, न वकारः। वृत्तो तथैवोक्तेः, फलाभावात् अव्यपरे इत्यादिनिर्देशाच्च। अन्यथा तत्र (४) सौत्रत्वाद्याश्रयणीयं स्यात् तदाह— लघ्वलघूच्चारणस्येति।

भोभगो आदि की अनुवृत्ति होती है। ओकार से परे लघुउच्चारण का ही यह लोप करता है। अलघूच्चारण का तो 'ओत' से सिद्ध है अकार पूर्वक तो दोनों का लोप करता है अपूर्व और अलघु प्रयत्न में इसके असिद्ध होने से 'लोपः शाकल्यस्य' की प्राप्ति होगी। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि लघु प्रयत्न वादी यदि इससे लोप होने पर 'व्योः' सूत्र में अच् के करने से हल् के परे विधान के अभाव से ही सिद्ध था फिर इस सूत्र के व्यर्थ होने से उसका बाध होता है अलघु प्रयत्नो का ही यह लोप करता है। व्योः के अर्थाधिकार होने से यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि ऋषिमात्र के ग्रहण के लिये किया गया सर्वेषाम् व्यर्थ हो जायेगा। विकल्प के विच्छिन्न होने से नित्यसिद्ध है यहाँ यकार की अनुवृत्ति होती है। वकार की नहीं। वृत्ति में उसी प्रकार से कहा है फल का भी अभाव है और अव्यपरे निर्देश भी प्रमाण है नहीं तो वहाँ सौत्रत्व का आश्रयण करना ये नहीं कहा है। लघ्वलयूच्चारणस्येति।

न तु सुपीति। पर्युदासे हि सुप्सदृशे प्रत्यये एव स्यात्। एवञ्च 'अहर्भाति' इत्यत्र न स्यात्। यदि तु सुब्भिन्ने शब्दे स्यात्, दीर्घाहो निदाघ' इत्यत्रापि स्यात्। सुबन्तेत्यर्थस्तु न, 'उत्तमैकाभ्याम्' इत्यादिनिर्देशैः सप्तमीनिर्दिष्टे प्रत्यते तदन्तविद्ध्यभाव (१) ज्ञापनात्। लक्ष्यानुरोधेन कचित्प्रत्ययग्रहणे (२) शब्दस्वरूपस्य (३) विशेषणताया एवाश्रयणाच्च। (४) अत एव 'रदाभ्यां निष्ठा' (८।२।४२) इत्यादौ (५) न दोषः। अहरहरिति। 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) इति द्वित्वम्। 'न लुमता' (१।१।६३) इति निषेधात् (६) सुप्परत्वाभावः।

गतमहो रात्रिरिति। केचित्तु भाष्ये आतिदेकस्याहोरात्रस्यैवोदाहरणात्, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) इतिसूत्रे 'न हि रूपरात्ररथन्तरेषु रो रे वा विशेषोऽस्ति' इत्यत्र प्रायेण रात्रेति पाठाच्चेद्शानामनभिधानमेवेत्याहुः। अनन्यत्वादिति। रात्रिशब्दान्तात् समासादचि समासान्ते 'यस्येति च' (६।१।१४८) इति लोपेऽपि (७) रात्रिशब्दत्वाक्षतेरिति भावः। अनुवादे रेफविशिष्टस्योपादानाद्रेफस्य रेफविधानं व्यर्थमत आह— विसर्गापवाद इति।

पर्युदास मानने पर सुपसदृश प्रत्यय के परे ही होता है। तब 'अहर्भाति' में नहीं होगा। यदि सुप से भिन्न शब्द के परे अर्थ करने पर दीर्घा हो निदाघ में भी

हो जायेगा। सुवत्त अर्थ होना कठिन है। क्योंकि 'उत्तमैकाभ्याम् इत्यादि निर्देश से सप्तमी निर्दिष्ट प्रत्यय के परे तदन्द विधि का अभाव होता है अर्थात् प्रत्ययाग्रहणे च पञ्चमाः से निषेध हो जाता है और लक्ष्य के अनुरोध से कही प्रत्यय ग्रहण में भी शब्द स्वरूप को विशेषण ही स्वीकार करते है अब यहाँ तदादेः परोयः सुप तद्व्यहित पूर्वत्व विशिष्टा हन् शब्दस्य रो न भवति अर्थ होता है तदादि से परे जो सुप् उससे अव्यवहितपूर्ण अहन् शब्द से रू नहीं होता है इसी से 'रदाभ्या निष्ठा इत्यादि में दोष है। रेफान्त और दान्त जो तदादि उससे अव्यवहितपूर्ग जो निष्ठा उसका अवयव जो निर्दिश्यमान तदादि उसके तकार को नकारादेश होता है यह उसका अर्थ मानने से अहरहरिति। 'नित्यवीप्सयोः' दित्व होता है 'न लुमता' से निषेध होने से सुप् परे नहीं है गतमहो रातिरिति। किसी का कहना है कि भाष्य में आतिदेशिक अहो रात्रि के ही उदाहरण से और 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र में रूपरात्ररन्यतरेक के परे रू या र में कोई विशेषता नहीं है। यहाँ प्रायः रात्रि के पाठ से इस प्रकार के प्रयोगों का अनभिधान ही है। अनव्यत्वादिति रात्रि शब्दान्त से समास से समासान्त अच् प्रत्यय करने पर ''यस्येति च'' से इकार के लोप होने पर भी रात्रिशब्दत्व है वास्तव में तो वक्त परिणाम एकादेश विकृत न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये स्थानिवत्भाव से रात्रि शब्दत्व आ जायेगा। अनुवाद में रेफ विशिष्ट के उपादान से रेफ को रेफ करना व्यर्थ है। इसलिये कहते है विसर्गापवादइति। बिसर्ग का अपवाद है।

(८) ढ्रलोपे (६।३।१११) नायं तत्पुरुषोऽनीयरि 'चचार इत्यादौ च दोषापत्तेः नापि बहुव्रीहिर्व्यधिकरणत्वात्। अतो णिजन्तात्कर्मण्युपपद-समास इत्याह—ढरेफावित्यादि। भाष्ये तु व्यधिकरणबहुव्रीहिरेव दर्शितः। न च 'अजर्घाः' इत्यादौ 'सिपि धातोः' (८।२।७४) इति रुत्वस्य, 'लीढः' इत्यादौ ढत्वादीनां 'पितू राज्यम्' इत्यादौ संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्कथं दीर्घ इति वाच्यम्, ढग्रहणेन लण्सूत्रे 'अजर्घाः' इति भाष्योदाहरणेन च तत्तच्छास्त्रैकवाक्यतापन्नपूर्वत्रासिद्धिमितिसूत्रस्थपूर्वग्रहणेनैतत्सूत्राग्रहणबोध—नात्। अणःकिमिति। अच इत्येव सिद्धमिति प्रश्नः। 'तृंहू' इति पाठे 'नकारजावनुस्वारपञ्चमौ' इति वृद्धोक्तेः 'अनिदिताम्' (६।४।२४) इति (१) नलोपे 'तृढः' इति रूपम्। अत्राण् पूर्वेणैव (२) व्याख्यानात्।

(३) विप्रतिषेधे। (१।४।२)। विप्रतिपूर्वात्कर्मव्यतिहारे वर्त्तमाना-त्सेधतेर्घञि परस्परबिरोधार्थे विप्रतिषेधशब्दस्तत्र नित्यस्यावश्यकतयाऽन्त-रङ्गस्य ज्ञापकादिनाऽपवादस्य वचनप्रामाण्याद् बाधकत्वे स्थिते तद्भिन्नोऽस्य विषय इत्याह—तुल्यबलेति। द्वयोः शास्त्रयोः क्वचिल्लब्धावकाशयोरेकत्र

प्रयोगे (४) युगपदसम्भवि स्वकार्यसमर्पणञ्च सः। तत्र प्रायेणैकस्य कार्यद्वययोगकृतेऽसम्भवे एतस्य प्रवृत्तिः। यथा 'वृक्षेभ्यः' इति। तत्र हि दीर्घत्वयोर्युगपत्प्रवृत्तौ (५) स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः। क्वचित्केवलासम्भवेऽपि, यथा (१) शिष्टात्' इत्यादौ। अत्र हि तातङ्शाभावयोर्युगपत्प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः (२) यद्यपि तातङादेः स्थानिवत्त्वेनास्त्येव तत्, तथापि अतिदेश आदेशप्रवृत्त्युत्तरमेव, (३) न तु तत्प्रवृत्तिकाले इति युगपदसम्भवोऽस्त्येवेति परत्वात्तातङि सकृद्गतिन्यायेन (४) न आदेशः। स्पष्टञ्चेदं सर्वं प्रकृतसूत्रे 'इको गुणवृद्धौ' (१।१।३) 'आदसो मात्' (१।१।१२) इत्यादावा [१] करे। तत्र युगपदुभयोः कार्ययोरसम्भवात् [२] पर्यायेण तृजादिवच्छास्त्रद्वयप्रसङ्गेनियमार्थमिदम्, परमेवेति। तेन 'तिसृणाम्' इत्यत्र [३] यौगपद्यासम्भवेन परत्वात्तिस्त्रादेशे पुनः स्थानिवत्त्वेन त्रयादेशो न। तत्पठ्यते–'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद् बाधितमेव' इति।

द्र्लोपे। यह तत्पुरूष समास नहीं है क्योंकि अनीयरि और चचार में दोष होगा। अधिकस्थ होने से बहुव्रीहि भी है इसलिये णिजन्त से कर्म में अण् प्रत्यय करने पर उपपद समास है जैसा कि कहा है ढरेकावित्यादि। भाष्य में व्यधिकरण बहुव्रीहि ही दिखाई देता है। अब यहाँ शंका करते है कि अजर्धा इत्यादि 'सिपि धातोः से विहित रूत्व लीढ में दत्वादि, पितृ राज्यम् में संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से दीर्घ कैसे होगा। उत्तर ढकार के ग्रहण से और लण् सूत्र में अजर्धा इस भाष्योदाहरण से उन शास्त्रों से एक वाक्यता को प्राप्त पूर्णता सिद्धम् के पूर्व ग्रहण से इस सूत्र का ग्रहण नहीं होता है।

अजः किमिति। अच् से सिद्ध था यह प्रश्न है तृह पाठ में नकारजा इत्यादि वृद्धोक्त से 'अनिदिताम् से न लोप करने पर तृढ की सिद्धि होती यहाँ अण् प्रत्याहार पूर्वणकार से ही ग्रहण होता लण् सूत्र के व्याख्यान ही इसमें शरण है। विप्रतिषेध शब्द की सिद्ध होती है इसका अर्थ परस्पर विरोध है नित्य को आवश्यक होने से अन्तरं को ज्ञापकादि से अपवा क वचनप्रामाण्य बोधकत्व निश्चित होने से उसमें में भिन्न पर ही इसका विषय है इसी से कहा है तुल्यबलेति। दोनों सूत्रों के कहीं अवकाश प्राप्त होने पर एक प्रयोग में एक साथ दोनों की कार्य का होना असम्भव ही इसका विषय है प्रायः एक को दो कार्यों का रूप असम्भव में इसकी प्रवृत्ति होती है जैसे वृक्षेभ्यः में वहाँ दीर्घ और इत्व की एक साथ प्रवृत्ति होने पर अपने २ निमित्त का का आन्तर्य सम्भव नहीं है कही केवल असम्भव में भी प्रवृत्ति होती है। जैसे शिष्टात् आदि में नहीं।

यहाँ तातङ् तथा शाभाव की युगपत् (एकसाथ) प्रवृत्ति होने पर अपने-अपने निमित्त का आनन्तर्यसंभव नहीं है। यद्यपि तात्ङ् आदि के स्यानिवत् भाव से हो सकता है। तो भी आदेश के होने पर ही स्थानिवत् भाव हो सकता है। प्रवृत्ति काल में ही इस नहीं इसलिए युगपत् असंभव होने से पर तातङ् करने पर सकृद् गतिनन्याय से शादेश नहीं होता है। यह सब प्रकृति सूत्र के भाष्य में 'इको गुणवृद्धी' 'अदसोमात' इत्यादि के भाष्य में स्पष्ट है। एक साथ दोनों कार्यों का होना असंभव होने से कुम से तृजादि दो शास्त्र के प्रसंग में विप्रतिषेध नियम करता है कि पर ही हो इससे तिसृणाम् में त्रयादेश और तृसृादेश का एक सा होना असंभव होने से पर मानकर तिसृादेश करने पर फिर स्थानिवत् भाव से त्रयादेश नहीं होता है। जैसा कि लिखा है। सकृद्गतौ इत्यादि प्राप्त होने पर एक बार बाध होने पर वाध ही रहता है।

यद्वा, यथा तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति; स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति, यदा तमुभौ युगपत्प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्ये भवतस्तदो (१) भयोर्न करोति यौगपद्यासम्भवात्, तथा शास्त्रयोर्लक्ष्यप्रेष्ययोः क्वचिल्लक्ष्ये यौगपद्यासम्भवादप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदं 'परं भवति' इति विद्धयर्थम्। तत्र कृते यदि पूर्वस्यापि निमित्तमस्ति तदा (२) तदीये भवत्येव। तत्पठ्यते— 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धम्' इति। यथा 'भिन्धि' इत्यत्र परत्वात्तातङि (३) पुनर्धिर्भवति। अत्र तातङ्धिभावयोर्युगपदेकस्थानिसम्बन्धस्याङ्गरूपा-निमित्तानन्तर्यस्य वा न सम्भव इति भाष्ये स्पष्टम्। कार्ये परत्वञ्च पर-शास्त्रविहितत्वम्। कालपक्षेऽप्यष्टाध्यायीपाठपरत्वमेव नियामकम्। अत एव 'ङमो ह्रस्वात्' (८।३।३२) इत्यादौ त्रिपादीस्थे कार्यकालपक्षे एव परिभाषयोः प्रवृत्त्या एकदेशस्थत्वेऽपि परत्वात् तस्मादित्युत्तरस्य' (१।१। ६७) इत्यनेनैव व्यवस्थेति सङ्गच्छते। त्रिपादीस्थेन शास्त्रेण विरुद्धपरि-भाषाद्वयमध्ये परैव काल्यते आकृष्यते न पूर्वेति तत्त्वम्। सञ्ज्ञानां तु कार्यकालपक्षे (४) प्रदेश एव (५) वाक्यार्थेन तद्बोधोत्तरमेव विरोध-प्रतिसन्धान कार्यज्ञानञ्चेति तत्रत्यपरत्वमेवैतत्सूत्रप्रवृत्तौ बीजम् (१) अत एव 'कार्यकालपक्षेऽयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसञ्ज्ञा' इति 'अदसो मात् (१।१। १२) इति सूत्रे भाष्ये उक्तम्। परिभाषाणां तु तत्पक्षे तद्देशत्वेऽपि स्व-स्वदेशे (२) ऽर्थबोधोऽस्त्येवेति तासां पाठकृतमेव तत् एतत्सूत्रप्रवृत्तौ निया-मकमिति बोद्ध्यम्।

अथवा जैसे तुल्य बल वालों का एक नौकर होता है। वह उन दोनों का पर्याय से कार्य करता है। जब उसको दोनों कार्य के लिए एक साथ भेजते है और कार्य

भिन्न-भिन्न दिशा में होते है तब अविरोधार्थी वह दोनों का कार्य नहीं करता है। क्योंकि एक साथ दोनों के कार्यो का होना सम्भव नहीं है इसी प्रकार लक्ष्यार्थ सूत्रों का भी किसी लक्ष्य में एक साथ होने की असंभावना से अनवस्था प्राप्त होने पर यह विद्धयर्थ है कि पर हो। पर के करने पर यदि पूर्व का भी निमित्त है तो वह भी होगा जैसा कि लिखा है कि 'पुनः प्रसंगविज्ञानत्सिद्धम्' जैसे भिन्धी में परतातङ् के करने पर घि होता है। यह इनका कथन विचारणीय है। क्योंकि मिन्तात की सिद्ध नहीं होगी यहाँ तातङ् और धिभाव का एक साथ एक स्थानि सम्बन्ध का अंग रूप निमित्त के आनन्तर्य का सम्भव नहीं है यह भाष्य में स्पष्ट है कार्य में परत्व तो पर शास्त्र से विहित ही करना। कार्यकाल पक्ष में भी अष्टाध्यायी के पाठ का परत्व ही लेना उसी के लेने से 'ङमो ह्रस्वात्' इत्यादि में त्रिपादी में होने पर भी कार्यकाल पक्ष में ही परिभाषाओं की प्रवृत्ति से एक सूत्र में दोनों की उपस्थित होने पर भी अष्टाध्यायी पाठ के परत्व को लेकर 'तस्मादित्युत्तरस्थ' की उपस्थित से व्यवस्था होती है। त्रिपादीस्थ शास्त्र से विरुद्ध दोनों परिभाषाओं के मध्य में पर ही आकृष्ट होती है। पूर्व नहीं। संज्ञाशास्त्रों का तो कार्यकाल पक्ष में प्रदेश में ही (बिधिप्रदेश) वाक्यार्थ होने से उसके बोध के उत्तर ही विरोध ज्ञान और कार्य ज्ञान होता है। इसलिए वहाँ का परत्व ही इस सूत्र की प्रवृत्ति में कारण है। उसका वही देश मानने से कार्यकाल पक्ष में अयादियों से प्रगृह्य संज्ञा पर है। यह 'अदसोमात्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। परिभाषाओं का तो कार्यकाल पक्ष में तद्देशत्व मानने पर भी अपने-अपने देश में अर्थज्ञान रहता ही है। इसलिए उसका पाठकृत परत्व ही इस सूत्र की प्रवृत्ति में नियामक है। गुणशास्त्र परार्थ होते हैं। तब इनका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है। विप्रतिषेधे परिभाषा से तस्मिन् तस्मात् की व्यवस्था किस प्रकार से होती है। इसका प्रतिपादन करते है।

(३) यद्यपीयं परिभाषा (४) तथापि (५) कार्यग्रहणेन कार्यमात्रग्रहणात् 'तस्मिन्' (१।१।६६) इति 'तस्मात्' (१।१।६७) इतिपरिभाषयोरपि व्यवस्थापिका। कार्यकालपक्षेऽपि नैषा इक्पपरिभाषादिवद्विद्धयेकवाक्यतयाऽङ्गत्वात्स्वकार्यनिर्षिषादिका, किन्तु वाक्यभेदेनैव कार्यं (६) व्यवस्थापयति। यथा 'वृक्षेभ्यः' इत्यत्रैत्वदीर्घत्वयोः प्राप्तयोः परमेत्वं प्रवर्तयति। एवम् 'असिद्धं बहिरङ्गम्' (प० भा०) इत्यादयोऽपीति 'खरवसानयोः' (८।३।१५) इत्यत्र कैयटे स्पष्टम् एवञ्च 'विप्रतिषेधे' (१।४।२) इत्येषा यथोद्देशैवेति स्थितम्। त्रिपाद्यां कार्यकालपक्षेऽप्य (७) प्रवृत्तेः, पूर्वदृष्टया पराबस्थानाभावादित्यन्यत्र विस्तरः।

यद्यपि यह परिभाषा है तो भी सूत्र में कार्य के ग्रहण से कार्य मात्र के ग्रहण

करने से 'तस्मिन्' 'तस्मात्' की भी व्यवस्था होती है। कार्यकालपक्ष में भी यह इक् परिभाषा की तरह विधि शास्त्र से एक वाक्यता से अंग होकर कार्य करने वाली नहीं है। किन्तु वाक्यभेद से कार्य की व्यवस्था करती है जैसे 'वृक्षेभ्यः' में एकत्व और दीर्घ की प्राप्ति होने पर एत्व की प्रवृत्ति करती है। इसी प्रकार असिद्ध वहिरंगम इत्यादि भी है। यह खरसानयोः के कैयट में स्पष्ट है। इस प्रकार से विप्रतिषेध परिभाषा यथोद्देश ही है। त्रिपादी में कार्यकालपक्ष में प्रवृत्ति नहीं होती है पूर्व दृष्टि से पर की अवस्थान का अभाव है।

इति लोपे इति। उत्वं नित्यमिति तु न, 'भोभगो' (८।३।१७) इतिसूत्रोक्तरीत्या लोपस्या (८) ऽल्विधित्वात् स्थानिवत्त्वेन तद्धर्मातिदेशेऽपि (९) उच्चारणप्रसङ्गरूपस्थानषष्ठ्यर्थाभावेन लोपे तद्प्राप्तेश्च।

एतत्तदोः (६।१।१३२)। अनुकार्यस्वरूपभङ्गभिया कोशे इवै (१) कशेषाभावः। एतत्तदोर (२) नन्तर इत्यर्थः। तेन 'परमस ददाति' इत्यादौ न दोषः। गौणे तु न दोषः; तत्र त्यदाद्यत्वाभावेन हल्ङ्यादि-लोपस्य दुर्वारत्वात्। सु इति प्रथमैकवचनमेव (३) व्याख्यानात्। अनञ्समासे किमिति। तस्य पूर्वपदार्थप्रधानत्वादुपसर्जनत्वात्त्यदाद्यत्वाभावेन हल्ङ्यादिलोपो दुर्वार इति प्रश्नः। उत्तरपदार्थप्रधानः स इत्युत्तरम्।

इति लोपे इति। उत्व नित्व तो नहीं है। भोभगो सूत्र की रीति से लोप की अल्विधि है। स्थानिवद् भाव से उस धर्म के अतिदेश होने पर भी उच्चारण प्रसंग रूप स्थान षष्ठी के अर्थ के अभाव से लोप में उसकी प्राप्ति भी नहीं है।

एतत्तदोः। अनुकार्य के स्वरूप के भय से कोश में जिस प्रकार एक शेष नहीं होता है उसी प्रकार यहाँ भी नहीं होता। वास्तव में यहाँ एतद् और तद् शब्द पर कहे अर्थपरक नहीं है। इसलिये एक शेष की प्राप्ति नहीं है। कोशे यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि कोश सह विवक्षा के अभाव से निरूपाणाम् से एक शेष की प्राप्ति नहीं है। एत तद् के उत्तर सु का लोप हो यह अर्थ है इससे षरसम ददाति में दोष नहीं है। गौण में तो दोष नहीं कि क्योंकि वहाँ त्यादाधीनामः की अप्राप्ति से हल्ङयादि लोप हो जायेगा। व्याख्यान से सु प्रथमा का एक वचन नहीं लेना अनुनासिक का उच्चारण ही व्याख्यान है। एतद् और तद् के अर्थ में रहने वाली संख्या कहने का सु का लोप हो इस प्रकार का भी अर्थ करते हैं परन्तु उक्त अर्थ में ऐष ब्राह्मणा में ब्राह्मणोत्तर सु का भी लोप हो जायेगा—वास्तविक में एतत्तद्-विशिष्टसोलेपि। भवति वैशिष्ट स्वार्थताबच्छेद का वच्छिन्नधर्मिता निरूपित संख्या निपसुप्रकारताप्रयोजकत्व ब्राह्मोणत्तर---सु में ब्राह्मणत्वा वच्छिन्न विशेषणता है। परन्तु निष्ठप्रकारिता से ही अनुसमासे किमिति। उसके पूर्व पदार्थ प्रधान होने से

उपसर्जन होने के कारण त्यदायीनामः की प्राप्ति न होने से हल्ङ्यादि लोपदुर्वार है ?
यह प्रश्न है उत्तरपदार्थ प्रधान है वही उत्तर है।

सोऽचि (६।१।१३४)। ससिति प्रथमान्तस्य (४) लुप्तषष्ठीकमनुकरणम्। सेमामविड्ढीति। द्वादशाक्षरपादा जगती छन्दः। स एवमुक्त्वेति। लोपेऽत्र पादापूर्तेर्न लोप इति भावः। अवधारणन्त्विवति। वृद्धैर्व्याख्यातमवधारणन्त्वित्यर्थः। बहुलेत्यादि। गमकान्तराभावादिति भावः। एवञ्च तदनुवृत्त्येव क्वचिद्प्रवृत्तौ सिद्धायामवधारणपरतया व्याख्यानं व्यर्थमिति भावः। सर्वमेतदवधारणन्त्विवति तुना सूचितमित्यलम्।

॥ इति स्वादिसन्धिः ॥

सस् यह प्रथमान्त का लुप्त षष्ठी वाला अनुकरण है। सेमामविड्ढीति। बारह अक्षर पाद वाला जगती छन्द है। स एवमुक्त्वेति। यहाँ लोप करने से पाद की पूर्ति नहीं होती है। अवधारणन्त्विवति। वृक्षों से व्याख्यात् अवधारण तो बहुलेत्यादि अन्य किसी गमक के न होने से इस प्रकार से वहुल की अनुवृत्ति से ही कहीं अनुवृत्ति सिद्ध है फिर अवधारण परक व्याख्यान व्यर्थ है। यह सब सर्वमतदवधारणन्विति इस तु से ज्ञात होता है।

॥ इति स्वादि सन्धिः ॥

अजन्तपुल्लिंगप्रकरणम्

(१) स्वादिविधौ प्रातिपदिकाधिकारात् तां सञ्ज्ञामाह—अर्थवदिति। अधातुरित्यादिः पर्यदासो (२) लाघवात्। प्रत्ययान्तमिति। आवर्तिते प्रत्ययपदे प्रत्ययग्रहणम्। 'सञ्ज्ञाविधौ (प० भा०) इति निषेधस्तु (१) प्रत्ययस्य सञ्ज्ञा तद्विषय इति भावः।

अत्र सूत्रे उत्तरसूत्रे चार्थवत्त्वम् (२) एतत्सञ्ज्ञाफलभूतविभक्तीतर-समभिव्याहारानपेक्षया लोकेऽर्थविषयक (१) बोधजनकत्वम्। अन्यथाऽधा-तुरिति पर्युदासेन व्याख्यानादर्थवत्त्वेनैव सादृश्यग्रहणेन सिद्धेरुत्तरसूत्रे कृदा-दीनामनर्थकानामप्रसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्यात्।

सन्धि प्रकरण से अजन्त की उपोद्घात संगति को दिखलाते है। (प्रकृत अर्थ की सिद्धि के लिए जो चिन्ता की जाती है। उसको उपोद्घात कहते है) स्वादि विधि में प्रातिपदिक के अधिकार होने से प्रादिपदिक संज्ञा कहते है। अर्थवदिति। लाघव होने से अधातु इत्यादि पर्युदास है। प्रसज्जप्रतिषेध नहीं है। क्योंकि उसमें असमर्थ समास वाक्यभेद और क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है। प्रत्यान्तमिति प्रत्यय पद की आवृत्ति करने पर प्रत्ययग्रहण परिभाषा से तदन्त विधि होने से उक्तार्थ लाभ होता है। 'संज्ञाविधौ' यह निषेध तो जहाँ प्रत्यय की संज्ञा होती है वहाँ होता है वास्तविक में संज्ञानिष्ठ विधेयतानिरूपित साक्षात् उद्देश्यताप्रयोजकम् यत् प्रत्ययमात्रवृत्तिविष-यता प्रयोजकम् पदम् तत तदादि विशेष्यक तदन्तविधिप्रयोजकम् न भवति। यह परिभाषा का अर्थ है। प्रकृति में प्रातिपदिक संज्ञा में रहने वाली विधेयता का साक्षात् उद्देश्य अर्थवत् है। इसलिए परिभाषा की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। विशेष मेरी परिभाषेन्दु की टीका में देखिये। यहाँ प्रातिपदिक संज्ञा अर्थवान की होती है। अतः अर्थवत् ही साक्षात् उद्देश्य है।

इस सूत्र में और उत्तर कृत्तश्चित समाश्च में एतत् संज्ञाफल भूति विभक्तीतर-समभिव्याहारानपक्षेया लोके अर्थ विषयक बोधजनकत्व रूप अर्थ वत्व है। समन्वय इस प्रकार से है। जैसे राम में एतत्संज्ञा प्रातिपदिकसंज्ञा तत् फल भूता विभक्ति आगमिनी तदितरः उदासीन कोई घटपदादि उसके सामीप्य की अपेक्षा न करके ही राम में लोक में अर्थ विषयक बोध की कारणता है। अर्थात् केवल विभक्ति से भिन्न की अपेक्षा नहीं है। बोधजनकता शक्ति या लक्षणा के द्वारा ही लेना दोनों सूत्रों में

एक अर्थवत्व न मानने पर अधातु इस पर्युदास से व्याख्यान से सादृश अर्थवत्व से ही ग्रहीत होता। कृदादियों का अनर्थक मिलना संभव नहीं है। फिर अधातु कृदादि ग्रहण व्यर्थ हो जाते। (पर्युदास सदृश्यग्राही होता है। प्रकृति में अधातु से धातु भिन्न धातु सदृश का ग्रहण होता। तव धातु के अर्थवान होने से उसके सदृशभी अर्थवान ही ग्रहीत होता है।)

नच नञिवयुक्तन्यायानित्यत्वज्ञापनार्थं तत्, तदनित्यत्वज्ञापने (१) भाष्यसम्मतदृढतरफलाभावात् [२] 'अहन्' 'काण्डे' इत्यादावेतत्साध्यविभक्त्यनपेक्षत्वेऽपि तदितरानपेक्षत्वमस्त्येवेति तत्पर्युदासः सार्थकः। न च तत् केवलप्रत्ययस्य। तदुक्तम्—'संख्याया अतिशदन्तायाः' [५।१।२२] इति सूत्रे भाष्ये 'न हि लोके केवलेन प्रत्ययेनार्थो गम्यते, केन तर्हि? सप्रकृतिकेन' इति। हरिरप्याह—

धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते।
कृत्तद्धितानामर्थश्च केवलानामलौकिकः।
प्राग्विभक्तेस्तदन्तस्य तथैवार्थो न विद्यते॥ इति॥

(१) अत एव पदसञ्ज्ञासूत्रेऽन्तग्रहणस्य सञ्ज्ञाविधौ तदन्तविध्यभावज्ञापकत्वे 'कृत्ताद्धितेति' सूत्रेऽन्तग्रहणं कर्त्तव्यम्। न कर्त्तव्यम्। अर्थवदितिवर्त्तते कृत्तद्धितान्तञ्चैवार्थवत् न केवलाः कृतस्तद्धिता वा' इति भाष्यमुपादाय 'शास्त्रीयार्थग्रहणेऽर्थवद्ग्रहणानुवृत्तिवैयर्थ्येन तदनुवृत्तिसामर्थ्याल्लौकिकार्थप्रत्यासन्नोऽभिव्यक्ततरो योऽर्थः प्रत्ययान्तेषु लक्ष्यते स आश्रीयते' इति कैयटेनोक्तम्। लौकिकं यत्पदं तदर्थस्य प्रत्यासन्नः शास्त्रकृतकल्पितस्वादिप्रकृतेरर्थः प्रत्ययान्तेषु सुबन्तेषु योऽभिव्यक्तयरो लक्ष्यते बोद्धृभिः स इत्यन्वयः। यत्तु प्रत्यान्तेष्वित्यस्य कृदाद्यन्तेष्वित्यर्थ इति, तन्न, तावन्मात्रेण कस्याप्यर्थस्याभिव्यक्तेरप्यभावेनाभिव्यक्ततरत्वस्य सुतरामभावात्। अर्थवत्सूत्रेऽप्येवमेवेति अनुवृत्तिसामर्थ्यादित्यनेन सूचितम्। अन्यथा तत्सामर्थ्यादित्येव वदेत्। पूर्वसूत्रे यादृशार्थवत्त्वग्रहोऽत्राप्यनुवृत्तिसामर्थ्यात्तादृशार्थवत्त्वस्यैव ग्रहः। शास्त्रीयार्थग्रहणे तु तदनुवृत्तिर्व्यर्था स्यादिति तद्भावः।

अधातुग्रहण 'नञि' युक्त न्याय अनित्य ज्ञापन के लिये है यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि उसके अनित्यत्व ज्ञापन में भाष्य सम्मत दृढ़तर फल नहीं है अहन् काण्डे इत्यादि में प्रातिपदिक संज्ञा से साध्य विभक्ति की अपेक्षा न होने पर विभक्ति से इतर की अनपेक्षा होने से नञद्वय का उपादान सार्थक है इसी प्रकार दधिमधु में

जानना। इतर, तथा अनपेक्षा का नञ् सार्थक होता है। वह केवल प्रत्यय का नहीं है। जैसा कि संख्याया अतिशदन्ताया सूत्र के भाष्य में कहा है कि लोक में केवल प्रत्यय से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है तब किसको होता है ? प्रकृति विशिष्ट प्रत्यय से होता है। हरि ने भी कहा है—

विशुद्ध केवल धातुओं का लौकिक कोई अर्थ नहीं है। केवल कृत प्रत्ययों का भी अर्थ अलौकिक है। विभक्ति आने से पूर्व कृत प्रत्यान्त और तद्धित प्रत्यान्तों का भी उसी प्रकार से कोई अर्थ नहीं है। उभयसूत्र साधारण एक अर्थवत्व मानने से ही संज्ञा विधायक सूत्र में अन्तग्रहण को संज्ञाविधौ परिभाषा में ज्ञापक मानने पर 'कृत-द्धित' सूत्र में अन्तग्रहण करना चाहिए। नहीं करना चाहिए क्योंकि अर्थवत् की अनु-वृत्ति होती है कृन्तद्धितान्त ही अर्थवान होते है केवल कृत या तद्धित नहीं होते है उक्त भाष्य को लेकर कैयट ने कहा है कि शास्त्रीय अर्थ के ग्रहण करने पर अर्थवत् की अनुवृत्ति व्यर्थ होने से अर्थवत् की अनवृत्ति होने के कारण लौकिक जो पद उसके अर्थ के समीपस्थ शास्त्रकार से कल्पित् स्वादि प्रकृति का अर्थ प्रत्यान्तो में सुबन्तो में जो स्पष्टतर बोद्धाओं को प्रतीत हो वह लेना। जो कि प्रत्यान्तेषु कृदाद्यन्तेषु अर्थ किया है वह नहीं है क्योंकि कृदाद्यन्त से किसी भी अर्थ की अभिव्यक्ति होने से अभि-व्यक्ति का होना अत्यन्त असम्भव है। अनुवृत्ति सामथ्यति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अर्थवत् सूत्र में भी इसी प्रकार का ग्रहण करना चाहिए नहीं ततसामथ्यति ही करना उचित था पूर्व सूत्र में जैसा अर्थवत्व ग्रहण है कृतद्धित में अनुवृत्ति होने के कारण उसी प्रकार के अर्थवत्व का ग्रहण है शास्त्रीय अर्थ के ग्रहण में तु उसकी अनु-वृत्ति व्यर्थ हो जायेगी। यह उसका भाव है।

किञ्च पूर्वसूत्रे सामान्यतोऽर्थवत्त्व ग्रहणेन किञ्चित्फलं (२) प्रत्यये-ष्वतिव्याप्तिदानातिरिक्तम् अत एव तद्धितग्रहणस्य नियमार्थत्वाश्रयणेन (३) 'ह्रस्वो नपुंसके (४) यत्तस्य' इति न्यासेन 'काण्डे' इत्यादौ ह्रस्ववारणा-त्फलाभावेन वा भाष्योक्ते तत्प्रत्याख्याने 'पञ्चनावप्रियः' इत्यादौ पञ्चना-वेत्यस्यानेन न प्रातिपदिकत्वं, नाप्युत्तरसूत्रेण। प्रातिपदिकत्वे तु (५) टाबापत्तिः। एवञ्च प्रत्ययस्य प्राप्तिरेव नेति केवलप्रत्ययपर्युदासो (१) विफलः। 'दश दाडिमानि षडपूपाः' इत्यादिनिरर्थकपदसमुदाय—(१) व्यावृत्तिरर्थवद्ग्रहणस्य फलम्। तत्र हि 'सुपो धातु' (२।४।७१) इति लुगापत्तिरिति भाष्ये स्पष्टमिति दिक्।

और भी पूर्व सूत्र में सामान्य अर्थवत्व के ग्रहण करने पर प्रत्ययों में अति व्याप्त देने से अतिरिक्त कोई फल नहीं है वास्तविक में तो सूत्र द्वय साधारण गुरूतर लक्षण से प्रत्यय पर्युदास का खण्डन मात्र होता है इसी दोनों सूत्रों में भिन्न-२ अर्थवत्व

मानने वाले प्राचीनों का मत ही ठीक है प्राचीन के मत में भी दोनों सूत्रों के लिये एक अर्थवत्व है इसी से तद्धित ग्रहण को नियमार्थत्व स्वीकार करने से 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' न्यास से काण्डे में ह्रस्व के वारण् होने से या फल के अभाव से भाष्योक्त प्रातिपदिक के प्रत्याख्यान करने पर 'पञ्चनावप्रिय: इत्यादि में पञ्चनाव मात्र की न अर्थवत्व सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। और 'कृतद्धित' से प्रातिपादिक संज्ञा होने से हाव होने लगता। उपसर्ज होने से ङीप् की प्राप्ति नहीं है इस प्रकार से प्रत्यय को प्रातिपदिक संज्ञा की प्राप्ति न होने से केवल प्रत्यय का पर्युदास निरर्थक है।

'दशदाडिमानि षडपूपा:" इत्यादि निरर्थक पद समुदाय की प्रातिपादिक की संज्ञा न होना ही अर्थवत् का फल भाष्यकार ने भाष्य में कहा है। वहां प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'सुपोधातु' से विभक्ति का लुक् होने लगता। वह वृक्ष प्रचलन न्याय मानने पर यह दोष है उसके अस्वीकार में धनं वनम् प्रतिवरण की संज्ञा का न होना ही अर्थवत् का फल है यहाँ का विशेष विचार मेरी शब्दरत्न की टीका में देखिये।

पूर्वसूत्रेणेति। 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्' [प० भा०] इति प्रत्ययान्तत्वाभावादिति भाव:। [२] नियमस्य सजातीयविषयत्वात्साजात्यं दर्शयितुमाह–पूर्वो भाग इति। एतेन [३] यत्तच्छब्दार्थयोरननुगतत्वेन [४] शब्दानुगमस्याप्रयोजकत्वेन [५] व्यवच्छेद्याननुगमेऽपि क्षत्यभावेन च 'यत्र सङ्घाते' इत्यादि व्यर्थमेवेत्य [६] पास्तम्। पदशब्देनात्र [७] स्वातन्त्र्येणापि प्रयोगार्हमर्थवद्गृह्यते। [१] अत एव [२] अर्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थम्' इत्युक्तमत्र भाष्ये। भाष्ये सुबन्तानामित्यनेन [३] भेदसंसर्गद्वारकार्थवन्त उपलक्ष्यन्ते इति कैयटेन स्पष्टमेवोक्तम्। तेन 'गवित्ययामाह' इत्यादौ गो इत्यादीनां [१] सुबन्तत्वाभावेऽपि न समुदायस्य प्रातिपादिकत्वम् अनुकरणस्यानितिपरस्यापि प्रयोगसत्त्वेन यावन्मात्रस्यापि पृथक्प्रयोगार्हत्वात् 'बहुपटव:' इत्यादौ प्रातिपदिकत्वसिद्धये [२] स्वातन्त्र्येणेति। तत्र पूर्व इत्याक्षिप्तपरेषामपि [३] स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवतामेव ग्रहणात् [४] 'पुत्रकाम्या' इत्यादौ न दोष:। [५] अत एवाङ्गसञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्' [प० भा०] इति परिभाषाया: फलनिरूपणावसरे 'देवदत्तो गार्ग्य:' इति समुदायस्य यञन्तत्वेन प्राप्तप्रातिपदिकसञ्ज्ञाऽभाव: [१] फलत्वेनोक्त: यथाश्रुतमूलोक्तनियमे तु नियमेनैव तदप्राप्त्या भाष्यासङ्गति: स्पष्टैव। एतेन

'वृषण्वसुः' इत्यादौ पूर्वभागस्य भत्वात्पूर्वो भागः पदमित्ययुक्तमित्य [२] पास्तम् ।

प्रत्यय के ग्रहण में जिससे प्रत्यय होता है। तदादि तदन्त ही लिया जाता है। इससे समास प्रत्यान्त नहीं है नियम सजातीय विषयक होता है। इससे साजात्य दिखाने के लिए कहते हैं। पूर्वो भाग इति। उक्त प्रदर्शन करने से यच्छब्दार्थ और तच्छब्दार्थ के अनुगत् न होने से सर्वनाम की बुद्धिस्य में शक्ति और से बुद्धियों (ज्ञान) के अनेक होने से और उनके अर्थो के अनेक होने से अनुगम नहीं हो सकता है। दीक्षित बुद्धिस्थ में शक्ति स्वीकार अनुगत मानकर दोषान्तर देते है शजानुगम् के अप्रयोजक होने से दीक्षित की उत्पत्ति से पूर्व उनकी बुद्धि के अभाव होने से समास ग्रहण से नियम की आवश्यकता होने से यह अयोजक है व्यवच्छेद्य के अनुगमन न होने से भी क्षति के न होने से यत्र सङ्घाते इत्यादि व्यर्थ है यह कथन ही व्यर्थ है क्योंकि नियम शास्त्र को सार्थक करने के लिए प्रकृत में व्यच्छेद्य के अनुगम की अत्यन्त आवश्यकता है। पद शब्द से यहाँ स्वतन्त्रता से प्रयोग करने योग्य अर्थवान लेना स्वातन्त्र्येण प्रयोग है अर्थवत् ग्रहण से ही अर्थवान समुदायों के लिए समास ग्रहण नियमार्थ है ऐसा भाष्य में कहा अर्थवत् समुदाय में तन्त्रेण षष्ठी तत्पुरूष और कर्मधारय दोनों समास अर्थवताम् समुदाया (अर्थवन्तस्ते समुदाया) अर्थवालों के जो समुदाय है वे अर्थवान भी अपेक्षित है उक्त नियम से उनकी ही व्यावृत्ति होती है। दशदाडिमानि इत्यादि की नहीं होती है अब नियमाकार इस प्रकार का है स्वातन्त्र्येण ही प्रयोग है अर्थवत् पूर्वाव्यवकः स्वातन्त्रेण प्रयोगार्हार्थ वदु उत्तर वयकोऽर्थवाश्च यः समुदायस्तस्व चेम्यदादि समाण स्वैवेति। उक्त नियम स्वीकार करने से ही पूर्व सूत्र में अर्थवत् की दशदाडिमानि इत्यादि निरर्थक पद समुदाय की संज्ञा न होना ही हल् कहा है स्वतन्त्रता से प्रयोग योग्य अर्थवान जिसका पूर्व अवयव हो और वैसा उत्तर अवयव हो और अर्थवान जो समुदाय उसको हो तो समास कोई हो। सुबन्तानाम, से भेद संसर्ग के द्वारा अर्थवान का उपलक्षण से ग्रहण है। ऐसा कैयट ने स्पष्ट किया है कि उक्त अर्थ स्वीकार करने पर नीलोघटा में वारण नहीं होगा क्योंकि वहाँ अभेद सम्बन्ध है भेदेसति संसगर्वन्तिः अर्थ करने से कोई दोष नहीं है यहाँ शक्तेः का अध्यान्तर अपेक्षित है। अर्थात शक्ति के भेद होने पर संसर्ग वाले हो। नीलोघटा में नीलपद और और घटपद की शक्ति का भेद होने से (अभेद) विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध होता है। अतः वहाँ दोष नहीं है उक्त अर्थ करने से 'गवित्ययमाह' इत्यादि गोइत्यादि के सुबंत न होने पर भी समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है क्योंकि शक्ति या लक्षणा से अर्थबोधकत्व के अभाव में प्रातिपदिक संज्ञा के न होने से विभक्ति नहीं आती है इसी से सुबन्त नहीं है अनितपरक भी अनुकरण का प्रयोग होने से तावन्मात (गो) का अलग प्रयोग हो सकता है बहुपटवः में प्रातिपदिक संज्ञा सिद्ध करने के

लिए स्वातन्त्र्येण है। उक्त प्रयोग में वहुच प्रत्यय ही उसका स्वतन्त्रता से प्रयोग नहीं हो सकता है। पूर्व से आक्षिप्त पर भी स्वतन्त्रता से प्रयोग योग्य अर्थवान के ग्रहण से 'पुत्रकाम्या' इत्यादि में दोष नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'अप्रत्ययात्' से अप्रत्यय पुत्र काम्य से हुआ।

इसीलिये पुत्रकाम्य के साथ ही सामर्थ्य है केवल काम्य में शक्ति को न होने से अर्थवत् नहीं है। उत्तर भाग भी स्वतन्त्रता से प्रयोग योग्य अर्थवान् अपेक्षित होने से अंग संज्ञा विधायक सूत्र के भाष्य में 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा के फल निरूपण के समय 'देवदत्तो गार्ग्यः' इस समुदाय को यजन्तत्व मानकर प्राप्त प्रातिपदिक संज्ञा का न होना ही फल कहा। यथाश्रुत मूलोक्त नियम (यत्र संघाते) मानने पर तो नियम से ही संज्ञा प्राप्त न होने से भाष्य की असंगत स्पष्ट ही थी। तात्पर्य यह है कि देवदत्तो गार्ग्यः में चिकीर्षित समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा फलभूत से इतर विद्यमान सु के समीप होने से ही लोक में अर्थ विषयक बोध जनकता है तब अर्थतत्व के अभाव से ही प्रातिपादिक संज्ञा का अभाव सिद्ध था फिर भी परिभाषा का फल कहना भाष्य असंगत है। यहाँ यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि अर्थवदन्तम् मत्तद्यितांतम् ऐसा अर्थ करने से वृषण्वसुः में पूर्वभाग के भसंज्ञक होने से पूर्वोभागः पदम् यह कथन अयुक्त है वे परास्त है। यद्यपि वृषण्वासुः में पूर्व की वेद में भ संज्ञा होने से पूर्व भाग पद समासत्व का व्यापक नहीं है। परन्तु स्वतन्त्रता से प्रयोग योग्य है।

वाक्यस्य नेति। प्रातिपदिकत्वे हि सुपः श्रवणानापत्तिः। 'पिण्डीम्' इत्यादौ वाक्यैकदेशप्रयोगेऽलुक्समासे चाङ्गाधिकारविहितसुप्प्रत्ययनिमित्तक-कार्याणां सुबादेशानाञ्च चारितार्थ्यं, विकल्पेन समासविधानाञ्च स्वराद्य-र्थमिति भावः। शशशृङ्गादिपदानाञ्च बौद्धे शशशृङ्गादौ शक्तिरिति पूर्वेणैव प्रातिपदिकत्वं सिद्धम्। स्वप्नाद्यनुरोधेन च बौद्धपदार्थस्या (१) ऽऽवश्यकत्वम्। अक्षौहिरथन्तरादिपदेषु अवयवानामत्यन्तनिरर्थकानाम-प्यन्यत्र दृष्टार्थारोपेण प्रातिपदिकत्वसुबुत्पत्त्यादिना यथाकथञ्चित्साधुत्वा-न्वाख्यानं बोध्यम्।

अधिकारोऽयमिति। सञ्ज्ञाऽधिकार इत्यर्थः। सञ्ज्ञात्वावगमस्तु व्याख्यानात्। विकारागमानान्तु न तत्सञ्ज्ञा, 'प्रत्यय' इति महासञ्ज्ञया स्वस्वप्रकृत्यन्यतरार्थप्रत्यायकस्यैव तत्संज्ञकत्वात्। स्वप्रकृत्यर्थत्वञ्च धातु-पाठकोशादौ तमुच्चार्य्य बोधितत्वम्। अत एव नभवघाद्यादेशानां न सञ्ज्ञा। तेषां स्थान्यर्थेनैवार्थवत्त्वं, न तु स्वार्थोऽस्ति। अत एव कोशादौ-तदर्थाकथनम्। एतदर्थमेव भाष्ये स्वीयमर्थं प्रत्याययन्तीति विग्रहे स्वीयपदो पादानम्। भाष्यप्रामाण्याच्च तदर्थान्तर्भावेण प्रत्ययशब्दस्य वृत्तिः।

प्रतिपादिक संज्ञा होने से राज्ञा पुरुष: में विभक्ति के लुक् होने से श्रवण नहीं होता। विधान करने के कारण विभक्ति का लुक् नहीं होगा। यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि पिण्डीम् भक्षय वाक्य के एक देश पिण्डीम् इत्यादि में और अलुक समास में अंगधिकारविहित सुप् प्रत्यय निमित्तक कार्यों का तथा सुप् के स्थान में होने वाले आदेश चरितार्थं ही समास का विकल्प से करना स्वर के लिए है। वन्ध्या सुत: शशशृंगम इत्यादि में बौद्ध में शक्ति मानने से पूर्व सूत्र से ही प्रातिपादिक संज्ञा सिद्ध है। स्वप्न के अनुरोध से बौद्ध पदार्थ स्वीकार करना भी आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानमात्र के प्रति विषय को कारणता होती है क्योंकि ज्ञान सविषयक है। इसलिए अतीत अनागत विषयक ज्ञान की उपपत्ति के लिए बौद्ध विषय की कल्पना आवश्यक है। अक्षौहिणी रथन्तरादि पदों में अवयव अत्यन्त निरर्थक भी है। तो भी अन्यत्र देखे हुए अर्थ के आरोप से प्रातिपदिक संज्ञा और सुप् उपपत्ति कर किसी प्रकार से सायुत्व करना।

संज्ञा का अधिकार है। संज्ञा का ज्ञान तो व्याख्यान से होगा। विकार और आगम की प्रत्यय संज्ञा नहीं होती है। क्योंकि 'प्रत्यय' इस महासंज्ञा से अपना या अपनी प्रकृति के अर्थ को बोधन करने वाले की प्रत्यय संज्ञा होती है। प्रत्यय की प्रकृति का अर्थ धातु पाठ कोशादि में उसका उच्चारण करके जो कहा है इसी से आदेशों की प्रत्यय संज्ञा नहीं होती है। क्योंकि आदेशों को स्थानी के अर्थ से अर्थवत्ता है। अर्थात जो स्थानी का अर्थ है वही आदेशों का है जैसाकि लिखा है। स्थान्यर्थ और उनका अपना कोई अर्थं नहीं है। इसी से कोशादि में आदेशों के अर्थ का विचार नहीं किया है। इसी से भाष्य में स्वीयमर्थ प्रत्यामयन्तीति विग्रह में स्वीयपद का उपादान किया है। स्वीय अर्थात अपना आदेशों का अपना कोई अर्थ नहीं है। भाष्य के प्रामाण्य से उसके अर्थं को अन्तर्भाव से ही प्रत्यय शब्द की वृत्ति है।

यत्तु विकारागमादेशानां देशांशे निराकाङ्क्षत्वाद् 'परश्च' (३।१।२) इत्यस्यानुपस्थितौ तत्सन्नियोगशिष्टप्रत्ययसञ्ज्ञया अप्रवृत्तिरिति, तन्न, श्नमकज्बहुष्व (२) प्रवृत्त्यापत्तेः किञ्च 'लविषीय' इत्यत्र विशेषविहित-त्वात्परत्वाच्च पूर्वं सीयुटि ततो लादेशे प्रत्ययसञ्ज्ञासन्नियोगेनेटो विधीय-मानमाद्युदात्तत्व सीयुट एव स्याधत आगमानुदात्तत्वं वक्तव्यमिति 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) इतिसूत्रस्य भाष्यकैयटासङ्गतिः। लस्यानिकत्वेन देशांशे 'निराकङ्क्षत्वेन' 'परश्च' (३।१।२) इत्यस्याप्रवृत्तौ (३) 'प्रत्यय' (३।१।१) इत्यस्याप्यप्रवृत्तौ तत्सन्नियोगकथनासङ्गतेरिति दिक्।

यत्तु से शंका करते है कि विकार, आगम, आदेशो को देशांश में निराकांक्ष होने से 'परश्च' की उपस्थित नहीं होगी, तब परश्च के साथ होने वाली प्रत्ययसंज्ञा भी

नहीं होगी । परन्तु उक्त सिद्धान्त मानने पर श्रम अकच् और वहुत्व की भी प्रत्यय संज्ञा नहीं होगी क्योंकि यह भी देशांश में निराकांक्ष है इनकी प्रत्यय संज्ञा न हो यह कहना तो कठिन है क्योंकि श्रम के सकार की इत्संज्ञा के लिए और सर्विका में इत्व के लिए अकच् में प्रत्ययत्व मानना अत्यन्त आवश्यक है । और लविषीय में विशेषविहित और पर होने से पहले सीयुटि होगा फिर लकार के स्थान में आदेश होने पर प्रत्यय संज्ञा के सन्नियोग इट् को होने वाला आद्युदान्त सीयुट् को ही होगा । इसलिए आगम मात्र के अनुदान्त कहना चाहिए । यह 'आद्युदान्तश्च' सूत्र के भाष्य कैयट की असंगति हो जायेगी । लकार के स्थान में होने से देशांश में निराकांक्ष होने से 'परश्च' की प्रवृत्ति नहीं होगी और तब 'प्रत्यय' की भी प्रवृत्ति नहीं होगी । उसका सन्नियोग कथन सर्वथा असंगत हो जायेगा ।

परश्च (३।१।२) । 'गुप्तिज्किद्भयः' (३।१।५) इत्यादावपादानत्वासम्भवाद्दिग्योघलक्षणा पञ्चमी । तत्र परः पूर्वो वेत्यत्रानियमेनाध्याहारे प्रसक्ते पर एवेति नियमार्थसिदम् । 'गापोष्टक्' (३।२।८) इत्यादावपि षष्ठयर्थ आनन्तर्यं पूर्वपरसाधारणमित्यनियमोऽस्त्येव । अत्र 'तस्मात्' (१।१।६७) इति परिभाषोत्तराङ्गविकला (१) प्रवर्तते इत्यव्यवहिता एव प्रत्ययाः । न चैवं षष्ठयंशविकलं सम्पूर्णं सूत्रमुपतिष्ठतां; किं 'परश्च' (३।१।२) इत्यनेनेति वाच्यम्, प्रकृत्यर्थमात्रविवक्षायां केवलप्रकृतेः पच् पत् इत्यादेः (२) प्रयोगो मा भूदिति प्रत्ययः परो भवत्येवेति नियमार्थत्वात् । तेन 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्यानापि केवलः प्रत्ययः' इति सिद्धम् । अनुकरणे तु अभेदविवक्षया (३) ऽर्थवत्त्वाभावात्प्रातिपदिकत्वाभावेन प्रकृतित्वाभावात् 'गवित्ययमाह' इत्यादौ नानुपपत्तिः । प्रकृतित्वं (४) प्रत्ययविधावुद्देश्यतावच्चेदकाक्रान्तत्वम् । अयं न्यायः शास्त्रबोधितान्यतरप्रयोगविषयः, अत एव 'लिट्' 'इयान्' इत्यादौ न दोषः । अत्र प्रकृतिविशेषोद्देशेनैव प्रत्ययानां विधानात् 'नापि केवलः' इति न्यायमूलकम् । एतन्मूलकमेव पठ्यते 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इति । अपरिनिष्ठतमिति तदर्थः । परिनिष्ठितत्वञ्च अप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वम् । निहते तिङन्तादावव्याप्तिवारणाया (१) ऽप्रवृत्तेति । वैकल्पिकेडागमोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्ते 'सेद्धा' इत्यादावव्याप्तिवारणाय नित्येतीति दिक् ।

"गुप्तिज्किद्भयः" अपादान पंचमी के संभव न होने से द्गियोग लक्षणा पंचमी है । वहाँ नियम के न होने से पर और पूर्व दोनों के अध्याहार की प्रसक्त होने पर पर ही हो । यह नियम करने के लिए सूत्र है । 'गापोष्टक्' इत्यादि में भी षष्ठयर्थ

आनन्तर्य पूर्व और पर दोनों में ही रह सकता है। इसलिए अनियम है यहाँ 'तस्मा-दिति' परिभाषा उत्तरांग से विकल ही प्रवृत्त होती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्ययविधि में षष्ठ शंका बाध है। उत्तरांश स्वतः सिद्ध है तब केवल अव्यवहितांश भी उपस्थित होता है। इसलिए प्रत्यय अव्यवहित होती है। षष्ठयंशन्त को छोड़कर सम्पूर्ण सूत्र उपस्थित हो जाये। परश्च की क्या आवश्यकता है। यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि प्रकृत्यर्थ मात्र विवक्षा में केवल प्रकृति पच् पत् इत्यादि का प्रयोग न हो। इसलिए प्रत्यय पर होता है ही। इस नियम के लिए है। इसी 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापिकेवलः प्रत्ययः' भी सिद्ध हुआ। अनुकरण में तो अनुकार्य और अनुकरण में अभेद विवक्षा होने से अर्थवत्व के अभाव से प्रातिपदिक संज्ञा न होने से प्रकृतित्व का ही अभाव होने से (तात्पर्य यह है कि सादृश्यज्ञान द्वारा अर्थ बोध होने पर भी शक्ति या लक्षणा के द्वारा नहीं है) "गवित्ययमाह" में दोष नहीं है। प्रत्यय के विधान में जो उद्देश्यतावच्छेदक से आक्रान्त है। उसकी प्रकृति कहते है। अर्थात् प्रत्यय का जो उद्देश्य होता है उसको प्रकृति कहते है। प्रकृति में रहने वाला धर्म प्रकृतित्व ही उद्देश्यता-वच्छेदक है। यह शास्त्र से अबोधित अन्यतर प्रयोग विषयक है। तात्पर्य यह है कि जहाँ सूत्र से प्रत्यय या प्रकृति का लोप नहीं हुआ है। वहाँ दोनों का प्रयोग होना आवश्यक है और जहाँ शास्त्र से बोधित है वहाँ केवल का भी प्रयोग होता है। उक्त नियम के स्वीकार करने से ही लिट्, इयान् इत्यादि में दोष नहीं होता है। लिट् में केवल धातु रूप प्रकृति ही है प्रत्यय का लोप शास्त्र से हुआ है। इयान् में केवल प्रत्यय है। प्रकृतिइदम् शब्द का लोप हो गया है। प्रकृति विशेष के उद्देश्य से ही प्रत्ययों का विधान भी नापि केवलः इत्यादि न्यायमूलक है। एतन्मूलक ही 'अपदं न प्रयुञ्जीत है अर्थात अपद् का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पदसंज्ञा सुबन्त और तिगन्त की प्रायः होती है। अपद का अर्थ अपरिनिष्ठित है। अप्रवृत्त नित्यविधि के उद्देश्यता-वच्छेदकसे जो आक्रान्त नहीं है। वही परिनिष्ठित है अर्थात् जिस प्रयोग के सिद्ध होने पर किसी नित्यविधि की प्राप्त न हो। जिस स्थल में 'तिङतिङः' निघात 'अनुदान्त' हो गया है। वहाँ उसी से फिर निघात न हो इसलिए अप्रवृत्त पद दिया। उसकी तो प्रवृत्त हो चुकी है। इट् के अभाव पक्ष में सेद्धा में "स्वरितः इत्यादि विकल्प से इदा-गम् विधायक के उद्देश्यतवच्छेदक के आक्रान्त होने अतिव्याप्ति को निरसन करने के लिए नित्य विशेषण है। वह तो विकल्प से इट् बिधायक है।

ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) । समाहारद्वन्द्वः । ननु 'परश्च' (३।१।२) इत्यनेन (२) प्रकृतेराक्षेपात्प्रातिपदिकाधिकारो व्यर्थः । तिङन्तात्तु न (३) द्वितीयादिः । संख्याऽभावात्, संख्यायास्तिङो (४) त्तत्वाच्च । धातुभ्यस्तु न तिङामपवादत्वात् । तस्येत्यादिसमर्थविभक्ति-निर्देशात्, तमब्विधौ 'तिङश्च' (५।३।५६) इति ज्ञापकाच्च न तेभ्यस्त-

द्धितव्यावृत्त्यर्थः; इति चेत् ? न, तदभावे 'स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारक-प्रयुक्तकार्यैः (५) संस्कृतस्य बहिर्भूतापत्यादियोगः, इति 'कुत्सिते' (५।३। ७४) इतिसूत्रभाष्योक्तन्यायेन 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) इत्यादौ (६) तत्सम्बन्ध्यपत्यमित्याद्यर्थे प्रथमोच्चारितबोध्यात्प्रत्यय इत्यर्थस्य सत्त्वेन च सार्थकतद्धितानां सुबन्तादुत्पत्त्या लनुदात्तादेरित्यस्य प्राधान्यादुपस्थित-सुबन्तविशेषणत्वापत्तौ सर्वस्य विकारः 'सार्वः' इत्यत्राञनापत्तेः, (७) 'सर्वस्य सुपि' (६।१।१९१) इत्याद्युदात्तत्वात् । तदधिकारसामर्थ्यात्तु प्रातिपादिकस्यैव तद्विशेषणमिति न दोषः । सर्वशब्दस्यो (८) ञ्छादिपा-ठेनान्तोदात्तत्वात् । स्पष्टञ्चेदमत्र भाष्ये ।

यह समाहारद्वन्द्व है । अतएव एक वचन ही 'परश्च' से प्रकृत का आक्षेप हो जाता फिर प्रातिपदिकाधिकार व्यर्थ है । तिङत से तो संख्या के अभाव से द्वितीयादि विभक्ति नहीं होती है । यहाँ प्रथमोपस्थित प्रथमा की शंका तो नहीं की क्योंकि प्रथमा विधायक सूत्र के प्रातिपदिकार्थ विद्यमान है और संख्या तिङ् से उक्त भी हो चुकी है । उक्तार्थ का प्रयोग न होने से तिङ्न्त से सुप की उत्पत्ति नहीं होती है । तिङ प्रत्ययों के अपवाद होने धातुओं से भी सुप् की उत्पत्ति नहीं होगी । 'तस्यापत्यम्' में तस्य इस समर्थ विभक्ति के निर्देश से तमप विधि में तिङ्श्च ज्ञापक से तिङ्न्त और धातुओं तद्दित की व्यावृत्ति के लिए भी प्रातिपदिकाधिकार नहीं है । इस शंका का उत्तर देते है अधिकार के अभाव स्वार्थ (जाति) द्रव्य लिंगसंख्या और कारक से प्रयुक्त कार्यों से संस्कार होने पर बर्हिमूत अपत्यादि का योग होता है । ऐसा 'कुत्सिते' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है भाष्य में उक्त न्याय से 'तस्यापत्यम्' इत्यादि में तत् सम्बन्धी अपत्य इस अर्थ में प्रथमोच्चाहित से जो बोध्य होगा उससे प्रत्यय हो इस अर्थ के रहने से सार्थक तद्धितों की सुबन्त से ही उत्पत्ति होने से प्रधान होने से अनुदान्त. देः सुबन्त का विशेषण हो जायेगा । तब सर्वस्य विकारः इस अर्थ में सिद्ध सार्वा में अञ् नहीं होगा क्योंकि यहाँ 'सर्वस्य सुपि' से आद्युदान्त है । स्वर की सप्तमी तदन्त सप्तमी होती है । प्रातिपदिक के अधिकार होने से अधिकार होने से 'अनुदान्तःदेयः' प्रातिपदिक का ही विशेषण होता है ।(सुबंत का नहीं है ।)तब दोष नहीं है । क्योंकि सर्वशब्द का उञ्छादि में पाठ होने से अन्तोदात्त है । 'स्वाङ्गशिटाम्' से प्राप्त आद्युदात्त को बाँधने के लिए उञ्छादि में पाठ है ।

न च 'अन्तरङ्गानपि' इति न्यायेन लुङ्निमित्तप्रत्ययात्पूर्वमाद्युदात्ता-प्राप्तया तस्य सुबन्तविशेषणत्वेऽपि न दोष इति बाच्यम्, तेन न्यायेन धर्मि-ग्राहकमानाद (१) न्तरङ्गनिमित्तविनाशकलुक एव प्राबल्यबोधनेन दोषात् । 'सर्वस्य सुपि' (६।१।९१) इत्यत्र सौवरीणां सप्तमीनां तदन्तसप्तमीत्वात्

प्रत्यये परत (२)पूर्वकार्यत्वाभावेन 'न लुमता' (१।१।६३) इत्यस्याप्राप्तौ प्रत्ययलक्षणेन सुबन्ततया तस्यान्तरङ्गनिमित्तविनाशकत्वाभावात् । अत एव सर्वस्तोमादिबहुव्रीहेराद्युदात्तत्वसिद्धिः । न चानुदात्तादिप्रकृतिकषष्ठयन्तादित्यर्थेन न दोष इति वाच्यम् । 'गर्गादिभ्यः' (४।१।१०५) इत्यादौ सुबन्तं प्रति गर्गादीनां विशेषणत्वासम्भवादगत्या लक्षणास्वीकारेऽपि प्रकृते लक्षणायां (३)मानाभावात् । वस्तुतस्तत्रापि न लक्षणा । गर्गादिरूपात्प्रातिपदिकात्तत्सम्बन्ध्यपत्यमित्यर्थे प्रत्यय इत्यर्थे प्रातिपदिकात्परत्वं तद्व्यवधानेन (४) भविष्यति । तदव्यतिरिक्तव्यवधाने तु न, मानाभावात् । एतच्च मतुप्सूत्रे कैयटे स्पष्टमित्यन्यत्र विस्तरः ।

अब यहाँ शंका करते है कि अन्तरङ्गानपि' इत्यादि परिभाषा से लुक़ निमित्त प्रत्यय से पूर्व आद्युदात्त की अप्राप्त होने से अनुदात्तः देः को सुक्त के विशेषण मानने से भी कोई दोष नहीं है । उत्तर उस परिभाषा से धर्मि ग्राहक मान (ज्ञापक साजत्य) से अन्तरंग निमित्त के विनाशक लुक़ को प्राबल्य सिद्ध होता है । तब वह दोष है । 'सर्वस्य सुपि' स्वर की सप्तमी तदत्ता सप्तमी है । न से प्रत्यय के परे पूर्व को कार्य न होने से 'न लुमता' की न प्राप्ति होने से प्रत्यय लक्षण से सुबन्त होने से उसको अन्तरंग निमिन्त विनाशक नहीं है लुक़ में अन्तरंग निमित्त विनाशक विशेषण देने से अतिभवकान् में अकच् होता है ।

इसी से अर्णु हि भी सिद्ध होता है । अन्तरंग निमित्त विनाशक होने से लुक़ से पूर्ण गुण करने पर संयोग पूर्वक होने से 'उतश्च प्रत्यात् से हि का लुप् नहीं होता है परिभाषा का उक्त अर्थ करने से सर्वस्तोमः इत्यादि वहुव्रीहि में आद्युदात्त की सिद्ध होती है ।

अनुदात्तादि प्रकृति वाले षष्ठयन्त से इत्यादि अर्थ करने से दोष नहीं है । यह भी कहना उचित नहीं है क्योंकि 'गर्गादिभ्य' इत्यादि में सुबन्त के प्रति गर्गादियों का विशेषण सम्भव न होने से अन्य उपाय के अभाव से लक्षणा स्वीकार करने पर भी प्रकृति में लक्षणा मानने में कोई प्रमाण नहीं है । और 'तस्य विकारः' में तस्य का षष्ठयन्त तदादि अर्थ है उसके देश षष्ठी में अनुदात्तादि प्रकृति का अन्वय भी सम्भव नहीं है क्योंकि पदार्थ का पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है । इसके एक देश के साथ ही अन्वय होता है । उसके एक देश के साथ नहीं होता है अतएव नित्योघटः प्रयोग नहीं होता है । अन्यथा यहाँ भी घर के एक देश घटत्व में नित्य का अन्वय हो सकता था । वास्तविक में तो वहाँ भी लक्षणा नहीं है गर्गादिरूप प्रातिपदिक से उसके सम्बन्धी अपाय हो इस अर्थ में प्रत्यय होता है इस अर्थ में प्रातिपदिक से पर सुप् के व्यवधान में भी होगा । उससे अतिरिक्त के व्यवधान में नहीं होगा क्योंकि

कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात येनान्वय धानम्, न्याय से केवल सुप् के ही व्यवधान में परत्व होगा यह मतप् विधायक सूत्र के कैयट में स्पष्ट है।

(१) लिङ्गविशिष्टस्येति। इयञ्च (२) प्रातिपदिकसामान्यग्रहणे (३) तद्विशेषग्रहणे च। अनया परिभाषया ङ्याब्ग्रहणवैयर्थ्यस्य भाष्ये शङ्कितत्वाद्; विशेषविषये बहुतरोदाहरणदानाच्च। स्त्रीप्रत्ययामभिव्याहारे प्रातिपदिकत्वात्तद्व्याप्य (४) धर्मा विशिष्टेऽनेनातिदिश्यन्ते अत एव 'बहुव्रीहेरूधसः' (४।१।२५) इति सूत्रे भाष्ये 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इत्यस्य नद्यन्तबहुव्रीहेरित्यर्थे 'कुण्डोध्नी' इत्यत्र कबापादितः। अन्यथा तु ङयन्तस्य बहुव्रीहित्वाभावात्तदसङ्गतिः। (५) नद्यन्तानां यो बहुव्रीहिरित्यर्थेन च परिहृत इत्यन्यत्।

यह परिभाषा प्रातिपदिक सामान्य के ग्रहण में और प्रातिपदिक विशेष के ग्रहण में प्रवृत्ति होती है। जहाँ किसी का नाम नहीं लिया जाता है। वह सामान्य है, और नाम लेने पर विशेष होता है। जैसे "कुमारः श्रमणादिभिः" कुमार के उल्लेख से विशेष है। इस परिभाषा के द्वारा ही भाष्य में नीप्आप् ग्रहण व्यर्थ है यह शंका की है यहाँ प्रातिपादिकात् यह सामान्य ग्रहण है विशेष के विषय में भी बहुत से उदाहरण दिये है स्त्री प्रत्यय के समीप में प्रातिपदिकत्व अथवा प्रातिपदिकत्व के व्याप्य धर्मों का स्त्री प्रत्यय विशिष्ट में इससे अतिदिष्ट होते है। विशिष्ट में अतिदेश होने से ही 'बहुव्रीहेरुधसः इस सूत्र के भाष्य में नद्यन्त बहुव्रीहि से ऐसा 'नद्यृतश्च से ऐसा अर्थ मानने पर 'कुण्डोध्नी' मैं कप् की आपत्ति की है विशिष्ट के अति देश के अभाव में तो ङन्त को बहुव्रीहि के अभाव होने से असंगति ही था। नद्यन्तो का जो बहुव्रीहि इस अर्थ से उसका परिहार किया यह दूसरी बात है।

समासान्तेषु तत्परिभाषाऽभावस्तु ङ्याप्सूत्रभाष्योक्तो (६) ऽवयवविषय एव। समुदायविषये तत्प्रवृत्तावपि दोषाभावेन तदंशे तदप्रवृत्तौ न मानमित्याशयः। ङ्याबन्तादिति। ङ्याब्ग्रहणं स्त्रीप्रत्ययमात्रोपलक्षणम्। तेन 'ब्रह्मबन्धतुरा' 'युवतितरा' इत्यादे सिद्धिः। 'जातेश्च' (६।३।४१) इति निषेधान्न पुंवत्त्वम्' वयोवाचिनां वैकल्पिकजातिकार्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

तद्धित इति। एतच्च समासान्ततिप्रत्ययाद्यतिरिक्तपरं व्याख्यानात्। एतेन 'यूनीतिः' 'बहुगोमतीका' इति स्यादित्यपास्तम्। एवञ्च स्त्रीप्रत्ययेषु, अत्यन्तस्वार्थिकानारभ्य तद्धितेषु च ङ्याब्ग्रहणासम्बन्धो व्याख्यानात्। अत एव 'लोहिनिका' इत्येतत्सिद्धये 'लोहितालिङ्गबाधनं वा' इति (१) चरितार्थम्। अत्यन्तस्वार्थिकानां सुबुत्पत्तेः पूर्वमुत्पत्तिरिति 'सर्वस्य द्वे' (८।१।

१) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टं कैयटे च। पत्र हि पदस्येत्यस्य प्रयोजनं—द्विपदिकेत्यादौ द्वित्वसंख्यायुक्तपदार्थस्य वीप्सितत्वात् वीप्सायामेकत्वलक्षण–संख्यया अनन्तर्भावात्समासाद्विभक्त्यभावेन पदत्वाभावात्प्राक् तद्धितोत्पत्ते-र्द्विवचनाभाव (२) इत्युक्तम्। 'पुंयोगाद्' (४।१।१८) इति सूत्रे भाष्ये-ऽप्येतत्स्फुटम्। तत्र हि 'गतिकारकोपपदानाम्' (प० भा०) इत्यस्याः साङ्कूटिनम्' इति प्रयोजनमुक्तम्। तत्र हि अभिविधौ भाव इनुणि कूटिन्शब्दा-दण्प्रत्ययविभक्त्योः प्राप्तयोः स्वार्थिकत्वेनान्तरङ्गत्वादणि कूटिन्नित्यस्यैव वृद्धिः स्यादित्युक्तम्। तस्यापि सुबन्तादुत्पत्तौ तु पूर्वं सुपि इनुणन्तत्वरूपा-धिकपासेक्षत्वेन बहिरङ्गतयाऽणः पूर्वं समासे विशिष्टादणि रूपसिद्धौ (३) भाष्यासङ्गतिः। प्राक्सुबुत्पत्तेः समासे तु उक्तरीत्यैवान्तरङ्गत्वात्पूर्वं समासे ततो बिशिष्टादणिति साङ्कूटिनसिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः।

ङप् सूत्र के भाष्य में जो कहा है कि समासान्त प्रत्ययों में यह परिभाषा नहीं लगती है। वह अवयव के विषय में है अर्थात् समासान्त उसके अवयव होते है या नहीं। ङ्याबन्तादिति। ङ्याप्ग्रहण स्त्रीप्रत्यय मात्र का उपलक्षण है। उपलक्षण मानने से 'ब्रह्मवन्धतुरा' 'युवतितरा' आदि की सिद्ध होती है। 'जातेश्च' से निषेध होने से पुंवद्भाव नहीं होता है। वयोवासियों को विकल्प से जाति कार्य होता है। यह आगे कहेंगे।

तद्धितइति। ङ्याबन्त से तद्धित की उत्पत्ति हो यह नियम व्याख्यान से समा–सान्त और ति प्रत्यय से अतिरिक्त स्थल के लिए है। इसी से बहुगोमिती का और यूनीतिः प्रयोग नहीं होते है। इस तरह स्त्रीप्रत्ययों में और अत्यन्तस्वार्थ को मानकर तद्वित प्रत्ययों में ङ्याप् ग्रहण का असम्बन्ध है। असम्बन्ध होने से ही लोहिनका की सिद्ध के लिए 'लोहिताल्लिङ्गवाधनं वा' चरितार्थ है। अन्यथा ङसन्त से ही तद्धित की उत्पत्ति होने पर वार्तिक का निर्माण असंगत हो जाता। अत्यन्त स्वार्थिकों की सुप् की उत्पत्ति से पूर्व ही उत्पत्ति होती है। यह 'सर्वस्यद्वे' सूत्र के भाष्य और कैयट से स्पष्ट है। भाष्य में पदस्य का प्रयोजक द्विपहिका इत्यादि में द्वित्व संख्या से युक्त पदार्थ को वीप्सित होने से बीप्सा में एकत्व लक्षण संख्या का अन्तर भाव न होने से समास के विभक्ति के न होने से पदत्व के अभाव से तद्वित की उत्पत्ति से पूर्व द्विवर्चन का अभाव है। ऐसा कहा है तात्पर्य यह है कि द्विपदिकात्यादि में द्वि और पाद्को पदत्व होने पर भी केवल उसके अर्थ में वीप्सा का अभाव है और विशिष्ट में पदत्व के अभाव से और तद्धितान्त से वीप्सा के उक्त होने से द्वित्व नहीं होता है। स्वार्थिक प्रत्ययों की सुप् की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पत्ति होने पर तो द्विपाद को भी प्रत्यय लक्षण से पदत्व होने से भाष्य की असंगत स्पष्ट ही है। पुंयोगात् सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट है। वहाँ

गतिकार को पपदानाग्य् परिभाषा का साकूटिनम् प्रयोजन कहा है। वहाँ भाष्य में अभिभिदी भाव इनुण् से निपन्न कूटिन अण् प्रत्यय और विभक्ति की प्राप्ति होने पर स्वार्थिक होने से अन्तरंग अण् प्रत्यय करने पर ककार के उकार को हीं वृद्धि होगी उसकी भी सुबन्त से उत्पत्ति मानने पर तो पहले सुप् आने पर इनुणन्तत्व रूप अधिक सापेक्ष होने पर अण् के बहिरंग होने से पहले समास होने पर सकूटिन् से अण् प्रत्यय फिर आदि वृद्धि से रूप सिद्ध होने पर भाष्य की असंगत है। सुप् की उत्पत्ति से पूर्व समास करने पर उक्त रीति से अन्तरंग होने से पहले समास फिर विशिष्ट से अण् होने पर सांकूटिन की सिद्ध होती है।

स्वौजस (४।१।२) सूत्रे (४) समाहारद्वन्द्वः। टङपाश्चेत इति। न च फलाभावः; लोपस्यैव फलत्वात्। (१) तत्रतरव्यावृत्त्या चरितार्थानां लोपफलकत्वस्वीकारे बाधकाभावात्। काम्यजादौ तु लोपे इति वर्णोच्चारणवैयर्थ्यान्न तन्मात्रफलिकेत्सञ्ज्ञेति बोध्यम्।

'न विभक्तौ' (१।४।४) इति निषेधोपयोगिनीं विभक्तिसञ्ज्ञामाह-विभक्तिश्च (१।४।१०४) चकार एकसञ्ज्ञाधिकारेऽपि पुरुषवचनसञ्ज्ञाभ्यां (२) समावेशार्थः। अन्यथा पर्यायः स्यात्। 'सुपः' (१।४।१०३) इति सूत्रं 'तिङस्त्रीणि' (१।४।१०१) इति सूत्रात्तिङ इति चानुवर्तते। 'प्रथमयो' (६।१।१०२) इत्यादौ व्याख्यानात्प्राचां वैयाकरणानां प्रथमाद्वितीयापद-वाच्ययोर्ग्रहणं बोध्यम्। अन्यथा 'औजसोः पूर्वं' इत्येव वदेत्। विभक्ति-प्रदेशेषु सुप्तिङिति न वक्तुं शक्यम् 'यत्र' 'तत्र' इत्यादौ त्यदाद्यत्वानापत्तेः तेषां सुप्सञ्ज्ञा त्वशक्ज्ञा, 'एतर्हि' इत्यादौ 'सुपि च' (७।३।१०२) इति (३) दीर्घापत्तेः।

सप्तम्यन्ता इति। स्त्रीलिङ्गा इति शेषः। प्राचाम् वैयाकरणान्त-राणाम्। इहापि अस्मिन् व्याकरणेऽपि।

स्वौजस सूत्र में समाहार द्वन्द्व है वह इस प्रकार है पहले तृतीया के द्विवचना-भ्याम् तक समाहार द्वन्द्व करके फिर चतुर्थी के द्विवचन तक फिर पंचमी के द्विवचना-भ्याम् तक फिर षष्ठी के द्विवचन ओस तक फिर अवशिष्टों का समाहार द्वन्द्व कर फिर सब समाहार द्वन्द्व का समाहार द्वन्द्व है। प्रारम्भ से अन्ततक एक द्वन्द्व करने पर श्याम् २ भ्यस् २ ओस् २ का एक शेष होने लगता टडपाश्चेत इति। इस संज्ञा का लोप मात्र फल होने पर 'ऐचोयवायाव' की तरह इत्संज्ञा नहीं होगी (इस इत्संज्ञा का लोप ही फल है) उत्तर देते है तत्तत् स्थलों में इतर व्यावृत्ति फिर चरितार्थ टकारादियों का लोप फल स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। काम्यच् आदि

में तो लोप करने पर ककारादि का उच्चारण व्यर्थ होने से लोप मात्र फल वाली इत्संज्ञा नहीं होती है।

'न विभक्तौ' के निषेध की उपयोगिनी विभक्ति संज्ञा को कहते हैं विभक्तिश्च। एक संज्ञा के अधिकार होने पर भी चकार पुरुष संज्ञा और वचन संज्ञा के समावेश के लिये है। नही तो चकार के अभाव में पर्याय होने लगता 'सुप' सूत्र और 'तिङस्त्रीणि' सूत्र में तिङ की अनुवृत्ति होती है प्रथम योः इत्यादि में प्राचीन वैयाकरणों के प्रथमा द्वितीय का ग्रहण है। यदि दोनो विभक्तियों का ग्रहण न होता तो 'औजसोः पूर्वं' ही कहना पर्याप्त था। विभक्ति प्रदेश 'सुपतिङ्' कहने से कार्य नहीं चलेगा। क्योंकि यत्र तत्र में त्यादीनाम्ः की प्राप्ति नहीं होगी। उससे अकार विभक्ति संज्ञा है। त्रादि की सुप् संज्ञा करना तो कठिन है क्योंकि एतर्हि में 'सुपिच्' से दीर्घ हो जायेगा। यद्यपि 'इदमोर्हिल्' छेद से दीर्घ की प्राप्ति नही है। तथापि सदासर्वदा में द की सुप् संज्ञा करने से 'सर्वस्य सुपि' से आद्युदान्त होने लगेगा। सप्तम्यन्ता इति। स्त्रीलिङ्ग इसका शेष हैं। प्राचां अर्थात अन्य वैयाकरणों की इहापि इस पाणिनीय व्याकरण में भी।

सुपः (१।४।१०३) सुबिति प्रत्याहारात्षष्ठयत्र।

द्वयेकयोः (१।४।२२) नियमार्थे इमे। इह सूत्रे द्वयेकशब्दौ संख्यापरौ, न संख्येयपरौ बहुवचनापत्तेः, तदाह–द्वित्वैकत्वयोरिति। लौकिकप्रयोगे तु 'आदशतः संख्याः संख्येये' इति कोशभाष्याद्युक्तेः संख्येयपरत्वे एव प्रायः साधुत्वम्। क्वचित्संख्यापरत्वेऽपि संख्येयागतसंख्यारोषेण साधुत्वम्। अत एव कस्य द्वित्वे इत्याद्यर्थे 'कयोर्द्वयोः' 'केषां बहुषु' इति भाष्ये-प्रयुक्तमिति बोध्यम्। एकशब्दो द्विशब्दसाहचर्यात्संख्यावाच्येव। एकग्रहणन्त्यक्त्वैकवचनमुत्सर्गः कर्तव्यस्तेनाव्ययेभ्यः 'पचतिकल्पम्' इत्यादौ च व्यर्थैकवचनप्रयोगसिद्धिरिति 'तद्धितश्च' (१।१।३८) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

सुपः। यहाँ सुप् प्रत्याहार से षष्ठी है। द्वयेकयोः। यह दोनों नियमार्थ है इस सूत्र में द्वय और एक शब्द संज्ञापरक हैं संख्ये (जिनकी गणना होती है) परक होने पर बहुवचन होने लगता। उसी का उपादान उपपादन करते है –द्वित्वैकत्वयोरिति। लौकिक प्रयोग में तो आदशतः संख्याः संख्येये' में है इत्यादि कोश और भाष्य की उक्ति से प्रायः संख्येय में ही साधु है। कहीं संख्यापरक होने पर भी संख्येय में रहने वाली संख्या के अज्ञेय से साधुत्व जानना आरोप से साधुत्व स्वीकार करने से कस्य-द्वित्वे इत्यादि अर्थ में कयोर्द्वयोः केषा बहुषु द्विवचन तथा बहुवचन का प्रयोग भाष्य में किया है द्विशब्द के साहचर्य से एक शब्द संख्यावाची ही हैं एक ग्रहण तो स्वाभाविक एक वचन के प्रयोग के लिये है इसी से 'पबतिकल्पम्' इत्यादि अव्ययों से व्यर्थ एक

वचन प्रयोग की सिद्धि होती है। यह 'तद्धितश्च' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

बहुषु (१।४।२१) बहुशब्दोऽत्र त्रित्वादिपरार्द्धान्तसंख्यानां व्यापको यो धर्मविशेषो बहुत्वं तत्परः। बहुवचनं त्वाश्रयगतबहुत्वं धर्मे आरोप्य कृतम्। तेन वैपुल्यवाचिनो न ग्रहणम्। 'दाराः' इत्यादौ त्ववयवादिगत-बहुत्वस्यावयविन्यारोपो बोध्यः। स च कोशवृद्धव्यवहारानुसारेणैवेति नातिप्रसङ्गः। 'भर्तृदारयोरप्तेजसोः' इत्यादौ वृत्तौ तु द्विवचनमेव, आरोपे मानाभावात् अत एव 'द्व्येकयोः' इति सङ्गच्छते। एतेनैकस्मिन्नपि 'गुरवः समागताः' इत्यादि समर्थितम्। अन्वर्थसञ्ज्ञयैव सिद्धे इदं सूत्रद्वयं स्पष्टा-र्थम्। राम इति। रुत्वे (१) एकदेशविकृतन्यायेन सुबन्ततया पदत्वाद्विसर्गः।

बहुषु। यह बहु शब्द का अर्थ द्वित्व से लेकर परार्द्धन्ति संख्याओं का व्यापक जो बहुत्व रुप धर्म विशेष को कहता है। बहुषु में बहुवचन तो आश्रय में रहने वाले बहुत्व धर्म का में आरोप करके किया है। इसीसे वैपुलयवार्च। का ग्रहण नहीं दाराः (बहुवचनान्त) इत्यादि में अवयवों में रहने वाले बहुत्व का अवयवी में आरोप है। उस प्रकार का आरोप कोश तथा वृद्ध व्यवहार के अनुसार करने से दोष नहीं है शक्ति ग्रह इत्यादि में कोश तथा वृद्ध व्यवहार का शक्तिधन नियामक माना है 'भर्तृ-दारयोप्तेजसोः' इत्यादि में वृत्त में द्विवचन का ही प्रयोग किया है। क्योंकि आरोप में प्रमाण नहीं है तात्पर्य यह है कि दार और अप् शब्द के बहुवचनान्त होने से बहु-वचन का ही प्रयोग उचित थ। इसी से 'द्व्येकयोः' भी संगत होता है। इसी से एक गुरु में भी 'गुरवः समागताः' इत्यादि वहुवचन का समर्थन होता है। 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत' गुरावात्मनिचेश्वरे' यह वचन भी प्रमाण है अनवर्थ संज्ञा से कार्य सिद्ध था यह दोनों सूत्र स्पष्टार्थ है। रामइति। रुत्व करने पर एक देश विकृतन्याय से सुबन्त होने से पदत्व आने से विसर्ग होते है एक देश इत्यादि न्याय स्थानिवत् भाव का उपलक्षण है।

[२] सरूपाणाम् [१।२।६४] 'वृद्धो यूना' [१।२।६५] इति सूत्रा-देवकारो [३] ऽपकृतष्य इत्याह—सरूपाण्येवेति। तेन जननीपरिच्छेत्तृवा-चिनोर्मातृशब्दयो [१] र्भ्यामि [२] नैकशेषः। न चैकविभक्ताविति व्यर्थ 'यानि सरूपाण्येव' इत्युक्त्यैवोक्तदोषवारणादिति वाच्यम्, हरिणस्त्रीवाच-कहरिणीशब्दस्य हरितवर्णविशिष्टस्त्रीवाचकहरिणीशब्दस्य चैकशेषानापत्तेः। पुंवद्भावेन तद्धितादौ [३] वैरूप्यात्। दृष्टानीति। लौकिके प्रयोगे इति शेषः। एकशेषश्चायमनैमित्तिकत्वेनान्तरङ्गत्वाद्विभक्त्युत्पत्तेः पूर्वमेवेति एतद्विषये द्वन्द्वप्राप्तिरेव नेति बोध्यम्।

'वृद्धो यूना' से एक कार का अपकर्ष होता है और सरूप्य में अव्यय करने से "विभक्तौ परतः सारूप्यमेव येषां दृष्टं तेषामेकः शिष्यते' विभक्ति के परे सारूप्य ही जिनका देखा गया हो उनमें से एक शेष रहता है। ऐसा अर्थ करने से कहीं दोष नहीं है तात्पर्य है कि अपकृष्ट एवकार का सारुप्य में ही अन्वय करना। अन्यत्र अन्वय करने में दोष है (विशेष परिशिष्ट में देखिये) वास्तविक में एवकार के अपकर्ष में प्रमाण नहीं है इसी से प्रतिपादिकानाम् एक शेषे मातृमात्रोः प्रतिषेधी वक्तव्यः। ऐसा भाष्य में लिखा है। माता जननी (माँ) को और माता तोलने वाले को करते हैं प्रातिपदिकों के शेष पक्ष में ही शंका की। विभक्त यन्त्रों मन्तों के एक शेष में शंका नही की। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एवकार के अपकर्ष में प्रमाण नहीं है।

मूल में लिखा है सरुपाण्येवेति। एक कार के अपकर्ष करने से जननीवाची और परिच्छेत्वाची मात्र शब्दों का श्याम में दोनों का एक सा प्रयोग बनने पर भी एक शेष नही होता है। अब यहाँ एक बिभक्तौ अर्थ व्यर्थ प्रतीत होता है। क्यों कि सरुपाण्येव कहने से ही उध्नय वाचक मात्र शब्द में नही होगा। यह कहना ठीक नही है क्योंकि हरिण की स्त्री को कहने वाले हरिणी शब्द और हरे रंग को कहने वाली हरिणी शब्द का एक शेष नहीं होगा। पुंवदभाव होने से तद्धित में वैरुप्य है। एक का हरिणा तथा दूसरे का हारिता बनता है। दृष्टानीति। अर्थात् लेकिन प्रयोग में यह एक शेष अनैमित्तिक होने से अन्तरंग होने के कारण विभक्ति की उत्पत्ति से पूर्व ही होता है। इसलिए इसमें विषय में द्वन्द्व की प्राप्ति नहीं है।

ननु (४) तन्त्रेणैव सिद्धेरिदं व्यर्थम् यथा 'अक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तां दीव्यन्ताम्' इत्यत्राक्षा इति कारकस्य सकृदुपादानेऽपि सर्वत्रान्वयः तन्त्रकारणं तु शब्दानां (५) तुल्यरूपता। एवम् (६) 'अक्षो भज्यतां भुज्यतां दीव्यताम्' इत्यपि। तन्त्रं द्वेधा—शब्दतन्त्रमर्थतन्त्रञ्च। शब्दस्य (७) पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वे आद्यम्, यथा 'अक्षाः' इत्यादौ (८) तत्सहत्वे त्वन्त्यम् यथा 'घटाः' इत्यादौ। तत्राक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तामित्यादावन्वयिपदार्थभेदाद् बोद्धुरावृत्त्यैव बोधः। उच्चारणन्तु तन्त्रेण। अन्वयिपदार्थस्यैकत्वे तु (१) एकोपस्थित्यैवान्वयः, यथा 'अक्षान्पश्य' 'घटान् पश्य' इत्यादौ' इति चेत्? सत्यम्, सरूपाणामेकशेष एवेतिनियमार्थत्वात्। तत्फलं तु (२) प्रत्यर्थं शब्दनिवेशस्यापि दर्शनेन कदाचित्तादृशप्रयोगे प्राप्तद्वन्द्वस्य निवृत्तिः। स चायं नियमो विभक्तौ यानि (३) सरूपाण्येव तद्विषयः, सहविवक्षाविषयश्च।

तंत्र से ही कार्य सिद्ध हो जायेगी सरुपाणाम् सूत्र व्यर्थ ही (नानाफल वाले समान आकार वाले अनेक व्यापारों के बीच में अनेक फलों के उद्देश्य से एक व्यापार का करना ही तन्त्र है) अक्षा भज्यन्ताँ इत्यादि स्थल में अक्षा को एक बार उपादान

होने पर भी भज्यन्तां दीव्यन्ताम्, तीनों क्रियाओं में अन्वय हो जाता है तन्त्र का कारण शब्दों की तुल्य रूपि कविता ही है तुल्यरुपता "स्ववृन्ति श्रावण प्रत्यक्ष विषयता वच्छेदक धर्म से लेना अर्थात जिस प्रकार का धर्म एक में सुना जाय वैसा ही अन्य में बहुवचन में ही तन्त्र नही होता है किन्तु एक वचन में भी होता है जैसे अक्षो भज्यताम् इत्यादि में। शब्द तन्त्र तथा अर्थतन्त्र के भेद से तंत्र दो प्रकार का होता है। जहाँ शब्द का पर्याय नही हो सकता है। वहाँ शब्द तन्त्र होता है। जैसे अक्षा यहाँ अक्ष का पर्याय नही आ सकता है। जहाँ पर्याय आ सकता हो वहाँ अर्थ तन्त्र होता है। जैसे घटा इत्यादि में यहाँ कलशा भी कह सकते हैं। वहाँ अक्षा भज्यंताम इत्यादि स्थल में अन्वपि पदार्थ बहेड़ा पांसा आदि के भेद से बोद्धा को आवृत्ति से बोध होता है उच्चारण तो तन्त्र से ही है। अन्वयि पदार्थ के एक होने पर तो एक की उपस्थिति से अन्वय हो जाता है। जैसे अक्षान्पश्य, घटान्पश्य इत्यादि में (जहाँ प्रवृन्ति निमिन्त शक्यता वच्छेक) रहने वाली एक प्रकारता को लेकर विशेषता अनेक होती हैं वहाँ अर्थ तन्त्र होता है। जैसे घटा में। यहाँ प्रकारता (विशेषता) केवल घटत्व में है और विशेषता अनेक घरों में ही जहाँ नाना प्रकारताओं को लेकर नाना विशेषता वाला बोध है वहाँ शब्द तन्त्र होता है। जैसे अक्षा में यहाँ अक्ष के अनेक अर्थ होने से प्रकारता भी अनेक है और विशेषता भी अनेक है अब उत्तर देते है। स्वरूपों का एक शेष ही हो इस नियम के लिए सूत्र है। उसका फल है प्रत्येक अर्थ के लिए अर्थात प्रवृत्ति निमित्त में रहने वाली प्रकारताओं के लिए शब्द का निवेश देखने से कभी उस प्रकार के प्रयोग में प्राप्त द्वन्द्व समास की निवृत्ति ही यह नियम विभक्ति के परे जो स्वरुप ये ही हो उसके लिए है और सहविवक्षा विषय के लिए है एक शेष सह विवक्षा के विषय में ही होता है।

(४) अत एव विभक्त्यन्तानामेकशेष इति पक्षे 'द्वन्द्व प्रतिषेधो वक्तव्यः' इत्याशङ्क्य 'अनवकाश एकशेषो द्वन्द्वं बाधिष्यते' इति भाष्ये उक्तम्। किञ्चासहविवक्षायामपि तत्प्रवृत्तौ सहविवक्षायां द्वन्द्वस्येवान्यत्र कर्मधारयस्यापि बाधापत्तौ (५) 'सारवसारवोर्मिजः' इत्यादिप्रयोगविरोधापत्तिः। असहविवक्षाविषयेण विभक्त्यन्ततन्त्रेण (६) 'ब्राह्मणाभ्यां कथं देहि' (७) 'पयोजरयति' इत्यादि 'नीलोत्पलस्पर्धिनी (८) नेत्रे तनुर्वा हरेः' इतिवत् (९) विद्वन्मानहंस' इविवच्चेष्टमेवेति बोद्ध्यम्। न चासहविवक्षायां तन्त्र सत्त्वे 'इदित' इति गुरुनिर्देशो व्यर्थः, (१) अन्यपदार्थावतये तत्सत्वात्। इद्यस्य धातोरिति करणे तु गौरवम्। एतच्च सूत्रं भाष्ये (२) प्रत्याख्यातम् (३) अर्थावर्थौ प्रति यदर्थानर्थान्प्रति च यत्तदपि प्रत्यर्थमेवेत्याश्रयणेन। अनेकघटादिपदानां साहित्ये वृत्तिरेव नानाभिधानात्।

एकस्यैव त्वनेकार्थस्य तत्र वृत्तिरभिधानस्वाभाव्यादिति तदाशयः। 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५९) इत्यादावेकशेषशब्दस्तु भाष्ये तन्त्रपरः। मृ चोच्चारयितुः, बोद्धुस्त्वावृत्तिरेवेति बोद्ध्यम्।

इसी से विभक्त्यन्तो के एक शेष पक्ष में "द्वन्द्व प्रतिषेधो वक्तव्यः" (द्वन्द्व का प्रतिषेध कहना चाहिए) ऐसी आशंकाकर अनवकाश एक शेष द्वन्द्व को बाध लेगा यह भाष्यकार ने कहा। और यदि असहविवक्षा में भी एक शेष की प्रवृत्ति मानोगे तो सहविवक्षा में द्वन्द्व के बाध की तरह अन्यत्र कर्मधारय का भी बाध होने पर 'सार व सारवोर्मिजः' इत्यादि द्वादश सर्ग में स्थिति नैषध् के प्रयोग से विरोध होगा। साखेत्यादिका विग्रह इस प्रकार है। आरवैः शब्दैः सहितः साखाः, सरखा नद्या इमः साखाः साखाश्च ताः साखाश्चोयस्तासु जातः। (शब्द सहित सरयू की तरंगों से उत्पन्न असहविवक्षा विषयक विभक्त्यन्त तन्त्र से ब्राह्मणाभ्याम् कृतम् देहि, दो ब्राह्मणो ने किया दो ब्राह्मणों को दो ब्राह्मणाभ्याम् कृतम् के साथ अन्वय होगे में तृतीयान्त है और देहि के साथ अन्वय में चतुर्थ्यन्तर पयोजरयत में पयः प्रथमान्त और द्वितीयान्त दोनों है। एक का जल अर्थ है और दूसरे का दुग्ध है पानी दूध को जलाता है। इत्यादि तो 'नीलोत्पलस्पर्धिनी' नेत्रे तनुर्वाहरे, की तरह और विद्वन्मानस हंस की तरह इष्ट है। नीलोत्पलेत्यादि काव्य प्रकाश के नव उल्लास में लिङ् तथा वचन श्लेष का उदाहरण है नीलोत्पलस्पर्धिनी तनु के विशेषण होने पर स्त्रीलिंग का एक वचन है और नेत्रे का विशेष होने पर नपुंसक का द्विवचन है इसलिये लिंग और वचन दोनों का उदाहरण है।

विद्वन्मानस हंस–भी काव्य प्रकाश दशम् उल्लास में रुपक का उदाहरण है। यहाँ मानस के चित्त और मानसरोवर दोनों ही अर्थ है। विग्रह इस प्रकार है विदुषां मानसाभिन्नं यन्मानसं सरस्तत्रत्य हंस असह विवक्षा में तन्त्र होने पर 'इदित' यह गुरुनिर्देश व्यर्थ हो जायेगा। उत्तर अन्यपदार्थ के ज्ञान के लिये है। इधस्य धातो के करने में गौरव है। परन्तु नागेश का यह कथन उचित नहीं है क्योंकि वह तो चक्षिङ्-धातु में नुम्वारण के लिये है 'इच्चासाविच्च' यह कर्म धारय समास स्वीकार इदन्त धातु को लुम हो यह अर्थ करना अत्यन्त आवश्यक है। चक्षिङ् अन्त में ङ्कार होने से नहीं होता है। स्वरूप सूत्र के भाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया है। प्रातिपदिक को तन्त्र मानकर ही प्रत्याख्यान जानना भाष्य में लिखा है अर्थौं प्रतिपद् अर्थान–२ प्रतियत वह सब प्रत्यर्थ ही है यहाँ अर्थपद से प्रवृत्त निमित्तनिष्ठ प्रकारिता का ही ग्रहण करना। अनेक घटादिपदो की अनविधान होने से साहित्य में वृत्ति ही नहीं है। एक ही वहाँ अनेकार्थ में वृत्ति है। इसमें अनभिधान का स्वभाव ही कारण है। यह उसका आशय है "द्विर्वचनेऽचि" इत्यादि में भाष्य में एक शब्द का प्रयोग किया है

वह तन्त्रपरक है उच्चारण करने वाला तन्त्र से प्रयोग कर सकता है परन्तु वेद्धा को तो आवृत्ति से ही बौद्ध होता है।

एकविभक्तावित्यत्रैकपदं तु स्पष्टार्थम्। एकस्यामपि विभक्तौ यानि विरूपाणि नेत्यर्थं स्पष्टं बोधयितुम् ध्वनितञ्चेदं 'विभक्तिः सारूप्ये उपलक्षणम्' इति भाष्ये एकपदानुच्चारणेन। समाहारद्वन्द्वविषये तु नैकशेषः 'एकवच्चास्यान्यतरस्याम् इत्यनेनैकशेषविषयपदानां समाहारे (४) वृत्त्यभावबोधनात्। 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादौ तु जातिपक्षेणैव (५) निर्वाहः। अत एव तत्र व्यक्तिपक्षे 'यं कञ्चिद् ब्राह्मणमहत्वा कृतीं स्यात् इति (६) दूषणं भाष्ये उक्तम्।

एक विभक्तौ में तो एक पद स्पष्ट अर्थ के लिये है। एक विभक्ति में भी जो विरूप न हो इस अर्थ को स्पष्ट अवगत कराने के लिये है। विभक्ति सारूप्य में उपलक्षण है यहाँ एक पद उच्चारण न करने से उपकर्ष का लाभ होता है। भाष्य में स्पष्ट है समाहार द्वन्द्व के विषय में तो एक शेष नहीं होता है। 'एकवच्चास्यान्यतरस्याम्' से एक शेष विषय वाले पदों का समाहार में वृत्ति नहीं होती है। ऐसा प्रतीत होता है। 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादि में तो जातिपक्ष से ही निर्वाह है। अर्थात् अर्थतन्त्र है, ब्राह्मणत्व में एक प्रकारता है और विशेष्यता अनेक ब्राह्मणों में है। जाति पक्ष के आश्रयण से ही वहाँ व्यक्ति पक्ष में जिस किसी ब्राह्मण को न मारकर कृत कृत्य हो सकता है यह दूषण भाष्य में कहा है।

शेषशब्दार्थश्चेतरनिवृत्तिपूर्वकमवस्थानं तदाह—एक एवेति। एकेति लुप्तविभक्त्यन्तं पृथक्पदम्। अत एव तत्र सरूपाणामित्यस्यान्वयः। तत्रावस्थानस्य सिद्धतया निवृत्तिरेव विधेया। तत्र 'शिष्यमाणं लुप्यमानार्थाभिधायि' इति न्यायेन श्रूयमाणपदवृत्त्या बोधः। धातुषु तु नास्य प्रवृत्तिः एकनिष्ठानेकव्यापाराणामिवानेकनिष्ठानामप्येकधातुत एव निवृभेदाना प्रतीत्याऽनेकधातुप्रयोगाप्रसक्तेः।

सरूपाणां किम्? घटपटौ। 'शेष' इत्येतन्मात्रोक्तौ द्विबह्वोरपि शेषः प्रसज्येत। एक इत्येतावदुक्तौ त्वेक आदेश इत्यर्थः स्यात्। तथा चाश्वश्चाश्वश्चेत्यादौ कदाचिद् द्व्युदात्तवत्त्वद्व्यनुदात्तवत्त्वरूपसाम्यमादायोभय (१) स्वरितैकादेशः प्रसज्येत्। न च 'अक्षस्यादेवनस्य' (शां० फि० २। ३५) इति फिट्सूत्रे शकटाक्षे आद्युदात्तस्य देवनाक्षे 'फिषः' (शां० फि० १।१) इत्यन्तोदात्तस्य चैकशेषं कदाचिदन्तोदात्तस्यापि शेषः स्यादिति वाच्यम्; (२) 'स्वरभिन्नानां यस्योत्तरस्वरविधिः' इति वचनेनैव निर्वा-

ह'त् । एकादिदशान्तसंख्यावाचिनामेकशेषद्वन्द्वाव (३) नभिधानान्न भवतः विंशत्यादौ त्विष्ट एवैकशेष इत्यलम् ।

दूसरे की निवृत्ति कर स्थित रहना ही शेष शब्द का अर्थ है। वैसा ही कहा है— एक एवेति। एक यह प्रथक पद है इसकी विभक्ति का लोप हो गया है। लुप्त विभक्त होने से ही वहाँ सरूपाणाम् का अन्वय है। वहाँ अवस्थान (स्थिति) के सिद्ध होने से निवृत्ति ही बिधेय है जो शेष रहता है वह लोप होने वाले के अर्थ को भी कहता है। इस न्याय से श्रूयमाणपद की शक्ति से बोध होता है धातुओं में एक शेष की प्रवृत्ति नहीं होती है। एक में रहने वाले अनेक व्यापारों की तरह अनेक में रहने वाले व्यापारों का भी एक धातु से भेद रहितों की प्रतीत होने से अनेक धातुओं के प्रयोग की प्राप्ति ही नही है।

सरूपाणां किम्। इसके अभाव में घटपटौ (विरूप) में एक शेष होने लगेगा। केवल शेष कहने पर तो द्वि वहु का भी शेष होने लगेगा। केवल एक कहने पर तो एक आदेश यह अर्थ हो जायेगा। तब कभी दो उदात्त वाला दो अनुदात्त वाला साम्य लेकर उभय स्वरित वाला एकादेश होने लगेगा। 'अक्षस्यादेवनस्य' इस फिट् सूत्र से शकटाक्ष (गाड़ी का अवयव) में आद्युदात्त और देवनाक्ष (द्युत के पासे) में 'फिषः' से अन्तोदात्त के एक शेष होने पर कभी अन्तोदात्त का भी शेष हो जायेगा यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि 'स्वरभिन्नानां' भिन्न स्वर वालों का जिसको उत्तर स्वर का विधान है इस वचन से ही निर्वाह हो जायेगा। एक से लेकर दशान्त संख्या वाचियों को एक शेष और द्वन्द्व का अनभिधान होने से नहीं होते हैं। विंशत्यादि में तो एक शेष इष्ट ही है।

चुटू (१।३।७)। 'आदिर्ञिटुडवः' (१।३।५) इत्यत आदिरिति 'षः प्रत्ययस्य' (१।३।६) इत्यतः प्रत्ययस्येति चानुवर्त्तते, तदाह—(४) प्रत्यया-द्याविति। तेन वाचाटे नेत्त्वम्। प्रत्ययेति किम्? चामरादावित्त्वं (५) माभूदिति। चुञ्चुप्चणपो (६) र्यादित्वात् (७) परनिमित्तयलोपस्य बहिरङ्गासिद्धित्वात् प्रत्ययादित्वाभावान्नेत्त्वम्।

'आदिर्जिटुडवः' से आदि और 'षः प्रत्ययस्य' से प्रत्ययस्य अनुवृत्त होती है वही कहते है प्रत्ययाद्याविति। प्रत्यय बोधक के आदि हो। उक्त अर्थ करने से वाचाटा में अन्त्य टकार की इट् संज्ञा नहीं होती है। चामर में चकार की इट् संज्ञा न हो इसलिए प्रत्यय ग्रहण है। चुञ्चुप् और चणप् प्रत्ययों के आदि में यकार है उसका लोप हो गया है। इसलिए चकार की इट्संज्ञा नहीं होती है। परनिमित्तक होने से लोप बहिरंग है। उसके असिद्ध होने से प्रत्यय का आदि चकार नहीं है। किन्तु यकार है।

न विभक्तौ (१।३।४)। 'हलन्त्यम्' [१।३।३] इत्यस्य [१] निषे-

धोऽयम् । अनित्यमिदं थमोर्मकारपरित्राणार्थादुत्करणात् । तेन 'किमोऽत्' [५।३।१२] 'क' इति सिद्धम् । प्राग्दिशीयत्वादयं विभक्तिः । अत एव दानीमो मस्य नेत्त्वमिति नव्याः । भाष्ये तु प्राग्दिशीयेष्वस्याप्रवृत्तावुदित्त्वं ज्ञापकमित्युक्त्वा 'दानीञ्च' [५।३।१८] इति सूत्रे 'लोपो व्योः' [६।१।६६] इति लोपेन यकारं प्रश्लिष्येत्सञ्ज्ञा वारिता । अन्यत्रानित्यत्वस्य [२] फलाभावाच्चैवमेवोक्तम् लोपस्यासिद्धत्वाच्च नान्त्यत्वमिति बोध्यम् । विभक्तौ किम् ? 'अचो यत्' [३।१।९७] ।

यह 'हलन्त्यम्' का निषेध का करता है थमु के मकार की रक्षा करने के लिए मुदित करने से यह अनित्य है। अनित्य होने से 'किमोऽत्' से अत् करने पर 'क' की सिद्धि होती है। प्राग्दिशीय होने से अत् की विभक्तिसंज्ञा है। तात्पर्य यह है कि यहाँ यह निषेध नहीं लगता है। तब तकार की इत्संज्ञा हो जाती है अनित्य होने दानीय के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है। ऐसा नवीन (दीक्षित) कहते हैं। भाष्य में तो थमु के उदित करने से प्राग्दिशीय प्रत्ययों में न विभक्ती की प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसा कहकर 'दानीञ्च' सूत्र में 'लोपो व्योः' से लोपकर यकार का प्रश्लेषकर इत्संज्ञा का वारण किया है। अन्यत्र अनित्यत्व का फल न होने से उक्त कथन ही उचित है। और लोप के असिद्ध होने से अन्त्य नहीं है। विभक्ति के अभाव में 'अचो यत्' से विहित यत् प्रत्यय के तकार की इत्संज्ञा का निषेध हो जायेगा।

अतो गुणे (६।१।९७) 'उस्यपदान्तात्' (६।१।९६) इत्यतः 'अपदान्तात्' इति 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) इत्यतः पररूपमिति चानुवर्त्तते। पुरस्तादिति। अत एव 'नादिचि' (६।३।१०४) इतीज्ग्रहणं चरितार्थम्। तद्धि 'रामाः' 'रामाव्' इत्यादौ निषेधाभावाय। पररूपेण पूर्वसवर्णदीर्घबाधे हि तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। नोत्तरानिति। अनन्तरापेक्षयोत्तरान् (३) व्यवहितानित्यर्थः।

एकवचनं सं (२।३।४९) 'सुः सम्बुद्धिः' इत्यु (४) चितम्। 'सम्बोधने च' (२।३।४७) इत्यतः सम्बोधने इत्यनुवृत्तेः सप्तमीबहुवचने (५) न दोषः सम्बुद्धौ अङ्गस्य गुण इति व्यवहारा (६)न्न तदन्तस्य सञ्ज्ञा। तस्मात्पारायणादावदृष्टार्थमेव न्यास इति बोध्यम्। सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्येति। सम्बुद्धेः प्रत्ययत्वेन यस्मात्स विहितस्तदादीत्यंशोपस्थितिः। चात्र योग्यतया पञ्चम्यन्त इति भावः। प्रत्यये गृह्यमाणे यस्मात्स विहित इत्यद्युपतिष्ठत इति 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः' (पा० भा०) इत्यादिपरिभाषार्थं

इति 'अङ्गस्य' (६।४।१) इति सूत्रे भाष्ये। स्पष्टम्। अनुमानरूपाऽऽक्षेपस्तु नात्र, फलाभावात्। यथा पीनत्वानुपपत्त्याऽनुमीयमानरात्रिभोजनस्य पीनत्वोपपत्तिः फलं, न तथा एतत्सूत्रे तदनुमानेन सम्बुद्ध्युपपत्तिर्भवति। किञ्च प्रत्ययस्योत्पत्तावङ्गापेक्षत्वेऽपि ज्ञाने तदपेक्षत्वाभावेन शास्त्रे तदाक्षेपे मानाभावः। अत एव 'अङ्गस्य' इति सूत्रे तत्स्थाने 'प्रत्यये' इत्यधिकारः कार्यं इति पक्षे 'प्राकरोत्' इत्यादौ उपसर्गात्पूर्वमडादिः स्यादित्याशङ्क्य 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेः' (प० भा०) इति परिभाषोपस्थित्या समाहितं भाष्ये न त्वङ्गाक्षेपेणेति (१) दिक्।

'उस्यपदान्तात्' से 'अपदान्तात्' की और 'एङि पररूपम्' से पर रूप की अनुवृत्ति होती है पुरस्तादिति। इसी से 'नादिचि' में इच् ग्रहण चरितार्थ है इच् ग्रहण रामाः रामान् इत्यादि में पूर्व सवर्ण दीर्घ के निषेध के अभाव के लिए है। पर रूप के पूर्व सवर्ण दीर्घ के निषेध के बाध होने पर तो वह व्यर्थ ही है नोत्तरानिति। अनन्तर अपेक्षा उत्तर अर्थात व्यवहितों का बाध नहीं करते है।

एक वचनं सं। "सुसम्बुद्धिः" सूत्र करना ही उचित था सम्बोधने च" से सम्बोधने की अनुवृत्ति होने के सप्तमी के वहुबचन मे दोष नहीं है। वास्तविक में तो सुः सम्बुद्धिः" में अनुनासिक उकार है सप्तमी के बहुबचन में दोष नहीं है। वास्तविक में तो "सुः सुम्विद्धः" में अनुनासिक डकार है सप्तमी के बहुबचन सुः में अनुनासिक नहीं है। इसलिए वहाँ दोषवारण के सम्वोधने की अनुवृत्ति व्यर्थ है। इसलिए रामाः में लोप न होना ही अनुवृत्ति का फल है। सम्बुद्धि के परे अंग को गुण है। इस व्यवहार से तदन्तर की संज्ञा नहीं होगी। यद्यपि उक्त न्याय में कोई दोष नहीं है तथापि पारायणादि में अदृष्य प्रयोजन के लिए ही एक बचनं इत्यादि न्यास है। सम्वुद्धयाक्षिप्तस्येति। सम्बुद्धि के प्रत्यय होने से यस्मात् सविहितस्तदादि इस अंश की उपस्थिति है। वह अंश यहाँ योग्यता से पंचमम्यन्त है। प्रत्यय के ग्रहण से जिससे यह विहित हैं। इत्यादि उपस्थित होता है। "प्रत्यय ग्रहणे, प्रत्यय के ग्रहण में जिससे वह प्रत्यय विहित है यह परिभाषा का अर्थ है यह सब 'अङ्गस्य' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। फल के न होने से अनुमान रूप आपेक्ष यहाँ नहीं है। जैसे पीनत्व की अनुपत्ति होने से अनुमीयमान रात्रि का भोजन से पीनत्व की उपपत्ति फल हैं उस प्रकार इस सूत्र में उसके अनुमान में सम्बुद्ध की उपपत्ति नहीं होती है। और प्रत्यय की उत्पत्ति में अंग की अपेक्षा होने पर भी ज्ञान में उसकी अपेक्षा न होने से शास्त्र में उसके आक्षेप में प्रमाण नहीं है। इसी से अंगस्य सूत्र में उसके स्थान में प्रत्यय अधिकार करना चाहिए इस पक्ष में प्रकारोत् इत्यादि में उपसर्ग से पूर्व

हडादि हो जायेंगे ऐसी शंका कर प्रत्यय ग्रहणे परिभाषा की उपस्थिति से भाष्य में समाधान किया है। अङ्ग के आक्षेप से नहीं।

अङ्गस्य—उक्तार्थस्य । 'हल्ङ्याब्' (६।१।६८) इति सूत्राद्धलित्यनुवर्त्तते । हे कतरदिति । प्रकृत्यकारस्य टिलोपेनापहरानिति भावः । नन्वङ्गात्परस्याः सम्बुद्धेरवयवस्य हलो लोप इत्युचितम्, सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्य सम्बुद्ध्यैवान्वयस्योचितत्वादत आह—कुलेतीति । अत्र परत्वात्पूर्वरूपे उभयत आश्रयणेऽन्तादिवद्भावाभावात् । (१) तत्स्वीकारेऽपि ह्रस्वसम्बुद्धयोः पौर्वापर्यव्यवहारासम्भवात्, [२] ताद्रूप्यानतिदेशाच्च ह्रस्वान्ताङ्गात्परसम्बुद्धेरभावान्मलोपो न स्यात् । एवञ्च लक्ष्यानुरोधादन्याक्षिप्तस्याप्यन्यत्रान्वय इति भावः । एतदर्थमेव 'हल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्' इति व्याख्यातम्, मस्य सम्बुद्धित्वाभावाद् । अर्द्धविकारेणैकदेशविकृतन्यायेनापि न सम्बुद्धित्वम्, एकवचनसञ्ज्ञासम्बुद्धिसंज्ञयोरुक्तपरिमाणनिष्ठतया तयोस्तेन न्यायेनालाभाच्च । मकारस्या [१] देशत्वाभावाच्च नात्र स्थानिवद्भावः । अत एव 'रामम्' इत्यादौ 'सुपि च' [७।३।१०२] इति दीर्घो न । न च सम्बुद्धित्वस्य सकारमात्रनिष्ठत्वेन स्थानिभूतालधर्मत्वेनामः [२] सम्बुद्धित्वाभावे कथं मस्य सम्बुद्ध्यवयवत्वमिति वाच्यम्, सुप्सञ्ज्ञाया उकारविशिष्टे सत्त्वेन सम्बुद्धिसंज्ञायामित्सञ्ज्ञोकारविशिष्टस्यैवोद्देश्यत्वे न तस्यानल्विधित्वात् । एतेनाद्डादेशेनैव नपुंसकत्वाभिव्यक्तौ कुलेतीति व्यर्थमित्यपास्तम् ।

उक्त अर्थ वाले का हलङ्यादि सूत्र से हल् की अनुवृत्ति होती है। हे कतरदिति। प्रकृति के अकार का टिलोप से अपहार हो गया है। अङ्ग से परे सम्बुद्धि के अवयव हल् का लोप होता है। यह अर्थ उचित है, क्योंकि सम्बुद्धि से आक्षिप्त अंग का सम्बुद्धि में ही अन्वय करना उचित है इस अर्थ में कुल में दोष है, जैसे कि लिखा है कुलेति। हे कुल में पर होने से पहले पूर्वरूप करने पर उभयता आश्रयवा में अन्तादिवच्च की प्रवृत्ति के न होने से और उसके स्वीकार करने पर ह्रस्व और सम्बुद्धि का पौर्वापर्य व्यवहार होना असम्भव है। और ताद्रूप्य धर्म का अतिदेश भी नहीं होता है। अर्थात् अन्त या आदि में रहने वाला जो वर्णत्व व्याप्त धर्म तद्घटित धर्म का अतिदेश नहीं होता है। ह्रस्वान्त अंग से परे सम्बुद्ध के न होने से मकार का लोप नहीं होगा। इस लिए लक्ष्य के अनुरोध से अन्य से आक्षिप्त का अन्यत्र अन्वय है। अर्थात् सम्बुद्धि से आक्षिप्त अंग को एव ह्रस्व का विशेषण मानते है। इसीलिए "हल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्" कहा। हल् का लोप होता है। यदि वह सम्बुद्धि का हो, मकार में सम्बुद्धित्व का

अभाव है। अर्द्ध विकार होने से एकदेश विकृतन्याय से भी सम्बुद्धित्व नहीं है। एक वचन संज्ञा और सम्बुद्धि संज्ञा को उक्त परिणाम होने से उनका उस न्याय से लाभ भी नहीं हो सकता है। नियत संख्या तथा नियत तौल नाप को ही उक्त परिमाण कहते है। यहाँ स्थानिवद् भाव की प्राप्ति नहीं है क्योंकि केवल मकार आदेश नहीं है। किन्तु आम् है इसी से रामम् में "सुपिच" से दीर्घ नहीं होता है। अब यहाँ शंका करते हैं। कि सम्बुद्धित्व तो केवल सकार में है, वहाँ अनल्विधौ के निषेध होने से आम् में सम्बुद्धित्व नहीं आवेगा। तब मकार भी सम्बुद्धि का अवयव कैसे होगा? उत्तर सुपूसंज्ञा उकार विशिष्ट में है उसको लेकर के होने वाली एकवचन संज्ञा उकार विशिष्ट में ही है। सम्बुद्धि संज्ञा में इत्संज्ञक उकार विशिष्ट को ही उद्देश्य होने से अनल्विधि है। उक्त कथन से नपुंसक की अभिव्यक्ति अद्‌ज से ही थी फिर कुलेति व्यर्थ है वे अस्त है।

एङ्ग्रहणं किमती। 'हरे विष्णो' इत्यादावङ्गाधिकारस्थात् (१) परनिमित्तापेक्षाच्च गुणात्पूर्वं ह्रस्वान्तत्वादेव सिद्धिः। सेप्रभृतीनां सम्बोधने (२) प्रयोगसत्त्वे एग्रहणेनैव सिद्धेः प्रत्याहारग्रहणं व्यर्थमिति प्रश्नः। हरे इति। सामर्थ्यादेवात्र सन्निपातपरिभाषा न, गुणात्सम्बुद्धेरेति वक्तव्ये एङ्ह्रस्वग्रहणसामर्थ्याच्च। अत एव 'हे लक्ष्मि' इत्यादौ लोपसिद्धिः। परत्वादिति अभ्युच्चयः। नित्यत्वाच्चेति चेना (३) नवकाशत्वसङ्ग्रहः। नपुंसके 'त्रपो' इत्यादावस्यापि लुका बाध इत्यन्यत्।

अमि पूर्वः (४) (६।१।१०७)। पूर्वसवर्ण इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे पूर्वग्रहणं तु रामम् इत्यादौ द्विमात्रावारणाय।

लशकु (१।३।८)। समाहारद्वन्द्वः। अतद्धिते किम्? 'कर्णललाटात्कनलङ्कारे' (४।३।६५) कर्णिका। कित्त्वफलं त्वादिवृद्धिः स्यात्। आदिग्रहणाद् वृङ षाकनो न। तस्य कित्त्वे गुणो न स्यात्।

तस्माच्छ (६।१।१०३) पुंसेति पञ्चम्यर्थे सप्तमी। पुंसो विहितस्येत्यर्थः, (५) तत्र विद्यमानाद्विहितस्येत्यर्थो वा। तस्मादिति किम्? (६) एतान् गाः पश्य। पुंसि किम्? मतीः।

'हरे', विष्णो इत्यादि में अङ्गाधिकारस्थ होने से और निमित्त की अपेक्षा करने से गुण से पूर्व ह्रस्वान्त मानकर ही कार्य हो जायेगा। से प्रभृति शब्दों का सम्बोधन में प्रयोग होने पर एक ग्रहण से कार्य चल सकता था फिर प्रत्याहार ग्रहण की क्या आवश्यकता है यह प्रश्न है (नहि पदान्तादेङो रूरस्ति) पदान्त के ऐङ से पर रू नहीं है। इस भाष्य से यह प्रतीत होता है कि इनका अनभिधान है। उत्तर हरे इति।

ऐङग्रहण सामर्थ्य से ही यहाँ सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है गुणात्सम्बुद्धे कहने से ही कार्य हो जाता फिर ऐङ ह्रस्वग्रहण सामर्थ्य से भी परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है अतएव 'हे लक्ष्मि' इत्यादि में भी लोप होता है 'परत्वात्' यह अभ्युच्चय मात्र है, नित्यत्व से भी कार्य सिद्ध हो सकता है चकार से अनवकाशत्व का भी संग्रह जानना। नपुंसक तपो आदि में लुक् से इसका भी बाध हो जाता है हे हरेः हे विष्णो में गुण करने के पश्चात् एङन्त मानकर सम्बुद्धि के सकार का लोप होता है।

अग्मिपूर्वः ॥ पूर्व सवर्ण की अनुवृत्त से ही कार्य हो जाता फिर पूर्व ग्रहण तो रामम् मात्रक को वारण के लिये है।

लशकु ॥ समाहार द्वन्द्व है। अतद्धिते कहने से 'कर्णललाटात्कनलङ्कारे' सिद्ध र्कणिका में ककार की इत्संज्ञा नहीं होती है। आदि वृद्धि होनी ही कित्व का फल हो सकता था। आदि ग्रहण से वृङ् के आकन् के ककार कीं इत्संज्ञा नहीं होती है। उसके कित्व होने पर गुण नहीं होता।

तस्माच्छ। पुंसि पञ्चमी के अर्थ में सप्तमी है। पुंलिग से विहित यह उसका अर्थ है अथवा पुंल्लिग में विद्यमान से विहित को हो तात्पर्य यह है कि जहाँ पुंल्लिग में मुख्य विशेष्यत के बोध की इच्छा से उच्चारण किया गया हो। इसी से राजकुमारी पश्य में त्व नहीं होता है। क्योंकि कुमारियों के दर्शन में तात्पर्य है. राजा से नहीं। तस्मात् के अभाव में एतान् गाः पश्य में नत्व हो जाता क्योंकि दीर्घ से परे शस् का समार है। परन्तु पूर्व सवर्ण दीर्घ से परे नहीं है।

अट्कु [७।४।२] बाधितुमिति। तेन 'पर्याणद्धम्' इत्यत्र 'उपसर्गादसमासेऽपि' [८।४।१४] इति णत्वसिद्धिरिति भावः। अयोगवाहानामिति। न विद्यते योगो वर्णसमाम्नाये येषां तेऽयोगोः अनुपदिष्टत्वादुपदिष्टैरगृहीतत्वाच्चेत्यर्थः। ते च ते वाहयन्ति प्रयोगं निर्वाहयन्ति ते वाहाः। ते चानुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमाः। अत एव 'उरःकेण' इत्यादौ विसर्गव्यवधानेऽपि णत्वसिद्धिः। तदुक्तं भाष्ये–'नार्थो नुग्ग्रहरणेनानुस्वारे कृतेऽड्व्यवाये इत्येव सिद्धम्' इति। 'आदर्शेन' इत्यादौ तु नातिप्रसङ्गः अडतिरिक्तव्यवायात्। 'तस्माद्' इत्युपस्थितं निर्दिष्टग्रहणमेतत्समभिव्याहारे [१] अडादिव्यतिरिक्ताव्यवहितपरम्। तदुक्तं–'णत्वेऽन्यव्यवाये प्रतिषेधो वक्तव्यो; न वाऽन्येन व्यवेतत्वात्' इति ग्रन्थेन। एतदुत्तरम् 'अटा व्यवायसत्त्वात्प्राप्नोत्येव, अटैव व्यवाये इत्यर्थात्' इत्यादि भाष्यमेकदेशिनोरुक्तिप्रत्युक्तिपरम्। 'चुटूतुलशर्व्यवाये न' इति प्रतियोगिज्ञानसापेक्षनिषेधबोधकगुरुन्यासेन सिद्धे 'अट्कुप्वाङ्' इत्युक्त्वा 'एतैरेव व्यवाये' इत्यर्थं वदता तस्यास्तदुक्तित्वध्वननात्। एतद्वार्तिकमतम्।

अट्कु वाधितुमिति। इससे 'पर्याणद्धम्' में 'उपसर्गादसमासेऽपि' णत्व होता है। अयोगवाहानामिति। जिनका वर्ण समाम्नाय में योग (सम्बन्ध) नहीं है वे अयोग है। अनुपदिष्ट होने से और उपदिष्टों से ग्रहीत न होने से वे जो वाह अर्थात प्रयोग का निर्वाह करने वाले यह विग्रह है। वे अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, यम है उनका अ इ उ ण अकार के आगे पाठ होने अट् होने के कारण 'उरःकेण' इत्यादि में विसर्ग के व्यवधान में णत्व सिद्धि होती है। भाष्य में भी लिखा है कि नुम् ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अनुस्वार करने पर अड्व्यवाये से कार्य हो जायेगा, अनुस्वार आट् में आ जायेगा। 'आदर्शेन' में दोष नहीं है क्योंकि अट् से अतिरिक्त सकार का व्यवधान है। 'तस्मात्' की उपस्थिति होती है इसके समीप में निर्दिष्ट ग्रहण होता है। इससे अडादि से अतिरिक्त का व्यवधान नहीं होना चाहिए जैसा कि भाष्य में लिखा है णत्वे के करने में अन्य के व्यवधान में निषेध कहना चाहिए, नहीं कहना चाहिए नहीं कहना चाहिए क्योंकि अन्य से व्यवेत है। इत्यादि ग्रन्थ से इसके आगे कहा कि अट् के व्यवधान होने से णत्व प्राप्त होगा। अट् के ही ही व्यवधान में हो यह उसका अर्थ है। यह भाष्य एक देशी की उक्ति प्रत्युक्ति रूप है "चुटुतुलशर्ष्य बाये न" च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, लकार और शर् के व्यवधान में न हो। प्रतियोगी के ज्ञान में सापेक्ष निषेध करने वाले गुरू न्यास से सिद्ध था, फिर अटकुप्वाङ कहकर इन्हीं के व्यवधान में हो इस अर्थ के कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्ति एक देशी की है। यह वार्तिक कार का मत है। जिसका निषेध होता है वह प्रतियोगी उसके ज्ञान के बिना निषेध होना सम्भव नहीं। जैसे घटाभावक ज्ञान घट के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता है।

भाष्ये तु 'रषाभ्याम्' (८।४।१) इति सूत्रे 'ऋवर्णान्नस्य (का० वा०) इत्यस्य प्रत्याख्यानाय व्यवाये' इति योगं विभज्य अट्कुप्वाङ्नुम्भिः इत्येतत् 'एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैर्व्यवाये नान्यैः' इत्यर्थकं व्याख्यातम् तदा तु 'आदर्शेन' इत्यादौ (२) प्राप्तिरेव नेति बोद्धयम्।

णत्वे इति। (१) णकारे इत्यर्थः। पदान्तस्य (८।४।३४)। 'न भाभू' (८।४।३४) इति सूत्रान्नेति वर्त्तते। अत्र सूत्रे 'अनन्तरस्य' इत्यादिव्यवस्थापकन्यायानाम् (१) प्रवृत्तिर्बोद्धया, (२) 'अपदान्तस्य' इत्यनुवर्त्यैतस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात्।

भाष्य में तो "रषाभ्यम्" सूत्र में 'ऋवर्णान्नस्य' वार्तिक के प्रत्याख्यान के लिये 'व्यवाये' का योगविभाग कर 'अट्कुत्वाङ्नुम्भिः कहा। इन्ही अक्षर समम्नाय वालों के व्यवधान में हो अन्यों से व्यवधान होने पर न हो इस प्रकार की व्याख्या की। तब तो आदर्शेन में णत्व की प्राप्ति ही नहीं है।

णत्वे इति। णकार अर्थ है। जैसे कुत्व कस्मान् भवति में कुत्व का कवर्ग अर्थ है। वास्तविक में शब्द ब्रह्मवादी वैयाकरण के मत में धर्मीसत्य ज्ञान आनन्द स्वरुप एक ही है अतः उसका विधान असम्भव है धर्म का ही विधान होगा तब तो णत्वे ही ठीक है। पदान्तस्य। "नाम्भाभू" सूत्र से नकार की अनुवृत्ति होती है। इस सूत्र से 'अनन्तरस्य' इत्यादि व्यवस्था करने वाले न्यायों की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि सब णत्व विधायक सूत्रों के पश्चात् निषेध काण्ड का आरम्भ है और 'अपदान्तस्य' की अनुवृत्ति कर भाष्य में इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है।

यस्मात्प्र [१।४।१३] 'यस्माद्' इति 'तदादि' इति तच्छब्दाकाङ्क्षापूरणाय। तदादीति। तत् प्रकृतिरूपमादि [३] यस्येत्यर्थः। प्रत्यासत्तिन्यायलब्धार्थमाह–[४] तस्मिन्प्रत्यय इति। 'गुणः कृतात्मसंस्कारः' इति न्यायेनात्रापि 'तस्मिन्' [१।१।६६] इति [५[परिभाषाप्रवृत्तिः। प्रकृतिमात्रस्य तु व्यपदेशिवद्भावेन तदादित्वं बोध्यम्। स्त्री इयतीति। इदं शब्दाद्वतुपि वस्य 'किमिदम्भ्यां वो घः' [५।२४०] इति घादेशे तस्येयादेशे 'इदं किमोः [६।३।९०[इतीशि 'यस्य' [६।४।१८४] इति लोपे ङीषि 'इयती' इति रूपम्। न च तत्र परतः स्त्रीशब्दस्येयङाद्यापत्तिरूपो दोषो न, यस्येतिलोपस्याभीयत्वादसिद्धत्वेनात्र तदप्राप्तेरिति वाच्यम्; व्याश्रयत्वेनाभीयासिद्धत्वाप्राप्तेः। तत्र हि समानाश्रयत्वमसिद्धत्वाश्रयशास्त्रसम्बन्धिनिमित्तसमुदाया [६] न्यूकानतिरिक्ताश्रयकत्वम्। अस्ति च यस्येतिलोपापेक्षया। 'स्त्रियाः' [६।४।७९] इति सूत्रेऽधिकस्य स्त्रीशब्दस्यापेक्षा। प्रत्यासत्त्याऽजादिप्रत्ययनिरूपिताङ्गे एवेयङ्प्रवृत्त्या स्त्रीशब्दस्य मुनिरूपिताङ्गत्वेऽपि न दोषः। विधिग्रहणादेव [१] 'भनक्ति' इत्यादौ 'अतो दीर्घो यञि' [७।३।१०१] इति न। तदादिग्रहणं 'करोमि' इत्यादौ विकरणस्य गुणार्थम्। अत्ययविशिष्टस्येति। तथा सत्यङ्गेन प्रत्ययपरत्वलाभानाषत्तौ 'वव्रश्च' इत्यस्यासिद्धिः। किञ्च 'राजपुरुषः' इत्यादौ 'न लुमता' [१।१। ६३] इति [२] निषेधात्पूर्वपदे पदत्वाभावेन नलोपानापत्तिरिति भावः। ततोऽप्यधिकस्य वेति। 'देवदत्त ओदनमपाक्षीत्' इत्यादौ देवदत्तादिशब्दोत्तरसुपं निमित्तीकृत्य लुङ्पर्यन्तमङ्गत्वात्तस्य लुङ्परत्वेन देवात्पूर्वमप्यडापत्तिः, अङ्गसञ्ज्ञायाः कत्ययनिमित्तत्वाभावेन लुङादिनिरूपिताङ्गस्येत्यर्थस्य दुर्लभत्वादिति भावः।

'यस्मादिति' 'तदादि' तच्छब्द भी आकाँक्षा पूर्ति के लिए है। तदादीति। वह प्रकृति रूप आदि जिसके यह अर्थ है इसका परिष्कार इस प्रकार है प्रत्यय निष्ठविधे-

यता निरूपितोद्देश्यता श्रम निष्ठाद्यवयवतानिरूपक। अर्थात् प्रत्यय में रहने वाली विधेयता का उद्देश्य का आश्रय हो उसमें रहने वाली आद्यावयकता उसका निरूपक हो। प्रत्यासत्तिन्याय से प्राप्त अर्थ को कहते है। तस्मि-प्रत्यय इति। ''गुणः कृतात्म-संस्कारः' (अप्रधान अपना संस्कार करके प्रधान का अनुरोध करते हैं) इस न्याय से यहाँ भी 'तस्मिन्' परिभाषा की प्रवृत्ति होनी है। प्रकृति मात्र की तो व्यपदेशिवद्भाव से तदादित्व जानना। स्त्रीइयतीति। इदम् शब्द से वतुप् प्रत्यय करने पर वकार को किमिदंम्यां वोघः'' घादेश होता है घ को इया देश होता है ''इदम् किमोः'' से इदम को इश् होता है ''यस्येति च' से इकार का लोप हो जाता है 'उगतीश्च' से ङीपि करने पर इयती में स्त्रियाः से इड् नही होता है)—क्योंकि यह प्रत्यय स्त्री शब्द से विहित नहीं है।– क्योंकि यस्येति च से इकार की आभीयत्वेन असिद्ध होने से उसकी प्राप्ति नहीं हैं यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि व्याश्रय होने से उसकी प्राप्ति नही है समानाश्रयत्व का परिष्कार करते हैं। असिद्वत्व का आश्रय जो शास्त्र तत्सम्वन्धी निमित्त समुदाय से अन्यूनातिरिक्त आश्रय वाला जो है; अर्थात दोनो के निमित्त में अधिकतया न्यूनता नही होनी चाहिए। प्रकृति मे यस्येति लोप की अपेक्षा स्त्रियाः सूत्र स्त्री की अपेक्षा अधिक करता है सामीप्य होने से अजादि प्रत्यय को मान-कर अंग संज्ञा होने पर इयङ की प्रबृत्ति होने से ही स्त्री को सु मानकर अंग संज्ञा होने पर दो नही है। बिधि ग्रहण के करने से ही भनक्ति में अतो दीर्घो यजि' से दीर्घ नहीं होता है तात्पर्य यह है कि जिसकी अवधि मानकर पर बिधेयता का आश्रय जो हो उसके परे तदादि की अंग संज्ञा होती है। इस प्रकार के अर्थ करने से स्त्री को मानकर वतुप् में विधेयता के न होने से स्त्री की अंग संज्ञा नहीं होगी। फिर विधि-ग्रहण की क्या आवश्यकता है इसलिए भनक्त दोष दिया है। यहाँ विधि ग्रहण के अभाव मकार के अकार के उत्तार श्नम् का विधान है इसलिए भकार के अकार को दीर्घ हो जायेगा। इसलिए विधिग्रहण आवश्यक है। करोमि के उकार विकिरण को गुण करने के लिए तदादि ग्रहण किया है। प्रत्यय विशिष्टस्येति। ऐसा होने पर अंग से प्रत्यय परत्व का लाभ होने पर वव्रश्च की सिद्ध नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि ''उरत् के पर निमित्तक न होने अचः परस्मिन् से स्थानिवत्भाव नही होगा। तब 'न समप्रसारणे का निषेध न होने पर वकार को सम्प्रसारण होने से वव्रश्च की सिद्ध नहीं होगी और राजपुरुषाः इत्यादि में 'न लुमता' के निषेध होने से पूर्व पद में महत्व के न होने से नकार का लोप नही होगा ततोऽप्यधिकस्यवेति। देवदत्त ओदनम् आया-क्षित इत्यादि में देवदत्त शब्द के उत्तर सुप् को निमित्त मानकर लुङ, पर्यन्त अंग होने से लुङ के परे होने से देवदत्त से पूर्व अडागम होने लगेगा। अंग संज्ञा के प्रत्यय निमित्तक न होने से लुङ् को मानकर जो अंग हो ऐसा अर्थ दुर्लभ है।

टाङसि (७।१।२) अङ्गस्येति षष्ठ्या 'अतो भिसः' (७।१।९)

इत्यतोऽनुवृत्तेनात इत्यनेन पञ्चम्यन्तेन समानाधिकरण्यानुरोधात्पञ्चम्या विपरिणाम। इत्याह—अकारान्तादिति। अकारात्परेषामङ्गसञ्ज्ञानिमित्तटदीनामित्यर्थ इति पक्षान्तरं भाष्ये। किञ्चादन्तादङ्गादित्यर्थेऽपि ब्राह्मणभिस्सा' इत्यादावतिप्रसङ्गः। ब्राह्मणेत्यस्यापि 'युवोरनाकौ' (७।१।१) इतिसूत्रभाष्योक्तरीत्याऽन्तर्वर्तिविभक्त्याऽङ्गत्वात्। अर्थवत्परिभाषया प्रत्ययग्रहणपरिभाषया वा प्रत्ययस्यैव भिसो ग्रहणे त्वेषामङ्गाधिकारे पाठो व्यर्थः। भिसः प्रत्ययस्यैव ग्रहणे हि प्रत्यासत्त्या तन्निरूपिताङ्गस्य ग्रहणमिति युज्यते वक्तुं, नान्यथा 'अतो भिसः' (७।१।९) इत्यत्राङ्गाधिकारस्य प्रयोजनं भाष्ये दत्तमित्यलम्।

अङ्गस्य इस षष्ठी का 'अतो भिसः' से अनुवृत्ति पञ्चम्यन्त अत् से सामानाधिकरण के कारण पंचमी से विपरिणाम् होता है इसी से कहा है—अकारान्तादिति। अकार से परे अंग संज्ञा के निमित्त ट आदि को इनादि आदेश होते है ऐसा अर्थ भी भाष्य में किया है। अदन्त अंग से इस अर्थ में भीं ब्राह्मणभिस्सा में ऐस् होने लगेगा। 'युवोरनाकौ' सूत्र भाष्य के अनुसार अन्तर्वर्तिनी विभक्ति से ब्राह्मण भी अंग है। अर्थवत् परिभाषा या प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से प्रत्यय ही भिस् के ग्रहण करने पर तो इन सूत्रों को अंगाधिकार में पाठ ही व्यर्थ है। भिस् प्रत्यय के ही ग्रहण करने पर सामीप्य से भिस निमित्तक अंग का ही ग्रहण होता अतोभिसः में अंगाधिकार का प्रयोजन भाष्य में' ब्राह्मण भिस्सा ही दिया है। भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोत्रम् इस कोश से भिस्सा भात् को कहते है।

सुपि च। (७।३।१०२)। 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) इत्यनुवर्तते। यञीत्यनेनाल्त्वात्तदादिविधिरित्याह—यजादाविति।

ङेर्यः (७।१।१३) चतुर्थ्येकवचनस्यैव ग्रहणं व्याख्यानादित्याह—ङेइत्येतस्येति। सन्निपातेति। उपजीव्यविरोधन्यायमूलैषा। सन्निपातः (१) संश्लेषस्तन्निमित्तको यो विधिः स तं सन्निपातं यो विहन्ति स तद्विघातस्तस्यानिमित्तमित्यर्थः न च यञादित्वसापेक्षदीर्घस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वान्नात्र सन्निपातविघात इति वाच्यम्; आरोपितासिद्धत्वेऽपि वस्तुतस्तद्विघातस्य जायमानत्वेन तत्प्रवृत्तेः (२) किञ्चान्तरङ्गे कर्त्तव्ये बहिरङ्गासिद्धत्वेऽपि तत्र कृतेऽसिद्धत्वे मानाभावः। (३) किञ्चा (४) तिदेशिकसन्निपातविघाताभावमादायैतद्प्रवृत्तौ 'गौरि' इत्यादौ सम्बुद्धिलोपेऽपि स्थानिवत्त्वेन ह्रस्वनिमित्तविघाताभावात्तत्रैतस्या अतिव्याप्तिपरभाष्या-

सङ्गतिः । सन्निपातस्याशास्त्रीयत्वान्नात्र स्थानिवत्त्वमिति चेत्तत्रासिद्धत्वमपि कथमिति वद ।

सुपि च । 'अतो दीर्घो यञि' की अनुवृत्ति होती है यञि को अल् होने से तदादि-विधि होती है इसी से लिखा है यञापाविति ।

ङेर्यः ।। व्याख्यान से चतुर्थी के एक वचन का ही ग्रहण है इसी से कहा है ङेइत्येतस्येति । सन्निपातेति । उपजीव्यविरोधन्याय मूला यह परिभाषा है । तात्पर्य यह है, कि जिसके आश्रय से कार्य हो उसका विरोध नहीं करना चाहिए । इस परि-भाषा का अर्थ इस प्रकार है । सन्निपात का अर्थ है संश्लेष उसको निमित्त मानकर जो विधि है वह उस सन्निपात को जो नष्ट करे वह उसका विघात है उसका निमित्त नहीं होता है यञादित्व को अपेक्षा करके होने वाला दीर्घ बहिरंग होने के कारण असिद्ध होने से यहाँ सन्निपात विघात नहीं है । उत्तर आरोपित असिद्धत्व होने पर भी वास्तविक में विघात होने से परिभाषा की प्रवृत्ति हो जायेगी । और अन्तरंग करने में बहिरंग के असिद्ध होने पर भी करने पर असिद्धत्व में कोई प्रमाण है । और और अतिदेश के द्वारा प्राप्त सन्निपात विघात के अभाव को लेकर यदि इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानने पर गौरि इत्यादि में सम्बुद्धि लोप करने पर भी स्थानिवत् भाव से ह्रस्वनिमित्त विघात के न होने से वहाँ इसकी अतिव्याप्ति परक भाष्य असंगत हो जायेगा । सन्निपात के अशास्त्रीय होने से स्थानिवत् भाव के न मानने पर वहाँ असिद्धत्व भी कैसा ।

कार्यस्य निमित्तं (५)ययोः सन्निपात (६)स्तयोः सूत्रे उपादानम-पेक्षितमिति तु नाग्रहः । अत एव 'दाक्षिः' इत्यत्राकारान्तप्रकृतीञ्सन्निपात-निमित्ताङ्गसंज्ञानया प्ररिभाषयाऽल्लोपस्य निमित्तं न स्यादित्याशङ्क्यानित्य-त्वेन समाहितं भाष्ये क्रन्मेजन्तसूत्रे । न ह्याङ्गसंज्ञायामदन्तस्याङ्गसञ्ज्ञेत्युक्त-मस्ति । न च कष्टायेत्यस्य 'अकृत्सार्व' (७।४।२५) इतिदीर्घेणोपपत्तेर-नित्यताज्ञापकत्वं कथमिति वाच्यम्, तस्यापि सन्निपातपरिभाषयाऽप्राप्तेः । (७) विरोधाभावात् (१) फले विशेषाभावाच्च परत्वेऽप्यकृदिति (२) नोपन्यस्तम् । तस्याकृदित्यादिपर्युदासेनासुप्येव प्रवृत्तिरित्यन्ये ।

कार्य का निमित्त जैसे रूपवालों का सूत्र में उपादान होना आवश्यक है यह आग्रह नहीं है उपादान की अपेक्षा न होने से ही दाक्षिः में अकारान्त प्रकृति से विहित इञ् प्रत्यय के सन्निपात निमित्त अंग संज्ञा इस परिभाषा से अल्लोप की निमित्त नहीं होगी ऐसी आशंका कर क्रन्मेजन्त सूत्र के भाष्य में अनित्य मानकर समाधान किया । अंग संज्ञा से अदन्त की अंग संज्ञा ऐसा नहीं कहा है 'अकृत्सार्व' से होने पर कष्टाय की सिद्ध हो जायेगी फिर उससे अनित्य ज्ञापकता किस प्रकार होगी । उत्तर सन्निपात

परिभाषा से उसकी भी प्राप्ति नहीं है विरोध के न होने से और फल में विशेषता न होने पर भी प्रकृति का यहाँ उपन्यास नहीं किया। प्रकृति पर्युदास से उसकी असुप् में ही प्रवृत्ति होती है।

झलि किमति। 'उतो वृद्धिः' (७।३।८) इत्यतो हलीत्येवानुवर्त्य सन्निपातपरिभाषया 'रामाणाम्' इत्यादौ न दोष इति प्रश्नः। झल्ग्रहणमेत्वे सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापनार्थम्। तेन 'सर्वेषाम्' इत्यादावेत्वसिद्धिरित्युत्तरम्। एतेन 'बहुवचने किम् ? रामस्य' इति व्याख्यातम्। (१) 'रामाभ्याम्' इत्यपि प्रत्युदाहरणं बोद्धव्यम्। 'बहुवचने झली*क्' इति तु न सूत्रितम् 'ज्ञानयोः' इत्यादौ (२) नुमापत्तेः।

जश्त्वमिति। बाधित्वेति शेषः। अवसाने चर्त्वस्य पदान्तजश्त्वा-(३) पवादत्वात्। द्वित्वे रूपेति। 'पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे' इति न्यायाच्चर्त्वोत्तरं द्वित्वं बोद्धव्यम्। तादेश इति। अन्यथा 'खरि च' (८।४।५५) इति चर्त्वेन सिद्धावि(१)दं व्यर्थं स्यादिति भावः।

झलि किमिति। 'उतो वृद्धिः' से हलि की अनुवृत्ति कर सन्निपात परिभाषा से रामाणाम् में दोष नहीं है। फिर झलि करने की क्या आवश्यकता है। यह प्रश्न है। झल्ग्रहण एत्व करने में सन्निपातपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। यह ज्ञापन के लिए है इसीसे सर्वेषाम् में एत्व सिद्ध होती हैं उक्त सूत्र में बहुवचन ग्रहण के अभाव में रामा में भी एत्व होने लगता। 'स्वौजस्' के स्थान में 'वैंजिस्' करने से इकार के झलादित्व न होने से दोष नहीं है। 'सुपिच' के स्थान में 'आपिच' करने से दीर्घ भी नहीं होगा। इसलिए दूसरा रामस्यदोष देते हैं। 'टाङसि' में स्य के स्थान में अस्य करने पर दोष नहीं है। अतः रामाभ्याम् में एत्व का न होना ही बहुवचन ग्रहण का फल है। 'बहुवचने झलीक्' सूत्र करना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानयो में इकोचि से नुम् होने लगेगा।

जश्त्वमिति। इसका शेष बाधित्व है क्योंकि अवसान में होने वाले चर्त्व पदान्त में होने वाले जश्त्व का अपवाद है। द्वित्वेरूपेति। 'पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे' न्याय से चर्त्व के पश्चात् द्वित्व जानना। तादेशइति। नहीं तो 'खरि च' से चर्त्व करने सिद्ध होने पर यह व्यर्थ था।

ह्रस्वन (७।१।५४)। ह्रस्वनद्याप इति पञ्चमी। 'आमि सर्वनाम्नः' (७।१।५२) इत्यत आमीति वर्तते। तच्च षष्ठ्या (२) विपरिणम्यते 'नामि' (६।४।३) इति लिङ्गादित्याह—ह्रस्वान्तादित्यादि। आमत्र षष्ठीबहुवचनमेव; न तु ङेरामादीति स्पष्टं भाष्ये।

यत्तु नुडिति विभाज्य सामान्येन नुड् विधेयः। नद्याप इति दीर्घान्ता-

च्चेन्नद्याप एवेति नियमार्थमिति दीर्घेषु न दोषः। हलन्ताच्चेत् षट्चतुर्भ्य एवेति नियम इति हलन्तेषु न दोषः। एवञ्च ह्रस्वग्रहणं न कार्यमिति, तन्न, नद्याप इत्यस्य (१) स्त्रीलिङ्गानाञ्चेन्नद्याप एवेति नियमपरतयाऽपि व्याख्यातुं शक्यत्वेन नदीत्वाप्त्वयोर्ह्रस्वेऽपि दृष्टत्वेन त्वदुक्तनियमे दृढतर-मानाभावेन च मतीनाम्' इत्यादौ नुडनापत्तेः।

ह्रस्वन। ह्रस्वनद्यापः यह पंचमी है। 'आमि सर्वनाम्नः' से आमि की अनुवृत्ति होती है उसका षष्ठी से विपरिणाम होता है इसमें 'नामि' ही प्रमाण है इसी से लिखा है। ह्रस्वान्तादित्यादि यहाँ षष्ठी का वहुवचन ही आमि लेना। ङे राम से विहित आम नहीं लेना।

किसी का कहना है। नुट् का विभाग कर सामान्य रूप से नुट् का ही विधान करो। दीर्घान्त से हो तो नदी और आप को ही हो इस नियम के लिए नद्यापः है। उक्त नियम से दीर्घ में दोष नहीं है। हलन्त से हो षट् चतुरादि से ही हो। अतः नियम से हलन्त में दोष नहीं है। फिर ह्रस्वग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि नद्यापः से स्त्रीलिंगों को ही तो नद्याप्रं को ही हो यह नियम भी हो सकता है। नदीत्व और आपत्व ह्रस्व में भी देखे जाते हैं इसलिए आपके नियम में दृढतर प्रमाण के न होने से मतीनाम् इत्यादि में नुट् नहीं होगा।

नामि (६।४।३)। 'ढ्रलोपे' (६।३।१११) इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। अङ्गस्येति किम्? चर्मणाम्। ननु 'आमि' इत्येवास्तु, नित्यत्वात् पूर्वं दीर्घेऽपि ह्रस्वान्तान्नुडित्येतत्सामर्थ्यात् (२) भूतपूर्वह्रस्वान्तत्वमादाय नुट्-सिद्धेः। न च 'नृ च' (६।४।६) इति दीर्घविकल्पात् 'नृणाम्' इत्यत्र नुट् 'चारितार्थः (३) नृनद्याप इत्येव सिद्धेः। तदुक्तं भाष्ये—

(१) 'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' इति। 'तिसृणाम्' इति 'षट्' (७।१।५५) इत्यत्रे त्रेरित्यनुवृत्त्या (२) सिद्धिमिति भाष्ये एव स्पष्टम्। एतेन 'ऋन्नद्यापः' इति न्यासे भाष्यतात्पर्यमित्यपास्तम् 'चतसृणां' 'प्रियचतसृणाम्' इत्यत्र 'षट्चतुर्भ्यः' (७।१।५५) इति सिद्धम्। गौणे तद्-प्रवृत्तौ तु न मानम्। बहुवचनन्तु लाघवार्थम्। द्विवचने हि 'चतुर्भ्याम्' इति गुरुनिर्देशः स्यात्, नैवमुदाहरणमिति प्रकृतसूत्रस्थभाष्यविरोधश्च। समाहारद्वन्द्वेन निर्देशे कार्ये बहुवचननिर्देशस्तदर्थं इति तु न युक्तम्; 'अस्थिदधि' (७१।७५) 'तिसृभ्योजसः' (६।१।६६) इत्यादौ (३) व्यभिचारात्।

नामि 'ढ्रलोपे' से दीर्घ की अनुवृत्ति होती है। अंग के अभाव में चर्मणाम् में भी दीर्घ होने लगता। अब यहाँ शंका करते है कि नामि, के स्थान में आमि, ही सूत्र करना चाहिए। यद्यपि उक्त न्यास में नित्य होने से पहले दीर्घ होगा। तो भी ह्रस्वान्त से नुट् विधान के कारण भूतपूर्व ह्रस्वान्त को नुट् हो जायेगा। 'नृच' सूत्र दीर्घ विकल्प से करता है। तब दीर्घ के अभाव में नृणाम् में सूत्र चरितार्थ है। यह उचित नहीं है। क्योंकि केवल नृ शब्द के लिए ही यदि सूत्र की आवश्यकता होती तो 'नृनद्यापः' से कार्य हो जाता भाष्य में कहा है कि 'नैकमित्यादि' अर्थात् एक उदाहरण के लिए सामान्य सूत्र निर्माण नहीं होता है। 'षटचतुर्भ्य' से वेः की अनुवृत्ति से तसृ–णाम की अनुवृत्ति हो जायेगी। उक्त कथन से ऋन्नद्यापः में भी भाष्य का तात्पर्य नहीं है। चतसृणां प्रियचतसृणां 'षटचतुर्भ्यश्च' से हो जायेगा गौण में उस सूत्र की अप्रवृत्ति होने में कोई प्रमाण नहीं है। उक्त सूत्र में बहुवचन लाघव के लिए है। द्विवचन में चतुर्भ्याम यह गुरु निर्देश हो जायेगा। नैकमुदाहरणं इत्यादि प्रकृतिसूत्र के भाष्य का भी विरोध होगा। समाहारद्वन्द्व से ही निर्देश करना था। बहुवचन निर्देश से गौण में अप्रवृत्ति होती है यह कहना उचित नहीं है। ''अस्थिदधि'' 'तिसृभ्यः' इत्यादि में व्यभिचार है। अर्थात् बहुवचन निर्देश होने पर भी इन सूत्रों की गौण में प्रवृत्ति होती है।

न च—'अङ्गाधिकारे पञ्चम्या यदुच्यते गृह्यमाणविभक्तेस्तद्भवति इति सर्वादिसूत्रभाष्याद् गृह्यमाणाद्विहितविभक्तेरित्यर्थकादस्य नुटो गौणेऽ-प्रवृत्तिः। 'षड्भ्यः' (७।१।२२) इत्यत्रापि विहितविशेषणमेवेत्याशयेन 'परमपञ्च' इत्यादौ लुगभावमाशङ्क्य 'षट्प्रधान एष समासः' इत्युक्तम्। समासस्य षट्प्रधानत्वेन (४) संख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यकबोधजनकत्वेन षट्त्वसत्त्वान्न दोष इति तदर्थः। 'ष्णान्ता' (१।१।२४) इत्यत्र लोके गण-नायां प्रसिद्धानामेव ग्रहणमित्यत्र न मानम्। प्रकृतेऽपि तथैव, षड्भ्य इत्यादौ पञ्चम्या विरुद्धविभक्तित्वादङ्गस्येत्यनेन सम्बन्धायोग्यत्वाद् विहिते-त्यद्ध्याहारेण प्रत्ययविशेषणतैवेति भाष्योक्तेः, इति गौणे नुटोऽप्रवृत्तितः,—इति वाच्यम्, 'नामि' (६।४।३) इति सूत्रस्योक्तभाष्यप्रामाण्यान्नुड्विधायके विहितपदानध्याहारेण षडादिभ्यः परस्याङ्गसञ्ज्ञानिमित्तस्यामो नुडित्य-र्थेन गौणेऽपि प्रवृत्तेः। 'अतो भिसः' (७।१।९) इत्यादावङ्गस्येत्यस्यैव-मन्वयस्यैवाङ्गसञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये उक्तत्वात् अत एव 'परमचतुर्णाम्' इत्यादौ नुट्।

अंगाधिकार में पंचमी से जो कहा जाता है। वह गृह्यामाण विभक्ति से होता है

यह सर्वादि–सूत्र के भाष्य से गृह्यामाण से विदित विभक्ति से इत्यर्थक होने से इस नुट् की गौण में अप्रवृत्ति है। 'षड्भ्यः' इत्यादि में भी विहित विशेषण ही है ऐसे आशय से परमपञ्चे में लुक कोई अभाव की आशंका कर षट्प्रधान यह समास है यह कहा। समास के षट्प्रधानत्व से संख्या जिसमें विशेषण हो संख्येय विशेष्य हो ऐसा बोध होने से षट्त्व के रहने से दोष नहीं है। ष्णोन्ता में लोक में गणना में प्रसिद्धों का ही ग्रहण हो इसमें प्रमाण नही है। प्रकृति में भी उसी प्रकार [जानना] 'षड्भ्य' विरुद्ध विभक्ति पंचमी के होने से अंगस्य के साथ सम्बन्ध की अयोग्यता होने से विहित के अध्याहार से प्रत्यय की विशेषता ही है ऐसा भाष्य में कहा है। तब तो गौण में नुट् की अप्रवृत्ति हो जायेगी। उत्तर नामिसूत्र के पूर्वोक्त भाष्य से प्रामाण्य से नुट् विधायक सूत्र में विहित पद के अध्याहार न होने से षडादियों से परे अंग संज्ञा के निमित्त भूत आम नुट् हो इस अर्थ से गौण में भी प्रवृत्ति होती है 'अतो भिस' सूत्र से अंगस्य इसी प्रकार का अन्वय अंग संज्ञा विधायक सूत्र में कहा है इसी से 'परम चतुर्णाम्' में नुट् होता है।

यद्यप्येवं 'षड्भ्यः' (७।१।२२) 'अद्ड् डतरादिभ्यः' (७।१।२५) इत्यनयोरपि वक्तुं शक्यं, तथापि लक्ष्यानुसारात्तत्र विहितविशेषणम्। 'विरुद्धविभक्तित्वात्' इति भाष्योक्तयुक्तिस्त्वेकदेशिन इति बोध्यम्। 'अद्ड्डतरादिभ्यः' (७।१।२५) 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) इत्यनयोरेव सर्वादिसूत्रे भाष्ये उपन्यासाच्च। 'षड्भ्यः' (७।१।२२) इत्यादेः षडर्थगतसंख्याभिधायिजश्शसोरित्यादिक्रमेणार्थ इति कैयटोक्तं तु 'अद्ड् डतरादिभ्यः' (७।१।२५) इतिसूत्रे भाष्यविरोधादिभिर्दूषयिष्यते न च 'पदां' 'दताम्' इत्यादावतिप्रसङ्गः, ह्रस्वत्वं नाम—मात्राकालिकाच्त्वं, तत्र सामार्थ्याद्विशेष्यभूतमात्राकालिकत्वांशे एव भूतपूर्वगत्याश्रयणं न तु विशेष्यभूताच्त्वांशेऽपीत्यदोषात्; इति चेत्? न, नोपधायाः' (६।४।७) इत्युत्तरार्थत्वात्। तेन 'चर्मणाम्' इत्यादौ दीर्घाभावः सिद्ध इति (१) दिक्।

यद्यपि इस प्रकार से षड्भ्यः 'अद्ड् डतरादिम्यः' में कह सकते हैं तो भी लक्ष्य के अनुरोध से उन दोनों में विहित विशेष है। 'विरुद्ध विभक्तित्वात्' यह भाष्योक्त युक्ति एक देशी की है और अद्ड्डतरादिभ्यः 'षड्भ्यो लुक्' इन दोनों का ही सर्वादि-सूत्र के भाष्य में उपन्यास किया है। 'षड्भ्यः' इत्यादि का षडर्थगत संख्या को कहने वाले जश, शस् को लुक हो इत्यादि कैयट से कहे अर्थ को 'अद्ड्डतरा दिभ्यः सूत्र में भाष्य विरोध दिखलाकर दूषित करेंगे। भूतपूर्व गत मानने पर पदाँ दताम् भी नुट् नही होगा। क्यों कि मात्रा कालिक अच् ही ह्रस्व है। अर्थात् ह्रस्व एक मात्रा वाला होता है विशेषण मात्रा कालिक में ही भूतपूर्व गत का आश्रयण हो सकता है। विशेष

अच्त्वांश में नहीं अब उत्तर देते है 'नामि' नोपधया के लिए है इसीलिए चर्मणाम् में दीर्घ नही होता है।

परिभाषाविरोधादिति । सर्वत्रानित्यत्वाश्रयणे मानाभाव इति भावः। कृताकृतप्रसङ्गित्वात् 'नामि' (६।४।३) इति नित्यम् । न च विशेषाभावेन फलाभावान्न कृते तत्प्राप्तिरिति वाच्यम्, विशेषाभावेऽपि पर्जन्यन्यायेन शास्त्रप्रवृत्तेः 'इको झल्' (१।२।९) इति सूत्रे भाष्ये उक्तत्वात् । 'आयादयः' (३।१।३१) इति सूत्रे भाष्ये स्यादिभिः परत्वादायादि (१) बाधमाशङ्क्य 'अनवकाशत्वादायादयः । न च 'गोपायति' इत्यादिरवकाशः अत्रापि शपः स्यादेः प्राप्तेः। न च नास्ति विशेषः। अन्यदिदानीमिदमुच्यते नास्ति विशेष इति । यदुक्तम्—'आयादीनां स्यादिभिरव्याप्तोऽवकाश इति, स नास्त्यवकाशः' इति (२) भाष्योक्तेश्चेत्यपि बोद्धयम् ।

परिभाषा विरोधादिति । यद्यपि सन्निपात परिभाषा अनित्य है तथापि सर्वत्र अनित्य मानने में कोई प्रमाण नही है विशेष के अभाव से फल के न होने से यहाँ उसकी प्राप्ति नहीं है यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि विशेषता न होने पर भी पर्जन्यन्याय से शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। जैसे (मेघ) जल और स्थल में बरसता हुआ है। यहाँ 'इकोझल' सूत्र के भाष्य में कहा है 'आयादयः सूत्र के भाष्य में पर होने से स्यादियों से आयादियों के बाध की आशंका कर अनवकाश होने से आयादि होते है। गोपायत इत्यादि में शावकाश है यह कहना भी कठिन है क्योंकि यहाँ शप् और स्यादि की प्राप्ति है कुछ बिशेषता नहीं है यह आपका कथन कुछ अन्य प्रकार का ही है कि विशेषता नही है कहा भी है कि आयादियों का स्यादियों से अव्याप्त अवकाश है। वह अवकाश नहीं है। ऐसी भाष्य की उक्ति है।

आरम्भेति । यत्तु 'कतीनाम्' इत्यत्र 'षट्चतुर्भ्यः' (७।१।५५) इति नुटि सन्निपातपरिभाषाया अप्राप्तेः सावकाशत्वमस्त्येवेति, तन्न, न ह्येकमित्युक्तन्यायेन (१) 'कतेर्नाभि' इत्येव सिद्धे सामान्यसूत्रारम्भेत्यर्थात् । एवञ्च 'न तिसृचतसृ' (६।४।४) इत्यकरणेन लाघवमिति भावः। नुटीति तु (२) नोक्तम् ।

अपदान्तस्य (८।३।५५) । ष इत्येव सिद्धे मूर्धन्यग्रहणम् 'इणः षीध्वम्' (८।३।७८) इत्यत्र ढविधानार्थं, 'रषाभ्याम्' (८।४।१) इत्यत्रानुवृत्त्यर्थञ्च । एवञ्च तत्र णग्रहणं, 'पदान्तस्य' (८।४।३७) इति च न कर्त्तव्यमिति भाष्ये स्पष्टम् ।

इण्कोः (८।३।५७)। वर्णग्रहणञ्चत्वंस्यासिद्धत्वात् 'स्रक्षु' इत्याद्यर्थम्।

आदेश (६।१।४५) प्रत्ययशब्दस्तदवयवपरो (३) व्याख्यानात्, साते: षत्वनिषेधाल्लिङ्गाच्च, तदाह–प्रत्ययावयवेत्यादि। विवृताघोषस्येति विवृतत्वरूपाभ्यन्तरप्रयत्नवतोऽघोषरूपबाह्यप्रयत्नवतश्चेत्यर्थः। ठकारवारणायाद्यम्। ऋकारवारणाय द्वितीयम्। रामस्येति। 'टाङसि' (७।१।१२) इतिसूत्रे सकारोच्चारणं तु 'इण्कोः' (८।३।५७) इत्यनुवृत्तावेव तात्पर्यग्राहकमिति भावः।

आरभ्येति। मन्तु ने कहा कि कतीनाम् में षट्चतुर्भ्यश्च नुट करने पर सन्निपात परिभाषा की अप्राप्ति से सावकाश है परन्तु यह कथन ठीक नही है। एक उदाहरण सामान्य शास्त्र के आरम्भ का प्रयोजक नहीं होता है इस न्यायसे 'कतेर्नामि कहने से ही सिद्ध था। सामान्य सूत्र के आरम्भ करने से परिभाषा का बाध होता है इस प्रकार से 'न तिसृचतसृ को न करने से लाघव भी है नुट् तो नही कहा क्यों अनश्चः में दीर्घ होने लगता।

अपदान्तस्य से ठा कहने से ही कार्य सिद्ध था, फिर मूर्धन्य ग्रहण 'इण' वीध्वम् में ढ विधान के लिये है और 'रषाभ्याम्' अनुवृत्ति के लिये भी है। इस प्रकार से 'रषाभ्याम् णग्रहण और और पदान्तस्य सूत्र करने की आवश्यकता है। यहाँ भाष्य में स्पष्ट है।

इण्कोः॥ कवर्ण का ग्रहण चर्त्व के असिद्ध होने से स्रक्षु के लिए है।

आदेश। प्रत्यय शब्द व्याख्यान से प्रत्यय के अबयव को कहता है 'प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम् में प्रथम प्रत्ययन ग्रहण ही इसमें प्रमाण है वही कहा है।

प्रत्ययावपवेत्यादि। विवृताघोषस्येति। विवृत आभ्यन्तर प्रयत्न वाले को और अघोष रूप बाह्य प्रयत्न वाले को षकार होता है। ठकार न हो इसलिए विवृत्त कहा ऋणकार वारण के लिए द्वितीय (अघोष) कहा। रामस्ययेति 'टाङ्सि' सूत्र में सकार का उच्चारण तो इण्कोः' की अनुवृत्ति में ही तात्पर्य ग्राहक है।

(१) सर्वादीनि। (१।१।२७)। तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। आदिशब्दोऽवयववाची। तेन सर्वशब्दघटित उद्भूतावयवभेदः समूहः समासार्थं इति बहुवचनम्। उद्भूतावयवभेद इत्यस्यारोपितावयवगतसंख्य इत्यर्थः। तत्र वैयर्थ्यादप्रवृत्तावपि अवयवेषु प्रवर्त्तमानाऽ(२)विशेषात् सर्वशब्देऽपि भवति। सर्वनामानीत्यत्र 'पूर्वपदात्' (८।४।३) इति णत्वमत एव (३) निपातनान्न। नाप्राप्ते णत्वे कृतस्य निपातनस्य तद्बाधकत्वात्।

णत्वसहितमसाधु इति स्पष्टं भाष्ये। 'प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम्' इतिवार्त्तिकात् शब्दरूपविशेषमादाय ज्ञापकात्तदन्तविधिरित्याह–द्वन्द्वे चेतीति। (१) प्रथमार्थे सप्तमी। द्वन्द्वः सर्वनामसञ्ज्ञो नेति तदर्थः न हि तदन्तविधिं बिना (२) समुदाये सञ्ज्ञाप्रवृत्तिरस्ति, या निषिद्ध्येतेति भावः। ननु तदन्तस्यापि सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नः स्मै' (७।१।१४) इत्यादिषु सर्वनाम्नो विहितस्य ङेः स्मै इत्यर्थाश्रयणेनातिसर्वादौ दोषाभावादुपसर्जनप्रतिषेधो न कार्य इति [३] भाष्यसूचितं विरुद्ध्येतेति चेत्? न, 'प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम्' इति तदन्तविधिसूत्रस्थवार्त्तिकभाष्यविरोधेनास्य भाष्यस्यै [४] कदेशयुक्तित्वात्। इत एव वाऽरुचेर्भाष्ये पक्षान्तरोपादानम्। न च ऋष्युक्तपक्षेषु नारुचिरिति भ्रमितव्यम्। वृद्धिसञ्ज्ञासूत्रे 'अपरितुष्यन् खल्वपि भवान् 'अनाकृतिः' लिङ्गेन वा' इत्याह' इति वार्त्तिककारं प्रति भाष्योक्तेः।

सर्वादीनि। तद् गुण संविज्ञान बहुव्रीहिसमास है। उस अन्य पदार्थ गुण अर्थात विशेषण जिसमें जाना जाय एक क्रिया में अन्वय होने से इसका परिष्कार इस प्रकार से है। एक क्रियान्वायित्वेन वृत्तिघटक पदार्थ विशिष्टान्य पदार्थ वाचकत्वं तद्गुण संविज्ञानबहुव्रीहित्वम्। इसका उदाहरण 'लम्बकर्णमानय' यहाँ लम्बे कर्ण वाले आनय क्रिया में अन्वय होने पर समास वृत्ति में अन्तःपाषी कर्ण का भी अन्वय होता है। आदि शब्द अवयव वाची है इसमें अर्थ शब्द उद्भूत है अवयवों का भेद जिसमें ऐसा समूवें समास का अर्थ है। यह बहुवचन से प्रतीत है उद्भूत अवयव भेद का अर्थ आरोपित अवयव में रहने वाली संख्या जिसमें हो वहाँ समुदाय में व्यर्थ होने से संज्ञा भी अप्रवृत्ति होने पर भी सामान्य होने से अवयवों संज्ञा की प्रवृत्ति होती है। इसलिए आद्यअवयवसर्व शब्द में भी होती है। सर्वनामानि में 'पूर्वपदात्' से णत्व—संज्ञा होने से पाया था परन्तु निपात मानकर नहीं होता है अवश्य प्राप्त णत्व में क्रियानिपातन उस णत्व का बाधक हो जाता है इसलिए णत्व युक्त असाध्य है। ऐसा भाष्य में लिखा है 'प्रयोजनं' सर्व नाम संज्ञा तथा अव्यय संज्ञा में प्रयोजन है। इस वार्तिक शब्द स्वरूप को विशेष मानकर ज्ञापक से तदन्त विधि होती है। जैसा कि कहा है—द्वन्द्वे चेतीति। प्रथमा के अर्थ में सप्तमी है। वास्तविक में तो सप्तमी का अर्थ में सप्तमी है। वास्तविक में तो सप्तमी का अर्थ वाचकत्व है जैसा कि "आकाशे त्रिदिवे नाकः' इत्यादि में होता है द्वन्द्व सर्वनाम संज्ञक नहीं होता है यह उसका अर्थ है तदन्तविधि के बिना समुदाय में संज्ञा की प्राप्ति नहीं है फिर निषेध किसका किया जाये इसलिए 'द्वन्द्वे च' सूत्र से तदन्तविधि ज्ञापित होती है, अब यह शंका करते है कि तदन्त की सर्वनाम संज्ञा मानने पर "सर्वनाम्नास्मैः" इत्यादि में सर्वनाम से विहित ङेः को स्मै

हो इस प्रकार के अर्थ के मानने पर अतिसर्वादि में दोष के न होने से उपसर्जन प्रतिषेध नहीं करना चाहिए। यह भाष्य से सूचित विरुद्ध हो जायेगा। उत्तर प्रयोजनं इत्यादि तदन्तविधि सूत्र में स्थित वार्तिक भाष्य के विरुद्ध होने से यह भाष्य की एक देशी की उक्ति है। अथवा इसी अरुचि से भाष्य में पक्षान्तर का उपन्यास किया है। ऋषियों से कहे पक्षों में अरुचि नहीं होती है, ऐसा भ्रम नहीं करना क्योंकि 'वृद्धिरादैच' सूत्र में 'अपरितुष्यन्' इत्यादि वार्तिक कार के प्रति भाष्यकार ने कहा अर्थात् असन्तुष्ट होने पर ही आपने 'अनाकृतिः' 'लिङ्गेन वा' कहा है।

अकच्चेति। 'कुत्सिते' (५।३।७४) इतिसूत्रोक्तभाष्यरीत्या संख्याकारकाभ्यां पूर्णार्थस्येतरान्वयेन सुबन्तादेव तद्धितोत्पत्तेः प्रत्यासत्त्या सर्वनामप्रकृतिकसुबन्तात्तदर्थगतकुत्साविवक्षायां सर्वनामावयवटेः प्रागकजित्यर्थात्तदन्तसञ्ज्ञाऽभावे तदसिद्धिरिति भावः। एवमेव त्रलाद्यसिद्धिर्बोद्धया। एतेनावयवनिष्ठसर्वनामत्वेन तत्सिद्धिरित्यपास्तम्।

अकच्चेति। 'कुत्सिते' सूत्र में कहीं भाष्य की रीति से संख्या और कारक से पूर्णार्थ का अन्यत्र अन्वय होने से सुबन्त से ही तद्धित की उत्पत्ति होती है। सामीप्य सम्बन्ध से सर्वनाम प्रकृति वाले सुबन्त से उसके अर्थ में कुत्सा की विवक्षा में सर्वनाम के अवयव की टि से पूर्व अकच् हो इस अर्थ तदन्त की संज्ञा के अभाव में इसकी सिद्ध नहीं होगी। इसी प्रकार त्रलाद्य की असिद्ध जानना। उक्त कथन से अवयव रहने वाले सर्वनाम को मानकर उसकी सिद्ध हो जायेगी यह कथन व्यर्थ है।

जसः शी (७।१।१७)। दीर्घोच्चारणमुत्तरार्थं, 'वारिणी' इति। अदन्तादिति—परस्येत्यनेनान्वेति। अत इत्यस्याङ्गविशेषतया अदन्तादङ्गादित्यर्थः। सर्वनाम्न इति तु (१) विहितविशेषम्। तस्य तु नाङ्गविशेष्यमावृत्तौ (२) मानाभावात्। तेन 'वर्णाश्रमेतराः' 'मासपूर्वाः' इत्यत्र न। अत एव 'विभाषा जसि' (१।१।३३) इति (३) चरितार्थम्। अङ्गसञ्ज्ञानिमित्तस्यादन्तात्सर्वनाम्नो विहितस्येत्यर्थस्तु न, 'तेषाम्' इत्याद्यसिद्धेः। अत्वविधौ विषयसप्तमी तु न 'तस्मिन्' (१।१।६६) इतिपरिभाषाबाधे मानाभावात्। प्रागित्सञ्ज्ञाया इति। प्रत्ययादित्वज्ञानाभावात्तज्ज्ञानाभाव इति भावः।

जसः शी। दीर्घ उच्चारण 'नपुंसश्चाक' अतएव' अतएव वारिणी की सिद्ध होती है। अदन्तादिति। इसका अन्वय परस्य से है। अतः को अंग का विशेषण मानने से अदन्तादंगाद (अदन्त अंग से) अर्थ होता है। सर्वनाम्ना तो विहित विशेषण है। उसका विशेष्य अंग नहीं है, क्योंकि आवृत्ति में प्रमाण नहीं है। इसी से 'वर्णाश्रमेत—

राः' 'ग्रासपूर्वा' में नहीं होता है। इसी से विभाषा जसि भी चरितार्थ है। 'द्वन्द्वे च' से निषेध प्राप्त होने पर शी भाव के करने में विकल्प से निषेध के लिए विभाषा जसि सूत्र है। यदि 'द्वन्द्वेच' शी भाव का निषेध नहीं करता तब 'विभाषा जसि' से शी करने में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा का निषेध व्यर्थ हो जाता। अंग संज्ञा का निमित्त अदन्त सर्वनाम् से विहित यह अर्थ नहीं है। क्योंकि उक्त अर्थ में ते, 'तेषाम्' इत्यादि की सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि वहाँ तत् शब्द से विभक्ति अदन्त से विहित नहीं है। 'त्य।दीनायः' में विभक्तौ यह विषय सप्तमी नहीं है। क्योंकि तस्मिन् परिभाषा के बाध में कोई प्रमाण नहीं है। प्रागत्संज्ञायाइति। प्रत्ययाद्वित्व के ज्ञान के न होने से अनुबन्ध का ज्ञान नही होता है। तात्पर्य यह है कि शी अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है नानुबन्धमनेकाल्त्वम् निषेध नहीं लगता है। क्योंकि प्राचीन के मत में इत्संज्ञकत्वम् ही अनुबन्ध है जस् के स्थान में शी भाव होने पर जस् का प्रत्ययत्व जब शी में आवे तब ही प्रत्यय का आदि मानकर सकार की इत्संज्ञा होती है।

परे तु अनुबन्धत्वयोग्यतयाऽत्रापि तन्निषेधप्रवृत्त्या शित्वादेव सर्वादेशः। इत्संज्ञायोग्यशकारवत्त्वमेव तत्सूत्रे शित्वम्। अत एव काणोर्विषये 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' [प० भा०] इति विकल्पाभावः। [४] अन्यथा कादीनां कादेर्वाक्यार्थबोधोत्तरं प्रत्ययत्वज्ञाने इत्सञ्ज्ञादेः प्रवृत्त्या वाक्यार्थबोधरूपतत्प्रवृत्तिकालेऽनुबन्धज्ञानाभावेन विकल्पो दुर्वारः पश्चादनुबन्धत्वज्ञानेऽपि जातनिवृत्त्ययोगात्। यदि तत्र पश्चात्तज्ज्ञाने तन्निवृत्तिस्तर्ह्यत्रापि पश्चात्तत्त्वज्ञाने सर्वादेशत्वस्यापि निवृत्त्यापत्तिः। [१] ध्वनितञ्चेद 'लुटः प्रथमस्य' [२।४।८५] 'अनेकाल्शित् [१।१।५५] इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये इति [२] प्राहुः।

यहाँ नागेश का मत यह है कि इत्संज्ञा योग्यत्वम् ही अनुबन्ध है। वह योग्यता सकार में भी विद्यमान है तब अनुबन्ध निषेध हो जायेगा तब तो शित्वमानकर ही सर्वादेश करना। इत्संज्ञा के योग्य शकारवत्व ही उस सूत्र में शित्व है इत्संज्ञा योगत्व रूप अनुबन्ध मानने से ही क और अण् के विषय में 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' से विकल्प नहीं हुआ। प्राचीनोक्त अनुबन्ध मानने पर तो कादियों का कादियों के वाक्यार्थ बोध के पश्चात् प्रत्ययत्व ज्ञान होने पर इत्संज्ञा आदि की प्रवृत्ति होने से वाक्यार्थ बोधकाल में अनुबधज्ञान के अभाव से विकल्प दुर्वार था। पीछे अनुबन्ध ज्ञान होने पर भी जात की निवृत्ति नही होती है यदि क अण् में पीछे अनुबन्ध ज्ञान होने पर उसकी निवृत्ति स्वीकार करते हो तो शी में भी अनुबन्धत्व ज्ञान होने से सर्व देवता की भी निवृत्ति हो जायेगी। यह विषय 'लुटः प्रथमस्य' अनेकाल्शित् इत्यादि सूत्रों

के भाष्य में स्पष्ट है डा में डा आ का प्रश्लेष करने से अनेकाल् मानकर आदेश होता है। अतः पभिाषेन्दुशेखर का भी कोई विरोध नहीं है।

अतः सर्वनाम्न इति। अदन्तादङ्गात् परस्य (१) सर्वनाम्नो विहितस्येत्यर्थः। तेन 'मासपूर्वाय' इत्यत्र स्मै न।

ङसिङ्यो: (७।१।१५)। स्मात्मिनोः 'हलन्त्यम्' (१।३।३) इति न 'न विभक्तौ' (१।३।४) इति निषेधात्। यद्यपि इत्त्वप्रवृत्तिकाले न विभक्तित्वज्ञानं, तथापि विभक्तावित्यस्य विभक्तित्वयोग्ये इत्यर्थान्न दोषः। अत एव सूत्रे तुग्रहणं चरितार्थम्।

(२) आमि स० (७।१।५२)। 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) इत्यत आदि वर्त्तते। पञ्चत्रिंशदित। तेन सर्वार्थप्रतिपादकत्वेऽपि कृत्स्नसकलादिशब्दानां नेति भावः। सर्वविश्वौ बुद्धिस्था (३) नेकसंख्याकावयवारब्धसमुदाये (४) शक्तौ। तस्य समुदायस्या (५) नुद्भूतावयवभेदत्वे एकवचनं यथा 'सर्वो लोकः' इति। तादृक्समुदायद्वयादिविवक्षायां द्विवचनादि— 'सर्वौ व्यूहौ' सर्वे व्यूहा इति। यदाऽप्यु (६) द्भूतावयवभेदसमुदायविवक्षा: तदाऽपि बहुवचनं—'सर्वे घटाः' इति।

अतः सर्वनाम्न इति। अदन्त अंग से परे सर्वनाम् से विहित इत्यादि अर्थ है। इस 'मासपूर्वाय' में स्मै नहीं होता है।

ङसिङ्यो:। 'न विभक्तौ' से निषेध होने के कारण स्मात् स्मिन् में तकार नकार की इत्संज्ञा नहीं होती है यद्यपि इत्संज्ञा के प्रवृत्ति के समय विभक्ति ज्ञान नहीं है। तो भी विभक्तौ का विभक्ति के अर्थ करने से दोष नहीं है उक्त अर्थ के करने से तकार की इत्संज्ञा न होने से 'न विभक्तौ' तु 'त वर्ग' ग्रहण भी चरितार्थ है। क्योंकि नकार भी त वर्ग में आ जाता है। आमि स ।। "आजन सेरसुक्" आच् की अनुवृत्ति होती है में आमि सत्तमी चरितार्थ है। आच्ज बेस्त्रय: (आज्ज से आत् पंचमी चरितार्थ है।

परत्वात् पंचमी निर्देश के प्राबल्य होने से तस्मात् परिभाषा षष्ठ्यंश सहित उपस्थित होती है और तस्मिन् परिभाषा षष्ठ्यंश रहित उपस्थित होती है।

तब इस सूत्र का यह अर्थ होता है आमव्यवहित पूर्वत्वविशिष्टं यत्सर्व्वनामाभिन्नम् दत्तमङ्ग तदव्यवहितोन्तस्वविशिष्टस्य सु ट् (आम से अव्यवहितपूर्व जो सर्वनाम से अभिन्न अंग उससे अव्यवहित उत्तर वाले को सुट् होता है) पच्चत्रिंशदिति ३५। उक्त गणना से कृत्स्नसमलादि शब्दों की सर्व के अर्थ के प्रतिपादक होने पर भी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। सर्व विश्व शब्द बुद्धि में स्थिति अनेक संख्या वाले अवयवों से निस्पन्न समुदाय में शक्त है। समुदाय के अनुद्भूत अवयव भेद मानने पर

एक वचन होता है जैसे सर्वो लोकः उस समुदाय की दो आदि की विवक्षा में द्विवचनादि होते है जैसे सर्वौ व्यूहौ, सर्वे व्यूहा जब उद्भूत अवयव वाले समुदाय की विवक्षा होती है तब भी बहुवचन होता है जैसे सर्वे घटा।

पूर्वपरावर [१।१।३४]। व्यवस्थाऽसञ्ज्ञावर्त्तिन एवेमे सर्वादय इत्यर्थः। एवमुत्तरसूत्रद्वयेऽपि।

नित्यं द्विवचनान्त इति। द्विवचनान्त एवेत्यर्थः। अकजर्थइति। ननु काकचोः को विशेषः? प्रत्ययस्वरचित्स्वराभ्यामन्तोदात्तत्वस्यैव सत्त्वात्। न च सुबन्तात्तद्धितोत्पत्त्या चित्त्वप्रयुक्तमन्तोदात्तत्वम् 'उभकाभ्याम्' इत्यादौ सुबन्तस्य, के तु प्रकृतेरिति विशेष इति वाच्यम्, तद्धितविधौ प्रातिपदिकादित्यधिकारेण प्रातिपदिकस्यैव प्रकृतित्वात् स च जायमानो न्यायात्सुबन्तात्पर इत्यन्यदेतत्। युष्मदस्मद्विषये तु वचनात्सुबन्तस्य प्रकृतित्वं तस्यैव टेः प्रागकजिति बोद्ध्यम् न चाकचि तन्मध्यपतितन्यायेन तस्योभग्रहणेन ग्रहणे उभकावयवौ यस्येत्यर्थे उभकशब्दादयचि 'उभकयः' इति रूपं, के तु नेति विशेषः, 'कश्चेदानी काकचोर्विशेषः' इति भाष्यप्रामाण्येन तेषामनाभिधानादिति शङ्कते—न चेति।

पूर्वपरावर। व्यवस्था और असंज्ञा में विद्यमान होने पर ही यह सर्वादि है आगे के दोनों सूत्रों में भी इसी प्रकार जानना।

नित्यं द्विवचनान्त इति। द्विवचनान्त ही है। अकजर्थ इति। अब यहाँ शंका करते है कि क और अकच् में क्या विशेषता है क्योंकि क में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्व है और अकच् में 'चितः' से अन्तोदात्व होगा। सुबन्त की तद्धित की उत्पत्ति होने से चित् मानकर होनेवाला चित् स्वर (अन्तोदात्व) 'उभकाभ्याम्' में सुक्त को होगा। क में प्रकृति को होगा। यह विशेषता है। यह शंका भी उचित नहीं है। क्योंकि तद्धित विधि में प्रातिपदिक को अधिकार होने से प्रातिपदिक ही प्रकृति है। वह होने वाला न्याय से सुक्त से परे हो यह विषय दूसरा है। युस्मद् और अस्मद् के विषय में तो वचन से सुबन्त ही प्रकृति है और उसकी ही टि से पूर्व अकच् होता है। अकच में तन्मध्यपतितन न्याय से अकच् प्रत्यय सहित का उभ के ग्रहण से, ग्रहण होने से उभकावयवौ यस्य इस अर्थ में उभक शब्द से अयच् प्रत्यय करने पर उभकया रूप होता है। क में नहीं होगा विशेषता है। यह कहना भी ठीक नहीं है इस समय क और अकच् में क्या विशेषता है इस भाष्य के प्राभाण्य से उन प्रयोगों का अनभिधान है। अब शंका करते है—न चेति।

द्विवचनपरत्वाभावेनेति। अकचि तन्मद्ध्यपतितन्यायेनोभशब्दस्य द्विवचनपरत्वं, के तु तेन व्यवधानान्न तस्य तत्त्वमित्यर्थः। 'उभादुदात्तः'

(५।२।४४) इतिसूत्रे भाष्यकृताऽयचः प्रत्ययान्तरत्वेन व्याख्यानान्महाविभाषासम्बन्धस्यावश्यकत्वेन नित्यग्रहणमयोग्यं सद् योगविभागेनोभशब्दाद् वृत्तिविषयेऽत्यन्तस्वार्थिकायज्विधानार्थम् । अयञ्च तद्विषये सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव, स्वार्थिकत्वेनान्तरङ्गत्वात् अत एवायज्विशिष्टस्योभस्य सर्वनामत्वात्सर्वनामप्रकृतिकसप्तम्याद्यन्तत्वेन त्रलाद्युत्पत्तिः । अत्र नित्यशब्दस्य वाच्यार्थविरोधान्महाविभाषाया असम्बन्धः । अयमप्याद्युदात्त एवोदात्तग्रहणानुवृत्तेः । अयञ्च वार्तिकप्रामाण्याद्यत्रो (२) भशब्दस्यो (३) भयशब्दस्य वा द्विवचनविषयत्वाभावसम्भावना तत्रैव । अत एव 'उभयोर्वासः' इत्यादौ 'शयवास' (६।३।१८) इत्यलुकि नायच् । तध्वनयन् वार्तिकमाह–उभयोऽन्यत्रेति । द्विवचनपरत्वाभावे इति । तत्परत्वविषयत्वाभावे इत्यर्थः । 'उभयो मणिः' इत्यादौ तु न 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (६।१।१७) इति निर्देशेन योगविभागस्ये (१) ष्टसिद्ध्यर्थत्वेन च तस्य क्वचिदप्रवृत्तेः । अतो रूपाद्यन्ते नायच्, रूपादेरस्मादनभिधानमेव वा । (२) अयच्यकच् तु न वाच्यः, (३) उपजीव्यत्वेन कस्यैव प्राप्तेः । अपवादस्त्व (४) न्यत्र चरितार्थः ।

द्विवचन परत्वा भावेनेति । अकच् करने पर अकच् के मध्य में होने से तन्मद्ध्य पतितन्याय से उभ शब्द से द्विवचन परे है क मैं तो उसके ब्यवधान द्विवचन परत्व नही है । 'उथादुदात्तः सूत्र में भाष्यकार ने अयच् का अन्य प्रत्यय मानकर व्याख्यान करने से महाविभाषा का सम्बन्ध आवश्यक होने से नित्य ग्रहण अयोग्य होकर योग विभाग से उसशब्द से वृत्ति के विषय में अत्यन्त स्वार्थिक अयच् करने के लिए है यह उसके विषय में सुवुत्तपत्ति से पूर्व होता है अयच् सहित उभ (उभप) को सर्वनाम प्रकृतिक सम्तम्यन्त होने से तलाद्यु होते हैं । यहाँ नित्य शब्द के वाच्य अर्थ के साथ बिरोध होने से महाविभाषा का सम्बन्ध नही होता है । उदात्त ग्रहण की अनुवृत्ति होने से यह भी आद्युदात्त ही है । यह वार्तिक प्रामाण्य से उभ शब्द या अभय शब्द को द्विबचन विषय की अभाव संभावना जहाँ हो वहाँ ही होगा । इसी से 'उभयोर्वास : इत्यादि में 'शयवास' से अलुक् होने पर अयच् नहीं होता है ।

क्योंकि यहाँ तो द्विवचन ही है । इस बात को ध्वनयन् करते हुए वार्तिक कहते है – उभयोऽन्यत्नेति । द्विवचन–परत्वाभावे इति । द्विवचन परत्व का जहाँ विषय न हो । उभयोमणिः इत्यादि में तो नही होता है इसमें लिट्यभ्यास-स्योभयेषाम् । यह निर्देश ही प्रमाण है और योग विभाग से इष्ट सिद्ध करनी चाहिए । इसलिए कहीं उसकी प्रवृत्ति नही होती है । इसी से रूपक् प्रत्यय करने पर तदन्त से अयच् नहीं

होना है। अथवा इससे रूपादि कर अनभिधान ही मानना चाहिए। अयच् करने पर अकच् नही होता है क्योंकि उपजीव्य होने से ककार की प्राप्ति है। अपवाद तो सर्विका में चरितार्थ है।

अत्रेदं चिन्त्यम्, अकज्विधावेवोभग्रहणेन सिद्धे सञ्ज्ञाप्रणयनं (५) किमर्थम् ? अभिव्यक्तपदार्थकत्वात्संज्ञाव्यावृत्तिः, सर्वनामसाहचर्याच्च। अत एवोपसर्जनव्यावृत्तिरपि। 'उभयोऽन्यत्र' इति वार्तिके तयप्समानार्थकोऽप्ययज् गृह्यते 'उभयो मणिः' उभये देवमनुष्याः, इति भाष्ये तदुदाहरणात्। स्वार्थिकस्य च ग्रहणं, तदुपक्रमेण वार्तिकप्रवृत्तेः। एवञ्चावयवद्वयारब्धमणिद्वयविवक्षयोद्भूतावयवभेदविवक्षया वा द्विवचनमस्यासाध्वेव। एतन्मूलकमेवोभयस्यासर्वविभक्तित्वं 'तद्धितश्च' (१।१।३८) इतिसूत्रे कैयटेनोक्तं तदाह–कैयट इति। हरदत्त इति। अत्रारुचिबीजं प्रागुक्तभाष्यविरोधः।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि अकच् विधायक सूत्र में ही उभ के ग्रहण से कार्य सिद्ध था फिर संज्ञा करने की क्या आवश्यकता है अभिव्यक्त पदार्थकत्व और सर्वनाम के साहचर्य से संज्ञा की व्यावृत्ति से हो जायेगी (अभिव्यक्ति पदार्थों ये इत्यादि) इसी से उपसर्जन की भी व्यावृत्ति भी हो जायेगी 'उभयोऽन्यत्र' वार्तिक में तयप् के समान अर्थ वाले अयच् का ग्रहण होगा। क्योंकि उभयोमणिः उभय देव मनुष्याः। यह एक वचन और बहुबचन में ही उसका उदाहरण भाष्य में दिया है। और स्वार्थिक का ही ग्रहण करेंगें। क्योंकि स्वार्थिक को लेकर ही वार्तिक की प्रवृत्ति हुई है। इस प्रकार से दो अवयवों से आरब्ध दो मणियों की विवक्षा से या उद्भूत अवयव भेद शिक्षा में इसमें द्विवचन असाधु ही है। इस विषय को लेकर ही उभय को असर्व विभक्तित्व 'तद्विवश्च' सूत्र में कैयट ने कहा है–कैयट इति। हरदत्त इति। इसमें अरुचिका बीज प्रागुक्त भाष्य विरोधी ही है।

भाष्ये तूभशब्दपाठः प्रत्याख्यातः। कप्रत्ययस्याज्ञाताद्यर्थविशिष्टस्वार्थे विधानेन [१] द्वित्वसंख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यकबोधविषयार्थानुवादकत्वरूपद्विवचनत्वेन वार्त्तिके द्विवचनशब्देन तस्यापि ग्रहणमुभशब्दग्रहणवत्। अत एव उभयोरुभौ 'उभौभौ' इत्यादौ नायच्। तदुक्तं भाष्ये केऽप्यन्तरेण वचनं द्विवचपरो भविष्यति। कथं ? स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भवति' इति। इति हेतोः। प्रकृतेः कादिप्रकृतेरुभशब्दस्य ग्राहकेण द्विवचनशब्देन स्वार्थिकस्यापि ग्रहणमिति तदर्थः त्रतसिलौ तु विभक्त्यन्तस्य स्वार्थे विहिताविति [२] तत्तत्कारकशक्तिप्रधानावेवेति न तयोरुक्तद्विवचनत्वमिति।

तस्मात् उभयशब्दात्। जसीति। अवयवद्वयारब्धसमुदायबहुत्व-विवक्षायामित्यर्थः। अन्तरङ्गत्वादिति। [१] सर्वार्थबोधकत्वरूपार्थस्योभयत्रापि निमित्तत्वेन न तत्कृतं नित्यसञ्ज्ञाया बहिरङ्गत्वम्। अत एव सञ्ज्ञोपसर्जनप्रथमादिशब्दे न विकल्पः, अथकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणाच्चेति भावः। इदमर्वाचामनुरोधेन।

भाष्य में तो उभ शब्द का पाठ प्रत्याख्यात है अज्ञातादि अर्थ से सहित स्वार्थ में क प्रत्यय के करने से द्वित्वसंख्या जिसमें विशेषण हो और संख्येय (जो गिना जाता है) विशेष्य वाला जो बोध तद्विषय अर्थ का अनुवाद करने वाला ही द्विवचनत्व वार्तिक के द्विवचन शब्द से ग्रहीत है उभ शब्द की तरह। इसी से उभयों रुभौ उभयौ में अयच् नहीं होता है। भाष्य ने भी कहा है कि वचन के बिना भी क में द्विवचन शब्द में परे हो जायेगा कैसे कैसे स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति में अवशिष्ट (समान) होते हैं इसलिए प्रकृति के ग्रहण से स्वार्थिक प्रत्ययों का भी ग्रहण होगा। इस हेतु से प्रकृति कादि की प्रकृति उभ शब्द के ग्रहक होने से द्विवचन शब्द से स्वार्थिक का भी ग्रहण होगा यह उसका अर्थ है। त्रतसिल तो विभक्त यन्त्र से स्वार्थ में होते है इसलिए सप्तम्यन्त पंचमम्यन्त कारक शक्ति प्रधान हैं। उनमें पूर्वोक्त द्विवचनत्व नहीं है।

तस्मात्—अर्थात् उभ शब्द से जसीति अवयव द्वयबने समुदाय के बहुत्व विवक्षा में अर्थ जानना। अन्तरंगत्बादिति। प्रधान सर्वाथ बोधकत्व रूप अर्थ दोनों में निमित्त है उसको लेकर नित्यसंज्ञा में बहिरंगत्व नहीं है। इसी से संज्ञा और उपसर्जन प्रथमादि शब्द में विकल्प नहीं होता है और अर्थ कृत बहिरंग का आश्रयण भी नहीं होता है। दीक्षितादि यह नवीनों के अनुरोध से कहा है।

परे तु अस्य [२] पक्षेऽभावबोधकतया 'निषेधाश्च बलीयांसः' इत्यनेनास्य प्राप्तिः। किञ्च न 'अन्तरङ्गं बलीयः' इत्यस्या अत्र विषयो युगपत्प्राप्त्यभावात्, सञ्ज्ञानां बाध्यबाधकभावाभावेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञासमकालमेव [३] सर्वनामसञ्ज्ञाप्रवृत्तेः।

अत एव 'उभये' इत्यत्र सर्वनाम्नो विहितत्वेन [४] शीभावसिद्धिः। पूर्वापरेत्यादि तु पक्षे तद्भावमात्रबोधकम्। 'असिद्धं बहिरङ्गम्' [प० भा०] इत्यपि न, अन्तरङ्गोत्तरं बहिरङ्गप्राप्तेः। अन्तरङ्गे कर्त्तव्ये बहिरङ्गासिद्धत्वेऽपि तत्प्रवृत्त्युत्तरं बहिरङ्गप्रवृत्तेरनया [१] वारयितुमशक्यत्वात्। बहुशस्तथा दृष्टत्वात्। तदुत्तरमप्येतत्प्रवृत्त्या पूर्वादिष्विव पक्षे तद्भावविशिष्टे साधुत्वबोधनस्य शक्यत्वात्। जसीति विषयसप्तमीतिपक्षेऽपि प्रातिपदिकादिसञ्ज्ञोत्तरमेवास्याः प्रवृत्तिस्तदुत्तरमेव तद्विषयात्,

स्थानिवदतिदेशप्रापिताया [२] निरवकाशत्वाच्च, प्रत्यक्षस्य स्थानिवद्-भावस्यानुमानिक्याऽनया [३] बाधायोगाच्च, सर्वनामसञ्ज्ञायासु]४] क्तयुक्त्या यथोद्देशपक्षस्यैवौ [५] चित्यात्। [६] अत एव 'तयादेशे उभय-प्रतिषेध। तयपो ग्रहणेन ग्रहणात् जसि विभाषा प्राप्नोति' इति स्थानि-वत्सूत्रस्थं वार्त्तिकम् 'अयच् प्रत्ययान्तरम्' इति सूत्राशयप्रदर्शनेन भाष्यं प्रत्याख्यातं, न त्वन्तरङ्गन्यायबलेन। 'उभयी' इत्यत्र टिडाढा' [४।१।१५] इति सूत्रे मात्रशब्दादारभ्यायचश्चकारात्प्रत्याहाराश्रयणेन सिद्धः। अत इत्यनुवृत्त्या च 'कति' इत्यादौ नातिप्रसङ्गः। तयब्ग्रहणन्तु सूत्रे [७] ऽवयु-त्यानुवादः। द्वित्रिशब्दप्रतिकायजन्तस्य जसःशीविषयेऽनभिधानमेव, पुंस्येव वाऽनभिधानमिति तदाशय इति वदन्ति।

यहाँ नागेश का मत है प्रथम सूत्र के पक्ष में अभाव बोधकता होने से निषेध बलवान होते है इसलिये इसकी प्राप्ति है। और यहाँ अन्तरंगम् बलीयः परिभाषा का विषय भी नहीं है क्योंकि एक साथ प्राप्ति नहीं है। संज्ञाओं में बाध्याबाधक भाव न होने से प्रातिपदिक संज्ञा के समान काल में ही सर्वनाम संज्ञा की प्रवृत्ति होती है वास्तविक में विचार करने पर उपसंजनिष्यमाण परिभाषा से 'सर्वादीनि' सूत्र में निषेधसूत्र के विषय को छोड़कर संकोच करने से नित्य संज्ञा की प्राप्ति न होने से यह नागेश का कथन अयुक्त प्रतीत होता है इसी से उभये में सर्वनाम् से विहित होने से शी भाव की सिद्धि होती है। पूर्वापरस्त्याद तो पक्ष में उसके अभाव मात्र के बोधक है 'असिद्धं बहिरंग का विषय नहीं है। क्योंकि अन्त-रंग के बाद बहिरंग की प्राप्ति है। अन्तरंग करने पर बहिरंग के असिद्ध होने पर भी अन्तरंग की प्रवृत्ति के पश्चात् बहिरंग प्रवृत्ति का इससे बारण भी नहीं हो सकता है। बहुत से स्थलों में उस प्रकार से देखा गया है। उसके उत्तर की प्रवृत्ति मानने पर पूर्वादियों की तरह पक्ष में उसके अभाव वाले में साधुत्व मानना भी हो सकता है। जसि को विषय सप्तमी स्वीकार पक्ष में भी प्रातिपदिक संज्ञा के पश्चात् ही सर्वनाम संज्ञा की प्रवृत्ति होगी, क्योंकि प्रातिपदिक संज्ञा के बाद ही उसका विषय है। और स्थानिवत् के अतिदेश से प्राप्ति संज्ञा का निरविकाश भी है और प्रत्यक्ष स्थानिवत भाव का इस आनुमानिमी से बाध होना भी सम्भव नहीं है और पूर्वोक्त उक्तियों से सर्वनाम संज्ञा में यथोद्देश्य पक्ष मानना ही उचित है। उभये में विकल्प से संज्ञा प्राप्त होती है यह स्वीकार करने से—तथा देश में उभय का प्रतिषेध करना चाहिए। तयप् के ग्रहण से ग्रहण होने से जस् में विकल्प प्राप्त है। इस स्थानिवत् सूत्र के वार्तिक को अयच् प्रत्यान्तर है। ऐसा सूत्रकार का आशय प्रदर्शन कर भाष्य में प्रत्या-ख्यान किया अन्तरंग न्याय के बल से नहीं किया है। उभयी में ङीप्त 'टिड्ढा' सूत्र

मात्र शब्द से लेकर अयच् के चकार से प्रत्याहार मानने पर किया है अत् की अनुवृत्ति करने से क्षति में दोष नही है। सूत्र में तयप् का ग्रहण अवयुत्यानुवाद है अर्थात पृथक करके एक देश का अनुवाद है द्वित्रि प्रकृति वाले अभजन्त का जस के स्थान में शी के विषय में अनभिधान है। या पुल्लिग में ही अनभिधान है ऐसा आशय भी वर्णन करते है वदन्ति तक नागेश का मत समाप्त है।

तथापीहेति। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रणम्' इति 'प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम्' इति च तदन्तविधिद्वयेन डतरान्तान्तेत्याद्यर्थे परमकतरस्य, व्यपदेशिवद्भावेन कतरस्य च (१) संज्ञा सिद्धेति भावः। तत्र मानामाह—केवलयोरिति प्रयोजनाभावात्। फलाभावादित्यर्थः अदन्तादङ्गात्परस्य (२) सर्वनाम्नो विहतस्येत्येव 'जसः शी' (७।१।१७) इत्यादेरर्थादिति भावः।

ननु डतरग्रहणेनैव सिद्धेऽन्यतरशब्दपाठो व्यर्थोऽत आह—अन्यतरेति। किंयत्तद्भ्य एव तयोर्विधानादिति भावः। अपुरीति। पूःशब्दस्य (१) विशेष्यत्वेनेत्यर्थः। तद् ध्वनयन् स्त्रियामुदाहरति– अन्तरायामिति।

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥

इति केचित्। केवले—असहाये। तत्र संख्याऽन्यार्थासहायवाची 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२४) 'बहुषु बहुवचनम्' (१।४।२१) 'एकादाकिनिच्च' (५।३।५२) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टमुक्तः। 'एको गोत्रे' (४।१।९३) इति सूत्रशेषे भाष्ये प्रथमार्थोऽपि उक्तः। साधारणसमानार्थयोः संख्यावाचिन एवार्थतः पर्यवसानम्, तथा 'तेनैकदिक्' 'चैत्रमैत्रयोरेका माता' इत्यादौ। 'सर्वस्य द्वे' (८।१।१) इतिसूत्रे 'एकैकशः' इति भाष्यमुपादाय 'केचिदाहुरल्पार्थोऽप्येकशब्दोऽस्ति' इति वदता कैयटेन केचिदित्युक्त्या तदर्थकाभावो ध्वनित एव। एवं च प्रधानार्थे (२) न दृढं मानम्।

तथापीहेति। प्रत्यय के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण होता है। सर्वनाम और अव्यय संज्ञा में प्रयोजन है। इन दो तदन्तविधियों के होने से डतरान्तान्त् अर्थ मानने पर परमकतर की संज्ञा हो जायेगी और व्यपवेशिवद् भाव से कतर की संज्ञा हो जायेगी इसमें प्रमाण कहते है—केवलयोतित प्रयोजनाभावात्। अर्थात् फल के अभाव से अदन्त अंग से परे सर्वनाम से विहित इत्यादि ही 'जसः शी' इत्यादि सूत्रों का अर्थ है डतर के ग्रहण से ही कार्य सिद्ध था फिर अन्यहर शब्द का पाठ व्यर्थ है इसका उत्तर देते है। —अन्यतरेति। उन दोनों प्रत्ययों का विधान किम्, यत् और तद् से ही विधान है। अपुरीति। पूः शब्द के विशेष्य होने पर नहीं होगी। इसी को स्पष्ट करने के लिए

स्त्री में उदाहरण देते हैं—अन्तरायामिति। एक शब्द अन्य के अर्थ में प्रधान में, प्रथम में, केवल में, साधारण में, समान में, अल्प में, और संख्या में प्रयुक्त होता है। यह किसी का मत है—केवल का अर्थ असहाय है। वहाँ संख्यावाची अन्यार्थवाची असहाय वाची "ष्णान्ताषट्" "बहुषु बहुवचनम्" 'एकादाकिनिच्च" इत्यादि सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट कहा है "एकोग्रोबे" सूत्र के अन्त में भाष्य में प्रथमार्थ भी एक कहा है। साधारण और समान अर्थ को तो संख्यावाची में पर्यवसान है, जैसे—'तेपैकदिक्' चैत्रमैत्रयोरेकामाता। 'सर्वस्य द्वे सूत्र में एकैकश भाष्य को लेकर किसी का मत है कि अल्पार्थक भी एक शब्द है यह कहते हुए कैयट ने केचित् कहने से उस अर्थ वाले का अभाव ध्वनित किया है। इस प्रकार से प्रधान अर्थ में दृढ़प्रमाण नहीं है। वास्तविक में यह कथन साहस मात्र है क्योंकि अर्थ का निर्णय कोश से होता है। कोश 'एके मुख्यान्यकेवलाः' कहता है।

स्वाभिधेयापेक्षावधीति समस्तः पाठः। नियमेना (३) वधिसापेक्षेऽर्थे वर्तमानपूर्वादीनामित्यर्थः। दक्षिणा गाथका इति। उत्कर्षस्यावधिसापेत्वादत्र व्यवस्थाऽस्तीत्याग्रहे तु 'उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्तः' इति प्रत्युदाहरणं बोद्ध्यम्। उत्तराः कुरव इति। सुमेर्ववधिकपरदेशत्जरूपोपाधिविशिष्टकुरयु उत्तरशब्दः शब्दं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य वर्तते इति व्यवस्थाविषयत्वं बोद्धयम्। दिग्वाचकपूर्वादिशब्दानां (४) मध्याह्नसूर्यसंयोगिदेशावधिकोदयाचलास्ताचलसन्निहितदेशतात्कालिकसूर्यसम्मुखयावद्देशतत्कालिकतत्पृष्ठस्थयावद्देशरूपोपाधिविशिष्टदिशि तत्तच्छब्दं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य प्रवृत्तिरिति उपाध्यन्तर्गततया व्यवस्थाऽस्त्येव मध्याह्ने सूर्यस्योदङ्मुखत्वात् देशवृत्तीनां तत्तदवधिकोदयाचलसन्निहितत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्यत्र विस्तरः।

अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये।

छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमद्ध्येऽन्तरात्मनि च॥ (अ० को०)

इति कोशोक्तार्थान्तरव्युदासार्थमाह—अन्तरं बहिर्योगेति। अयं त्रिसूत्र्या क्रियमाणः सञ्ज्ञाविकल्पो जसाधारे शीभाव एव, न त्वकजाद्युदात्तत्वादाविति बोद्धयम्।

स्वामिधेयोपेक्षावधि। यह समस्त पाठ है नियम से अवधि में सापेक्ष अर्थ में विद्यमान पूर्वादियों को अवधि के अंश में नित्यसाकांक्ष जो रूप उस रूप वाले वाचक का ही व्यवस्था वाचक ही तत्व यह है कि जिस धर्म वाले के ज्ञान में उत्तर अवधि विशेष विषय वाली जिज्ञासा नियम से उत्पन्न हो उस धर्म वाले का वाचक ही व्यवस्था वाचक है दक्षिणा गाथका इति। उत्कर्ष भी अवधि सापेक्ष होता है इसलिये यहाँ भी

व्यवस्था का आग्रह करने पर तो 'उत्तरे च प्रत्युत्तरे च शक्तः' प्रत्युदाहरण समझना। उत्तराः कुरवइति। सुमेर्व अवधि वाले परदेशत्व रूप जो उपाधि उससे युक्त कुरवों में उत्तर शब्द को प्रवृत्ति निमित्त करके है इसलिये व्यवस्था का विषय है दिशा को कहने वाले पूर्वादि शब्द का मध्यान में सूर्य के सहयोग वाले देश को अवधि करने वाला जो उदयाचल, अस्ताचल, सविहित देश और उस समय सूर्य के सन्मुख यावत देश और उस काल में उसके पृष्ठ में स्थिति यावत देश तदरूपोपादि विशिष्ट दिशा में उन –२ शब्दो को प्रवृत्ति निमित्त करके प्रवृत्ति होती है। इसलिये उपादि के अन्तर्गत होने से व्यवस्था है। मध्यान में सूर्य का मुख उत्तर को रहता है। देश वृत्तियों का उन-२ अवधि वाले उदयाचल सन्निहित्वम् ही प्रवृत्ति निमित्त है। अन्तरम् अवकाश अवधि, परिधान, अन्तर्द्धि, भेद, तादर्थ्य, छिद्र, आत्मीय, बिना, वहि अवसर मध्य आत्मा, अन्तरशब्द के कोश के अनुसार पूर्वोक्त अर्थ है अन्य अर्थो की व्यावृत्ति के लिये— 'अन्तर— बहिर्योगेति' इस त्रिसूत्री किया गया संज्ञा का विकल्प जसाधार शी भाव में ही है। अकजादि और स्वरादि के लिये नहीं है।

न बहुव्रीहौ (१।१।२९)। चिकीर्षिते इति अध्याहारलभ्यम्। प्राचीनवृत्तिकृद्रीत्येदं व्याख्यानम्। नेदं सूत्रं बहुव्रीहेस्तत्त्वनिषेधकमुपसर्जनप्रतिषेधेन सिद्धेः। प्रक्रियावाक्य इति। अलौकिके इत्यर्थः न न चालौकिके समासप्रवृत्त्यैकार्थीभावस्यापि तत्रैव कल्पनादुपसर्जनत्वादेव समास इव तत्रापि निषेधः सिद्ध इति वाच्यम्, तत्रैकार्थीभावस्यारोपेऽपि (१) स्वार्थविशिष्टार्थान्तरबोधकत्वरूपोपसर्जनत्वाभावेन 'अतिभवकान्' इत्यत्रेव प्राप्तस्याकचोऽभावार्थं सञ्ज्ञानिषेध इत्यत्र तात्पर्यात्। लौकिके तु नास्य प्रवृत्तिस्तत्र समासस्य चिकीर्षितत्वाभावात्। अतिक्रान्त इत्यादिन पूर्वोक्तस्य लौकिकवाक्यस्य समासस्य च दृष्टान्तद्वयमुच्यते। (२) अकृतव्यूहपरिभाषा तु नास्त्येवेति। भाष्यकारस्त्विवति।

अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयम्।

इतिभाष्योक्तेः। वृत्तिकृद्रीत्येदं व्याख्यानमयुक्तमिति भावः।

ननु 'स्मृतिद्वयप्रामाण्याद्विकल्पो ऽस्तु' कथं प्रत्याख्यानमत आह— यथोत्तरमिति। एतच्च 'घिन्विकृण्व्योर च' (३।१।८०) इति सूत्रे भाष्ये (३) ध्वनितम्। एतञ्च वृत्तिकृदुक्तार्थकं नेदम्। तस्मादुपसर्जनप्रतिषेधानुवादकम्। यद्वा वार्तिककृता तस्य कृतत्वात् सूत्रकृतेदमारब्धम्। सञ्ज्ञाया अन्वर्थत्वमपि भाष्यकृदूहितमेव न सूत्रकृदूहितमिति 'विभाषा दिक्' (१।१।२८) इति सूत्रे (४) कैयटे स्पस्टम्। सूत्रे सप्तमीनिर्देशः (५) प्रथमार्थ

एव। अत एव वृत्तिकृदुक्तः प्रक्रियावाक्ये निषेध इत्यर्थो भाष्यकृता बहुव्रीहि-पदस्य तदर्थवाक्यस्पदलक्षणया साधियतः। अन्यथा मूलोक्तरीत्या सिद्धे तादृशलक्षणाप्रयासो व्यर्थं स्यादिति तत्त्वम्।

न बहुव्रीहौ। 'चिकीर्षिते' का लाभ अध्याहार से है यह व्याख्या प्राचीन वृत्तिकार के अनुसार है। यह सूत्र बहुब्रीहि के सर्वनामत्व का निषेध करने वाला नहीं है क्योंकि वह निषेध तो उपसर्जन के प्रतिषेध से ही हो जायेगा। प्रक्रिया वाक्य इति। अर्थात अलौकिक प्रक्रिया वाक्य में। अलौकिक में समास की प्रवृत्ति होने से और वहाँ ही एकार्थीभाव की कल्पना करने से समास की तरह उपसर्जन होने से ही निषेध सिद्ध है। यह किसी की आशंका है। उत्तर अलौकिक में एकार्थीभाव के आरोप होने पर भी स्वार्थविशिष्ट अर्थान्तर बोधक होने उपसर्जन होता है पदार्थान्तर निष्ठ विशेष्यता निरूपित उपस्थिति प्रकारता प्रयोजकत्व उपसर्जनत्वम्। अन्य पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता को लेकर उपस्थिति प्रकारता विशेषणता का जो प्रयोजक होता है वह उपसर्जन है। युस्मद् सु इस अलौकिक विग्रह वाक्य में वह नहीं है। उस प्रकार के उपसर्जनत्व न होने से अति भवकान् की तरह प्राप्ति अकच् के अभाव के लिये संज्ञा का निषेध है लौकिक विग्रह में तो निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि वहाँ समास चिकीर्षित नहीं हैं। अतिक्रान्त इत्यादि पूर्वोक्त लौकिक वाक्य और समास के दोनों दृष्टान्त है अकच् का निमित्त सर्वनामत्व तो समास करने पर नष्ट हो जायेगा। तब अकृतव्यूह परिभाषा से सर्वनाम संज्ञा पूर्व में नहीं होगी। यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि नागेश के मत में अकृतव्यूह परिभाषा नहीं है।

भाष्यकार स्विति। अन्तरंग होने से संशय छोड़कर अकच् और स्वर करने चाहिए। ऐसा भाष्यकार ने कहा है। दो स्मृतियों में प्रामाण्य से विकल्प होना ठीक है, प्रात्याख्यान क्यों ? इसका उत्तर करते हैं – पयोन्तरमिति। यह "धिन्विकृण्व्योर च" सूत्र के भाष्य में ध्वनित है उक्त सूत्र से अकारादेश विधान ही इसका ज्ञापक है। लोप करने से 'न धातु' के निषेध से धिनोति में गुण नहीं होता। फिर अकारादेश का विधान किस लिए है। न धातु के खण्डन पक्ष में अकार का विधान आवश्यक है इस तरह वृत्ति कार से कहे अर्थ वाला नहीं है। इससे उपसर्जन के प्रतिषेध का अनुवादक है। यहा वार्तिकार ने उसको कहा और सूत्रकार ने यह सूत्र बनाया। संज्ञा का अनवर्थत्य भी भाष्यकार की बुद्धि का प्रभाव है सूत्रकार से उदित नहीं है। यह विभाषा दिक्' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। इस कथन में अरूचि यह है कि उक्त अर्थ मानने पर महाऋषियों का सर्वज्ञत्व नष्ट हो जायेगा। इसलिए उत्तर मुनि के तात्पर्य के अनुसार ही पूर्वमुनि का तात्पर्य है। इसलिए उत्तर मुनि के तात्पर्य के अनुसार ही पूर्वमुनियाका तात्पर्य रहता है। सूत्र में सप्तमी निर्देश प्रथमा के अर्थ में मानने से हीं वृत्तिकार से कहा प्रक्रिया वाक्य निषेध यह अर्थ भाष्यकार ने बहुब्रीहि पद की बहुब्रीहि के लिए

जो वाक्य उसमें स्थिति पद में लक्षणा करके साधा है। नही तो मूलोक्त रीति से कार्य सिद्ध हो जाता फिर उक्त प्रकार से लक्षणा करने का प्रयास व्यर्थ हो जाता।

तदनुगुणानामेवेति। प्राधान्येनोपस्थितिविषयप्रसिद्धस्वीयसर्वार्थवाचकत्वसमानाधिकरणसर्वनामपदवत्त्वेन (१) बोधकमहासञ्ज्ञया सर्वार्थोपस्थापकसर्वादीनामनुकरणावश्यकत्वेनेतरेषामनुकरणे मानाभावः। नामपदस्वारस्येन प्राधान्येनेत्यस्य लाभः, उपसर्जनं हि–(२) इतरविशेषणयैवोपस्थापकमिति तेन तद्व्यावृत्तिः। पूर्वादिसङ्ग्रहाय स्वीयसर्वार्थेति सञ्ज्ञाव्यावृत्तये 'अभिव्यक्त' इतिन्यायमूलकं प्रसिद्धतीति भावः।

सर्वादिसूत्रस्य चायमर्थः—सर्वादीनि तदन्तानि चोक्तसर्वार्थवाचकत्वसमानाधिकरणसर्वनामपदवन्तीति। तत्र प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायेन सर्वनामपदवत्त्वांशे एव विधिः, सर्वार्थवाचकत्वस्य लोकतः सिद्धेः। एतेनान्वर्थसंज्ञोपस्थितसर्वार्थवाचकस्य विशेष्यतया सर्वादीनीत्यस्य तद्विशेषणत्वात्तदन्तविधिरित्यपास्तम्, एकपदोपस्थाप्ययोरर्थयोः परस्परमुद्देश्यविधेयभावेनान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात्, रूढ्यर्थयोगार्थयोरन्यतरवियोगेनान्यत्रान्वयायोगाच्च। तदन्ते सर्वार्थवाचकत्व त्ववयवद्वारा बोद्ध्यम्। एतेन तदाक्षिप्तस्य विशेष्यतेत्यपास्तम्, तद्विनाऽनुपपत्त्यभावेनाक्षेपायोगादाक्षिप्तस्य शाब्देऽन्वये मानाभावच्च।

तदनुगुणानामेवेति। प्रधानता से उपस्थित विषय प्रसिद्ध जो अपना सर्वार्थ वाचकत्व तत्समानाधिकरण से सर्वनाम पद वाले से बोधक महासंज्ञा से सर्वार्थ का उपस्थापक सर्वादियों का अनुकरण करना आवश्यक है अन्य के अनुकरण में प्रमाण नहीं है। नाम पद के स्वारस्य से प्रधान्येन का लाभ हुआ। इस विशेषण से उपसर्जन की व्यावृत्ति हो जाती है। क्यों कि उपसर्जन तो दूसरे का विशेषण होकर ही उपस्थित होता है। पूर्वादियों के संग्रह के लिए स्वीय सर्वार्थ दिया है। संज्ञा (नाम) की व्यावृत्ति के लिए अभिव्यक्तिन्याय मूलक प्रसिद्ध है। सर्वादि सूत्र का अर्थ यह है सर्वादि और तदन्त (सर्वादि जिनके अन्त में हो) पूर्वोक्त सर्वार्थ वाचकत्व समानाधिकरण सर्वनाम पद वाले है। वहाँ प्राप्त अप्राप्त विवेक से सर्वनाम पद वाले अंश में ही यह विधि है। क्यों कि सर्वार्थवाचकत्व तो लोक से सिद्ध (प्राप्त) है। अन्वर्थ संज्ञा से उपस्थिति सर्वार्थ वाचक को विशेष्य होने से सर्वादीन को उसका विशेष मानने से तदन्त विधि होगी। यह किसी का कथन व्यर्थ का है क्यों कि एक पद से उपस्थित दो अर्थो का आपस में उद्देश्य विधेय भाव से अन्वय होना अत्युत्पन्न है। और रूढ़ि से उपस्थित अर्थ और योग से उपस्थित अर्थ का एक के वियोग में अन्यत्र अन्वय नहीं होता

है। तदन्त में सर्वार्थ वाचकत्व अवयव के द्वारा जानना उक्त कथन से उससे आक्षिप्त की विशेषता होगी। ऐसा करने वाले परास्त है उसके बिना अनुपपत्य के न होने से आक्षेप होना ही असम्भव है। और आक्षिप्त का शब्द बोध अन्वय में प्रमाण नही है। शाही आकाँक्षा की पूर्ति शब्द से ही होती है। जैसे पीनो देवदत्तः इत्यादि में भोजन के बिना पीनत्व की अनुपपत्ति होने पर रात्रि भोजन का आक्षेप होता है।

केचित् आवृत्त्या एकस्योद्देश्यताऽपरस्य विधेयतेति वदन्ति। परन्त्वाद्य पक्ष (३) इतो लघुरिति बोद्धयम्। सन्निवेशादिति। तदनुमानादित्यर्थः। अत्रोपसर्जनत्वमि (४) तरविशेषणत्वेनार्थोपस्थापकत्वम्। 'तदोः सः' (७।१।१०६) इति सूत्रे अदस एव दस्य नान्यस्येति (१) नियमे 'द्वीयतेरप्रत्यये द्व इति प्राप्नोति, स्व इति चेष्यते; यथालक्षणभप्रयुक्ते' इति भाष्यं तु प्रकृतसूत्रनञ् सूत्रादिस्थानेकभाष्यविरोधादे, (२) कदेशयुक्तिरिति न तद्विरोधः।

तृतीयासमासे (१।१।३०) 'द्वन्द्वे च' (१।१।३१) इसूत्रस्थाकरोक्तरीत्या 'न बहुव्रीहौ' (१।१।२९) इतिसूत्रस्थाकररीत्या च (३) प्रथमार्थे सप्तमी। अयभगपि। समासस्यैव निषेधो नावयवानाम्।

किसी कथन है कि—आवृत्ति से एक में उद्देश्यता है और दूसरे में विधेयता है परन्तु इनमें आद्य पक्ष ही इससे लघु है। क्योंकि प्रथम कल्प में एक ही वाक्य होता है और दूसरे में दो होते है।

सर्वाद्यन्तानि शब्दस्वरूपाणि प्राधान्येनोपस्थिति विषयप्रसिद्धस्वीयसर्वार्थवाचकत्व विशिष्टसर्वनाम पद वन्तीति। प्रथम कल्प में द्वितीय में सर्वाद्यन्तापि प्रसिद्धस्वीय सर्वार्थवाचकानि, तानि च सर्वनाम पदवन्त होता है।

सन्निवेशादिति। उसके अनुमान से यह अर्थ है। यहाँ उपसर्जनत्व, इतरविशेषणत्वेअर्थोपस्थापक है। अर्थात् दूसरे का विशेषण होकर अर्थ का उपस्थापक हो। पदार्थान्तर में रहने वाली विशेष्यता को लेकर उपस्तीयप्रकारता का जो प्रयोजन हो वह उपसर्जन है।

'तदोः सः' सूत्र में अदस् के ही दकार को हो अन्य के दकार को न हो, इस नियम में 'द्वीयतेरप्रत्ययेद्व' में इतर स्व नहीं होगा। फिर भाष्यकार ने कहा यथा-लक्षणंप्रयुक्ते। यह भाष्यएकदेशी की उक्ति है। इसमें प्रकृतिसूत्र तथा नञ् सूत्रस्य भाष्य का विरोध ही कारक है।

तृतीयासमासे—'द्वन्द्वे च' सूत्र में स्थिति भाष्योक्त रीति से और 'न बहुव्रीहौ' के भाष्य से प्रथमान्त में सप्तमी है। वास्तविक में सप्तमी का वाचकत्व अर्थ मानने से

कार्य सिद्ध हो सकती है प्रथमान्त से विपरिणाम करना व्यर्थ है। यह भी समास का ही निषेध है, अवयवों का नहीं है।

समुदायस्येति ।

अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ (४) प्रत्यङ्गं (५) मुक्तसंशयम् ।

इति भाष्योक्त्या एतत्प्रकरणविषयस्मृत्या एतत्प्रकरणस्थसप्तमीनिर्देशानां (६) प्रथमार्थकत्वमिति तस्यावयवसञ्ज्ञानिषेधकत्वाभाव उचितः। किञ्चावयवमात्रस्य निषेधे 'वर्णाश्रमेतराणाम्' इत्यत्र सर्वार्थवाचकसर्वाद्यन्तत्वेन समुदायसञ्ज्ञायां (७) सुडामित्तिः तस्य सञ्ज्ञानिषेधेऽपि सर्वार्थवाचकसर्वादित्वानपायात्। अवयवस्य, व्यपदेशिवद्भावेन समुदायस्य च द्वन्द्वे विद्यमानत्वेन निषेधे तु अवयवस्य निषेधे फलाभावः, न च त्वच्छब्दस्य तान्तत्वे काकचोर्विशेषेण फलम्, द्वन्द्वावयवमात्रे सुन्दरादिविशेषणान्वयाभाववत् (१) कुत्सादिविवक्षाया अभावात्, समुदाये तद्विवक्षायां समुदायोत्तरप्रत्ययेनावयवगतकुत्सादेरपि बोधेनोक्तार्थत्वादवयवेभ्यः पृथक् तदनुत्पत्तेः। अन्यथा तव प्रत्येकं कप्रत्ययोत्पत्त्यापत्तिः। अत एवोक्तं भाष्ये 'अकज् हि न भवति' इति 'विभाषा जसि (१।१।३२) इति सूत्रे। समुदायकुत्साविवक्षायामिति तदर्थः। (२) कृताकचा समासस्तु भवत्येव। तत्र सर्वार्थत्वादनेव विकल्पो भवत्येव। (३) 'त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम्' इति जयदेवप्रयोगबलेनान्यार्थकत्वच्छब्दस्य सत्त्वेऽपि तस्य सर्वनामत्वे मानाभावात्, बहुसम्मतत्वाच्च। एतेन (४) 'न बहुव्रीहाविति वदस्यापि द्वन्द्वे चिकीर्षिते इत्यर्थः' इत्यपास्तम्, फलाभावात्। जसाधारे शीभावे एव विकल्पविधायकस्य 'विभाषा जसि' (१।१।३२) इत्यस्यासङ्गतेश्चेति भावः। उद्भूतावयवभेदसमूहस्य द्वन्द्वे विशेष्यतयोपसर्जने सञ्ज्ञाया अप्राप्त्या 'द्वन्द्वे च' (१।१।३१) इत्यपि 'न बहुव्रीहो' (१।१।२९) इतिवदिति तत्त्वम्। अत एव 'गोस्त्रियोः' (१।२।४८) इति सूत्रे 'कुक्कुटमयूर्यौ' इत्यादौ ह्रस्ववारणाय (१) 'द्वन्द्वे न' इति वचनमारब्धमिति दिक्।

समुदायस्येति। अकच्स्वरौ—इत्यादि मुक्तसंशयम् क्रिया विशेषण है। निसंशय अन्तरंग होने से समास से पूर्व ही अकच् और स्वर करने चाहिए। उक्त भाष्योक्त रीति से इस प्रकरण के विषय की स्मृति से इस प्रकरण में स्थितिसप्तमी निर्देशों का प्रथमार्थकत्व ही है। यह भी इनका कथन विचारणीय ही है। उत्तरपूर्व में लिख दिया है। उसको अवयवसंज्ञा के निषेध का अभाव उचित नहीं है। और अवयवमात्र के

निषेध होने से 'वर्णाश्रमेतराणाम्' में सर्वार्थ वाचक का सर्वाद्यन्त होने से समुदाय की संज्ञा होने पर सुट् होने लगेगा। समुदाय की संज्ञा का निषेध होने पर भी सर्वार्थ–वाचक इतर सर्वादि विद्यमान है। अवयव की व्यपदेशिवद्भाव से और समुदाय की द्वन्द्व में विद्यमान होने से निषेध करने पर तो अवयव के निषेध में कोई फल नहीं है। त्वत् शब्द को तात्त मानने पर क और अकच् में विशेषता होना ही फल है यहाँ शंका ठीक नहीं है। द्वन्द्व के अवयव मात्र में सुन्दादि विशेषण का जिस प्रकार अन्वय नहीं होता है उसी प्रकार कुत्सादि विवक्षा का भी अभाव है। वृत्ति के अनन्तर इसका शेष है। वृत्ति से पूर्व कुत्सादिविवक्षा में तो अन्तरंग होने से अकच् होगा ही। समुदाय में कुत्सादिविवक्षा करने पर समुदाय से आमत् प्रत्यय से अवयव वृत्ति कुत्सादि के बोध होने से उक्तार्थ होने से अवयवों से पृथक् उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। नहीं तो आपके मत में प्रत्येक से क प्रत्यय होने लगेगा। इसीलिए भाष्य में कहा है। अकच् नहीं होता है। यह 'विभाषा जसि' सूत्र में कहा है। उसका तात्पर्य यह है कि समुदाय से कुत्सा विवक्षा में अकच् करने पर समास तो होगा ही। वहाँ सर्वार्थ होने से इसके विकल्प भी होगा। त्वदधर इत्यादि—जयदेव के प्रयोग के बल से अन्य अर्थ वाले त्वत् शब्द के होने पर भी उसके सर्वनाम् होने में कोई प्रमाण नहीं है। और बहुतो के सम्मत भी नहीं है। वास्तविक में तो जयदेव के प्रयोग में अन्यवाची त्वत् शब्द नहीं है। किन्तु युस्मद् का ही रूप है। तब अधर यही विग्रह है। अत्यन्तविरह व्याकुल राधिका अपने अधर में ही कृष्णधर के भ्रम से मधुपान कर रही, यह बतलाने के लिए ही ऐसा लिखा है। इससे 'न बहुव्रीहौ' की तरह इसका भी द्वन्द्वे चिकीर्षित होने पर अर्थ है। वह कथन अस्त है क्योंकि कोई फल नहीं है। जसाधार सी भाव में ही विकल्प करने वाले 'विभाषा जसि' की असंगति हो जायेगी। उद्भूत है अवयवों का भेद वाले समुदाय की विशेष्यता होने से द्वन्द्व में संज्ञा की अप्राप्ति होने से 'द्वन्द्वे-च' भी 'न बहुव्रीहौ' की तरह है। इसी से 'गोस्त्रियोः' सूत्र में 'कुक्कुटमयूर्यौ' इत्यादि में ह्रस्व वारण के लिए 'द्वन्द्वे न' यह वचन बनाया।

नाकजिति। समुदायनिष्ठकुत्साबोधकोऽकज् नेत्यर्थः।

प्रथमचरम (१।१।३३) अत्र सूत्रे 'न' इति न सम्बध्यते; प्रथमादिष्वसम्भवात्। 'जसि' इत्यनुवृत्तेरर्थाधिकारादयमपि शीभावे एक विकल्पस्तदाह—जसः कार्यं प्रतीति। तयः 'संख्याया अवयवे तयप्' (५।२।४२) इति तदन्ता इत्यत्र (२) हेतुरुक्तः। द्वितीयतृतीयौ 'द्वेस्तीयः' (५।२५४) 'त्रेः सम्प्रसारणं च' (५।२।५५) इति साधू। अर्थवदिति। (३) प्रतिपदोक्तस्येत्यपि बोद्ध्यम् तेनान्नन्ते आद्युदात्तस्य 'द्वितीयाय भागाय' इत्येव, अनभावे तु स्मै भवत्येव।

नाकजिति—समुदाय रहने वाली कुत्सा का बोधक अकच् नहीं होता है।

प्रथमचरम। इस सूत्र में नकार का सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि प्रथमादि में उसके सम्बन्ध की सम्भावना नहीं है। 'जसि' की अनुवृत्ति होने से अर्थाधिकार से यह भी शी भाव में ही विकल्प है जैसा कि लिखा है—जसः कार्य प्रतीति तपः। 'संख्याया अवयवे तयप्' यह तदत्ता में हेतु है। क्योंकि केवल तय की सर्वनामसंज्ञा करने में कोई फल नहीं है। द्वितीय और तृतीय 'द्वेस्तीयः' से द्वितीय और 'त्रे सम्प्रारणं च' से तृतीय साधु है। अर्थवदिति। प्रतिपदोक्त का भी ग्रहण समझना। इससे अन्नन्त में आद्युदात्त का 'द्वितीयाय भागाय' ही होता है। अन् के अभाव में तो स्मै होगा ही।

जराया (७।२।१०१)। 'अष्टन' (७।२।८४) इत्यतो विभक्ताविति, 'अचि र' (७।२।१००) इत्यतः अचीत्यनुवर्त्तते, तदादिविधिश्चेत्याह—अजादाविति 'जरसौ' इत्यादौ तु व्यपदेशिवद्भावेन। विभक्तौ किम् ? जराया इदं (४) जारम्। प्रतिपत्तिलाघवाय जराया (५) असुङ् न कृतः।

पदाधिकारे इति। पदमङ्गं च (१) विशेष्यं विशेषणेन तदन्तविधिरिति भावः। पदशब्देनोत्तरपदाधिकारः केवलपदाधिकारश्च गृह्यते इति 'येन विधिः' (१।१।४) इत्यत्राकरे स्पष्टम्। निर्दिश्यमानस्येति। 'षष्ठी स्थाने योगा' (१।१।४९) इति सूत्रमावर्त्तते, आवृत्तस्य चायमर्थः—(२) षष्ठ्यन्तमुच्चार्यमाणमेव स्थानेन युज्यते न प्रतीयमानमिति, तेनेदं सिद्धमिति भावः।

नन्वयं जरशब्दो न जराशब्दोऽत आह—एकदेशेति। स्थानिवत्सूत्रेण (३) इति भावः, जरा इत्युक्तपरिमाणस्य ग्रहात्। अनेन स्थानिबुद्ध्यैव कार्यप्रवृत्त्या 'निर्दिश्यमानस्य' (प० भा०) इतिपरिभाषाबाधाभावो बोद्ध्यः। 'येन विधिस्तदन्तस्य' इत्यस्य तु सञ्ज्ञासूत्रत्वात् सूत्रस्थजराशब्दो जराशब्दान्तपर इति तदन्ते आदेशप्रवृत्तौ परिभाषाविरोधः स्पष्ट एवेति दिक्। निर्जरसेति। अत्र 'स्वादिषु' (१।४।१७) इति पदत्वेन रुत्वं न, भत्वेन पदत्वभावात्। सूत्रेषूत्तरस्थस्य पूर्वत्रापकर्षवदग्रे लेखो वैचित्र्यायेति बोद्धयम्। पक्षे इति। जरसादेशाभावपक्षे इति भावः। इदमर्वाचामनुरोधेन।

जराया। 'अष्टनः' से विभक्तौ की और 'अचिर' से अचि की अनुवृत्ति होती है तदादिविधि भी है—इसलिये अजादौ विभक्तौ, जरसौ के जरसौ में व्यपदेशिवद् भाव से अजादि विभक्ति जानना। यहाँ केवल औकार ही है विभक्ति ग्रहण के अभाव में जरा से अण् प्रत्यय करने पर निस्पन्न जारम् में जर सा देश होने लगता। जराया जरश्च् अन्तर्गण् सूत्र से तद्धिते चेन्समासान्त एव में नियम करने पर जारम् में कोई

दोष नहीं है यह किसी का कथन व्यर्थ है क्योंकि नित्यविधान के लिये अन्तर्गण सूत्र चरितार्थ है। ज्ञानलाघव के लिये 'असूङ' नहीं किया। वास्तविक में यह न्यास ठीक नहीं है क्योंकि द्वितीयान्त जरा शब्द को पदद्वित्वे और अत्यादि से समास करने पर और विभक्ति के परे जराजरौ इस अवस्था में अति जरसौ रूप सिद्ध होता है असुङ में अति जरसौ बनेगा। विशेष विचार करने पर तो निर्दिश्य मानत्व उत्तर को ही है समुदाय को नही है। अत: दोनों पक्षों में अति जराजरसौ ही रूप सिद्ध होगा। विस्तार में ही परिभाषेन्दु शेखर की टीका में देखिये। पदाङ्गाधिकारेइति। पद और अंग विशेष्य ही, विशेषण में तदन्तविधि होती है। पद शब्द से उत्तरपदाधिकार और केवल पदाधिकार का ग्रहण है यह 'मेनविधिः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। निर्दिश्यमानस्येति। 'षष्ठीस्थानेयोगा' सूत्र की आवृत्ति होती है, और आवृत्ति का अर्थ यह है। षष्ठी है अन्त में जिसके वह षष्ठयन्त है— अन्त शब्द का अर्थ समीप है अर्थात षष्ठी की प्रकृति। षष्ठयन्तउच्चार्यमाण नहीं हो, स्थान से योग होता है। जिस किसी रूप से न हो अर्थात् प्रतीयमान् न हो इससे यह परिभाषा सिद्ध होती है।

निरजर घटक जर शब्द है जरा नहीं है इसलिए कहते है। एकदेशिति। स्थानिवत् सूत्र से समझना, क्योंकि जरा अक्त परिमाण है, और उक्त परिभाषा में वह परिभाषा नहीं लगती है। इससे स्थानी की बुद्धि से ही कार्य की प्रवृत्ति होने, निर्दिश्यमान परिभाषा के वाध का अभाव समझना। 'येन विधिः' को तो संज्ञा सूत्र होने से सूत्र में स्थिति जरा शब्द जराशब्दान्त परक होने से तदन्त में आदेश होने से परिभाषा विरोध स्पष्ट ही है।

निर्जरसेति। यहाँ 'स्वादिषु' से पदत्व मानकर रूत्व नहीं होता है। क्योंकि भ संज्ञा से पद संज्ञा का बाध हो जाता। सूत्रों में उत्तरस्थ पूर्व में अपकर्ष की तरह आगे उन दोनों संज्ञा विधाये सूत्रों का लिखना विचित्रता के लिये है। पक्षे इति। जरसादेश के अभाव पक्ष में यह दीक्षितादि के अनुरोध से है।

परे तु 'विभक्त्यादेशेभ्यः परत्वाज्जरस्' इत्यसङ्गतम्, विभक्त्यादेशानामेव पूर्वविप्रतिषेधेनेष्टत्वात्। अत एव 'जरायाः' (७।२।१०१) इति सूत्रे 'अजरांसि' इत्यत्र 'नुम्जरसोः प्राप्तयोर्विप्रतिषेधेन जरस्' इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते। अन्यथा त्वद्रीत्या शिभत्वात्पूर्वमेव जरसः प्रवृत्तौ तदा सर्वनामस्थानत्वाभावाद् नुमा विप्रतिषेधविचारासङ्गतिः स्पष्टैव। मम तु पूर्वविप्रतिषेधेन जरसः पूर्वं शिभावे प्रवृत्ते तत्सङ्गतिः स्पष्टैव। अत एव टाङसि' (७।१।१२) इतिसूत्रे कैयटेनोक्तं–'भाष्यकारः सन्निपातपरिभाषया जरसादेशमनभ्युपयन्नतिजरेणातिजरादिति भाष्यं न त्वतिजरसिनाऽतिजरसादिति गौरवमुद्भावितवान् इति। भवद्रीत्या पूर्वं जरसादेशे इनाद्यप्राप्त्या,

तदभावपक्षे च तस्याप्राप्त्या 'सन्निपातपरिभाषया जरसादेशमनभ्युपयन्' इत्यस्यासङ्गतिः स्पष्टैव ।

नागेश का मत इस प्रकार से है विभक्ति के स्थान होने वाले आदेशों में परे होने से जरस् होता है यह अंशगत है। क्योंकि पूर्व विप्रति बोध से विभक्तया देश ही इष्ट है। ईष् होने से ही 'जरायाः' सूत्र में 'अजरांशि' में नुम् और जरस् की प्राप्ति होने पर विप्रतिषेध से जरस् होता है। यह भाष्योक्त भी संगत होता है। नहीं तो आप के कथनानुसार शि भाव से पूर्व ही जरस की प्रवृत्ति होने पर तव सर्वनामस्थान संज्ञा के न होने से नुम् के साथ विप्रतिषेध के विचार की असंगत स्पष्ट ही है (नपुंसक में शि की सर्वनाम स्थान संज्ञा होती है) मेरे मत में पूर्व विप्रतिषेध से जरस से पूर्व शि भाव के करने पर उसकी संगत होती है इसी से 'टाङसि' सूत्र में कैयट ने कहा है। भाष्यकार सन्निपात परिभाषा से जरसा देश को अंगीकार न करके अतिजरेण, अति जरात् होने चाहिए। अतिजरसिनः में अतिजरसात् नहीं होना चाहिये यह गौरव कहा। आपके मत में प्रथम जरसादेश होने पर इनादि की अप्राप्त से और जरसादेश के अभाव पक्ष में जरसादेश की अप्राप्ति होने से सन्निपात परिभाषा— इत्यादि की असंगत स्पष्ट ही है।

वृत्तिकारोऽप्याह—'अतिजरसिन अतिजरसादिति केचिदिच्छन्ति, यथा तु भाष्यं तथा नै तदिष्यते इति लक्ष्यते' इति। नपुंसकद्वितीयैकवचनेऽपि लुग्बाधेन 'अतोऽम्' (७।१।२४) इत्यमि सन्निपातपरिभाषया जरसभावः। न च तत्र न अकारान्तसन्निपातकृत एवाजादिः, किन्तु तद्भावेऽपि। एषा तु सन्निपातलक्षविधिं विना न यस्य प्रवृत्तियोग्यता तत्रैवेति अत्र भवत्येव जरसिति वाच्यम्, मानाभावात्, 'टाङसि' (७।१ १२) इतिसूत्रस्थेनातिजरेणत्येतद्विषय कैयटेन विरोधाच्च। ध्वनितञ्चेदं 'जरायाः' (७।२।१०१) इति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि पूर्वदक्षिणा 'अतिजरसं पश्येत्यत्र लुक् कस्मान्न' इति पृष्टे, परेण 'प्रथमैकवचनेऽप्यतिजरसं तिष्ठतीत्यत्रापि कुतो लुङ् न शङ्क्यते' इति पृष्टे, पूर्वपक्षिणा प्रथमैकवचनेऽम्भावोत्तरमेव जरस्, तत्र जरसि कृते सन्निपातपरिभाषया न लुक्' इति विशेष उक्तः। यद्वा 'अम्भावे कृते सन्निपातपरिभाषया न जरस्' इतिपाठभेदेन विशेष उक्तः। ततः परेण 'यद्येवम् अतिजरसम् अतिजरसौरित्याव न प्राप्नोति जरस्' इतिद्वितीयैकवचनादौ शङ्किते; सिद्धान्तिना—इष्टमेवैतदतिजरमतिजरैरिति भवितव्यमिति। अत्र विशेषोपपादनेऽन्त्यपाठ एव युक्तः। अन्यथा लुकः प्रथमैकवचने तेनाभावे उपपादिते द्वितीयैकवचनेऽपि तेन न्यायेन लुकोऽप्राप्तौ विशेषोक्तिर-

सञ्ज्ञेति बोद्धयम्। एवं स्त्रियां जरसादेशे कृते 'याडापः' (७।३।११३) इत्यादीनामाकारप्रश्लेषेण वारणं विफलमेव तेषां परत्वात्। अतिखट्वशब्दे तेषां वारणाय तु प्रश्लेष आवश्यक इत्याहुः।

वृत्तिकार ने भी कहा है कि कोई अतिजरसिन, अतिजरसात प्रयोग सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु जैसा भाष्य है उससे इष्ट नहीं है। नपुंसक लिंग में द्वितीया के एक बचन में लुक् को बाध से 'अतोडम्' से अम् करने पर सन्निपात परिभाषा से जरस् नहीं होता है। अब यहाँ शंका करते है कि वहाँ अकारान्त सन्निपात को लेकर के ही अजादि नहीं है किन्तु उसके अभाव में भी है। यह परिभाषा तो सन्निपात लक्षण विधि के बिना जिसकी प्रवृत्ति योग्यता नहीं होती है वही प्रवृत्ति होती है इसलिए परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से जरस् हो जाना चाहिए। उत्तर इसमें प्रमाण का अभाव है और 'टाङसि' सूत्रस्थ अतिजरेण इत्यादि प्रदर्शन परक कैयट से विरोध है। यह 'जरायाः' सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ भाष्य में अतिजरसं पश्य में विभक्ति का लुक् क्यों-नहीं होता है।

ऐसा पूर्व पक्षी के पूछने पर दूसरे ने कहा कि अतिजरसं तिष्ठति, प्रथमा के एक वचन में भी लुक् क्यों नहीं होता है। ऐसी शंका क्यो नहीं करते हो यह पूछने पर पूर्व पक्षी से कहा कि प्रथमा में एक वचन में अम् करने पर ही जरस् होता है वहाँ जरस् करने पर सन्निपात परिभाषा से लुक् नहीं होता है यह विशेपता कही। पर दूसरे ने- यदि ऐसा है तो अति जरसम् अतिसरसैः में जरस् की प्राप्ति नहीं है। इस तरह से द्वितीय के एक बचनादि शंका करने पर सिद्धान्ती ने कहा कि अतिजरम् अति-जरयैः ही इष्ट है। यह विशेष के उपपादन में यहा वाला पाठ ही युक्त है नहीं तो प्रथमा के बचन में लुक् क न्याय के अभाव उपपादन करने पर द्वितीया के एक वचन में उसी न्याय से लुक् की अप्राप्ति होने पर कही विशेषता असंगत ही हो जाती। इस प्रकार से स्त्रीलिंग में जरसा देश करने पर 'याडापः'इत्यादि सूत्रों का आकार प्रश्लेष से वारण व्यर्थ ही है। क्यों कि वे पर है। अतिखट्व शब्द में माडादि के वारण के लिए प्रश्लेष आवश्यक है।

परेतु जरसादेशाद् विभक्तिसम्बन्धिकार्यमात्रं पूर्वविप्रतिषेधेन। तेन 'जराणाम्' इत्यादावामि पूर्वं नुटि जरसोऽभाव एव। एवं च 'ह्रस्वनद्यापः' (७।१।५४) इत्यत्राऽऽकारप्रश्लेषे न फलं, नापि मानम्। अत एव 'ङ्याब्धग्रहणेदीर्घः' इतिवज्जरसादेशस्य स्यानिवत्त्वप्रतिषेधो वार्तिककृता नाऽऽरब्ध (१) इत्याहुः।

परेतु का कथन है कि जरसा देश से सम्पूर्ण विभक्ति सम्बन्ध कार्य पूर्व विप्रति-षेध से पूर्व ही होते हैं इसी से जराणाम् में आम को नुट् का आगम करने पर

जरस् नही होता है अब ह्रस्वनद्याप:' में आकार प्रश्लेष का फल नहीं है। और प्रमाण भी नही है इसी से 'ङयाब्ग्रहणे दीर्घ:' की तरह जरसा देश के लिए स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध वार्तिक कार ने नहीं निर्माण किया।

परिभाषाया अनित्यत्वमिति । इनातोरिकारदीर्घोच्चारणम्, एसि कर्त्तव्ये ऐस्करणञ्च तदनित्यत्वे मूलमिति तदभिमानः। षष्ठ्येकवचने इति। एकसूत्रोपात्तत्वात्स्यादेशविषयेऽपि पूर्वविप्रतिषेध इति तद्भावः। एतच्च भाष्येति। इनातोरिकारदीर्घोच्चारणप्रत्याख्यानपरभाष्येत्यर्थः, इष्टमेवैतत्सङ्गृहीतमतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम्' इति 'जराया' (७।१।१०१) इति–सूत्रस्थभाष्येति चार्थं इत्यन्यत्र विस्तरः।

पद्दन्नो (६।१।६३)। आदेशः (१) स्वानुरूपाः स्थानिन आक्षिप्यन्ते इत्याह–पाददन्तेति। 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य' (६।१।५९) इत्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तते। अत एव तुल्यास्यसूत्रादिभाष्ये 'आस्ये तुल्यः' 'पादेनोपहतं' 'मासेन पूर्वाय' इत्यादिप्रयोगाः 'हृदयस्य प्रियः' (४।४।९५) इति सौत्रप्रयोगाश्चोपपन्ना भवन्ति। 'ये च तद्धिते' (६।१।६१) इतिसूत्रस्थे 'वा केशेषु' (का० वा०) इतिवार्तिके वाग्रहणन्तु तत्र सूत्र वाग्रहणासम्बन्धबोधकम्।

परिभाषा अनित्यत्वमिति। इनमें इकार उच्चारण आत् में दीर्घोच्चारण ऐस् का करना परिभाषा के अनित्यत्व में मूल है। यह उनका अभिमान मात्र है। षष्ठयेक बचने इति। एक सूत्र में रहने के कारण स्वादेश में भी पूर्वविप्रतिषेध उचित है। यह उनका अभिप्राय है। एतच्च भाष्येति। इनका इकारोच्चारण आत् का दीर्घोच्चारण प्रत्याख्यान परक भाष्य से विरोध है। इष्ट में वैतत-अतिजरसम् अतिजरसैः होना उचित है। ऐसा 'जराया' सूत्र के भाष्य का संग्रह भी चा का अर्थ है। पद्दन्नो। आदेश अपने अनुरूप स्थानियों का आक्षेप कर लेते है अर्थात अपने से बोध्य अर्थ का बोधक होना चाहिए और अपने में जो व्यंजन हो उनसे मुक्त भी होना चाहिए वैसा ही लिखा है– पाददन्तेति। 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य से अन्यतरस्यामि की अनुवृत्ति होती है। इसी से तुल्यास्य सूत्र के भाष्य में आस्ते तुल्यः पादेनोपहतं' 'यासेन पूर्वाय' तथा हृदयस्य प्रियः' इत्यादि सौत्र प्रयोग मन्यतरस्यामि की अनुवृत्ति से उत्पन्न होते है। 'येच तद्धिते' सूत्रस्य वा के शेषु वार्तिक वा का ग्रहण तो सूत्र में वाग्रहण के असम्बन्ध का बोधक है।

यद्यपि निशाशब्दस्य निशशब्दप्रकृतिकत्वेन भागुरिमतसिद्धतयाऽऽपो वैकल्पिकत्वेन च वाक् वाचेत्युभयवन्निशिशयोः सूत्रे निशग्रहणं विनाऽपि

सिद्धिः, तथापि सुटि हलन्तस्यासाधुत्वबोधनायात्र ग्रहणमिति वृत्त्यनुसारिणः ।

परे तु 'अनुदात्तस्य' (६।१।१६१) इतिसूत्रेऽन्यतरस्यामित्यस्य स्वरितत्वं नास्ति । अत एव 'शीर्षंश्छन्दसि' (६।१।६०) इति सूत्रे 'शीर्षन्निति प्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्यम्, आदेशत्वे हि छन्दसि शिरस्शब्दस्य प्रयोगो न स्यात्' इति इत्युक्तं भाष्ये । अन्यथा विकल्पानुवृत्त्याऽऽदेशत्वेऽपि दोषाभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव । 'ये च तद्धिते' (६।१।६१) इत्यत्र चाऽऽदेशत्वाय शिरसो ग्रहणं कर्त्तव्यमित्युक्तं, 'वा केशेषु' इति च वक्तव्यमित्युक्तम् । तस्मात् शसादिविषयाणि प्रकृत्यन्तराण्येव पदादयः । एवं मांस्पृत्स्नवोऽपि । अत एव नस्पृतोः स्थानिवद्भावादाबन्तत्वमादाय 'नसां पृताम्' इत्यादौ न नुडादिः । 'नासिकाया नस् यत्तस्क्षुद्रेषु' (का० वा०) इतिवार्त्तिके आदेशत्वमेव, नासिकाया इत्युक्तेः । अत एव तद्विषये नासिकाक्षुद्रः' इत्यादि न । अत एव पदादिषु, मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम् इतिवार्त्तिके स्थानिनिर्देशो न कृत इत्याहुः ।

यद्यपि निशा शब्द निश् शब्द प्रकृतिक होने से भागुरि के मत से सिद्ध है और आप के विकल्प से वाक् वाचा की तरह सूत्र में विश्ग्रहण के बिना भी विश् और निशा की सिद्ध हो सकती है तो भी सुट् (स्वादि पांच वचन) में हलन्त के असाधुत्व बोध न के लिए यहाँ ग्रहण किया है ऐसा वृत्यनुसारियों का मत है।

नागेश का मत यह है कि 'अनुदात्तस्य' सूत्र में अन्यतरस्यामि में, स्वरितत्व नहीं है। इसलिए उसकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती है इसी में शीर्षश्छन्दसि' सूत्र में शीर्षनि यह दूसरी प्रकृति है, आदेश मानने पर छन्द में शिरस्शब्द का प्रयोग नहीं होगा ऐसा भाष्य में कहा है नही तो विकल्प की अनुवृत्ति होने से आदेश मानने पर भी दोष के न होने से उसकी असंगति स्पष्ट ही है 'ये चतद्धिते' में आदेश के लिए शिरस् का ग्रहण करना चाहिए, कहा है और 'वाकेशेषु' भी कहना चाहिए । ऐसा कहा है इसलिये शसादि में पदादि प्रकृति यत्तर ही है । अर्थात् आदेश नहीं है इसी तरह मांस्, पृत्, स्नू भी प्रकृत्यन्तर है । प्रकृत्यन्तर होने से ही नसाम्, पृताम् इत्यादि में नस् और पृत् को स्थानिवद् भाव मानकर नुट् आदि नहीं होते है । नासिकामानस् इत्यादि वार्तिक में आदेश ही है क्योंकि नासिका या यह स्थान षष्ठी का निर्देश किया है इसीलिए उसके विषय में नासिका क्षुद्रः इत्यादि नहीं होते हैं इसी से पदादियों में 'मांस्पृत्स्नूनाम्' इत्यादि वार्तिक में स्थानियों का निर्देश नहीं किया ।

प्रत्याहार इति । व्याख्यानादोटष्टकारेणेति भावः । (१) अक्लीबस्येति । पर्युदासपरतयाऽप्यस्य भाष्ये व्याख्यानात् । लघुत्वाच्चेति भावः ।

प्रसज्यप्रतिषेधेन व्याख्यानेऽतएव ज्ञापकात्केषांचिदसमर्थसमासानां साधुत्वं बोद्धयम् ।

स्वादिषु (१।४।१७) । सुरत्र प्रथमैकवचनम् । आदिशब्देन कबन्तानां ग्रहणं । (१) व्याख्यानात् तदाह—कप्प्रत्ययावधीति । (२) तदन्तेष्वित्यर्थः ।

प्रत्याहार इति । व्याख्यान से औट्के टकार से जानना । अक्लीबस्येति । भाष्य में इसका व्याख्यान पर्युदास मानकर किया है और लघु भी है । प्रसज्य प्रतिषेध से व्याख्यान करने पर भी इसी ज्ञापक से अनेक असमर्थ समासों का भी साधुत्व जानना ।

स्वादिषु । सु यहाँ प्रथमा का एक बचन है । स्व आदि शब्द से कबन्तों का ग्रहण है इसमें व्याख्यान ही प्रमाण है जैसा कि कहा है— कप्प्रत्ययावधीति । तदन्त ही उसका अर्थ है असर्वनाम् स्थान कप्रत्यान्त स्वादि-प्रत्ययाव्यवहित पूर्वत्व विशिष्टं पदसंज्ञ स्यादि त्याद्यर्थ ।

यचि भम् (१।४।१८) । समाहारद्वन्द्वे सौत्रत्वान्न टच् । यचीत्यनेन स्वादेर्विशेषणात्तदादिविधि । असर्वनामेति । तेन 'सुपादौ' इत्यादौ पादः पन्न । भसञ्ज्ञा पदत्वकार्यप्रतिबन्धकरूपेऽशास्त्रीयेऽपि कार्ये भवति, नपदान्तसूत्रस्थभाष्यप्रामाण्यात् ।

(३) आकडारा (१।४।१) । 'प्राक्कडारात्' (२।१।३) इति नावधिः; तत्पुरुषो द्विगुश्चेति लिङ्गात्, समावेशार्थं हि तदित्याह—कडारा इत्यादि । व्याप्त्यर्थकाऽऽङा 'आचार्थात्' इति वक्तुं युक्तम् । एकैवेति । (१) संख्यावाच्येकशब्दोपादानादवधारणं सम्पद्यत इति भावः । या परेति । द्वयोः सावकाशयोः पर, निरवकाशत्वे तु सैवेत्यर्थः । आभ्यामेव बाधसिद्धिस्तु न; अन्यत्र तव्यदादौ कृत्कृत्यप्रत्ययसञ्ज्ञादीनां समावेशदर्शनेन विरोधाभावाद् विप्रतिषेधाप्रवृत्तेः । लौकिकस्य तक्रकौण्डिन्यन्यायस्यापि लोके सञ्ज्ञाविषये (२) ऽदर्शनेन शास्त्रेऽपि संज्ञाविषयेऽप्रवृत्तेश्च । तेनेति । अनवकाशत्वेनेत्यर्थः

यचि में समाहार द्वन्द्व है । चान्त मानकर प्राप्त टच् सूत्र होने से नहीं होता है । स्वादि के विशेषण होने से यच में तदन्तविधि है । असर्वनामेति । इसी से सुपादौ इत्यादि में (सर्वनाम स्थान में) पाद को पदादेश नहीं होता है । नपदान्त सूत्र के भाष्य के प्रामाण्य से पदत्व कार्य के प्रतिबन्ध रूप अशास्त्रीय कार्य में भी भसंज्ञा होती है । आकडारा । प्राक्कडारात् यह अवधि नहीं है । क्यों कि तत्पुरुष और द्विगु दोनों का समावेश होने से कहा भी है । कडारा इत्यादि । व्याप्त के अर्थ वाले प्राङ् से आचा-

र्थात् कहना उचित था। एकैवेति। संख्यावाची एक शब्द के उपादान करने से अवधारण (नियम) हो जाता है। यापरेति। दोनों के सावकाश होने पर संज्ञा ही होती है। और निरवकाश होने पर वही होती है। इनसे ही बाध्य सिद्ध तो नहीं हो सकती है क्योंकि अन्यत्र तव्यदादि में कृत् और कृत्य प्रत्ययों का समावेश देखने से विरोध के न होने से विप्रतिषेध की प्रवृत्ति नहीं होती है और लौकिक तक्र कौडिन्यन्याय की भी लोक में संज्ञा के विषय में प्रवृत्ति न देखने से शास्त्र में संज्ञा के विषय में अप्रवृत्ति होती है। विरोध होने पर बलवान् दुर्बल का बाध करता है यहाँ विरोध के न होने से तक्र कौडिन्यन्याय की प्रवृति नहीं होती है। तेनेति। अनवकाश होने से।

परोदाहरणं तु 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते, इत्याद्याकरे स्पष्टम्। विरोधाद्यभावेन विप्रतिषेधसूत्राद्य (३) प्रवृत्तावपि परत्वादेरन्यत्र बलवत्त्वेन दृष्टतयाऽत्रापि तेन व्यवस्था। अपादानादिसञ्ज्ञानां समावेशे तु तत्कार्ययोः (४) पर्यायापत्तिर्दोषः। भपदसंज्ञयोः समावेशे तु 'राज्ञः' इत्यादौ नलोपस्यापत्तिर्बोध्या। न च 'राजन्यः' इत्यादौ 'सुप्तिङन्तम्' (१।४।१४) इति पदत्वं दुर्वारम्, परया भसञ्ज्ञया तु न बाधस्तस्या अन्तरङ्गत्वादिति वाच्यम्, (५) समानावधिकाया अन्तरङ्गाया अप्यनया बाध्यसामान्यचिन्तयाऽपवादत्वेनैव बाधादित्याहुः।

पर का उदाहरण तो अपादान उत्तर कारकों का बाध करता है, इत्यर्थक 'अपादानम्' इत्यादि भाष्य में स्पष्ट है। विरोध के अभाव में विप्रतिषेध की प्रवृत्ति न होने पर भी अन्यत्र पर को बलवान देखने से यहाँ भी इसी प्रकार से व्यवस्था है। अपादानादि संज्ञाओं के समावेश में तो उनके कार्यो में पर्याय होने लगेगा और भसंज्ञा तथा पदसंज्ञा के समावेश में तो राज्ञः इत्यादि में पदत्व मानकर न लोप होने लगेगा। राजन्यः इत्यादि में 'सुप्तिऽनाम्' से पद संज्ञा तो हो ही जायेगी, पर भसंज्ञा से बाध की सम्भावना नहीं है क्योंकि पद संज्ञा अन्तरंग है इस शंका का उत्तर करते है समान अवधि वाली अन्तरंग संज्ञा का भी यह संज्ञा अपवाद होने से बाध कर लेती है। इसमें बाध सामान्य चिन्ता ही कारण है। (अर्थात् मेरे विषय में जो प्राप्त हो उसका मैं बाध करूँ)

आकडारस्थसञ्ज्ञासु च यथोद्देशपक्ष एवेत्यदद्रथङ्शब्दे निरूपयिष्यते। भपदसञ्ज्ञाविधावङ्गप्रकरणे भस्येत्यस्य पाठेनाङ्गमित्यतुवर्त्याङ्गं सत् पदं भवति, भं भवतीत्यर्थेन ताभ्यां तस्य (१) समावेश एव न पर्याय इति बोद्धयम्। पुरुषसञ्ज्ञापरस्मैपदसञ्ज्ञयोरपि 'णलुत्तमो वा' (७।१। ९१) इति ज्ञापकात्समावेशः। गुरुलघुसञ्ज्ञे वर्णस्य, नदीघिसञ्ज्ञे तदन्त-

स्येति भिन्नावधिकत्वात्समाविशतः। उभे अपि वर्णस्येति पक्ष आकरे उपलभ्यमानोऽप्येकदेशिन एव समावेशानुपपादादिति दिक्। यलोप इति। 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इत्यनेनेत्यर्थः।

आकडारस्थ संज्ञाओं में यथोद्देश्य पक्ष ही है यह हलन्त में अदद्रयङ् शब्दे पर निरूपण करेंगे भपद संज्ञा विधि में अंग प्रकरण में भस्म का पाठ होने से अंगम् की अनुवृत्ति कर अंगपद होते हुए पद होता है। भ संज्ञक होता है इस प्रकार के अर्थ से उन दोनों के साथ उसका समावेश ही है पर्याय नहीं है। पुरुष संज्ञा और परस्मै पद संज्ञाओं का भी 'णलुन्तेमा वा' इस ज्ञापक से समावेश ही है। गुरू और लघु संज्ञा वर्णस्य की, और नदी संज्ञा और घि संज्ञा तदन्त की होती है। इसलिये भिन्न-२ अवधि वाली होने से उनका समावेश होता है। दोनों वर्ण की ही होती है। यह पक्ष यद्यपि भाष्य में मिलता है तो भी वह एक देशी का ही है क्योंकि समावेश का उपपादन नहीं होगा। यलोपरति। 'हलि सर्वेषाम्' से जानना।

अल्लोपोऽनः (६।४।१३४)। तपरकरणं किम्? अनितेः क्विपि 'आनः' इत्यादौ लोपाभावाय। अन्त्वं त्वत्रैकदेशविकृतन्यायेनेत्यन्यत्र विस्तरः। पूर्वस्मादिति। 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इत्यत्र 'पूर्वविधौ' इत्यस्यावृत्त्या पञ्चमीसमासाश्रयणादयमर्थो लभ्यते इति भावः। तेन (२) 'प्रत्यैषिषन्' इत्यादिसिद्धिः। अन्यथा जुस् स्यात्। अत एव 'उभे अभ्यस्तम्' (६।१।५) इति सूत्रे उभेग्रहणं यत्रोभे श्रूयेते तत्रैवाभ्यस्तसञ्ज्ञार्थम् 'ऐतर्सन्' इत्यत्राभ्यस्तलक्षणो जुस् मा भूदित्युक्ते शपैकादेशस्य पूर्वविधाविति पञ्मीसमासेन स्थानिवत्त्वाज्जुसोऽप्राप्तेरसति प्रयोजने उभेग्रहणं सहार्थमित्युक्तम्। तेन उभे यत्र श्रूयेते इत्यर्थेऽपि 'प्रत्यैषिषन्' इति सिद्धये आवश्यकेन पञ्चमीसमासेन तत्सिद्धावुभेग्रहणं सहार्थमिति तद्भावः।

तपरकरण का फल है अन्धातु से क्विप् प्रत्यय करने से निस्पन्न आनः में आकार का लोप का न होना ही है। वहाँ एक देश विकृत न्याय से अन्त्व आ जायेगा। पूर्वस्मादिति। 'अधः परस्मिन्' सूत्र में पूर्वविधौ की आवृत्ति कर पंचमी समास के स्वीकार करने से इस अर्थ का लाभ होता है। पंचमी समास मानने से प्रत्यैषिषन इत्यादि की सिद्धि होती है। पंचमी समास के अभाव में जुस् हो जाता, जुस पद में अन्त अवयव को होता है इसलिये 'न पदान्त' से निषेध हो जायेगा। यह कहना भी उचित नहीं होगा। क्योंकि 'न पदान्त' में पदे अन्तः यह सप्तमी समास है। पदपरे जो अन्त यह अर्थ है। इस पक्ष में भी प्रत्यैषिषन् देवदत्ता में दोष है। इसीसे 'उभे अभ्यस्तं' सूत्र में उभे ग्रहण जहाँ दोनों श्रयमाण हो वहाँ ही अभ्यस्त संज्ञा के लिये है इसी से

ऐत्संन में अभ्यास में लोप होने से जुस् नहीं होता है। ऐसा कहने पर कहा कि शप् के साथ एकादेश को पंचमी समास से स्थानिवद्भाव होने से जुस् की अप्राप्ति है। अब प्रयोजन के अभाव में उभे ग्रहण सहार्थ के लिए है उससे दोनों जहाँ श्रयमाण हो इस अर्थ में भी प्रत्यैषिषन् की सिद्ध के लिये पंचमी समास आवश्यक है उसी से उसकी सिद्धि हो जायेगी। उभे ग्रहण सहार्थ के लिये है यह उसका भाव है।

इति पक्षे त्विति। तुनाऽस्यानित्यत्वं सूचितम्। 'प्रविगणय्य' इति भाष्योदाहरणमपि तदनित्यत्वे एव सङ्गच्छते। अत एव 'हे गौः' इत्यत्र वृद्धेः स्थानिवत्त्वान्न सम्बुद्धिलोपः। पूर्वस्मान्निमित्तत्वेनाऽऽश्रितादिति व्याख्याने तु न मानम्।

(केचित्तु पूर्वस्माद (१) व्यवहितपरस्यैव कार्ये स्थानिवत्त्वम्। 'प्रविगणय्य' इत्यादौ तु स्थानिवद्भावलब्धाकारस्यैव व्यपदेशिवद्भावेन लघुपूर्वत्वमादाय न दोष इति तदनित्यत्वे न मानमित्या (२) हुः)।

पूर्वत्रासिद्धे नेति। अतिदेशदृष्टया त्रिपाद्या असिद्धत्वेन न्यायसिद्धानुवादोऽयम्। तत्फलं त्वतिदेशान्तराणां वतिघटितानां त्रिपाद्यां प्रवृत्तिबोधनम्। अत एव (३) 'अमी' 'क्षीरपेण' इत्यादौ मीत्वणत्वे भवतः। अत्रैकारस्यादस्सम्बन्धित्वं; पे इत्यस्यैकाजुत्तरपदत्वञ्चान्तवद्भावाधीनम्। तस्य दोष इति। इदं वाचनिकमेव। 'न मु ने' (८।३।३) इति सूत्रे 'न' इति योगविभागस्तु भाष्ये न दृश्यते। अत एव सिद्धकाण्डं वार्त्तिककृताऽऽरब्धं, 'नलोपः सुप्' (८।२।२) इति सूत्रञ्च सूत्रकृता।

इति पक्षे त्विति। तु से पंचमी समास की अनित्यता अभिव्यक्ति होती है। पंचमी समास को ही अनित्य मानने से ही 'प्रविगणस्य' यह भाष्योदाहरण भी संगत होता है प्रविगणय्य में (ज्यपित्युपूवति) से नी को अयादेश होता है। पंचमी समास से णकार के अकार का स्थानिवत्भाव होने से लघुपूर्व न होने से अयादेश न होने से उक्त प्रयोग नहीं बनेगा। इससे हे गौ में वृद्धि के स्थानिवत् होने से सम्बुद्धिलोप नहीं होता है पूर्व से निमित्त में आश्रित हो ऐसे अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है (किसी का कहना है कि पंचमी समास में भी पूर्व से पर को अव्यवहित पद को ही कार्य करने में स्थानिवत् भाव होता है अपने लिये कार्य करने में स्थानिवत् भाव नहीं होता है, इसी से भवति में गुण को स्थानिवत् भाव न होने से अवादेश होता है प्रविगणय्य इत्यादि में स्थानिवत भाव से प्राप्त अकार को ही व्यपदेशिवद्भाव से लघुपूर्वत्व मानकर दोष नहीं है फिर अनित्य में कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वत्रासिद्देनेति। अतिदेश की दृष्टि में त्रिपादी के असिद्ध होने से यह न्याय सिद्ध अनुवाद है इसका फल है कि वत् से घटित अन्य

अतिदेशों का त्रिपादी में प्रवृत्ति होना है प्रवृत्ति का फल अमीक्षीर पेण में क्रमशः मीत्वणत्व होते है। अमी में एकार को अदः सम्बन्धित्व पे को एकादिन्तर पदत्व 'अन्तादिवच्च' के अधीन है। तस्य दोषः इति। यह वाचनिक ही है। 'न मुने' सूत्र में न का योग विभाग तो भाष्य में नहीं दिखता है इसी से वार्तिक कार ने सिद्धकाण्ड का आरम्भ किया। और सूत्रकार ने 'नलोपः सुप्' सूत्र का निर्माण किया।

प्रकारार्थमिति। प्रकारः सादृश्यं, सच्च सुप्त्वेन। 'मांसपचनी' इत्यादावपि 'न लुमता' (१।१।६३) इतिनिषेधानित्यत्वाच्छसादिपरत्वं बोद्धयम्। शब्दत्वेन सादृश्यमित्यन्ये, तन्न, 'वा शोकष्यञ्रोगेषु' (६।३।५१) इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, 'नासिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु नस्' इति भाष्यपठितवार्तिकस्य (४) वैयर्थ्यापत्तेश्च। 'आसन्यं प्राणमूचुः' इत्यत्रापि तद्वदेव शसादिपरत्वम्। अत्र 'सुप्रभृतिषु' इति वाच्ये 'शस्प्रभृतिषु' इत्युक्त्याऽन्यत्र क्वचिदेव प्रवृत्तिर्बोद्धयते। अत एव पद्हृन्निशां ग्रहणं चरितार्थम्। तेषां द्विविधानामपि कोशसिद्धतया तत्र व्यवस्थार्थताया एव वक्तव्यतया सुप्प्रत्ययमात्रे प्रवृत्तौ तस्या असम्भवेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। प्रकारार्थत्वे प्रमाणमाह—भाष्ये इति। तत्र हि 'शस्प्रभृतिष्वित्युच्यते, अशस्प्रभृतिष्वपि दृश्यते—शलाद्दोषणी कुलद्दोषणी याचते महादेवः' इत्युक्तम्। आद्यस्याध्रिगुप्रैषे पठ्यमानस्य शलाकाकारे दोषणी इत्यर्थः। छान्दसः कादिलोपः। एतेन दोष इत्यकारान्तस्य दूषणवाचिनो दोषन्नादेश इत्यपास्तम्।

प्रकारार्थमिति। प्रकार का अर्थ सादृश्य है। वह सादृश्य यहाँ सुप्त्व से लेना। मांसपचनी में भी 'न लुमता' निषेध के अनित्य होने से शसादि सुप् परे है। किसी का मत है कि शब्दत्व से सादृश्य लेना चाहिए। परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि 'वा शोकष्यञ्रोगेषु" वार्तिक व्यर्थ हो जायेगा। (विरुद्धोऽर्थो यस्यस व्यर्थः तस्य भावो वैयर्थ्यं तस्माद्विरुद्धार्थत्वापत्तेरित्यर्थः। नासिक्यं नगरं (नासिक) नासिक्यो वर्ण इनके दो-दो रूप होने लगेंगे)। आसन्यं प्राणमूचुः" में उसी प्रकार न लुमता के निषेध से अनित्य से शसादि पर त है यहाँ 'सुप्रभृतिषु' कहना था सुप्रभृतिषु कहने से शस्म् विभक्ति के परे कही ही प्रवृत्ति होती है। इससे पद् हृद् निश् का ग्रहण भी चरितार्थ हुआ। उनके दोनों प्रकार के रूपकोश से सिद्ध होने से वहाँ व्यवस्था ही करनी होगी। सुप् प्रत्यय मात्र में प्रवृत्ति होने पर व्यवस्था के असम्भव होने से उनके ग्रहण की व्यर्थता स्पष्ट ही है। प्रकारार्थ में प्रमाण कहते है—भाष्यइति भाष्य में कहा है कि शस्प्रभृति में कहते, अशस्प्रभृति में भी देखा जाता है। शलादोषणी—इत्यादि में प्रथम अध्रिगुप्रैष में है वहाँ शलाका के आकार वाले दोषणी यह अर्थ है कादि का लोप

छान्दसि है। उक्त व्याख्यान से अकारान्तदोष (दूषणवाची) को दोषन् आदेश होता है। यह कथन सार्वहीन है।

तेन पदङ्घ्रिरिति। न च कोशस्थपदादीनां पादाद्यादेशत्वे पादादिभ्यः पृथक्पदादिवचनं तत्र व्यर्थम्। न हि स्थान्यादेशयोः पृथगुपादाने प्रयोजनमस्ति, स्थान्युपादानेनैव तदर्थाभिधानसमर्थादेशस्याप्यर्थबोधनात्। अत एव नसाद्यादेशानां कोशेऽनुपन्यास इति वाच्यम्, पदादीनां भाष्यरीत्याऽनादेशत्वात्। तत्त्वेऽपि 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७।१।९५) इतिवद्व्यवस्थार्थमस्यावश्यकत्वेन सौ परतो हृदादीनां प्रयोगार्थं प्रकारार्थत्वस्यावश्यकत्वात्। स्पष्टं चेदं 'वा शोक' (६।३।५१) इति सूत्रे मूले।

अब यहाँ शंका करते हैं कि कोशस्थ पदादियों को पादादि ग्रहण वहाँ व्यर्थ है। क्योंकि स्थानी के अर्थ से अभिधान में समर्थ आदेश से अर्थज्ञान होता है इसी नसादि आदेशों का कोश में उपन्यास नहीं किया है। उत्तर भाष्य की रीति से पदादि आदेश नहीं है। आदेश मानने पर भी 'तृज्वत्क्रोष्टुः' की तरह व्यवस्था के लिए आवश्यक होने से सु के परे हृदादियों के प्रयोग के लिए प्रकारार्थ मानना आवश्यक है। यह 'वा शोक' सूत्र के मूल में स्पष्ट है।

(१) कोशे शब्दा अर्थपरा एव। शक्तिग्रहस्तु पदत्वहेतुका (२) नुमानेन सामान्यत एव। एवञ्च 'विष्णुर्नारायणः' (अम० को० १:१।१९) इत्यादौ विष्णुपदार्थाभिन्नो नारायणपदार्थ इति क्रमेण बोध इत्यादि मञ्जूषायां नामार्थवादे विस्तरेण निरूपितम। 'एतत्पदममुकवाचकम्' इति शक्तिग्रहस्तु स्वस्वप्रसिद्धिमादाय तत्तत्पुरुषस्यानियतः पश्चान्मनसैव। 'अघ्न्ये देवि सरस्वति इडे काव्ये विहव्ये एतानि तेऽघ्न्ये नामनि' इत्यादौ यत एतानि तव नामानि अतस्त्वदभिन्ना एषामर्था इति बोधः। अत एव 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे' (८।१।७३) इदिसूत्रभाष्ये सामान्यवचनमित्यस्य इदं प्रत्युदाहरणं दत्तम्। अन्यथैकार्थबोधकत्वरूपसामानाधिकरण्यस्याप्यभावात्तदसङ्गतिः स्पष्टैव। एकशेषस्तु न, तथा सति तत्तच्छब्दस्वरूपस्य सम्यग् (१) बोधानापत्तेः। अनेकशब्दानां स्वरूपबोधनपूर्वमेकार्थबोधने कोशतात्पर्यात्। अत एव 'यत्तदेतेभ्यः' (५।१।३९) इत्यादौ पाणिनिनैकशेषो न कृतः। एतेन कोशे शब्दानां शब्दपरता, अत एवैकशेषो न। अर्थपरत्वन्तु न सम्भवति इत। पूर्वं शक्तिग्रहाभावात्। एते शब्दा एकार्था इति बोधः। एवञ्चात्र प्रकारार्थत्वाभावेऽपि न क्षतिरित्यपास्तमिति (२) दिक्।

कोश में शब्द अर्थपरक ही है। शक्ति ज्ञान तो सामान्य रूप से पदत्व हेतुक अनुमान से ही जानना। अनुमान इस प्रकार है (इदम् विष्णुपदम् नारायणत्वावच्छिन्नार्थ निरूपित शक्ति यह नारायणपदघटितप्रघट्टकघटत्वादि विष्णुर्नारायण कृष्णः इत्यादि) यह विष्णुपद नारायण के अर्थ से सम्बद्ध शक्ति वाला है। नारायण पद से युक्त जो पद्याहक विष्णुर्नारायणः इत्यादि उसमें विष्णु का भी पाठ है। इस तरह विष्णुर्नारायणः इत्यादि में विष्णुपदार्थं से अभिन्न नारायण पद का पाठ है। अर्थात् दोनों समानार्थक है ऐसा क्रम से गोध होता है। इसका विस्तार मञ्जूषा के नामार्थ-वाद में है। यह पद इसका वाचक है इस प्रकार शक्ति ज्ञान तो अपने-अपने प्रसिद्ध को लेकर उस–उस पुरुष के लिए अनियत् पीछे मन से ही होता है अग्ने इत्यादि में हे अग्नि यह तुम्हारे नाम है इसलिए तुम्हारे से अभिन्न ही इनके अर्थ है। इस प्रकार का बोध होता है। उक्त बोध मानने से ही 'नामन्त्रिते' इत्यादि सूत्र के भाष्य में सामान्य वचन का यह प्रत्युदाहृण दिया है नहीं तो एकार्थ बोधकता न होने पर सामानाधि-करण्य के न होने से उसकी असंगत स्पष्ट ही थी। कोश में एक शेष नहीं होता है। क्योंकि एक शेष होने पर उन-उन शब्दों के स्वरूप का ठीक ज्ञान नहीं होता। वास्तव में कोष में सहविवक्षा के न होने से एक शेष नहीं होता है। अनेक शब्दों का स्वरूप बोध न करते हुए एकार्थ बोधन में ही कोश का तात्पर्य है। एक शेष करने पर यथार्थ बोधक के न होने से ही 'मतच्छेदेश्य' इत्यादि में पाणिनि में एक शेष नहीं किया 'व्यदादीन च' इससे कोश में शब्द शब्दपरक हैं इसलिए एक शेष नहीं है अर्थात् परत्व की सम्भावना नहीं है क्योंकि इससे पूर्व शक्ति ज्ञान का अभाव था। यह शब्द एकार्थ है। ऐसा बोध होता है। इस तरह प्रकारार्थ न मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु यह कथन असंगत है।

संख्यावि (६।३।११०)। 'सायेभ्यः' इति वक्तव्ये पूर्वग्रहणमुत्तरपदे इत्यधिकृतस्य पठ्यन्तत्वलाभाय। एतेन 'व्यह्लप्रियः' इत्येवैतदुदाहरणमित्य-पास्तम्।

विश्वपा इति। विश्वं पातीति विग्रहे 'आतोऽनुपसर्गे' (३।२।३) इति प्राप्ते वाऽसरूपन्यायेन 'आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च' (३।२।७४) इति चेन विच्। स चाऽऽदन्तेभ्यो लोकेऽपि, 'कीलालप आगतम्' इति 'विभाषा पूर्वाह्णा' (४।३।२४) इति सूत्रे भाष्यप्रयोगात्। क्विपस्त्वादन्ते-भ्यो भाष्यानुक्तक्विबभ्योऽनभिधानमेव। अत एव 'यू स्त्र्याख्यौ' (१।४।३) इत्यत्र विजुक्तो भाष्ये, न तु क्विप्। अत एव 'शंस्थाः' इत्यादिप्रयोगेषु भाष्यकृता इत्वं न कृतमिति केचित्। अन्ये (३) क्विपमेवाहुः।

दीर्घाज्ज (६।१।१०५)। चेन 'इचि' इत्यनुकर्षः। 'दीर्घाच्छस्येव' इति नियमपरं 'दीर्घाच्छसि' इत्येव तु न सूत्रितम्, दीर्घादेव शसीतिविपरीतनियमापत्तेः। प्रत्याहारेषु जातिपक्षश्रयणादत्र प्राप्तिः। न्याय्यत्वादिति। जसि पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधस्य न्याय्यत्वादित्यर्थः। धातोः किं हाहानिति। अव्युत्पन्नमिदम्। अस्य क्रियाशब्दत्वे तु 'सान्' इति प्रत्युदाहरणम्।

संख्यावि। 'सायेभ्यः' ही कहना उचित था फिर पूर्व ग्रहण अधिकृत उत्तरपदे को षष्ठयन्त लाभ के लिए है इससे 'व्यह्लप्रियः' ही इसका उदाहरण है यह कथन निर्मूल है।

विश्वपा इति। विश्वं पातिविग्रह में 'आतोऽनुपसर्गे से क प्राप्त था वाडसरूपन्याय से 'आतो मनिन्' इत्यादि से चकार से बिच् होता है। वह आद्यन्तधातुओं से लोक में भी होता है। 'कीलालप आगतम्' यह 'विभाषा' सूत्र में भाष्य प्रयोग ही प्रमाण है। आदन्तों से भाष्यानुक्तकिपो से भिन्न क्विष का अनभिधान है। इसी से 'यूस्त्र्याख्यौ' में भाष्यकार ने विच् कहा क्विप् में नहीं कहा इसी से 'संस्था' इत्यादि प्रयोगों में इत्व नहीं किया यह केचित् का मत है, अन्य तो क्त्रिप् ही करते है।

दीर्घाज्ज ॥ चकार से 'इचि' का अनुकर्ष है दीर्घ से शस् में ही हो इत्यादि नियम परक 'दीर्घाच्छसि' तो सूत्र नहीं किया। दीर्घ से ही शस् में हो यह विपरीत नियम् होने लगता। प्रत्याहारों में जात पक्ष के आश्रयण से यहाँ प्राप्त है। न्याय्यत्वादिति। जसि में पूर्व सवर्ण दीर्घ का निषेध उचित है। धातोः किं हाहानिति। यह हा हा शब्द अव्युत्पन्न है। हेतिकष्टं जाहातीति। हा हा इस प्रकार व्युत्पत्ति मानने पर सान् प्रत्युदाहरण है।

परे तु 'क्त्वः' 'श्नः' इत्यादिसिद्ध्यर्थम् 'आतोऽनापः' इति वक्तव्यम् इत्युक्ते 'आत' इति योगविभागेन तत्संसाध्य तत्प्रत्याख्यातं भाष्ये। एवञ्च साशब्दादेर्यद्यभिधानं तदा योगविभागेन लोप इष्ट एव। सूत्रे धातुग्रहणमाबन्तनिवृत्त्यर्थमेव भाष्यवार्त्तिककृतोरज्ञानकल्पनापेक्षयेदृशार्थकल्पनस्यैबौचित्यात्। आबन्तादाचारक्विबेव न, तत्क्विबन्ताद्वा कर्त्तक्विब् न; अनभिधानादिति न तत्र सूत्रवार्तिकयोर्विरोधः। (१) अत एव 'प्रथमयोः' (६।१।१०२) इति सूत्रे भाष्ये पररूपं बाद्धयसामान्यचिन्तया दीर्घमात्रस्य बाधकमिति पक्षे 'रामान्' इत्यादिसिद्धयर्थम् 'अतो दीर्घ' इति, सुपि च' इति चानुवर्त्तमाने 'बहुवचने झल्येत्' (६।३।१०३) इति सूत्रे बहुवचने इति योगविभागेन पररूपबाधकं दीर्घं विधाय 'रामाणाम् इत्यादावनेन दीर्घे

परत्वात्कृते 'अग्नीनाम्' इत्यादौ सावकाशस्य नुटोऽप्राप्तिमाशङ्क्य 'ह्रस्वनद्यापः' (७।१।५४) इति सूत्रे 'आज्जसेः' (७।१।५०) इत्यत आद्ग्रहणानुवृत्त्या समाधाय 'कीलालपाम्' इत्यादौ नुड्विधायके 'आतो धातोः' इत्यनुवर्त्य लोपेन नुड्बाधकेन समाहितम्। नुड्विधायके आब्ग्रहणं न कार्यमिति तदाशयः। अधात्ववयवाकारान्तानां लोपाभावे तु (२) तदसङ्गतिः स्पष्टैवेत्याहुः।

नागेश कहते है कि 'क्त्वः' 'श्नः' इत्यादि की सिद्ध के लिए आतोऽनापः का निर्माण किया है फिर आतः के योग विभाग से उस वार्तिक की सिद्धि कर भाष्य में वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है इस प्रकार यदि ज्ञा आदि शब्दों का अभिधान है तो योग विभाग से लोप इष्ट दृष्टि ही है।

सूत्र में धातु ग्रहण आवन्त की निवृत्ति के लिए ही है। भाष्य और वार्तिक कार की अज्ञान कल्पना की अपेक्षा इस प्रकार के अर्थ की कल्पना करना ही उचित है। आदन्त से आचार क्विप् नहीं होता है, और उस पिबन्त से कर्त्ता में क्विप् नहीं होता है। अनभिधान होने से इसलिए वहाँ सूत्र और वार्तिक का विरोध नहीं है। धातु ग्रहण तो आबन्त निवृत्ति के लिए मानने से ही 'प्रथमयोः' के भाष्य में पर रूप वाध्य सामान्य चिन्ता से दीर्घ मात्र का बाधक है। इस पक्ष में रामान् की सिद्ध के लिए अतोदीर्घ और सुपिच की अनुवृत्ति कर बहुवचने झल्येत्' सूत्रमे बहुबचन योग विभाग से पररूप का बाधक दीर्घ करके रामाणाम् में इससे पर होने से दीर्घ करने पर अग्नीनाम् में सावकाश नुट् यहाँ नहीं होगा ऐसी आशंका कर 'ह्रास्य नद्यापः सूत्र में अज्जसेः' से आद्ग्रहण की अनुवृत्ति से समाधान कर कीलालपाम् इत्यादि में नुट् के बाधक लोप से समाधान किया। नुट्विधायक में आव्ग्रहण नहीं करना चाहिए यह उसका आशय है। अधातु के अवयव आकारान्तों के लोप न होने पर उसकी असंगत स्पष्ट ही है।

क्त्वः श्न इति। क्त्वाप्रत्ययस्य इडित्याद्यर्थकं 'क्त्व इट्' 'श्नः शस्येत्वम्' इत्यादिप्रयोगस्थमत्रोदाहरणम्। एतेमाऽऽचारक्विबन्तात् कर्तृक्विपा एते प्रयोगा निर्वाह्या इत्यपास्तम्, आचारक्विबन्तप्रकृतिककर्तृक्विबन्तस्य भाष्ये क्वाप्यनुपन्यासेन तेभ्यः कर्तृक्विपोऽनभिधानस्यैव लाभाच्च।

(१) जसि च (७।३।१०९) ह्रस्वस्य इति वर्त्तते।

ह्रस्वस्य (७।३।१०८)। 'सम्बुद्धौ च' (७।३।१०६) इत्यतः संबुद्धाविति वर्त्तते।

शेषो घ्य (१।४।७)। 'यू स्त्र्याख्यौ' (१।४।३) इत्यतो यू इति,

'ङिति ह्रस्वश्च' (१।४।६) इत्यतो ह्रस्व इति च वर्त्तते। शेषपदार्थमाह— अनदीत्यादि। तदन्तमिति। अनुवृत्तयुभ्यां शेषपदार्थस्य विशेषणात्तदन्तलाभ इति भावः। ननु 'मत्यै' इत्यत्रानवकाशत्वान्नदीसञ्ज्ञैव भविष्यतीति शेषग्रहणं व्यर्थमत आह—एकसञ्ज्ञेति। अधिकारादिति। 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) इत्येतत्पर्यन्तं तस्य बुद्धिस्थत्वादित्यर्थः। स्पष्टार्थमिति। स्पष्टतया तदन्तविधिलाभार्थमि (१) ति भावः। मात्रे इति। 'ऋतो ङि' (७।३।११०) इति तु यू इत्यनुवृत्तावेव तात्पर्यग्राहक मिति भावः।

क्त्वः श्नइति। क्त्व प्रत्यय को इट् हो ऐसे अर्थ वाले 'क्त्वइट्' 'श्नः' के शकार की इत्संज्ञा ह्रो इत्यादि प्रयोगों में स्थिति यहाँ उदाहरण हैं। आचार क्विबन्त से कर्ता में क्विप् प्रत्यय करके इन प्रयोगों का निर्वाह करना चाहिए, ऐसा करने वाले परास्त है आचार क्विन्त प्रकृति वाले से कर्ता में क्विवन्त प्रयोग भाष्य में उपलब्ध न होने से उनसे कर्त्ता में क्विप् को अनभिधान का ही लाभ होता है।

जसि च। ह्रस्वस्य गुण की अनुवृत्ति होती है। यहाँ 'जिति च' सूत्र करने से ह्रस्वस्य की अनुवृत्ति के बिना अविनयु इत्यादि प्रयोगों की सिद्ध हो जायेगी 'जसि च' सूत्र भी करना नहीं होगा। यह लाघव है ठीक है परन्तु नियालक्ष्म्या में गुण होने लगेगा।

ह्रस्वस्य। 'ये सम्बुद्धौ च' से सम्बुद्धि की अनुवृत्ति होती है।

शेषोध्य। 'यूस्व्याख्यौ' से यू और 'ङिति ह्रस्वश्च' से ह्रस्व की अनुवृत्ति होती है शेष पद का अर्थ स्पष्ट करते है। अनदीत्यादि। तदन्तमिति। अनुवृत्तमु से शेष पदार्थ का विशेषण होने से तदन्त का लाभ है। 'मत्यै' ये अनवकाश होने से नदी संज्ञा ही होगी। फिर शेष ग्रहण व्यर्थ है। इस शंका का उत्तर देते है—एक संज्ञेति। अधिकारादिति। 'कडाराः कर्मधारये' तक वह बुद्धिस्थ है। स्पष्टार्थमिति। स्पष्ट होने से तदन्तविधि के लाभ के लिये है। मात्रे इति। 'क्वृतो ङि' सूत्र तो यू की अनुवृत्त में ही तात्पर्य ग्राहक है।

आङो ना (७।३।१२०) पुंसीति तु नोक्तम्, 'अमुना कुलेन' इत्यत्र मुत्वस्यासिद्धत्वान्नुमनापत्तौ पुंस्त्वाभावेन नाभावस्याप्यापत्तौ रूपासिद्धेः। (२) 'न मु ने' (८।३।३) इति निषेधस्तु न; नुमि 'न मु टादेश' इति (३) वार्त्तिकविरोधात्। अत एव सूत्रकृता 'क्त्व' इतिवत् 'नि' इति नोक्तम्। तथा सति तन्त्रेण नकारानिर्देशोऽपि सम्भाव्येत। आगन्तुनाऽकारेण तस्यापि ने इति निर्देशेन तन्त्रस्वीकारे त्वत्यन्तं ज्ञानगौरवमिति न किञ्चिल्लाघवमिति स्पष्टं भाष्ये। आङितीति। ङकारविशिष्टा सञ्ज्ञा

न त्वस्य ङस्येत्त्वम् । अत एव 'हरिणा' 'मत्या' इत्यादौ न गुणः । एवम् 'औङ आपः' (७।१।१८) इत्यत्रापि । अत एवासम्भवे एवापवादत्वमिति वार्तिकमतेऽपि 'रमे' इत्यादौ न याट् ।

पुंस तो नहीं कहा क्योंकि 'अमुना कुलेन' की सिद्धि नहीं होगी, मुत्व के असिद्ध होने से नुम् नहीं होगा और नपुंसक होने से नाभाव भी नहीं होगा 'न मुरादेश' इस वार्तिक के विरोध से नुम् करने म 'न मु ने' से निषेध नहीं होगा । इसी से सूत्रकार ने 'क्त्व' की तरह 'नि' नहीं कहा । नि करने पर तन्त्र से नकार के निर्देश की भी सम्भावना हो सकती थी । आगन्तुक अकार से उसका भी ने निर्देश से तन्त्र मानने पर तो अत्यन्त ग्रहण गौरव है लाघव कुछ भी नही है । आङतीति । ङकार विशिष्ट संज्ञा है इस ङकार की इत्संज्ञा नहीं है । इत्संज्ञा न होने से ही हरिणा मत्या में गुण नहीं होता है । इसी प्रकार 'औङ' आपः में भी समझना अर्थात वहाँ भी ङकार इत्संज्ञा नहीं होती है इसी से असम्भव में ही अपवाद होता है ऐसे वार्तिककार के मत में भी रमे में याट् नहीं होता है ।

घेर्ङिति (७।३।११) । 'सुपि च' (७।३।१०२) इत्यतः सुपीति वर्त्तते । तेन 'पट्वी' इति सिद्धम् । न च 'घेर्ङि' इत्येव सूत्रं कार्यं, ङकारादावित्यर्थः, 'प्रबाह्वा' इत्यत्र 'आङ्याजयारामुप संख्यानम्' (का० वा०) इत्याङादेशस्तु ङा इत्येव वक्तुं शक्यः, इति वाच्यम्; 'मत्याम्' इत्यादौ 'आण्नद्याः' (७।३।११२) इत्यस्यानापत्तेः, अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावात् । इद्ग्रहणे त्वनुबन्धकार्यत्वात् स्थानिवत्त्वं स्पष्टमि (१) ति दिक् ।

'सुपि च' से सुप् की अनुवृत्ति होती है अतएव 'पट्वी' में गुण नहीं होता है । 'घेर्ङि सूत्रकरना चाहिए, उसका अर्थ ङकारादि होगा । परन्तु उक्तन्यास में 'प्रबाह्वा में गुण नहीं होगा । क्योंकि वहाँ 'आङ्याज इत्यादि से आङा देश होता है वह ङकारादि नहीं है वहाँ ङा देश ही कर देंगे । सत्य है परन्तु उक्त न्यास में मत्याम में 'आण्नद्याः' की प्रवृत्ति नहीं होगी । ङि से आट् करने पर स्थानिवत्भाव की भी प्राप्ति नहीं है, क्योंकि अल्विधि होने से निषेध हो जायेगा । इत् ग्रहण पर तो अनुबन्ध कार्य होने से स्थानिवत् भाव हो जाता है । क्योंकि अनुबन्ध कार्य में अनल्विधौ निषेध नहीं लगता है ।

ङसिङ (६।१।११०) । एङो द्वित्वेऽपि अस्वरितत्वाद्यथासंख्यं न । [(२) 'ङितश्च'*इति तु नासूत्रि ऋत उत्' (६।१।१११) इत्यत्र ऋदन्तात् ङितोऽति परे पूर्वरूपमित्यर्थे 'जाप्रति' इत्यादौ दोषः स्यादिति ।] ङसो-रित्येव सिद्धे ङसिग्रहणं स्पष्टार्थम् ।

अच्च घेः (७।३।११९)। इदुद्भ्यामिति किम् ? 'घेः परस्य ङेरौदच्च' इति, 'ङिप्रकृतेर्घेरौदच्च' इति वाऽर्थो मा भूदिति अदौतोस्तपरत्वं मुखसुखार्थम्। इत्सञ्ज्ञायां च 'तस्य लोपः' (१।३।९) इति तयोर्लोपः। न चौतो विभक्तित्वात् 'न विभक्तौ' (१।३।४) इति निषेधात् कथमित्सञ्ज्ञेति वाच्यं, मुखसुखार्थमित्यस्य तदेव प्रयोजनं न तु कार्यान्तरं, नापि प्रयोगे श्रवणमित्यर्थात्तत्त्वप्रतिज्ञैव 'न विभक्तौ' (१।३।४) इत्यस्य तत्राप्रवृत्तेः : अत एव 'इद्वृद्धौ' (६।३।२८) 'पत्यावैश्वर्ये' (६।२।१८) इत्यादिनिर्देशाः (१) सङ्गच्छन्ते। यदि तूच्चारणार्थानां विनैव शास्त्रमपगमः स्यात्, तदा इत्सञ्ज्ञकानामपि तद्वदेव निवृत्तिरस्तु, किं तस्य लोप इत्यनेन ? स्वभावादस्योभयत्रापि समत्वात्। ध्वनितञ्चेदं 'तस्य लोपः' [१।३।९] इत्यत्र भाष्ये इति 'दिव औत्' [७।१।८४] सूत्रे निरूपयिष्यामः।

ङसिङ। एङ को द्वित्व होने पर भी स्वरितत्व न होने से यथासंख्य नहीं होता है 'ङितश्च' सूत्र तो नहीं किया, क्योंकि 'लंकृत उत्' में ऋदन्त से ङित सम्बन्ध अत् के परे पूर्व रूप हो इस अर्थ में जाग्रति में दोष होगा। ङसो कहने से ही कार्य चल जाता है। ङसि ग्रहण स्पष्टार्थ है।

अच्चघेः। इदुभ्याम् किस लिए है ? घिसंज्ञक से परे ङि. को औ और अत् है, यह अथवा ङि प्रकृति घि को औ और अत् यह अर्थ न हो। अत् और औत् में तपरकरण मुख सुख के लिए है इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से उन दोनों का लोप होता है। अब यहाँ शंका करते हैं कि औत् के विभक्ति होने से 'न विभक्तौ' से निषेध होने से इत्संज्ञा कैसे होगी। उत्तर मुखसुखार्थम् इसका वही प्रयोजन है। और अन्य कार्य नहीं है। और प्रयोग में श्रवण भी नहीं होता है इस प्रकार के अर्थ करने से तत्व प्रतिज्ञा से 'न विभक्तौ' की वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी से 'इद्वृद्धौ' 'पत्यावैश्वर्ये' इत्यादि निर्देश भी संगत होते है। यदि तो उच्चारणार्थों को शास्त्र के बिना ही अवगम् (निवृन्ति) हो तो इत्संज्ञा को भी उसी तरह निवृत्ति होगी। फिर 'तस्य लोपः' की क्या आवश्यकता है। स्वभाव से दोनों इसके लिए बराबर है, यह 'तस्य लोपः' सूत्र के भाष्य में ध्वनित ही है। विशेष हलन्त 'दिव औत' सूत्र पर विचार करेंगे।

न चैवम् 'अग्नौ' इत्यत्रौतः स्वरितत्वापत्तिः, न च 'प्रत्ययाप्रत्यययोः' [प०भा०] इत्येव सिद्धे पुनः 'ञिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्' [का०वा०] इति वार्तिकादौपदेशिकप्रत्ययत्ववत्येव तत्प्रवृत्तिरिति वाच्यम्, तस्याः परिभाषाया लक्ष्यसिद्धये भाष्यकृता क्वाप्य[२] नाश्रयणात्। स्पष्टञ्चेदं 'तित्स्वरितम्' [८।१।१८५] इत्यत्र कैयटे। 'अङ्गस्य' [६।४।१] इति सूत्रे

भाष्ये तु तत्प्रत्याख्यानायैकदेशिना सोक्ता, न तु सिद्धान्तिनेति स्पष्टं तद्विदाम् । 'श्नान्नलोप।' [६।४।२३] इति सूत्रे भाष्येऽपि ध्वनितस्तद-भावः, इति वाच्यम्, प्रत्ययग्रहणमित्यस्य विधानकालिकप्रत्ययत्ववद्ग्रहण-मित्यर्थात् । अत एवाऽऽदेशेषु दित्त्वमाश्रित्य तत्प्रत्याख्यानेन फलभेदो नेति दिक् ।

अब यहाँ शंका होती है कि अग्नौ में औत को स्वरित हो जाना चाहिए प्रत्ययाऽप्रत्ययोः' के ही कार्य सिद्ध होता फिर 'तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्' इति वार्तिक से औपदेशिक प्रत्यय वाले में ही स्वरित प्रवृत्ति होती है उत्तर प्रत्यया प्रत्यये परिभाषा का लक्ष्य सिद्ध के लिए भाष्यकार ने आश्रयण नहीं किया है वास्तविक में यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि 'वसोः सम्प्रसारणम्' इत्यादि अनेक सूत्रों के लिए उसकी आवश्यकता है "तित्स्वरितम' के कैयट में स्पष्ट है। अंगस्य सूत्र के भाष्य में उसके प्रत्याख्यान के लिए एक देशी ने वह कही है सिद्धान्ती ने नहीं कही यह विग्य लोगों को विदित ही है। 'श्नान्नलोपः' सूत्र के भाष्य में भी उसका अभाव ध्वनित है। अब औत् में स्वरित होना चाहिए उत्तर विधान के समय प्रत्ययत्व वाले का ग्रहण करने से दोष नहीं है इसी से आदेशों में द्वित्व मानकर 'तित् प्रत्यय' के प्रत्याख्यान से फलभेद नहीं होता है।

अनङ् सौ [१।१।९३] । साविति प्रथमैकवचनम् असम्बुद्धाविति पर्युदासात् । नकाराकारस्तूच्चारणार्थं इत्सञ्ज्ञकः ।

(३) अलोऽन्त्यात् । (१।१।६५) । अवध्यवधिमतोः साजात्या-दाह–पूर्वो वर्ण इति । अत एव 'शिष्टः' इत्यादौ शा इति समुदायस्य 'शास इत्' (६।४।३४) इतीत्वं न । (४) पञ्चम्यन्तालग्रहणाच्च शस्य न ।

सर्वनामस्थाने (६।४।८) । 'नोपधायाः' (६।४।७) इति 'ढ्रलोपे' (६।३।१११) इत्यतो दीर्घ इति चानुवर्त्तते ।

अनङ् सौ। असम्बुद्धौ के पर्युदास से प्रथमा के एक बचन सु का ग्रहण है, नकार का आकार तो उच्चारणार्थ इत्संज्ञक हो। यहाँ सोर्डा सूत्र करना उचित नही है। क्यों कि डश्मा में टिलोप करने पर उपधा को दीर्घ हो जायेगा।

अलोऽन्त्यात्। अवधि और अवधि वाले साजात्म् होने से कहते हैं पूर्वा वर्ण इति। पूर्व वर्ण के ग्रहण करने से ही शिष्टा इत्यादि में शा समुदाय को 'शास इत्' से इत्व नहीं होता है, क्योंकि पूर्व वर्ण शा का आकार ही है। और पंचमम्यन्त अल् के ग्रहण करने से शकार को इत्व नहीं होता है।

समुदाय विशिष्टत्वम् युपधात्वम् वैशिष्टञ्च स्वघटकत्वम् स्वघटकान्त्यात्म व्यवदि पूर्वत्वम् उभयसंबंधेन्। जैसे सखन में खकार के अकार की उपधा संज्ञा करनी

है वह अकार सखन् समुदाय के मध्य में है, और समुदाय का घटक अन्त्य अल् नकार उससे अव्यहित पूर्व भी है। इसलिये अकार की उपधा संज्ञा होती है।

सर्वनामस्थाने। 'नोपधाया' और 'दलोपे' से दीर्घ की अनुवृत्ति होती है।

अपृक्त (१।२।४१) अपृक्त इति पुंस्त्वमविवक्षितम्। अतएवापृक्तं हलिति सङ्गच्छते। अपृक्तप्रदेशेषु हल्ग्रहणेनैव सिद्धे सञ्ज्ञाविधानमदृष्टार्थम्।

हल्ङ्याप् (६।१।६८) सुतिसीति पृथक् पदम्। हलन्तादिति। सुतिसीनां प्रत्ययत्वेनोपस्थितस्य यस्मात्स विहितस्तदादेरित्यस्य विशेष्यत्वेन [१] तदन्तलाभ इति भावः। एवं ङ्याबंशे तदुपस्थित्या ङ्याबन्तान्तादित्यर्थो द्रष्टव्यः। हल्ङ्याब्भ्यः किमिति। 'रामः' इत्यादौ दीर्घान्तत्वाभावान्न दोष इति प्रश्नः। 'दीर्घात्किं निष्कौशाम्बिरतिखट्वः' इत्यारभ्य 'संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वाद्' इत्यन्तोऽपपाठः, मनोरमायां दर्शनात्। सखेति। यद्यप्यत्रैव 'सख्युरसम्बुद्धौ' [७।१।९२] इति लेख उचितस्तथापि नान्तलक्षणदीर्घेणैव सिद्धेः 'अत उपधायाः' [७।२।११६] इत्यपेक्षया नित्यत्वेन तस्यैवौचित्याच्चात्र नोक्तम्।

अपृक्तः इस पुल्लिग की विवक्षा नही है। अविवक्षा न होने से ही अपृक्तम् हल् भी संगत हुआ अपृक्त प्रदेशों में हल्ग्रहण से ही सिद्ध था संज्ञा करना अदृष्ट अर्थ के लिये है।

हलङ्याम्। सुतिसि यह प्रथक् पद है। हलन्तादीति सु ति सि के प्रत्यय होने से उपस्थित जो यस्मात् स विहितस्तदादि उसको विशेष्य मानने से तदन्त का लाभ होता है। इसी प्रकार ङ्यावंश से तदादि की उपस्थिति होने से तदन्तविधि से ङ्याबन्तात अर्थ समझना। तात्पर्य यह है कि सु ति सि से तदादिधर्मी उपस्थित कराया जाय यह ङि आप् से इसमें कोई विनिगमक न होने से दोनों से धर्मी की उपस्थिति होने पर सु ति सि से उपस्थित तदादि को विशेष्य मानकर तदन्त विधि करने से ङ्याक्त जो तदादि तदन्त जो तदादि उससे पर सु ति सि के अपृक्त हल् का लोप होता है यह सूत्र का निर्दुष्ट अर्थ हुआ। रामः इत्यादि में दीर्घन्तत्व के न होने से दोष नहीं है। फिर हलङ्याबम्यः ग्रहण क्यो करते हो? दीर्घात्किं निष्कौशाम्बिरतिखट्व से लेकर संयोगान्त लोपस्यासिद्धत्वात् के अन्तका पाठ अपपाठ है मनोरमा में देखने से सखेति। यद्यपि 'सख्युरसम्बुद्धै सूत्र यहाँ ही लिखना उचित था तो भी नान्तलक्षण दीर्घ से कार्य हो जायेगा, 'अतउपधायाः' की अपेक्षा नित्य होने से उससे दीर्घ करना ही उचित है इसीसे 'सख्युः' इत्यादि सूत्र का यहाँ उल्लेख नहीं किया।

अणो ञ्णि [७।२।११५]। 'मृजेर्वृद्धिः' [७।२।११४] इत्यतो

वृद्धिरित्यनुवर्त्तते, अङ्गस्येति चाधिकृतं, तदाह—अङ्गस्य वृद्धिरिति ।

ख्यत्यादिति । उच्चारणार्थीकारेण कृतयणः प्रयोगस्थस्यानुकरणाद-विशेषणोभयोर्ग्रहणमित्याह—खितीत्यादि । ङस्यादिपरस्तादृशः खिखीति-तीशब्दप्रकृतिक एव सम्भवतीति भावः । सुसखेति । 'न पूजनात्' [५।४। ६९] इति निषेधाद् 'राजाहः सखिभ्यः' [५।४।९१] इति टज् न । समु-दायस्येति । असखीत्यस्य (१) सखिभिन्नावयवाविति वर्णसंज्ञापक्षेऽर्थः । [२] अत्र पक्षे पर्युदासेन तद्भिन्नप्रातिपदिकान्त्येवर्णादेरेव ग्रहणात् 'कृतं सख्या' इति वाक्ये न दोषः । सिद्धान्तिसम्मते तदन्तसञ्ज्ञापक्षे सखिभिन्ना-वित्यर्थः । पर्युदस्यमानसमर्पकसखिशब्दे तदन्तग्रहणन्तु न, विशेष्यासन्नि-धानादिति भावः । एतत्सर्वं हरदत्तानुरोधेन ।

अचो ञ्णि । 'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि की अनुवृत्ति होती है और अंगस्य का अधिकार है इसलिये अंगस्य वृद्धिरिति लिखा है ।

रूपत्यादिति । उच्चारणार्थक अकार से यण् करने पर प्रयोगस्य के अनुकरण होने से सामान्य रूप से ह्रस्वदीर्घ दोनों का ग्रहण है जैसा कि लिखा– खितीत्यादि । ङस् आदि के परे खि, खी, ति, ती शब्द प्रकृति वाला ही सम्भव है । सुसखेति । 'न पूजनात्' से निषेध होने के कारण 'राजाहः सखिभ्यः' से समासान्त टच् नहीं होता है । समुदायस्येति । असखि का वर्ण संज्ञा तेक्षे में सखि से भिन्न अवयवों को यह अर्थ है उक्त अर्थ में सखि से भिन्न ही उसके अवयव इकार की भी संज्ञा हो जायेगी । यह विचार नहीं करना क्योंकि असखि पर्युदास है उससे सखि भिन्न और सखि सदृश प्रातिपदिक ही लिया जायेगा इस पक्ष में पर्युदास से सखि भिन्न प्रातिपदिकान्त्य वर्णादि के ग्रहण से 'कृतसख्या' इस वाक्य में दोष नहीं है । सिद्धान्ती के सम्मत तदन्त संज्ञा पक्ष में सखि से भिन्न यह अर्थ है । विशेष्य के न होने से पर्युदास घटक सखि शब्द में तदन्तविधि नहीं होती है । यह सब हरदत्त के अनुरोध से है ।

'यस्येति च' [६।४।१४८] इति सूत्र भाष्यात्तु 'सखिशब्दस्य' तद-वयवे लक्षणया सख्यवयवभिन्नयोरिदुतोरित्यर्थः । यथा 'अत्वसन्तस्य' [६। ४।१४] इति सूत्रेऽधातोरित्येतद्घटकधातुपदस्य 'पिण्डग्रः' इत्यादिसिद्ध्यर्थं धात्ववयवे लक्षणाऽऽकरे दृश्यते तदन्तसञ्ज्ञापक्षेऽप्यसखीति य्वोरेव विशेषणं, ततस्तदन्तविधिः । 'उतश्च प्रत्ययाद्' [६।४।१०६] इतिवत् । ततश्च सख्यवयवभिन्नेवर्णाद्यन्तमित्यर्थः । तदन्तविधिश्च शेषपदार्थविशेषणतया । एवञ्च प्रकृते नैव घिसञ्ज्ञा' इति लभ्यते । तत्र हि भाष्ये इवर्णस्य ईति किमुदाहरणम् । अतिसखेरागच्छति । यद्यत्र लोपो न स्यात्तदा कृतदीर्घस्य

पूर्वान्तवद्भावेन सखिशब्दत्वाद् अतिदेशविषये प्रतिपदोक्तपरिभाषया अप्रवृत्त्योपसर्जनह्रस्वत्वे कृतेऽपि घिसञ्ज्ञा न स्यात् । लोपे तु लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया न दोषः' इत्युक्तम् । भवद्रीत्या विशिष्टस्य सखिभिन्नत्वेन घिसञ्ज्ञा निर्बाधैवेति तदसङ्गतिः स्पष्टैव । न च लोकेऽपि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया दोषः सखिशब्दस्य तदवयवपरत्वेन प्रातिपदिकग्रहणाभावात् । प्रातिपदिकत्ववदुपस्थापकपदोपादानं हि प्रातिपदिकग्रहणम् । ख्यत्यात्सूत्रे 'किमर्थं विकृतनिर्देशो 'न सखिपतिभ्याम्' इत्येवोच्येत, अतिसखेरित्यत्र मा भूत्' इति भाष्येऽपि ङ्यन्तप्रकृतिक एवायम् । विहितविशेषणानाश्रयणेनेव प्रतिपदोक्त परिभाषानाश्रयणेनैवैतद् भाष्यं प्रवृत्तमिति न तद्विरोध [१] इत्यलम् ।

'यस्येति च' सूत्र के भाष्य से तो सखि शब्द भी उसके अवयव में लक्षणा है (जैसे अग्र भाग में हस्त शब्द का प्रयोग होता है) सखि शब्द के अवयव से भिन्न इकार उकार की संज्ञा हो यह अर्थ है जैसे 'अत्वसन्तस्य' सूत्र में अधातु के मध्य में स्थित धातुपद की 'पिण्डग्रः' इत्यादि की सिद्ध के लिये धात्ववयव में लक्षणा भाष्य में की है। 'तदन्त संज्ञा पक्ष में भी असखि इ उ का ही विशेषण है । फिर तदन्तविधि है । 'उतश्च प्रत्याह्' की तरह तब सखि के अवयव से भिन्न वर्णादि अन्त अर्थ प्राप्त होता हैं । शेष पदार्थ के विशेषण होने से तदन्तविधि है इस तरह से प्रकृति में घि संज्ञा का लाभ नहीं हो सकता है । वहाँ भाष्य में कहा इवर्ण का इकार के परे कौन उदाहरण है । अति सखेरागच्चति । यदि यहाँ लोप नहीं होता तो दीर्घ करने पर पूर्वान्तवद्भाव से सखि शब्द होने से अतिदेश के विषय में प्रतिपदोक्त परिभाषा की अप्रवृत्ति होने से उपसर्जन ह्रस्व करने पर भी घि संज्ञा नहीं होगी । लोप करने पर तो लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा से दोष नहीं है (अतिसखे में सखि शब्द से ङीप् करने पर इकार का लोप होता है आपकी रीति से तो अति सखि सखि से भिन्न होने से निर्बाध घि संज्ञा होने से भाष्य की असंगत स्पष्ट ही है । लोपपक्ष में लिंग विशिष्ट परिभाषा से दोष नहीं है । क्योंकि सखि शब्द अपने अवयव को कहता है तब प्रातिपदिक ग्रहण नहीं है प्रातिपदिक संज्ञा वाले उपस्थापक पद के उपादान होने पर ही प्रातिपदिक ग्रहण होता है ख्यत्यात् सूत्र में भी विकृति निर्देश क्यों करते हैं न सखि पतिभ्याम् ही कहो अति सखे में निषेध न हो जाय इस भाष्य से भी इयन्त प्रकृतिक ही प्रतीत होता है । विहित विशेष की अनाश्रयण की तरह प्रतिपदोक्त परिभाषा के अनाश्रयण से ही यह भाष्य प्रवृत्त है । इस लिये उसका कोई विरोध नहीं है ।

पतिः समा [१।४।८] । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । स्मृतिपुराणेषु 'पतये' 'सखिना' इत्यादि व्याकरणानिष्पन्नत्वेनासाध्वेव । त्रिशङ्काद्य-

याज्ययाजनादाविव तपोमाहात्म्येनासाधुप्रयोगेऽपि ऋषीणां दोषाभावात् याज्ञे कर्मण्येवासाधुप्रयोगे दोषाच्च। अस्माकमपि स्मृतिपुराणाध्ययनविधिबलात् तेषां तपोबलाच्च यज्ञमध्येऽपि वदन्तर्गततत्पाठे दोषाभावः। स्वातन्त्र्येणे-दृशं प्रयुञ्जाना अस्मदादयः प्रत्यवयन्त्येव। अत एव नदीसञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' इत्युक्त्वा 'न ह्येषेष्टिरस्ति' इत्युक्तम्। 'यू स्त्र्या-ख्यौ' [१।४।३] इति सूत्रे हरदत्तग्रन्थे स्पष्टतरञ्चैतत्। समास इत्युक्तेः बहुच्पूर्वे न घित्वम्। अत एव 'पतिवृत्तावेव' इति [१] नासूत्रि। वर्ण-सञ्ज्ञापक्षे पत्यवयवेकार [२] इत्यर्थः। तदन्तसञ्ज्ञापक्षे पत्यवयवेकारान्त इत्यर्थः। सूत्रे पतिशब्दश्च तदवयवेकारे लाक्षणिकः। एतेन 'शेषो घ्यसखि-पती' 'पतिसखी समास एव' इति वा सूत्र्यतामित्यपास्तम्। 'यस्येति च' [६।४।१४८] इति सूत्रस्थभाष्यरीत्या 'पतिना' 'सुसख्या' इत्यादीष्टासिद्धया तथा न्यासस्य [३] कर्त्तुमशक्यत्वादिति स्पष्टमेवेति दिक्।

पतिः समास। एवकार इष्टनियम के लिये है। अन्यथा समास में पति की ही घिसंज्ञा हो यह विपरीत नियम भी हो सकता था, स्मृति पुराणादिमें व्याकरण में सिद्ध न होने के कारण असाधु है जिस तरह त्रिशंकुको अमाज्य माजन कराने में ऋषि को दोष नहीं उसी प्रकार तप् के महात्म्य से असाधु प्रयोग में भी ऋषियों को दोष नहीं है और यज्ञादि कर्म में ही असाधु प्रयोग में दोष है। हम लोगों को भी स्मृति पुराणादि की अध्यास विधि के बल से और ऋषियों के तपोबल से यज्ञ के मध्य में भी उसके अन्तर्गत पाठ में दोष नहीं है हम लोग स्वतन्त्रता से उस प्रकार के प्रयोग करने में प्रत्यवाह के भागी हैं। इसी से नही संज्ञा सूत्र के भाष्य में छन्द की तरह कवि लोग करते हैं यह कह कर यह कोई इष्ट नहीं है यह कहा। 'यूस्त्याख्यौ' सूत्र में और हर-दत्त के ग्रन्थ में स्पष्ट तरहै। समास से कहने पर बहुच पूर्व की घिसंज्ञा नहीं होगी। समास से अतिरिक्त स्थल में इष्ट न होने से ही 'पतिर्वृत्तावेव' सूत्र नहीं बनाया। (वृत्ति पाँच प्रकार की होती है) वर्ण संज्ञापक्ष में पति का अवयव इकार यह अर्थ करना तदन्त संज्ञा पक्ष में पति का अवयव इकारान्त अर्थ करना। सूत्र में पतिशब्द अपने अवएव इकार में लाक्षणिक है उक्त व्यवस्था करने से 'शेषोध्यससिपती' पतिसधी समासऐव सूत्र निर्माण करने वाले परास्त है। यस्येति च' सूत्रस्थ भाष्य की रीति से उस प्रकार के न्यासों का निर्माण कठिन है।

नित्यं बहुवचनान्त इति। 'किमः संख्यापरिमाणे' (५।२।४१) इत्य-नेन किंशब्दाद् बहुत्वसंख्यावच्छिन्नसंख्येयविषयप्रश्न एव डतिरिति भाष्ये स्पष्टत्वादिति भावः।

'किमः संख्या परिमाणे' सूत्र से 'किम्' शब्द से बहुवचनत्व बहुत संख्या वाले संख्ये विषय में प्रश्न करने पर ही डति होती है यह भाष्य स्पष्ट है।

बहुगण [१।२।३१]। संख्याप्रदेशेष्वेतत्सञ्ज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणसत्त्वेऽपि तन्मूलकृत्रिमाकृत्रिमन्यायस्य न प्रवृत्तिः कर्तरि कर्मेत्यादाविव। अत एव 'संख्याया अतिशदन्तायाः' [५।१।२२] इति शदन्तपर्युदासः सङ्गच्छते। न हि शदन्ता कृत्रिमा संख्याऽस्ति। तस्मात्संज्ञाप्रदेशेषूभयगतिः। किञ्च लोकप्रसिद्धमहासंज्ञाकरणेन प्रदेशेषु लोकप्रसिद्धार्थस्याप्यवगतिरिति स्पष्टं भाष्ये। अत एव 'पञ्चकृत्वः' इत्यादिसिद्धिः। एतन्यायोपयोगस्त्वभ्यासाम्रेडितादिसञ्ज्ञाविषये द्रष्टव्यः। सूत्रे बहुगणग्रहणन्तु तयो [१] नियतविषयपरिच्छेदहेतुत्वाभावेनासंख्यात्वात्। बहुत्वादि हि [२] त्र्यादिसंख्याव्यापको [३] धर्मविशेषः। अत एव भाष्ये 'एतत्सूत्रमतिदेशार्थं यदयमसंख्यां संख्येत्याह' इत्युक्तम्। यत्तु भाष्ये 'एकादिकया चापि संख्यायते' इत्युक्तं, तस्यायमर्थः—बह्वादिकयाऽपि स्वव्याप्यत्रित्वादिसंख्यया संख्यायते। कतिशब्दोऽपि संख्यानकरणीभूतार्थविषयप्रश्नार्थकतया संख्यानकरणम्। एवं वत्वन्तेऽप्यूह्यम्। यद्वा, चापिशब्दौ वाक्यालङ्कारे। एकादिकया संख्यायते सोऽपि प्रदेशेषु यथा गृह्येतेति लोकप्रसिद्धमहासञ्ज्ञाकरणमिति तदर्थः। एतेन 'अर्थान्तरवाचित्वे सति बहुत्ववाचिनश्चेत्संख्याकार्यं तर्हि बहुगणयोरेव' इति नियमार्थं तत्। तेन भूर्यादीनां न तेषां वैपुल्याद्यर्थान्तरवाचित्वात्। वैपुल्यं विशालता। विशेष्यविशेषणदलास्यामबहुत्ववाचिन एकशब्दस्य बह्वर्थमात्रवाचिनां त्र्यादीनाञ्च न व्यावृत्तिः। यद्वा 'अनियतसंख्यावाचिनाञ्चेद् बहुगणयोरेव' इति नियमः। अनन्तशब्दवदनन्तवाचिशतशब्दस्य संख्याकार्याभाव इष्ट एवे [१] त्यपास्तम्। संघवैपुल्यवाचकयोर्नेह ग्रहणं परस्परसाहचर्येण त्र्यादिसंख्याव्यापकधर्मवाचिनोरेव ग्रहणात्। 'वतु' इति सानुबन्धनिर्देशो 'ब्राह्मणवत्' इत्यादिव्यावृत्त्यर्थः। डतिस्तद्धित एव वसुसाहचर्यादित्यलम्।

'ष्णान्ता' [१।१।२४] इत्यतः षडिति वर्तते, [२] संख्येति च प्रकृतं, तदाह—डत्यन्तेति। अत एव 'षट्कति' [५।२।५१] इति डडनुवादेन थुग्विहितः। अत एव सञ्ज्ञाविधावपि प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्। संख्येति किम्? [३] पतयः।

बहुगण। संख्या के प्रदेशों में इससे संज्ञा करने का ज्ञान ज्ञप प्रकरण होने पर भी तन्मूलक कृत्रिमाकृत्रिम न्याय की प्रवृत्ति नही होती है जैसे कर्त्तरि कर्म में नहीं होती है इसी से 'संख्याया अतिशदन्तायाः सूत्र में शदन्त पर्युदास भी संगत होता है क्यों त्यन्त और शदन्त संख्या कृत्रिम नहीं है इससे संख्या प्रदेशों में उभयगत होती है। कृत्रिम और अकृत्रिम और लोक प्रसिद्ध महा संज्ञा करने से प्रदेशों में लोक प्रसिद्ध अर्थ की अवगति होती है यह भाष्य में स्पष्ट है इसी से पंचकृत्वः इत्यादि की सिद्धि होती है।

इस न्याय का उपयोगतो अभ्यास आम्रेडित आदि संज्ञाओं में देखिये। सूत्र में बहुगण ग्रहण तो उनके नियत विषय व्यवस्थापक कारण न होने से असंख्या होने के कारण किया है। बहुत्व तो तीन आदि संख्या को व्यापक विशेष धर्म है इसी से भाष्य में यह सूत्र अति देश के लिये है क्योंकि यह असंख्या को संख्या करता है कहा है जो कि भाष्य में लिखा है कि एकादि से भी गिनती होती है। उसका अर्थ यह है कि बहुबादिक से भी अपनी व्याप्य तीन आदि संज्ञा से संख्यान होता है। कति शब्द भी संख्यान का करणीभूत जो अर्थ तद्विषयक प्रश्नार्थक होने से संख्या का करण है। अर्थात सहायक है। इसी प्रकार वत्वन्त में भी समझना। यद्ब च और अवि शब्द वाक्यालंकार में है। एकादिक से भी संख्यान होता है वह भी प्रदेशों में जैसे ग्रहण किया जाये इसलिये लोक प्रसिद्ध महा संज्ञा की है।

इससे अर्थान्तर वाची होने पर बहुत्ववाची को यदि संख्या कार्य हो तो बहुगण को ही हो इस प्रकार के नियम के लिए उभ ग्रहण है। उक्त नियम से भुर्यादियों की नहीं होती है। क्योंकि वे विशालता रूप वैपुल्य अर्थान्तर के वाची है। विशेष दल के देनें से बहुत्व अर्थ को न कहने वाले एक शब्द की संज्ञा सिद्ध होती है। और सत्यन्त देने से केवल बहूर्थक वाची व्यादियों की व्यावृत्ति नहीं होती है अर्थात उभ् की संज्ञा होती है अथवा अनियत संख्या वाचियों को हो तो बहुगण को ही हो ऐसा नियम करेंगे। अनन्त शब्द की तरह अनन्तवासी शत् शब्द को संख्या कार्य का अभाव इष्ट ही है। इस प्रकार का कथन व्यर्थ है। संघ और वैपुल्यवाचिकों का यहाँ ग्रहण नही है। परस्पर साहचर्य से त्र्यादि संख्या की व्यापक धर्मवाचियों का ही ग्रहण है 'वतु'ये अनुबन्ध विशिष्ट निर्देश होने से ब्राह्मण वत् की व्यावृत्ति होती है अर्थात यहाँ संज्ञा नहीं होती है। वतु के साहचर्य से तद्धित इति का ही ग्रहण है।

'ष्णान्ता' से षट् की अनुवृत्ति होती है। संख्या प्रकृति में है–इससे कहते हैं–डत्यन्तेति। अर्थात तदन्त विधि हो जाती है। 'संज्ञाविधौ' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि साक्षादुद्देश्यता प्रयोजक में निषेध होता है डत्यन्त संख्या को षट् संज्ञा हो इस अर्थ में षट् संज्ञा की साक्षात् उद्देश्यता संख्या पद में है प्रति पद में नहीं है। विशेष विस्तार परिभाषेन्दु शेखर की टीका में देखिये। इसी से 'षट्कति' डङ के

अनुवाद से धुक का विधान करना है। संख्या को प्रधान मानने से ही संख्याविधि में भी प्रत्यक्ष के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण होता है। संख्या ग्रहण के अभाव में 'पतयः' में भी इति होने से संज्ञा होने लगती।

प्रत्ययस्य (१।१।६१)। अनेकसञ्ज्ञाकरणाद् आवृत्त्या विभक्तिविपरिणामेन च तद्भावितसञ्ज्ञाश्रयणम्, अतो न सङ्करः। तेन 'हन्ति' इत्यादौ 'श्लौ' (६।१।१०) इति द्वित्वं न, तदाह—लुक्श्लुलुप्शब्दैरिति। 'अदर्शनं लोपः'(१।१।६०)इत्यतोऽदर्शनमित्यनुवर्त्तते। प्रदेशेषु भाविसञ्ज्ञाविज्ञानान्न (४) न्योन्याश्रयः। एकसञ्ज्ञाप्रकरणादन्यदेशस्थत्वेन लोपसञ्ज्ञया आसां समावेशः। तेन प्रत्ययलक्षणसिद्धिः।

षड्भ्यो (७।१।२२)। 'जश्शसोः शिः' (७।१।२०) इत्यतो जश्शसोरिति वर्त्तते। षड्भ्य इति (१) विहितविशेषणम्। तेन गौणे न। 'परमपञ्च' इत्यादौ तु विशिष्टस्यापि संख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यक (२) बोधजनकत्वेन संख्यावाचितया षट्त्वमस्त्येवेति न दोषः। स्पष्टञ्चेदं 'षट्प्रधान एष समासः' इत्यादिना सर्वादिसूत्रे भाष्ये। कैयटस्य तु प्रमाद इत्यन्यत्र निरूपितम्।

प्रत्ययस्य। अनेक संज्ञा करने से आवृत्ति और विभक्ति विपरिणाम से तद्भावित संज्ञा का आश्रयण है इसलिये संकर नहीं है इससे 'हन्ति' में 'श्लौ' से द्वित्व नहीं होता है वैसा ही कहते है—लुक्श्लुलुप्शब्दैरिति। 'अदर्शनं लोपः' से अदर्शनं की अनुवृत्ति होती हैं। प्रदेशों में भाविसंज्ञा विज्ञान से अन्योन्याश्रय नहीं है जैसे अस्य सूत्रस्य पाटकम्वय। इस सूत्र की साड़ी बुनो कहने पर भावि संज्ञा को लेकर साटकथा प्रयोग होता है। उसी प्रकार यहाँ भी यस्य जातस्य लुगित्यादि संज्ञाभविष्यन्त तादृशादर्शनस्य लुगादिसंज्ञा इस प्रकार के अर्थ से दोष नहीं है।

एक संज्ञा के प्रकरण होने से अन्य देश में स्थिमि लोप संज्ञा के साथ इन संज्ञाओं का समावेश है इसी से प्रत्यय लक्षण की सिद्ध होती है।

षड्श्यो। 'जश्शसोः शिः' से जश शसु की अनुवृत्ति होती है षडश्य यह विहित विशेषण है इसी से गौण में प्रवृत्ति नहीं होती है।

षड्श्योलुक् का षट् संज्ञा विशिष्ट योर्जशश् सोर्लुक् वैशिष्टयञ्च स्वनिष्ठोद्देश्यता निरूपित विधेयताश्रयत्वं। तात्पर्य यह है कि षट् संज्ञक को उद्देश्यक मानकर जहाँ जस् रास् का विधान हो वहाँ लुक् होता है उक्त अर्थ करने पंच ब्राह्माः में करने से ब्राह्मणोत्तर जश् का लुक् नहीं होता है क्योंकि उस जश् में विधेयता षट् संज्ञक को उद्देश्य करके नहीं है। किन्तु ब्राह्मण को उद्देश्य करके है। परम पंच इत्यादि में तो परम् विशिष्ट को भी संख्या प्रकारक (विशेषणक) संख्येविशेष्यक वोधजनकता होने से

संख्यावाची होने से षट्त्व है इससे दोष नहीं है। सर्वाणि सूत्र में षट्प्रधान यह समास है इत्यादि रूप से स्पष्ट किया है। कैयट का तो प्रमाद है यह अन्यत्र स्पष्ट है।

प्रत्ययलोपे (१।१।६२)। (३) प्रत्ययस्येत्यनुवृत्त्यासिद्धे आद्यप्रत्ययग्रहणमवयवलोपे मा भूत्। तेन 'आघ्नीय' इत्यादौ नानुनासिकलोप इति स्पष्टं भाष्ये। इदमेव प्रत्ययग्रहणं ज्ञापकमवयवेऽपि प्रत्ययत्वव्यवहारस्य। एवञ्च 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) 'इदुदुपधस्य' (८।३।४१) इत्यनयोर्लक्षणादि नाश्रयणीयं, 'सात्पदाद्योः' (८।३।१११) इति च चरितार्थम्।

(१) स्थानिवत्सूत्रेण सिद्धे इदं सूत्रं नियमार्थमिति भाष्यम्। प्रत्ययस्यासाधारणं रूपं यत्राश्रीयते तत्रैवेति। न चैवं 'दाधर्ति' (७।४।६५) इति सूत्रे 'तेतिक्ते' इति किं निपात्यते? आत्मनेपदम्, नैतिदस्ति 'अनुदात्तङित' (१।३।१२) इत्येव सिद्धम्, नियमार्थं तर्हि भविष्यति अत्रैव यङ्लुगन्तस्य, नान्यत्र वेभिदीति' इत्युक्तम्; अस्य नियमत्वे तेनात्मनेपदं दुर्लभं ङित्त्वस्य प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणत्वादिति वाच्यम्, आत्मनेपदमित्यस्यैव सिद्धान्त्युक्तित्वात्। ततो विध्यर्थमिदमिति वार्तिकानुसारिणा 'अनुदात्तङित' (१।३।१२) इत्येव सिद्धमिति शङ्किते तदनुसार्येकदेशिन एव तत्समाधानमित्यदोषादित्यन्यत्र विस्तरः।

प्रत्ययलोपे। प्रत्ययस्य की अनुवृत्ति से ही कार्य सिद्ध हो जाता फिर प्रथम प्रत्ययग्रहण से ज्ञापित होता है। कि अवयव के लोप में न हो इससे 'आघ्नीय' इत्यादि में अनुनासिक लोप नहीं होता है यह भाष्य में स्पष्ट है यह प्रत्ययग्रहण ही ज्ञापक है कि अवयव में भी प्रत्ययत्व व्यवहार होता है। अवयव में प्रत्ययत्व व्यवहार स्वीकार करने से आदेश प्रत्यययोः; 'इदुदुपधस्य' में अवयव में लक्षणादि करने की आवश्यकता नही है सात्पदाद्योः में सात ग्रहण भी चरितार्थ है।

स्थानिवत्सूत्र से ही सिद्ध था प्रत्यय लोप सूत्र नियमार्थ है प्रत्ययलोप प्रत्ययलक्षणमेव न स्थानिवत् यह नियम का आकार है जहाँ प्रत्यय के असाधारण रूप का आश्रयण हो वहाँ ही प्रत्यय लक्षण हो यह द्वितीय प्रत्यय का फलितार्थ है। नियमाकार नही है अब शंका करते है कि 'ताधर्ति' वैदिक सूत्र में लिखा है कि 'तेतिक्ते' में क्या निपातन्करते हो। आत्मनेपद यह नहीं है क्यों 'अनुदात्तङित' से सिद्ध हो जायगा। तब नियमार्थ होगा यङ्लुगन्त को यहाँ ही हो अन्यत्र बेभिद में न हो ऐसा भाष्य में कहा यदि यह सूत्र नियमार्थ होता तो उससे आत्मने पद होना दुर्लभ था क्योंकि ङित्व प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों में रहता है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मनेपदम् ही सिद्धान्ती की उक्ति है तब यह विध्यर्थ है ऐसा वार्तिककार के अनुसरण करने वाले

अनुदात्तङित शंका कीं है उसके अनुसरण करने वाले एक का ही बात समाधान हैं इसलिये कोई दोष नहीं है।

(१) प्रत्ययलोपे प्रत्ययवदिति सिद्धे लक्षणग्रहणं प्रत्ययनिमित्तकमेव, न तु प्रत्ययस्थानिकमित्यथलाभार्थम् तेन 'नखभिन्नः' इत्यादावसादिकं नेत्येके। अतिदेशेनाहार्यतद्बुद्धिसम्पादनेऽप्यु (१) धारणप्रसङ्गरूपषष्ठयर्थाभावान्नैसादीति तव्द्यर्थमित्यपरे।

कार्यमिति। प्राधान्यात् कार्यातिदेशोऽयमिति भावः। 'इहापि परिवीरिति शास्त्रपरविप्रतिषेधेन परत्वाद्दीर्घत्वं भविष्यति' इति भाष्येण तृज्वत्सूत्रे शास्त्रकार्यातिदेशयोरैक्यकथनेन चातिदिश्यमानकार्याणामुत्पत्तिदेश एव देश इत्यङ्गीकारात् 'परिवीः' इत्यत्र तुग्दीर्घौ पर्यायेण न; किं तु दीर्घ एव परत्वात्। अन्यथाऽनेनैवोभयोर्विधानात्परत्वाभावेन पर्यायो दुर्वार इति बोद्धयम्। तदाह—जसि चेति गुणे प्राप्ते इति *।

'प्रत्ययलोप प्रत्ययवद्' से कार्य सिद्ध हो जाता है फिर लक्षण ग्रहण से प्रत्यय निमित्तक ही कार्य होता है प्रत्यय स्थानिक नहीं होता है यह ज्ञापित होता है इसी से नखभिन्न में भिस् को ऐस् नहीं होता है। यह किसी का मत है अतिदेश से आहार्य मिस बुद्धि करने पर भी उच्चारण प्रसंगरूप षष्ठ्यर्थ के न होने से ऐस नहीं होगा फिर लक्षण ग्रहण व्यर्थ है।

कार्यमिति। प्रधान होने से यह कार्याति देश है क्योंकि शास्त्र भी कार्य के लिये होते है यहाँ भी परिवी शास्त्र पर विप्रतिषेध से पर होने से दीर्घ होगा इस भाष्य से और तृज्वत् सूत्र में शास्त्रातिदेश और कार्याति देश को एक कहने से अतिदेश से प्राप्त कार्यो का उत्पत्ति देश ही देश है ऐसा स्वीकार करने से परिवीः में तुक और दीर्घ पर्याय होने से नहीं होते है किन्तु पर होने से दीर्घ ही होता है नहीं तो इसी से दोनों का विधान होने पर, पर के अभाव में पर्याय होना दुर्वार था। जैसा कि कहा है—जसि, चेति, गुणे, प्राप्ते, इति।

न लुमता (१।१।६३)। लुशब्दयुक्ता लुमन्तस्तदाह—लुगित्यादि। अङ्गकार्यमिति। लुप्तप्रत्ययेत परतो यः पूर्वस्तत्प्रकृतिभूतो लब्धाङ्गसञ्ज्ञकस्तदुद्देश्यकं यत्कार्यमाङ्गमनाङ्गं वे (१) त्यर्थः। तेन 'पञ्च' इत्यादौ पदसञ्ज्ञा भवति। राजपुरुषादौ भसञ्ज्ञा च न। अङ्गसञ्ज्ञा तु यथोद्देशत्वात् प्रत्ययसत्ताकाले जाता तिष्ठत्येव। तत्काले कार्याभावादप्रवृत्तावपि प्रत्ययलक्षणेन सा। तस्या लब्धाङ्गसञ्ज्ञककार्यत्वाभावेन निषेधाप्रवृत्तेः। स्पष्टञ्चेदं 'युवोरनाकौ' (७।१।१) इत्यत्र कैयटे।

न लुमता । लु शब्द से युक्त लुमन्त है—वही ठीक कहा है– लुगित्यादि । अंग-कार्यमिति । लुप्त प्रत्यय के परे जो पूर्व उसका प्रकृति भूत हो और प्राप्तअंग संज्ञा वाला हो उसका उद्देश्य मानकर जो कार्य वह अंग सम्बन्धी हो अथवा न हो यह अर्थ है इसी से पंच में पद संज्ञा होती है राजपुरुषादि में भ संज्ञा नहीं होती है अंगसंज्ञा तो यथोद्देश्य होने से प्रत्यय के आने पर ही हो गयी थी। वह विद्यमान ही है। उस समय कार्य के न होने से प्रवृत्ति नहीं हुई थी प्रत्यय लक्षण से है उसका प्राप्त अंग संज्ञक कार्य के अभाव से निषेध नहीं होता है। यह 'युवोरनाकौ' के कैयट में स्पष्ट है। (लुप्त प्रत्ययाव्यवहित पूर्वत्वेन साक्षादवच्छिन्ना यत्राऽवृत्युद्देश्यता तत्रैन न लुमताङ्गस्य सूत्रेण निषेधः। यह इसका अर्थ है इसी से उत्क्राम में दीर्घ सिद्धि होती है। उत्क्राम लोट मध्यम पुरुष के एक वचन का रूप है यहाँ टि के लुक होने पर प्रत्ययलक्षण से टि्मानकर दीर्घ होता है न लुमताऽस्य से प्रत्यय लक्षण का निषेध नहीं होता है परस्मैपद परक शित् के पर क्रम को दीर्घ होता है इस अर्थ में लुप्त प्रत्यय टि से अव्यवहित पूर्ण शित् है क्रमरूपी अंग में उद्देश्यता साक्षात् नहीं है)

न 'लुमता' (१।१।६३) इत्यस्यानित्यत्वादङ्गसञ्ज्ञायामप्रवृत्तिरिति (२) कश्चित्। अत एव पञ्चभिः क्रोष्ट्रीभि क्रीतं कुलमिति 'तद्धितार्थ' (२।१।५१) इति समासे ठको 'अध्यर्ध' (५।१।२८) इति लुकि 'लुक्-तद्धित' (१।२।४९) इति स्त्रीप्रत्ययलुकि च 'पञ्चक्रोष्टृ' इत्यत्र (३) तृज्वत्त्वम्। तदुक्तं भाष्ये तृज्वदितिसूत्रे—'न चापरं निमित्तमाश्रीयते, किं तर्हि? अङ्गस्य क्रोष्टुस्तृज्वदिति; अङ्गसञ्ज्ञा च भवति (४) प्रत्यय-लक्षणेन' इति। न चोरदत्त्ववत् तृज्वत्त्वेऽपि परनिमित्ताश्रयणमिति 'पञ्च-क्रोष्टृ' इत्यस्यासिद्धिरिति वाच्यम्, 'उरत्' (७।४।६६) इत्यत्र शब्दतः परस्य निमित्तत्वानाश्रयणेऽपि (५) अङ्गसञ्ज्ञाद्वारोरदत्त्वस्यापि परनिमित्त-कत्वेन स्थानिवत्त्वप्रवृत्तिरित्येव 'लिट्यभ्यासस्य' (६।१।१७) इति सूत्रस्थ-भाष्याशयात्। नियमतः परबुद्धे पूर्ववृत्तितया परनिमित्तत्वात्। अत एव 'चर्करीति' 'अजर्घाः' इत्यादावत्त्वप्रवृत्तिः। 'अचिश्नु' (६।४।७७) इत्यादा-वजादिप्रत्यय इत्यर्थस्तु अङ्गस्येतिष्ठया 'निमित्ते' इत्यध्याहारेण तस्य विशेष्यतया यथाकथाञ्चिदुपपाद्यः, आकडाराधिकारस्थेषु (१) कार्यकाल-त्वस्याभावाच्च। एतेन कार्यकालपक्षेऽपि क्रोष्टुशब्दः प्रत्ययेऽङ्गसञ्ज्ञो भवति, अङ्गसञ्ज्ञकस्य च तस्य तृज्वत्त्वं स्त्रियामित्येवार्थः'। 'उरत' (७।४।६६) इत्यादौ तु आवृत्त्याऽत्वं प्रति निमित्तताऽपि 'वव्रश्च' इति लक्ष्या-नुरोधादेवेति तदाशयः। पदैकवाक्यतयाऽन्वयस्तु सञ्ज्ञासूत्राणां दुर्लभ

इत्यन्यत्र निरूपितम् । 'चर्करीति' 'अजर्घाः' इत्यादौ तु 'न लुमता' (१।१।६३) इतिनिषेधानित्यत्वादत्त्वप्रवृत्तिः 'त्रपो' इत्यादौ गुणवत् । अङ्गाक्षिप्त-प्रत्ययनिमित्तं लुकि भवत्येवेति तु भ्रुवे हितं भ्रूहितमित्यादावुवङापत्त्या चिन्त्यम्—इत्यपास्तम् ।

किसी का कथन है कि न लुमनाङ्गस्य से अनित्य होने से अंग संज्ञा में प्रवृत्ति नहीं होती है जातकी स्थिति रहने से ही पंञ्चभिः रीति से निष्पन्न पंचक्रोष्टु में पूर्व तृज्वत् भाव रहता ही है। तृज्वत् सूत्र के भाष्य में भी कहा है कि अन्य किसी के निमित्त को नहीं मानता है क्या मानता अंग संज्ञक क्रोष्टु को तृज्वत् और अंग संज्ञा प्रत्यय लक्षण से होता है। तात्पर्य यह है कि लुक् अन्तरंग के निमित्त का विनाशक न होने से अन्तरंगानपि परिभाषा की प्राप्ति न होने से लुक् से पूर्व ही स्त्रियां च से तृज्वत् भाव हो जाता है।

अब यहाँ शंका करते है कि उरत से विधीयमान अत्व की तरह तृज्वत् में पर निमित्त का आश्रयण है (अंगसंज्ञा प्रत्यय निमित्तक होने से यह भी पर निमित्तक है) तब पंचक्रोष्टुः की सिद्धि नहीं होगी। उत्तर (उत्तर शब्द से पर निमित्त के आश्रयण न होने पर भी अंगसंज्ञा के द्वारा 'उरत' भी पर निमित्तक है इसलिये स्थानिवत् भाव की प्रवृत्ति होती है इतना ही 'लिट्यभ्यास्य' सूत्र के भाष्य का आश्रय है नियम से परबुद्धि के पूर्ववृत्ति होने से परनिमित्तक है। इसी से चर्करीति, अजर्धा इत्यादि में अत्व होता है। 'अचिश्नु' इत्यादि में अजादि प्रत्यय इत्यादि में अर्थ तो अंगस्य षष्ठी से 'निमित्ते' के अध्याहार से उसको विशेष्यमानकर किसी प्रकार सम्पन्न करना। आकडाराधिकार में स्थितों में कार्यकाल पक्ष का अभाव है इससे कार्यकाल पक्ष में भी क्रोष्टु शब्द की प्रत्यय के पर अंग संज्ञा होती है। उस अंग संज्ञा को स्त्री में तृज्वत् भाव होता है। यही अर्थ है 'उरत' इत्यादि में तो आवृत्ति से अत्व के प्रति निमित्तता भी बभ्रुश्च इत्यादि लक्ष्यों के अनुरोध से मानते है प्रकृति वैसा नहीं नहीं है इसमें भी लक्ष्यारोध ही कारण है यह उनका कारण है यह उनका आशय है। संज्ञासुत्गे का पदैकवाक्यता से अन्वय तो दुर्लभ है। चर्करीति, अजर्धा इत्यादि में त्रपों में गुण की तरह 'न लुमता' निषेध के अनित्य होने से अत्व भी प्रवृत्ति जानना। अंग से आक्षिप्त प्रत्यय निमित्तक कार्य लुक् करने पर होगा ही यह ठीक नहीं है। क्योंकि भ्रुवेहितम् भ्रूहितम् उवङ् होने लगेगा। एतेन से जो कहा वह सब निर्मूल है।

त्रिषु सरूपा इति । 'ङे प्रथमयोः' (७।१।२८) इति सूत्रे 'युष्मान्' इत्यादौ 'तस्माच्छसो नः' (६।१।१०३) इत्युपन्यासपरेण भाष्येण 'स्वमोर्न-पुंसकात्' (७।१।२३) इति सूत्रे शिशी नुमादिभिर्युष्मदाद्यादेशानां विप्रति-षेधपरेण वार्त्तिकेन, तद्भाष्येण च, 'न षट्' (४।१।१०) इति निषेधेन च

लिङ्गसत्ताबोधनेऽपि लिङ्गबोधकप्रत्ययानुत्पत्त्या रूपे न विशेष इत्यर्थः। 'साम आकम्' (७।१।३३) इतिसूत्रस्थस्य 'अलिङ्गे युष्मदस्मदी' इति भाष्यस्य पदान्तरसन्निधानं विना लिङ्गविशेषो युष्मदस्मच्छब्दमात्रात् न प्रतीयते इत्यर्थ इति दिक्।

त्रिषु सरूपाइति। 'ङे प्रथमयोः' सूत्र में 'युष्मान्' इत्यादि में तस्माच्छसो नः' के उपन्यास करने वाले भाष्य से 'स्वमोर्न पंुसकात् सूत्र में युष्मान्' इत्यादि में 'तस्माच्छसो नः' के उपन्यास करने वाले भाष्य से 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र में शिशी और नुमादि से युष्मदादि के आदेशों का विप्रतिषेध प्रदर्श परक वार्तिक से और उसके भाष्य से, और 'न षट्' के निषेध से लिंग की सत्या ज्ञात होने पर भी लिंग बोधक प्रत्यय की उत्पत्ति न होने से रूप में कोई विशेषता नहीं है।

'साम आकम्' सूत्र में स्थित 'अलिङ्गे' इत्यादि भाष्य का पदान्तर के सामीप्य के बिना केवल युष्मद् अस्मद् शव्द से लिंग विशेष की प्रतीति नहीं होती है।

त्रेस्त्रयः (७।१।५३)। अयं न सान्तो 'निजां त्रयाणाम्' (७।४।७५) इति निर्देशात् त्रेर (२) यङ् न कृतः 'अयङ्यि' (७।४।२१) इत्यादाविवोच्चारणार्थत्वशङ्कावारणाय। केचिदिति। 'आमि सर्वनाम्नः' (७।१।५२) इति साहचर्यादिति भावः। वस्तुतस्त्विति। साहचर्यस्यासार्वत्रिकत्वात्सूत्रान्तरस्थतदाश्रयणे दृढतरप्रमाणाभावाच्चेति भावः। न च गौणमुख्यन्यायेनात्र नेति वाच्यम्, अप्रसिद्धत्वगौणलाक्षणिकत्वान्यतररूपगौणत्वाभावात्। अत एवोपसर्जनानां सर्वनामत्वनिषेध आरब्धो वार्त्तिककृता। इतरविशेषणतामात्रेण तत्त्वाभावात् (१) पदकार्य एव तत्प्रवृत्तेश्चेत्यन्यत्र विस्तरः।

त्रेस्त्रयः। 'निजां त्रयाणाम्' इस निर्देश से यह आदेश सान्त नहीं है 'त्रेरयङ' न्यास तो नहीं किया (क्योंकि ङित्व सामर्थ्य से अन्त को हो (इस कल्पना में गौरव है) 'अयङ्यि' इत्यादि की तरह उच्चारणार्थ शंका वारण के लिये। केचिदिति। 'आमि सर्वनाम्नः' के साहचर्य से यह भाव है। वस्तुतीस्वीत। साहचर्य सार्वत्रिक नहीं होता है और सूत्रागन्तस्य साहचर्य के आश्रयण में दृढ़तर प्रमाण नहीं है गौणमुख्यन न्याय से यहाँ नहीं होगा यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि असिद्धत्व या सादृश्य से जहाँ लक्षणा होती है उसी को गौणत्व कहते है वह यहाँ नहीं है गौणमुखयन न्याय की उक्तस्थल में प्रवृत्ति मानने से ही उपसर्जनों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध वार्तिककार ने किया। दूसरे के विशेष होने से ही गौणत्व नहीं होता है। यदि विशेषण में भी उसकी प्रवृत्ति मान ली जाय तो भी उस न्याय की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि वह पद कार्य में लगता है पद कार्य का परिष्कार इस प्रकार का है। स्त्रीत्वानिमित्तकत्वेसति विभक्ति निमित्तकत्वम्। अर्थात् जो स्त्रीत्व को निमित्त न मानता है और

विभक्ति को भी निमित्त न मानता हो 'त्रेस्त्रयः' विभक्ति निमित्तक है इसलिये उक्त न्याय की प्रवृत्ति नहीं होगी।

द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्त इति। संख्यापरत्वेऽपीत्यर्थः। अत एव कस्य द्वित्वे इत्यर्थे 'कस्य द्वयोः' इति भाष्ये 'बहुषु' (१।४।२१) इति सूत्रे प्रयुक्तम्।

त्वदादी (७।२।१०२) 'अष्टन' (७।२।८४) इत्यतो विभक्ताविन्यनुवर्त्तते, तत्फलं तत्कुलम्। सोर्लुक्यत्वं न। इष्टिरिति। भाष्यकारस्येति भावः। द्विपर्यन्तानां किमिति। युष्मदस्मदोरात्वलोपैर्बाधात् किमः कादेशविधानाच्च प्रश्नः। भवान् भवन्ताविति। (२) अभ्युच्चयाय।

ङौ तु सवर्णदीर्घ इति। इदं सम्भावनामात्रेण। एषां ङौ 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (१।१।१९) इति सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येनानभिधानात्। क्विबन्तवातेति। 'ईत्वमवकारादौ' इतिवार्त्तिकस्य 'पावानः' इत्यादीनां वनिपा साधनरूपस्य तत्प्रत्याख्यानभाष्यस्य च फलैक्यायेदृशेभ्यः क्विपो (३)ऽनभिधानमावश्यकमिति। 'धीवरी' इत्यादि तु 'ध्याप्योः सम्प्रसारणञ्च' किप् क्वनिप् च चेनेत्यर्थकात् जनसनाखनां सञ्झलोः' (३।२।६७) 'घुमास्थागापा' (६।४।६६) इतिसूत्रभाष्यपर्यालोचनया सिद्धाद्वार्त्तिकात्सिद्धम्। धीङ्ध्यायतेर्दधातेर्वेति 'क्विब्वचि' (का० वा० इतिवार्त्तिकस्थभाष्ये दधातेर्वेत्युक्तिरे(१)कदेशिनः। 'शंस्था' इत्यत्र विजेवेति न दोषः 'मीङ् माने' इतीकारान्तात् क्विबित्येके। बातप्रमीर्निःश्रृङ्गो मृगाकृतिर्जन्तुविशेषः। बहुश्रेयसीति। 'ईयसो बहुव्रीहेर्न' [का० वा०] इति निषेधान्नोपसर्जनह्रस्वः।

द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तइति। संख्यापरत्व होने पर भी इसी कस्य द्वित्वे के अर्थ में 'कस्य द्वयोः' का प्रयोग 'बहुषु' सूत्र के भाष्य में किया है।

त्वदादी 'अष्टनः' से विभक्ती की अनुवृत्ति होती है तत्कुलम् में अत्व का न होना ही उसका फल है नपुंसक में सु का लुप् हो जाता है। इष्टरिति। भाष्यकार की है। द्विपर्यन्तानां किमिति। युष्मद् अस्मद् आत्व यत्व और लोप से अत्व का बोध हो जायेगा। किम् का कादेश ही हो जायेगा। फिर इस इष्ट के मानने की क्या आवश्यकता है यह प्रश्न है उसके अभाव में भवान् भवन्तौ में दोष है। भवन्तौ अभ्युच्च मात्र है।

ङौ तु सवर्ण दीर्घ इति। यह कथन सम्भावना मात्र से है क्योंकि इन शब्दों को ङि में 'ईदुतौ च सप्तम्यर्थे' सूत्र के भाष्य से अनभिधान है। क्विबन्तवातेति। 'ईत्वभवकारादौ' वार्तिक के पावानः इत्यादियों के वनिप से सिद्धकर उसके प्रत्याख्यान भाष्य

के फलैक्य के लिए इनसे क्विप् का अनभिधान मानना आवश्यक है। धीवरी पीवरी इत्यादि तो 'ध्याप्योः संप्रसारणञ्च'। चकार से क्विप क्वनिप इस अर्थ वाले 'जन-सनखनां' 'घुमास्थागापा' सूत्र के भाष्य से सिद्ध उक्त वार्तिक से सिद्ध है। धीढ्यर्याग्रते-र्दधातेर्वेति 'क्किब्वचि' वार्तिकस्य भाष्य में दधातेर्वे यह उक्त एकदेशीकी है। शंस्था में बिच् मानने से दोष नहीं है किसी का कथन है कि इकारान्त मीङ् मानने से क्किप् होता है। वातप्रमी शृङ्ग रहित मृग की आकृत वाले जीव विशेष को कहते है। बहु-श्रेयसीति। 'ईयसोबहुव्रीहेर्न' से निषेध होने से गोस्त्रियोः से ह्रस्व नहीं होता है।

यू स्त्र्या (१।४।३)। दीर्घयोरेव ग्रहणं (२) व्याख्यानात् 'वा छन्दसि' (६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः। यू किम्? मात्रे। 'आण्नद्याः' (७।३।११२) इति न। स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्यौ। मूलविभुजादित्वात् कः। स्त्र्याख्याधित्युपस्थितस्त्रीवाचकशब्दस्य विशेष्यत्वात्तदन्तविधिरित्याह—ईदूदन्ताविति। 'आच्छीनद्योः' (७।१।८०) इत्यादौ नदीशब्दस्य तदवयवे लक्षणा बोद्धया। आख्याग्रहणान्नित्यत्वलाभस्तदाह—नित्यस्त्रीलिङ्गाविति। तत्फलन्तु ग्रामण्यादेर्व्यावृत्तिः। (३) नित्यस्त्रीत्वञ्च प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये (१) लिङ्गान्तरविशिष्टार्थानभिधायकत्वम्। ङयन्तकुमार्यादीनां क्यचि निर्वृत्तेन त्रिलिङ्गेन समानाकारतया नित्यस्त्रीत्वाभाववारणाय प्रवृत्ति-निमित्तैक्ये इति।

यूस्त्र्या। व्याख्यान से दीर्घ ही इकार उकार का ग्रहण है पूर्वसवर्ण तो 'दीर्घा-ज्जसिच' 'वाछन्दसि' की अनुवृत्ति से हो जायेगा। यू का फल है मात्रे में नदीसंज्ञा का न होना फल है। संज्ञा होने पर 'आण्नद्याः' से आट् हो जाता। स्त्रियमचक्षाते से विग्रह में मूल विभुजादि मानकर क प्रत्यय करने से स्त्र्याख्यौ की सिद्ध होती है। स्त्र्याख्यौ इस उपस्थिति स्त्रीवाचक शब्द के विशेष्य होने से तदन्तविधि होती है कहा भी है—ईदूदन्ताविति। 'आच्छीनद्योः' इत्यादि में नदी शब्द की उसके अवयव में लक्षणा है। आख्या के ग्रहण से नित्यत्व का लाभ है इसी से लिखा है—नित्यस्त्रीलिंगा-विति। क्रियावाचनी ग्रामणी आदि की व्यावृत्ति ही उसका फल है क्योंकि ग्राम नय-नादि स्त्रीपुरुष साधारण है नित्य स्त्रित्व का परिष्कार करते हैं। प्रवृत्ति निमित्त एक होने पर लिंगान्तर से युक्त अर्थ का अविधायक न हो। ङन्त कुमारी आदि के क्यच् में बने तीनों लिंगों में समान आकार होने से नित्य स्त्रीत्व अभाव को दूर करने के लिए प्रवृत्ति निमित्तैक्येकहा।

नन्वेवं बहुश्रेयसीशब्दस्य नदीत्वं न स्यात्, अत आह—प्रथमेति। अर्थान्तरसङ्क्रमात्पूर्वं विद्यमानं नित्यस्त्रीत्वमादाय तस्यार्थान्तरसंक्रमेऽपि

नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। यथोद्देशे पूर्वप्रवृत्तसंज्ञामादायैव कार्यम्। कार्यकालपक्षेऽपि 'कुमारी' इत्यादौ प्रकृतिभूतकुमारीशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वेन वृत्तावपि विशेषणतया नित्यस्त्रीलिङ्गरूपार्थबोधकत्वेन नदीसञ्ज्ञा। समासे तु स्पष्टैव तदवयवस्य तत्प्राप्तिः। तन्मात्रबोधकत्वनिवेशे प्राधान्येन तद्बोधकत्वनिवेशे वा न मानम्। तदुक्तं भाष्ये—'अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम्, अवयवोऽत्र (१) स्त्रीविषयस्तदाश्रया नदीसञ्ज्ञा भविष्यति' इति। (२) आकडारस्थसञ्ज्ञानां (३) कार्यकालत्वाभावात्। अन्यथा तत्ताद्विध्येकवाक्यत्वापन्नयोः कथं बाध्यबाधकभावः स्यादिति बोध्यमित्यपि केचित्।

उक्त सूत्र से बहुश्रेयसी शब्द की नदीसंज्ञा नहीं होगी इसलिए कहते है—प्रथमेति। अर्थान्तर संक्रमण से पूर्व विद्यमान नित्यस्त्रीत्व को लेकर उसके अर्थान्तर संक्रमण होने पर भी नदी संज्ञा कहनी चाहिए। यथोद्देश्य पक्ष में पूर्व प्रवृत्त संज्ञा को लेकर ही कार्य होगा। कार्यकालपक्ष में भी कुमारी इत्यादि में प्रकृतिभूत कुमारी शब्द की नित्यस्त्री होने से वृत्त में भी विशेषण होने से नित्यस्त्रीलिंगरूप अर्थ के बोधक होने से नदीसंज्ञा है। समास में तो उसके अवयव को संज्ञा की प्राप्ति स्पष्ट ही है। केवल स्त्रीत्व का बोधक हो अथवा प्रधान रूप से स्त्रीत्व का बोधक हो इस प्रकार के निवेश में कोई प्रमाण नहीं है जैसा विभाष्य में कहा है—'अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम्' यहाँ अवयव स्त्री विषय है उसको आश्रय मानकर नदी संज्ञा हो जायेगी। ओर आकडारस्थ संज्ञाओं में कार्यकालपक्ष का अभाव भी है अन्यथा कार्यकालपक्ष में विधिशास्त्र के साथ एक वाक्यता को प्राप्त संज्ञाओं का बाध्य बाधक भाव कैसे होता।

हे बहुश्रेयसीति। ह्रस्वे कृते गुणस्तु न, प्रक्रियालाघवाय 'अम्बार्थानां ह्रस्वः' 'ह्रस्वनद्योर्गुणः' इत्येव वाच्ये ह्रस्वविधानसामर्थ्यात्। 'जसि च' (७।३।१०९) इत्यत्रैकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञया ह्रस्वपदस्यैवानुवृत्तिरिति भाष्ये स्पष्टम्। अम्बार्थानामपि गुणस्तु वक्तुमशक्यः,

'अनः क्लीबं जले शोके मातृस्यन्दनयोरपि।'

इतिरभसाद्युक्तानःशब्दस्याम्बार्थत्वेन गुणापत्तेः। ह्रस्वग्रहणे तु 'अचः' इत्युपस्थित्याऽजन्ताम्बार्थग्रहणान्न दोषः। तस्य नपुंसकत्वेऽपि 'हे वारे' इतिवत् पक्षे गुणः स्यादेव। गुणश्रुत्येक्परिभाषोपस्थितौ तु 'अम्ब' इत्यादावप्यनापत्तिः। अयं ह्रस्वः—'अनन्तरस्य' इतिन्यायाद् 'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८) इत्यस्यैव बाधकः। तेन 'मातः' इत्यत्र 'ऋतो ङि' (७।३।१०) इति गुणो भवत्येवेति दिक्।

हे बहुश्रेयसीति। ह्रस्व करने पर गुण तो नहीं होता है यदि गुण ही करना था

तो प्रक्रिया लाघव के लिये 'अम्बार्थानांह्रस्वः' 'ह्रस्वनद्योर्गुणः' ऐसा ही कहना था फिर ह्रस्व के विधान से गुण नहीं होता है। 'जसि च' में एक देश में स्वरितत्व प्रतिज्ञा से ह्रस्वपद की ही अनुवृति होती है। अम्बार्थ को गुण कहना तो असम्भव है। क्योंकि अनः क्लीबं इत्यादि अमर कोश से अनः शब्द के अम्बार्थक होने से गुण की आपत्ति हैं ह्रस्व के ग्रहण में 'अचश्च' परिभाषा की उपस्थित से अजन्त अम्बार्थकों के ग्रहण करने से वहाँ दोष नहीं है उसको नपुंसक मानने पर भी हे वारे की तरह पक्ष में गुण हो ही जायेगा। गुण के सुनने से इक परिभाषा की उपस्थित होने पर तो 'अम्ब' में भी नहीं होगा क्योंकि यहाँ पर इक नहीं है यह ह्रस्व अनन्तरस्य न्याय से समीपस्थ 'ह्रस्वस्यगुणः' का ही बाधक है। अतएव हे माता में ऋतोङि से गुण होता ही है।

आटश्च (६।१।१०)। 'न माङ्योगे' (६।४।७७) इतिसूत्रस्थ-भाष्योक्ते 'अटश्च' इति न्यासे तु 'वृद्धिरेचि' (६।१।८८) इति बोद्धयम्। अत्र अट् तु वक्तुमशक्यः, 'अस्वपोऽहसन्' इत्यत्र वृद्धिवारणाय 'आटश्च' (६।१।१०) इत्यत्र धातावित्यपकर्षेण वृद्ध्यनापत्तेः। 'वृद्धिरेचि' (६।१।८८) इत्यस्य तु पररूपं बाधकमिति (४) बोद्धयम्। ङेरिति सप्तम्येकवचनं व्याख्यानात्। इह परत्वादिति। (५) सकृद्गतिन्यायाश्रयणादिति भावः। स्पष्टश्चेदं ह्रस्वनद्यापः (७।४।५४) इत्यत्र भाष्ये। यद्यपीह आम् अपवादो नद्यां सर्वथाऽनवकाशत्वात्। अपवादो नुग्दीर्घत्वस्य' इति 'दीर्घोऽकितः' (७।४।८४) इतिसूत्रभाष्ये उक्तत्वेनाऽऽगमादेशयोरपि तत्त्वसत्त्वात्, तथापि अनवकाशत्वेन बाधेऽपवादप्रवृत्त्यनन्तरमु(१)त्सर्गप्रवृत्तेर्न दोषः। अत एव 'न गणेरीत्वमपवादत्वाद्धलादिःशेषं बाधते किं तर्ह्यनवकाशत्वात्' इति 'गुणो यङ्लुकोः' [७।४।८२] इतिसूत्रे [२] भाष्ये उक्तम्। 'पादः पत्' [६।४।१०३] इतिसूत्रस्थं 'छन्दान्तरप्राप्त्याऽनित्ययोराडामोः परत्वादाम् इति भाष्यं त्वेकदेश्युक्तिरिति बोद्धयम्।

आटश्च। 'न माङयोगे' सूत्र में स्थिति भाष्योक्त 'अटश्च' न्यास में तो 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि जानना यहाँ अट् न्यास करना असम्भव है क्योंकि 'अस्वपोऽहसन्' में वृद्धि वारण के लिये आटश्च में धातो के अपकर्ष से वृद्धि नहीं होगी। 'वृद्धिरेचि' से भी नहीं होगी क्योंकि उसका पर रूप बाधक होगा। ङे व्याख्या से सप्तमी का एक वचन है। इह परत्वादिति। सकृत गतिन न्याय के आश्रयण करने से जानना। 'ह्रस्व नद्यापः' के भाष्य में स्पष्ट है यद्यपि यहाँ आम् अपवाद है क्योंकि नदी में सर्वथा उसका अनवकाश है। 'अपवादो नुग्दीर्घत्वस्य' यह दीर्घोऽकितः सूत्र के भाष्य में कहने

से आमम् और आदेश में अपवादत्व होता है। तो भी अनवकाश होने से बाध होने पर अपवाद की प्रवृत्ति के पश्चात उत्सर्ग की प्रवृत्ति मानने पर दोष नहीं है। इसी से गुण का ईत्व अपवाद होने से हलादिशेष का बाध नहीं करता है किन्तु अवकाश होने से ऐसा 'गुणोयङ्लुकोः' सूत्र के भाष्य में कहा है। 'पादःपत' सूत्रस्थ शब्दान्तर को प्राप्त होने से अनित्य आट् और आम् में पर होने से आम होता है यह भाष्य एक देशी की उक्ति है।

अङ्यन्तत्वादिति । 'लक्षेर्मुट् च' (सू० ४४८) इत्यौणादिक 'ई' प्रत्ययान्तत्वादिति भावः। कुमारीति । ह्रस्वविधायके शास्त्रीयोपसर्जन-ग्रहणाद् 'गोस्त्रियोः' (१।२।४८) इति ह्रस्वो न ।

अचिश्नु (६।४।७७) । भ्रूशब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपादिकं, भ्रमेर्डूप्रत्ययान्तो वा । 'इह य्वोः' इति धातोः समानाधिकरणं विशेषणं, तदाह— इवर्णोवर्णान्तधातोरिति । इत्यस्येति । इत्यन्तस्येत्यर्थः । तेन 'सुभ्रुवौ' इति सिद्धम् । आन्तरेति । स्थानत इति भावः । य्वोरिति किम् ? वव्रे । अचि किम् ? युयात् । इतीयङीति । सुधीशब्दे यण्निषेधारम्भादत्र प्रकरणे 'धातोः स्वरूपग्रहणे' इति परिभाषाया (३) अप्रवृत्तिरिति भावः ।

अङ्यन्तत्वादिति । 'लक्षेर्मुट च' इस औणादिक सूत्र से 'ई' प्रत्ययान्त हैङ्यन्त नहीं है कुमारीति ह्रस्वविधायक सूत्र में शास्त्रीय उपसर्जन के ग्रहण से 'गोस्त्रियोः' ह्रस्व नहीं होता है।

अचिश्नु । भ्रू शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है अथवा भ्रमधातु से डप्रत्ययपान्त है। यहाँ रवोः धातु के समानाधिकरण विशेषण है वैसा ही कहा है—इवर्णोवर्णान्तिधातोरिति । इत्यस्येति । इसका अर्थ इत्यर्थ है उक्त अर्थ करने से 'सुभ्रुवौ की सिद्धि होती है। आन्तरेति । अर्थात् स्थान से अन्तरतम् 'खो' किम् न करने पर, वव्रे में ऋकार को भी यङ हो जाता। अचि के न करने से युयात् में दोष था। इतीयङीति । सुधी शब्द में यण् के निषेधारम्भ करने से इस प्रकरण में 'धातोः स्वरूपग्रहणे' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है तात्पर्य यह है कि 'न शूसुधियों' ज्ञापक से धातोःकार्यम् परिभाषा का धातुत्वेतर धातुत्वव्याप्य धर्मावच्छिन्नोद्देश्यता कार्यं धातुत्व व्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यता निरूपित विधेयताश्रये प्रत्यये भवति करते है।

एरनेकाचो (६।४।८२) । धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवतीति । धात्ववयवसंयोगपूर्वभिन्न इत्यर्थः । तद्भिन्नश्च धात्ववयवपूर्व एवेति 'अदियौ' इत्यादौ न दोषः । असंयोगादित्येव धात्ववयवसंयोगभिन्नात्परस्येत्यर्थेन सिद्धे पूर्वग्रहणं (१) स्पष्टार्थम् । एः किम् ? असंयोगपूर्वग्रहणमिवर्णविशेषणं

यथा स्याद्, अङ्गविशेषणं मा भूदिति । तेन 'यवक्रियौ इत्यादौ नाति-प्रसङ्गः । 'लुलुवतुः' इत्यादौ तु नातिप्रसङ्गः 'ओः सुपि' (६।४।८३) इति नियमात् । विपरीतनियमस्तु न, सुधीशब्दे अचि सु.पि यण्निषेधारम्भात् ।

एरने काचो । धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवतीति । अर्थात् धात्व के अवयवसंयोग पूर्व से भिन्न हो । उससे भिन्न धात्व अवयव पूर्व ही होगा अतएव उदियौ इत्यादि में दोष नहीं है क्योंकि यहाँ उत् धात्वावयव नहीं है ।

असंयोगादि से ही धात्वावयव संयोगभिन्न से परे अर्थ करने से सिद्ध था । पूर्व ग्रहण स्पष्टार्थ है । एः ग्रहण करने का तात्पर्य यह है कि असंयोग पूर्वग्रहण इवर्ण का विशेषण हो अंग का न हो । उक्त अर्थ करने से यवकियौ इत्यादि में दोष नहीं है । लुलवतुः में तो दोष नहीं है क्योंकि ओः सुपि नियम करता है । उ वर्णान्त को यदि यण् हो तो सुप् के परे ही हो । सुप् के परे यदि यण् हो तो उवर्णान्त को ही हो । ऐसा विपरीत नियम तो नहीं होता है । क्योंकि सुधी शब्द में अजादि सुप् के परे यण् का का निषेध किया है ।

कुमार्याविति । अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वाच्छाकलं त्वत्र न; (२) 'नः क्ये' (१।४।१५) इति निषेधात् । प्रधीरिति । 'प्रकृष्टं ध्यायति' इति विग्रहे नित्यस्त्रीत्वाभावान्न नदीत्वम् । 'प्रकृष्टा धीर्यस्य' इति विग्रहे तु नदीत्वम् । ग्रामणोरिति । अग्रग्रामाभ्यां नयतेरिति णत्वम् । 'गतिकारक-पूर्वस्यैव' इति भाष्ये पठ्यते, स च नियमः । तेन गतिकारकपूर्वभिन्नस्य नेति फलति । तद्भिन्नञ्च तत्सदृशं सपूर्वपदमेव । तेन 'निन्यतुः' इत्यादौ यण् । तदाह—गतिकारकेतरेति । यत्त्वत्र गतिसमासो नित्याधिकारस्थ एव प्रतिपदोक्तत्वाद् गृह्यत इति, तन्न, भाष्ये पूर्वपदग्रहणाभावेन समासो-पस्थितेरभावेन विशिष्टिरूपोपादानविषयप्रतिपदोक्तपरिभाषाया (३) अप्रवृत्तेः । अत एव नदीसञ्ज्ञासूत्रस्थः 'प्रकृष्टा धीर्यस्य' इतिविग्रहाभिप्रायेण प्रवृत्तः 'प्रध्यै ब्राह्मण्यै' इति भाष्यप्रयोगः सङ्गच्छते शुद्धाधियाविति । 'शुद्धा धीर्यस्य' इति विग्रहः । 'शुद्धं ध्यायति' इति विग्रहे यणेव । आद्ये सत्त्व-भूतार्थकधीशब्दार्थविशेषणत्वात् शुद्धत्वस्य कथमसि न कारकत्वमिति भावः । कथन्तर्हीति । 'दुर्ध्यियन्ति' इति 'दुष्टा धीर्ध्यानं येषाम्' इति 'वृश्चिकाद् भीः' इतिविग्रहाभिप्रायेण प्रश्नः । दुःस्थितेति । दुःशब्दोपात्तदुष्टत्वस्य स्थितिक्रियाविशेषणत्वमिति भावः । प्रकृष्टा धीरित्यादौ प्रकर्षः प्रशब्दार्थो धीशब्दोपात्तनात्वर्थे विशेषणमिति यण् भवत्येव । यत्क्रियेति । या चासौ

क्रिये (१) त्यर्थः। तं प्रति–तद्वाचकं प्रति। यद्वा यस्य धातोर्वाच्यया क्रियया युक्ता इत्यर्थः। नेहेद्वि। ततश्च सम्बन्धसामान्यषष्ठ्यैव समासः। 'भीत्रार्थानाम्' (१।४।२४) इत्ति तु हेतुत्वप्रकारकबोधे तृतीयाबाधनार्थम्। विभक्तिप्रकरणे तु न कृतं, कारकत्वप्रयुक्तकार्यानापत्तेरिति भावः किञ्च हेतुत्वाविवक्षायां सम्बन्धत्वेन विवक्षया षष्ठीसूत्रारम्भेऽपीत्यपि बोद्धयम्। अभ्युच्चयेनाह—वृश्चिकसम्बन्धिनीति। अत्र पूर्वपदान्तर्गतोत्तरपदलोपः शाकपार्थिवादित्वात्।

कुमार्याविति। अन्तर्वर्तिनी विभक्ति से पदत्व मानकर इकोऽसवर्णेशाकल्यस्य से ह्रस्व समुच्चित प्रकृतिभाव नहीं होता। क्योंकि 'नः क्ये' से पदत्व का निषेध हो जाता है। प्रधीरिति। 'प्रकृष्टंध्यायति' विग्रह में नित्यस्त्रीत्व के न होने से नदीसंज्ञा नहीं होती है। 'प्रकृष्टा धीर्यस्य' विग्रह में तो नदी संज्ञा होती है। ग्रामणीरिति। यहाँ 'अग्रग्रामाभ्यां से णत्व होता है। भाष्य में 'गतिकारकपूर्वस्यैव' पढ़ा है और वह नियम है। उससे फलित यह होता है कि गतिकारकपूर्व से भिन्न को नहीं होता है। उससे भिन्न भी उसके सदृश पूर्वपद वाला ही लेना। इससे निन्यतुः में यण् होता है कहा भी है—गतिकारकेतरेति। किसी ने कहा था कि प्रतिपदोक्त होने नित्याधिकार में स्थिति गति समास का ही ग्रहण है। वह उनका कथन ठीक नहीं है। भाष्य में पूर्वपद के ग्रहण के अभाव से समास की उपस्थिति न होने से विशिष्ट रूप के उपादान में प्रवृत्ति होने वाली प्रतिपदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है इसी से नदी संज्ञा सूत्र में स्थिति 'प्रकृष्टाधीर्यस्य' विग्रह के अभिप्राय से प्रवृत्ति 'प्रध्यै ब्राह्मण्यै' यह भाष्य प्रयोग भी संगत होता है।

शुद्धधियाविति। 'शुद्धा धीर्यस्य' विग्रह है। शुद्धंध्यायति विग्रह में यण् भी होगा। प्रथम में सत्वभूत अर्थ वाले धीशब्दार्थ में विशेषण होने से शुद्धत्व में किसी प्रकार से भी कारकत्व नहीं है। कथन्तर्हीति। 'दुध्यीयति', 'दुष्टाधीर्ध्यानं' येषाम्' 'वृश्चिकाद्भीः' इस प्रकार के विग्रह समझकर प्रश्न है। दुःस्थितेति। दुस् शब्द से उपात्त दुष्टत्व स्थिति क्रिया में विशेषण है। प्रकृष्टाधीत्यादि में प्र शब्द का अर्थ प्रकर्ष धीशब्द से उपात्तधात्वर्थं में विशेषण है इसलिए यण् हो जायेगा। यत्क्रियेति। या चासौ क्रिया यह अर्थ है। तंप्रति—तद्वाचकं प्रति अथवा जिस धातु की वाचकिया से युक्त हो यह अर्थ है। नेहेति। तब सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी मानकर ही समास है। 'भीतार्थानाम्' तो हेतुत्व प्रकारक बोध में तृतीया के बांधने के लिए है उसको विभक्ति प्रकरण में तो नहीं किया, क्योंकि कारकत्व प्रयुक्त कार्य नहीं होते और हेतुत्व की अविवक्षा में सम्बन्धत्व की विवक्षा में षष्ठी सूत्र के आरम्भ में भी समझना। अभ्युच्चयबाध से कहते है। वृश्चिकसम्बन्धिनीति। यहाँ पूर्वपद के अन्तर्गत उत्तरपद (सम्बन्धिनी) का लोप शाक पार्थिवादि से हुआ है।

(२) न भू (६।४।८५)। 'अनन्तरस्य' इति न्यायेन 'एरनेकाचः' (६।४।८२) इत्यनयोरेव निषेधः। सुपीति चानुवर्त्तते तदाह—सुपीति। लोपाविति। 'अतो लोपः' (६।४।४८) 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।७६) इत्याभ्यामिति भावः। यलोपे निषेधादल्लोपो न स्थानिवत् (१) वेरपृक्त-लोपात्पूर्वं वलि लोप इष्यते। स्थानिवत्त्वादिति। एवञ्च यणादेशे यलोपे 'सख्' इति स्यादिति भावः। अन्तर्वर्त्तिविभक्त्या पदत्वात् 'न पदान्त' (१।१।५८) इति निषेधस्तु न स्थानिवत्त्वस्य, 'नः क्ये' (१।४।१५) इति-सामान्यापेक्षनियमेनास्यापदत्वात् परपदस्थाजादेशस्यैव तेन स्थानिवत्त्व-निषेधाच्च। क्विबपेक्षक्यच्सम्बन्धियलोपस्य यणि बहिरङ्गासिद्धत्वन्तु न अनित्यत्वात्। क्वौ लुप्तमिति। भावे क्तः। लोप इत्यर्थः। 'गोमत्यतेर-प्रत्यये गोमान्' इति भाष्योक्तेरस्यात्यर्थस्य (२) क्वचिदङ्गीकारः क्वौ विधिं प्रति नेत्येव तु सार्वत्रिकमित्यन्यत्र विस्तरः।

न भू। 'अनन्तरस्य' न्याय से 'एरनेकाचः' ओः सुपि इन दो का ही निषेध है सुप् की अनुवृत्ति होने से कहते है सुपीति। लोपाविति अतो लोपः 'लोपो व्योर्वलि' इन दोनों से जानना। यलोपे मे न पदान्त से निषेध होने से अल्लोप को स्थानिवद् भाव नहीं होता है नेरपृक्त लोप से पूर्व वकार का लोप होता है वैसा करना स्थानि-वत्वादिति। इस प्रकार से यणादेश और यकार के लोप करने पर सख् हो जायेगा। अन्तर्वर्तिनी विभक्ति से पदत्व होने से 'न पदान्तः' से स्थानिवत्व का निषेध नहीं होता है क्योंकि 'नःक्ये' के सामान्यापेक्ष नियम से पदत्व में स्थिति अजादेश का ही 'न पदान्तः' स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। क्विप् की अपेक्षा क्यच् सम्बन्धि यलोप का यण् करने में बहिरंग होने से असिद्ध तो नहीं होता है क्योंकि वह अनित्य है। क्वौ लुप्त-मिति। लुप्तम् में भाव में क्तः प्रत्यय होने से लोप अर्थ है। गोमत्यत से अप्रत्यय में गोमान् प्रयोग भाष्यकार ने कहा है इससे इस अर्थ कहीं अंगीकार है 'क्वौ लुप्तम्' सार्वत्रिक तो क्वौ विधिंप्रतिन यह है।

अनङिति। 'अभिव्यक्तपदार्था ये' इति न्यायस्तु गौणमुख्यन्यायवत् [३]पदकार्यविषय एवेति भावः। दीर्घस्यापीति। प्रयोगस्थयकारान्तानु-करणं, सूत्रेऽकारश्चोच्चारणार्थ इति भावः। लूनीरित्यादि। 'ल्वादिभ्यः' [८।२।४४] 'क्षायो मः' [८।२।५३] 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' [८।२।५४] इति नत्वमत्वे। 'शुषः कः' [८।२।५१] 'पचो वः' [८।२।५२] इति कत्ववत्वे।

व्याख्यानात् प्राधान्याच्च रूपातिदेशोऽयमित्याह–क्रोष्टुशब्द इति। तच्चोदात्तऋकारविशिष्टमतिदिश्यते तृज्वदितिचकारोच्चारणात्। तेन 'क्रोष्ट्रा' इत्यादौ 'उदात्तयणः' [६।१।१७४] इति स्वरसिद्धिर्बोद्ध्या। पक्त्रादेस्तु नातिदेशः अर्थात आन्तर्याभावात्। इदं सूत्रं स्त्रियाञ्च' [७।१।९६] इति च प्रयोगनियमफलकमिति बोद्ध्यम्।

अनङिति। 'अभिव्यक्तपदार्था में यह न्याय तो गौणमुख्यान्याय की तरह पदकार्य में ही प्रवृत्ति होता है दीर्घस्यापीति। प्रयोगस्थयकारान्त का अनुकरण है, सूत्र में अकार उच्चारणार्थ है। लूनीरित्यादि उक्त प्रयोग में उपरलिखित सूत्रों से नत्व, मत्व तथा कत्व, वत्व होते हैं।

व्याख्यान से तथा प्राधान्य से तृज्वत् सूत्र रूपकामिति देश करता है जैसा कि लिखा है। क्रोष्ट शब्द इति। इससे क्रोष्टा में 'उदात्तयण' से स्वर सिद्धि होती है। तृजन्त पक्तृ आदेश तो नहीं होता है क्योंकि अर्थ से आन्तर्या का अभाव है यह सूत्र और 'स्त्रियाञ्च' सूत्र प्रयोग नियम के लिये है।

अप्तृन् [६।१।११]। ननु व्युत्पत्तिपक्षे तृन्नन्तत्वात्तृजन्तत्वाद्वा दीर्घे सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं व्यर्थम्, अत आह–नियमार्थमिति। [१] अन्येषामुणादिव्युत्पन्नानां सञ्ज्ञाशब्दानां नेति। नेष्ट्रादयोऽप्युणादय एवेति भावः, तेषां 'तृन्' [३।१।१३५] इतिसूत्रस्थवार्तिकेन व्युत्पादनात्। नप्त्रादीत्यादिग्रहणेन प्रशास्तृशब्दस्यैव ग्रहणमित्यन्ये। अव्युत्पत्तिपक्षे तु विद्ध्यर्थमेवेति बोद्ध्यम्। भाष्यप्रयोगादिति। एवञ्चोणादिष्वस्य व्युत्पादनमप्रामाणिकमिति भावः। पङ्कजादिपदद्योगरूढोऽयम्। येत्वौणादिकत्वमेवास्य स्त्रीकृत्य भाष्यप्रयोगादेव दीर्घत्वमिच्छन्ति, ते मान्याः। भाष्यकृताऽन्यप्रयोगस्योदाहरणत्वेन दानेऽप्यस्य भाष्यप्रयोगत्वाभावात्। 'ण्वुल्तृचौ' [३।१।१३३] इति भाष्ये तु 'तृचश्चकारो' व्यर्थः। न च 'अप्तृन्तृच्' [६।४।११] इत्यादौ विशेषणार्थः, तृ इत्येव सिद्धेः। न च तृ इत्युच्यमाने 'मातरौ, 'पितरौ' इत्यादौ प्राप्नोति। तत्र हि तृप्रत्ययो निरनुबन्धक इति वाच्यम्, नप्तृग्रहणस्य योनिसम्बन्धवाचिमाञ्चेदस्यैव नान्येषां योनिसम्बन्धवाचिनामिति नियमात्' इत्युक्तम्। नेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृणां तृन्नन्तत्वस्य प्रशास्तुस्तृजन्तत्वस्य 'तृन्' [३।२।१३५] इतिसूत्रे भाष्यवार्तिकयोरुक्तत्वेन तेषाङ्ग्रहणं प्रपञ्चार्थमेव। एवञ्च यथान्यासे नियमफलं चिन्त्यम्।

अप्तृन। व्युपत्ति पक्ष में तृन्नन्त अथवा तृजन्त होने से दीर्घ सिद्ध था फिर

नप्त्रादि का ग्रहण व्यर्थ है इस शंका का उत्तर कहते हैं–नियमार्थमिति । अन्य इणादि से व्युपन्न संज्ञा शब्दों को न हो । यह फलितार्थ है । नियम का आकार इस प्रकार है । इणादिव्युत्पन्ना म तृन तृजन्तानां दीर्घो भवति चेन्नप्तादीनामेव । नेष्ट्रादि भी उणादि है । उनकी 'तृन' सूत्र में स्थिति वार्तिक से सिद्ध होने से नृप्तादि में आदि शब्द प्रशस्तृ शब्द का ही ग्रहण है यह किसी का मत है अत्युपत्ति पक्ष में विद्धर्थ ही है । भाष्यप्रयोगादिति । इस तरह उणादि में इसका व्युत्पादन अप्रमाणिक है । पंकजादि पद की तरह योगरूढ है । जो इसको औणादिक मानकर भाष्य प्रयोग से ही दीर्घ करना चाहते है वे मान्य है । मान्य पद में विपरीत लक्षणा जानना । भाष्यकार ने प्रयोग को उदाहरण रूप देने पर भी यह भाष्य प्रयोग नहीं है । 'ण्लुल्तृजौ' के भाष्य में तो तृण के चकार को व्यर्थ कहा है । 'अप्तृनतृच्' इत्यादि में विशेषण के लिये है, नहीं है, । तृ से ही कार्य सिद्ध हो जायेगा । तृ कहने पर मातरौ पितरौ तृ प्रत्यय के निरनुबन्धक होने से प्राप्त होगा यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नप्तृग्रहण से योनि सम्बन्ध वाचियों को हो तो इसको ही हो । अन्य योनि सम्बन्धवाचियों को न हो नियम से दोष नहीं है नोष्ट्रत्वष्ट्र होतृपोतृकेतृन्नत्र प्रशास्तृ को तृजन्त 'तृन' सूत्र में भाष्यकार और वार्तिककार के कहने से उनका यहाँ ग्रहण प्रपञ्च के लिये ही है । अब यथोक्त न्यास में नियम फल विचारणीय है ।

क्रोष्टेति । अनङि 'सर्वनामस्थाने च' [६।४।८] इति दीर्घः, प्रथमोपस्थितत्वात् । क्रोष्टारौ' इत्याद्यर्थन्तु तल्लेखः । यद्वा विशेषविहितत्वाच्छीघ्रोपस्थितिकत्वेन स एव न्याय्यः ।

क्रोष्टेति । अनङि करने पर 'सर्वनामस्थाने च से दीर्घ प्रथमोपस्थित होने से होता है । क्रोष्टारौ इत्यादि के लिये 'अप्तृन' का लेख है । अथवा विशेषविहित होने से शीघ्र उपस्थित के कारण अप्तृन ही न्याय्यी है ।

विभाषा तृ [७।१।९७] । (१) अयमपि नियम एव 'तृतीयादावच्येवोभयम्' इति । तेन भ्वामादौ, शसि, 'क्रोष्टुपुत्रः' इत्यादौ च न दोषः । सर्वत्र (२) विशिष्टाभावस्य सुलभत्वात् । 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७।१।९५) 'स्त्रियाञ्च' (७।१।१६) इत्याभ्यां सर्वनामस्थाने स्त्रियाञ्च तृजन्तरूपविधानेन तयोः प्रयोगनियमार्थत्वं फलति । एतेन तृज्वत्सर्वनामस्थान एवेति नियमादिदं विद्ध्यर्थमिति परास्तन् । न चैवमपि क्रोष्टूनित्याद्यसङ्गतम्, अन्यत्र तृजन्तस्यैव प्रयोगेणाप्युक्तनियमस्य चारितार्थ्यादिति वाच्यम्, तृज्वत्क्रोष्टुरिति योगविभागस्यैवं सति वैयर्थ्यापत्तेः । न च 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) 'इको गुणवृद्धी' [१।१।३] इति सूत्रयोः 'क्रोष्टुः'

'क्रोष्ट्रीयाः' इति भाष्यप्रयोगासङ्गतिरिति वाच्यम्, ऋकारान्तस्यैव ऋषिवाचकत्वेनादोषात् । इदं सूत्रत्रयं तु शृगालवाचिक्रोष्टुक्रोष्टृशब्दयोर्व्यवस्थार्थमित्यवधेयम् । तदुक्तं भाष्ये–'तृज्वद्भावविषये 'एतत् तृजन्तं मृगवाचि' इति, तृतीयाद्यजादिविभक्तिषु तृजन्तं तुन्नन्तञ्च मृगवाचि' इति च । अनेन हि अन्यत्र तुन्नन्तमेवेत्यपि सूचितमिति दिक् ।

विभाषातृ । यह भी नियम ही है यहाँ अपि एव के अर्थ में है । तृतीयादि अजादि विभक्ति में ही दोनों प्रकार के रूप में होंगे । इसमें स्यामादि में, शशि में और क्रोष्टुपुत्र इत्यादि में दोष नहीं है । सर्वत्र विशिष्टाभाव सुलभ है । विशिष्टाभाव तीन प्रकार का होता है । (१) विशेष्य के न होने से, (२) विशेषण के न होने से, (३) दोनों के न होने से । एक के न होने से दोनों का अभाव मान लिया जाता है । मूल में क्रम से तीनों के उदाहरण है । श्याम् में तृतीयादि विशेषण होने पर अचि विशेष्य के अभाव में उभयाभाव है शसि में अच् विशेष्य के होने पर भी तृतीयादि विशेषण का अभाव है, क्रोष्टपुत्र में दोनों का अभाव है ।

'तृज्वत्क्रोष्टुः' 'स्त्रियाञ्च' यह दोनों सर्वनाम स्थान और स्त्री में तृजन्तरूप के विधान से वे दोनों प्रयोग नियम के लिए है उक्त विचार करने से तृज्वत् सर्वनाम स्थान में हो नियम से यह सूत्रविद्यर्थ है ऐसा कहने वाले विचारहीन है तो भी क्रोष्टून असंगत है । अन्यत्र तृजन्त के ही प्रयोग से भी उक्त नियम चरितार्थ हो सकता है इस शंका का उत्तर करते है कि इस प्रकार से तृज्वत् क्रोष्टुः योग विभाग ही व्यर्थ हो जायेगा । फिर शंका करते है कि 'तद्धितेष्वचायादेः' और 'इको गुणवृद्धी' सूत्रों के भाष्य में स्थित क्रोष्टुः क्रोष्ट्रीया प्रयोग असंगत हो जायेगे । उत्तर यह ऋकारान्तऋषिवाचक है इसलिए कोई दोष नहीं है । यह तीनों सूत्र शृगालवाची कोष्टु और क्रोष्टुः शब्दों की व्यवस्था के लिए है । भाष्य में कहा भी है तृज्वत्भाव के विषय में यह तृजन्तयुग वाची है । तृतीयादि अजादि विभक्तियों में तृजन्त और तुन्नन्त मृग वाची है । इससे यह भी सूचित होता है कि अन्यत्र तुन्नन्त ही होता है ।

ऋत उत् (६।१।१११) तपरत्वं भाष्यमानस्यापि क्वचित्सवर्णग्राहकताज्ञापनद्वाराऽन्तर्यतो दिमात्रनिवृत्त्यर्थम् । तेन 'अमू' (३) इत्यादिसिद्धिरिति 'छ्वोः' (३।४।१९) इति सूत्रे कैयटः । यत्तु तपरत्वं 'ढ्लोपे' (६।३।१११) इति दीर्घबाधनार्थमिति; तन्न,

'सुपत्रपाविता बाणा ज्वलिताइव पन्नगाः ।
नैर्ऋतोरस्यभासन्त सवितू रश्मयो यथा ॥'

इति रामायणप्रयोगविरोधात्, 'उरण् रपरः' (१।१।५१) इति सूत्रे-

ऽण्ग्रहणाभावे 'ऊ रपर' इति भाष्यप्रयोगविरोधाच्च ।

ऋत उत् । तपरकरण भाव्यमान भी कही सवर्ण का ग्राहक होता इस ज्ञापन के द्वारा आन्तर्य से प्राप्त द्विमात्र की निवृत्त के लिए है इससे अमू की सिद्ध होती है। यह 'छ्वोः' सूत्र के कैयट में है। वास्तविक में 'सदसोऽसे' में समाहार द्वन्द्व स्वीकार करने से अमू की सिद्ध हो जायेगी, परिभाषा निष्फल है विशेष में परिभाषेन्दु की टीका में देखिये ।

किसी ने कहा था कि तपरकरण 'ढ्रलोपे' से प्राप्तदीर्घ के वाध के लिए है, वह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें सुपत्रपातिताइत्यादि में सावित रश्मया दीर्घ देखने से रामायण के प्रयोग से विरोध है और 'उरण्रपरः' सूत्र में अण् ग्रहण के अभाव में 'ऊ रपर' इस भाष्य प्रयोग से भी विरोध है।

सस्यैवेति । संयोगान्तलोपेन सिद्धे नियमार्थम् । तेन 'ऊर्क्' इत्यादौ नेति भावः । (१) विपरीतनियमस्तु न, 'पुमान् स्त्रिया' (१।२।६७) इति (२) निर्देशात् ।

'एरनेकाचः' (६।४।८२) इति सूत्रमेरितिपदरहितं सानुवृत्तावृत्त-विशेषणं सवार्त्तिकञ्चानुवर्त्तत इत्याह—धात्ववयवेत्यादि, गतीत्यादि च । 'सकृल्ल्वौ' इत्यत्र क्रियाविशेषणत्वेन कर्मत्वाण्ण् ।

'न भूसुधियोः' (६।४।८५) इति निषेधे प्राप्ते आह—वर्षाभ्वश्चेति । 'वर्षाभूर्दर्दुरे पुमान् (अ० को०) । स्वार्थिक इति । स्वस्याः प्रकृतेरर्थः स्वार्थस्तत्र भव इत्यर्थेऽध्यात्मादित्वाठ्ठयत्र् । द्वारादिषु स्वग्रामस्वाध्यायो पाठेन स्वशब्दादेश्चेदेतयोरेवेतिनियमार्थकेनै (३) आगमो न । पुनर्भू-शब्दस्य रूढस्य नित्यस्त्रीत्वादाह—यौगिक इति ।

इत्यूदन्ता ।

सस्यैवेति । संयोगान्त लोप से सिद्ध था यह नियमार्थ है इससे ऊर्क् में नहीं होता है विपरीत नियम 'पुमान्स्त्रिया' इस निर्देश से नहीं होता है। सकार का लोप हो तो रेफ से ही परे हो यह विपरीत नियम का आकार है। उक्त नियम में पुमान् की सिद्ध नहीं होती क्योंकि यहाँ नकार से परे सकार का लोप होता है।

'एरनेकाचः' एरनेकाचः यह सूत्र एः पद से रहित अनुवृत्त आवृत्ति विशेषण के साथ तथा वार्तिक के साथ अनुवृत्त होता है—कहा है—धात्ववयवेत्यादि, गतीत्यादि च । 'सकृल्ल्वौ' में क्रिया विशेषण होने के कारण कर्म होने यण् होता है।

'न भूसुधियोः' से निषेध प्राप्त होने पर कहते है। वर्षाभ्वश्चेति । वर्षाभू मेढ़क के अर्थ में है और पुल्लिग है। स्वार्थिक इति । प्रकृति के अर्थ को ही स्वार्थ कहते है।

स्वार्थिक अध्यात्मादि मानने से ठञ् प्रत्यय है यहाँ येच् नहीं होता है क्योंकि द्वारादि में स्वग्रामस्वाध्याय शब्द के पाक्ष से स्वशब्द के आदि वाले को हो तो इन दोनों को ही हो ऐसा नियम मानने से अप्राप्त है। रुढ पुनर्भू शब्द के नित्स्त्रीलिंग होने से कहते है। —यौगिकइति—

इत्यूदन्ताः ।

वर्णैकदेशानां वर्णग्रहणेनाग्रहणे रेफाभावादाह—ऋवर्णादिति। व्युत्पत्तिपक्षे इति । अव्युत्पत्तिपक्षेऽब्रादिष्वपाठाद्दीर्घशङ्कैव नेति भावः। व्युत्पत्तिपक्षे निरनुबन्धकतृप्रत्ययान्ता एवेति 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) इति भाष्यस्वरसः।

इत्यृदन्ताः ।

वैकल्पिकेति । 'यत्तदेतेभ्यः' [५।३।३९] इत्यत्र त्यदाद्यत्वकरणादतिदेशस्य, 'क्षियः' [६।४।५९] इत्यादौ धात्वनुकरणे विभक्तिकरणेन वैकल्पिकत्वस्य च ज्ञापनादिति भावः। अनुकरणस्यानुकार्यशब्दस्वरूपमात्रमर्थ इति प्रातिपदिकत्वम् । अनुकार्यञ्चानुकरणाद्भिन्नमेवेति 'मतौ छः' [५।२।५९] इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । ईषदानुपूर्वीव्यत्ययेऽपि वाचकसादृश्यादर्थोपस्थापकत्वामिति अत्र कैयटे, 'प्राग्दीव्यतोऽण्' [४।१।८३] इत्यत्र भाष्ये च स्पष्टम् । अत एव 'किरः' इत्यादितः कृधातुरिति बोधः। 'भू सत्तायाम्' [धा० सू० १] इत्यादौ त्वित एव निर्देशात्कदाचिदनुकरणाद्विभक्त्यभावोऽपि । स च सूत्रेष्वेवेति प्रामाणिकाः। गवित्ययमाहेति वान्तस्यैवानुकरणम् । अनुकार्यस्वरूपभङ्गभिया च (१) न वलोपः 'झलां जश्' [८।४।५३] इत्यादौ जश्त्वाभाववदित्याहुः।

वर्ण के एकदेशों का वर्णग्रहण से अग्रहण में रेफ के न होने से कहते है—ऋवर्णादिति। व्युत्पत्तिपक्षेइति। अव्युत्पत्तिपक्ष में 'अप्तृन' में पाठ के न होने से दीर्घ की शंका ही नहीं है। व्युत्पत्तिपक्ष में अनुबन्ध रहित तृप्रत्ययान्त ही है ऐसा 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र के भाष्य का आशय है।

इत्यृदन्ताः ।

वैकल्पिकेति । 'यत्तदेतेभ्यः' में त्यदादि अत्व करने से अतिदेश ज्ञातित है और क्षियः इत्यादि में धातु के अनुकरण में विभक्ति करने 'प्रकृतिवदनुकरणम्' वैकल्पिक सिद्ध करते हैं वास्तविक में क्षिमः इयङ् करने से अतिदेश है और विभक्ति करने से अनित्य है अनुकरण का अनुकार्य शब्दस्वरूपमात्र अर्थ मानने से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। अनुकार्य अनुकरण से भिन्न ही है यह 'मतौछः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

थोड़ी आनुपूर्वी का व्यत्य होने पर भी वाचक के सादृश्य से अर्थोपस्थापक होता है यह यहाँ के कैयट में और 'प्राग्दीव्यतोऽण्' के भाष्य में स्पष्ट है। व्यत्य होने से फिर इस कृधातु का बोध होता है। भू सत्तायाम् इत्यादि में तो इसी निर्देश से कभी विभक्ति का अभाव भी होता है। वह केवल सूत्रों में ही होता है ऐसा प्रामाणिकों का मत है। गवित्यमाह में वात्त का ही अनुकरण है, अनुकार्य के स्वरूप के भंग के भय से व लोप नहीं होता है। जैसे 'झलांजश्' में जश्त्व नहीं होता है। गव् में सादृश्य ज्ञान से अर्थ बोधकता है। शक्ति ज्ञानाधीन या लक्षणज्ञानाधीन उपस्थित के अभाव से अर्थवत्व के अभाव में प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है।

इत्वे इति 'किरश्च पञ्चभ्यः' (७।२।७५) इति निर्देशादधातुप्रत्यये-ऽपि तत्प्रवृत्तिरिति भावः। कीरति। कृधातुरित्यर्थः। गुणो नेति। 'ऋत उत्' (६।१।१११) इत्युत्वमप्ययत एव न। अत एव 'प्रो यङि' (८।२।२०) इति सूत्रनिर्देशः सङ्गच्छते।

इत्यृदन्ताः।

अनङिति। ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यादिति भावः। गमृनिति। लृवर्णस्य दीर्घाभावादृवर्ण एवेति भावः। ननु तुल्यास्यसूत्रे भाष्यकृता 'ऋति ऋ वा' (का० वा०) इत्यादिविधेययो रेफद्वयगर्भलद्वयगर्भयोरच्त्वदीर्घत्वाङ्गी-कारेणात्र द्विलकार ईषत्स्पृष्टो 'दुर्वारः, आमि च तथा 'धातृणाम्' इत्यत्र रेफद्वयगर्भोऽपीति चेत्? न, 'अकः सवर्णे' (६।१।१०१) इति सूत्रे (२) उक्तोत्तरत्वात्। गम्लेति। यत्तु—लण्सूत्रे 'उरण् रपरः (१।१।५१) इत्यत्र अजिनि वक्तव्येऽण्ग्रहणसामर्थ्येनाण्पूर्वेणैव इत्युक्तं भाष्ये, लृकारस्य यणि हि तत्र लपरत्वार्थं परेणाण्ग्रहणं स्यादिति सामर्थ्योक्तिरसङ्गता। ऋकारस्य यणि तु 'रो रि' (८।३।१४) इति लोपेन न विशेष इति, तन्न, ऋकारांशे हल्रूपाऽणि रोरीति प्रवृत्त्या फलाभावेनाप्रवृत्त्या तत्साहचर्याद् लृकारांशे-ऽपि हल्रूपाऽण्यप्रवृत्तिरित्याशयात्। वस्तुत ईदृशानामभिधाने दृढं मानं चिन्त्यम्।

इत्वे इति। 'किरश्च पञ्चभ्य' निर्देश से धातु से प्रत्यय न होने पर भी 'ऋत् उत्' की प्रवृत्ति होती है। कीरिति। इसका अर्थ कृधातु है। गुणोनेति। इसी से 'ऋत् उत्' से उत्व भी नहीं होता है। न होने से ही 'ग्रोयंङि' यह सूत्र निर्देश भी संगत होता है।

इत्यृदन्ताः।

अनङिति। ऋ और लृ की सवर्ण संज्ञा होने से होता है गमृनिति। लृवर्ण को

दीर्घ न होने से ऋ वर्ण ही दीर्घ होता है। अब यहाँ शंका करते हैं—तुल्यास्य सूत्र में भाष्यकार ने 'ॠति ॠवा' इत्यादि होने वाले दोरेफ वाले और लकार वालों को अच् और दीर्घत्व स्वीकार करने से यहाँ दो लकार वाला ईषत् स्पृष्ट होना चाहिए और आम् के परे धातृणाम् में भी रेफद्वयगर्भ होना चाहिए उसका उत्तर 'अकः सवर्णे' सूत्र में कह चुके हैं। अर्थात् ह्रस्व दो ऋकारों के स्थान वाले ईषत् स्पृष्ट ऋकार तथा ह्रस्व ऋ और ह्स्व ऌ के स्थान में होने वाले के लिये ही साधुत्व है। गम्लेति। जो कि लण् सूत्र और 'उरणरपर' में अच् कहना था अण् ग्रहण करने से अण् पूर्व से लेना चाहिए ऐसा भाष्य में कहा है। ऌकार को यण् करने पर वहाँ लपर के लिये पर से अण् ग्रहण होगा। तब सामर्थ्योक्ति असंगत हो जायेगी। ऋकार को यण् करने पर 'रोरि' से लोप होने पर कोई विशेषता नहीं है। उत्तर ऋकारांश में हल् रूप यण् में रोरि की प्रवृत्ति से फल के अभाव से अप्रवृत्ति होने से उसके साहचर्य से ऌकारांश में अप्रवृत्ति जानना। वास्तविक में तो इस प्रकार के प्रयोगों के अभिधान में दृढ़ प्रमाण नहीं है।

सेरिति। इना सहेत्यर्थः। 'वोपसर्जनस्य' [६।३।८२] इति सत्वम्। एकादेशस्य पूर्वान्तवत्त्वेऽपि [१] लिङ्गाद्यन्वय्यर्थप्रतिपादकत्वात् अव्ययमिति महासञ्ज्ञायाऽयानव्ययत्वान्न विभक्तिलुक्। सादेशात्पूर्वमाद्गुणस्तु न, 'नेन्द्रस्य' [७।३।२२] इति ज्ञापकेन पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात्पूर्व मेकादेशाप्रवृत्तेः। न च 'नान्तः पादम् इतिसूत्रस्थेन 'न चैङः पदान्तात्परोऽस्ति' इति भाष्येण विरोधात्सावीदृशानां प्रयोगोऽनुचितः, सावपि पदत्वसत्त्वादिति वाच्यम्, योगविभागासिद्धस्य सौ पदत्वस्य क्वाचिकत्वेनादोषात्। सावप्रयोग एवेत्यन्ये। सय इति। नचास्यान्तर्वर्त्तिविभक्त्या पदत्वाद् 'एङः पदान्तात्' [६।१।१०९] इत्यादि दुर्वारमिति वाच्यम्, भाष्ये 'स्वादिषु' इति योगं विभज्य स्वादिषु पूर्वं पदमित्यर्थः। ततः 'अ सर्वनामस्थाने यचि।' सुबन्तमिति अनुवर्त्तते। अ यचीति प्रसज्यप्रतिषेधः, तेन [२] यजादौ सर्वनामस्थाने पूर्वं पदं न, मद्ध्ये चेत्सुबन्तं तदपि पदं नेति व्याख्यानेनादोषात्। आतिदेशिकस्याप्ययं निषेध इति स्पष्टमेव। [१] 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' इति प्रतिषेधाच्च। उत्तरपदस्य तद्घटितस्य वा पदत्वे कर्त्तव्येऽन्तर्वर्त्तिविभक्तेः प्रत्ययलक्षणं नेति तदर्थः। अतो न योगविभागमूलकप्रत्याख्यानेन फलभेद इति केचित्।

सेरिति। इना सह अर्थ है। इः काम को कहते हैं अर्थात् काम के साथ 'वोपसर्जनस्य' से स को होता है। एकादेश में पूर्वान्तवद्भाव करने पर लिंग से अन्वय्य

अर्थ के प्रतिपादक होने से अव्ययम् इस महा संज्ञा के कारण इसको अव्यय न होने के कारण विभक्ति का लुक् नहीं होता है। सादेश से पूर्व आदिगुणः से गुण तो नहीं होता है। 'नेन्द्रस्य' ज्ञापक से पूर्वपद और उत्तरपद निमित्तक कार्य से पूर्व एकादेश की प्रवृत्ति नहीं होती हैं। 'नान्तः पदम्' सूत्र में स्थिति 'न चेङः' इत्यादि। पदान्त एङ से परे रू नहीं है इस भाष्य के विरोध से सु में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अनुचित है। सु के परे भी पदत्व होने से इस प्रकार का कथन उचित नहीं है योग विभाग से सिद्ध सु में पदत्व को क्वाचित्क मानने से दोष नहीं है किसी का मत है कि सु मे प्रयोग ही नहीं होता है। समइति। यहाँ अन्तर्वर्तिनी विभक्ति से पदत्व मानकर 'एङः पदान्तात्' से पूर्व रूप दुर्वारि है उत्तर भाष्य में 'स्वादिषु' का योग विभाग कर स्वादियों के परे पूर्व की पद संज्ञा होती है। फिर 'असर्वनामस्थाने यचि' यह सुबन्त की अनुवृत्ति होती है। अयच् यह प्रसज्य प्रतिषेध है इससे मजादि सर्वनाम के स्थान के परे पूर्व की पदसंज्ञा नहीं होती हैं और मध्य में यदि सुक्त हो वह भी पद संज्ञक नहीं होता है इस प्रकार की व्याख्या से कोई दोष नहीं है यह अतिदेश से प्राप्त का भी निषेध करता है यह स्पष्ट है और 'उत्तरपदत्वे चापदादि विधौ' से निषेध भी हो जायेगा। उत्तर पद को अथवा उत्तर पद से घटित को पदत्व करने में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का प्रत्यय लक्षण नहीं होता है। यह उसका अर्थ है इसलिये योग विभाग मूलक प्रत्याख्यान से फलभेद नहीं है। यह किसी का मत है।

'इतोऽत्' (७।१।८६) इत्यतोऽनुवृत्तं सर्वनामस्थाने इति (२) प्रथमया विपरिणम्यते णिदित्यनेन सामानाधिकरण्यादित्याह—सर्वनामस्थानमिति। तत्र णितः कार्यस्यासम्भवात् णिति यत्कार्यं तदतिदिश्यते। शसेति। अचीत्यधिकारात्तद्धितशसो न ग्रहणमिति भावः। गामिति। परत्वादत्र वृद्धिस्तु न, अनवकाशत्वेन आत्वस्यापवादत्वात्। तदाह—ओतो णिदिति। सूत्रे तपरकरणेन गस्याविवक्षितत्वमिति भावः। तेन 'चित्रगुः' इत्यादौ न दोषः। अन्यथाऽङ्गाधिकारे तदन्तविधेः सत्त्वेन स्थानिवत्त्वेन गोऽन्तत्त्वाद्दोषः स्यादेव। मम त्वोकारान्तत्वाभावादल्विधौ स्थानिवत्त्वाभावाच्च न दोषः।

परे तु 'गोतो णित्' (७।१।९०) इति सूत्रे भाष्ये तपरत्वं प्रत्याख्यातम्। 'चित्रगुः' इत्यादौ तु न दोषः, गोः पूर्वत्वणित्त्वात्वस्वरेषु स्थानिवत्त्वप्रतिषेधात्। 'हे चित्रगो' इत्यादौ तु लाक्षणिकत्वान्न दोष इति अत्रैव सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'द्योः सर्वनामस्थाने णित्त्वं वक्तव्यम्' इति 'औतोऽम्' (६।१।९३) इत्यत्र भाष्ये उक्तमित्याहुः। सुद्यौरिति। केवलद्योशब्दस्य स्त्रीत्वाद् बहुव्रीहिरुदाहृतः।

'इतोऽत्' से अनुवृत्ति सर्वनामस्थाने को प्रथमा से विपरिणाम करते है। णित् से सामानाधिकरण्य के लिये कहा है– सर्वनाम स्थानमिति। वहाँ णित् के लिए कार्य होना असम्भव है इसलिये णित् के परे जो कार्य उसका अतिदेश होता है। शसेति अच् के अधिकार तद्धित शस् का ग्रहण नहीं है। गामिति यहाँ पर होने से वृद्धि नहीं होती है क्योंकि अनवकाश होने से आत्व अपवाद है जैसा कि कहा है ओतो णिदिति। सूत्र में तपर करण से गकार अविवक्षित है इससे चित्रगुः में दोष नहीं है। नहीं तो अंगाधिकार में तदन्तविधि होने से स्थानिवद्भाव से गोऽन्तत्व मानकर दोष हो ही जाता। मेरे मत में ओकारान्त न होने से और अल् विधि में स्थानिवत्भाव के अभाव से दोष नहीं है।

परेतु का कहना है कि 'गोतोणित् सूत्र के भाष्य में तपर करण का प्रत्याख्यान कर दिया है तब भी चित्रगुः में दोष नहीं है क्योंकि गो को पूर्वत्व णित्व और स्वर में स्थानिवत्व का निषेध है। हे चित्रगो में लाक्षणिक होने से दोष नहीं है यह इसी सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है 'द्योः सर्वनामस्थाने णित्वं वक्तव्यम्' यह 'औतोऽम्' सूत्र के भाष्य में कहा है। केवल द्यो शब्द के स्त्रीलिंग से बहुव्रीहि का उदाहरण दिया।

विहितमिति। यदि तु वर्णग्रहणेऽपि प्रतिपदोक्तपरिभाषा प्रवर्तते तदा (१) व्यर्थोऽयं यत्नः।

स्मृतोरिति। स्मृत उर्येनेत्यर्थः। यत्तु एषामभिधाने 'अयबायावादिषु 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) इत्यस्य सिद्धत्वं वक्तव्यं तत्स्थानिकायादीनामस्वरितत्वाय इतिवार्त्तिकव्याख्यावसरे 'अबादेशे नास्त्युदाहरणम्' इति 'स्वरितो वा' (८।२।६) इतिसूत्रस्थभाष्यविरोधः। प्रकृते पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण स्मृतस्यान्तोदात्तत्वे शेषनिघातेन उशब्दस्यानुदात्तत्वात्तदेकादेशस्य 'एकादेश उदात्तेन' (८।२।५) इत्युदात्तत्वे 'स्मृतवा' इत्यादौ तदुदाहरणसम्भवादिति। तन्न; तृतीयादिष्वनभिधानेऽपि अन्यत्र तत्सत्त्वे बाधकाभावात्। न च 'गोतः' (७।१।९०) इतिसूत्रे 'द्योश्च वृद्धिर्वक्तब्या' इति वार्त्तिके द्योशब्दस्यैवोपादानादन्यौकारान्ताभाव इति वाच्यम्, उपलक्षणतया व्याख्यानेनादोषात्। परे तु ईदृशानामनभिधानेऽपि न क्षतिरित्याहुः।

रायो हलि (७।२।८५)। 'अष्टन आ' (७।२।८४) इत्यत आ विभक्तावित्यनुवर्त्तते।

इत्य(२)जन्ताः पुंल्लिङ्गाः।

विहितमिति। यदि वर्ण ग्रहण में भी प्रति पदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। तो विहितम् इत्यादि यत्न व्यर्थ है।

स्मृतौरिति। स्मृत उ शम्भुर्येन यह अर्थ है किसी का कथन है कि यदि इस प्रकार के प्रयोग सिद्ध होते हैं तो अय्, अव्, आप् आव् आदि में 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः को सिद्ध करना चाहिए उसके स्थान वाले अयादियों के अस्वरितत्व के लिए उक्त वार्तिक की व्याख्या के समय पर 'अवादेश में उदाहरण नहीं है ऐसा 'स्वरितो वा सूत्र के भाष्य में कहा है। उससे विरोध होगा। क्योंकि प्रकृति में पूर्वपद प्रकृति स्वर से स्मृत को अन्तोदात्व करने पर 'अनुदात्तपंदमेक्वर्णम्' शेष निघात् से उकार को अनुदात्त होने पर फिर गुण होने पर 'एकादेश उदात्तेन' से उदात्त होने पर स्मृतवा उसका उदाहरण सम्भव था इस शंका का उत्तर करते है। तृतीयादि में अनभिधान मानने पर भी अन्यत्र उंन शब्दों के होने में कोई बाधक नहीं है गोत सूत्र 'द्योश्च वृद्धिर्वक्तव्या' वार्तिक में केवल द्यो शब्द के उपादान से अन्य ओकारान्तो का अभाव है यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि द्यो को उपलक्षण मानने से कोई दोष नहीं है। नागेश का मत है इनके अनभिधान में कोई त्रुटि नहीं है।

रायोहलि ॥ अष्टन आ से आ विभक्तौ की अनुवृत्त होती है।

इत्यजन्ताः पुल्लिङ्गाः ॥

अजन्त में कुत्व करना उचित था अथवा अल्पाच्तरम् इस निर्देश से आदिरन्त्येन सूत्र से बोधित संज्ञाओं में हल् सन्धि कार्य नहीं होता है।

॥ अजन्तस्त्रीलिंगप्रकरणम् ॥

रमेति । रमयतेः (३) पचाद्यच्, टाप् । एकादेशस्य (४) पूर्वान्तवत्वेन प्रातिपदिकत्वात्स्वादयः । (१) 'वाचा' इत्यादौ तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया तत्त्वात्ते ।

आप इति पञ्चम्यन्तेन सामानाधिकरण्यादङ्गस्येति पञ्चम्यां विपरिण म्यते, बिशेषणेन तदन्तविधिरि (२) त्याह—आबन्तादिति । 'जसः शी' (७।१।७१) इत्यतः शीति वर्त्तते । रमे इति । 'यस्य' (६।४।१४८) इति लोपो न, अभत्वात् ।

सम्बुद्धौ च (७।३।१०६) । 'बहुवचने झलि' (७।१।१०३) इत्यत एदिति, 'आङि चापः' (७।३।१०५) इत्यत आप इति चानुवर्त्तते । एङ्ह्रस्वादिति । सम्बुद्धौ (३) प्रतिपदोक्तत्वेन शीघ्रोपस्थितिकतया हल्ङ्यादिलोपात् प्रथमेत्वेऽनेन सम्बुद्धलोप इति भावः । सन्निपातपरिभाषा त्वनित्यत्वान्नात्र प्रवर्त्तते ।

आङि चा (७।३।१०५) । चेन पकृतम् 'ओसि' इति परामृश्यते । 'घेर्ङिति' (७।३।१११) इत्यतोऽनूवृत्तं ङितीति आप इति पञ्चम्या षष्ठया विपरिणम्यते इत्याशयेनाह—ङिद्वचनस्येति ।

रमेति । रमधातु पचाद्यच् तथाटाप करने से रमा की सिद्ध होती है । 'घञजपः पुंसि' से पुंल्लिग तो नहीं होता है क्योंकि उस सूत्र में भावे की अनुवृत्ति होती है भाव में घञ्, अच्, अप् प्रत्यय होने पर ही पुंल्लिग होता है यहाँ कर्ता में प्रत्यय होने से उसकी प्राप्ति नहीं है । एकादेश को पूर्वान्तवत्भाव से प्रातिपदिक होने से स्वाद होते है । वाचा इत्यादि में तो लिंग विशिष्ट परिभाषा से प्रातिपदिकत्व मानकर स्वाद प्रत्यय होते है ।

आपइति । प्रथमस्यन्त से सामानाधिकरण्य होने से अंगस्य को पंचम्यन्त से विपरिणाम् करते है विशेषण से तदन्त विधि होती है जैसा कि कहा है—आबन्तातिति । 'जसः शी' जसः शी से शी की अनुवृत्ति होती है । रमे इति । भसंज्ञा के अभाव में 'यस्येतिच' से लोप नहीं होता है ।

सम्बुद्धौ च । 'बहुवचने झल्येत्' से ऐत और 'आङिचापः से आपकी अनुवृत्ति

होती है। एङ्ह्रस्वादिति। सम्बुद्धि में प्रतिपदोक्त होने से शीघ्र उपस्थित होने के कारण हल्ङ्यादि लोप से पहले ऐत्व होने पर उक्त सूत्र से सम्बुद्धि लोप होता है। अनित्य होने से सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

आङि च ।। चकार से प्रकृति ओसि का परामर्श होता है 'घेर्ङित' से अनुवृत्त ङिपआप: इस पंचमी से षष्ठी में विपरिणाम होता है—इस आशय से कहते है—ङिद्वचस्येति ।।

सर्वनाम्नः स्या (७।३।११४)। आबन्तात्परस्य (४) सर्वनाम्नो विहितस्येत्यर्थः। तेन 'मासपूर्वायै' इति सिद्धम्। अत्र ह्रस्वो न स्याटः, तस्य विधेयत्वेनोद्देश्यत्वासम्भवात्। नापि ङिद्वचनस्य, व्याख्यानात्। अत आपो ह्रस्व इत्याह—आपश्चेति। आबन्तस्य गणे पाठाभावेन सर्वनामत्वाभावादाह–एकादेशस्येति। ग्रहणादित। सर्वनामशब्देनेत्यर्थः। न चैवमप्याबन्तत्वाभावः। एकादेशनिष्पन्नस्याप्त्वाभावात्, अत एव 'खट्वा' इत्यादौ परादिवद्भावेनाप्त्वमाश्रित्याबन्ताद्धिति सोर्लोप उक्तः, परादिवद्–भावेन तत्त्वं तु न लभ्यम्, उभयत आश्रयणेऽन्तादिवत्त्वाभावादिति वाच्यम्, उभयत आश्रयणे तद्भावस्य भाष्ये एकदेशयुक्तत्वेऽपि सिद्धान्तिसम्मत–त्वाभावात्। एतच्च तिङन्ते इण्धातौ वक्ष्यामः।

परे तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषयाऽऽबन्तस्य सर्वनामत्वम्। आबन्त–त्वन्तु परादिवद्भावेनेत्याहुः। सर्वस्यामिति। इह परत्वात्स्याटि कृते (१) सकृद्गतिन्यायात्सुण्न।

सर्वनाम्नः स्या। आवन्त से परे सर्वनाम से विहित यह अर्थ है। उक्त अर्थ करने से 'मासपूर्वायै' की सिद्ध होती है वास्तविक में आबन्ताङ्गामित्वं यत्सर्वनाम ततः परस्य ङितः स्माट्स्यादापश्च ह्रस्व अर्थ मानने में भी कोई दोष नहीं है, फिर गौरवपूर्व विहित विशेषण मानना व्यर्थ है यहाँ स्याट को ह्रस्व नहीं होता है क्योंकि उसके विधेय होने से उद्देश्य होना असम्भव है। ङित्वचन को भी ह्रस्व नहीं होता है इसमें व्याख्यान ही मूल है इसलिए आप को ही ह्रस्व होता है जैसा कि कहा है—आपश्चेति। आबन्त का गण् में पाठ न होने से सर्वनाम के अभाव से कहते है—एकादेशस्येति। ग्रहणादिति। अर्थात् सर्वनाम् शव्द से उसका ग्रहण होता है आक्त का भी अभाव है यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि एकादेश से सिद्ध होने पर भी आप्त्व का अभाव है। इसी से खटव में परादिवद्भाव से आप्त्व मानकर आवन्त से सु का लोप कहा है। परादिवद्भाव से आक्तत्व नहीं प्राप्त हो सकता है क्योंकि दोनों तरफ आश्रयण होने पर अन्तादिभाव नहीं होता है इस शंका का उत्तर देते है उभयत आश्रयणे को भाष्य

में एकदेशी के कहने पर भी सिद्धान्ती के सम्मत नहीं है। इसको तिगंन्त में अदादि–गण् में इण् धातु में करेंगे।

परे तु का कहना है कि लिंगविशिष्ट परिभाषा से आवन्त की सर्वनाम संज्ञा होगी। आवन्तत्व परादित्वद्भाव से होगा। सर्वस्यामिति। यहाँ पर होने से स्याट् करने पर सकृतगतिन्याय से सुट् नहीं होता है।

प्रतिपदोक्तस्येति। दिक्शब्दमुच्चार्य विहितत्वादस्य तत्त्वम्। योत्त-रेति 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) इति बहुव्रीहिः। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इतिमाणग्रहणात्सम्प्रत्यसर्वनामत्वेऽपि पुंवत्त्वम्। योत्तरेति। यत्तच्छब्दाभ्या-मुद्देश्यविधेयत्वप्रतीत्या योत्तरात्वप्रकारकज्ञानविशेष्या सा प्रसिद्धपूर्वा यस्या इत्यर्थेनोत्तरापदस्य गुणवाचकत्वात्पूर्वनिपात इत्य (२) न्यत्र विस्तरः। स्पष्टार्थमिति। 'दिङ्नामानि' (२।२।२६) इत्यस्य बहुव्रीह्यधिकारे सत्त्वा-दिति भावः। अन्तरायै नगर्यै इति। अपुरीत्यस्य पूःशब्दार्थस्य (३) विशे-ष्यत्वे इत्यर्थ इति भावः। (४) अत्र मानमन्वेष्यम्।

हे अम्बेति। ह्रस्वे कृते 'सम्बुद्धौ च' (७।३।१०६) इत्येत्वं न, आ आबिति प्रश्लेषात्। व्यक्षरं यदीति पठित्वा व्यचकाम्बार्थकस्यैव ह्रस्व इति नियममाश्रित्य 'डलकवतां ह्रस्वो न' इत्यस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् (५) फला-भेदाय सामान्यतोऽपि वार्त्तिकमसंयुक्तविषयमित्याशयेनाह–असंयुक्ता इति। व्यक्षरं यदीत्यस्याङ्गत्वाद् व्यक्षराम्बार्थकाङ्गस्य ह्रस्व इति नियमशरीरात् 'जगदम्ब' इत्यादौ (१) ह्रस्वो भवत्येव।

प्रतिपदोक्तस्येति। दिक् शब्द को उच्चारण करके विहित होने से इसको प्रति–पदोत्व है। योत्तरेति। 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास है 'सर्वनाम्नोवृत्तिमात्रे में मात्रग्रहण से इस समय सर्वनाम् के न होने पर भी पुंवद्भाव हो जाता है। योत्तरेति। यत् और तत् शब्द से उद्देश्य विधेय भाव की प्रतीत होने से जो उत्तरात्व प्रकारक ज्ञान की विशेष्य है वह प्रसिद्ध पूर्वा जिसके मत में है इस अर्थ से उत्तरापद को गुण वाचक होने से पूर्व निपात होता है। स्पष्टार्थमिति। 'पिङ्नामानि' सूत्र बहु-व्रीहि के अधिकार में ही अन्तरायै नगर्यै इति। अपुरी का अर्थ है पूः शब्दार्थो के विशेष्य होने पर अर्थात् पूः शब्दार्थ विशेष्यता का प्रयोजक हो इसमें प्रमाण के अन्वे-षण की आवश्यकता है। हे अम्बेति। ह्रस्व करने पर 'सम्बुद्धौ च' से एत्व नहीं होता है। आआविति प्रश्लेष है। दो अक्षर वाले यदि को पढ़कर दो अच् वाले अम्बार्थक को ही ह्रस्व होता है। ऐसा नियम मानकर 'डलकवतां' इत्यादि का भाष्य में प्रत्या-ख्यान करने से फलैक्य के लिए सामान्य रूप से वार्तिक असंयुक्त विषय है इस आशय

से कहते है असंयुक्ताइति । द्व अक्षर यदि को अंगाधिकारी मानने से द्वअक्षर अम्बार्थक अंग को ह्रस्व हो इस प्रकार के नियम से जगदम्ब इत्यादि में ह्रस्व होगा ही।

यद्यपि जरसादेशस्येति । एवञ्चैत्वशीनुड्याडामां नित्यत्वात्पूर्वमेषु क्वचिदजादित्वाभावात्क्वचित्सन्निपातपरिभाषया जरसोऽनापत्तिरि(२)ति भावः। यद्यपि याडामोर्जरसपेक्षया(३)परत्वात् तयोः कृतयोराद्येऽजादित्व-विघातादन्त्ये सन्निपातपरिभाषया न जरसः प्राप्तिः, एवमेत्वेऽपि; तथापि तत्र प्रश्लेषफलं दर्शयितुमाह–एवमिति । अत्र यद्वक्तव्यं त(४)न्निर्जरशब्दे उक्तम् ।

स्वाश्रयमिति । स्वं श्रूयमाण आकारः । स्थानिवद्भावेनाप्त्वमिति । न च ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घ आदेशो न स्थानिवदिति ह्रस्वे आप्त्वस्य विच्छेदात्कथं दीर्घे स्थानिवत्त्वेन तल्लाभः, ङ्याप्स्थानिको दीर्घभिन्न आदेशो न स्थानिवदिति तदर्थ इति वाच्यम्, 'याडापः' (७।३।११३('औङ आपः' (७।१।१८) 'आङि चाप' (७।३।१०५ 'ङेराम्नद्याम्' (७।३।११६) हल्ङ्याब्' (६।१।६८) इत्येतेष्वाकारप्रश्लेषमाश्रित्य स्थानिवत्त्वनिषेधप्रत्याख्यात् भाष्यनये शङ्कासत्त्वेनादोषात् । अत्र यत्रोदाहरणे सूत्रभाष्यवार्त्तिकानां फलभेद आपतति तेषामनभिधानम्, यथा अतिखट्वस्य अः अतिखट्वा इत्यादेः; वक्ष्यमाणरीत्या दीर्घात्पूर्वं फलाभावेन स्थानिवत्त्वाऽप्रवृत्तौ (५)फलभेदस्यैवाभावाच्च ।

यद्यपि जरसा देशस्येति । इस तरह एत्वशी नुट् या आम् इनके नित्य होने से पहले इनके करने पर कही अजादित्व के अभाव से कहीं सन्निपात परिभाषा से जरस् की आपत्ति नहीं है। यद्यपि याट् और जाम् जरस् की अपेक्षा पर होने से उनके करने पर प्रयम याट् में अजादित्व के निपात से अन्त्य में सन्निपात से जरस् की प्राप्ति नहीं है। इसी प्रकार एत्व में भी तो भी वहाँ प्रश्लेष के फल को दिखाने के लिए कहते है एवमिति। यहाँ जो कहना था वह निर्जरशब्द में कह चुके हैं स्वाश्रयमिति। एवं अर्थात श्रयमाण आकार। स्थानिवद् भावेनात्वमिति। अब यहाँ शंका करते हैं कि 'ङयाय ग्रहणेदीर्घ आदेशो न स्थानिवत्' से ह्रस्व में आप्त्व के विच्छेद होने से दीर्घ में स्थानिवत् भाव उसका लाभ किस प्रकार से होगा। ङयाब स्थानिक दीर्घ भिन्न आदेश स्थाानिवत् नहीं होता है यह उसका अर्थ है। उत्तर 'याडापः' 'औङ् आपः' 'आङिचापः' 'ङेराम' 'हल्ङयाब' इनमें आकार का प्रश्लेष कर स्थानिवत्व के निषेध का प्रत्याख्यान करने वाले भाष्यकार के मत में शंका होने से दोष नहीं है। यहाँ जिस उदाहरण में सूत्र भाष्य वार्तिक का फलभेद होता है। उन सबका अनभिधान है। जैसे

अतिखट्वस्य अः इस विग्रह में निष्पन्न अतिखट्वा इत्यादि का और वक्ष्यमाण रीति से दीर्घ से पूर्वफल के होने से स्थानिवत्भाव की अप्रवृत्त में फलभेद का ही अभाव है।

यत्त्वाकारान्तरं प्रश्लिष्याकाररूप एव यो न कदाचिद्रूपान्तरं प्राप्त इत्यर्थ इति, तन्न; मानाभावात् भाष्ये तस्यानुक्तेश्च। (१) आबन्तं यदङ्गमिति। 'प्रत्ययग्रहणे' (प० भा० १३) इति परिभाषयाऽतिखट्वस्य (२) नाबन्तत्वं, (३) यच्चाबन्तं खट्वेति, न तदङ्गमिति भावः। न चानयाऽऽबन्तग्रहणे तेनाङ्गविशेषणादाबन्तान्तं यदङ्गमित्यर्थाद्। 'अतिखट्वाय' इत्यादौ दोषस्तदवस्थ इति वाच्यम्, अङ्गस्य विशेषणत्वात्। एतेन श्रुतमाकारमादाय स्मृतमबन्धुमादाय आप्त्वानुसन्धानात्स्यादेव याडित्यपास्तम्। तस्य लाक्षणिकत्वाच्च।

ननु स्त्रीप्रत्यये वाचनिकस्तदादिविधिनिषेधो भाष्ये पठितस्तत्कथमस्य तत्र प्राप्तिरत आह–उपसर्जनेति। 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन' (प० भा० २६) इति वचनस्यैव भाष्ये पाठादिति भावः। अत्रोपसर्जनत्वं (४) लौकिकमेव स्त्रीप्रत्यये शास्त्रीयोपसर्जनत्वासम्भवात्। यद्यपि स्त्रीप्रत्ययान्ते शास्त्रीयोपसर्जनत्वमस्ति तथापि न तेन 'प्रत्ययग्रहणे' इति तदादिनियमप्रसक्तिः। एतत्सर्वं व्याख्यादर्शाद्यनुरोधेन।

किसी का कथन है कि आकारान्तर का प्रश्लेष कर आकार रूप ही जो कभी थी रूपान्तर को प्राप्त न हुआ हो यह अर्थ है। वह ठीक नहीं है क्योंकि उस प्रकार के अर्थ में प्रमाण नहीं है और भाष्य में कहा भी नहीं है। आबन्तं यदङ्गमिति। 'प्रत्यय ग्रहणे' परिभाषा से अति खट्व में आबन्तत्व नहीं है और जो कि आवन्त खट्वा है वह अंग नहीं है। इस परिभाषा से आवन्त मानने पर और अंग के विशेषण होने से आबन्त यादङम् इस अर्थ से अतिखट्वाय में दोष वैसा ही है यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि अंग तो यहाँ विशेषण है इसलिए तदन्तविधि होना सम्भव नहीं है इससे श्रुत आकार को लेकर स्मरण किये अनुबन्ध को लेकर आप्त्व का अनुसन्धान का याट हो ही जायेगा। वे पूर्वोक्त उत्तर से अस्त है और आकार यहाँ लाक्षणिक भी है।

अब शंका करते हैं कि स्त्री प्रत्यय में वाचनिक तदादि विधि का निषेध भाष्य में कहा है। तब वहाँ उसकी प्राप्ति किस प्रकार से है कहते हैं उपसर्जनेति। भाष्य में स्त्री प्रत्यये चानुपसर्जनस्य वचन का ही पाठ है। यहाँ उपसर्जन लौकिक ही लेना। क्योंकि स्त्री प्रत्यय में शास्त्रीय उपसर्जन का अभाव है यद्यपि स्त्री प्रत्ययान्त में शास्त्रीय उपसर्जनत्व है, तो भी उससे 'प्रत्ययग्रहणे' से तदादि नियम की प्रसक्ति नहीं होगी। यह सब व्याख्यादर्शादि के अनुरोध से है।

परे त्वस्याकारस्य लाक्षणिकत्वान्नात्र याट् वर्णग्रहणेऽपि तत्प्रवृत्तेः 'ओत्' (१।१।१५) इत्यादौ भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वात्। न च 'खट्वायै' इत्यत्र याडनापत्तिः, सूत्रन्तु (५) 'निशायै' इत्यादौ चरितार्थमिति वाच्यम्, यस्य रूपस्य लक्षणप्रवृत्तिं बिना न सम्भवस्तस्यैव लाक्षणिकस्य तत्परिभाषा-विषयत्वात्। न चेह तथा। एकादेशतः प्रागपि तद्रूपसत्त्वात् पदाङ्गाधिकारे इति वार्त्तिकेनाङ्गस्य विशेष्यताया एवौचित्यबोधनाच्च। अत एवा (६) बन्तान्तं यदङ्गमित्यर्थाभिप्रायेण 'अतिखट्वाय' इत्येतत्सिद्धये अतिखट्व-ए इति स्थिते प्रवृत्तं 'ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घः' इति वार्त्तिकं व्याख्याय श्रुताकार-स्मृतानुबन्धाभ्यामाप्त्वेनाशङ्कां कृत्वा लाक्षणिकत्वेन समाधायाकारप्रश्लेषेण तत्प्रत्याख्याने एतत्परिहारायोपायान्तराकथनं भाष्ये।

परे तु (नागेश) इस आकार के लाक्षणिक होने से याट् नहीं होता है। लक्षण प्रतिपदोक्तपरिभाषा के प्रवृत्त वर्ण ग्रहण में भी होती है। यह 'ओत्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कहा है। उक्त परिभाषा से 'खट्वायै' में याट् नहीं होगा, सूत्र तो 'निशायै'में चरितार्थ यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिस रूप की लक्षण प्रवृत्ति के बिना सम्भव न हो, वही लाक्षणिक उस परिभाषा का विषय है यहाँ उस प्रकार का नहीं है क्योंकि एकादेश से पूर्व भी बहुरूप था और पदांङ्गाधिकार वार्तिक से अंग को विशेष स्वीकार ही उचित है। इसी से आबन्तात् जो अंग इस अर्थ के अभिप्राय से अतिखट्बाय की सिद्ध के लिए अतिखट्व ए ऐसी स्थिति में प्रवृत्ति 'ङयाबग्रहणेऽदीर्घ' इस वार्तिक की व्याख्या कर श्रुत अकार और स्मृतअनुबन्ध से आप् तो मानकर शंका कर लाक्षणिक होने से समाधान कर आकार के प्रश्लेष से उस वार्तिक का प्रत्याख्यान करने पर इसके परिहार के लिए अन्य उपाय का कथन भाष्य में नहीं है।

किञ्च अङ्गस्य विशेषणत्वे वार्त्तिकस्य तत्प्रत्याख्यानायाऽऽकारप्रश्ले-षस्य च वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। किञ्च खट्वाया अर्द्धेऽर्द्धखट्वायामित्यादौ याडनापत्तिः। किञ्चाऽऽकारप्रश्लेषपक्षेऽपि दीर्घोत्तरं स्वाश्रयाकारत्वं स्थानि-वद्भावेनाप्त्वमिति शङ्काऽयुक्तैव, दीर्घात्पूर्वं स्थानिवत्त्वस्य फलाभावादप्रवृत्तौ स्थानिन्याप्त्वबुद्धेरभावात्तदादेशे दीर्घे तदारोपस्य दुर्लभत्वात्, परम्परया कार्यमादाय स्थानिवत्त्वप्रवृत्तौ मानाभावात्। 'याडापः' (७।३।११३) इति सूत्रे भाष्येऽपि 'अतिखट्वायेत्यत्र स्थानिवत्त्वात् प्राप्तस्य याटः प्रतिषेधो वक्तव्यः, न वक्तव्यो ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घं इति स्थानिवत्त्वनिषेधात्। न च दीर्घत्वे आबसौ भूतपूर्व इति याट् प्राप्नोति, लाक्षणिकत्वात्। स्थानिवत्त्वे

तु 'तत्सामर्थ्यान्नैतत्परिभाषाप्रवृत्तिः' इत्युक्तम् । यद्यपि स्थानिवत्सूत्रयाडाप-सूत्रस्यभाष्याभ्यां हल्ङ्याप् सूत्रयाडाप सूत्रयोरेव प्रश्लेषो लभ्यते, तथापि भाष्यमुपलक्षणमितरसूत्रविषयोदाहरणानभिधानं वेत्यनयोर्युक्तं सुधीभि-र्विचार्यमि(१)त्याहुः ।

और अंगविशेषण होने पर वार्तिक और उसके प्रत्याख्यान के लिए आकार के प्रश्लेष का वैयर्थ्य स्पष्ट ही है । और खट्वाया अर्द्धे विग्रह में निष्पन्न अर्द्ध खट्वायाम् इत्यादि में याट् नहीं होगा । और आकार के प्रश्लेष में स्वाश्रय आकार है और स्थानिवत् भाव से आप्त्व इत्यादि शंका युक्त नहीं है । दीर्घ से पूर्व फल अभाव में स्थानिवत्भाव की अप्रवृत्ति होने पर स्थानी के आप्त्व बुद्धि के अभाव से उसके आदेश दीर्घ में उसका आरोप होना दुर्लभ है । परम्परा सम्बन्ध से कार्य लेकर स्था-निवद्भाव की प्रवृत्ति में प्रमाण नहीं है । 'याडापः' सूत्र के भाष्य में भी अतिखट्वाय में स्थानिवद्भाव से प्राप्त याट् का प्रतिषेध करना चाहिए कहने की कोई आवश्यकता नहीं है । ङयाबग्रहणे दीर्घ से स्थानिवत्व का निषेध हो जायेगा । दीर्घ होने पर भूत-पूर्व आप् मानकर याट् प्राप्त होता है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि लाक्षणिक है । स्थानिवद्भाव करने में तो उसकी सामर्थ्य से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है इस प्रकार से वहाँ पर कहा है । यद्यपि स्थानिवत् सूत्र और याडापः सूत्रों के भाष्यों से हल्ङ्याप् और याङापः सूत्रों में ही प्रश्लेष प्राप्त होता है । तो भी भाष्य उपलक्षण है या अन्य सूत्र विषय उदाहरणों का अनभिधान है इनका युक्त या अयुक्त विद्वान विचार करें ।

व्रश्च [८।२।३६] । अत्र राजिसाहचर्याद् भ्राजिः [१] फणादिरेव । तेनान्यस्य 'विभ्राक्' इत्येबाहुः । छशौ वर्णौ ताभ्यां शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तग्रहणमित्याह–छशान्तयोरिति । छशयोरित्युक्तेऽपि न क्षतिरिति चिन्त्यम् । पदस्येति तु 'पृष्टम्' इत्यादिसिद्धये व्यधिकरणमेव । अन्तादेश इति । 'अलोऽन्त्यस्य' [१।१।५२] इति वचनात् । अत्र 'झलो झलि' [८।२।२६] इत्यतो झलीति, पदस्येति, 'स्कोः' [८।२।२९] इत्यतोऽन्ते इति चानुवर्त्तते । 'छ्वोः शूड्' [६।४।१९] इत्यत्र क्ङितीत्यनुवृत्तेः 'प्रष्टा' इत्यादौ शादेशाभावाद् अशान्तत्वेन षत्वाप्राप्तौ छग्रहणम् । अत्रापि सतु-ङ् निर्देशो बोद्धव्यः । तस्यासिद्धत्वादिति । 'चयो द्वितीयाः' [का० वा०] इत्यस्य 'नादिन्या' [८।४।४७] इति सूत्रे भाष्ये पाठादिति भावः । टत-योरिति । धुडभावे टस्य, धुटि तस्येत्यर्थः । न भवतीति । जश्त्वात्प्राक् षस्य नेत्यर्थः । जश्त्वे तु प्राप्तिरेव नेति बोद्धव्यम् ।

व्रश्च । यहाँ राजि के साहचर्य से भ्राजिफणादि का भी ग्रहण है इसलिए अन्यत्र विभ्राक् ही होगा । तात्पर्य यह है कि अर्थवत् परिभाषा से राजृ दीप्तौ का ही ग्रहण होगा वह फणादि है इसलिए उसके साहचर्य से फणादि का ही ग्रहण होता हैं। छ और श वर्ण है उनसे शब्दस्वरूप को विशेष्य मानकर तदन्त ग्रहण है। कहा भी है— छशान्तयोरिति । छशयो कहने पर भी क्षति नहीं है। पृष्ट इत्यादि की सिद्ध के लिए पदस्य तो व्यधिकरण ही हो। अन्तादेशइति । 'अलोऽत्यस्य' के सहयोग से। यहाँ 'झलो-झलि' से झलि् पदस्य और स्कोः से अन्ते की अनुवृत्ति होती है। 'छवोःशूड' में कङिन की अनुवृत्ति होने से प्रष्टइत्यादि में शादेश के न होने से अशान्त के अभाव में षत्व की अप्राप्त होने से छग्रहण किया है यहाँ भी सतुङनिर्देश जानना। 'तस्या सिद्धत्वादिति चयो द्वितीया वार्तिक का नादिन्या' सूत्र के भाष्य में पाठ है। टतयो-रिति। धुट के अभाव में टकार को और धुटि करने पर तकार को यह स्पष्ट अर्थ है। न भवतीति। जश्त्व से पूर्व शकार को नहीं होता है। जश्त्व करने पर तो प्राप्त ही नहीं है।

केचित्त्विति । 'एकाचः' [८।२।३७] इत्युत्तरसूत्रेऽनुवृत्त्या भाष्येऽपि सम्बन्ध एवोचित इति भावः । जश्त्वेनेति । यत्तु 'जश् झशि' इति निर्देशात् शस्य न जश्त्वमिति, तन्न; अविकृतस्वरूपप्रतिपादने तात्पर्यादयस्मयादित्वेन भत्वाच्च तत्र तदप्राप्तौ न्यायसिद्धायां ज्ञापकत्वायोगात् 'उपदेशेऽज् [१।३।२] इत्यादि [१] निर्देशैः कुत्वाद्यनापत्तेश्च । अत्र मते भाष्यानुग्रहो विचार्यः । 'मांसपृतना' [का० वा०] इत्यस्य 'पद्दन्न' [६।१।६३] इति सूत्रे उपसंख्यातत्वादाह—शसादौ वेति । स्त्रीत्वादिति । पुंस्त्वाभावान्नत्वा-भाव इति नोक्तम् । न हि पुंस्त्वाभावो नाभावे प्रतिबन्धको नपुंसकेऽपि तदङ्गीकारात् ।

केचित्त्विति । 'एकाचः' इस उत्तर सूत्र में अनुवृत्त होने से मध्य में भी सम्बन्ध करना उचित है। जश्त्वेनेति । किसी का कहना है कि 'जश् झसि' निर्देश से शकार को जश्त्व नहीं होता है परन्तु यह अमाष्यन ठीक नहीं है क्योंकि अविकृत रूप के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है अथवा अयसमादि से भुत्व होने से उसकी प्राप्ति का न होना न्याय सिद्ध है। फिर ज्ञापक की क्या आवश्यकता है और 'उपदेशेऽज्' इत्यादि निर्देशों से कुत्व की भी अनापत्ति होगी । इस मत में भाष्य की सम्मत विचारणीय है। 'मांसपृतना' का 'पद्दन्न' सूत्र में होने से कहते है शसादौवेति । स्त्रीत्वादिति । पुंसत्व के अभाव से अर्थ है। नात्वंनेति। स्त्रीत्व का अनुकर्ष होता है। इसी से पुंसत्व के अभाव से नत्व का अभाव नहीं कहा। क्योंकि पुंसत्व का अभाव नाभाव में प्रति-बन्धक नहीं है। क्योंकि नपुंसक में भी नाभाव होता है।

ङिति ह्र (१।४।) अत्र वाक्यद्वयम्। आद्ये यू इति, स्त्र्याख्याविति, अस्त्रीति, इयङुवङ्स्थानाविति, वेति चानुवर्त्तते। अन्त्ये यू इति, वेति, स्त्रीवाचकावित्येतन्मात्रार्थकं स्त्र्याख्याविति च। तत्र ह्रस्वयोरप्राप्ते दीर्घयोस्तु 'नेयङ्' (१।१।४) इति निषेधादप्राप्ते विभाषा। इष्वादिष्वप्राप्तिमाशङ्क्य 'ङिति ह्रस्वश्च' (१।४।६) इत्यत्र नित्यस्त्रीलिङ्गावित्येवंविधो नियमो नाश्रीयत इति कैयटस्तु ह्रस्वांशमात्रविषय इत्याशयेनाह—नित्यस्त्रीलिङ्गाविति। अत एवास्य दीर्घांशे निषेधविकल्पत्वं भाष्ये उक्तं 'यू स्त्र्याख्यौ' (१।४।३) इति सूत्रे। तत्फलं 'कटप्रुवे' ब्राह्मण्यै' इति, (१) लिङ्गान्तरविशिष्टार्थाभिधायकत्वेन तत्त्वाभावात्।

ङितिह ॥ यहाँ दो वाक्य हैं प्रथम में यू स्त्र्याख्यौ अस्त्री इयङुवङ्स्थानौ और वा की अनुवृत्ति होती है। अन्त्य में यू वा केवल स्त्रीवाचकौ अर्थवाला स्त्र्याख्यौ की अनुवृत्ति होती है। ह्रस्वों के अप्राप्त और दीर्घों को नेयङ् निषेध से अप्राप्त होने पर विभाषा है। इषु आदि में अप्राप्ति की आशंका का 'ङितिह्रस्वश्च' में नित्य स्त्रीलिंग हो इस प्रकार का नियम नहीं मानते है यह कैयट केवल ह्रस्वांश के लिये है—इस आशय से कहते है—नित्यस्त्रीलिङ्गाविति। इसी से दीर्घांश में निषेध विकल्प 'यूस्त्र्याख्यौ' सूत्र के भाष्य में कहा है। उसका फल कटप्रुवे ब्राह्मण्यै है। लिंगान्तर विशिष्ट अर्थ के कहने से नित्यस्त्रीत्व का अभाव है।

परे त्वत्र विकल्पो भवत्येव आख्याग्रहणपरहितस्यैवात्र सम्बन्धात्। यद्वा, स्त्र्याख्यावित्येतदेव स्त्रीवाचकावित्येतन्मात्रार्थकमत्र, शब्दाधिकारात्। तच्च ङिदाक्षिप्ताङ्गस्य विशेषणम्। अत एव 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' (का० वा०) इत्यस्यात्राप्रवृत्त्यन्वाख्यायके 'ह्रस्वौ चेयङुवङ्स्थानौ च प्रवृत्तौ स्त्रीवचनावेव नदीसञ्ज्ञौ भवतो नतु पुंवाचकाविति वक्तव्यम्, इति वार्त्तिके 'अतिशकटयै ब्राह्मण्यै। क्व मा भूत्? अतिशकटये ब्राह्मणाय। अतिश्रियै ब्राह्मण्यै; श्रियै ब्राह्मण्यै। क्व मा भूत्? अतिश्रिये ब्राह्मणाय, श्रिये ब्राह्मणाय' इति 'यूस्त्र्याख्यौ' (१।४।३) इतिसूत्रशेषे भाष्ये उक्तम्। एवाञ्चास्य निषेधविकल्पत्वमसम्भवि समुदायस्य केनापि प्राप्त्यभावात्। अवयवस्य प्राप्तावपि तस्यानेन विकल्पाभावात्। ङिदाक्षिप्ताङ्गस्यैवानेन विकल्पात्। एतच्च 'प्रवृत्तौ स्त्रीवचनौ' इत्यनेन सूचितम्।

नागेश का मत है कि यहाँ विकल्प होगा ही क्योंकि यहाँ आख्या ग्रहण से रहित का ही सम्बन्ध है अथवा स्त्र्याख्यौ ही स्त्रीवाचक मात्र अर्थ को यहाँ कहता है, इसमें

शब्दाधिकार ही कारण है। वह ङित से आक्षिप्त अंग का विशेषण है। विशेषण होने से 'प्रथम लिंग ग्रहणं च' की जहाँ अप्रवृत्ति को कहने वाले ह्रस्व और इयङ् उवङ् स्थानि और प्रवृत्ति में स्त्री को कहने वाले नदी संज्ञक होते हैं। पुल्लिग में वाचक नहीं होते हैं। ऐसा कहना चाहिए वार्त्तिक में अतिशकट्यै ब्राह्मण्यै कह्य नहीं होगा ? अतिशकटये ब्राह्मणाय, अतिश्रियै ब्राह्मण्यै, श्रियै ब्राह्मण्यै कहा नहीं होगा ? अतिश्रियै ब्राह्मणाय श्रियै ब्राह्मणाय ऐसा 'यूस्त्र्याख्यौ' सूत्र के शेष में भाष्य ने कहा है। इस प्रकार से इसको निषेध विकल्प से करने वाला सम्भव नहीं है क्योंकि समुदाय की किसी से प्राप्त नहीं है। अवयव के प्राप्त होने पर भी इसको इससे विकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि ङित से नाक्षिप्त अंग को ही यह विकल्प करता है। यह प्रवृत्ति में स्त्रीवाचक ही इससे सूचित होता है।

अत एवात्र वाक्यद्वयेऽपि विधिविकल्प एव दर्शितः। एवञ्च 'अत्र नियमो नाश्रीयते' इति कैयटो वाक्यद्वयपर एवोचितः। उपक्रमे निषेधपरतया व्याख्यानं तु स्त्र्याख्यावित्यस्य नित्यस्त्रीत्वार्थकत्वमजानत एकदेशिनो 'यू इति ह्रस्वयोर्ग्रहणम्' इतिपक्षोपपादने उक्तिभूतमिति तन्नादरणीयम्।

यत्तु—'दीर्घवाक्ये स्त्र्याख्याविति ईदूतोस्तदन्तस्य वा विशेषणं, पुनरङ्गेन तदन्तविधिः:, अङ्गस्य च केवलस्त्रीत्वं विशेषणम्। एवं ह्रस्वघटितवाक्येऽपि स्त्रियमित्येतन्मात्रमुभयोर्विशेषणम्' इति, तत्तु चिन्त्यं भाष्यात्तदलाभात्। 'नेयङुवङ्' (१।१।४) इत्यत्र तु नेयङाद्याक्षिप्ताङ्गविशेषणं स्त्रीत्वं तदाक्षिप्तस्येयङादिविशेषणताया एवौचित्यात्, 'यस्याङ्गस्येयुवौ' इति भाष्योक्तेः स्त्र्याख्यावित्यस्य नित्यस्त्रीलिङ्गावित्यर्थकस्य यू इत्यनेनैव क्लृप्तसम्बन्धत्वाच्च। अत एव 'अतिश्रिये ब्राह्मणाय' इत्यत्रानेन निषेधादवयवनदीत्वप्रयुक्तमपि नदीकार्यं न।

इसी से यहाँ दोनों वाक्यों में विधि विकल्प का ही प्रदर्शन किया है इस प्रकार यहाँ नियम का आश्रयण नहीं है यह कैयट वाक्यद्वयपरक ही उचित है प्रारम्भ में निषेध परक व्याख्यान तो स्त्र्याख्यौ को नित्यस्त्रीत्वार्थक न समझकर एकदेशी ने यू ह्रस्वों का ग्रहण किया है। इस पक्ष के उपपादन में उक्तिप्राय है इसलिये उसका आदर नहीं करना चाहिये।

यत्तु कहता है कि दीर्घ वाक्य में स्त्र्याख्यौ यह ईत् उत् अथवा तदन्त का विशेषण है। फिर अंग से तदन्त विधि है। अंगस्य का केवल स्त्रीत्व ही विशेषण है। इस प्रकार से ह्रस्वघटित में भी केवल स्त्रियाम् दोनों का विशेषण ही वह उनका वचन विचारणीय है, क्योंकि भाष्य से लाभ नहीं होता है। 'नेयुङ्वङ्' में इयङ आदि से

आक्षिप्त स्त्रीत्व अंग का विशेषण नहीं है। इयङ आदि से आक्षिप्त होने से इयङ आदि का ही विशेषण मानना उचित है क्योंकि भाष्य में 'यस्याङ्कस्ययुवौ' कहा है। नित्य स्त्रीलिंग अर्थ वाले स्त्र्याख्यौ का यू ँ से सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसी से अतिश्रिये ब्राह्मये में इससे निषेध होने पर अवयव में विद्यमान नदीत्व को मानकर भी नदी कार्य नहीं होता है।

ननु यथा 'खरकुट्यै ब्राह्मणाय' इत्यादौ लुबन्तस्य त्रिलिङ्गत्वेऽपि प्रथमलिङ्गग्रहणान्नित्यनदीत्वं भाष्ये उक्तम् 'चञ्चा ब्राह्मणान् पश्य' इत्यादौ युक्तवद्भावेन स्वलिङ्गप्रयुक्तकार्याभावस्यात्यतिदेशान्न णत्वम्। स्पष्टं चेदं 'तस्माच्छसः' (६।१।१०३) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः। यद्वा, अतिदेशेन प्रकृतिलिङ्गप्रयुक्तेन कार्यातिदेशेन (१) तद्विरुद्धस्वाश्रयकार्यप्रवृत्तिः। स्पष्टञ्चेदं 'स्त्रियाम्' (४।१।३) इति सूत्रे भाष्ये। युक्तवद्भावादिप्रत्याख्यानेऽपि यथा दारादिशब्दैः पुंस्त्वेन स्त्रीरूपार्थस्य भानं, तथा प्रकृते स्त्रीत्वेन पुंसो भानमिति न णत्वम्, पुंस्त्वे वाच्ये णत्वमित्यर्थात् न चैवं 'खरकुट्यै' इत्यत्रापि युक्तवद्भावेन नित्यस्त्रीत्वात्सूत्रेणैव सिद्धमिति वाच्यम्, स्त्र्याख्यावित्यस्य स्त्रीत्वविशिष्टमेव य आहेत्यर्थात्। न चायं तथा स्त्रीत्वेन रूपेण वस्तुतः पुंस्त्वविशिष्टस्याभिधानात्। यद्यपि पदार्थमात्रे शास्त्रीयलिङ्गत्रयमस्ति, तथापि व्यक्तिवस्तुपदार्थादिपदबोध्यत्वकाले तत्तल्लिङ्गोपजननेऽपि स्त्रीपदादिबोद्धयत्वदशायां तत्सत्त्वे मानाभावात्। प्रकृते तु 'ब्राह्मणाय' इत्यादिविशेष्यदर्शनेन तत्सत्तानुमानात्। स्पष्टं चेदं भाष्यकैयटयोः। एवं श्रीशब्दात्कनि लुपि 'श्रिये ब्राह्मणाय' इत्यादौ विकल्पापत्तिः। युक्तवद्भावेन स्त्रियामङ्गस्य वर्त्तनात्, अत्र सूत्रे नित्यस्त्रीत्वानिवेशाच्च; इति चेत्? न, सत्यभिमाने इष्टापत्तेः। भाष्ये दृश्यमानं 'श्रिये ब्राह्मणाय' इत्यादि तु क्यजन्तात्क्विपि बोद्धयम्। विपरीतं नित्यस्त्रीत्वनिवेशवादिनो लुबन्ते 'श्रियै ब्राह्मणाय' इत्यादौ तदनापत्तिर्दोष (२) इत्याहुः।

शंका करते है कि जैसे 'खरकुट्यै ब्राह्मणाय' में लुबन्त के तीनों लिंग होने पर भी प्रथम लिंग के ग्रहण से नित्य नदी संज्ञा होती है। यह भाष्य में कहा है चञ्चा ब्राह्मणान् पश्य इत्यादि में युक्तवत्भाव से अपने लिंग का मानकर होने वाले कार्य का भी अतिदेश होने से नत्व नहीं होता है। यह'तस्माच्छसः' सूत्र के भाष्य में कैयट में स्पष्ट हैं। अथवा अतिदेश से प्रकृति के लिंग से प्रयुक्त कार्य अतिदेश से उससे विरुद्ध

स्वाश्रय कार्य की प्रवृत्ति नहीं होती है। यह 'स्त्रियाम्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है युक्त वत्भात्र के प्रत्याख्यान पक्ष में भी जैसे दारादि शब्दों से पुल्लिग होने पर भी स्त्री रूप अर्थ का भान होता है उसी प्रकार प्रकृति स्त्रीत्व से पुल्लिग का भान होने से नत्व नहीं होता है क्योंकि नत्व; पुंस्त्व वाच्य होने पर होता है इस प्रकार से खरकुटयै में युक्तवद् भाव मे नित्यस्त्री होने से सूत्र से नदी संज्ञा सिद्ध है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। स्त्र्याख्यी अर्थ है कि जो स्त्रीत्व विशिष्ट ही अर्थ को कहे यह उस प्रकार का नहीं है, क्योंकि यह स्तीत्व रूप से वास्तविक में पुंस्त्व विशिष्ट को कहता है यद्यपि पदार्थ मात्र में शास्त्रीय तीनों लिंग रहते हैं तो भी व्यक्ति वस्तु पदार्थ आदि पदों से बोध्य होने पर उन—उन लिंगों का ज्ञान होने पर भी स्त्री पद आदि के बोध्यत्व काल, में उसके रहने में कोई प्रमाण नहीं है व्यक्ति से स्त्रीलिंग, वस्तु से नंपुसक, लिंग पदार्थ से पुल्लिगलिंग यह भाष्य कैयट में स्पष्ट है इस प्रकार श्री शब्द से कनि के लोप करने पर श्रिये ब्राम्हणाय इत्यादि में विकल्प होने लगेगा। क्योंकि युक्तवद् भाव से अंग स्त्री में विद्यमान है और इस सूत्र में नित्यस्त्रीत्व का निवेश भी नहीं है उत्तर यदि इस प्रकार के प्रयोगों का अविधान है तो इष्ट ही है भाष्य मैं श्रिये ब्राह्मणाये इत्यादि को दृष्ट पथ में आते हैं उनमें वयजन्त से पिक्प् प्रत्यय जानना। नित्यस्त्रीत्व का निवेश करने वाले के लिए उल्टा लुवन्त मैं श्रिये ब्राह्मणाये मैं नदी सज्ञा का न होना दोष है।

यू किम् ? मात्रे। यद्यपि यू इति दीर्घपरं, तथापि विभक्तिविपरिणामेन य्वोर्ह्रस्वावित्यन्वयो बोद्धव्यः। एतत्सर्वं (१) 'वामि' (१।४।५) इत्यत्रापि बोद्धव्यम्।

'इदुद्भ्यामौदच्चघेः' इति सूत्रे योगविभागेन व्याचष्टे—इदुद्भ्याम् (७।३।११७)। अनदीसंज्ञकेषु 'अच्च घेः' (७।३।११९) 'औत्' (७।३।११८) इत्याभ्यां बाधात्, 'ङेराम्' (७।३।११६) इति सूत्रान्नदीग्रहणानुवृत्तेश्चाह—नदीसञ्ज्ञकाभ्यामिति। मत्यामिति। सन्निपातपरिपरिभाषाया (२) अनित्यत्वाद्यण्।

त्रिचतुरोः (७।२।९९)। 'अष्टन आ' (७।२।८४) इत्यतो विभक्ताविति वर्तते तत्फलं त्रिभार्यः। तृतीयान्तेन समासः। भार्यो भरणीयः।

अचि र (७।२।१००) अलोऽन्त्यपरिभाषयैव सिद्धे ऋत इति अनुवर्तमानतिसृचतसृ इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वकल्पनाय। अन्यथा त्रिचतुरोरित्यस्यैवानुवृत्त्यापत्तौ रादेशेन तिसृचतस्रोर्बाधापत्तिरिति दिक्। नुमचिरेति। अत्राचिरांशे 'न तिसृ' (६।४।४) इति निषेधो मूलम्। (३) एतेन स्त्री-

स्वरूपार्थविशेषविभक्तिसञ्ज्ञानिमित्ततिस्राद्यपेक्षया नुडन्तरङ्ग इत्यपास्तम् । अतो निषेधादेवार्थसञ्ज्ञाकृतबहिरङ्गत्वानाश्रयणम् । अन्यथा 'आम्' इति-प्रत्ययविशेषापेक्षत्वेऽपि सञ्ज्ञाऽर्थविशेषानपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात्त्रयादेशे तद-सङ्गतिः स्पष्टैव । वस्तुतः स्वरूपेणोपादाने न बहिरङ्गत्वं किन्तु केनचिद्वि-शेषधर्मेणोपादाने एवेति, विशेषापेक्षस्य बहिरङ्गत्वमेव न इति च रुदधातौ निरूपयिष्यामः । तृज्वत्सूत्रे भाष्ये तु 'न तिसृचतसृ' ज्ञापकाद् रादेशो नुङ्-विषये न । पूर्वविप्रतिषेधेन तु न सिद्ध्यति अपवादविषये विप्रतिषेधा-प्रवृत्तेः । रादेशस्य सर्वापवादत्वात्' इत्युक्तम् ।

यू के अभाव में मात्र में नदी संज्ञा हो जाती यद्यपि यू यह दीर्घ परक है, तो भी विभक्ति के विपरिणाम से खोर्ह्स्वौ अन्वय समझना यह सब 'वामि' में जानना ।

'इदुद्भ्यामौदच्चघेः' इस सूत्र को योग विभाग से व्याख्या करते है । इदुद्भ्याम् । अनदीसंज्ञा में 'अच्च घेः' 'औत् से बाध होता है । 'ङेराम' सूत्र से नदी ग्रहण की अनुवृत्ति होने से कहते है नदी संज्ञाकाभ्यामिति । मत्यामिति । सन्निपात के परिभाषा अनित्य होने से यण होता है ।

त्रिचतुरोः । 'अष्टन आ' से विभक्तौ की अनुवृत्ति होती है उसका फल है त्रिभार्यः यहाँ विभक्ति के अभाव से जिनको आदेश नही होता है तृतीयान्त से समास है । भार्या का अर्थ है भरणीय ।

अचिर । अलोन्त्य परिभाषा से ही सिद्ध था ऋतः यह अनुवृत्ति तिस् चतस् को षष्ठयन्त कल्पना के लिये है । नहीं तो त्रिचतुर की ही अनुवृत्ति होने पर रादेश से तिस् चतस् का बोध होने लगता । नुमचिरेति । यहाँ अचिराँश में 'नतिसृ' यह निषेध मूल है । इससे स्त्रीत्व रूप विशेष अर्थ विभक्ति संज्ञा को निमित्त मानकर होने वाले तिसृ आदि की अपेक्षा नुट् अन्तरंग है । यह कथन व्यर्थ है । इस निषेध से ही अर्थ संज्ञा कृत बहिरंग का परिभाषा में आश्रयण नहीं है । नहीं तो छाम् रूप प्रत्यय विशेष की अपेक्षा होने पर भी संज्ञा और अर्थ विशेष की अपेक्षा न होने से अन्तरंग होने से त्रयादेश होने पर 'न तिसृ' की असंगत स्पष्ट ही थी । वास्तविक में स्वरूप से उपा-दान में बहिरंगत्व नहीं होता है । किन्तु किसी विशेष धर्म के उपादान में ही होता है। और विशेषापेठ्य को बहिरंगत्व नहीं होता है । यह रुद् धातु में निरूपण करेंगे । 'तृज्वत' सूत्र के भाष्य में तो 'न तिसृचतसृ' ज्ञापक से नुट् के विषय में रादेश नहीं होता है । पूर्वविप्रतिषेध से तो कार्य सिद्ध नहीं होगी क्योंकि अपवाद के विषय में प्रति षेध की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

त्रिचतुरोर्विशेषणादिति । स्त्रीनिष्ठसंख्यायां वर्त्तमानयोरित्यर्थ इति भावः । नेहेति । त्रिशब्दस्य पुंनपुंसकवृत्तित्वेऽपि समुदायस्य स्त्रियां वृत्ते-

रङ्गविशेषणत्वे आदेशः स्यादिति भावः। आमि त्विति। तत्राऽऽम् षष्टी-बहुवचनमेवार्थाधिकारादतो न ङेरामि (१) त्रयादेश इति बोद्धयम्। प्रियतिसेति। अङ्गविशेषणत्वेऽत्राव्याप्तिः स्यादिति भावः। प्रिया जस् त्रिजसिति स्थिते 'अन्तरङ्गानपि' इतिन्यायेन विभक्तिलुकि पुनः सुपि तदन्त विधिना निर्दिश्यमानपरिभाषयात्रिशब्दस्यादेशः। ततो 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्तु न, समासार्थालौकिकवाक्ये (२) ऋकारान्तोत्तरपदत्वाभावात्। 'ऋदुशन' (७।१।९४) इत्यनङ्। प्रियतिसृणी इत्यादि। अत्र नुभः परत्वातिस्रादेशे पुनः प्रसङ्गविज्ञानेन नुम्। 'न तिसृ' (६।४।४) इति ज्ञापकेन सामान्यत आगमविषये रादेशो नेति ज्ञाप्यते। 'प्रत्ययोत्तर' (७।२।९७) इति सूत्रे चेमौ भाष्ये प्रयोगौ।

त्रिचतुरोर्विशेषणादिति। स्त्री में रहने वाली संख्या में वर्तमान होना आवश्यक है। नेहेति। त्रिशब्द यद्यपि पुल्लिग और नपुंसकलिंग में वृत्ति होने पर भी समुदाय को स्त्री में वृत्ति होने से अंग के विशेषण मानने पर आदेश हो जायेगा।

आमित्विति। वहाँ षष्ठी का बहुवचन ही है अर्थाधिकार के अनुरोध से, इसलिये ङि को आम् करने पर त्रयादेश नहीं होता है। और नुट् और दीर्घ भी नहीं होते है। प्रियतिसेति। अंग के विशेषण मानने पर यहाँ अत्याप्ति हो जायेगी। प्रिया जस् ति जस् अवस्था में 'अन्तरंगानपि' न्याय से विभक्ति लुक् होने पर पुनः सुप् आने पर 'तदन्तविधि से निर्दिश्यमान परिभाषा से तृ शब्द को आदेश होता है। 'नद्यृतश्च' से कप् नहीं होता है क्योंकि सयास के लिये किये अलौकिक वाक्य में उत्तरपद ऋकारान्त नहीं है। 'ऋदुशन' से अनङ्। प्रियतिसृणी इत्यादि। यहाँ नुम् से पर होने से तिसृादेश करने पर पुनः प्रसंग विज्ञान से नुम् होता है। 'न तिसृ' ज्ञात करने सामान्य रूप से आगम् के विषय रादेश नहीं होता है, ऐसा ज्ञापन करते है यह दोनों प्रयोग 'प्रत्ययेयोत्तर' सूत्र के भाष्य में है।

द्वेरत्वे इति। बहुरङ्गासिद्धत्वन्तु 'न यासयोः' (७।३।४५) इति निर्देशेनानित्यत्वान्न प्रवर्त्तते। विभक्ताविति। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) इत्यत्र भाष्ये पाठात्, ङ्याप्सूत्रे तत्परिभाषादोषेषु पाठाच्च। 'सख्यशिश्वी' (का० वा०) इति ङीप्। 'यस्येति च' (६।४।१४८) इतीकारलोपः।

लक्ष्मीरिति। 'कृदिकारात्' (ग० सू० ४।१।४५) इति ङीषि 'लक्ष्मी' इत्यपि। स्त्यायतोऽस्यां शुक्रशोणिते इति स्त्री। स्त्यायतेर्ड्रट्, टिलोपयलोपौ, टित्वात् ङीप। इयङीति। स्त्रीशब्दस्येकारान्तत्वादियङ्वानुवर्तते इति भावः।

गुणनेति । 'जसि च' (७।३।१०९) इति गुणः । 'आङो ना' (७।३।१२०) 'अच्च घेः' (७।३।११९) 'ह्रस्वनद्यापः' (७।१।५४) इत्येतैरित्यर्थः । बाध्यते इति । स्त्रीशब्दस्येयङ् इत्यनेनान्वयः । नुम्—'इकोऽचि' (७।१।७३) इति । पूर्वकारिकोक्तैर्बाधे सति यत्फलितं तदाह—ओस्याविति । अजादौ य इयादेशो विहितः स उपसर्जने पुंसि विद्यमानस्य स्त्रियाः स्त्री-शब्दस्यौसाद्विषु चतुर्ष्वेव, न त्वन्यत्र, गुणादिभिर्बाधादिति भावः । पुंवद्भावादिति । 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्' (७।१।७४) इत्यनेनेति भावः । ननु ह्रस्ववाक्येऽप्यस्त्रीत्यस्य सम्बन्धेन स्त्रीशब्दावयवभिन्नह्रस्वे-वर्णान्तादित्यर्थेन कथमत्र प्राप्तिरत आह—अस्त्रीति । तत्र बीजमाह—तत्सम्बद्धस्यैवेति । प्रसज्यप्रतिषेधस्तु न, वाक्यभेदाद्यापत्तेः । नन्वियङुवयङ्-स्थानावित्यनेनापि स्वस्य निषेधः किं नेत्यत आह—दीर्घस्यायमिति । तत्र ह्रस्वपदाभावादिति भावः । श्रयन्त्येतामिति श्रीः । 'क्विब्वचि' (का० वा० इत्यादिना 'वाग्' इत्यत्रेव कर्मणि क्विब्दीर्घौ । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः ।

द्वेरत्वे इति । यहाँ बहिरंग सिद्धत्व नही होता है क्योंकि 'न यासयोः' निर्देश से वह अनित्य है । विभक्ताविति । 'युवोरनाकौ' के भाष्य में पाठ होने से और ङ्याब सूत्र में उस परिभाषा के दोषों में पाठ से 'सस्यशिखीसङीप होता है । यस्येति च' से इकार का लोप होता है ।

लक्ष्मीरिति । 'कृदिकारात्' ङीप् करने पर लक्ष्मी भी होता है । स्त्यायतः इत्यादि जिसमें शुक्रशोणित वृद्धि को प्रत्यय प्राप्त हो उसको स्त्री कहते है । स्त्याय धातु से ड्रट् प्रत्यय, टिलोप, यलोप टित् होने से ङीप करने से स्त्री की सिद्ध होती है । इयङिति । स्त्री शब्द के ईकारान्त होने से इयङ की ही अनुवृत्ति होती है ।

गुणनेति । 'जसि च' से गुण 'आङोना' से ना अच्चघेः से औत् ह्रस्वनद्यापः से नुट् इत्यादि नहीं होते हैं । बाध्यतेइति इसका अन्वय स्त्रीशब्दस्य इयङ के साथ है नुम् । 'इकोचि' से पूर्व कारिका में कहे बाध होने पर जो फलित है वह कहते हैं—ओस्याविति । अजादि प्रत्यय के परे जो इयादेश विहित है वह पुल्लिग में उपसर्जन होने पर स्त्री शब्द को ओस आदि चार विभक्तियों में ही होता है । अन्यत्र नहीं होता है क्योंकि गुणादियों से बाध हो जाता है पुंवदभावादिति । 'तृतीयादिषु' इत्यादि से होता है ह्रस्व वाक्य में अस्त्री के सम्बन्ध से स्त्री शब्द के अवयव से भिन्न ह्रस्व इवर्णान्त से इत्यादि अर्थ यहाँ प्राप्त किस प्रकार से है उत्तर करते हैं-अस्त्रीति । उसमें बीज कहते है तत्संबद्ध स्यैवेति । वाक्यभेद आदि दोष होने से प्रसज्य प्रतिषेध नहीं है । इयङ और उवङ स्थानी इत्यादि अर्थ से ह्रस्व का नियेध क्यों नहीं होता है उत्तर

देते है दी । स्यायमिति । वहाँ ह्रस्व पद का अभाव है जिसको मनुष्य भजे उसको श्री कहते है । 'क्वब्बचि' इत्यादि से वाक्य की तरह कर्म में क्विप् और दीर्घ होते है । अङयन्त होने से सुधा लोप नहीं होता है ।

नेयङु (१।४।४) ङद्वयोच्चारणं स्पष्टार्थम् । स्थानशब्दो भावल्युडन्तः । इयङुवङोः स्थानं स्थितिर्ययोरिति बहुव्रीहिः । सा च बाधकाविषये एव । तेन प्रकृष्टा धीः 'प्रधीः' 'प्रध्यै' इत्यादौ न निषेधः । सा चोपलक्षणे व्याख्यानात् । ते 'हे श्रीः' इत्यादौ निषेधसिद्धिः 'श्रियौ' इत्यादौ तत्स्थितिसत्त्वात् । यत्र नदीकार्याश्रियेऽङ्गे बाधकाबाधिते यङादिस्थितिः क्वचित् दृष्टा तस्य तदवयवस्य च निषेध इति (१) फलितम् । अत एव प्रकृष्टा धीर्यस्या; यस्य वा 'प्रधीः' इत्यत्रावयवधीशब्दस्य नदीत्वं भवत्येव । तदुक्तं भाष्ये 'अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धमितिचेदियङुवङ्स्थानप्रतिषेधे यण्स्थानयोरपि य्वोः प्रतिषेधः प्राप्नोति, अवयवस्येयङुवङ्स्थानत्वात् । आध्यै, प्रध्यै । सिद्धं त्वङ्गरूपग्रहणात् । यस्याङ्गस्येयुवौ भवतस्तस्येदं ग्रहणम् । न चैतस्याङ्गस्येयङुवङौ भवतः' इति । 'श्रियै इति । 'ङिति ह्रस्वश्च' (१।४।६) इति विकल्पः ।

नेयङुः । ङकारद्वय का उच्चारण स्पष्टार्थ है । स्थान में भाव में ल्युट् प्रत्यय है । इयङ उवङ का स्थान स्थित है । जिनकी यह बहुव्रीहि है । वह स्थिति बाधक के अभाव में ही होगी । इससे प्रध्यै आदि में निषेध नहीं होता है वह व्याख्यान से उपलक्षण है । इसी से श्रीः में निषेध सिद्ध होता है क्योंकि श्रियौ इत्यादि में वह स्थिति है जहाँ नदी कार्य के आश्रित अंग में बाधक से अबाधित इयङ आदि की स्थिति कहीं देखी गई हो । उसको और उसके अवयव को निषेध होता है इसी से प्रकृष्टा धीर्यस्या (स्त्री) यस्य 'पुरुष' वह विग्रह में निष्पन्न प्रधीः में अवयव धी शब्द की नदी संज्ञा होगी । भाष्य में भी कहा है कि 'अवयव' इत्यादि अवयवस्त्री विषय होने से सिद्ध है । इयङ उवङ स्थान वालों के प्रतिषेध में यण् के स्थान वाले इकार का उकार को भी प्रतिषेध प्राप्त होगा अवयव इयङ उवङ के स्थान वाले है । आध्यै प्रध्यै अंगरूप के ग्रहण से सिद्ध हो जायेगा । जिस अंग को इयङ उवङ हो उसका ग्रहण है इसके अंग को इयङ उवङ नहीं होते है । श्रियैइति । 'ङिति ह्रस्वश्च' से नदी संज्ञा विकल्प से होती है ।

वामि (१।४।५) । आमीतिच्छेदः । प्रधीशब्दस्येति । प्रकृष्टं ध्यायतीत्यर्थकस्येत्यर्थः । वृत्तिकारादीनामिति । अयं भावः—भाष्ये 'आध्यै' 'प्रध्यै' इत्यादाविषयङ्स्थानत्वान्निषेधमाशङ्क्य यत्र नदीकार्याश्रियेऽङ्गे

इत्युक्तरीत्या समाहितम्। तत्र न बहुव्रीहिः, कबापत्ते। किन्तु प्रकृष्टं ध्यायतीत्यादार्थकं तत्। तत्र (१) कैयटोक्तनित्यस्त्रीत्वाभावेन नदीत्वाप्राप्त्या भाष्यासङ्गतिः। अतः 'स्त्रीविषयावेव यौ यू नित्यम्' इत्यत्र भाष्ये एवकारो भिन्नक्रमः। नित्यमेव यौ स्त्रीविषयावित्यर्थः। नित्यमेवेत्यस्य पदान्तरं विनापीत्यर्थः। खलपूकटप्रूग्रामणीत्यादीनां क्रियाशब्दतया पुंसि मुख्या वृत्तिः। पुंसः खल्वयमुचितो धर्मः, शक्तत्वाद्भयरहितत्वाच्च। अतस्तेषां न पदान्तरं विना स्त्रीवृत्तित्वम्। ध्यानादि तु स्त्रीपुंससाधारणमिति। अत्रारुचिबीजन्तु सूत्रभाष्याक्षरैरीदृशनित्यस्त्रीत्वालाभः। भाष्योदाहरणे बहुव्रीहिरेव। कप्तु न, ऋकारसाहचर्येण यस्ये वृत्तेः प्राग्नदीत्वं तदुत्तरपदके एव तत्प्रवृत्तेः। धीशब्दस्येयङ्स्थानत्वेन प्राङ्नदीत्वनिषेधात्। गतिपूर्वकत्वाद्यणपि सुलभः। 'आद्धयै इति चिन्त्यमेतत्, क्रियाशब्दत्वेन (२) नित्यस्त्रीत्वाभावात्' इति कैयटस्तु चिन्त्य एवेति दिक्।

वामि। यहाँ आमि छेद है। प्रधीशब्दस्येति। प्रकृष्टध्यान करने वाले का ग्रहण है। वृत्तिकारादीनामिति। इसका भाव यह है—भाष्य में आद्धयै प्रद्धयै इत्यादि में इयङ के स्थानी होने से निषेध की आशंका कर यत्र इत्यादि पूर्वोक्तरीति से समाधान किया। वहाँ बहुव्रीहि नहीं है। क्योंकि कप् होने लगेगा। किन्तु प्रकृष्टं ध्यायत अर्थ वाला है वहाँ कैयट से कहे नित्य स्त्रीत्व के न होने से नदी संज्ञा की प्राप्ति न होने से भाष्य की असंगत है। इसी 'स्त्रीविषयावेव' इत्यादि भाष्य में एव का क्रम भिन्न है अर्थात् नित्य के आगे एव रखना चाहिए। नित्यमेव इत्यादि अर्थ होगा। नित्यमेव का अर्थ है पदान्तर के बिना भी जो है। खलपूकटप्रूग्रामणी इत्यादि के क्रिया शब्द होने से पुल्लिग में मुख्य वृत्ति है। क्योंकि यह धर्म पुरुष का ही उचित है। शक्त होने से और भय के न होने से। इसलिए उनका पदान्तर के बिना स्त्री में विद्यमानता नहीं है। ध्यानादि तो स्त्री और पुरुष दोनों के साधारण है। इसमें अरुचि का कारण यह है कि सूत्र और भाष्य के अक्षरों से इस प्रकार के नित्यस्त्रीत्व का लाभ नहीं होता है भाष्य के उदाहरण में बहुव्रीहि ही है। कप् तो नहीं है। क्योंकि ऋकार के साहचर्य से जिसको वृत्ति से पूर्व नदी संज्ञा हो उस उत्तर पद वाले में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इयङ स्थानी होने से धी शब्द की नदी संज्ञा का निषेध पूर्व में हो जाता है। पूर्वक होने से यण् भी सुलभ है। आद्धयै विचारणीय है क्योंकि क्रिया शब्द होने से नित्यस्त्रीत्व का अभाव है यह कैयट तो विचारणीय है।

लक्ष्मीवदिति। स्त्रियामिति शेषः। पुंवद्रूपमिति। उक्तविग्रहे नित्यस्त्रीत्वाभावात् पुंसीव स्त्रियामप्यनदीत्वादिति भावः। प्रकृष्टाधीरिति

विग्रह इति । ईदृशपदघटितविग्रहे इत्यर्थः । तेन कर्मधारये बहुव्रीहौ च सर्वलिङ्गेऽपि मतद्वयेऽपि लक्ष्मीवत् । 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (का० वा०) इत्यवयवधीशब्दस्य नदीत्वात् । 'नेयङ्' (१।४।७) इति निषेधस्योक्तरीत्या प्राप्त्यभावादिति भावः । विशेष इति । लक्ष्मीशब्दापेक्षयेत्यर्थः । श्रीवदिति । स्त्रियामिति शेषः । विशिष्टस्यापीयङ्स्थानत्वेन ङिदामोर्विकल्पस्यान्यत्र निषेधस्य च प्राप्तेरिति भावः । पुंसि त्वीदृशबहुव्रीहावपि न नदीत्वं 'नेयङ्' (१।४।७) इत्यवयवस्य निषेधात्, समुदायस्याप्राप्तेश्च । पुंवदिति । 'सुष्ठु ध्यायतीति विग्रहे' इति शेषः, तस्य नित्यस्त्रीत्वाभावेन पुंसीव स्त्रियामप्यनदीत्वादिति भावः । इति विग्रहे त्विति । ईदृशपदघटितविग्रहके स्त्रीलिङ्गबहुव्रीहौ कर्मधारये चेत्यर्थः । तत्र बहुव्रीहाववयवस्य 'नेयङ्' (१।४।७) इति निषेधः, ङिति तु समुदायस्य विकल्प इति बोद्धव्यम् ।

लक्ष्मीवदिति । इसका शेष स्त्रियाम् है अर्थात् स्त्रीलिंग में पुंवद्रूपमिति । उक्त विग्रह में नित्यस्त्रीत्व के न होने से पुल्लिग की तरह स्त्री में भी नदीसंज्ञा नहीं होगी। प्रकृष्टाधीरिति । विग्रहइति । इस प्रकार के पद से युक्त विग्रह में अर्थ है । इससे कर्मधारण में और बहुव्रीहि में सर्वलिंग होने पर भी दोनों मतों में लक्ष्मी की तरह रूप होंगे । क्योंकि 'प्रथमलिंगग्रहणच्च' से अवयव धी शब्द की नदीसंज्ञा होगी । 'नेयङ्' इत्यादि निषेध की पूर्वोक्त रीति से प्राप्ति नदी है विशेषइति । लक्ष्मीशब्द की अपेक्षा श्री वदिति । स्त्रीलिंग में जानना । विशिष्ट को इयङ स्थानी होने से ङित और आम् में विकल्प की अन्यत्र निषेध की प्राप्ति है । पुल्लिग में तो इस प्रकार की बहुव्रीहि में नदीसंज्ञा नहीं होगी क्योंकि 'नेयङ्' से अवयव की नदीसंज्ञा का निषेध होगा । और समुदाय को प्राप्त नहीं है । पुंवदिति । सुष्ठुध्यायति विग्रह में नित्यस्त्रीलिंग न होने से पुल्लिग की तरह स्त्री में भी नदीसंज्ञा का अभाव है । इति विग्रहत्विति ।

इस प्रकार के पद से युक्त विग्रह वाले स्त्रीलिंग बहुव्रीहि में और कर्मधारय में यह अर्थ है वहाँ बहुव्रीहि में अवयव का 'नेयङ्' से निषेध और ङित में समुदाय की विकल्प से संज्ञा होगी ।

स्त्रियाञ्च (७।१।९६) । अत्र 'असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने' इति न सम्बद्ध्यते आरम्भसामर्थ्यात् । अन्नेभ्य इति । तदन्तशब्दानां बहुत्वाद् बहुवचनम् । प्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । स्त्रियामिति चाधिकारः । क्वासि हे सुभ्रु इति । रावणेन सीताऽपहारोत्तरं रामविलापोऽयम् । विधिना त्वया हापितस्त्याजितः सः 'हे सुभ्रु क्वासि' इत्येवं बहु विललापेत्यर्थः । 'नेयङ्' (१।४।७) इत्यनेनावयवस्य समुदायस्य च नदीत्वनिषे-

घातप्रश्नः। प्रमाद इति। विरहपीडितत्वेनानवधानलक्षणोऽत्र प्रमादः। स च विरहपोषकत्वात्काव्ये गुणः।

त्रितयाच्च। यहाँ 'असम्बुद्धौसर्वनामस्थाने' का सम्बन्ध नहीं है। आरम्भ ही इसमें कारण है। ऋन्नेश्यइति। ऋकारान्त तथा नकारान्त शब्दों के बहुत होने से बहुवचन है अन्यथा द्विवचन ही उचित था। प्रातिपादिका विशेषण होने से तदन्तविधि है। 'स्त्रियाम्' का अधिकार है। क्वासि हे सुभ्रुइति। रावण जब सीता का अपहरण करके ले गया उसके पश्चात् राम का विलाप है, विधिनादेव ने तुमसे छुटवाया वह हे सुभ्रु तुम कहाँ हो, इस प्रकार से अधिक बिलाप किया। 'नेयङ्' से अवयब और समुदाय की नदीसंज्ञा के निषेध होने पर सुभ्रु में ह्रस्व कैसे हुआ यह प्रश्न है प्रमादइति। विरह से पीड़ित होने अनवधानता ही प्रमाद है। और वह प्रमाद विरह का पोषक होने से काव्य में गुण है।

एकाजुत्तर (८।४।१२)। एकोऽच् यस्मिन्, तादृशमुत्तरपदं यस्येति सूत्रे बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। उत्तरपदे इत्यनेनास्य वाक्यस्य समासपदघटितवाक्यैकदेशत्वानुमानात्समासो विशेष्य इत्याह—तस्मिन्समासे इति। आरम्भेति। 'प्रातिपदिकान्त' (८।४।११) इत्यनेन विकल्पेन णत्वे सिद्धे इत्यर्थः। पुनरिति। णग्रहणेऽनुवर्त्तमाने इत्यर्थः। यणमिति। 'दृन्कर' (का वा०) इति यणमित्यर्थः। भेकजाताविति।

शिली गण्डूपदी भेकी वर्षाभ्वी कमठी डुलिः। (अ०को० १।१०।२४)

इत्यमरादस्य बाह्वादित्वेन बा ङीषिति भावः।

अन्ये त्वस्य गौरादिपाठान्नित्यमेव ङीष्। 'भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री' इति यादवस्य—सुतः पुत्रः स्त्रियान्त्वमी। आहुर्दुहितरम्' इतिवत् नित्यङ्यन्तत्वेऽप्युपपत्तेरित्याहुः। गौरादित्वादिकल्पने मानाभावात् अमरे 'वर्षाभूः कमठी डुलिः' इत्येव पाठ इति सुबोधिनीकार इति माधवः। तदनुसारेण मूलं बोद्धयम्।

टाब्ङीपौ न स्त इति। (१) 'स्त्रियां यत्प्राप्नोति तन्न' इति व्याख्यानादिति भावः। स्वस्रादिषु मातृशब्दस्य ननान्द्रादिसाहचर्यात्। (२) प्रसिद्धत्वाच्चा ससम्बन्धिकजननीवाचकस्यैव ग्रहणम्। सन्निपातपरिभाषयैव तिसृचतस्रोर्ङीबभावे सिद्धे तदबित्यत्वज्ञापनार्थं तयोर्ग्रहणमिति केचित्। स्वस्रादिषु तिसृचतस्रोः पाठोऽनार्ष इति क्रुन्मेजन्तसूत्रस्थ भाष्यस्वरसः।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः।

एकाजुत्तर। एक है अच् है जिसमें और उस प्रकार का उत्तर पद जिसका हो इस प्रकार से सूत्र में बहुव्रीहि गर्भ बहुव्रीहि समास है उत्तर पद से इस वाक्य को समास पद से घटित वाक्य के एक देश के अनुमान से समास विशेष्य है जैसा कि कहा है—तस्मिन्समासेइति। आरम्भेति। क्योंकि विकल्प से तो 'प्रातिपदिकान्त' से ही णत्व सिद्ध था। पुनरिति। णग्रहण की अनुवृत्ति होने पर मणमिति। से यण् जानना। 'दृन्कर' से यण जानना। भेकजाताविति।

शिली,—इत्यादि अमर से इसको बाह्वादिन होने से ङीषि विकल्प से होता हैं। अन्य गौरादि में पाठ मानकर नित्य ङीषि करते है। भेक्याम् इत्यादि यादव तो 'सुतः पुत्रः इत्यादि की तरह नित्य इन्त्य से ठीक हो सकता है। गौरादि कल्पना में कोई प्रमाण नहीं हैं और अमर में वर्षाभूः कमठी इत्यादि पाठ है ऐसा सुबोधिनी कार कहते हैं यह माधव का मत है उसी के अनुसार मूल है।

टाब्ङीपौनस्त इति। स्त्रीलिंग में जो प्राप्त हो वह न हो ऐसी व्याख्या में उक्त अर्थ है। स्वस्रादिगण में मातृ शब्द का ननान्द्रि आदि शब्दों के साहचर्य से और प्रसिद्ध होने से सम्बन्ध वाले जननी वाचक का ही ग्रहण है। सन्निपात परिभाषा से ही तिस्सृ चतस्सृ में ङीप् का अभाव सिद्ध था फिर उन दोनों का ग्रहण उसके अनित्यत्व में ज्ञापक है, ऐसा किसी का मत है स्वस्रादिगण् में तिसृ चतसृ शब्द का पाठ अनार्ष है। ऐसा क्रन्मेजन्तः सूत्र के भाष्य का अभिप्राय है।

॥ इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गः ॥

॥ अजन्तनपुंसकलिंगप्रकरणम् ॥

अतोऽम् (७।१।२४)। अत इत्येतत् अधिकृतस्याङ्गस्य विशेषम्। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) इति चानुवर्त्तते। अम् लुग्वाबाधको (३) 'येननाप्राप्त' (प० भा० ५८) इति न्यायात्। 'अम्' इतिच्छेदो (४) न तु 'म्' इति, 'ज्ञानम्' इत्यादौ 'सुपि च' (७।३।१०२) इति दीर्घापत्तेः। सन्निपातपरिभाषया दीर्घ (५) वारणे तु 'हे ज्ञान' इत्यादौ सम्बुद्धिलोप-स्यानापत्तिः मनिमित्तस्य प्रकृतिप्रत्ययसन्निपातस्य प्रत्ययलोपेन विनाशात्। अत एव 'एङ्ह्रस्वात्' (६।१।६९) इति सूत्रे 'ज्ञान' इत्यादौ मलोपाय, कतरद्' इत्यादौ लोपाभावाय चाङ्गाक्षेपव्याधिकरणान्वयल्पदानुवृत्तय आस्थिता भाष्ये न तु 'म्' इतिच्छेद उक्त इत्यलं भाष्य विरुद्धकल्पनयेति दिक्।

'जसः शी' (७।१।१७) 'औङ आपः' (७।१।१८) इत्याभ्यां शी औङ इति चानुवर्तते तदाह—क्लीबादित्यादि।

अतोऽम्। अतः अतिकृत अंग का विशेषण है। 'स्वमोर्नपुंसकात्' की अनुवृत्ति होती है। येननाप्राप्तन्याय से अम् लुक् का बाधक है यहाँ तृतीय वाध बीज से वाध होता है विशिष्ट मेरी परिभाषेन्दु की टीका में देखिये यहाँ अम् छेद ही उचित है केवल 'म्' नहीं क्यों कि इस शास्त्र में अच् से रहित एक हल् आदेश कहीं नहीं दीखता है। और ज्ञानम् में 'सुपि च' से दीर्घ भी होने लगेगा। सन्निपात परिभाषा से दीर्घ वारण करने में तो 'हे ज्ञान' इत्यादि में सम्बुद्धि लोप नहीं होगा। मकार निमित्तक प्रकृति और प्रत्यय के सन्निपात का प्रत्यय लोप से विनाश है इसी से 'एङ्ह्स्वात्' सूत्र में ज्ञान इत्यादि में मलोप के लिए और कतरद् इत्यादि में लोप के अभाव के लिए अंग का आक्षेप व्यधिकरण अन्वय और हल् पद की अनुवृत्ति भाष्य में स्वीकृति की है। 'म्' छेद भाष्य में नहीं कहा है। इसलिए भाष्य विरुद्ध कल्पना से विराम् करना ही उचित है'

'जसः शी' 'औङ आपः' इन दोनों से क्रम से शी और औङ की अनुवृत्ति होती है। —वह कहते है। —क्लीबादित्यादि।

यस्येति च (६।४।१४८)। इश्चाश्च यं तस्येत्यर्थो व्याख्यानात्।

भस्येत्यधिकारः, चेन 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) इत्यतः 'तद्धिते' इत्यनु-कृष्यते तदाह—भस्येत्यादि। भस्येति किम्? गर्गरूप्ययम्। औङः श्या-मिति इत एव निर्देशादस्य। नित्यस्त्रीत्वं बोद्धयम्। औङ इति स्वरूपकथनं 'सर्वे इत्यस्य भाधिकारेण सिद्धेः।

जश्शसोः (७।१।२०)। शस् अत्र सुबेव, (१) व्याख्यानात्।

नपुंसकस्य (७।१।७२)। 'इदितो नुम्' (७।१।५८) इत्यतो नुम् इति सर्वनामस्थाने इति चानुवर्त्तते। अङ्गस्येति च प्रकृतम्। तच्च झलज्भ्यां विशेष्यते। नपुंसकस्येति गृह्यमाणस्याभावादङ्गस्यैव विशेषणम्। 'अस्थि-दधि' (७।१।७५) इत्यादौ तु गृह्यमाणस्यैव प्रकरणात् श्रुते (२) बलव-त्त्वात्। अत एव 'त्रिचतुरोः' (७।२।९९) इत्यत्र स्त्रियामिति तयोरेव विशेषणमित्याकरः। उपधादीर्घ इति। 'सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ' (६।४। ८) इत्यनेनेति भावः। शेषमिति। कर्मणि घञ्। 'घञबपः पुंसि' (लि० सू०) इति प्रायोवादः।

अदड्ड (७।१।२५)। दड्डेति पाठः। दस्य ष्टुत्वं, डस्य संयोगान्त-लोपश्चाऽऽदेशस्वरूपभङ्गभिया न कृत इति (१) कैयटः। पञ्चभ्यः इति अधिकव्यवच्छेदाय। अस्य सर्वाद्यन्तर्गणत्वात्।

यस्येति च। इश्च अश्च य तस्य अस्य यह व्याख्यान से अर्थ है। 'यस्य' का अधिकार है, चकार से 'नस्तद्धिते' से तद्धित का अनुकर्ष होता है। जैसा कि कहा है— भस्येत्यादि। भस्य के अभाव में गर्गरूप्यम् में दोष था। औङःश्यामिति। इसीं निर्देश से इसको नित्य स्त्रीत्व जानना। औङः स्वरूप कथन मात्र है क्योंकि सर्वे की सिद्ध अधिकार से होगी। सर्वे पुल्लिग में प्रथमा के बहुवचन का रूप है।

जश्शसोः। यहाँ जश् के साहचर्य रूप व्याख्यान से शस् सुपि ही लेना। तद्धित रास् को नहीं लेना।

नपुंसकस्य। इदितो से नुम् और सर्वनाम स्थाने की अनुवृत्ति होती है। अंगस्य प्रकृति में उपस्थित हैा है। वह झल् और अच् से विशेषित होता है। नपुंसकस्य गृह्य-माण के अभाव में अंग का ही विशेषण है और 'अस्थिदधि' इत्यादि में तो गृह्यमाण अस्थि आदि का ही विशेषण है क्योंकि प्रकरण से श्रुत बलवती होती है। 'श्रुतानु-मितयोः श्रुत सम्बन्धो बलीयान्' इति परिभाषा से अथवा श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानाम् पारदौ वल्यामर्थ विप्रकर्षात् इस मीमांशा सूत्र के आधार से श्रुत की अपेक्षा प्रकरण दुर्बल होता हैं। इसी से 'त्रिचतुरोः' में स्त्रियाम् यह त्रिचतुर का ही विशेषण है उपधादीर्घइति। सर्वनामस्थाने चा सम्बुद्धौ' से होता है शेषमिति।

कर्म में घञ् प्रत्यय है। 'घञ्जपः पुंसि' तो प्रायोवाद है। अर्थात् प्रायः पुल्लिग होता है। कही अन्य लिंग भी होता है। वास्तविक में भी भाव प्रत्यय के लिये वह नियम है। यह भी पूर्व में लिख चुका है।

अद्ड्। दड्डेतिपाठः। दकार को ष्टुत्व और ङकार का संयोगान्त लोप आदेश आदेश के स्वरूप के भंग के भय से नहीं किया। यह कैयट का मत है। पंचभ्य यह अधिक के ग्रहण के अभाव के लिये है। क्योंकि यह सर्वादि का अन्तर्गण है।

परे तु डतरादिभ्य इति विरुद्धविभक्तिपञ्चम्यन्तत्वादङ्गस्येत्यनेनान्वयावर्हमिति (२) डतराभ्यो विहितयोः स्वमोरङ्गसंज्ञानिमित्तयोरित्यर्थ इति सर्वादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। एवञ्च (३) परमकतरं कुलम्' इत्यादौ नाद्ड्।

यत्तु कैयटेनार्थद्वारकं विधानमाश्रित्यतव्यम्। तेन 'परमकतरद्' इत्युक्तम्; तन्न, तस्य यदि डतराद्यर्थगतसंख्याभिधायिन इत्यर्थस्तदा पञ्चम्यन्तात्तादृशार्थप्रतीत्यसम्भवः। यदि षष्ठ्यर्थे पञ्चमी, तदा 'विरुद्धविभक्तित्वात्' इति भाष्यासङ्गतिः, विधानस्य सर्वथाऽनाश्रयणेनार्थद्वारकं विधानमिति तद्ग्रन्थासङ्गतिश्च। चैतदर्थे उपसर्जनप्रतिषेधारम्भो व्यर्थः स्यादिति वाच्यम्, तत्प्रत्याख्यानायैवैतद्भाष्य प्रवृत्तेः। परमकतरादिव्यावृत्तयेऽवश्याश्रयणीयविहितविशेषणेनैवातिकतरादिव्यावृत्तौ स व्यर्थ इति तदाशयः 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) इत्यत्र षष्ठ्यन्त्वात्तददीनामित्यर्थद्वारकं विभक्तिविशेषणम्, 'अस्थिदधि' (७।१।७५) इत्यादावङ्गं तथा वद्विशेषणं व्याख्यादित्यपि तत्रैव भाष्ये स्पष्टमि (४) त्याहुः।

परेतु का कथन है कि इतरदिभ्य अंगस्य से विरुद्ध विभक्ति पंचम्यन्त होने से अंगस्य के अन्वय के अयोग्य है। उत्तरादिसे विहित अंगसंज्ञा के निमित्त स अम् को इत्यादि अर्थ सर्वादि सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। उक्त अर्थ करने से परम कतरं हुलम् इत्यादि में अद्ङ नहीं होता है। जो कि कैयट ने अर्थ द्वारक विधान स्वीकार करना चाहिए। इसमें परमक्तरद होगा वह ठीक नहीं है उसका यदि उत्तराधर्वगत संख्या को कहने वाला अर्थ किया जाये तो वह सम्भव नहीं है। क्योंकि डतराधिभ्य पंचमम्यन्त है। यदि षष्ठी के अर्थ में पंचमी मानने पर 'विरूद्धविभक्तित्वात् इस भाष्य की असंगत है उक्त अर्थ मानने पर उपसर्जन प्रतिषेध का आरम्भ व्यर्थ होगा। यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उसके प्रत्याख्यान के लिए ही उक्त भाष्य प्रवृत्ति हुआ है। परमकतरादि की व्यावृत्ति के लिये विहित विशेषण मानना अत्यन्त आवश्यक है उसी से अतिकरादि की व्यावृत्ति होने पर वह प्रतिषेध व्यर्थ है यह उसका आशय है।

"त्यदादी नाम:' में षष्ठ्यन्त होने से त्यदादीनाम् अर्थद्वारक विभक्ति का विशेषण है। 'अस्थिदधि' इत्यादि में व्याख्यान से अंग भी उसी प्रकार विभक्ति का विशेषण ही यह भी वहाँ भाष्य में स्पष्ट है।

डित्वफलमाह—टेः (६।४।१४३)। 'ति विंशतेः' (६।४।१४२) इत्यतो डितीति वर्त्तते, भस्येति चाधिकृतम्। पञ्चम इति। डतो मटि भत्वाभाव इति भावः। अन्यतमस्येति। डतरादिष्वपाठादिति भावः। एकतरमिति। 'एकाच्च प्राचाम्' (५।३।९४) इति डतरच्। एकतमस्य तु 'एकतमद्' इत्येव। परत्वादिति। नुमपेक्षयेति शेषः। शब्दान्तरप्राप्त्या झलन्ताजन्तलक्षणभेदाच्च नुमप्यनित्य इति भावः।

कश्चित्तु शिभावात्परत्वाज्जरसि ततः शौ झलन्तत्वान्नुमित्यर्थमाहुः। अत्र यद्वक्तव्यं तद् (१) निर्जरशब्दे उक्तम्।

डित्व का फल कहते हैं-टेः। 'तिविंशतेः' से डित की अनुवृत्ति होती है। और भस्य का अधिकार है। पञ्चम इति। डत् का मट् करने पर भत्व का अभाव है। अन्यतरस्मिति। डतरादियों में पाठ न होने से।

एकतरमिति। 'एकाच्च प्राचाम्' से डतरच् प्रत्यय है। एकतम का 'एकतमद्' ही होगा। परत्वादिति। नुम् की अपेक्षा पर है। शब्दान्तर को प्राप्त होने से झलन्त और अजन्त के भेद से नुम् भी अनित्य है।

किसी का कथन है कि शिभाव से पर होने के कारण जरस् करने पर शिभाव होने पर झलन्त होने से नुम् होता है। ऐसा अर्थ करते है। यहाँ का जो वक्तव्य था वह निर्जर शब्द पर कह चुके थे।

सान्तमहतः [६।४।१०]। सान्तेति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदं संयोगस्येत्यनेन समानाधिकरणम्। 'नोपधायाः' [६।४।७] 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' [६।४।६] इत्यनुवर्त्तते, तदाह—सान्तसंयोगस्येत्यादि। उपधाग्रहणञ्च पूर्वत्वमात्रोपलक्षणं पारिभाषिकार्थस्येहासम्भवात्। सर्वनामस्थान इति सान्तसंयोगस्य विशेषणम्। अत एव 'हंसशिरांसि' इत्यादौ न दोषः। यद्वा 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' [का० वा०] इति न दोषः।

मांस्पचन्या इति। मांसस्य पचनीत्यर्थः। 'मांसस्य पचियुड्‌घञोः' इत्यप्येतत्सिद्धार्थानुवाद एव। शब्दत्वेन च सादृश्यं, 'न लुमता' [१।१।६३] इत्यस्य च नित्यत्वमित्यभिमानः। वृत्ताविति। भाष्यस्वरसस्त्वनुवृत्ताविति भावः। मासश्छन्दसीति। मासस्तकारः स्याद्भादौ प्रत्यये छन्दसीत्यर्थः। 'माद्भिः शरद्भिर्दुरोदरं तव, इत्युदाहरणम्।

सान्त महतः। सान्त लुप्त षष्ठी वाला प्रथक पद है, संयोगस्य के साथ उसका सामानाधिकरणम है। 'नोपधायाः' सर्वनामस्थाने च सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति होती है जैसा कि कहा है— सान्तसंयोगस्येत्यादि। उपधाग्रहण पूर्वत्व मात्र का उपलक्षण है। जहत्स्वार्था वृत्ति से केवल पूर्वत्व को ही कहता है। अर्थात् स्वेतर बोधकत्व ही है क्योंकि परिभाषिक अर्थ का मिलना यहाँ कठिन है। क्योंकि उपधा से उपधान का बोध यहाँ नहीं होता है। सर्वनामस्थाने सान्त संयोग का बिशेषण है उक्त अर्थ करने से हंसशिरांसि में दोष नहीं है। अथवा अनन्त्य विकारे-इन्त्यसदेशस्य' परिभाषा से दोष नही है। उक्त प्रयोग में दोनों प्रकार से शिरांसि में ही दीर्घ होता है हंस में नहीं होता है।

माँस्पचन्या इति। इसका अर्थ माँस की पचनी है। 'मांसस्य पचियुड्घञोः, भी इससे सिद्ध अर्थ का अनुवाद ही है। सादृश्य शब्दत्व से है।

और 'न लुमता' नित्य है यह अभिमान है वृत्ताविति। भाष्य का स्वरस तो अनुवृत्ति में है। माँसश्छन्दसीति। माँस को तकार होता है भादि प्रत्यय के परेछन्द में माद्भिः इत्यादि उदाहरण है।

ह्रस्वो नपुंसके [१।२।४७]। क्लीबवदर्थे वर्त्तमानस्याजन्तस्येत्येव सामर्थ्यात्प्रातिपदिकलाभे प्रातिपदिकस्येत्येतत् [२] सत्त्वप्रधानस्येत्यर्थकम्। तेन 'काण्डे' इत्यादावन्तवद्भावेन प्रातिपदिकत्वेऽपि न ह्रस्वः। विभक्त्यर्थस्य संसर्गत्वेऽपि प्रकृत्यर्थापेक्षया प्राधान्यमस्त्येव। प्रथमाया अपि अन्याभिहितशक्तिरर्थ इति तत्रापि तत्संसर्गको बोध इति तस्याः प्राधान्यम्। 'काण्डे तिष्ठतः' इत्यादावाख्यातार्थकर्त्तुः कर्त्तृक्रियाभावेन क्रियायामन्वये तदभिन्नप्रथमार्थस्यापि तेन सम्बन्धेनान्वयात्तस्य प्राधान्यम्। स्पष्टञ्चेदं भाष्ये। ज्ञानवदिति। दीर्घान्तत्वप्रयुक्तो न कश्चिद्विशेष इति भावः। 'श्रीपाहि' इत्यादौ 'एकाजुत्तरपदे' (८।४।१२) इति णत्वं भवत्येवेति बोद्ध्यम्।

ह्रस्वो नपुंसके। नपुंसक के अर्थ में बिद्यमान अजन्त इत्यादि कहने से पातिपादिक ग्रहण सत्वप्रधान प्रातिपदिक के ग्रहण के लिए है। प्रातिपदिक के अभाव में वारिणी में तो दीर्घ शी विधान से ही छस्व नहीं होगा जिसमें लिंग और संख्या का योग होता है उसको सत्व कहते है इसी से काण्डे में अन्तवत्भाव से प्रातिपदिकत्व आने पर भी ह्रस्व नहीं होता है। विभक्त्यर्थ को संसर्ग होने पर भी प्रकृति के अर्थ की अपेक्षा प्रधाय है। प्रथमा का भी अन्य से अविहित शक्ति अर्थ है। वहाँ भी तत्संसर्गक बोध होता है इसलिये प्रथमा का प्राधान्य ही है। 'काण्डे तिष्ठतः' में आख्यातार्थ (तसर्थ) कर्ता का कर्तृ क्रियाभाव से क्रिया में अन्वय होने पर उससे अभिन्न प्रथमा के अर्थ

का भी उस सम्बन्ध से अन्वय होने पर प्रथमार्थ का भी प्राधान्य है यह भाष्य में स्पष्ट है। ज्ञानवदिति। दीर्घान्त को लेकर कुछ भी विशेषता है। 'श्रीपाणि' इत्यादि में 'एकाजुत्तरपदे' सेणत्व होगा ही।

इकोऽचि (७।१।७३)। सुपीति वक्तव्ये विभक्ताविति (१) चिन्त्य-प्रयोजनम्। विभक्तौ किम्? मधुन इदं माधवम्। हे वारे हे वारीति। अत एव 'इकोऽचि' (७।१।७३) इति सूत्रस्थम् 'इह किञ्चित्त्रपो' इति, 'एङ्ह्रस्वात्' (६।१।६९) इतिसूत्रस्थं 'हे त्रपु' इति च भाष्यं सङ्गच्छते। वृद्ध्यौत्वेति। वृद्ध्यादीनां क्रमेण 'गावौ' 'हरौ' 'क्रोष्टा' 'हरये' इत्यवकाशः, नुमो 'वारिणी' इति।

(२)तृतीयादिषु (७।१।७४)। भाषितः पुमान् येन शब्देनेत्यर्थे पीलुशब्देऽतिप्रसङ्गस्तस्माद्भाषितः पुमान् यस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्तरूपेऽर्थे इति बहुब्रीहिः। भाषणक्रियया स्वकरणतयाऽऽक्षिप्तशब्दश्च क्लीबेन समानानु-पूर्वीकः समानार्थश्च गृह्यते प्रत्यासत्तेः। ततोऽर्शआद्यच्। तत्फलितमाह—प्रवृत्तिनिमित्तैक्य इति। इकोऽचीति, नपुंसकस्येति चानुवर्त्तते। ते च तत्र षष्ठ्यन्ते, अत्रार्थात्प्रथमान्ते इक इत्ति किम्? श्रीपेण। टादौ किम्? अना-दिनी। अयञ्च ह्रस्वनुमोरभावातिदेशः क्लीबत्वविशिष्टार्थवाचकस्य पुंस्त्वविशिष्टार्थवाचकरूपातिदेशे क्लीबत्वरूपार्थनिवृत्तेस्तत्प्रयुक्तसर्वकार्या-प्रवृत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः।

इकोऽचि। सुप् कहना उचित था विभक्ती का प्रयोजन विचारणीय है तात्पर्य यह है कि विभक्ति संज्ञा सुप् और तिङ दोनों की ही होती है। नुम् तो केवल सुप् में ही होता है। कोई वारि शब्द से आचारक्किबन्तात् करके फल देते है, वे बद्धय है विभक्ति के अभाव में मधुन इदं विग्रह में अण् प्रत्यय करने पर सिद्ध माधवम् दोष था। हे वारे हे वारीति। इसी से 'इकोऽचि' सूत्रस्थ त्रपो और 'एङ्ह्रस्वात' सूत्रस्थ 'हे त्रपु' यह भाष्य भी संगत होता है। वृद्धयौत्वेति। वृद्ध आदि के क्रम से उदाहरण—गावौ, हरौ, कोष्टा, हरये, अवकाश है। नुमा का वारिणी है।

तृतीयादिषु। कहा है पुरुष को जिस शब्द ने अर्थ मानने पर पीलुशब्द में भी पुंवद्भाव होने लगेगा। इससे कहा है पुंल्लिग को जिस प्रवृत्ति निमित्त रूप अर्थ में इस तरह से बहुब्रीहि है। अर्थात् जो प्रवृत्ति निमित्त पुंस्त्वस्यान्ववितावच्छेदक हो नपुंसकत्व का अमितावच्छेदक हो उसी को भाषित पुंस्क कहते है पीलुशब्द में पुंरत्व का अनवयिता वच्छदेक वृक्षत्व व्याप्यजात है और नपुंसक का फलत्व व्याप्यजात है। इसलिए प्रवृत्ति निमित्त के भेद होने से पुंवद्भाव नहीं होता है। भाषण किया से

अपने करण होने से आक्षिप्त शब्द नपुंसक से समान आनुपूर्वी वाला और समान अर्थ वाला लिया जाता है इसमें सामीप्य सम्बन्ध ही कारण है। फिर अर्शादि होने से अच् होता है उसका फलित कहते है ..प्रवृत्तिनिमिन्तैक्येइति । 'इकोऽचि' और नपुंसकस्य की अनुवृत्ति होती है। वे अपने स्थान में षष्ठयन्त है यहाँ अर्थाधिकार से प्रथमान्त है इकः के अभाव में, हे श्रीपेण में दोष था। हादि के अभाव में अनादिनी में दोष था यह नपुंसकत्व से विशिष्ट अर्थ के वाचक शब्द को ह्रस्व तुम का अभावातिदेश करते है। पुंस्त्व विशिष्ट अर्थवाचक कपातिदेश करने पर क्लीबत्व रूप अर्थ की निवृत्ति होने पर उसको मानकर होने वाले सब कार्यों की अप्रवृत्ति होती है। इसका विस्तार अन्यत्र है।

अस्थिदधि (७।१।७५) । नकारादकार उच्चारणार्थः । अनङ उदात्तस्योच्चारणेन सिद्धावुदात्तग्रहणम् 'असति यत्ने उदात्तादिशब्दैरनुपात्तो गुणोऽविवक्षितः' इति (१) ज्ञापनार्थम् । 'त्रिचतुरोः' (७।२।९९) इति 'तिसृचतसृ' इत्यत्र द्वन्द्वप्रयुक्तेऽन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तनिपातनं (२) विवक्षार्थम् । निपातनं नामान्यदृशे प्रयोगे प्राप्तेऽन्यादृशप्रयोगकरणम् । बधादेशेऽपि हन्त्यनुरूपेऽन्तोदात्तोऽनुदात्तो वोच्चारणीये आद्युदात्तोच्चारणं विवक्षार्थम् । तदुक्तमसति यत्ने इति । परमास्थिशब्दादावन्तोदात्ते उदात्तगुणस्यापि स्थानित्वेनात्र तद्विवक्षायां न मानमिति भाष्ये स्पष्टम् । उदात्तत्वफलं 'दध्ना' इत्यादावल्लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्त्युदात्तत्वं, 'दधनि' इत्यादौ श्रवणञ्च । ज्ञापनफलन्तु तृन्तृजन्तानां भिन्नस्वरकान्तानाम् 'ऋदुशन' (७।१।९४) इत्यनेन तत्स्वरकानङ्सिद्धिरिति दिक् ।

अस्थिदधि। नकादि में अकार उच्चारण के लिए है। अनङ को उदात्त उच्चारण से कार्य सिद्ध था। फिर उदात्तग्रहण से प्रयत्न के अभाव में उदात्तादि शब्दों से अनुपात्त गुण अविवक्षित होता है। इस अर्थ के ज्ञापन के लिए है। 'तिचतुरोः' सूत्र में तिसृ, चतसृ में द्वन्द्व मानकर अन्तोदात्त करना था। आद्युदात्त निपातन विवक्षा के लिए है। अन्य प्रकार के प्रयोग के करने को ही निपातन कहते है। वधादेश में भी हन् के रूप अनुरूप अन्तोदात्त या अनुदात्त उच्चारण करना था। आद्युदात्त का उच्चारण विवक्षा के लिए है इसलिए कहा है—'असति यत्ने' परमास्थि शब्द आदि में अन्तोदात्त में उदात्त गुण के भी स्थानी होने से यहाँ उसकी विवक्षा में मान नहीं है, यह भाष्य में स्पष्ट है। तधना में अल्लोप करने पर, उदात्त निवृत्ति स्वर से (अनुदात्तस्य च यत्रोदात्त लोपः) विभक्ति का उदात्त होना ही उदात्तविधान का फल है और दधना में उदात्त का श्रवण भी फल है। ज्ञापन का फल यह है कि तृन, तृजन्त भिन्न स्वर वाले अन्त वालों को 'ऋदुशन' से भिन्न-भिन्न स्वर वाले अनङ् की सिद्ध है।

तदन्तेति । आङ्गत्वादिति भावः । अत्रापि नपुंसकस्येति सम्बद्ध्यते । तेन धाञः 'आदृगमहन' (३।२।१७१) इति किप्रत्यये 'दधिना' इत्यादौ न । एतञ्च (३) गृह्यमाणस्यैव विशेषणम् । ते 'अतिदध्ना ब्राह्मणेन' इत्यादि सिद्धम् । सुधियेति । शोभनज्ञानवत्त्वरूपै (४) कप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् पुंवत् । प्रधीशब्दे प्रकृष्टज्ञानवत्त्वमेकं तत् । मध्विति । मकरन्दमद्य–माक्षिकवाचिनः पुंनपुंसकयोः सत्वात् पुंवत्त्वम् । मृद्वीकाविकारवाचिनो नित्यनपुंसकस्य तु न । स च 'मर्द्वीकं मधु न द्वयोः' (अ०को० २।१०।४१) इत्यमरेणोक्तः । भाष्ये मधोस्तृप्ता इत्यस्य लिङ्गव्यत्ययोदाहरणत्वन्तु माध्वीर्गावो भवन्तु नः' इतिलिङ्गसिद्धक्षीरवाचिनपुंसकमधुशब्दाभिप्रायेणेति (१) दिक् ।

तदन्तेति । आङ होने से तदन्त में प्रवृत्ति होती है यहाँ भी नपुंसकस्य का सम्बन्ध है । इससे धाङ धातु 'आङृगमहन' इत्यादि से कि प्रत्यय करने पर दधिनाइत्यादि में होता है । यह ग्रहमाण का ही विशेषण है इससे अतिदधिना ब्राह्मणेन में भी अनङ होता है । सुधियेति । शोभनज्ञानकत्व रूप प्रवृत्ति निमित्त एक होने से पुंवद्भाव होता है पुंल्लिग और नपुंसकलिंग में शोभनज्ञानवत्व ही अन्वयितावच्छेदक है । प्रधीशब्द में भी प्रकृष्ट ज्ञानवत्व रूप एक ही प्रवृत्त निमित्त है । मह्विति । मकरन्द, मद्य शहद वाची पुंल्लिग नपुंसक लिंग में होने से पुंवद् भाव होता है । मुनक्का के विकारवाची को नित्य नपुंसक होने से पुंवद्भाव नहीं होता है । उसको 'मार्द्वीकं मधु' इत्यादि अमर ने कहा है । भाष्य में मधोस्तृप्ता को लिंगव्यत्यय का उदाहरण तो 'माध्वीर्गावो भवन्तुनः' लिंग सिद्ध दुग्ध वाची नपुंसक मधुशब्द के अभिप्राय से है । वास्तविक में तो माध्वीर्गावा में मधुशब्द का माधुर्य ही अर्थ है ।

स्नुर्वेति । 'मांस्पृत्स्नूनां पदादिषूपसंख्यानम्' इतिवार्त्तिकेनेति भावः । पूर्वविप्रतिषेधेनेति । न च नित्यत्वादेव नुम्सिद्धः, किं पूर्वविप्रतिषेधेनेति वाच्यम्, तदन्ते नुमि कृतेऽपि अङ्गाधिकारे तदन्तविधेः सत्त्वेन 'यदागमाः' (प० भा० ११) इति न्यायेन नुम्विशिष्टस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात् सूत्रे षष्ठीनिर्देशाभावान्निर्दिश्यमानस्य नुमा व्यवधाननमि (२) त्यस्याभावेन तृज्वत्त्वप्राप्तेः । सकृद्गतिन्यायान्न पुनस्तृज्वत्त्वम् । नन्वयं 'कृशक्रोष्टुने' इत्यस्यैव भाष्ये उदाहरणात्तृतीयादिष्वचीत्येतद्विषयक एव । अन्यथा प्रथमोपस्थितसर्वनामस्थानोदाहरणत्यागे बीजानापत्तिरिति चेत् ? न, उदाहरणस्य सङ्कोचकत्वे मानाभावात् । तदुक्तं 'न चोदाहरणमादरणीयम् इति । उदाहृतातिरिक्तोदाहरणाभाव इत्येवंपरतया नादरणीयमिति तदर्थं इत्याहुः ।

सुल्वेति । अत्र शोभनलवनकर्त्तृत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम् । पुंवत्त्वे ह्रस्वाभावेनाघित्वान्नाभावो न । नुमभावाच्च यण् । धातृ इति । अनङ् न 'न लुमता' (१।१।६३) इति निषेधात् । धारणादिकर्त्तृत्वं चास्यैकं प्रवृत्तिनिमित्तम् । हे धातरिति । 'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८) इति गुणः ।

स्नुर्वेति । 'मांसपृतस्नूनां पदादिषूपसंख्यानम्' मांस इत्यादि का पदादिये पाठ जानना । उक्त वार्तिक से आदेश होता है । पूर्वविप्रतिषेधेनेति । नित्य होने से ही नुम् होगा, फिर विप्रतिषेध मानने की क्या आवश्यकता है । यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि तदन्त में नुम् करने पर भी अंगाधिकार में तदन्तविधि होने से यदागम् परि-भाषा के बल से नुप् विशिष्ट का भी उसके ग्रहण से ग्रहण होने पर सूत्र में षष्ठी निर्देश के न होने से निर्दिश्यमान का नुम् से व्यवधान है । इस कथन के अभाव से बृजवत् की प्राप्ति है सकृतगतिन्याय से फिर तृज्वत् नही होता है 'क्रुशक्रोष्टुने' के ही भाष्य में उदाहरण देने से तृतीयादि का अच् विषयक ही मानना ठीक है नही तो प्रथमोपस्थित सर्वनाम स्थान के उदाहरण न देने में बीज नही होगा । उदाहरण से संकोच करने में प्रमाण नहीं है । जैसा कि कहा है । न चोदाहरणमादरणीयम्' अर्थात् उदाहरण का आदर नही करना चाहिए । उदाहृत से अतिरिक्त उदाहरण नही है । इस रूप में आदर नहीं करना चाहिये यह उसका अर्थ है । सुल्वेति । यहाँ शोभनलवन कर्त्तृत्व प्रवृत्ति निमित्त है । पुल्लिग में ह्रस्व के न होने घिसंज्ञा के अभाव में नाभाव नही होता है । और नुम् के अभाव से यण होता है । धातृइति । यहाँ अनङ् नहीं होता है न लुमता से निषेध होने के कारण यहाँ अनङ् नहीं होता है । धारणादिकर्त्तृ-त्व रूप प्रवृत्ति निमित्त दोनों में एक ही है हे धातरिति । 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण होता है ।

एच् इक् (१।१।४८) आदेश इति कर्मणि घञ् । ह्रस्वपदेन कर्म-धारयः । (३) निर्द्धारणे सप्तमी, सौत्रमेकवचनं, तदाह—आदिश्येत्यादि । मध्ये इत्यपपाठः, तद्योग षष्ठ्या एवौचित्यात् । एचां पूर्वभागोऽषर्णसदृशः, उत्तरस्तु इवर्णोवर्णसदृशः । तत्रोभयान्तरतमह्रस्वाभावात्पर्यायेणावर्णादिः प्राप्तावर्णाभावायेदं, तदाह—इगेवेति । यथाप्राप्तमेव नियम्यत इति न यथासंख्यम् । ह्रस्व एच्तु नास्त्येव 'एओङ्' (मा० सू० ३) इत्यादौ दीर्घ-निर्देशादिति स्पष्टं भाष्ये । चार्द्धमात्राऽवर्णस्याद्ध्यर्द्धमात्रेवर्णोवर्णयोरिति उत्तरभूयस्त्वात्तत्सदृश इगेव भविष्यतीति नार्थः सूत्रेणेति वाच्यम्, अद्ध्यर्द्ध-मात्राऽवर्णस्यार्द्धमात्रेवर्णोवर्णयोरित्यस्यापि पक्षस्य 'प्लुतावैच' (८।२।१०६) इति सूत्रे विनिगमनाविरहेण भाष्ये उक्ततया समप्रविभागपक्षस्यैव भाष्यकृत्सम्मतत्वादित्याहुः ।

एच् इक् । आदेश में कर्म में घञ प्रत्यय है । ह्रस्व पद के साथ कर्मधारय समास है । निर्धारण में सप्तमी है और एक वचनाद सौत्र है वही कहा है— आदिश्येत्यादि । मध्ये यह अपपाठ है क्यों कि उसके योग में षष्ठी का होना उचित था । एचों का पूर्व भाग अकार के सदृश है, उत्तर भाग इवर्ण और उवर्ण के सदृश है । वहाँ दोनों का अन्तरतम् ह्रस्व के न होने से पर्याय से अवर्ण ही पाया था उस अवर्ण के अभाव के लिए महसूत्र है । कहा भी है— इगेवेति । जैसा प्राप्त ही उसी का नियम करता है । उससे यथासंख्य नहीं है । ह्रस्व ऐच् का तो अभाव ही है । क्योंकि 'एंओङ्' में भाष्य में दीर्घ का ही निर्देश किया है । आधी मात्रा अवर्ण की है और आधी से अधिक मात्रा इवर्ण, उवर्ण की है। उत्तर में अधिक होने से उसके सदृश इक ही होगा फिर सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है । यह किसी की शंका उचित नहीं है । क्यों कि आधे से अधिक अवर्ण की और आधी इवर्ण, उवर्ण की यह पक्ष भी 'प्लुतावैच' के सूत्र में विनिगमना के विरह से भाष्य में कहा है इसलिए बराबर का ही भाग भाष्यकार को सम्मत है ।

प्रणीमिति । न च 'रायो हलि' (७।२।८५) इति विषयसप्तमी, इति प्रागेवाऽऽत्वम्, निर्दिष्टपरिभाषाबाधे मात्राभावात्, आत्वे कृते नुडनापत्त्या हलदिविषयाभावेन पूर्वमात्वाप्रवृत्तेश्च । केचित्तु नुटो निमित्तस्य सन्निपातस्य दीर्घेण विनाशावश्यकत्वेन तद्विषये सन्निपातपरिभाषाया विषय एव न । 'नामि' (६।४।३) इति दीर्घस्तु 'सुपि च' (७।३।१०२) इति दीर्घं नित्यत्वाद् बाधते इति माधवाशय (१) माहुः । 'ग्रामाणि कुलम्' इत्यादौ नपुंसकह्रस्वत्वे 'ह्रस्वस्य पिति' (६।१।७१) इति तुग्र समुदितप्रातिपदिकापेक्षह्रस्वस्य बहिरङ्गत्वेन वर्णमात्राश्रयेऽन्तरङ्गे तुकि असिद्धत्वात् । ये तु 'षत्वतुकोरसिद्धः' इति वचनात्, 'न लोप' (८।२।२) इति सूत्रे कृतितुग्ग्रहणाच्च 'ह्रस्वस्य पिति' (६।१।७१) इति सूत्रेऽन्तरङ्गपरिभाषया अप्रवृत्तिं वदन्ति, तेषामुपजीव्यविरोधान्न तुक् अजन्तत्वमुपजीव्य ह्रस्वप्रवृत्तेः । न चैवं सन्निपातपरिभाषा व्यर्था तस्या अप्युपजीव्यविरोधमूलकत्वात् । किञ्च तस्या अपि स एवार्थः । अत एव सन्निपातपरिभाषादोषनिरूपणावसरे 'वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तं स्यात्' इत्युक्तम् । न च 'न प्रत्ययः सन्निपातलक्षणः, अङ्गसञ्ज्ञा तद्धि निमित्तं स्यात्' इत्यग्रिमभाष्यविरोधइति वाच्यम्, तस्यैकदेशयुक्तित्वात् । अन्यथा 'शैवः' इत्यादावपि सा लोपनिमित्तं न स्यादित्यन्यत्र निरूपितम् । 'ग्रामणिपुत्रः' 'ग्रामणि कुलम्' इत्यादौ पूर्वोत्तरपदनिमित्ते ह्रस्वे बहिरङ्गपरिभाषयापि (तुग्वारणं)

सिद्ध्यतीत्याशयेन 'कृन्मेजन्तः' (१।१।३९) इति सूत्रे 'ह्रस्वस्य पिति' (६।१।७१) इत्यादौ तदुपन्यास एकदेशिन इति न तद्विरोध इत्यलम् ।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

प्रीणामिति । 'रायोहलि' में विषय सप्तमी होने से आत्व पहले ही होगा क्योंकि निर्दिष्ट परिभाषा के बाध में 'मान नहीं है । आत्व करने पर' नुट् के न होने से हलादि विषय के अभाव से पहले आत्व भी नहीं होगा । कोई तो नुट् का निमित्त सन्निपात दीर्घ से विनाश होना आवश्यक होने से उसके विषय में सन्निपात परिभाषा का विषय ही नही है । नामि से होने वाला दीर्घ तो नित्य होने से 'सुपि च' से होने वाले दीर्घ का बाध करता है । यह माधव का आशय है । ग्रामाणि कुल इत्यादि नपुंसक ह्रस्व करने पर 'ह्रस्वस्य पिति' से तुक नहीं होता है । समुदित प्रातिपादिक की अपेक्षा करने वाले ह्रस्व के बहिरंग होने से वर्ण मात्र को मानकर होने वाले अन्तरंग तुक करने में असिद्ध है । जो लोग 'षत्वतुकोरसिद्धः इस वचन से और 'न लोप' सूत्र में कृति तुम् ग्रहण से 'ह्रस्वस्य पिति' इस सूत्र में अन्तरंग परिभाषा की अप्रवृत्ति कहते है । उनके मत में उपजीव्य विरोध होने से तुक नहीं होता है । क्यों कि अजन्तत्व मानकर ह्रस्व की प्रवृत्ति हुई है । अब सन्निपात परिभाषा व्यर्थ है यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि वह भी उपजीव्य विरोध मूलक है । और उसका भी वही अर्थ है । इसी से सन्निपात परिभाषा के दोष निरूपण के समय 'वर्णाश्रय' प्रत्यय वर्ण विचार का निमित्त नहीं हो सकता है प्रत्यय सन्निपात लक्षण नहीं है तो अंग संज्ञा अनिमित्त हो जायेगी । इस अग्रिम भाग से विरोध होगा । नहीं क्यों कि वह एक देशी उक्ति है नही तो शैवः इत्यादि में भी वह लोप के निमित्त नही होगी, इत्यादि अन्यत्र विवेचन है । ग्रामणि पुत्रः । ग्रामणिकुलं इत्यादि में पूर्वोत्तर पद निमित्त वाले ह्रस्व के करने पर बहिरंग परिभाषा से भी तुक् का वारण हो सकता है, इस आशय से 'कृत्येजन्तः' सूत्र में 'ह्रस्वस्य पिति में उसका उपन्यास एक देशी का है, इसलिये उससे विरोध नहीं है ।

इत्यजन्ता नपुंसक लिङ्ग ।ः

॥ हलन्त पुल्लिंग प्रकरणम् ॥

हो ढः (८।३।३१)। 'झलो झलि' (८।२।२६) इत्यतो झलीति, 'पदस्य' (८।१।१६) इति, 'स्कोः' (८।२।२९) इत्यतोऽन्त इत्यनुवर्त्तते। झलि परे पूर्वस्य (१) पदान्ते विद्यमानस्य हस्येत्यर्थः। डस्तु न विहितः। (झषन्तत्वाभावेन भष्भावाप्राप्त्या) घुडित्याद्यसिद्धेः।

दादेर्धा (८।२।३२)। दादिग्रहणमौपदेशिकदादित्ववल्लक्षकं व्याख्या-नादित्यभिप्रेत्य फलितार्थमाह—उपदेशे इति। एवञ्च प्रकृतसूत्रे भाष्ये ध्वनितम्। तत्र हि घत्वस्यासिद्धत्वाड्ढत्वं प्राप्नोतीत्याशङ्क्यापवादत्वेन समाधाय 'अथवा एवं वक्ष्यामि—होढोऽदादेरिति। ततो धातोरिति। दादे-रिति वर्तते, नेति निवृत्तम्' इत्युक्तम्। द्रुहेस्तु 'वा द्रुह' (८।२।३३) इत्यनेन ढत्वस्यापि विधानात्तत्र न दोष इति तदाशयः। तत्र धातेरिति—सूत्रे भाष्यकृत्कृतदादेरित्यनुवृत्तेः। (१) फलान्तराभावेन तद् उपदेशवद्वृद्धि-लक्षकं सामर्थ्यात्। अर्थाधिकारानुरोधाच्च पूर्वत्र निषेधसमर्पकेऽप्येवम्। अत एव नामधातुविषये 'दामलिड्' इत्यादौ ढत्वघत्वाभावौ सिद्धौ। एवञ्च तदेकवाक्यतयाऽपवादत्वपक्षेऽपि दादिपदस्योपदेशकालिकदादित्ववल्लक्षकतो-चिता। तदनन्तरं दादेरिति वर्त्तते इति भाष्यस्योक्ताशयमजानतो घो दादे-रित्युच्यते कथमधोगिति शङ्कायाम् 'एकाचः' (८।२।३७) इतिसूत्रार्थमपि प्रसङ्गान्निर्णेतुं धातोरवयवो यो दादिरित्यर्थमुक्त्वा गर्दभयतेरप्रत्यये गर्द्ध-बित्यादौ भष्भावायोत्तरसूत्रे आवश्यकं वैयधिकरण्यमुक्त्वा 'दोग्धा' इति तु व्यपदेशिवद्भावात्सिद्धमिति भाष्ये उक्तम्। तत्रोत्तरार्थं वैयधिकरण्यमा-वश्यकमिति वदता तस्येहानावश्यकत्वं सूचितम्। तेन च दादेरित्यस्योक्ता-र्थकत्वं सूचितमित्यन्यत्र विस्तरः।

हो ढः। 'झलो झलि' सूत्र से झलि की पदस्य की, 'स्कोः' सूत्र से अन्त्य की अनु-वृत्ति होती है। अत्व इस सूत्र का यह अर्थ होता है झलि परे पदान्त में विद्यमान हकार को ढकार होता है। डकार का विधान नहीं किया क्योंकि झषन्त के न होने से भष्भाव के न होने से घुड की सिद्ध नहीं होती।

दादेर्घा। दादिपद लक्षणा से औपदेशिक दायित्ववान को कहता है (व्याख्यान से) ऐसा समझकर फलितार्थ कहते है—उपदेशे इति। यह सब विषय उक्तसूत्र के भाष्य में ही ध्वनित है भाष्य में लिखा है कि घत्व के असिद्ध होने से ढत्व प्राप्त होता है ऐसी शंका कर घत्व ढत्व का अपवाद है। ऐसा समाधान कर, अथवा इस प्रकार से कहेंगे। होढोऽदादेरिति। दादिभिन्न हकार को ढकार होता है। अर्थात् जिस जगह आदि में ढकार होता है वहाँ ढकार नहीं होता है। उसके पश्चात 'धातोः' कहेंगे धातोः सूत्र में पूर्व सूत्र से अदादे दादे की अनुवृत्ति करेंगे। कनार की निवृत्ति करेंगे। उक्त न्यास में द्रुह इत्यादि में दादि होने से ढत्व की प्राप्ति नहीं होगी इसलिये 'वाद्रुह' सूत्र से ढत्व का भी विधान करने से ध्रुट् इत्यादि प्रयोगो की सिद्ध हो जायेगी। वहाँ धातोः इस सूत्र में भाष्य करने से की गई दात्यिदि की अनुबृत्ति का अन्य फल न होने से वह उपदेश में दादि को लक्षणा से कहता है (सामर्थ्य से) अर्थाधिकार के अनुरोध से पूर्व सूत्र में भी 'अदादेयः' का औपदेशिक दादिभिन्न ही अर्थ करना इसलिए ही नामि धातु में दाम्लिट् प्रयोग में ढत्व और घत्वाभाव सिद्ध होते हैं इसलिए दोनों पक्षों की एक वाक्यता से अपवाद पक्ष में भी दादि पद की उपदेश कालिक दायित्ववान ही लक्षणा से अर्थ करना। इसके पश्चात् 'दादेरिति वर्तने' इस भाष्य का पूर्वोक्त आशय को न जानकर दादि को घकार कहने पर अधोक की सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि अट् करने पर दादि नहीं हैं ऐसी शंका करने पर 'एकाच' सूत्र के लिये वैयधिकरण्य अन्वय आवश्यक समझकर धातु का अवयव जो दादि यह अर्थ किया। क्योंकि गर्द्धप् प्रयोग की सिद्ध के लिये वैयाधिकरण्य अन्वय मानना अत्यन्त आवश्यक है परन्तु उक्त अन्वय मानने पर दोग्धा की सिद्ध नहीं होगी क्योंकि धातु का अवयव एकाच् यह अर्थ उक्त सूत्र का किया है उक्त प्रयोग में जो दुह धातु है। वही एकाच ही यदि धातु का अवयव दुह माना जाय वह झषन्त नहीं है। अतः उक्त प्रयोग की सिद्ध व्यपदेशवद् से भाष्य में कही। भाष्य में बैयधिकरण्य उत्तरसूत्र एकाच् के लिए आवश्यक कहने से 'दादेः' सूत्र उसकी आवश्यकता नहीं है यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है। इससे दादेः का लक्षणा से पूर्वोक्त अर्थ करना नितान्त आवश्यक है। उपदेश काल में जो दादि वास्तविक में शेखर कार का उक्त प्रयास व्यर्थ ही हो क्योंकि दादेः की अनुवृत्ति दादि धातु अवयव भिन्न अर्थ करने से चरितार्थ है। फिर लक्षणा से उक्त अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। दाम्लिट् की सिद्ध नहीं होगी यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि वहाँ दामलिक् ही इष्ट है, इसी से भाष्य में भी 'घोडदादेः' इस न्यास में अधोक की सिद्ध के लिये बैयधिकरण्य से समाधान किया। इस प्रकार से 'धातोः भी चरितार्थ होता है। अन्यथा उपदेशावस्था में दादि अर्थ करने से धातु ग्रहण व्यर्थ ही है क्योंकि उपदेश धातुओं का ही होता है।

'धुग्' इत्यादिसिद्धये (२) गो नोक्तः। 'औपदेशिकप्रायोगिकयोरो-

पदेशिकस्य ग्रहणम्' इति परिभाषा तु तत्र तत्रोपदेशग्रहणं कुर्वत्सूत्रविरोधेन 'तरप्तमपौ घः' (१।१।२२) 'अत्वसन्तस्य' (६।४।१४) इत्यादिसूत्रस्थ-भाष्यविरोधेन चाप्रामाणिकी। तत्र हि भाष्ये इकमुक्तम् 'इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते यत्रास्यैतद्रूपमिति रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगं, तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते। कोऽसौ ? उपदेशो नामेति।' अनुबन्धप्रस्तावात्सानुबन्धकेष्वित्युक्तं न्यायस्यान्यत्रापि तुल्यत्वा-दिति बोद्धयम्।

घुक् की सिद्ध के लिये घकार के स्थान में गकार का विधान नहीं किया (गकार के झषन्त न होने से भष् भाव धकार नहीं होता) औपदेशिक और प्रायोगिक में औपदेशिक का ही ग्रहण होता है, यह परिभाषा तो अनेक सूत्रों में उपदेश ग्रहण करने से सूत्र विरोध है। "तरप्तमपौ घः" 'अत्वसन्तस्य' इत्यादि सूत्रों के भाष्य विरोध होने से प्रामाणिकी नहीं है। भाष्य में इस प्रकार से लिखा है यहाँ व्याकरण में सब सानुबन्धक ग्रहण में रूप लिया जाता है, इसका यह रूप है रूप ज्ञान शब्द का लौकिक प्रयोग के बिना नहीं होता है। उस लौकिक प्रयोग में अनुबन्ध वालों का प्रयोग नहीं है। इसलिये दूसरा ही लिया जायेगा वह कौन है उपदेश अनुबन्ध के प्रस्ताव होने से सानुबन्ध केषु कहा है। न्याय तो अन्यत्र भी लगेगा। अर्थात् सानुबन्ध में भी और उससे भिन्न स्थल में भी।

एकाचो (८।२।३७) 'झष् झषन्तस्य' इति (१)वक्तुं युक्तं भष्प-दाशक्तिकल्पनेव लाघवात्। निवृत्तमिति। 'घुग्भ्याम्' इत्यादौ पदान्तत्वा-देव सिद्धिरिति भावः। सामर्थ्यादिति। स्ध्वोर्ग्रहणस्येतरव्यावृत्त्यर्थत्वे तु तदनुवृत्तौ फलाभाव इति भावः। धातोः किम् ? (२) तद्धाडित्या(३)दि। ननु दुहेर्धत्वे धात्ववयवमेकाच्रूपं दु इति, उघिति च, तत्राद्यो न झषन्तः, अन्त्ये न बश्, दुघिति तु नावयव इति कथं भष्भावः ? अत आह–(४) व्यपदेशिवदिति। विशिष्टोऽपदेशो मुख्यव्यवहारः, सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी (५)तुल्यमित्यर्थः। इदमाद्यन्तवत्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। एकाचः किम् ? दामलिट्। बशः किम् ? क्रोत्स्यति। झषन्तस्य किम् ? दास्यति। धुगिति। 'अत्वसन्तस्य' (६।४।१४) इतिसूत्रेऽधातोरिति निषेधेन (६)कारकं अत्य-प्रधानभूतक्रियावाचकस्यापिधातुत्वादिति भावः। (१) न च 'धातोरुच्य-मानङ्कार्यं तत्प्रत्यये भवति' इति परिभाषया कथमत्र घत्वादि ? तत्प्रत्ययो

धातुसंशब्दनेन विहितः प्रत्ययः इति वाच्यम्, अस्य पदान्तनिमित्तत्वेन प्रत्ययनिमित्तत्वाभावात् । अत एव 'अप्रशान्' ईति चरितार्थम् । अन्यथा 'मो नो धातोः' (८।२।६४) इत्यत्रापि तत्प्रवृत्तौ नत्वानापत्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।

एकाचो । 'झष् झषन्तस्य' सूत्र कहना ही उचित था । भष् पद की शक्ति कल्पना न करना ही लाघव है । निवृत्तमिति । अर्थात् झल् की निवृत्ति है 'धुग्ध्याम्' में पदान्त होने से ही कार्य हो जायेगा । सामर्थ्यादिति । 'स्ध्वो' का ग्रहण अन्य व्यावृत्ति के लिए मानने पर झलि की अनुवृत्ति का कोई फल नहीं है । धातु ग्रहण नहीं करने पर तद्वाडिमे भष भाव होने लगता । दुहको घत्व करने पर धातु का अवयव एकाच् दु या दुह है प्रथम द् तो झषन्त नहीं है । द्वितीय उग्र ड में वश नही है । पूर्ण दुघ् धातु का अवयव नही है फिर भष्भाव किस प्रकार से होता है । उत्तार देते हैं व्यपदेशिवद्-भाव से विशिष्ट अपदेश अर्थात् मुख्य व्यवहार वह ही जिससे उसके व्यपदेशी कहते हैं । जिसके तुल्य हो अर्थात अमुख्य में मुख्य व्यवहार होने से दुघ ही धातु का अवयव मान लिया गया । यह विषय आद्यन्तवत् सूत्र में स्पष्ट है एकाच् ग्रहण नहीं करने पर दाम्लिट् में भष्भाव होने लगता । अनेकाच् होने से नहीं होता है । बश के अभाव में क्रोत्स्यति में भी होने लगता । झषन्त न कहने पर दास्यति में भी भष्भाव होने लगता धुगिति । 'अत्वसन्तस्य' सूत्र में अधातु के निषेध से कारक के प्रति अप्रधानभूत किया वाचक भी धातु माना जाता है । इतर पदार्थ निष्ठ विशेष्यता निरुपित प्रकारताना श्रयत्व मुख्यमाना जाता है । अर्थात दूसरे पदार्थ में रहने वाली विशेषता को लेकर जिससे प्रकारता अर्थात विशेषण न हो । चुक् में क्विप् प्रत्यय के कर्तृत्व रूप अर्थ में विशेषणता ही है इसलिए लिखा कारक के प्रति अर्थात् प्रत्यय से इतर का विशेषण न हो । अब यहाँ शंका होती है । धातोरुच्यमानङ्कार्यन्तत्प्रत्यन्मे भवति' धातु के लिए जो कार्य कहा जाता है वह धातु को उच्चारण करके जो प्रत्यय होता है । उसके परे ही होता हे । परिभाषा के रहते यहाँ घत्वादि किस प्रकार होते है । उत्तर घत्वादि पदान्त निमित्तक है प्रत्यय निमित्तक नहीं है । इसलिए 'अप्रशान' भी चरितार्थ हुआ अन्यथा 'मोनोधावोः' सूत्र में भी उक्त परिभाषा की प्रवृत्ति होने से नत्व नहीं होता है । तब तो उसकी असंगत स्पष्ट ही थी ।

वा द्रुह (८।२।३३) द्रुहेः प्राप्तेरन्येषामप्राप्तेरुभयत्र विभाषेयम् ।

इग्यणः (१।१।४५) यणः स्थाने इति । नन्वेवम् 'अदुहितराम्' इत्यादौ लस्योत्तमैकवचने इटि तस्य सम्प्रसारणत्वाद् 'हलः' (६।४।२) इति दीर्घापत्तिः, न च यथा संख्यसम्बन्धाददोषः ऋलृक्सूत्रे 'लृकारोपदेशः किमर्थः' इत्यादिभाष्यविरोधात्; इति चेत् ? न, विधिप्रदेशेषु 'यण इक्'

इत्येव सिद्धे सञ्ज्ञाविधानसामर्थ्येन (२) तद्भावितपक्षाश्रयणान्न दोषः 'वाक्यस्य सञ्ज्ञा' इति पक्षे भाष्ये 'सम्प्रसारणस्य' (६।३।१३९) इत्यादौ सम्प्रसारणजातस्य सम्प्रसारणग्रहणेन ग्रहणम्' इत्युक्ततया तदेकवाक्यतयाऽत्र पक्षे तद्भावितस्य संज्ञेति भाष्ये सूचितम्। (३) तेन 'द्युभ्याम्' इत्यादावपि न दीर्घप्राप्तिः। (४) अत एव अक्षद्यूश्चासावरुणश्च 'अक्षद्युरुणः' इत्या (५) दौ पूर्वरूपं न। समानाङ्गग्रहणं तु भाष्ये प्रत्याख्यातम्। तथा च भाष्यं-शकहृर्थमित्यादौ पूर्वरूपाभावाय समानाङ्गग्रहणं कार्यम्। न कार्यम्; असम्प्रसारणत्वात् अन्योऽयं सम्प्रसारणा-सम्प्रसारणयोः स्थाने एक आदिश्यते। यदि नेदं सम्प्रसारणम्। 'हलः' (६।४।२) इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति। वचन-प्रामाण्याद्भविष्यति' इति। 'न सम्प्रसारणे' (६।१।३७) इति निषेधोऽपि वचनप्रामाण्यात्पूर्वरूपोत्तरम्। न च यु उ अन् अस् इति स्थितेऽन्तरङ्गत्वा-द्दीर्घे पूर्वरूपं न स्यादिति वाच्यम्, अन्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वेनेहा-प्रवृत्तेः। न चैवं पत्र सवर्णदीर्घोत्तरं 'सम्प्रसारणे' (६।१।३७) इति निषेधो न स्यादिति वाच्यम्, 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इति स्थानिवत्त्वादिति दिक्।

वा द्रुह। द्रुह को घत्व प्राप्त था अन्य को अप्राप्त था। इसलिये दोनों स्थानों में विभाषा है। इग्यणः। यणः स्थाने इति। अदुहितराम्, इत्यादि प्रयोगों में लकार के स्थान में उत्तमपुरुष के एक वचन में इट् करने पर उसके सम्प्रसारण होने से 'हलः' से दीर्घ हो जाना चाहिये (क्योंकि यण् लकार के स्थान में इकार इक् हुआ है) यथा संख्य मानने से दोष नहीं है अर्थात् य् व् र् ल् के स्थान में क्रम से इ, उ, ऋ, लृ होने चाहिये। यहाँ ल के स्थान में इकार है, यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'ऋ, लृ क्' सूत्र के भाष्य में लृकार का उपदेश क्यों किया यह शंका की है, उससे विरोध होता है। विधायक सूत्रों में 'यण् इक्' (यण् को इक् हो कहने से कार्य सिद्ध था, फिर संज्ञा करने से तद्भावित पक्ष का आश्रयण करने से कोई दोष नहीं हैं अर्थात सम्प्रसारण का नाम लेकर जहाँ सम्प्रसारण हो। वाक्यस्य संज्ञा, इस पक्ष में भाष्य में सम्प्रसारण इत्यादि में सम्प्रसारण के नाम से जो होता है उसका ही सम्प्रसारण ग्रहण से ग्रहण होता है। उसकी एक वाक्यता के लिये इस पक्ष में भी तद्भावित संज्ञा की ही संज्ञा उचित है। इससे द्युभ्याम् में दीर्घ नहीं होता है अन्यथा यहाँ वकार के स्थान में उकार सम्प्रसारण था। इसी से अक्षद्युरुण में भी पूर्व रूप नहीं होता है, समान अंग में पूर्व रूप होता है। यहाँ दो अंग है यह कहना भी व्यर्थ है। क्योंकि समान अंग ग्रहण का भाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया है। इसमें भाष्य प्रमाण देते हैं। शकहृर्थ में पूर्वरूप के

अभाव के लिये समान अंग ग्रहण करना चाहिये। नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह सम्प्रसारण नहीं है। यह तो सम्प्रसारण और असम्प्रसारण के एकादेश होने पर अन्य ही है। यदि यह सम्प्रसारण नहीं है तो हलः से दीर्घ भी नहीं होगा। वचन प्रामाण्य से हो जायेगा 'न सम्प्रसारणे' यह निषेध भी सूत्र आरम्भ के कारण पूर्व रूप के पश्चात ही होता। अब यहाँ शंका होती है कि यु, उ, अन्, अस् ऐसी स्थिति में अन्तरंग होने से दीर्घ करने पर पूर्व रूप नहीं होना चाहिये। उत्तर, अन्तरंग परिभाषा के अनित्य होने से उसकी यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है। अब यूनः में सवर्णदीर्घ के अनन्तर 'न सम्प्रसारणे' से निषेध नहीं होना चाहिये, यह शंका भी उचित नहीं है, 'अचः परस्मिन्' सूत्र से स्थानिवत् भाव करने से उसमें प्रसारण आ जाता है।

वाह ऊठ् (६।४।१३२)। 'भस्य' (६।४।१२९) इत्यधिकारः। 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६।४।१३१) इत्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्त्तते, तच्चोठो विशेषणम्। तेन 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इति न। तदाह— भस्येत्यादि। ह्रस्व उठ् न कृतः वृद्ध्यनापत्तेः। वृद्धिविधावपि ह्रस्वग्रहणे 'जनौः' इत्याद्यसिद्धिः। 'च्छ्वोः शूड्' (६।४।१९) इत्यत्रापि ह्रस्वकरणे 'अक्षद्यूः' इत्याद्यसिद्धिः, अतद्भावित्वेन तस्यासम्प्रसारणत्वाद् 'हलः (६।४।२) इति दीर्घाप्राप्तेः।

सम्प्रसा (६।१।१०८)। 'अमि पूर्वः' (७।१।१०७) इत्यतः पूर्वं इति 'इको यण्' (६।१।७७) इत्यतः अचीति, 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८४) इति चानुवर्तते तदाह—सम्प्रसारणादचीत्यादि। ऊठष्ठित्त्वम् 'एत्येधति' इत्यत्र विशेषणार्थम्।

वाह ऊठ्। भसंज्ञा का अधिकार है 'वसोः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण की अनुवृत्ति होती है। इन सबके योग से भसंज्ञक वाह को सम्प्रसारण ऊठ् होता है यह अर्थ होता है। ह्रस्व ऊठ् का विधान नहीं किया, क्योंकि वृद्धि नहीं होती, वृद्धि विधायक सूत्र में ह्रस्व करने पर जनौ की सिद्ध नहीं होती, 'च्छ्वोः शूड्' में ह्रस्व करने से अक्षद्यूः की सिद्धि नहीं होती क्योंकि सम्प्रसारण के नाम से विधान न होने से शूट् सम्प्रसारण नहीं है। अतः उसको 'हलः' से दीर्घ होने की सम्भावना नहीं है।

सम्प्रसा ।। 'अमि पूर्वः' से पूर्व की 'इकोयणचि' से अचि की और 'एकः पूर्व परयोः' की अनुवृत्ति होती है। इसलिये कहते हैं। सम्प्रसारण से अच् परे पूर्वरूप एकादेश होता है। ऊठ् का ठित्व 'एत्येधति' में विशेषण के लिये है।

छन्दस्येवेति। छन्दसीत्यनुवर्त्तमाने 'वहश्च' (३।२।६४) इत्यनेनेति भावः। णिजन्ताद्विजिति। अनेन लोके विश्ववाट्शब्दस्य साधुत्वमात्र-

मुच्यते, न त्वस्योठ्; (१) णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात्, (२) अङ्गभसंज्ञाक्षिप्तप्रत्ययेन वाहो विशेषणात्। विज्ग्रहणं क्विपोऽप्युपलक्षणम्। 'वाच्यादिभ्यो विहिते किति इति व्याख्यानस्य 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इत्यत्र काम्यच्सूत्रे च भाष्ये उक्तत्वेन ण्यन्तात्क्वौ सम्प्रसारणाप्राप्तेः, प्रतिपदोक्ततया क्विशब्दमुच्चार्य विहितविधेरेव 'क्वौ विधिं प्रति न स्थानिवत्' इत्यत्र ग्रहणेन णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाच्च। तेन काम्यच्सूत्रोक्तविहित विशेषणपक्षतदितरपक्षयोर्न फलभेदः। वस्तुतो 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' (४।३।२४) इति 'प्रष्ठौह आगतं प्रष्ठवाड्रूप्यम्' इति भाष्ये लौकिकविग्रहवाक्ये 'प्रष्ठौहः' इति प्रयोगादन्यत्रापि ण्विः। तदुक्तम्—इति पक्षे इति।

छन्दस्येवेति। छन्दसि की अनुवृत्ति होने से 'वहश्च' से प्रत्यय होता है। णिजन्ताद्विजिति। इससे लोक में विश्ववाट् शब्द की सिद्ध ही कही है। इसको अठ् नहीं होता; क्योंकि क्विजिलोप का स्थानिवद्भाव हो जाता है। अंग भ संज्ञा से आक्षिप्त प्रत्यय से वाह का विशेषण है। विच्, क्विप् का भी उपलक्षण है। क्विप् प्रत्यय करने से संप्रसारण हो जायेगा; ऐसी शंका उचित नहीं है; क्योंकि वच्यादियों से विहित कित् के परे संप्रसारण होता है, ऐसी व्यवस्था 'अचः परस्मिन्' तथा काम्यच् सूत्र में भाष्यकार ने की है। इसलिए ण्यन्त से क्विप् करने पर संप्रसारण की प्राप्ति नहीं है (यहाँ ण्यन्त से प्रत्यय विहित है वच्यादि से नहीं) और यहाँ णिलोप के स्थानिवद् भाव होने से भी संप्रसारण की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि णिच् का व्यवधान हो जायेगा। 'क्वौ विधि प्राप्ति न स्थानिवत्' की तो यहाँ प्राप्ति ही नहीं है। क्योंकि प्रतिपदोक्त परिभाषा के बल से क्विप् शब्द को उच्चारण करके विहित कार्य में ही वह निषेध प्रवृत्त होता है। वस्तुतः 'विभाषापूर्वाह्णा' सूत्र में प्रष्ठौह आगतम् प्रष्ठवाड्रूप्यम्। इस भाष्य में लौकिक विग्रह वाक्य में प्रष्ठौहः प्रयोग के देखने से अन्यत्र भी ण्वि प्रत्यय होता है। इसीलिए सूत्र में लिखा है—इतिपक्षे इति।

चतुरनडु (७।१।९८)। 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) इत्यतः सर्वनामस्थाने इति वर्त्तते।

(३)सावन (७।१।८२)। 'आच्छीनद्योः' (७।१।८०) इत्यतो नुननुवर्त्तते, आदिति च। तदाह—आदित्यधीति। विशेषविहितेनेति। यासुटा सीयुडिवेत्यर्थः। न बाद्ध्यते इति। उपजीव्यत्वादिति भावः। अमा चेति। 'अम्सम्बुद्धौ' (७।१।११९) इति विशेषविहितेनामेत्यर्थः, नुम उपजीवकत्वेन विरोधाभावात्, ततः आक् तस्याप्राप्तेश्चेति भावः। क्वचित्तु 'आमा च नुम्न बाध्यते इति पाठः। तत्रायमर्थः। 'बह्वनड्वांहि' इत्यादौ 'नपुंसकस्य'

(७।१।७२) इति नुम् परत्वादामाबाद्ध्येत, पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्तु न बाद्ध्यत इति । दत्वं नेति । 'अनड्वांस्तत्र इत्यत्र रुत्वं भवत्येव, तत्रोपदेश-वैयर्थ्याभावात् । संयोगान्तलोपस्येति । हस्थानिकस्येत्यर्थः । एवञ्च नस्य प्रातिपदिकान्तत्वाभाव इति भावः । अनड्वानिति । अनः शकटं वहतीत्यर्थे वहेः क्विबनसि, अनसो डश्च, यजादित्वात्सम्प्रसारणम् ।

चतुरनडु । इस सूत्र में 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से सर्वनाम स्थान की अनुवृत्ति होती है ।

सावन । 'आच्छीनद्योः' से नम् और आत् की अनुवृत्ति होती है। वहीं लिखा है आदित्याधीति । विशेषविहितेनेति । जैसे यासुट् सीयुट् का बाधन ही करता है । 'न त्राद्धयते इति' उजीव्य होने से । अमाचेति । 'अम्सम्बुद्धौ' । सूत्र से विशेषविहित अम् से यह अर्थ है । नुम् के उपजीव्य होने से विरोध का अभाव है । उससे पूर्व उसकी प्राप्ति भी नहीं है । कहीं तो 'आमा च नुम् न बाद्धयते' पाठ है । उसका यह अर्थ है । वहन-ड्वाहि में 'नपुंसकस्य' विहित नुम् पर आम् से बाध लिया जाय । पुनः प्रसंगविज्ञान (पुनः प्राप्त होने से) से बाध नहीं करता है । दत्वंनेति । अनड्वां सूत्र में रुत्व तो होगा ही । क्योंकि उसके करने से उपदेश व्यर्थ नहीं हैं । संयोगान्तलोपस्येति । हकार का जो संयोगान्त लोप हुआ है; हकार के आने से नकार प्रातिपदिक का अन्त नहीं रहता है । अनड्वानिति । अनः शकट अर्थात् गाड़ी को ले जाय, वह धातु से क्विप् प्रत्यय और अनस् से सकार को डकार करने से उक्त प्रयोग की सिद्ध होती है, यजादि होने से सम्प्रसारण होता है ।

ननु 'हे अनड्वन्' इत्यत्र सम्बुद्धिलोपेऽवश्यं प्राप्ते अभ आरम्भाद-मोऽपवादत्वेन तद्विषये सम्बुद्धिलोपानापत्तिः । विषयभेदेऽप्यचिरादेशस्य नुडपवादत्वमाशङ्कितं सप्तमे भाष्ये; इति चेत् ? न । प्रत्ययलोपविधायकैः प्रत्ययानुत्पत्तेरेवान्वाख्यानेनापवादत्वस्यैवसम्भवात् । ध्वनितञ्चेदं प्रत्यय-लक्षणसूत्रे भाष्यकैयटयोः । एवमेव 'अतृणेट्' 'अनड्वान्' इत्यादेस्तत्सूत्रो-दाहरणत्वमु(१)पपद्यते इति दिक् ।

सहेः सा (८।३।५६) ।'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) इत्य-धिक्रियते । लोके त्विति । एतेन, तुराषाण्मेघवाहनः' (अ० को० १।१।४७) इति व्याख्यातम् । 'नहिवृति' (६।३।११६) इत्यनेन क्विबन्तसहावेव दीर्घविधानादाह—अन्येषामपीति ।

अब यहाँ शंका होती है कि 'हे अनड्वन' में सम्बुद्धि लोप की अवश्य प्राप्ति में अम् का विधान होता है इसलिए अम् अपवाद होता है इसलिए उक्त प्रयोग में सम्बुद्धि

लोप नहीं होना चाहिये। विषय ऐक्य में बाध्य बाधक भाव होता है, विषय भेद से नहीं यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है। विषय भेद में भी अचिरादेश नुट् का अपवाद है ऐसी शंका सप्ताहिक में भाष्य ने की है। (तिसृणाम् में नुट् आम् को प्राप्त होता है रादेश ऋकार को प्राप्त होता है इसलिए भेद स्पष्ट ही है) उक्त शंका का उत्तर करते है। प्रत्यय का लोप करने वाले सूत्रों का तात्पर्य प्रत्यय की उत्पत्ति न होने से है। अतः अपवादत्व का विचार करना ही व्यर्थ है। यह विषय प्रत्यय लक्षण सूत्र के भाष्य कैयट में स्पष्ट है इसी तरह 'अनड्वान' अतृणेट भी उस सूत्र के उदाहरण हो सकते है। सहेः सा। "अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः" का अधिकार आता है। लोकेत्विति। इससे "तुराषाण्मेघवाहनः" यह अमर भी ठीक हुआ। 'नहिवृति' सूत्र क्विबन्तसहि में प्रवृत्ति होता है इसलिए मूल में 'अन्येषामपि' से दीर्घ किया।

दिव औत् (७।१।८४) ननु विधेयविषये उच्चारणार्थानामपीत्संज्ञोचिता; अन्यथा तान्तस्य विधानमित्यस्याप्यापत्तेः। ध्वनितञ्चेदमदड्सूत्रे भाष्ये। तत्र हि डित्वाभावेऽदादेशे पूर्वसवर्णदीर्घमाशङ्क्यानुनासिकोपधत्वादिति समाहितं, (२) न तूच्चारणार्थत्वादिति। किञ्च द्वितीयवर्णोच्चारणे सहायकसम्पादनेन चरितार्थेषु तत्र तत्र विशेषणार्थेष्विव हलन्त्यसूत्राप्रवृत्तौ मानाभावः। अत एव 'तस्य लोपः' (१।३।९) इति सूत्रेऽनुबन्धानामेकान्तत्वपक्षे 'दिव औत्' (७।१।८४) इत्यादीनां सर्वादेशत्वापादनं भाष्ये कृतम्। 'तित्स्वरितम्' (६।१।१९५) इति सूत्रे च भाष्ये। 'तिति प्रत्ययग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति वार्त्तिकस्य 'द्युभ्याम्' इत्यादौ तदभावः फलमित्युक्तम्। दित्वमाश्रित्य च प्रत्याख्यातं तदित्यन्यत्। किञ्चाऽऽदेशेषु सर्वत्र तकाराणामुच्चारणार्थत्वेनेत्संज्ञकत्वाभावात्तिति प्रत्ययग्रहणं व्यर्थमेव स्यात्। तथा विधेयविषय उच्चारणार्थानामप्यनुनासिकत्वेनेत्सञ्ज्ञा। अत एव 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६७) इत्यत्रावृक्तग्रहणाभावे 'दर्विः' इत्यत्रा लोपमाशङ्क्यानुनासिकपरस्य वेर्ग्रहणमिति भाष्ये उक्तम्। अत एव 'इदितो नुम्' (७।१।५८) इति सूत्रे भाष्ये धातोरित्यस्याभावे सिच इदित्वाद् 'अभैत्सीत्' इत्यादौ नुममाशङ्क्य सजादेशकरणेन समाहितं, न तु सिच इकारस्योच्चारणार्थत्वादित्याभावेन। ल्युडादावुकारस्यानाकाभ्यामेव निवृत्तेरिति न तस्येत्संज्ञा, अनुनासिकत्वाभावात्। अत एव नन्द्यादिभ्यो ल्युप्रत्यये 'नन्दना' इति टाबन्तप्रयोगो 'गाङ् लिटि (२।४।४९) इतिसूत्रे भाष्ये। 'ल्युः कर्त्तरि पुंसि' इति त्वमरस्य प्रमादः।

दिव औत् ॥ विधेय विषय (जहाँ किसी वस्तु का विधान होता है) में उच्चारणार्थकों की रासंज्ञा करना उचित है नही तो तान्त का विधान होने लगेगा। यह विषय अद्ड् सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। भाष्य में लिखा है डित्व के अभाव में अदादेश करने पर पूर्व सवर्ण दीर्घ की आशंका कर अनुनासिकोपथ होने से नहीं होता है यह समाधान किया उच्चारणार्थक है यह नहीं किया। और द्वितीय वर्ण के उच्चारण में सहायता करके चरितार्थं विशेषण के लिए किये गये वर्णो की तरह हलन्त्य सूत्र की अप्रवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् उच्चारणार्थो में भी इत्संज्ञा होगी। इसीलिये 'तस्य लोप:' सूत्र में अनुबन्ध अवयव वाले होते है इस पक्ष में 'दिव औत' इत्यादि को में सवदिशत्व की शंका भाष्य में की है। "तित्स्वरितम्" सूत्र के भाष्य में भी तिति प्रत्यय ग्रहण कर्त्तव्यम् (तित् प्रत्यय लेना) वार्तिक का द्युभ्याम् में स्वरित न होना फल कहा है। दित्व मानकर उसका प्रत्याख्यान कर दिया है यह दूसरी बात है और आदेशों सर्वत्र तकार उच्चारणार्थक ही होता तो इत्संज्ञक नहीं होता तो वार्तिक में प्रत्यय ग्रहण ही व्यर्थ था। इसलिए विधेय स्थल में उच्चारणार्थ को भी अनुनासिक होने से इत्संज्ञा होती है। इसी से "वेरप्रक्तस्य" सूत्र में अपृक्त ग्रहण के अभाव में दर्वि में लोप की आशंका कर अनुनासिक है परे जिससे ऐसे विका ग्रहण करना चाहिए। यह समाधान भाष्य कार ने दिया। अतएव "इदितो नुम् धातो:" सूत्र के भाष्य में धातु के अभाव में सिच् के इदित् होने से अभैत्सीत् में नुम् की आशंका कर सजादेश का विधान कर समाधान किया। सिच् इकार उच्चारणार्थक होने से इत्संज्ञक नही है यह समाधान नहीं किया। ल्युट्व्बुल् आदि प्रत्ययो' में क्रम से अन अक आदेश होने से ही डकार की निवृत्ति हो जाती इसलिये इत्संज्ञा नही होती। क्यों कि अनुनासिक नहीं है। इसी से नन्दना में ल्यु प्रत्यय करने पर भी टाप् ही होता है' (उगितश्च डीप् नहीं) यह विषय 'गाङ् लिटि' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है अमर कार ने ल्यु प्रत्यय कर्त्ता में और पुल्लिग में होता है लिखा है वह उनका प्रमाद है।

अनुवादविषये तु हलन्त्यसूत्रभाष्योक्तरीत्या तेषां व्यवसितान्त्यत्वाभावेन फलाभावेन चेत्संज्ञाशास्त्राप्रवृत्तेरुच्चारणार्थवर्णसहितसमुदायस्यतद्रहिते लक्षणा। विधौ तु नोचिता सा, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति न्यायात्। 'णौ गमि:' [२।४।६] इत्यादीनां नुम् तु न, स्थानिवद्भावेन भाव्यातिदेशिकधातुत्वं गृहीत्वेक: सत्त्वात्। 'गमेरिड्' [७।२।५८] इतिवच्च नोपधालोप:। अत एव सुबुत्पत्ति:। अन्यथा 'हनो वध लिङि' [२।४।४२] इतिवत् सा न स्यात्। 'अस्तेर्भू:' [२।४।५२] इत्यत्रापि निर्विसर्ग एव पाठ इति केचित्। एवञ्चात्र 'तित् स्वरितम्' [६।१।१९५] इति स्वरि-

त्तापत्तिरिति चेत् ? न, दिव इकारस्योदात्तत्वेन स्वसनर्धर्मिणो हलः स्थाने जायमानौकारस्यानुदात्तत्वेनेकारस्य यणि 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' [८।२।४] इति स्वरितसिद्ध्या फलाभावात् तिति प्रत्ययग्रहणं कर्त्तव्यमिति वार्तिकेन तदप्राप्तेश्च । अन्तोदात्तं द्यौरिति तु द्योशब्दस्य बोद्ध्यम् ।

अनुवाद के विषय में तो 'हलन्त्यम्' सूत्रस्थ भाष्य की रीति से व्यवसितान्त्य (धातु प्रातिपदिकादि) न होने से और फल के अभाव में इत्संज्ञा शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये उच्चारणार्थ वर्ण सहित समुदाय की उच्चारणार्थक वर्ण रहित में लक्षणा है। विधेय विषय में लक्षणा नहीं होती है। क्योंकि लिखा है कि विधेय स्थल में लक्षणा (परः शब्दार्थ) नहीं होती है। 'णौ गमिः' इत्यादि स्थल में नुम् नहीं होता है। स्थानिवद्भाव से भावी अतिदेशिक धातु मानकर इक् है। 'गमेरिड्' की तरह उपधोलोप भी नहीं होता है। ऐसी विभक्ति भी आती है नहीं तो 'हनो वध लिङि' में वध में जिस तरह विभक्ति नही है उस प्रकार यहाँ भी नहीं होती। 'अस्तेर्भूः में विसर्ग रहित पाठ है यह किन्हीं का मत है पूर्वोक्त विशद विचार से यह स्टष्ट हो गया है कि उच्चारणार्थों की इत्संज्ञा होती है, अब औत् की तित् होने से स्वरित होना आवश्यक है। उत्तर देते है कि दिव् में इकार उदात्त है वकार के स्थान में होने वाला औकार अनुदात्त है क्योंकि स्थानी का धर्म आदेश में आता है इकार को यण् करने पर 'उदात्तस्वरितयोरणः' से औकार स्वरित् हो जाता है (उदात्त या स्वरित के स्थान में जो यण् उससे परे अनुदात्त को स्वरित होता है यह उस सूत्र का अर्थ है) प्रकृति में उदात्त इकार के स्थान में यकार यण् से परे अनुदात्त औकार स्वरित सिद्ध होता है। फल के न होने से इत्संज्ञा नही होती है। तित् प्रत्यये ग्रहणम् कर्तव्यम् इस वार्तिक से उसकी प्राप्ति भी नहीं है। अन्तोदात्तधौः जो शब्द का है।

अल्विधित्वेनेति । 'अनल्विधौ इत्यत्र पञ्चमीसमासस्याप्याश्रयणा-दिति भावः । पदान्त इति । 'एङः पदान्ताद्, [६।४।६९] इत्यनुवृत्तस्य विभक्तिविपरिणाम इति भावः । अयमुकारोऽन्तोदात्तो निपात्यते । तेन 'द्यु-भिरक्तुभिः' इत्यादौ पठ्यमानमन्तोदात्तत्वं सिद्धम् । अत्र यथा 'हलः' [६।४।२] इति । दीर्घो न, [१] तथा उक्तम् । उतस्तपरत्वन्तु 'भाव्य-मानोऽप्युकारः सवर्णग्राहकः' [प० भा० २०] इत्यर्थ[२]ज्ञापनार्थमिति 'तित्स्वरितम्' [६।१।१९५] इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । 'द्युभ्याम्' इत्यत्र उठ् न, क्ङितीत्य[१]नुवृत्तेः । यत्तु अस्मात्तपरत्वात् 'कुरुतः' इत्यादावु-दिति तपरत्वाद् गुणाभावो यथा स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये उक्तः, तथा प्रकृते दीर्घाभाव इति कैयटः तद् एतेन [२]परास्तम्, दीर्घस्य बहिरङ्गतया तेन

व्यावृत्तेरशक्यत्वाच्च । अत एव 'ऋत् इत्' [७।१।१००] इति तपरत्वेन चिकीर्षति' इत्यादौ 'हलिच' [८।२।७७] इति दीर्घस्य न व्यावृत्तिः । अत एव 'द्यूषः इत्यादौ 'चौ' [६।३।१३८] ऐति दीर्घसिद्धिः ।

अल्विधित्वेनेति । 'अनल्विधौ' सूत्र में अलः विधि ऐसा पंचमी समास का भी आश्रयण किया है । प्रकृति में वकार का हलन्तत्व औकार में लाकर उससे परे सकार का लोप हल्यादि सूत्र से प्राप्त होता है परन्तु उक्त निषेध से नहीं होता है ।

पदान्त इति । 'एङः पदान्ताद्' से अनुवृत्ति पंचमम्यन्त का सप्तम्यन्त में विपरिणाम करते है यह उकार अन्तोदात्त निपातन होता है । इसी से 'द्युभिरवतुभिः' में दीर्घ नही होता है । यह पूर्व में ही लिख चुके हैं, अर्थात् तद्भक्ति पक्ष का आश्रयण होता है । उत् का तपर 'भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्ण ग्राहकः' परिभाषा के ज्ञापन के लिये है । विधीयमान भी उकार सवर्ण का ग्राहक होता है । 'तित्स्वरितम्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ।

द्युभ्याम् में ऊठ् नहीं होता है, क्योंकि ऊठ् विधायक सूत्र में कङित की अनुवृत्ति होती है किसी का कथन है कि कुरुतः में उत के तपरकरण से जैसे गुण नहीं होता है, उसी प्रकार यहाँ भी तपरकरण से दीर्घ नही होता है, यह कैयट का कथन पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध है । दीर्घ बहिरंग है अतः तपरकरण से उसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती है इसी से 'ऋत् उत' में तपर होने पर भी चिकीर्षित में 'हलि च' से दीर्घ होता है । और द्यूचः में 'चौ' से दीर्घ होता है ।

षट्चतु (७।१।५५) । रेफान्तस्य षट्संज्ञैव तु न कृता, 'चत्वारः' इत्यत्र लुगापत्तेः तत्र 'रो न' इत्युक्तौ तु (३) पदलाघवाभावः । केचित्तु षडित्यादि षडाद्यर्थपरम्, अर्थात्परत्वान्नामः शब्दद्वारकम्, सचार्थः प्रधान एवेति न गौणेऽतिप्रसङ्ग इति; तन्न, शब्दद्वारकमित्यस्य शब्दनिष्ठपरत्वाद्य-वधित्वस्य परत्वस्य वा अर्थे आरोप इत्यर्थः । एवञ्च गौणत्वात्तत्र सम्बन्धे तन्निरूपितसम्बन्धे च न विभक्तिः । परम्परासम्बन्धेनान्वय इत्यपि न, प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः साक्षात्सम्बन्धेन क्लृप्तस्यान्वयस्य भङ्गापत्तेः । अत एव 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गौणाधारादावधिकरणत्वादिनिमित्ता विभक्तिः स्वरितत्वप्रतिज्ञादिना भाष्ये साधिता । अत एवेदृशस्थले षष्ठयपि न । अत एव स्त्रियाः पुंवत्' (६।३।३४) इति सूत्रे स्त्रिया इत्यर्थग्रहणमिति पक्षे भाष्यकृतोक्तं 'भाषितपुंस्कानुपपत्तिश्च, न ह्यर्थेन पौर्वापर्यमस्ति' इति । दिक्शब्दयोगे इत्यस्य दिक्शब्दार्थान्वियभूतेऽवधित्वादौ सम्बन्धे पञ्चमी-त्यर्थः । स च सम्बन्धो मुख्य एव साक्षात्सम्बन्ध एव च ग्रहीतुमुचित इति दिक् ।

षट्चतु । रेफान्त की षट् संज्ञा तो नहीं की क्योंकि रेफान्त षट् संज्ञा होने से 'चत्वारः' में त्रिभक्ति का लुक् होने लगता है । वहाँ 'रो न' (रेफ से परे लुक् नहीं होता है) कहने में पद लाघव नहीं है । प्राचीनों का कहना है कि षडादि अर्थ परक है । अर्थ से परे आम् शब्द के द्वारा मिलेगा । वह अर्थ प्रधान ही लिया जाता है । इसलिये गौण में नहीं होता है । परन्तु यह उनका कथन उचित नहीं है । शब्द द्वारकम् का अर्थ शब्द में रहने वाली परत्वादि अवधि या परत्व का अर्थ आरोप होना है । इस प्रकार गौण होने से उस सम्बन्ध में या तन्नरूपित सम्बन्ध में विभक्ति नहीं होगी । परम्परा सम्बन्ध से अन्वय स्वीकार करना भी उचित नहीं है । क्योंकि प्रकृति प्रत्यार्थ का साक्षता सम्बन्ध से अन्वय होता है यह निश्चित नियम भंग हो जावेगा । इसी से गंगायाम् घोषः इत्यादि गौणआधार में अधिकरणत्व निमित्तक सप्तमी विभक्ति स्वरितत्व प्रतिज्ञा से भाष्य में सिद्ध की है । स्वरित से अधिक को कार्य होता है यह उसका अर्थ है । इसी से गौण स्थल में षष्ठी भी नहीं होती है इसी 'स्त्रियाः पुंवत्' सूत्र में स्त्री से अर्थ ग्रहण करने पर भाषित पुंस्क नहीं होगा क्योंकि अर्थ से पौर्वापर्य नहीं है ऐसा भाष्यकार ने कहा है । दिक् शब्द योगे का दिक् शब्दार्थ के अन्वय भूत अवधित्वादि सम्बन्ध में पंचमी होता है । वह सम्बन्ध मुख्य और साक्षात् ही ग्रहण करना उचित है ।

णत्वं द्वित्वमिति । ननु—'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति णत्वात्पूर्वमेव द्वित्वं युक्तम्, 'वाक् वाक्क्' इतिभाष्योदाहरणसिद्धये वर्णद्वित्वेऽपि तत्प्रवृत्तेरावश्यकत्वात् । अन्यथा चर्त्वस्यासिद्धत्वात्[४]गस्यैव द्वित्वेऽन्यस्य चर्त्वे पूर्वत्र गश्रवणापत्तिः । अवसाने चर्त्वस्यासिद्धत्वात् खर्परत्वाभावेन तस्य चर्त्वसम्भावनाऽपि न । [१]न च कस्य द्वित्वेऽपि अवसाने चर्त्वस्यासिद्धत्वाग्दकारे झशि परे पूर्वस्य जश्त्वे उक्तरीत्यैव चर्त्वाभावे गश्रवणं दुर्वारमिति वाच्यम्, 'न मु ने' [८।२।३] इतिवत् 'पूर्वत्रासिद्धीयम्' इत्यस्य द्वित्वे कृतेऽपि प्रत्यासत्त्या द्वित्वाश्रयस्य कार्य्ये कर्त्तव्येऽसिद्धत्व नेत्यर्थं इति न दोषः । एतेन 'द्वित्वे परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यं संय्यन्तेत्वत्र त्रियकारकत्वार्थम्' इतिवचनसामर्थ्येन वर्णद्वित्वे तदप्रवृत्तिरित्यपास्तम् । एतदवयुत्यानुवादरूपत्वात्;—इति चेत् ? न, पूर्वत्रासिद्धीयमित्यस्य द्वित्वे कर्त्तव्येऽन्यदसिद्धं नेत्येवार्थो न तु द्वित्वस्याप्यसिद्धत्वं नेति तदर्थं इति णत्वोत्तरमेव द्वित्वमिति भावः ।

णत्वं द्वित्वमिति । अब यहाँ शंका होती है कि 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' (द्वित्वभिन्न में पूर्वत्रा सिद्धम होता है) के द्वारा सत्व से पूर्व ही द्वित्व होना उचित है । वर्ण द्वित्व

में उस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वाक्, वाक्क् भाष्योदाहरण सिद्ध के लिए उसकी प्रवृत्ति आवश्यक है नहीं तो चर्त्व के असिद्ध होने से गकार को द्वित्व करने पर अन्त्य गकार को चर्त्व से वकार होने पर भी पूर्व में गकार का श्रवण होने लगेगा। अवसान में चर्त्व के असिद्ध होने से खरपरे के अभाव में पूर्व को चर्त्व की सम्भावना भी नहीं है। ककार को द्वित्व करने पर भी अवसान में चर्त्व के असित होने से झशि गकार के परे पूर्व को जश्त्व होने पर पूर्वोक्त रीति से चर्त्व के अभाव में गकार का श्रवण ही होगा। "न मुने" की तरह 'पूर्वत्रा-सिद्धीयम्' का द्वित्व करने पर भी सामीप्य से द्वित्वाभय को कार्य करने में असिद्धत्व नहीं होता है, इस अर्थ से दोष नहीं है। इससे द्वित्व करने में पर सवर्ण करना चाहिये। संय्यन्ता में तीन यकार वाला रूप सिद्ध करने के लिए इस वचन से वर्ण द्वित्व में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है यह कथन भी व्यर्थ है। क्योंकि वह उसके अवयव का अनुवाद है। अब यह सिद्ध होना था कि णत्व से पूर्व ही द्वित्व होना चाहिए उत्तर पूर्वत्रासिद्धीयम् का द्वित्व करने में अन्य असिद्ध नहीं होता है केवल इतना ही अर्थ है। द्वित्व असिद्ध नहीं होता है। यह अर्थ नहीं है। प्रकृति में द्वित्व के असिद्ध होने से णत्व ही पूर्व में होता है। इसलिए णत्वं द्वित्वम् जो मूल में लिखा है वह ठीक है।

(२) रोः सुपि: (८।३।१६)। अत्र खरीत्यनुवर्त्तते। तेन सप्तमी-बहुवचनमेवात्र सुप्। एवञ्च 'खरवसानयोः' (८।३।१५) इति सिद्धे इतरनिवृत्तिफलक एवैष विधिरित्याह—रोरेवेति। विपरीतनियमस्तु न, हलोऽनन्तराः संयोगः' (१।१।७) इति निर्देशात्। द्वित्वे इति। 'अचो रहाभ्याम्' (८।४।४६) इत्यनेन।

'अचो रहा' (८।४।४६) इत्यतो द्वे इति, 'नादिनी' (८।४।४८) इत्यतो नेति च वर्त्तते। तदाह—न द्वे स्त इति। 'झरो झरि' (८।४।६५) इति लोपस्तु वैकल्पिकः।

प्रियचत्वार इति। आङ्गत्वात्तदन्तत्यापि 'चतुरनडुहोः' (७।१।९८) इति आम्। गौणत्वे त्विति। (१) अत्र यद्वक्तव्यं तत् 'नामि' (६।४।१) इत्यत्रोक्तम्। यत्तु—'ष्णान्ता' (१।१।२४) इत्यत्र संख्यापदानुवृत्तेः, तस्य च संख्याबोधकशब्दपरत्वात्प्रधानन्यायेन संख्यारूपार्थस्यानुपसर्जनस्यैव ग्रहणेनोपसर्जने षट्त्वमेव न। संख्यापदेन च संख्येयमुच्यते। अतः संख्येय-परपञ्चादौ तस्य प्राधान्यात् सज्ञा सिद्धा। यद्वा, षडित्यन्वर्था संज्ञेति न गौणे सा,—इति तन्न, 'प्रियपञ्चा द्रौपदी' इत्यत्र 'न षड्' (४।१।१०) इति (२) डाब्निषेधानापत्तेः, आकडारसूत्रे भाष्येऽस्या डुसञ्ज्ञया व्यवहाराच्च,

सर्वनामसञ्ज्ञावदत्रोपसर्जनप्रतिषेधानारम्भाच्च' सर्वनामसञ्ज्ञासूत्रस्थेन 'षड्भ्यः' (७।१।२२) इति सूत्रविषये भाष्येण विरोधापत्तेश्चेत्यलम् ।

रोः सुपि । इस सूत्र में खरि की अनुवृत्ति आती है । इसलिए सप्तमी का बहुबचन ही सुप्ग्रहण करना । प्रकृति में 'खरवसानयोः' से कार्य सिद्ध हो जाता फिर यह सूत्र इतर व्यावृत्ति के लिये है जैसा कि लिखा है– रारेवेति । रुको यदि विसर्ग हो तो सप्तमी के बहुबचन में हो ऐसा विपरीत नियम नहीं होता है इसमें "हलोऽनन्तराः संयोगः" यह निर्देश ही प्रमाण है । यहाँ सुऔर जस् में विसर्ग हो रहे है । द्वित्वेइति । 'अचोरहाभ्याम्' से द्वित्व होता है ।

"अचोरहाभ्याम्' रे द्वे की 'नादिन्या' सूत्र से नकार की अनुवृत्ति होती है इसी से मूल में लिखा है ।- नछेस्तइति । 'झरो-झरि' से लोप तो विकल्प से होता है

प्रियचत्वार इति । अंगाधिकार होने से तदन्त को भी प्रिय चतुरनडुहो से आम् होता है । गौणत्वेत्विति । यहाँ पर जो कुछ कहना था वह 'नामि' सूत्र की व्याख्या में कह चुके है किसी का कथन है । कि 'ष्णान्ता' सूत्र में संख्या पद की अनुवृत्ति होती है । वह संख्याबोधक शब्द परक है प्रधान और अप्रधान में प्रधान में ही कार्य होता है इस सिद्धान्त में संख्या रूप अर्थ अनुपसर्जन का ही ग्रहण करने से उपसर्जन में षट् संज्ञा ही नही है । संख्या पद से संख्येय कहा जाता है । इससे संख्येय परक पंच्चादिशब्द की प्रधान होने से संज्ञा सिद्ध होती है अथवा षट् यह अन्वर्य संज्ञा है । इसलिए गौण में प्रवृत्ति नहीं होती है । परन्तु यह उनका कथन उचित नही है क्योंकि उक्त सिद्धान्त स्वीकार करने पर प्रियपञ्चा द्रौपदी में न षड्' से डाप् का निषेध नहीं होता है । क्यों प्यारे है पाँच है जिसको इस विग्रह में पंचगौण है और आकडार सूत्र के भाष्य में इसका डु संज्ञा से व्यवहार किया है जिस तरह सर्वनाम् संज्ञा में संज्ञोपसर्जनी भूतास्तु न सर्वादयः यह निषेध किया है । उस तरह यहाँ उपसर्जन का निषेध नही किया है । सर्वनाम संज्ञा विधायक सूत्र में स्थिति "षडभ्यः" सूत्र विषयक भाष्य से विरोध भी होता है ।

कमलिति । 'तदाचष्टे' इति णिचोष्टवद्भावाट्टिलोपे कर्तरि क्विपि 'णेरनिटि' (६।४।५१) इति णिलोपः । वस्तुतो लण्सूत्रे 'न हि पदान्ताः परेणः सन्ति । नानु चायमस्ति कर्तुं हर्तुं' इति भाष्यात् 'भोभगो' (८।३।१७) इति सूत्रे 'वृक्षव् करोति' इति 'भाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वात् कमल् वृक्षव् इत्यादेर (३) नभिधानमेवोचितम् । यान्तास्तु नैव सन्ति, क्विपि 'लोपो व्योः' (६।१।७६) इति यलोपात् । णिलोपस्य स्थानिवत्त्वं तु न, यलोपे तन्निषेधात् ।

प्रशानिति । शाम्यतेः क्विप् 'अनुनासिकस्य' (६।४।१५) इति दीर्घः

अयं शान्तिसाम्यान्यतरवद्वाचकः सत्त्ववाचीति स्वरादिपाठेऽप्यस्य नाव्ययत्वम् । साम्यवाचिन्यसत्त्वार्थके तु स पाठः सार्थक इति दिक् ।

कमलिति । 'तदाचष्टे' से णिच् करने पर इष्टवद्भाव से टि लोप होने पर कर्ता में क्विप् होने पर 'णेरनिटि' से णि का लोप होने कमल की सिद्ध होती है । वास्तविक में लण सूत्र के भाष्य में लिखा है । कि पर अण् (अ, इ, उ, से भिन्न) पदान्त में नहीं होते हैं । फिर भाष्यकार के कर्त्तृ, हर्त्त् उदाहरण में 'भोभगो' सूत्रस्थ वृक्षव् करोति भाष्य को एक देशी की उक्ति मानने से कमल, वृक्षव इत्यादि प्रयोगों का अनभिधान ही है । मान्त उदाहरण तो नहीं मिलते है । क्यों कि क्विप् करने पर "लोपो व्योः" से यकार का समीप हो जायेगा । णि लोप का स्थानिवद्भाव तो नहीं हो सकता है क्योकि यलोप करने में 'नपदान्त' से निषेध हो जायेगा ।

प्रशानिति । शाम्यत से क्विप् (शमु, उपशमे) अनुनासिकस्य से दीर्घ होता है शान्त वाले या साम्य वाले को वाचक होने से सत्व वाची (लिंग संज्ञा) का अन्वय वाला है । इसलिये स्वरादि में पाठ होने पर भी अव्यय संज्ञा नहीं होती है क्योंकि अव्यय संज्ञा तो असत्व बाची की होती है । साम्यवाची असत्वार्थक है इसलिए अव्यय में पाठ भी सार्थक है ।

विभक्ताविति । 'अष्टन आ' (७।२।८४) इत्यतोऽनुवृत्तेरिति भावः । अकक्सहितस्यापीति । तन्मध्यपतितन्यायेन तस्यापि किंशब्दत्वात् । अङ्गानपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वादादेशात्पूर्वमकच् । (१) यद्यपि निर्दिश्यमानपरिभाषया न प्राप्नोति । अत एव 'भिन्धकि इत्यत्राकचि धित्वं न प्राप्नोति' इति भाष्ये पूर्वपक्षं कृत्वा 'अन्तरङ्गत्वाद्धित्वेऽकच्' इत्याद्युक्तम्, तथापि आवृत्त्याश्रयणेन साकचकस्यादेश इति कैयटः ।

इदमो मः (७।२।१०८) । 'तदोः सः सौ' (७।२।१०६) इत्यतोऽनुवृत्तेराह—साविति ।

इदोऽय् (७।२।१११) । 'यः सौ' (७।२।११०) इत्यतः साविति वर्त्तते ।

दश्च (७।२।१०९) । 'इह अष्टन' [७।२।८४] इत्यतो विभक्तावित्यनुवर्त्तते, साविदमो दस्यासम्भवात्; तदाह—विभक्ताविति ।

विभक्ताविति । 'अष्टन आ विभक्तौ' से विभक्तौ की अनुवृत्ति होतौ है अकच्सहितस्यापीति । तन्मध्यपतितन्याय से अकच् सहित भी किम् शब्द है । "तन्मध्यपति तस्तद् ग्रहणंनगृह्यते" यह परिभाषा का स्वरूप है । जैसे गर्भिणी में स्थिति गर्भ गर्भिणी के ग्रहण से गृहीत होता है, जिस वस्तु का जिसको उद्देश्य करके विधान होता है उसी का तन्मध्यपतितन्याय से ग्रहण होता है । अतएव जनरा (जनान्रातीति

जनरा) में जरस् नही होता है क्यों कि जरा को उद्देश्य करके नकार का विधान नहीं है। अंग की अपेक्षा न करने से अन्तरंग होने के कारण आदेश से पूर्व ही अकच् होता है। यद्यपि निर्दिश्यमान परिभाषा के बल से अकच् सहित को आदेश नहीं प्राप्त होता है इसी से भिन्धकि में अकच् करने पर धित्व की प्राप्ति नही होगी ऐसा भाष्य में पूर्व पक्ष कर धित्व अन्तरंग होने से अकच् के पूर्व हो जायेगा। यह समाधान किया तो भी आवृत्ति आदि के करने से अकच् सहित को भी आदेश होता है। यह कैयट का मत है वास्तविक में अकच् के विषय में निर्दिश्यमान न्याय व्यावर्तक नहीं है अर्थात अकच् विशिष्ट भी निर्दिश्यमान होता है।

इदमो मः। 'तदोः सः सौ' से सौ की अनुवृत्ति होती है। इसी से साविति कहा इदोऽय्। यः सौ' से सौ की अनुवृत्ति होती है दश्च। यहाँ 'अष्टनः' सूत्र से विभक्ति की अनुवृत्ति होती है क्योंकि सु के परे इदम् कादकार संभव ही सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ अयादेश हो जाता है, इसी से वृत्ति में विभक्तौ लिखा।

हलादाविति। आपीति वर्त्तते। 'हल्यश्' इति वक्तुं युक्तम्। (२) अक् इति पर्युदासादिदं गौणे न प्रवर्त्तते इत्यहुः। नन्विदोऽन्त्यस्य लोपः स्यादत आह—नानर्थके इति। इयमुपधासंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टा, फलाना-मन्यथोपपादनेन भाष्ये प्रत्याख्याता च। प्रत्याख्याते 'अनापि' (७।२।११२) इत्यतोऽन् इत्यनुवृत्त्यं हलीति सप्तम्याः षष्ठी प्रकल्प्यान एव 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इति लोपो पररूपे चेष्टसिद्धिर्बोद्धया।

ननु दीर्घापेक्षया लोपस्य नित्यत्वात्पूर्वं लोपे अभ्यामिति स्थितेऽङ्ग-स्याऽकाररूपत्वेनादन्तत्वाभावाद्दीर्घो न स्यादित्यत आह—आद्यन्तवदिति। 'आदिरन्त्येन' (१।१।७१) इति सूत्रोक्तरीत्याऽऽद्यन्तशब्दयोर्विशिष्टशक्ततया तत्प्रयुक्तकार्याण्यसहाये न स्युरित्ययमारम्भः। एकस्मिन्निति। (१) असहाये इत्यर्थः। तदादितदन्तयोः क्रियमाणं कार्यं तदादौ तदन्त इवासहायेऽपि स्यादित्यन्वयः। उपमेये सप्तमीनर्शनात्सप्तम्यन्तादिवार्थे वतिस्तदाह— आदाविवेति। एकस्मिन्नित्युक्तेर्दरिद्रातेरिवर्णान्तलक्षणोऽज्न। आदिवत्त्व-फलमौपगवेऽण आद्युतात्तत्वम्। कार्यस्य प्राधान्यादयमपि कार्यातिदेश एव। तदाह—कार्यमिति।

हलादाविति। आपि की अनुवृत्ति होती है। 'हल्यश्' सूत्र बनाना उचित था अकः इस पर्युदास से गौण में नहीं लगता है। अब यहाँ शंका करते है कि इदू के अन्त्य का लोप होना चाहिए। इसका उत्तर है कि अनर्थक में अलोन्त्यविधि नहीं होती है। यह विषय उपधासंज्ञा सूत्र में स्पष्ट है उक्त परिभाषा के फलों की अन्य

प्रकार से सिद्ध कर भाष्य में इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। प्रत्याख्यान पक्ष में 'अनापि' सूत्र से अन् की अनुवृत्ति कर हलि् सप्तमी को षष्ठ्यन्त मानकर 'अलोऽन्त्य' परिभाषा से नकार का लोप कर पर रूप करने पर प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। अब यहाँ शंका करते हैं कि दीर्घ की अपेक्षा लोप नित्य है इसलिए प्रथम लोप करने पर अभ्याम् ऐसी स्थिति में अंग केवल अकार रूप है अदन्त नहीं है अतः दीर्घ नहीं होना चाहिए। उत्तर "आद्यन्तवदिति" अर्थात् उक्त सूत्र की सहायता से अकार भी अदन्त मान लिया जाता है। 'आदिरन्त्येन' सूत्र में कही रीति के अनुसार आदि अन्त्य शब्दों की विशिष्ट में शक्ति होने से आदि या अन्त्य के लिए होने वाले कार्य असहाय (केवल) में नहीं हो सकते हैं। इसलिए इस सूत्र का निर्माण किया। एकस्मिन्निति। असहाय में अर्थ है। तदादि और तदन्त के लिए होने वाले कार्य उसके आदि और उसके अन्त की तरह केवल में भी हो जाता है। उपमेय (एकस्मिन्) सप्तमी देखने से सप्तम्यन्त में इवार्थ में वत् प्रत्यय करना। यह जानकर ही आदाविव लिखा है। एकस्मिन् (असहाय कहने से दरिद्रा धातु से (एरच्) से अच इवाणन्ति लक्षण अच् नहीं होता है। क्योंकि वहाँ केवल इकार नहीं है। आदिवत्य का फल है। औपगवः में अण् आण्वुदस्तत्व होना है। वहाँ केवल अकार ही है 'आद्युदात्तश्च' से आद्युदात्त होता है। सर्वत्र कार्य ही प्रधान होता है, इसलिए यह भी कार्यातिदेश है।

ननु इद ए इति स्थिते स्मैभावात्परत्वादनादेशे 'सकृद्गतौ' इति न्यायेन स्मै न स्यादत आह–(१) नित्यत्वादिति। स्मै आदेशे तु न अनादेशो हलिलोपेन बाधात्, लक्ष्यानुरोधेन बाधकाबाधितकृताकृतप्रसङ्गस्यैवात्र ग्रहणात्।

अकोऽकोरित्यनयोः फलमाह—ककारयोगे त्विति। 'अव्ययसर्व-नाम्नाम् (५।३।७१) इत्यकचीति भावः। अस्यानवयवत्वेऽपि तन्मध्यपति-तन्यायात्तद्विशिष्टे प्राप्तिरिति बोद्धयम्।

इद ए ऐसी स्थिति में स्मै से पर अनादेश उसके करने पर 'सकृद्नतौ' से जिसका एक बार बाध हो जाता है उसका बाध ही रहता है न्याय से स्मै नहीं होना चाहिए आपका यह कहना सत्य है परन्तु नित्य होने से स्मै ही होता है। स्मै आदेश करने पर अनादेश नहीं होता है क्योंकि 'हलि लोपः' से उसका बाध हो जाता है। लक्ष्यानुरोध से बाधक से अबाधित ही कृताकृतप्रसंग का यहाँ ग्रहण है।

अको कोः इन दोनों का फल कहते है। ककारयोगेत्विति। "अत्ययसर्वनाम्नाम" से अकच् होता है। अकच् यद्यपि अवयव नहीं होता है फिर भी तन्मध्यपतितन्याय से अकच् विशिष्ट में प्राप्ति है।

इदमोऽन्वा [२।४।३२]। अनुदात्तत्वम् 'आभ्याम्' इत्यादौ 'ऊडि-

दम्' [६।१।१७१] इति 'सावेकाचः' [६।१।६८] इति वा विभक्त्युदात्तत्वाभावाय, उभयत्राप्यनुवृत्त्यपकर्षाभ्यामन्तोदात्तादित्यस्य सम्बन्धनात्। एवञ्च 'आभ्याम्' इत्यादि सर्वानुदात्तम् 'ऐभिरग्ने प्रेणा तदेषाम्' इत्यादौ तथा श्रवणात्। नन्वेवमप्यत्वे हलिलोपेनाऽऽभ्यामित्यादेः सिद्धावनुदात्तत्वेनैव सिद्धावश्विधानं व्यर्थमत आह—साकच्कार्थमिति। शित्त्वात्सर्वादेश इति भावः। [१] संज्ञोपसर्जनयोस्तु नेदम्, 'एतदस्त्रतसोः' (२।४।३३) इत्युत्तरसूत्र (२) साहचर्यात्। न च त्यदाद्यत्वेन सिद्धेऽकारविधानमेव साकच्सिर्वादेशार्थं भविष्यति, किं शित्त्वेनेति, वाच्यम्, (३) अन्यार्थतापत्तेः।

द्वितीयाटौ [२।४।३४]। पूर्वसूत्रादिदम् इति, 'एतदस्त्रतसोः' [२।४।३३] इत्यत एतद इति चानुवर्त्तते, अनुदात्त इति च। विधातुमिति। विधानमत्राज्ञातज्ञापनमेव, न तु प्रवर्त्तनाविषयत्वम्। तच्चेदमेवेति नाग्रहः। स्पष्टञ्चेदं (४) भाष्ये।

इदमोऽन्वा। अनुदात्त विधान का फल है कि 'आभ्याम' में 'ऊडिदम्' या "सावेकाचः" से विभक्ति को उदात्त नहीं होता है। दोनों ही सूत्रों में अनुवृत्ति और अपकर्ष से अन्तोदात्त का सम्बन्ध है। अर्थात् अन्तोदात्त से परे विभक्ति उदात्त होती है इस प्रकार 'आभ्याम्' में सर्वानुदात्त होता है। ऐभिरग्ने इत्यादि में उसी प्रकार का श्रवण होता है। अब यहाँ शंका होती है कि अकार मात्र के विधान से लोप करने पर आभ्याम् की सिद्ध हो जायेगी तब अनुदात्त का बिधान ही उचित था अश् विधान करना व्यर्थ है उत्तर देते है—साकच्कार्थमिति। शित् होने से अकच् सहित को सर्वादेश होता है संज्ञा और उपसर्जन में अश् नहीं होता है। क्योंकि एतदस्त्रतसोः" यह उत्तर सूत्र संज्ञा और उपसर्जन में नहीं लगता है उसके साहचर्य से यह भी नही लगता है वास्तविक में उत्तर साहचर्य उचित नहीं है ऐसा यूष्णः की सिद्ध के समय शब्दरत्न में लिखा है इसलिए साहचर्यात का अर्थ अर्थाधिकार के अनुरोध से करना चाहिए। केवल अकार त्यादादि मानकर ही हो जाता फिर अकार विधान से ही सर्वादेश सिद्ध था फिर भी शित्व व्यर्थ है। उससे अन्यार्थ की भी कल्पना हो सकती थी अर्थात् अतोगुणे या 'सुपिच' का ही बाध होने लगता।

द्वितीयाटौ। पूर्वसूत्र से इदमः की और 'एतद्स्त्रतासोः' से एतद् और अनुदात्त की अनुवृत्ति होती है। विधातुमिति। यहाँ अज्ञात ज्ञापन को ही विधान समझना, प्रवर्तना के विषय को नहीं उसमें ही हो ऐसा आग्रह नहीं है यह विषय भाष्य में स्पष्ट है।

सुगण्ट्स्विति। 'ङ्णोः' (८।३।२८) इति टुक्। तस्यासिद्धत्वान्न जश्त्वम्। नलोप इति। नकारलोप इत्यर्थः। न चात्र प्रत्ययान्तत्वाद् 'अप्रत्यय' इति निषेधेन प्रातिपदिकत्वाभावात्कथं नलोप इति वाच्यम्, पर्युदासे यथोद्देशेन सिद्धेः। न च कार्यकालपक्षे दोषः, व्यवस्थितपक्षद्वयमध्ये एकतरपक्षेण लक्ष्यसिद्धया पक्षान्तरेण दोषदानस्य क्वाप्यदृष्टत्वात्। ध्वनितञ्चेदं प्रगृह्यसञ्ज्ञाप्रकरणे भाष्ये। न च–प्रसज्यप्रतिषेधे दोषः, तत्पक्षे लोपेनेव जातनिवृत्तेरपि तेन वक्तुं शक्यत्वात्; इति वाच्यम्, 'न ङिसम्बुद्धयोः' (८।२।८) इति निषेधेन प्रत्ययलक्षणेन प्रत्ययान्तत्वमादाय निषेधाप्रवृत्त्या दोषाभावात्। स्पष्टञ्चेदमर्थवत्सूत्रे भाष्ये।

सुगण्टस्विति। यहाँ 'ङ्णोः' से टुक होता है उसके असिद्ध होने से जश्त्व नहीं होता है। नलोपइति। अर्थात् राजा में नकार का लोप होता है। अब यहाँ शंका करते हैं कि यहाँ प्रत्यान्त होने से 'अप्रत्ययः' से प्रातिपादिक संज्ञा का निषेध होने से न लोप कैसे होता है। पर्युदास में यथोद्देश पक्ष का आश्रयण करने से कार्य चल जायेगा। कार्यकाल पक्ष में दोष है यह कहना भी उचित नही है क्योंकि दोनों पक्ष व्यवस्थिति है उसमें एक से कार्य होने पर दूसरे पक्ष में शंका नहीं करनी चाहिये ऐसा भाष्य में लिखा है। और इस प्रकार से दोष देना कहीं देखा भी नहीं गया है। यह विषय प्रगृह्य संज्ञा के प्रकरण में भाष्य में स्पष्ट है। नञ् को प्रसज्य प्रतिषेध मानने पर तो दोष विद्यमान नहीं है उस पक्ष में लोप की तरह जाति की निवृत्ति होती है यह कहना ठीक ही होगा। उत्तर 'न ङि सम्बुद्धयोः' इस निषेध से यह कल्पना करेंगे कि प्रत्यय लक्षणा से प्रत्यान्त मानकर निषेध नहीं होता है। उक्त कल्पना से अब किसी प्रकार का दोष नहीं है। यह विषय अर्थवत सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

न ङि (८।२।८) ङौ तु छन्दसीति। 'राजनि' इत्यादौ भत्वान्नलोपाप्राप्तेः। राजनीवाचरतीत्यर्थे 'अधिकरणाच्च' इति क्यच् तु लोके नास्त्येव, अनभिधानात्। अत एव 'परमे व्योमन्' इत्यादावयस्मयादित्वाद्भत्वेन सूत्रस्थङिग्रहणप्रत्याख्यानं भाष्योक्तं सङ्गच्छते इति भावः। सामर्थ्यादिति। 'न लुमता' (१।१।६३) इतिनिषेधानित्यत्वप्रतिपादनद्वारेत्यर्थः। एतदनित्यत्वबललब्धमेव 'वा नपुंसकानाम्' इति बोद्धयम्। न च 'परमेव्योमन्' इत्यत्र घोषत्वाल्पप्राणत्वादिसादृश्येन पूर्वसवर्णे दकारे 'स्वादिषु' (१।४।१७) इति पूर्वस्य पदत्वात्प्राप्तनलोपनिषेधेनेदं चरितार्थमिति वाच्यम्, 'अन्तरङ्गानपि' इति न्यायेन संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वेन च पूर्वसवर्णेऽपि

लुक् एव प्राप्त्या प्रक्रियालाघवाय लुक एवौचित्यमित्याशयात् । स्पष्टञ्चेदं भाष्ये । ङावुत्तरपदे इति । एतद्बललब्धमेव 'ङौ तु छन्दस्युदाहरणम्' इत्युक्तम् ।

न ङि ।। ङौ तु छन्दसीति । क्योंकि लोक में 'राजनि' में तो भसंज्ञा होने से न लोप की सम्भावना ही है राजनि इवाचरति इस अर्थ में 'अधिकरणाच्च' से क्यच् तुलोक में अनभिधान होने से नहीं होता है तात्पर्य यह है कि यदि क्यच् होता तो वहाँ 'नः क्ये' से पद संज्ञा होने पर न लोप की प्राप्ति थी इसी से 'परमे व्योमन्' वैदिक प्रयोग में भी 'अयस्मादीन' से भसंज्ञा कर सूत्र में विद्यमान ङिग्रहण का प्रत्याख्यान भाष्योक्त संगत होता है । सामर्थ्यादिति । 'न लुमता' इस निषेध के अनित्यत्व स्वीकार के साथ समझना । इस अनित्यत्व के बल से प्राप्ति ही 'वा नंपुसकानाम' यह वार्तिक है अब यहाँ पर शंका करते है कि 'परमेव्योमन्' में घोष और अल्पप्राण प्रयत्न मिलने से पूर्ण सवर्ण दकार होने पर 'स्वादिषु' से पूर्व की पदसंज्ञा होने पर प्राप्त न लोप के निषेध के लिये ङि ग्रहण चरितार्थ है । यह कहना सत्य नहीं है क्योंकि अन्तरंगानपि' न्याय से संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से पूर्व सवर्ण करने पर भी लुक् की ही प्राप्ति से प्रक्रिया लाघव के लिये (अनेक सूत्र लगाने की अपेक्षा) लुक् कहना ही उचित है । यह भाष्य में स्पष्ट है । ङावुत्तरपदे इति । यह जानकर कि ङि का उदाहरण तो वेद में मिलेगा ऐसा कहा ।

न चेति । पञ्चमीसमासेन प्राप्तिः । षाष्ठीमिति । 'वाह ऊठ्' (६।४।१३२) इत्यस्य ज्ञापितत्वेन तद्देशस्थत्वादिति भावः । कार्यकालपक्षेऽपि त्रिपाद्यां तदप्रवृत्तिः प्रागुक्ता । जञोर्ज्ञ इति । जञयोगे लोकवेदसिद्धतादृश॰ ध्वनेर्लिपिविशेषस्य चानुवादकमभियुक्तवचनं, (१) न त्विदं वर्णान्तरम् । शिक्षादावपरिगणितत्वेन तत्सत्त्वे मानाभावात् । अत एव 'तज्ज्ञानम्' इत्यादौ श्चुत्वसिद्धिः ।

न चेति । राज्ञः में पंचमी समास से अल्लोप स्थानिवद् भाव कर श्चुत्व नहीं होना चाहिये । षष्ठीमिति । छठे अध्याय के 'वाह ऊठ' सूत्र से ज्ञापित होने से परिभाषा को भी षष्ठी समझना । कार्यकाल पक्ष में भी त्रिपादी में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, यह पूर्व में कह चुके हैं । जञोर्ज्ञ इति । जकार, ञकार के योग में लोक और वेद में प्रसिद्ध उस प्रकार की ध्वनि और लिपि (लेख) विशेष का अनुवादक पूर्व पुरुषों का वचन है नया वर्ण नहीं है । (इसी से जिज्ञासा में अभ्यास में जकार का श्रवण होता है) वर्णान्तर न होने से ही 'तज्ज्ञानम्' दकार को जकार श्चुत्व होता है ।

सुब्विधाविति । सर्वविभक्त्यन्तावयवकः समास इति भाष्ये स्पष्टम् ।

विधिशब्दो भावसाधनः, कर्मसाधनश्च। तत्र स्वरादिविषये भावसाधनः। तुब्विषये कर्मसाधनः। कृतीत्येतत्सामर्थ्यात्तुक एव विशेषणमित्याह–कृति तुगिति। 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्येव सिद्धेऽन्यत्र निवृत्तिफलकोऽयम्। तदाह–नान्यत्रेति। अन्यनिवृत्तिफलकसिद्धविषयकविधित्वमेव नियमत्वम्। अत एव पस्पशायां भाष्ये 'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः' इत्यत्र 'भक्ष्यनियमेऽ (२) भक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते' इत्युक्तम्। तदाह–इत्यसिद्धत्वादितीत्यन्यत्र विस्तरः। (१) सुब्विधिशब्देन सुप्त्वतव्द्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यकविधेर्ग्रहणम्। एतेन 'दण्डिषु' इत्यादौ षत्वरूपसुब्विधौ अप्राप्तासिद्धत्वविधानार्थमिदमि (२) त्यपास्तम्, वैरूप्यापत्तेश्च। सञ्ज्ञाविधौ 'दण्डिदत्तौ' 'दत्तदण्डिनौ'। अत्र नलोपे दण्डिशब्दस्य घित्वे पूर्वनिपातापत्तिः। इष्यते त्वनियमः। असिद्धत्वे घित्वाभावात्सिद्ध्यति। न च पूर्वनिपाते नलोपो, नलोपे च घित्वे पूर्वनिपात इत्ययुक्तम्। (३) यस्य पूर्वपदत्वे घित्वं भवति तत्पूर्वमेव प्रतिव्यक्तिमयो सूत्रार्थान्न दोषः। न च घित्वे बहिरङ्गतया नलोपोऽसिद्ध इति वाच्यम्, सञ्ज्ञाकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणात्। कृति तुग्विधौ–वृत्रहभिः। कृतीति किम्? (४) वृत्रहच्छत्रम्। अस्मादेव सञ्ज्ञाकृतं बहिर्भूतनिमित्तक-सञ्ज्ञाकृतञ्च बहिरङ्गत्वं परिभाषायां नाश्रीयते। अन्यथा 'वृत्रहभिः' इत्यादौ बहिर्भूतभिस्निमित्तकपदत्वनिमित्तो नलोपोऽसिद्धः स्यादिति तद्वैयर्थ्यं स्यात्। भाष्ये तु सन्निपातपरिभाषया 'वृत्रहभिः' इत्यादौ तुकं व्यावर्त्येदं प्रत्याख्यातम्, पदत्वद्वारा लोपस्य भिस्सन्निपातनिमित्तकत्वात्। सन्निपात-निमित्तकनलोपविषयणां 'वृत्रहधनम्' इत्यादीनामनभिधानामिति तदाशयः। तदभावे कृतीत्यपि व्यर्थमेव न च सन्निपातपरिभाषया तुङ्मात्रव्यावृत्तौ प्राप्तायां नियमार्थं कृतीति, 'कृति तुगेव न, अन्यस्तु भवत्येवेति' इति वाच्यम्, 'वृत्रहच्छत्रम्' इत्यत्र नलोपस्य सन्निपातलक्षणत्वाभावादिति। दिक्।

सुब्विधाविति। सब विभक्तियों को अवयव मानकर यहाँ समास है। ऐसा भाष्य में लिखा है विधि शब्द में भाव तथा कर्म में कि प्रत्यय है। विधानम् विधिः विधियते इति विधिः वहाँ स्वरादि के विषय में भावसाधन है। और सुप् के विषय में कर्मसाधन है कृत तो सामर्थ्य से तुप् का ही विशेषण है। इसी से लिखा है कृत तुगिति। 'पूर्वत्रा-सिद्धम्' से ही कार्य सिद्ध है, इस सूत्र का फल अन्यत्र निवृत्त करना है जैसा कि लिखा है—नान्यत्रेति। (अन्यत्र नहीं) अन्य की निवृत्ति ही फल जिसका ऐसी सिद्ध विषय

वाली विधि को ही नियम कहते है इसी से भाष्य के प्रथम आह्निक में कहा है कि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या:' में भक्ष के निषेध में अभक्ष निषेध प्रतीत होता है। इत्यसिद्धत्वादिति। विस्तार अन्यत्र किया है। सुब् विधि शब्द से सुप्त्वधर्मावच्छिन्न विधि तथा सुप्त्व व्याप्य धर्मावच्छिन्न विधि दोनों का ही ग्रहण है तात्पर्य यह है कि सुप्त्व धर्म से युक्त सुप् को मानकर कार्य हो या सुप के व्यात्यधर्म सौजसादिभ्यामादि को मानकर कार्य करने में निषेध होता है। दोनों के ग्रहण करने से दण्डिशु, इत्यादि में षत्व रूप सुब् विधि में अप्राप्त असिद्धत्व के विधान के लिये यह सूत्र है–ऐसा कहने वाले परास्त हैं। और ऐसा स्वीकार करने से वैरूप्य भी होने लगेगा। संज्ञा विधि का उदाहरण दण्डिदत्ती, दत्तदण्डिनौ है। यहाँ न लोप करने पर दण्डि शब्द की घिसंज्ञा होने से दण्डि शब्द का पूर्व निपात होने लगेगा। और अनियम इष्ट है। असिद्ध होने से घि संज्ञा के अभाव में दोनों ही सिद्ध होते है। अब यह शंका होती है कि पूर्व निपात होने पर न लोप होता है और न लोप होने पर घिसंज्ञा होने पर पूर्व निपात होता है। यह ठीक नही है। उत्तर जिसके पूर्व निपात करने पर घिसंज्ञा होती है। उसका पूर्व ही प्रयोग करना चाहिए। ऐसा सूत्र का अर्थ करने से कोई दोष नहीं है। घिसंज्ञा करने में बहिरंग न लोप असिद्ध हो जायेगा यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि संज्ञाकृत बहिरंग का आश्रयण नहीं होता है। कृति तुक् विधि का उदाहरण— वृत्रिहभि: है। कृत ग्रहण नहीं करते तो वृत्रहच्छत्रम् में न लोप के असिद्ध होने से तुक् नहीं होता। इसी से संज्ञा कृति अथवा बहिर्भूतनिमित्तक संज्ञा कृत बहिरंग का परिभाषा में ग्रहण नहीं होता है। नहीं तो वृत्रिहभि: में वहिर्भूतथिस को निमित्त मानकर होने वाली पद संज्ञा को निमित्तमानकर होने वाला न लोप असिद्ध हो जाता तो तुक् का ग्रहण व्यर्थ ही था। भाष्य में तो वृत्रहभि: में सन्निपात परिभाषा से तुक् की निवृत्ति कर तुक् ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है। क्योंकि पदत्व के द्वारा लोप भी भिस् सन्निपात निमित्तक है। सन्निपात निमित्तक न लोप विषय वाले 'वृत्रहधनम्' इत्यादि प्रयोगों का अनभिधान ही है। तुक् के अभाव में कृत भी व्यर्थ है। क्योंकि यह तो तुक् का ही विशेषण था सन्निपात परिभाषा से सम्पूर्ण तुकों की व्यावृत्ति प्राप्त होने पर कृति नियम करेगा। कृति तुक् ही न हो अन्य तो हो जाये, यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि वृत्रहच्छत्रम् में न लोप सन्निपात लक्षण निमित्तक नहीं है।

राजनीति। 'विभाषा ङिश्यो:' (६।४।१३६) इत्यल्लोपविकल्प:। प्रतिदिवेति। कमिनन्तम्।

हलि च (८।२।७७)। 'र्वोरुपधाया:' (८।२।७६) इति सूत्रं, 'सिपि धातो:' (८।२।७४) इत्यतो धातोरिति चानुवर्त्तते। र्वोरिति च धातोर्वि-

शेषणम् । पदस्येति सम्बद्ध्यमानमपि इक एव व्यधिकरणं विशेषणम् । तद् ध्वनयन्नाह–प्रतिदीव्न इति । अत्र वान्तस्य भत्वाभावात्, 'न भकुर्छुराम्' (८।२।७९) इति निषेधो न । धातोः किम् ? अग्निः करोति ।

न संयोगा (६।४।१३७) । अन्तग्रहणं (१) स्पष्टार्थम्, संयोगस्य वमाभ्यां विशेषणेन तदन्तलाभात् ।

राजनीति । 'विभाषा ङिश्योः' से अकार का लोप विकल्प से होता है । प्रति दिवेति । यह कठिन प्रत्यान्त हैं ।

हलि च । 'र्वोरूपधायाः' यह सम्पूर्ण सूत्र और 'सुपिधातोः' से धातु ग्रहण की अनुवृत्ति होती है । र्वो यह धातु का विशेषण है पदस्य तो इक् का ही व्यधिकरण विशेषण है, यह सब विचार कर कहते है प्रतिदीव्न । यह वान्त की भसंज्ञा न होने से 'न भकुर्छुराम' से निषेध नहीं होता है । धातु ग्रहण के अभाव में अग्निः करोति में दीर्घ हो जाता ।

न संयोगा । अन्तग्रहण स्पष्ट अर्थ के लिये है । क्योंकि संयोग को वम् का विशेषण मानने से ही तदन्त विधि हो जायेगी ।

'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) इत्येव सिद्धेनियमोऽयमित्याह- शावेवेति । उपधाया इति । तेन 'अनुनासिकस्य' (६।४।१५) इत्यस्यापि नियम इति भावः । अत्रसर्वनामस्थानग्रहणं न सम्बद्ध्यते । (२) तेन 'वृत्रहणी' वृत्रघ्नः 'वृत्रघ्नी' इत्यादौ न अनुनासिकस्य' (६।४।१५) इति दीर्घः । इति निषेधे इति । एतत्फलभूते निषेधे इत्यर्थः । शिस्वोरिति वक्तव्ये 'सौ च' (६।४।१३) इति योगविभाग (३) उत्तरार्थः ।

'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से दीर्घ सिद्ध था फिर 'इन हन्' सूत्र नियमार्थ है । शावेवेति । उपधाया इति । इससे अनुनासिकस्य' सूत्र का भी नियम होता है यहाँ सर्वनाम स्थान ग्रहण का सम्बन्ध नहीं होता है । इससे 'वृत्रहणी' वृत्रघ्नः, वृत्रहनी, में 'अनुनासिकस्य' सूत्र से दीर्घ नहीं होता है । इति निषेध इति । इसका फलित ही निषेध समझना । शिस्वोः कहने से ही कार्य सिद्ध हो जाती फिर 'सौ च' यह योग विभाग 'अत्वसन्तस्य' के लिये है ।

हो हन्तेः (७।३।५४) । ञ्णिन्नकारा (१) हस्यैव विशेषणम् । तत्र ञ्णिद्विषये येन नाव्यवधानन्यायेन द्वाभ्यां व्यवाये 'घातकः' इत्यादावेव, न तु हननीयतेण्वुंल्यथकव्यवधाने । (२)इदं 'धातोः; कार्यमुच्यमानम्' (प० भा० ८८) इति परिभाषया धातुसंशब्दनेन विहितप्रत्यय एव । तेन वृत्रहणमाचष्टे 'वृत्रहयति' इत्यादौ न । ने तु परे 'वृत्रघ्नः' इत्यादादेव,

स्थानिवत्त्वकृतव्यवधानेऽपि (३) श्रौताव्यवधानसत्त्वात्, न तु 'हननम्' इत्यादौ श्रौतव्यवधाने इति स्पष्टं भाष्ये ।

हो हन्तेः । ञित्, णित् और नकार, हकार के ही विशेषण हैं वहाँ ञित्, णित् के विषय में दो का व्यवधान अवश्य रहेगा, इसलिए दो का व्यवधान सह्य है अधिक का नहीं है। घातकः में दो के व्यवधान से घत्व हो जाता है। व्यन्त से ण्वुल करने पर अनेक व्यवधान में नहीं होता है। यह घत्व 'धातोः कार्यमुच्यमानम्' परिभाषा के बल से धातु को उच्चारण करके विहित प्रत्ययों में ही होता है। इसी से वृत्रहयति में नही होता है। क्योंकि वहाँ प्रातिपादिक से प्रत्यय है। नकार के परे वृत्रघ्नः में ही होता है, स्थानिवत् भाव से यद्यपि व्यवधान है। परन्तु श्रौत अव्यवधान तो है। हननम् में श्रौत व्यवधान होने से नहीं होता है।

वृत्रघ्नः' इत्यादौ णत्ववारणाय हन्तेरत्पूर्वस्य' इति विभज्य व्याचष्टे- हन्तेरिति । 'उपसर्गादसमासेऽपि' (८।४।१४) इत्यत उपसर्गादिति वर्त्तते, रषाभ्यामिति च । तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमित्याह—उपसर्गस्थादिति । प्रकृतो- पयुक्तमाह— अत्पूर्वस्येति । अत इति सिद्धे पूर्वग्रहणं स्पष्टार्थम् । (४) अत्र उपसर्गात् इत्यस्य निवृत्त्या णत्वमात्रस्यायं नियम इत्याह---एवञ्चाजुत्तरेति । णत्वमपीति । अपिना 'प्रातिपदिकान्त' (८।४।११) इत्यस्य, 'कुमति च' (८।४।१३) इत्यस्य च सङ्ग्रहः । बाध्यसामान्यचिन्ताश्रयणात्सर्वबाधः । इदमत्पूर्वग्रहणं हस्थानिककवर्गाभाववद्धन्तेरुपलक्षणम् । अतो 'बहुवृत्तहाणि' इत्यत्र, 'प्राघानि' 'प्रघनाघनः' इत्यत्र च न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः । यत्तु कार्यकालपक्षे बहिरङ्गदीर्घासिद्धत्वाद् 'बहुवृत्रहाणि' इत्यादौ न दोषः । 'प्राघानि' इत्यादौ यथोद्देश एव लक्ष्यानुरोधादिति, तन्न तत्पक्षेऽपि त्रिपाद्यां तत्परिभाषाया अप्रवृत्तेरुक्तत्वात् 'प्रघनाघनः' इत्यत्र दोषाच्च । माधवे- नोक्तमिति । 'वृत्राघ्नः' 'वृत्राघ्णः' इति रूपद्वयं तेनोक्तम् । तद्भाष्येति । 'कुव्यवाये हादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः 'वृत्राघ्नः' स्रुघ्नः, प्राघानि । हन्ते- रत्पूर्वस्येत्यत्पूर्वग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति' इति भाष्येत्यर्थः । अत्पूर्वग्रहणस्य तादृशोपलक्षितार्थत्वे मानाभाव इति तदाशयः ।

वृत्रघ्नः में णत्व वारण के लिये 'हन्तेरत्पूर्वस्य' का विभाग करके व्याख्या करते है। हन्तेरिति । 'उपसर्गादि-समासेऽपि' से उपसर्गात की और रषाभ्याम् की अनुवृत्ति होती है। तात्स्थ्य होने से ताच्छब्द्य है अर्थात् लक्षण से उपसर्गात् का अर्थ उपसर्ग- स्थात् है। प्रकृत उपयोगी अंश कहते हैं। अत्पूर्वस्येति । अतः से कार्य सिद्ध हो जाता

पूर्वग्रहण स्पष्टार्थ है, यहाँ उपसर्गात की निवृत्ति होने से यह णत्व मात्र का नियम है। जैसा कि मूल में लिखा है। एकाजुन्तरेति। णत्वमपीति। अपि शब्द से 'प्रातिपदिकान्त' और 'कुमति च' का संग्रह है। बाध्य सामान्य चिन्ता के आश्रयण से सबका बाध होता है। मेरे विषय में जो प्राप्त है उन सबका बाध्य करूँ यह बाध्य सामान्य चिन्ता है यह अत्पूर्व ग्रहण हकार के स्थान में होने वाले क वर्ण के अभाव वाली हन् का उपलक्षण है। इसी से बहुवृत्रहाणिः में कवर्ग न होने से णत्व हो जाता है, प्राघानि, प्रघनाघनः में नही होता है, क्योंकि वहाँ क वर्ग हुआ है। किन्ही का कथन है, कि कार्यकाल पक्ष में बहिरंग दीर्घ के असिद्ध होने से बहुवृत्रहाणि में कोई दोष नहीं है। प्राघानि में प्रयोग सिद्ध के लिए यथोद्देश पक्ष ही स्वीकार करेंगे। परन्तु उनका यह कथन उचित नही है। क्योंकि कार्य काल पक्ष में त्रिपादी में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, और प्रघनाघनः में दोष रहता ही है। माधवेनोक्तमिति। उसने वृत्रघ्नः वृत्रहणः में दो रूप कहे है। तच्दाष्येति। 'कुव्यवाये हादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः' (क वर्ग के व्यवधान में हकार के स्थान होने वाले क वर्गो का निषेध करना) वृत्रघ्नः सुघ्नः प्राघानि उक्त प्रयोगों में हकार के स्थान में ही वकार (कवर्ग) हो रहा है। उक्त वार्तिक मानने पर 'हन्तेरत्पूर्वस्य' में अत्पूर्व ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। अत्पूर्व का पूर्वोक्त उपलक्षित अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है।

अनिनिति। एतच्च 'येन विधिः' (१।१।७२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अन्यत्र तु 'अलैवानर्थकेन तदन्तविधिर्न तत्समुदायेन' इति हन्ग्रहणे प्लीहन्ग्रहणं न।

मघवा ब (६।४।१२८) षष्ठ्यर्थे प्रथमा, तृ इति च वर्तते। ऋदिति। तेनानेकाल्त्वाभावान्न सर्वादेशः।

उगिदचाम् (७।१।७०)। अचामित्यञ्चुधातोर्ग्रहणं (१) व्याख्यानात्। नलोपिन इति। अकारलोपाकरणपूर्वकं नलोपकरणस्य विवक्षार्थत्वादिति भावः। अत्रोगित् (२) झलन्त एव व्याख्यानात्। तेन 'श्रमी' 'श्रमिनो' इत्यादौ नातिप्रसङ्ग इति 'युवोरनाकौ' (७।१।१) इत्यत्र (३) भाष्ये स्पष्टम्। उपधादीर्घ इति। 'सर्वनामस्थाने च (६।४।४) इत्यनेन। असिद्धत्वाभावकल्पने मानमाह–तथा चेति। निपातनादिति। 'वनो र च' (४।१।७) इति सूत्रे भाष्ये तु मघवन्शब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्' इत्युक्तम्।

अनिनिति। यह 'येन विधिः सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। अन्य स्थल में तो अनर्थक अल् से ही तदन्त विधि होती है, समुदाय से नहीं होती है इससे हन् के ग्रहण में प्लीघ्न का ग्रहण नही होता है। मघवा व। षष्ठी के स्थान में प्रथमा है तृ की अनु-

वृत्ति होती है। ऋदिदिति। ऋकार की इत्संज्ञा होने से अनेकाल् के अभाव में सर्वादेश नहीं होता है उगिदचाम। अचाम से व्याख्यान से अच्चू धातु का ग्रहण होता है 'प्रत्यय:' यह निर्देश ही व्याख्यान में प्रमाण है, यदि प्रत्याहार या अच् प्रत्यय का ग्रहण होता तो 'प्रत्यय:' में भी नुम् हो जाता। नलोपिनइति। अकार का लोप न कर न लोप करने का अर्थ विवक्षित है। यहाँ उगित् झलन्त ही व्याख्यान से ग्रहीत होता है "नपुंसकस्य झलच:' सूत्र से झल पद का अपकर्ष ही प्रमाण है। झलन्त मानने से 'शमी' 'शमिनौ' में नुम् नहीं होता है। यह 'युवोरनाको' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। उपधादीर्घइति। 'सर्वनाम स्थाने' सूत्र से। असिद्धत्व के अभाव कल्पना में प्रमाण कहते है तथा चेति। निपातनादिति। 'वनोरच' सूत्र के भाष्य में तो मघवन् को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक कहा है।

मघशब्दादिति । धनार्थादित्यर्थः । भाषायामपीति । अपिना छन्दसि । 'मघवानमीमहे' इति मध्योदात्तं वनिपि बोद्धयम् । आकरे इति । 'केशाद्व:' (५।२।१०९) इति सूत्रे कैयटे इत्यर्थः । एवञ्च मतुपि 'अत्वसन्तस्य' (६।४।१४) इति दीर्घसत्त्वेन, आदेशे तदभावे, फलभेदे प्रत्याख्यानासम्भव इति भावः । नन्वेवमप्यन्तोदात्तस्य आदेशे वकाराकारस्योदात्तत्वं, मातुपि तु 'ह्रस्वनुड्भ्याम्' (६।१।७६) इति प्राप्तस्य मतुबुदात्तत्वस्य 'न गोश्वन्' (६।१।१८२) इति प्रतिषेधेन पित्त्वादनुदात्तत्वे घकाराकारस्योदात्तत्वमिति फलभेदोऽस्त्येवेति चेत् ? न, आदेशपक्षे दीर्घवत् बहुलग्रहणेन धकाराकारोदात्तत्वस्याप्यङ्गीकारात् । तत्रैव मानान्तरमाह—हविरिति ।

'अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत् ।
मतुब्वन्योर्विधानाच्च छन्दस्युभयदर्शनात् ॥'

इत्यत्रत्यवार्तिकरीत्या मघवन्शब्दस्य लोकेऽसाधुत्वं लभ्यते । यथाच तृज्वत्सूत्रे भाष्यम्—'अविशेषविहिता अपि शब्दा नियतविषया दृश्यन्ते इति' इत्यन्यत्र विस्तरः ।

मघशब्दादिति। धनवाची मघ शब्द से यह अर्थ समझना। भाषायामपीति। अधिशब्द से वेद का भी ग्रहण करना चाहिए। 'मघवानमीमहे' यह मध्योदात्त तो वनिप् प्रत्यय में समझना। आकरेइति। "केशाद्व:" सूत्र के कैयट में है। इस तरह मतुप् में 'अत्वसन्तस्य' से दीर्घ होगा और आदेश में दीर्घ नहीं होगा। यह फल में भेद होने से प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है। अब यहाँ शंका करते हैं कि अन्तोदात्त को आदेश करने पर नकार के अकार की उदात्त होगा। मतुप् में 'ह्रस्वनुड्भ्याम्' से प्राप्त मतुप् के उदात्त का 'न गोश्वन्' से निपेध से पित्व मानकर अनुदात्त करने पर

घकार के अकार को उदात्त होने से फल भेद स्पष्ट ही है। परन्तु यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि त्रादेश पक्ष में दीर्घ की तरह बहुल ग्रहण से घकार के अकार को उदःत्त भी स्वीकार करते हैं। उसमें प्रमाण भी देते हैं। हविरिति। यह 'मघवानृ-जीषी' का उपलक्ष है। अर्वन् और मघवन् शब्द से तृ प्रत्यय करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये वैदिक है। वेद में मतुप् और वनिपू से दोनों की सिद्धि हो जायेगी। उक्त वार्तिक से लोक में मघवन् शब्द असाधु सिद्ध होता है। तृज्वत् सूत्र में भाष्य में भी लिखा है कि अविशेषविहित (सामान्य विहित) शब्दानियत विषया दृश्यन्ते (विशेष विहित)।

छन्दस्येवेति ।न च वनिबन्तस्य सम्प्रसारणे यस्येतिलोपे 'मघोनः' इत्यसिद्धिः। व्याश्रयत्वान्नाभीयासिद्धत्वं लोपे सम्प्रसारणस्य। नापि बहिर-ङ्गासिद्धत्वम्, तस्या वाहऊठ्सूत्रस्थतयाऽऽभीयत्वेनाभीयान्तरङ्गस्य तद्दृ-ष्टयाऽसिद्धत्वेनात्र तस्या अप्रवृत्तेः। अन्तरङ्गशास्त्राश्रय एव तदाश्रय इति समानाश्रयत्वव्याहतम्;-इति वाच्यम्, निपातितान्तोदात्तमघवन्शब्दमादाय सिद्धेः। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) इत्यस्य प्रवृत्त्या तत्र स्वरे विशेषाभावात् । छन्दस्यापाद्यरूपाभावान्नानिष्टापादनम् । अन्तोदात्तं त्विति। कन्यन्तत्वादव्युत्पन्नत्वाद्वा तत्त्वम्।

अन्नन्तावातिमि ।'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) इत्यपकृष्यते। तत्र नकारं प्रश्लिष्य नान्तानामित्यर्थः। तेन 'मघवतः' इत्यादौ नाल्लोपस-म्प्रसारणे, 'धीवरी' इत्यादौ च नाल्लोपः। स्पष्टञ्चेदम् ऋत्विक्सूत्रे भाष्ये। परे तु-नकारप्रश्लेषाभावेऽपि न दोषः, 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इत्यस्य सत्त्वेनानः स्थानित्वाभावेन स्थानिवत्सूत्रेणान्नन्तत्वलाभात्। 'सर्वे सर्वपदादेशाः' इत्यनेनापि मघवन्शब्दस्यैव स्थानित्वं, नानः। अर्द्धविकारे प्रत्यभिज्ञाऽभावान्नैकदेशविकृतन्यायावसरः । ध्वनितञ्चेदं 'श्नयुव' (६।६।१३३) इत्यत्र भाष्ये इत्याहुः। मघवतीति ।पुंयोगेन स्त्रियां वृत्तौ 'उगि-तश्च' (४।१।६) इति ङीप्। विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणान्नुम्न।

छन्दस्येवेति। अब यहाँ शंका होती है कि वनिबन्त को सम्प्रसारण करने पर यस्येति से लोप होने पर 'मघोनदः' की सिद्धि नहीं होगी। लोप करने में असिद्धव-दत्रा से सम्प्रसारण विभिन्न आश्रम होने से असिद्ध भी नहीं होगा। क्योंकि आभीया सिद्ध समानाश्रय में होता है। बहिरंग परिभाषा से भी असिद्धत्व कठिन है क्योंकि वाहऊठ् सूत्रस्थ होने से आभीय होने से आभीय अन्तरंग शास्त्र का आश्रय ही उसका आश्रय है इसलिए समान आश्रय है। उत्तर। निपातित अन्तोदात्त मघवन शब्द को

लेकर कार्य सिद्ध हो जायेगी। "एकादेश उदात्तेनोदात्त:" की प्रवृत्ति होने से स्वर में भी भेद नहीं होगा। वेद में आषादय रूप के न होने से अनिष्टापादन की आशंका नहीं है। अन्तोदात्तंत्विति। कन्यन्त या अव्युत्पन्न मानने से अन्तोदात्त की सिद्धि हो जायेगी।

अन्नन्तानामिति। "अल्लोपोऽन:" का अपकर्ष है वहाँ नकार का प्रश्लेष करने से नान्तानाम् यह अर्थ होता है। इससे मघवत में अल्लोप और सम्प्रसारण नहीं होते और धीवरी में अल्लोप नहीं होता है। यह 'ऋलृक्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। यहाँ नागेश का यह कथन है, कि नकार के प्रश्लेष के अभाव में भी कोई दोष नहीं है। 'अलोऽन्त्यस्य' की सत्ता में अनुस्थानी नहीं हो सकता है। इससे स्थानिवत् सूत्र से अन्नन्तत्व का लाभ भी नहीं हो सकता है। 'सर्वैसर्वपदादेशा:' से भी मघवन् में स्थानिता आस करती है अन् में नहीं। अर्थ विकार होने यह वही है यह ज्ञान नहीं होगा तब एकदेश विकृत न्याय का भी अवसर नहीं है। यह 'श्वयुव' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

मघवतीति। पुंयोग से स्त्रीलिंग में भी है। 'उगितश्च से ङीप् होता है। विभक्ति निमित्तक कार्य में लिंगबोधक प्रत्यय बिशिष्ट का ग्रहण न होने से नुम् नहीं होता है।

शुन इति। ननु सम्प्रसारणे वार्णादाङ्गस्य बलीयस्त्वेन पूर्वत्वं बाधित्वा 'अल्लोपोऽन:' (६।४।१३४) इति लोपे 'शुन:' इति सर्वानुदात्तं स्यात्, उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तं वा स्यात्, पूर्वरूपेणाद्युदात्तमिष्यते, तत्र हि वकारस्थानिकोकारस्य स्वंसनधर्महल्स्थानिकत्वेनानुदात्ततया श्वन्शब्दस्यान्तोदात्ततयाऽकारस्योदात्तत्वेन तयोः स्थाने जातस्यैकदेशस्योदात्तत्वात्। किञ्च लोपे स्थानिवत्त्वेन यण्प्रसङ्गः। 'अतेः शुनः' (५।४।९६) इत्यादिनिर्देशैस्तद्वारणे तु 'बहुश्या' 'बहुमघवा' 'बहुयुवा' इत्यत्र 'अन उधालोपिनः' (४।१।२८) इति ङीब्विकल्पापत्तिः 'मघोन:' इत्यादावन्तोदात्तप्रकृतिके उदात्तनिवृत्तिस्वरापत्तिश्च, इति चेत्? न, वार्णपरिभाषाया अनित्यत्वेन क्वचिदप्रवृत्त्याऽदोषात्' श्वन्शब्दे आभीयतया सम्प्रसारणासिद्धत्वेन 'न संयोगाद्' (६।४।१३७) इति निषेधात्।

शुन इति। यहाँ शंका होती है कि सम्प्रसारण करने पर वर्ण सम्बन्धी कार्य की अपेक्षा अंग सम्बन्धी कार्य के बलवान् होने से पूर्वरूप को बाध करके 'अल्लोपोऽन:' से लोप करने पर शुन: में सर्वानुदात्त होगा या उदात्त निवृत्ति स्वर से अन्तोदात्त होगा (अनुदात्तस्यचयत्रोदात्तलोप:) जिस अनुदात्त के परे उदात्त का लोप होता है

उसको उदात्त होता है। अनुदात्त विभक्ति के परे उदात्त अकार का लोप हुआ है इससे विभक्ति को उदात्त हो जायेगा। पूर्वरूप कर से आद्युदात्त इष्ट है। वहाँ वकार के स्थान में होने वाले उकार में हल् वकार के धर्म आने से अनुदात्त है। श्वन् शब्द का अकार उदात्त है, उन दोनों के स्थान में होने वाला एकादेश भी उदात्त है और लोप करने पर स्थानिवत् भाव से अण् की प्राप्ति हो जायेगी। 'अतेःशुनः' इत्यादि निर्देश से यण् के वारण् होने पर तो बहुश्वा, बहुमघवा, बहुयुवा में 'अन्उपधालोपिनः' से ङीप् विकल्प से होने लगेगा। अन्तोदात्त प्रकृति वाले मघोनः में उदात्त निवृत्ति स्वर होने लगेगा। उत्तर। वर्णादाङ्गम्। परिभाषा के अनित्य होने से कहीं उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए यहाँ उसकी प्रवृत्ति न मानने से कोई दोष नहीं है और श्वन् शब्द में आभीय संप्रसारण के असिद्ध होने से 'न संयोगात्' निषेध भी हो जायेगा।

(१) न सम्प्रसारणे (६।१।३७)। अनुवृत्त्यैव निषेध्यसमर्पके लब्धे पुनः सम्प्रसारणग्रहणसामर्थ्यात्तन्मात्रनिषेधः इति दूरस्थस्यास्य, 'व्यथो लिटि' (७।१।६८) इत्यस्य च निषेधः। न च व्यथिव्यद्धयादावस्य चारितार्थ्येन 'यूनः' इत्यादौ पूर्वं सवर्णदीर्घरूपैकादेशे तस्य 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इति स्थानिवत्त्वेन सम्प्रसारणत्वेऽपि तेनैव स्थानिवत्त्वेनोकारव्यवधानात्कथं निषेध इति वाच्यम्, 'व्यथः' (७।४।६८) इति सूत्रे यग्रहणेनैव सिद्ध्या सम्प्रसारणग्रहणस्यैतन्निषेधकतयैव चारितार्थ्यस्य वक्तव्यत्वेन व्यवहितेऽपि प्रवृत्तेः, 'यूनस्तिः' (४।१।७७) इति निर्देशाच्च; इत्याशयेनाह—इति यकारस्येति। न च कार्यकालपक्षे 'इग्यणः' (१।१।४५) इत्युपस्थितस्य पदैकवाक्यतयाऽन्वये निमित्तस्य यणाऽन्वयेन येन नाव्यवधान न्यायेन पूर्वस्य सम्प्रसारणाप्राप्तेरिदं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम्, तत्पक्षेऽपि सञ्ज्ञासूत्राणां वाक्यभेदेनैव सम्बन्धस्योक्ततया विधायकेषु यण इत्यस्याभावात्। अत्र चेदमपि ज्ञापकं बोद्धयम्।

न सम्प्रसारणे। अनुवृत्ति से ही निषेध की प्राप्ति सिद्ध थी फिर सम्प्रसारण ग्रहण करने से संप्रसारण मात्र को निषेध सिद्ध होता है। इसलिए दूरस्थ इसका और 'व्यथोलिटि' का भी निषेध होता है। अब यहाँ शंका होती है कि व्यथिव्यद्धया में यह सूत्र चरितार्थ है तब यूनः इत्यादि में पहिले सवर्ण दीर्घ होने पर, 'अचः परस्मिन्' से स्थानिवत् भाव होने से सम्प्रसारण आने पर भी उसी स्थानिवत् भाव से उकार के व्यवधान में निषेध कैसे होगा। उत्तर 'व्यथः' सूत्र में वकार के ग्रहण से भी कार्य सिद्ध हो सकती है फिर सम्प्रसारण ग्रहण से इसी का निषेध स्वीकार करने से चरितार्थ हो सकता है। इसीलिए व्यवहित में भी प्रवृत्ति होगी; 'यूनिस्तः' यह निर्देश ही इसमें

प्रमाण है। इसी आशय से मूल में लिखा है। यकारस्येति। अब यहाँ शंका होती है कि कार्य कालपक्ष में 'द्वयणः' के उपस्थित होने पर पदैकवाक्यता से अन्वय स्वीकार करने पर निमित्त का यण् से अन्वय होने पर 'येननाव्यवधानम्' न्याय से पूर्व को संप्रसारण की प्राप्ति नहीं है तव यह सूत्र व्यर्थ ही है। उत्तर—कार्यकाल पक्ष में भी संज्ञासूत्रों वाक्य भेद से अन्वय होता है। इसलिए विधायकों में यणः का अभाव है इसमें यह सूत्र ही ज्ञापक है।

ननु सकृत्प्रवृत्त्यैवोभयोः सम्प्रसारणे जाते निषेधो व्यर्थो निमित्तत्वानुपपत्तिश्चेत्यत आह—अत एव ज्ञापकादिति। तदुक्तं भाष्ये 'इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाऽऽचार्याणामभिप्रायो गम्यते, एतदेव ज्ञापयति परस्य पूर्वं भविष्यति' इति। 'लक्ष्ये लक्षणस्य' इति न्यायस्य तु नायं विषयः, कार्याश्रयवर्णभेदेन (१) लक्ष्यभेदात्।

अर्वणस्तृ (६।४।१२७)। न तु साविति। पर्युदास एव तूचितः, प्रत्ययत्वेन च सादृश्यम्। अनञ इति बहुव्रीहिः, 'वाजमर्वंस्तु' इति प्रयोगात्, तत्पुरुषे त्वनञः परस्यार्वण इत्यर्थेऽत्र न स्यात्। सरत्र प्रथमैकवचनम्। अनञः किमिति। अनञ इत्यस्य कः शब्दो व्यावर्त्य इति प्रश्नः। उत्तरम्—अनर्वेति। यज्वन्शब्दसदृशोऽनर्वन्शब्दो व्यावर्त्य इत्यर्थः।

नन्विह निरनुनासिकोच्चारणेऽपि तपरसूत्रस्यानणीष विधीयमानेऽपि विद्व्यर्थत्वान्नस्थान्तरतम्यादनुनासिकः स्यात्, तपरसूत्रेऽप्रत्ययग्रहणानुवृत्ताचण्ग्रहणानुवृत्तौ च मानाभावादत आह—आञादिति। विशेष्यविशेषणभावेनान्वयान्न सर्वदेश इति भावः। भाष्ये त्वनुनासिकविधाने प्रतिपत्तिलाघवाय तस्यैवोच्चारणे कार्ये तदनुच्चारणात् शुद्धस्यैव विधानमित्युक्तम्।

अब फिर शंका होती है कि एक बार की प्रवृत्ति में ही दोनों को सम्प्रसारण हो जायेगा, फिर निषेध सूत्र व्यर्थ है—उत्तर—अतएव ज्ञापकादिति। भाष्य में भी लिखा है इंगित से, चेष्टा से, निमिषित् से वा सूत्र के निर्माण से आचार्यो का अभिप्राय ज्ञात होता है इसलिए यह सूत्र ही व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि पर को प्रथम संप्रसारण होगा। लक्ष्येलक्षण न्याय का तो यह विषय ही नहीं है। कार्याश्रय वर्ण भेद होने से लक्ष्य भेद स्पष्ट है।

वास्तविक में इस प्रकार के लक्ष्य भेद मानने पर पथः में फिर टिलोप होने लगेगा। इसलिए इस सूत्र के प्रारम्भ से तल्लक्ष्य के परिष्कार में स्वीय प्राथमिक प्रवृत्ति पाक् कालिक प्राति विषया घटितत्व का भी निवेश है अर्थात् एक साथ

दोनों के प्राप्त होने पर ललक्ष्य नहीं होता है अतएव षट्सत्ता में दो बार चर्त्व होता है।

अर्वणस्तृ। न तु सावितिं। यहाँ नञ् को पर्युदास मानना ही उचित है। और सादृश्य प्रत्ययत्व को लेना। अनञः में बहुव्रीहि समास है। इसमें 'वाजमर्वत्सु' यह प्रयोग ही प्रमाण है। तत्पुरुष मानने पर तो अनम् से परे अर्वन् इस अर्थ में यहाँ नहीं होता। सु प्रथमा का एक वचन ही लेना, सप्तमी का बहुवचन नहीं। अनञ् किमिति। अनञ् का कौन शब्द व्यावर्त्य है यह प्रश्न है। उत्तर है अनर्वेति। यज्वन् शब्द के सदृश अर्वनशब्द व्यावर्त्य है। प्रथमा के एक वचन में तो प्राप्ति ही नहीं है इसलिए अनर्वानौ में दोष समझना। इसलिए पंक्ति को इस प्रकार से लगाते है कि अनर्वन शब्द में दोष नहीं है रूप अयज्वन की तरह चलेंगे।

अब शंका करते है कि निरनुनासिक आकार के उच्चारण होने पर भी तपर सूत्र अन्मित्र स्थल में जिस प्रकार प्रवृत्ति होता है। उस प्रकार विधीयमान में विद्धयर्थ होने से आन्तरतम्य से नकार के स्थान में अकार अनुनासिक होना चाहिए। तपर सूत्र में अप्रत्यय तथा अण् की अनुवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। इसका उत्तर देते है— आत्रादिति। आकार रूप की आकार होता है, विशेष्य, विशेषण भाव स्वीकार करने अनेककाल के अभाव में सर्वादेश नहीं होता है। भाष्य में तो लिखा है कि यदि अनुनासिक का विधान इष्ट होता तो ज्ञान लाघव के लिए उसी का उच्चारण करते उसका उच्चारण न करने से शुद्ध ही आकार पन्था में होता।

केचित्तु इदं सर्वं 'गुणा भेदकाः' इति पक्ष। वृद्धिरादैच्सूत्रभाष्यसम्मते सिद्धान्तभूते 'गुणा अभेदकाः' इति पक्षे जातिपक्षे च तत्प्राप्तस्यापि सवर्णग्रहणस्याप्रत्ययग्रहणेन निषेधेनादोषात्। अतएव भाष्ये 'तपरस्तत्कालस्येति प्राप्नोति' इत्युक्तम्। अप्रत्यय इति च वाक्यभेदेन सर्वप्रतिषेधकम्, अण्ग्रहणस्य च तत्रासम्बन्ध इति तदाशयः। अत एव भाष्ये 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इत्येव पठितं, न त्वणेति। एतदवाभिप्रेत्याणुदित्सूत्रेऽनया परिभाषयाऽप्रत्ययग्रहणवैयर्थ्यमाशङ्क्याप्रत्ययग्रहणस्य तत्परिभाषाज्ञापकत्वमुक्तम्। तेन च तस्याव्यापकत्वं सूचितम्, अप्रत्ययग्रहणस्य मदुक्तरीत्या व्याख्यानञ्च सूचितम्। तेन जातिग्रहणप्राप्तस्य गुणाभेदकत्पक्षप्राप्तस्य चानयाऽणनण्साधारण्येन निषेध इति सूचितम्।

किन्ही का कथन है कि यह सब 'गुणा भेदकाः' पक्ष में है। 'वृद्धिरादैच्' सूत्र भाष्य सम्मत सिद्धान्त 'गुणाअभेदकाः' (अनुनासिकादि गुण व्यावर्तक नहीं होते है) पक्ष में और जातिपक्ष में सवर्ण ग्रहण से प्राप्त अनुनासिक का अप्रत्यय ग्रहण से निषेध

होने से दोष नहीं है। इसी से भाष्य में 'तपरस्तत्कालस्य' की प्राप्ति मात्र लिखी है। अप्रत्यय वाक्यभेद से सबका निषेध करता है और अण् ग्रहण का वहाँ सम्बन्ध नहीं है। यह उनका आशय है। इसी से भाष्य में 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' (विधीय मान सवर्ण का ग्राहक नहीं होता है) ही पाठ है। अण् का नाम नहीं है। यह समझ कर भाष्य में भाव्यमान परिभाषा से अप्रत्यय ग्रहण की व्यर्थता की आशंका कर अप्रत्यय को उक्त परिभाषा का ज्ञापक माना है और उससे उसकी अव्यापकता भी सूचित की है। और अप्रत्यय व्याख्यान भी मेरे कथनानुसार ही है इससे जाति ग्रहण से प्राप्त या गुणाभेदकत्व पक्ष से प्राप्त का अण् और अणन् में उक्त परिभाषा निषेध करती है।

वस्तुतोऽणुदित्सूत्रस्थाप्रत्ययग्रहणज्ञापकत्वपर भाष्यस्य एकदेशानुमति-द्वारा परिभाषया बोद्ध्यते इत्यर्थः। प्रतीयते इत्यस्य विधीयत इत्यर्था-प्रसिद्धया कैयटोक्तव्याख्या चिन्त्या। परिभाषायां सवर्णपदेन समानजातीयो भिन्नधर्मा उच्यते। तेन जशादिविधौ जत्वादिजात्याश्रयससर्वजकारादि-ग्रहणसिद्धिरित्याहुः।

एतेन पथीयतेः क्विपि पन्था इत्यादीत्यपास्तम्। अत्र शुद्धार्थं तदनु-च्चारणस्यावश्यकत्वेन भाष्यासङ्गतेः। तस्मात्तदनाभिधानमेवोचितम्। न च अदित्येवास्तु, नकारेकारयोरत्वे सवर्णदीर्घेण रूपसिद्धेः, पररूपं तु न, पथिमथ्यृभुक्षां लोपः, भस्य टेः, इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इति न्यासेन नकारा-श्रवणासिद्धावकारविधानसामर्थ्याद्; इति वाच्यम्, ज्ञानगौरवपरिहारेण स्पष्टार्थमाकारोच्चारणात्।

अब यहाँ नागेश अपना सिद्धान्त लिखते है। अनुदित् सूत्र में भाष्यकार ने जो अप्रत्यय ग्रहण ज्ञापकता की है उसका एकदेशानुमति (स्थालीपुलाकन्याय) से परिभाषा का बोधन ही अर्थ है। प्रतीयते का विधीयते यह अर्थ प्रसिद्ध न होने से कैयट की व्याख्या विचारणीय है। परिभाषा में सवर्ण पद से समान जातीय वाला भिन्न धर्म वाला कहा है इससे जशादिविधि में जत्वादि जाति वाले सब ही जकारादि का ग्रहण होता है।

इसी से पथीयतेः विग्रह में क्विप् प्रत्यय में पन्थाः की जो सिद्ध की है वह उचित नहीं है। क्योंकि उक्त प्रयोग में शुद्ध आकार के लिए निरनुनासिक उच्चारण होने से भाष्य असंगत होता है। इसलिए उक्त प्रयोग का अनभिधान ही है अब यहाँ कहते है कि अत् करने से नकार तथा इकार को अकार करने पर सवर्ण दीर्घ से रूप सिद्ध हो जायेगी। पर रूप तो नहीं होगा क्योंकि 'पथिमथ्यृभुक्षां लोपः' 'भस्य टेः'

'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इसन्यास से नकार का श्रवण नहीं होता फिर अकार विधान व्यर्थ था। उत्तर उक्त न्यास में प्राप्त ज्ञान गौरव को दूर कर स्पष्टार्थ ही आकार का उच्चारण है।

इतोऽत् (७।१।८६)। आदित्यनुवृत्त्यै सिद्धेऽवचनम् 'ऋभुक्षणम्' इत्यादौ 'वा षपूर्वस्य' (६।४।९) इति दीर्घविकल्पे पक्षे ह्रस्वश्रवणार्थम्। इत इति अदिति च तपरत्वे मुखसुखार्थम् 'एरत्' इत्युक्तौ ततो लाघवाभावात्। अन्यथा विधेयेऽपि तपरकरणात् 'कुरुतः' इत्यादौ गुणाभाववत् 'पन्थानौ' इत्यादौ दीर्घाभावापत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः।

थोन्थः (७।१।८७) थो नुडिति नोक्तम्। इत्संज्ञायाः 'आद्यन्तौ' (१।१।४६) इत्यस्य चानुसन्धाने प्रक्रियागौरवात्।

(१) भस्य टेः (७।१।८८)। भस्य किम्? पथिभ्याम्। सम्बुद्धौ नपुंसकानामिति। इदं 'न लुमता' (१।१।६३) इतिनिषेधानित्यत्वमूलकमित्युक्तम्। यद्यपि भाष्ये 'वा नपुंसकानाम्' इत्येव पठितं, तथापि सूत्रे ङिग्रहणस्य प्रत्याख्यातत्वेन, हे चर्मन्' 'हे चर्म' इति सम्बुद्धावेवोदाहृतत्वेन च तावन्मात्रविषयताऽस्येति भावः।

इतोऽत्। आत्‌धी अनुवृत्ति से ही कार्य हो जाता फिर अत् का विधान 'ऋतुभुक्षणम्' आदि में 'वाषपूर्व' से दीर्घ विकल्प होने पर पक्ष में ह्रस्व श्रवण के लिये है। इत् और अत् में तपरकरण मुख के सुख के लिये है 'एरत्' कहने में भी कोई लाघव नहीं था। यदि मुखसुखार्थ स्वीकार नहीं करते तो विधेय में भी तपर करने से कुरुत में जैसे गुण नहीं होता है उसी तरह पन्थानौ में दीर्घाभाव होने लगता।

थोन्थः। 'थोनुट्' व्यास तो नहीं किया क्योंकि इत्संज्ञा तथा आद्यन्तौ सूत्र के अनुसंधान करने से प्रक्रिया गौरव था।

भस्य टेः। भस्य के अभाव पथिभ्याम् में टि लोप होने लगता। 'सम्बुद्धौ नंपुंसकानामिति। यह वार्तिक 'न लुमताङ्गस्य' निषेध के अनित्यत्व मूलक है। यद्यपि भाष्य में 'वा नंपुंसकानाम्' ही पाठ है। तो भी सूत्रस्थ ङिग्रहण के प्रत्याख्यान से, हे चर्मन्, हे चर्म यह सम्बुद्ध में ही उदाहरण होने से सम्बुद्ध मात्र में ही उक्त वार्तिक की ही प्रवृत्ति होती है।

ष्णान्ता (१।१।२४)। विशेष्यसाकाङ्क्षात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् प्रकृतं संख्येत्याकृष्यते संख्याशब्देन च संख्याप्रकारबोधजनकाः पञ्चादयो गृह्यन्ते, संख्येतिशब्दे बहुगणडतिषु च तदन्तत्वासम्भवात्। तदाह–सङ्ख्येति।

सन्निपातेति । बहिरङ्गासिद्धत्वं न, सञ्ज्ञाया कार्यकालपक्षत्वेन समत्वात् । स्पष्टञ्चेदं भाष्ये ।

नोपधा (६।४।७) नलोपस्यासिद्धत्वात् 'नामि' (६।४।३) इति-दीर्घाप्राप्तेरयमारम्भः नामीत्यस्याङ्गविशेषणतैव न्याय्या, नामः प्रत्ययत्वात् । एवञ्च 'पञ्चानाम्' इत्यादौ पकाराकारस्य दीर्घवारणायोपधाग्रहणम् । नेति किम् ? चतुर्णाम् । नामि किम् ? चर्मणाम् । नलोप इति । 'ब्रुवः पञ्चानाम्' (३।४।८४) इति लिङ्गान्न सन्निपातपरिभाषाविरोधः ।

ष्णान्ता ॥ विशेष्य में साकांक्ष होने से और स्त्रीलिंग का निर्देश होने से प्रकृति संख्या का इस सूत्र से अपकर्ष होता है । संख्या शब्द से संख्या प्रकारक (संख्या है विशेषण जिसमें) बोध के जनक पंञ्चादियों का ग्रहण होता है । संख्या शब्द में तथा बहुगणत् में तदत ग्रहण होना सम्भव नहीं है । इसी से संख्येति । सन्निपातेति । बहिरंग होने से असिद्ध तो नहीं होता है क्योंकि कार्यकाल पक्ष में संज्ञा भी वहिरंग है । यह भाष्य में स्पष्ट है ।

नोपधाया । न लोप के असिद्ध होने से 'नामि' से दीर्घ की प्राप्ति नहीं थी इस लिये उक्त सूत्र का निर्माण किया । नामि के प्रत्यय होने से नामि को अंग का विशेषण मानना ही उचित है । पंञ्चानाम् में पकार के अकार को दीर्ववारण के लिये उधाग्रहण है । नकार के अभाव में चतुरणाम् में भी उकार को दीर्घ होने लगता । नामि के अभाव में चर्मणाम् में दोष था । न लोपइति । 'ब्रुवः पञ्चानम्' निर्देश से सन्निपात परिभाषा का विरोध नहीं है ।

अष्टन आ (७।२।८४) अनण्त्वान्नानुनासिक इति भाष्ये स्पष्टम् । जातिग्रहणेन गुणाभेदकत्वेन तु न सः, भाव्यमानत्वात् । शुद्धोच्चारणादिति तु नात्र वक्तुं शक्यम्' 'रायो हलि' (७।२।८५) इत्युत्तरार्थन्तस्य चारिता-र्थ्यात् । प्रश्लेषेणापि न निर्वाहः, वाच्यवृत्त्याऽननुनासिकव्यावृत्तेस्तेनालाभात् । प्रत्युत तत्रापि गुणाभेदकत्वाद्दुर्वारत्वेनाऽऽन्तरतम्यादननुनासिकस्यैव प्राप्तेः प्रश्लेषस्य पर्यायेण सकलाकारविधानार्थत्वं स्यात् । एवमन्यत्रापि बोद्ध्यम् । 'रायो हलि' (७।२।८५) इत्यतो हलीत्यपकृष्यते ।

अष्टाभ्य औश् । (७।१।२१) । उङिति तु नोक्तम्, सकारस्योकारे 'अष्टा अ उ' इति स्थिते इङिश्नीनामादगुणः सवर्णदीर्घत्वात्' इति न्याये-नान्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घे तत आद्गुणे 'अष्टौ' इत्यस्या (१) सिद्ध्यापत्तेः । हलीत्यपकर्षे कृताकारादित्यनुपपन्नमत आह—कृतात्वेति । कृतात्वानुकरण-मित्यर्थः । लक्षणवशसंपन्नत्वे हि तस्य वैकल्पिकतया लाघवादष्टभ्य इत्येव

वदेदिति भावः । ज्ञापयतीति । (२)अयं भावः—हलीत्यपकृष्यमाणं वाक्य-भेदेन पुनर्विधानार्थम् । तेन 'अष्टन' (६।३।१२५) इत्यस्य क्वचिदक्ष्वपि प्रवृत्तिरिति । आत्वमिति । आत्वमात्रमित्यर्थः ।

अष्टन आ । अनण् में होने से अनुनासिक नहीं होता है । जाति ग्रहण से अथवा गुणभेदकत्व पक्ष से भी अनुनासिक नही होता है क्योंकि वह विधीयमान है । शुद्ध उच्चारण करने से अनुनासिक नही होता है । यह कथन यहाँ उचित नही है । क्योंकि 'रायोहलि' अनुवृत्ति के लिये शुद्धोच्चारण चरितार्थ है । प्रश्लेष से भी यहाँ निर्वाह नहीं है, क्योंकि वाच्यवृत्ति (शक्ति) से अनुनासिक की निवृत्ति का लाभ उससे नहीं हो सकता है । और वहाँ भी गुणाभेदकत्व मानने पर आन्तरतम्य से अनुनासिक ही होगा । प्रश्लेष क्रम से सम्पूर्ण अकारों को करने के लिये होगा । अन्य स्थल में भी इसी प्रकार जानना । 'रायोहलि' से हलि का अपकर्ष होता है ।

अष्टाभ्य औश् । का विधान तो नहीं किया, क्योंकि सकार को अकार करने पर 'अष्टा अ उ' ऐसी स्थिति में अन्तरंग सवर्ण दीर्घ करने पर गुण ओकार होने से अष्टौ की सिद्ध नहीं होगी । हलि के अपकर्ष करने से कृताकारादित् कहना सम्भव नही है इसलिये कहते हैं—कृतात्वेति । कृतात्व का अनुकरण यह इसका अर्थ है सूत्र से होने वाला अकार वैकल्पिक था तब लाघव के लिये अष्टभ्यः कहना ही उचित था । ज्ञापयतीति । इसका भाव यह है अपकृष्ट हलिपद वाक्य भेद से फिर विधान के लिये है । इससे 'अष्टनः' सूत्र की कहीं अच् के परे भी प्रवृत्ति हो जाती है । आत्वमिति । आत्वमात्र अर्थ है ।

सूत्रे इति । दीर्घान्तादष्टनः पराऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्तेति तदर्थः । ज्ञापकादिति । तद्धि 'अष्टाभिः' इति ह्रस्वेऽन्तोदात्तव्यावृत्त्यर्थम् । एवञ्च ह्रस्वव्यावृत्त्यर्थं क्रियमाणं दीर्घग्रहणमात्ववैकल्पिकत्वे ज्ञापकम् । न च—'अष्टाभिः' इत्यत्र सावकाशस्य 'अष्टन' इति सूत्रस्य 'अष्टभिः' इत्यत्र परत्वाद् 'झल्युपोत्तम्' (६।१।१८०) इत्यनेन बाधे सकृद्गतिन्यायेन पुनर-प्रवृत्तौ व्यर्थमेव तत्, न हि 'अष्टाभिः' इत्यत्र 'झल्युपोत्तमम्' इति प्राप्नोति, कार्यकालपक्षेऽनान्तत्वेन षट्त्वाभावात्, अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावाच्च; इति वाच्यम्, पुनःप्रसङ्गविज्ञानबोधनद्वारा एतद्विषये यथोद्देशपक्षस्यैवाश्रयण-बोधनद्वारा वा तद्विकल्पे ज्ञापकमित्याशयादित्य(१)न्यत्र विस्तरः ।

सूत्रेऽति । दीर्घ अष्टन् से परे असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है यह उसका अर्थ है । ज्ञापकादिति । वह दीर्घ ग्रहण 'अष्टभिः' ह्रस्व में अन्तोदत्त निवृत्ति के लिये है इस तरह से ह्रस्व व्यावृत्ति के लिये किया गया दीर्घ ग्रहण आत्व के विकल्प होने से ज्ञापक है । अब यहाँ शंका करते हैं कि 'अष्टाभिः' अष्टनः' सूत्र साव-

कारा है अष्टभि में पर होने से 'सल्युपोत्ताकम्' से उसका बाध हो जायेगा। फिर दीर्घ ग्रहण व्यर्थ ही है। अष्टाभिः में झल्युपोत्तमम् की नही है। क्योंकि कार्यकाल पक्ष में अनान्त होने से षट संज्ञा नही है। और अल् विधि होने से स्थानिवद्भाव भी नहीं होगा। उत्तर पुनः प्रसंग विज्ञान मानने से अन्यथा इसके विषय में यथोद्देश पक्ष को ही स्वीकार करने से वह दीर्घ ग्रहण से आत्व के विकल्प में ही ज्ञापक है।

अष्टानामिति। हलीत्युक्तेरादौ नुट्, तत्र आत्वम्। यत्तु—'सन्निपातपरिभाषयाऽत्र नात्वं, किन्तु 'नोपधायाः' [६।४।७] इति दीर्घे नलोपः। अन्तोदात्तत्वस्तु 'षट्त्रि' [६।१।१६९] इत्येव सिद्धम्। नलोपे तु न सन्निपातपरिभाषा, नलोपस्यासिद्धत्वात्, इति; तन्न, पूर्वत्र कर्त्तव्ये नलोपासिद्धत्वेनालाभाच्च, अरोपितासिद्धत्वेऽपि वस्तुतो नलोपे तद्विघातस्य जायमानत्वेन नलोपेऽपि तस्या दुर्वारत्वाच्च। अत एव 'गव्यिता' 'नाव्यिता' इत्यादौ सन्निपातपरिभाषया यलोपो न। अन्यथा 'यस्य हलः' (६।४।४९) इति यलोपस्य बहिर्भूततृज्मिमित्तकत्वेन बहिरङ्गतयाऽन्तरङ्गावादेशं प्रत्यसिद्धतया निमित्तविघाताभावः स्पष्ट एव। तस्मान्नलोपस्यापि परिभाषाऽनित्यत्वेनैव साध्यतया तस्यासिद्धत्वादात्वमेव युक्तं तदनित्यत्वेन। किञ्च षट्सञ्ज्ञासन्निपातेन जातस्य नुट आत्वे नलोपे वा न तद्विघातकत्वं, स्थानिवद्भावेन कृतात्वेऽपि षट्त्वसत्त्वात्। कार्यकालपक्षे तत्तद्विद्ध्येकवाक्यतापन्नषट्त्वस्य बहिरङ्गतयाऽऽत्वे कृतेऽनान्तत्वेन षट्त्वाभावान्नुट् न स्यादिति हलीत्यपकर्षः। दीर्घग्रहणाज्ज्ञापकादाकारान्तस्य षट्सञ्ज्ञाश्रयणे, अत्र यथोद्देशस्यैवाश्रयणेनान्तरङ्गत्वात् पूर्वं षट्त्वे नान्तसंख्यावाचकत्वसमानाधिकरणधर्मविशेषरूपस्य षट्त्वस्य स्थान्यल्धर्मत्वाभावेन स्थानिवद्भावादाकारान्ते आश्रयणे वा प्रतिपत्तिगौरवमिति बोद्धयम्।

अष्टानामिति। हल् के परे आत्व होता है इसलिए नुट् करने पर आत्व होगा किसी का कथन है कि सन्निपात परिभाषा से आत्व नही होता है किन्तु 'नोपधायाः' से दीर्घ होने पर न लोप होता है। और 'षट्षि' से अन्तोदात्त सिद्ध है। न लोप करने में सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि न लोप असिद्धत्व में प्रमाण नहीं है। सन्निपात के अशास्त्रीय होने से न लोप के असिद्ध करने से उसका लाभ भी नहीं हो सकता है। आरोपित असिद्ध स्वीकार करने पर भी वास्तविक में न लोप में उसका विघात होने से न लोप में भी उस परिभाषा की प्रवृत्ति अवश्य होगी। इसी से 'गव्यिता' 'नाव्यिता' में सन्निपात परिभाषा से मकार का लोप नहीं होता है। नहीं तो 'मस्यहलः' से होने वाला यलोप बहिर्भूततृच निमित्तक होने से बहिरंग होने के

कारण अन्तरंग अवादेश करने में असिद्ध हो जाता तो निमित्त का विघात नहीं था इसलिए न लोप भी परिभाषा को अनित्यमान कर ही सिद्ध होगा तब परिभाषा को अनित्यमानकर न लोप को असिद्ध कर आत्व करना ही उचित है और षट् संज्ञा के सन्निपात से होने वाला नुट् आत्व या न लोप में षटसंज्ञा का विघात नहीं है। क्योंकि आत्व करने पर भी स्थानिवत् भाव से षट्त्व है। कार्यकाल पक्ष में तत् तत् विधायक सूत्रों से एक वाक्य को प्राप्त षट् संज्ञा के बहिरंग होने आत्व करने पर नान्त न होने से षट्संज्ञा के अभाव में नुट् नहीं होगा। इसलिये हलिका अपकर्ष है। दीर्घ ग्रहण के ज्ञापन से आकारान्त की षट्संज्ञा मानने पर यहाँ यथोदेश पक्ष का ही आश्रयण करने से अन्तरंग षट् संज्ञा पूर्व में ही होगी। नान्त संज्ञा वाचकत्व समानाधिकरण धर्म विशेष ही षट्त्व हैं वह स्थान्यल धर्म नहीं हैं इसलिये स्थानिवत् भाव से आकारान्त में षट् संज्ञा मानने में ज्ञान गौरव होगा।

वृत्त्याद्यनुसारेणाह–गौणत्वे त्वित्यादि। स्थानिवद्भावादिति। 'पूर्वत्रासिद्धे' इति तु 'तस्य दोषः' इत्यनेन निषिद्धमिति भावः। कार्यकाल-पक्षे। इत्यादि तु प्राचामनुरोधेनेत्युक्तम्। प्राधान्य एवेति। बहुवचन-निर्देशात्। एवञ्च गौणे आदेशाप्रवृत्तौ तज्ज्ञाप्याऽऽत्वमपि नेति भावः।

परे तु–'ष्णान्ता' (१।१।२४) इति सूत्रे भाष्ये 'अष्टानाम्' इत्येत-त्सिद्धये हलीत्यपकर्षमुक्त्वा तत्र पक्षे 'प्रियाष्टौ, प्रियाष्टा इति न सिद्धयति, 'प्रियाष्टानौ, प्रियाष्टानः' इति प्राप्नोति, इति शङ्किते 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' इति समाहितम्। तत्र यथालक्षणमिति प्रतीकमुपादाय 'यस्य विशिष्टः' प्रयोगो न स्मर्यते, नापि प्रयोगनिषेधस्मृतिः, तद् यथालक्षणमनुगन्तव्यं तदत्र मा भूदात्वमित्यर्थः इत्येकमर्थमुक्त्वा 'नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्त्तते, प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात्' इति व्याख्यानान्तरमुक्तम्। तत्रान्त्य-व्याख्यानमेव न्यायः, अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्यैव योग्यता, न तु लक्षणप्रवृत्ते-रित्यर्थसङ्गतेः आद्यव्याख्यायामप्रयुक्ते इति वाक्यशेषासङ्गतिः, प्रयुक्तेऽपि लक्षणानतिक्रमात्, प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानमित्यन्यत्र भाष्योक्तेश्च। किञ्च भाष्यकारस्य लक्ष्यैकचक्षुष्कतया इयमेव व्याख्योचिता, एकस्यैव प्रयोगस्य भाष्यफक्किकाव्याख्यानभेदेन साधुत्वासाधुत्वयोरनौचित्याच्च, न वा' (१। १।४४) इति सूत्रे भाष्ये पक्षभेदेनैकस्यैव साधुत्वासाधुत्वयोस्तिरस्काराच्च। अत एव हल्ङ्यादिसूत्रादावस्याप्रयुक्ते लक्षणाभाव इत्येव व्याख्याऽऽदृता कैयटेन। 'नाम्रेडितस्य' (६।१।९९) इति सूत्रेऽपि कैयटः—'प्रयोगमूलत्वा-दस्य शास्त्रस्य प्रयोगाभावे न प्रवृत्तिः' इति। एवञ्चैषामनभिधानमेवो-

चितम्। अत एव 'अष्टाभ्य औश्' (७।१।२१) इति सूत्रे भाष्ये 'बिभाषा आत्वं, यदयमात्वभूतस्य ग्रहणङ्करोति अष्टाभ्य इति। अन्यथा अष्टन इत्येव ब्रूयात्' इत्युक्तम्। कैयटरीत्या गौणे प्रवृत्त्यभावाय बहुवचननिर्देश-स्यावश्यकतया तदसङ्गतिः स्पष्टैव। एवञ्च तत्प्रयोगविचारः सर्वोऽपि निष्फल एवेत्या (१) हुः।

वृत्तिकारादि अनुसार से कहते हैं—गौड़त्वे त्वित्यादि। स्थानिवद्भावादिति। 'पूर्वत्रासिवीये न स्थानिवत्' यह निषेध यहाँ नहीं लगता है। क्योंकि "तस्य दोषः" से उसका बाध हो जाता है। प्रकृति में स्टुत्व से णत्व करना है कार्यकालपक्षे इत्यादि कथन प्राचीनों के अनुरोध से है। प्राधान्य एवेति। बहुबचन निर्देश से अब गौण में आदेश नहीं होगा, तब उससे ज्ञापित आत्व भी गौण में नहीं होगा।

यहाँ नागेश कहते हैं कि 'ष्णान्ता' सूत्र के भाष्य में अष्टानाम् की सिद्धि के लिए हलि का अपकर्ष कहकर उस पक्ष में 'प्रियाष्टौ' 'प्रयाष्टनः' की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि हल् परे नहीं है। 'प्रियाष्टानौ' 'प्रियाष्टानाः' प्राप्त होंगे। यह शंका कर यथालक्षणं न प्रयुक्ते समाधान किया। वहाँ यथालक्षणं इस प्रतीक को लेकर जिसका विशिष्ट प्रयोग स्मरण न होता हो और प्रयोग के निषेध का भी स्मरण न हो उसको यथालक्षण ही समझना। इसलिये यहाँ आत्व नहीं होगा। ऐसा एक अर्थ कहकर अथवा लक्षण (सूत्र) अप्रयुक्त में प्रवृत्त नहीं होता है। क्योंकि प्रयुक्तों की सिद्धि ही सूत्र से होती है।

यह दूसरी व्याख्या की उन दोनों में दूसरा व्याख्यान ही ठीक है। अप्रयुक्त में लक्षण के अभाव कीं ही योग्यता है। सूत्र की प्रवृत्ति की योग्यता नहीं है। यह अर्थ संज्ञक प्रतीत होता है। क्योंकि प्रथम व्याख्या में अप्रयुक्ते यह वाक्य शेष असंगत होता है। क्योंकि प्रयुक्त में भी लक्षण का अतिक्रमण नहीं होता है क्योंकि प्रयुक्तों का यह अन्वास्थान है। ऐसा भाष्य अन्यत्र लिखा है और भाष्यकार तो प्रयोग देखकर ही कार्य करते हैं। इसलिए यही व्याख्या उचित है। एक प्रयोग का भाष्य थी पंक्ति की व्याख्या भेद से साधुत्व और असाधुत्व स्वीकार करना उचित नहीं है। 'न वा' सूत्र के भाष्य में पक्ष भेद से एक का ही साधुत्व और असाधुत्व स्वीकार करना उचित नही है। इसी से 'हल्ङयादि' सूत्र भाष्य के कैयट में अप्रयुक्त में लक्षण का अभाव ही करना इस व्याख्या का आदर किया है। 'नाम्रेऽतिस्य' सूत्र में कैयट ने कहा है यह शास्त्र प्रयोगमूलक है प्रयोग के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए उक्त प्रयोगों का अनभिधान मानना ही उचित है। इसी से 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र के भाष्य में लिखा है कि आत्व विकल्प से होता है क्योंकि आत्व वाले अष्टाभ्यः को ग्रहण करता है। नहीं तो 'अष्टनः' कहना ही पर्याप्त था कैयट की रीति से गौण में अप्रवृत्ति के लिए

बहुवचन निर्देश आवश्यक होने से उसकी असंगति स्पष्ट ही है इसलिए उस प्रयोग के विषय में सब विचार निष्फल है।

निरुपपदादिति। नुमोऽसमास एव विधानेन, सोपपदे 'चोः कुः' (८।२।३०) इति कुत्वेनैव सिद्धत्वेन क्विनि क्विपि च विशेषाभावादिति भावः। कनाविति। इदमुपलक्षणमुच्चारणार्थेकारस्यापि। ककारो गुणप्रतिषेधाद्यर्थः। नकारः 'क्विन्प्रत्ययस्य' (८।२।६२) इत्यत्र विशेषणार्थ इति भाष्ये स्पष्टम्।

सन्निहित इति। तत्फलन्तु णिजादीनां (२) सञ्ज्ञाभावः अतिङ् किम्? (३) 'रुरुदिव' इत्यादौ 'नेड् वशि कृति' (७।२।८) इति निषेधो मा भूदिति। (४) ज्ञापकेन निर्वाहस्तु व्याख्यानाद्वरं करणमिति न्यायाननुगृहीत इति सूत्राशयः।

निरुपपदादिति। नुम् असमास में ही होता है, सोपपद में 'चोः कुः' से कुत्व से सिद्ध है। क्विन् या क्विप् में कोई विशेषता नहीं है कनाविति। यह उच्चारणार्थ इकार का भी उप लक्षण है। ककार गुण निषेध के लिए है। नकार—'क्विप्रत्यस्य' में विशेषण के लिए है। यह भाष्य में स्पष्ट है।

सन्निहितेइति। निच् आदि की कृतसंज्ञा न होना ही उसका फल है। इस सी स्त्येत में डाकृत पर्युदास के न लगने से दीर्घ सिद्ध होता है। 'रुरदिव' में 'नेड् वशि कृति' से निषेध न हो इसलिए अतिङ् ग्रहण किया है। व्याख्यान से ज्ञापक के द्वारा निर्वाह की अपेक्षा उसका ग्रहण करना ही उचित है, इस न्याय से अनुग्रहीत नहीं है। यह सूत्र का आशय है।

युजेर [७।१।७१] 'उगिदचाम्' [७।१।७०] इत्यतः सर्वनामस्थाने इति, 'इदितो नुम्' [७।१।५८] इत्यतो नुमिति चानुवर्त्तते।

क्विन्प्रत्यय [८।२।६२]। प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यादतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। न च तदभावे वस्य कुत्वापत्तिः, तथा सति 'क्विनो घः' इत्येव वदेद्, 'नशेर्वा' [८।२।६३] इत्यत्र घानुवृत्तावप्यदोषादिति बोद्धव्यम्।

चोः कुः [८।२।३०]। 'स्कोः' [८।२।२९] इत्यतोऽन्ते इति, 'झलो झलि' [८।२।२६] इत्यतो झलीति चानुवर्त्तते, 'पदस्य' [८।१।१६] इति चाधिकारः। कुत्वस्यासिद्धत्वादिति। अतद्गुणबहुव्रीह्याश्रयणात्प्राप्तिः। सुयुगिति। 'सत्सूद्विष' [३।२।६१] इति 'क्विप्। धातुपाठेति। (१) व्याख्यानादिति भावः। युगिति। क्विप् च' [३।२।७६] इति क्विप्।

इहेति । 'सृजिदृशोः' [६।१।५८] इति सूत्रे 'रज्जुसृड्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात्काम्यच्सूत्रे भाष्ये 'उपयट्काम्यति' इति प्रयोगात् 'क्विन् प्रत्ययस्य' [८।२।६२] इति कुत्वं नेत्यर्थः। परिमृडिति । 'धातोरुच्यमानं कार्यं तत्प्रत्यये' [प० भा० ८८] इति परिभाषयाऽत्र सुब्निमित्तिका मृजेर्वृद्धिर्न। क्विब्निमित्तिका तु 'क्ङिति च' [१।१।५] इति निषेधान्न। परौ व्रजेः। 'क्विब्वचि' इत्युणादिपठितमि [२]ति मते ततः क्विब्दीर्घावनुवर्तेते, [३] व्याख्यानाच्च ताभ्यां पदान्त इत्यस्यासम्बन्धः, किन्तु षेणैवेत्याह–क्विबित्यादि।

मुजेर। 'उगिद्चाम् से सर्वनाम स्थाने की और 'इदितो नुम्' से नुम् की अनुवृत्ति होती है। क्विप्रत्ययस्य। प्रत्यय ग्रहण करने से अतद्‌गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है। जहाँ उसका गुण नहीं आता है, वहाँ अतद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होता है जैसे दृष्ट सागर में यहाँ सागर नही आता है तद्‌गुणनागयज्ञोंपवीती में है। उसके अभाव में वकार को कुत्व होने लगेगा। तब 'क्विनों घः' करना ही उचित था।

'नशेर्वा' में घ की अनुवृत्ति करने में दोष नहीं है चोः कुः। 'स्को' से अन्ते की 'झलो-झलि' से झलि की अनुवृत्ति होती है 'पदस्य' का अधिकार है। कुत्वस्यासिद्धत्वादिति अतद्‌गुण बहुव्रीहि मानने से प्राप्त है। सुयुगिति। 'सत्सूद्विषु' से क्विप् प्रत्यय होता है। धातुपाठेति। अभिव्यक्ति पदार्थः इत्यादि न्याय मूलक व्याख्यान से। युगुति 'क्विप् च' से क्विप् होता है। इहेति। 'सृजिदृशोः' सूत्र में 'रज्जुसृड्भ्याम् इस भाष्य के प्रयोग से और काम्यच् सूत्र के भाष्य में 'उपयट्काम्यति प्रयोग से क्विन्प्रत्ययस्य से कुत्व नहीं होता है। परिमृडिति। 'धातोः' धातु के लिए विहित कार्य धातु का उच्चारण करके विहित प्रत्यय के परे होता है। इस परिभाषा से बल से मृज को सुबिनिमित्तक वृद्धि नही होती है। 'क्ङिति च' से निषेध होने. क्विप् को मानकर भी नहीं होती है। परौवृजेः। 'क्विब्वचि' यह उणादि में है इस मत में उससे क्विप् और दीर्घ की अनुवृत्ति होती है व्याख्यान से उनसे पदान्त का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु सकार से ही होता है इसी से लिखा है— क्विबित्यादि।

विश्वस्य (६।३।१२८) । 'ढ्रलोपे' (६।३।१११) इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। ननु षत्वादीनामसिद्धत्वेन राट्शब्दपरत्वाभावः, अत आह—पदान्तेति। तेन 'विश्वराजौ' इत्यादौ न, 'विश्वाराड्भ्याम्' इत्यत्र च भवति। 'आदित्यविश्ववसवः' (अ० को० १।१।१०) इत्यत्र तु न दीर्घः, 'नरे सञ्ज्ञायाम्' (६।३।१२९) इत्यतः (४)सञ्ज्ञापदापकर्षणात्।

विश्वस्य। 'ढ्रलोपे' से दीर्घ की अनुवृत्ति होती है। अब यहाँ शंका होती है कि

षत्वादि के असिद्ध होने से राट् शब्द से परे नहीं मिलेगा उसका अन्तर है पदान्तति। इससे विश्वराजौ में नहीं होता है और विश्वाराड्भ्याम में होता है। 'आदित्यविश्व-वसवः में दीर्घ नहीं होता है क्योंकि 'नरे संज्ञायाम्' से संज्ञापद का अपकर्ष होता है।

स्कोः सं (८।२।२९)। 'झलो लोपः' संयोगान्तलोपः' इति भाष्योक्तेरत्र झल इत्यस्यासम्बन्धः। तेन झलः परयोः स्कोर्लोप इति नार्थ इत्यन्यत्र प्रपञ्चितम्। झलीत्यनुवर्त्तमानं झलादिप्रत्ययपरम् 'झलो झलि' (८।२।२६) इत्यत्र 'उदःस्था' (८।४।६१) इत्यारम्भेण तदर्थकतयाऽर्थाधिकारात्। तेन 'पृथक्स्थाता' 'पयःस्थितिः' इत्यादौ न दोषः, (१) सङ्गीति वार्तिकाच्च। सनस्सकारमारभ्याऽऽमहिङो ङकारात्सङिति प्रत्याहारः। 'भूयास्ताम्' इत्यादौ 'व्यञ्जनपरस्य' इति न्यायेन लोपाभावेऽपि न क्षतिः।

केचित्त्वप्रत्यये संयोगादिलोपप्राप्तियोग्योदाहरणानामनभिधानमेवोचितम्। 'सङीति वक्तव्यं काष्ठशक्स्थाता' इति वार्त्तिकस्य प्रत्याख्यानपरेण 'काष्ठशगेव नास्ति, कुतः काष्ठशक्स्थाता' इति भाष्येण तथैव बोधनादित्याहुः।

प्रत्याख्यानमे(२)कदेशयुक्तिः। सङीति वक्तव्यमेवेति परे।

'चोः कुः' (८।२।३०) इत्येतत् षत्वेनापवादत्वाद् बाध्यते, क्विन्प्रत्ययस्य' (८।२।६२) इत्यस्य तु क्विन्विधानसामर्थ्यादेव न बाध इत्याह—क्विन्नन्तत्वादिति। ऋत्विक्शब्दे यज्ञसम्बन्धिपुरुषविशेषे रूढः।

त्यदादीनामित्यनुवृत्तेराह—त्यदादीनामिति। तेन 'आतपः' इत्यादौ न। तदोः किम्? यः। तोरिति तु नोक्तम् 'अनेषा' इत्यादौ नस्याप्यापत्तेः। न च नुटो बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वं, बहिर्भूतसुनिमित्तकत्वेनास्यैव बहिरङ्गत्वात्। इदञ्च 'तस्मान्नुडचि' (६।३।७४) इति सूत्रे भाष्ये (३) ध्वनिसौ किम्? तौ। अत्वसत्वे नेति। गणकार्यत्वादिति भावः।

स्कोः सं। 'झलो लोपः संयोगान्तलोपः' इस भाष्यकार की उक्ति से यहाँ झल् का सम्बन्ध नहीं है इससे झल् से परे सकार ककार का लोप हो यह अर्थ नहीं है। अनुवर्त्त मान झलि झलादि प्रत्यय परक है 'झलोझलि' 'उदःस्था' के आरम्भ से और अर्थाधिकार होने से उसका प्रत्यय परक ही अर्थ करना अर्थात् झलादि प्रत्यय के परे कार्य होता है। उक्तार्थ करने से पृथकस्थाना' पयः स्थिति में क्रम से ककार सकार को लोप नहीं होता है इसमें संगीति वार्तिक भी प्रमाण है। सन् के सकार से लेकर महिङ के ङकार तक संङ् प्रत्याहार है। 'भूयास्ताम्' में 'व्यञ्जनपरस्य' इस न्याय से लोप के अभाव में भी कोई क्षति नहीं है।

किसी का कथन है कि अप्रत्यय के परे संयोगादि लोप योग्य उदाहरणों का अनभिधान मानना ही उचित है। 'संङीति वक्तव्यम् काण्ठशक्स्थाता' इस वार्तिक के प्रत्याख्यानभूत भाष्य में लिखा है कि काष्ठशक ही नहीं है तो काष्ठशकस्थाता कैसा। इससे भी अनभिधान ही आता है।

प्रत्याख्यान एकदेशी है और सङीति कहना ही चाहिए यह नागेश का मत है।

'चोः कुः' का तो सत्व से अपवाद होने से बाध कर देता है। 'क्विन्प्रत्ययस्य' का क्विन् विधान करने से बाध नहीं होता है। इसीसे लिखा है क्विन्नत्तत्वादिति। ऋत्विक्शब्द यज्ञसम्बन्धी पुरुष विशेष रूढ़ है।

त्यदादीनाम् की अनुवृत्ति होने से कहते हैं—

त्यदादीनामिति। इससे 'आतपः' के तकार को सत्व नहीं होता है। तदोः ग्रहण नहीं होता तो यः में सकार होने लगता। तो तवर्णः कहने पर अनेषा में नकार को भी सकार होने लगता। उक्त प्रयोग में नुट् वहिरंग होने से असिद्ध हो जाएगा यह कथन भी सत्य नहीं है क्योंकि वहिर्भूत सुप को निमित्त मानकर होने वाला सकार ही बहिरंग है। यह 'तस्मान्नुडचि' सुत्र के भाष्य में स्पष्ट है। सौ ग्रहण नहीं करते तो तौ में भी सत्व होने लगता। अत्वसत्वेनेति। गणकार्य होने से नहीं होते हैं।

ङे प्रथ (७।१।२८)। 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।२।२७) इत्यतो युष्मदस्मद्भ्यामिति वर्त्तते। ङे इति पृथक्पदम्। अत एव 'प्रथमयोरित्युच्यते। कयोः प्रथमयोः? विभक्त्योः। बचनयोस्तु न ग्रहणं 'शसो न' (७।१।२९) इति 'लिङ्गात्' इति भाष्यं सङ्गच्छते।

त्वाहौ (७।२।९४)। यद्यपि युष्मदस्त्वादेशः 'त्वमावेकवचने' (७।२।९७) इति सिद्धः, तथापि युष्मानतिक्रान्तोऽतित्वमित्यर्थमत्र विधानम्। न चैवं तत्रास्य चारितार्थ्यात्केवले परत्वात्त्वमाभ्यां भाव्यमिति वाच्यम्,

त्वमावपि प्रबाधन्ते पूर्वविप्रतिषेधतः।'

इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६) इत्यतो युष्मदस्मदोरिति वर्त्तते।

हे प्रथमयोः॥ 'युष्मद्स्मद्भ्यां ङसोऽण्' से युष्मद् अस्मद् की अनुवृत्ति होती है। ङे यह प्रथक पद है। इसीसे कहा है कि 'प्रथमयोः' कहते हैं। किन प्रथम को? विभक्तियों, बचनों का ग्रहण नहीं है इसमें 'शसो न' हीं ज्ञापक है। यह भाष्य भी संगत होता है।

त्वाहौ। यद्यपि युष्मद को त्वादेश, "त्वमावेकवचने" से सिद्ध है तो भी युष्मानतिक्रान्तः विग्रह में अतित्वम् के लिए त्वादेश विधान है। अतित्वम् यह सूत्र चरितार्थ है, तब केवल में पर होने से, त्व म होने चाहिए। यह शंका उचित नहीं

है : त्वमावपि प्रबाधन्ते पूर्वविप्रषेधतः (पूर्व विप्रतिषेध से त्व, म को भी बाँध लेते हैं) यह समाधान आगे कहेंगे। 'युष्मद्स्मदोरनादेशे' से युष्मदस्मदोः की अनुवृत्ति होती है।

शेषे (४।२।९२)। आत्वयत्वयोः प्रागुक्तत्वेन तद्विषयातिरिक्त-विभक्तिरिह शेषशब्दार्थस्तदाह—आत्वयत्वेत्यादि।

स्पष्टञ्चेदं 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसः' (७।१।२७) इत्यत्र, प्रकृतसूत्रे च भाष्ये। अत एव 'साम आकम्' (७।१।३३) इति ससुट्कनिर्देशः सङ्गच्छते। एवञ्च शेषग्रहणं स्पष्टार्थं, विशेषविहिताभ्यामात्वयत्वाभ्यां स्वविषये बाध-सम्भवात्। अन्त्यस्येति। अलोऽन्त्यपरिभाषयेति भावः। त्वाहादयोऽका-रान्ता इतिवृत्त्याद्यनुसारेणाह—अतो गुण इति। 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) इतिसूत्रभाष्यकैयटाभ्यां (१) हलन्ता एवादेशा इति लभ्यते, तदा पररूपस्य प्राप्तिरेव न। यद्यप्युच्चारणार्थानामपीत्संज्ञालोपाभ्यां निवृत्तिः कार्या, तथापि अतो गुणे' (६।१।९७) इत्यस्याप्रवर्त्तनेन प्रक्रियालाघवमत्र पक्षे। इत्संज्ञालोपयोस्तु सूत्र एव प्रवृत्तिरिति न प्रयोगसाधुत्वज्ञाने गौरवम्। 'त्वाहौ सौ' (७।२।९४) इति गुरुनिर्देशस्तु 'श्वेतवहोक्थशस्' इतिवन्नार्थ-साधकः। (१) णिजन्तात्क्विपि युष्म् अष्म् इति प्रातिपदिकयोरादेशा एव नेति तदाशयः। 'मपर्यन्तस्य' इतिभाष्यसम्मतश्चायमर्थं इत्यनु पदं स्फुटीभविष्यति। अन्तरङ्गत्वादिति। परनिमित्तानपेक्षत्वेन तत्त्वमिति भावः।

शेषे। आत्व और यत्व पहले कह चुके है उससे अतिरिक्त विभक्ति ही यहाँ शेष पद का अर्थ है जैसा कि कहा है—आत्वयत्वेत्यादि।

'युष्मदस्मद्भ्यां ङसः' सूत्र और प्रकृतिसूत्र के भाष्य में स्पष्ट है इसी से 'साम् आकम' सुट् विनिशष्ट निर्देश सगत होता है इससे शेष ग्रहण स्पष्ट अर्थ के लिये है क्योंकि विशेष विहित होने से आत्व यत्व अपने विषय में बाध कर लेगे।

अन्त्यस्येति। अलोन्त्य परिभाषा के बल से त्व, अह अकारान्त है यह जानकर लिखते हैं—अतोगुणे इति। 'त्यदादीनाम्ः' सूत्र के भाष्य कैयट से आदेश हलन्त है ऐसा ज्ञात होता है। तब पर रूप की प्राप्ति ही नहीं है। यद्यपि उच्चारणार्थी की भी इत्संज्ञा लोप से ही निवृत्ति करना चाहिये तो भी अतोगुणे के न लगाने से प्रक्रिया लाघव है। इत्संज्ञा और लोप की तो सूत्र में ही प्रवृत्ति हो जाती है इसलिये प्रयोग के साधुत्व ज्ञान में गौरव नहीं है। 'त्वाहौ सौ' यह गुरू निर्देश तो 'श्वेतवहोक्थसस' की तरह अर्थ साधक नहीं है। णिजन्त से क्विप् करने पर युष्म, अस्म, इन हलन्त प्राति-

पदिकों को आदेश ही नही होते हैं। यह उसका आशय है यह अर्थ 'मपर्यन्तस्य' सूत्र के भाष्य सम्मत है यह सब विषय शीघ्र ही स्पष्ट हो जायेगा अन्तरंगत्वादिति। पर निमित्त न होने से अन्तरंग है।

अलिङ्गे इति। एवञ्च स्त्रियामनयोरवृत्तेर्न टाबिति भावः। इदं 'साम आकम्' (७।१।३३) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। यद्वति। इदं 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्, 'साम आकम्' (७।१।३३) इत्यत्र च। मपर्यन्ताच्छेषस्येति। इदमुपलक्षणम्। तेन 'त्वम्' इत्यादौ लोपप्रवृत्तिवेलायां मपर्यन्ताच्छेषत्वाभावेऽपि न क्षतिः। ननु अदन्तत्वे आदेशानां 'वार्णादाङ्गम्' (प० भ० ५५) इति परिभाषया पररूपात्पूर्वमेव टिलोपे टाबभाव उपपादयितुमशक्यः। अकारस्य कार्यद्वयेऽपि स्थानित्वेन समानस्थानिकत्वमस्तीति चेत्? न, हलन्ता एवादेशा: इति कैयटेनाङ्गीकृतत्वेनादोषात्। शेष इत्यस्य सामर्थ्यात्तन्न्यायाप्रवृत्तिरत्रेत्यन्ये। तन्न, 'युष्मभ्यम्' 'युष्मत्' 'युष्माकम्' इत्यादौ टाब्निवृत्त्या चारितार्थ्यात्। तस्मादनित्यत्वात्तदप्रवृत्तिरित्येके। तदाह—अतो गुणे कृते इति।

अलिंगे इति। इसलिये इनदोनों शब्दो की स्त्रीलिंग में वृत्ति न होने से टाप् नहीं होता है यह विषय 'सामआकम्' में स्पष्ट है। यद्वति। यह 'त्यदादीनामः' तथा 'सामआकम्' के भाष्य में स्पष्ट है। मपर्यन्ताच्छेषस्येति। यह उपलक्षण है इसमें त्वम् में लोप प्रवृत्ति के समय मपर्यन्त से शेष न होने पर भी दोष नहीं है अब यहाँ शंका करते हैं कि अदन्त आदेश मानने पर 'वार्णादाङ्गम' परिभाषा से पर रूप से पूर्व ही टिलोप करने पर टाप् का अभाव कठिन है अकार दोनों कार्यों में स्थानी है। इस समानस्थानकत्व भी है। उत्तर आदेश हलन्त है ऐसा कैयट के स्वीकार करने से दोष नहीं है। किन्हीं का कथन है कि 'शेषे' के आरम्भ करने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है क्योंकि युष्मभ्यम्, युष्मत्, युष्माकम् में टाप् निवृत्ति करने से वह सार्थक है इसलिये अनित्य होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसा किन्ही का मत है। इसी से लिखा है—अतो गुणे कृते।

अत्र वदन्ति—तत्तद्भाष्यप्रामाण्याच्छेषग्रहणसमुदायकनिर्देशाभ्याञ्चास्य सूत्रस्याऽऽवृत्त्यार्थद्वये तात्पर्यम्। तच्च लक्ष्यानुरोधाद् व्यवस्थितम्। तेन भ्यसि टिलोपे युष्मभ्यमिति न। अत एव 'भ्यसो भ्यम्' (७।१।३०) इति सूत्रे 'यदि भ्यमादेशः, शेषेलोपोऽन्त्यलोप इति एत्वं प्राप्नोति। अथाभ्यमादेशः, शेषेलोपष्टिलोप इत्यन्तस्योदात्तनिवृत्तिस्वरः प्राप्नोतीति, यथेच्छसि तथाऽस्तु इत्येवोक्तं, न तु भ्यमादेशे टिलोपमादाय फलभेद उक्तः।

वस्तुतस्तु टिलोपो व्यर्थः। अत एव 'लिङ्गाभावाट्टिलोपवचनानर्थक्यम्' इति 'साम आकम्' (७।१।३३) इत्यत्र भाष्ये उक्तम्। अत्र लिङ्गाभावादित्युपलक्षणम्। 'शिशीलुङ्नुम्विधिभ्यो युष्मदस्मदोर्विभक्त्यादेशा विप्रतिषेधेन' इति 'नेतराच्छन्दसि' (७।१।२६) इतिसूत्रस्थभाष्यवार्त्तिकबलेन लिङ्गवत्त्वेऽपि सन्निपातपरिभाषया टाबभावस्योपपादयितुं शक्यत्वम्। अत एव सन्निपातपरिभाषया 'बुद्धौ' इत्यत्र टाबभावः कृन्मेजन्तसूत्रे भाष्ये उक्तः। शेषग्रहणं तु भाष्ये प्रत्याख्यातमेव। 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) इति सूत्रस्थं 'टिलोपष्टाबभावार्थः' इति वार्त्तिकैकदेशिवचनमिति न दोषः। एतच्च भाष्यप्रदीपोद्द्योते निरूपितम्। अभ्यम् सूत्रे 'यथेच्छसि, तथाऽस्तु' इति प्रौढोक्त्या भ्यमितिच्छेदस्य प्रौढवादत्वं भगवतैव सूचितं 'त्वं यथेच्छसि, तथाऽस्तु, तत्र दोषोद्धारो मया सुकरः' इति तत्तात्पर्यात्। अभ्यमित्येव तु च्छेदो न्याय्यः। अत एव 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६) इति सूत्रे 'न चाऽऽदेशो हलादिरस्ति' इति भाष्योक्तिः सङ्गच्छते इति परमस्वामिति। आङ्क्त्वात्तदन्तविधिरिति भावः। गौणेऽप्रवृत्तौ बीजाभावादाह—अतित्वमिति।

यहाँ कहते है कि तत्तत् भाष्य प्रामाण्य से शेष ग्रहण तथा सुट् विशिष्ट निर्देश से इस सूत्र के आवृत्ति से दो अर्थ है। वे लक्ष्य के अनुसार ही व्यवस्थित है। इसी से 'भ्यमि' आदेश पक्ष में टिलोप करने पर यष्मभ्यम् नहीं होता है इसी से 'भ्यसोभ्यम्' सूत्र के भाष्य में लिखा है कि यदि भ्यमा देश होता है और शेषे लोपः से अन्त्य लोप होता है तो एत्व की प्राप्ति है। अभ्यम् पक्ष में शेषे लोप से टिलोप करने पर अन्त को उदात्त निवृत्ति स्वर प्राप्त होता है। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है जैसा चाहो वैसा करो। भ्यामा देश तथा टिलोप करने से फलभेद नहीं कहा।

वास्तविक में टिलोप करना व्यर्थ है इसी से 'लिगाभावाट्टिलोपवचनानर्थक्यम्' लिंग के अभाव में टि लोप करना व्यर्थ है यह 'सामआकम् सूत्र के भाष्य में कहा। यहाँ लिगाभावात् यह उपलक्षण है 'शिशीलुङ्नुम्विधिभ्यों युष्मदस्मदो विभक्त्यादेशा विप्रतिषेधेन' शि, शी, लुक् नुम्, विधियों का विप्रतिषेध से बाधकर युष्मद अस्मद को विभक्ति के स्थान में आदेश होने है। शि, शी, आदि नंपुसक लिंग में होते है यह इससे यह सिद्ध है कि इनके भी लिंग होते है इससे यह सिद्ध है कि इनके भी लिंग होते हैं। यह 'नेतराच्छन्दसि' सूत्र का भाष्य वार्तिक है। इसके बल से लिंग होने पर भी सन्निपात परिभाषा के बल से टाप् नहीं होता है इसी से बुद्धौ में सन्निपात परिभाषा के बल से टाप् का अभाव 'कृन्मेजन्त' सूत्र के भाष्य में कहा है। शेष ग्रहण का तो भाष्य में प्रत्याख्यान ही है 'त्यदादीनामः' सूत्र जो लिखा है कि टिलोप टाप् के अभाव के

लिये है यह एक देशी का वचन है इस प्रकार अब दोष नहीं है। यह विषय भाष्य प्रदीप तथा उद्योत में स्पष्ट है अभ्यम् सूत्र 'यथेच्छसि' तथाऽस्तु' प्रौढोक्त से भ्यमि छेद प्रौढ़वाद है। तुम जैसा चाहो वैसा करो। वहाँ भी दोष उद्धार कर सकता हूँ। यह उसका तात्पर्य है, अभ्यम्, छेद ही न्याय्यी है। इसी से 'युष्मदस्मदोरनादेशे सूत्र के भाष्य में लिखा है। हलादि आदेश नहीं है। परमत्वमिति। अंगाधिकारी होने से तदन्त विधि मानकर तदन्त को हो जाता है गौण में अप्रवृत्ति में कोई कारण नहीं है- इसीलिये अतित्वम् में भी त्वादेश हो जायेगा।

युवावौ (७।२।९२) द्विवचनशब्दोऽत्र यौगिको, (१) व्याख्यानात्। द्वयोर्वचनं बोधनं, तत्र समर्थयोर्युष्मदस्मदोरित्यर्थो 'भाष्यप्रामाण्याच्च तद् गृह्यमाणयुष्मदस्मदोरेव विशेषणं, न तदन्तस्य। अङ्गाधिकाराद्धि तदन्तग्रहणं; इत्याशयेनाह—द्वयोरुक्ताविति। एतत्फलं गौणोदाहरणेषु मूल एव स्फुटम्।

मपर्यन्तस्य किमिति। (२)अधिकारसूत्रं किमर्थमित्यर्थः।

ननु समुदायाऽऽदेशत्वेपि 'ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्राक्' इति व्यवस्थाया युष्मदस्मद्विषये 'त्वयका' इत्यादिसिद्धये वक्ष्यमाणत्वादन्तरङ्गत्वाद् 'युवाम्' इत्येतत्सिद्ध्युत्तरमकजिति 'युवकाम्' इत्यत्र न दोषः, अत आह—त्वयेति। नन्वत्रापि 'अच्ये' इति न्यासेनैकारादेशेऽयादेशे च सिद्धेराह—युवकाभ्यामिति। हलन्ता आदेशा इति पक्षे तु 'त्वया' इत्यादेरसिद्धिरेव, (३) मादेशस्य सर्वादेशत्वञ्च न स्यादिति बोद्धयम्।

युवावौ। यहाँ व्याख्यान से द्विवचन शब्द यौगिक है। अर्थात दो के बोधन में समर्थ युष्मद अस्मद को आदेश हो भाष्य के प्रमाण से वह गृह्यमाण युष्मद अस्मद का ही विशेषण है तदन्त का नहीं है अंगाधिकार होने से तदन्त ग्रहण होता है। इस आशय से कहते है— द्वयोरुक्ताविति। इसका फल गौण उदाहरणों में मूल में ही लिखा है।

मपर्यन्तस्य किमिति। अधिकार सूत्र ही क्यों किया यह प्रश्न है।

अब यहाँ कहते है कि समुदाय को आदेश होने पर भी "ओकार सकारभकारादौं सुपि सर्वनासष्टेः प्रागकच् अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्राक्' ओकार आदि सकारादि समारादि सुप् के परे सर्वनाम् की टिले पहले अकच् होता है अन्यत्र सुबन्त की टिसे पहले अकच् होता है। यह व्यवस्था त्वय का प्रयोग की सिद्ध के लिये कही जायेगी। तब युवाम् की सिद्ध करने पर अकच् होने से युवकाम् में दोष नहीं है। इसलिए दूसरा दोष देते हैं। त्वयेति। यहाँ भी 'अच्ये' अच् के पर ए हो न्यास से एकार को अयादेश करने पर त्वया की सिद्ध हो जायेगी इसलिए अन्य दोष देते है।— युवकाभ्यामिति।

यहाँ भकारादि प्रत्यय होने से अकच् पहले ही हो जायेगा। हलन्त आदेश पक्ष में त्वया इत्यादि की भी असिद्ध है। मादेश का सर्वादेश भी नहीं होगा। क्योंकि अनेकाल् नहीं है।

नन्वेवमपि मान्तस्येत्येवोच्यतां, किं परिग्रहणेनेति। चेत् ? न, युष्मयत्यादेः क्विपि सुप्यादेशाभावार्थं तत्सत्त्वात्। पर्यन्तशब्देन मान्तापेक्षया शेषस्य लाभात्। 'कटिपर्यन्तं वासः' इत्युक्ते 'अग्रे किञ्चिदस्ति' इति नियमेन प्रतीतेः। एवञ्च मान्ताद्यत्राग्रे किञ्चिदवशिष्टं तत्रैव युष्मदस्मदोरादेशाः। अत एव भाष्ये अवधिद्योतनार्थं परिग्रहणं कर्त्तव्यम्। मान्तस्येत्युच्यमाने यत्रैव मान्ते युष्मदस्मदी तत्रैवादेशाः स्युः। क्व च मान्ते ? युष्मयतेरस्मयतेश्चाप्रत्यये' इत्युक्तम्। अवधिद्योतनार्थमित्यस्यान्तशब्दस्यावधिवाचकताद्योतनार्थमित्यर्थः, पर्यन्तशब्दस्य लोके तथैव प्रयोगात्, अग्रे किञ्चित्सतदेशकालयोरवधित्वव्यवहारस्य लोके दर्शनाच्च। तत्रैवेत्यस्य--'अनिष्टे एव इत्यर्थः। परिग्रहणाभावे तु 'यतः पूर्वोऽस्ति, परश्च नास्ति सोऽन्त्यः' इति भाष्योक्तेर्मन्तिपदस्य मुख्यार्थत्वलाभायात्रैव स्यात्। क्वौ लुप्तमित्यस्य प्रवृत्तिश्च स्यात् 'अभिव्यक्तपदार्थाः' इति न्यायश्च पदकार्यविषय इति तदाशयः। अत एव भाष्ये प्रयोगदर्शनं न कृतम्।

अब यहाँ शंका करते है कि मान्तस्य कहना ही उचित है परिग्रहण करने की क्या आवश्यकता है। उत्तर। युष्मयति से क्विप् करने पर सुप् के परे आदेश के अभाव के लिए उसकी आवश्यकता है। क्योंकि पर्यन्त शब्द के रहने पर मान्त की अपेक्षा शेष का लाभ होता है। (उक्त प्रयोग में शेष नहीं है) कटिपर्यन्त वस्त्र है ऐसा कहने से आगे कुछ है ऐसी नियम से प्रतीत होती है। इस तरह से मान्त आगे जब कुछ अवशिष्ट होगा तब वहाँ ही युष्मद अस्मद के आदेश होंगे। इसी से भाष्य में स्पस्ट लिखा है कि अवधि द्योतन के लिए परिग्रहण करना चाहिए। मान्तस्य कहने पर जहाँ युष्मद, अस्मद् मान्त होंगे वहाँ ही आदेश होंगे। कहाँ मान्त है ? युष्मयति, अस्मयति से अप्रत्यय करने पर ऐसा भाष्य में लिखा है। यहाँ अवधि द्योतनार्थ का अन्त शब्द अवधि वाचक होने से उसके द्योतन के लिये यह अर्थ है। क्योंकि पर्यन्त शब्द का लोक में उसी प्रकार प्रयोग होता है। आगे कुछ होने पर ही देश और काल में अवधित्व का व्यवहार लोक में देखा जाता है। तत्रैव अर्थ है कि अनिष्ट में होगा। परिग्रहण के अभाव में तो जिससे पूर्व है पर नहीं है वह अन्त्य है, इस भाष्योक्ति से मान्त पद के मुख्यार्थ लाभ के लिए क्विप् में होगा और क्वौ लुप्तम् की प्रवृत्ति भी होने लगेगी। "अभिव्यक्ति पदार्थाः' इस न्याय की प्रवृत्ति तो पद कार्य में होती है।

(जो स्त्रीत्व और विभक्ति निमित्त न मानता हो वह पद कार्य है) इसी से भाष्य में प्रयोग दर्शन नहीं किया।

यत्तु–परिग्रहणाभावे मान्ते यत्र ते तत्रैव स्यात् सामानाधिकरण्ये नान्वयस्यौचित्यात्। सति तु तस्मिन् सामर्थ्याद्युष्मदस्मोदर्यो मपर्यन्ताविति व्याख्यानाद् दान्ते, व्यपदेशिवद्भावेन युष्मयत्यादेः क्विपि च सिद्ध्यति। 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' (प० भा० ३२) इति तु प्रत्ययविधिविषयमिति; तन्न, परिग्रहणस्य वैयधिकरण्येनान्वये मणिमन्त्रादिन्या येन नियामकत्वकल्पनापेक्षयोक्तस्यैव न्याय्यत्वात् तत्र हि सामानाधिकरण्यासम्भवाद्वैयधिकरण्यान्वय इत्यन्यत्। किञ्चात्र व्याख्याने 'अवधिद्योतनार्थम्' इति भाष्या (१) क्षरास्वारस्यम्। 'मपर्यन्तस्य' (७।२।९१) इति च तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति दिक्।

किसी का कथन है कि परिग्रहण के अभाव में जहाँ युष्मद्, अस्मद् मान्त होंगे वहाँ ही आदेश होगा क्योंकि समानाधिकरण्य अन्वय करना ही उचित है। परिग्रहण के करने पर मपर्यन्त जो युष्मद्, अस्मद इस व्याख्या से दान्त में और व्यवदेशवद्भाव से क्विप् में सिद्ध होता है। 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' परिभाषा तो प्रत्यय विधि में लगती है। यह उनका कथन उचित नहीं है। परिग्रहण का वैयधिकरण्य से अन्वय में मणि मन्त्रादिन्याय से नियामकत्व कल्पना की अपेक्षा पूर्वोक्त ही उचित है। वहाँ समानाधिकरण्य के असम्भव होने से वैयधिकरण्य अन्वय होता है, यह दूसरी बात है। और भी इस व्याख्यान में 'अवधिद्योतनार्थम्' इन भाष्य के अक्षरों का स्वारस्य नहीं मिलता है और मपर्यन्तस्य तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है।

अङ्गकार्ये इति। अङ्गाधिकारस्ये इत्यर्थः। मकारान्तरमिति 'शसो न' (७।१।२९) इत्यनेन संहितया पाठे इति शेषः। परे तु शेषविभक्तिभूताऽमादि–युष्मादादिसन्निपातेन जातस्य लोपस्य तद्विघातकश्यादि निमित्तत्वं नेति सन्निपातपरिभाषायैव श्याद्यभावः। सुटस्त्याकमवयवत्वान्न तेन सन्निपातविघात इति सकारनिर्देशः 'साम् आकम्' (७।१।३३) इत्यत्र। अत एव ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' इति सन्निपातपरिभाषाप्रयोजनव्याख्यावसरे 'यदा ह्रस्वमात्रस्य तुगागमो, न तदन्तस्य (१) तदेदं प्रयोजनम्' इति व्याख्यातं कैयटेन। मूलोक्तं तु न युक्तं, भाष्यानुक्तेः। अत एव 'नेतराच्छन्दसि' (७।१।२६) इति सूत्रे 'नपुंसकादेशेभ्यो युष्मदस्मदोर्विभक्त्यादेशा विप्रतिषेधेन' इति वार्त्तिकं व्याख्याय 'तेषु कृतेषु पुनः प्रस-

ङ्गात् शिशीलुग्विधयः कस्मान्न भवन्ति ? सकृद्गतिन्यायात्' इत्युक्तम्। त्वद्रीया पुनः प्रसङ्गस्यैवाभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव। अत एव च तत्र युष्मदादेर्विभक्त्यादेशस्य 'यूयं ब्राह्मणाः' इत्याद्यवकाशप्रदर्शनं कृतम्। अन्यथा तत्रापि जसःशीप्राप्त्या तदसङ्गतिः। 'यूयम्' इत्यादिप्रयोगकरणेन तत्र श्यादिशङ्कासमाधानाकरणेन च भाष्यकृताऽत्र सन्निपातपरिभाषाविषयत्वं सूचितम्। अङ्गसम्बन्धि (२) कार्यविषयत्वात्। सूत्रभाष्यस्वरसोऽप्येवमेव। वस्तुतो नैषा लक्ष्यसंस्कारिका, 'द्वयोः' इत्यादिनिर्देशासङ्गतेः। अत एव भाष्ये 'किमेतस्या ज्ञापने प्रयोजनम्' इति प्रश्ने 'पिबेर्गुणप्रतिषेधो न वक्तव्यः' इत्येव प्रयोजनमुक्तं, न तु प्रयोगासिद्धिः प्रयोजनमुक्तमित्या (३) हुः।

अङ्गकार्ये इति। अङ्गाधिकार में स्थिति कार्य यह अर्थ है। सकारान्तरमिति 'शसो न' के साथ संहिता में पाठ है। नागेश का कथन है कि शेष विभक्ति रूप अमादि और युष्मदादि के सन्निपात से होने वाला लोप सन्निपात विघातक शि आदि का निमित्त नहीं हो सकता है इसलिए सन्निपात परिभाषा से ही श्यादि का अभाव सिद्ध होता है। सुट् तो आकम् का अवयव होता है इससे सन्निपात का विघात नहीं होता है इसलिए 'साम् आकम् में सकार का निर्देश किया है। इसी से 'कृन्मेजन्ता' सूत्र के भाष्य में सन्निपात परिभाषा के प्रयोजन कहने के समय "ह्रस्वत्वं तुग्विधोग्रामणि कुलम्" उदाहरण दिया। उसकी व्याख्या कैयट ने इस प्रकार से की कि जब केवल ह्रस्व को तुक का आगम होता, तदन्त नही होता तब यह प्रयोजन है। मूलोक्त ठीक नहीं है क्यों कि भाष्य में उसका उल्लेख नहीं है इसी से "नेतराच्छन्दसि" सूत्र में नपुंसकादेशेभ्यो युष्मदस्मदोर्विभक्तयादेशा विप्रतिषेधेन' बार्तिक की व्याख्याकर शंका की कि युष्मद् अस्मद् के स्थान में आदेश करने पर पुनः प्रसंग विज्ञान परिभाषा के बल से शि, शी, लुक् क्यों नहीं होते है ? सकृतगतिनन्याय से नहीं होते है। आपके कथनानुसार पुनः प्रसंग के अभाव में उक्त कथन की असंगति स्पष्ट ही है। इसी से युष्मद् अस्मद् को विभक्ति के स्थान में आदेश 'यूयम् ब्राम्हणाः' में अवकाश प्रदर्श किया। अन्यथा वहाँ भी जस् की शी प्राप्त होने से उसकी असंगति थी। यूयम् प्रयोग करने से और श्यादि की शंका समाधानादि के न करने से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार ने यहाँ सन्निपात परिभाषा का विषय स्वीकार किया है। अङ्ग वृत्त, परिभाषा से वारण भी विचारणीय है क्योंकि वह अंग सम्बन्धित कार्य में ही प्रवृत्ति होती है। सूत्रकार तथा भाष्यकार का भी यही स्वरस प्रतीत होता है। वास्तविक में उक्त परि-भाषा लक्ष्य संस्कारक नहीं है। क्योंकि 'हयोः' निर्देश असंगत होता है। (यहाँ अकार करने पर 'ओसि च' से एत्व नहीं होता)। इसी से भाष्य में लिखा है कि इस परि-

भाषा के ज्ञापक में क्या प्रयोजन है। इस प्रश्न के उत्तर में पित् को गुण को प्रतिषेध नहीं कहना होगा। केवल इतना ही प्रयोजन प्रदर्शन किया, प्रयोग सिद्ध रूप प्रयोजन नहीं कहा।

त्वमाविति। अत्रापि विभक्ताविति सम्बद्धयते। अन्यथा 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति व्यर्थं स्यात्। तत्फलन्तु त्वं सुन्दरः पुत्रो यस्य युष्मत्सुन्दरपुत्र इति त्रिपदबहुव्रीहौ नादेश इति। अत्रैकवचनशब्दो यौगिको व्याख्यानात्। तदाह–एकस्येति।

अविभक्तिकमिति। (१) व्याख्यानात्।

योऽचि (७।२।८९)। अनादेश इति किम्? (२) त्वद्, मद्। 'पञ्चम्या अत्' (७।१।३१) इत्यदादेशः। आत्वविधायके च भ्यम् व्यावर्त्यः। वस्तुतः उत्तरार्थमेव तत्। 'अभ्यम्' इत्येव च्छेदादिति भाष्ये स्पष्टम्।

हलादाविति। (३) परिशेषलब्धम्। हलीत्यनुवृत्तौ तु 'योऽचि' (७।२।८९) इत्यच्ग्रहणं माऽस्तु।

त्वमाविति। यहाँ भी विभक्ती का सम्बन्ध है। अन्यथा 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र व्यर्थ हो जाता। उसका फल है त्वं सुन्दरः पुत्रो यस्य इस विग्रह में निष्पन्न युष्मत् सुन्दर पुत्रः इस त्रिपदबहुव्रीहि में आदेश न हो क्योंकि वहाँ सुन्दर के व्यवधान होने से उत्तर पद परे नहीं है, उत्तरपद शब्द समास के अन्तावयव से रुढ़ है। यहाँ व्याख्यान से एक वचन शब्द यौगिक है इसलिए कहा है—एकस्येति। अविभक्तिकमिति। व्याख्यान से नकार में विभक्ति नहीं है।

योऽचि। अनादेश के अभाव में त्वद्, मद् में होने लगता यहाँ "पंञ्चम्या अत्" से अत् होने के कारण नहीं होता है। आत्वविधायक में अनादेश का फलभ्यम् में आत्व का न होना ही है। वास्तविक में तो वह उत्तर के लिए है। क्योंकि भाष्यकार ने अभ्यम् का ही छेद स्वीकार किया है।

हलादाविति। परिशेषलब्ध है क्योंकि 'योऽचि' में अच् ग्रहण करने से यह हलादि में प्रवृत्त होगा। हलि की अनुवृत्ति करने पर तो 'योऽचि' अचि ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

भ्यसोभ्यः (७।१।३०)। अत्र यद्वक्तव्यं तदुक्तम्। पक्षद्वयेऽपीति। तत्रान्त्यलोपे द्वयोरकारयोः पररूपे 'एकादेश उदात्तेन' (८।२।५) इत्यभ्यम आद्याकार उदात्तः। टिलोपेऽपि यत्रानुदात्ते वर्णे परे उदात्तो लुप्यते स वर्णं

उदात्त इत्यर्थकेन 'अनुदात्तस्य च यत्र' (६।२।१६१) इत्यनेन स उदात्त एवेति न विशेष इति भावः।

(४) नन्वाकमः पूर्वं लोपाभावेनादन्तत्वाभावात्सुडागमाप्रसक्तेः ससुट्कनिर्देशो व्यर्थः, सूत्रासङ्गतिश्चेत्यत आह—भाविन इति। आकमि शेषे लोपे कृते प्राप्तस्येत्यर्थः। अयं भावः—सामः प्रसङ्गे आकमित्यनेन सुडामोरत्र विषयेऽत्यन्तमप्रयोगो बोद्ध्यते। स्थान्यादेशभावविषये सर्वत्रैवमेव। यथार्द्धधातुकविषयेऽस्तेरप्रयोगो, भूप्रयोगश्च 'अस्तेर्भूः' (२।४।५२) इत्यनेन प्रतिपाद्यते, न तु सतो निवृत्तिः शब्दानित्यत्वप्रसङ्गात्। किन्तु प्रसक्तबुद्धेरेव निवृत्तिः। सकारबुद्धिप्रसक्तेश्च प्रकृते साम्प्रतिकया असम्भवाद्भाविन्या ग्रहणं, सकारोच्चारणसामर्थ्यादिति प्रथमप्रवृत्त्यैव सुटो निवृत्तिर्न तु प्रवृत्त्यन्तरकल्पनयेति भाष्ये स्पष्टम्। तन्निवृत्तिश्चाऽऽमोऽभावात्। अत्र सामः स्थानित्वोक्त्या स्थानिवत्त्वेन साम्त्वमेव, (१) न त्वाम्त्वम्। उत्तरीत्या च न स्थानिवद्भावप्रसक्तिः सैवाप्रसक्तिः ससुट्कनिर्देशेन बोद्ध्यते इति बोद्ध्यम्। अत एव अतित्वाकम्' इत्यादौ 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' (७।२।९८) इति भाष्योदाहृते आकम्नुडभावौ सिद्धौ। आम्येव साम्त्वास्याहार्यारोपेणाऽऽदेशः। आदेशस्याम्त्वाभावाच्चात्र न नुप्। (२) न च यत्र साम् भावो तत्रैषायम्, (१)सामोभावित्वस्य सर्वथा दुरुपपादत्वात्, साम्त्वस्या(२)शास्त्रीयत्वेनातिदेशालभ्यत्वादिति (३) भाष्यविरुद्धकल्पना व्यर्थेति दिक्। ह्रस्वादिर(४)कम् तु न कृतः, अन्त्यलोपेऽप्यकारस्यैत्वनिवृत्त्या चारितार्थ्येन पररूपापत्तौ युष्माकमित्यसिद्ध्यापत्तेः।

भ्यसोभ्यम्। इसके विषय में पूर्व में कह चुके है। पक्षद्वयेऽपीति। अन्त्यलोप पक्ष में दोनों अकारों को पर रूप करने पर 'एकादेश उदात्तेन' से अभ्यम् के प्रथम अकार को उदात्त होता है। टि लोप पक्ष में, जिस अनुदात्त के परे उदात्त का लोप होता है वह वर्ण उदात्त होता है। इस अर्थ वाले 'अनुदात्तस्य च यत्र' से उदात्त ही हो जाता है इसलिए कोई विशेषता नहीं है।

यहाँ शंका करते है कि आकम् के पूर्व लोप के अभाव में अदन्त के न होने से सुडागम की प्राप्ति नहीं है। फिर सुट् हित निर्देश व्यर्थ है और सूत्र भी असंगत हो जायेगा—इससे कहा है—भाविनइति। आकम् करने पर 'शेषे' से अन्त्य लोप करने पर प्राप्त है। इसका भाव यह है कि साम् के प्रसंग में आकम् हो ऐसे अर्थ करने से इस विषय में सुट् और आम् का प्रयोग नहीं होता है। यह ज्ञापन होता है। स्थायी और आदेश के विषय में सर्वत्र यही क्रम है जैसे आर्द्ध धातुक के विषय अस्ति का प्रयोग

नहीं होता है और भू का होता है। यह ही 'अस्तेर्भूः' से ज्ञात होता है विद्यमान की निवृत्ति नहीं होती है अर्थात् अस् स्थान में भू नहीं होता है। क्योंकि उक्त अर्थ मानने पर शव्द अनित्य हो जायेंगे। किन्तु प्रसक्त बुद्धि की निबृत्ति होती है। प्रकृत में सकार बुद्धि की प्रसक्ति वर्तमान में नहीं है, तो होने वाली का ग्रहण करते है। इसमें सकार का उच्चारण ही प्रमाण है। उक्त अर्थ मानने से प्रथम प्रवृत्ति में ही सुट् की निवृत्ति हो जाती है द्वितीय बार उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है यह भाष्य में स्पष्ट है। उसकी निवृत्ति का कारण आम् का न रहना ही है। उक्त सूत्र में साम् को स्थानी कहने से स्थानिवद्भाव से साम् ही आवेगा आम् नहीं। उक्त रीति से स्थानिवद्भाव की प्रसक्ति नहीं है उस प्रसक्ति को ही ससुट्क निर्देश बतलाता है इसी से 'प्रत्ययोत्तारपदयोस्य' सूत्र के भाष्य में उदाहरण भूत अतित्वाकम् में आकम् और नुट् का अभाव सिद्ध होता है। अर्थात् आकम् होता है और नुट् नहीं होता है। आम् में ही आहार्य साम के आरोप से आदेश होता है। आदेश में आम् न होने से नुट् नहीं होता है। यह कहना भी उचित नहीं है कि जहाँ साम् भावी हो वहाँ आकम् हो क्योंकि भावी साम् मिलना अत्यन्त कठिन है। साम के अशास्त्रीय होने से अतिदेश से उसका लाभ भी नहीं हो सकता है। इसलिए भाष्य विरुद्ध कल्पना उचित नहीं है। ह्रस्वादि वाले आकम् का विधान तो नहीं किया। अन्त्यलोप पक्ष में एत्व निवृत्ति करके अकार के चरितार्थ होने से पर रूप होने पर युष्माकम् इत्यादि की सिद्धि नहीं होती।

द्विवचनैकवचनशब्दयोरर्थपरतया व्याख्याने फलं दर्शयति-द्वयेकत्वेति। द्वित्वैकत्व (५) विशिष्टावाचिनी इत्यर्थः। समासार्थो–मुख्यविशेष्यम्। अन्यसङ्ख्यः–युष्मदाद्यर्थगतसंख्येतरसंख्या (६) युक्तश्चेदित्यर्थ। स्त इति। अर्थपरत्वाश्रयणादिति भावः। एते इति कर्तृपदम्, युवावाविति कर्मपदम्, एवं त्वमावित्यपि। पूर्वविप्रतिषेधत इति। विप्रतिषेधे पूर्वं इति, सुप्सुपेति समासः। अत एव 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) इतिसूत्र-भाष्ये 'त्वमौ' (७।२।९७) इतिसूत्रे 'शेषे' इत्यनुवर्त्य सुजस्ङेङस्व्यतिरिक्त-विभक्तावेताविति व्याख्यातम्। त्वमौ न चेति। अर्थपरत्वाश्रयणादेवेति भावः। इति विग्रहे इति। एवं विग्रहे यादृग्रूपाणि तानि वक्ष्यन्ते इति शेषः। अतित्वाकमिति। अत्र यथाऽऽकम्नुडभावौ, तथा उक्तम्।

द्विवचन और एक वचन शब्द परक है इसका फल दिखलाते है। द्वयेकेत्वेति। द्वित्व विशिष्ट तथा एकत्व विशिष्ट अर्थ को कहने वाले यह अर्थ है। समासार्थ–अर्थात् मुख्य विशेष्य अन्य संख्य युष्मद् अस्मद् के अर्थ में रहने वाली संख्या से इतर संख्या से युक्त हो। स्तइति। अर्थ परत्व स्वीकार करने से ऐतेइति। यह कर्तृपद है। युवावौ

यह कर्म पद है इसी प्रकार 'त्वमौ' को भी समझना पूर्व विप्रतिषेध इति । विप्रतिषेधे पूर्वः इस विग्रह में सुप्सुपा से समास होता है इसी से 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र के भाष्य में 'त्वयौ' सूत्र में शेषे की अनुवृत्ति कर सु, जस, ङेङस से अतिरिक्त विभक्ति परे यह आदेश होते है । ऐसी व्याख्या की । त्वमौ न चेति । अर्थपरत्व मानने से ही । इति विग्रहे इति । इस विग्रह में जैसे रूप होंगे वैसे कहेंगे यह इसका शेष है । अतित्वाकमिति । जिस प्रकार से आकम होता हैं तथा नुट् का अभाव होता है वह पूर्व में कह चुके है ।

पदस्य (८।१।१६) । 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) इत्यतः प्रागयमधिकारः । तत्फलन्तु 'राजानौ' इत्यादौ नलोपाभावः । इयं कचित्स्थानषष्ठी, कचिदवयवषष्ठी । 'हो ढः' (८।२।३१) इत्यादावाद्या, 'मादुपधाया' (८।२।९) इत्यादावन्त्या । तेन 'वृक्षवन्तौ' इत्यादौ वत्वसिद्धिः । अन्यथा मत्वन्तपदाभावान्न स्यात् । अत एव 'नलोपः' (८।२।७) इति सूत्रेऽन्तग्रहणं चरितार्थमिति स्पष्टं भाष्ये । 'न्रः सङ्ख्यायाः' इत्यत्र नलोपाभावस्तु 'झलाञ्जश् झशि' (८।४।५३) इत्यत्र जश्त्वाभाववद् बोद्धयः ।

पदस्य । 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' से पूर्व इसका अधिकार है । राजानौ इत्यादि में न लोप का न होना ही उसका फल है । यह कहीं स्थान षष्ठी है तो कहीं अवयव षष्ठी है । 'होढः' में स्थान षष्ठी है क्योंकि ढकार हकार के स्थान में होता है । ''मादुपधाया'' में अवयव षष्ठी है इसीसे वृक्षवन्तौ में वत्व की सिद्धि होती है अन्यथा मत्वन्त पद के अभाव में वत्व नहीं होता, इसीसे 'न लोपः' सूत्र में अन्तग्रहण चरितार्थ है । यह भाष्य में स्पष्ट है । 'नॄ संख्यायाः' में न लोप का अभाव तो झलाञ्जश् झशि' में जश्त्वाभाव की तरह समझना ।

पदात् (८।१।१७) । 'कुत्सने च सुपि' (८।१।६९) इत्यतः प्रागयमधिकारः । 'अनुदात्तं सर्वम्' (८।१।१८) इत्यादिपदत्रयमापादसमाप्तेः । सर्वग्रहणन्तु 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इत्यादौ सर्वानुदात्तत्वस्य विनिगमनाविरहाल्लाभेऽपि स्पष्टतया तल्लाभार्थमित्याकरे स्पष्टम् । 'आदेः परस्य' (१।१।५४) 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इत्यनयोस्तु न प्राप्तिः, पदस्येत्यस्य 'अनुदात्त' 'तिङ्' इत्यादिश्रुतप्रथमान्तानुरोधेन प्रथमया विपरिणामेन स्थानषष्ठ्यभावात् । तत्र पादशब्देन ऋक्पादः, श्लोकपादश्चाविशेषाद् गृह्यते । अपादादिशब्देन पादान्तपादमध्यस्थवद् । छन्दोहीनवाक्यस्थस्यापि ग्रहणं, 'ग्रामे कम्बलो मे 'स्वम्' इति भाष्यात् ।

पदात् । 'कुत्सने च सुपि' से पूर्व इसका अधिकार है । 'अनुदात्तं सर्वम्' इत्यादि

तीनों पदों का पाद समाप्त पर्यन्त अधिकार है। सर्वग्रहणता "तिङ्ङतिङः" इत्यादि में विनिगमना विरह से सर्वानुदात्त लाभ होने पर भी स्पष्ट रूप सबके लाभ के लिए है। ऐसा भाष्य में स्पष्ट है। 'आदेः परस्य' और 'अलोऽन्त्यस्य' की तो प्राप्ति नहीं है। पदस्य की अनुदात्तं' 'तिङ्' इत्यादि में श्रूयमाण प्रथमान्त के अनुरोध से प्रथमा से विपरिणाम करने से स्थान षष्ठी का अभाव है। पाद शब्द से ऋक्पाद तथा श्लोक पाद दोनों का ही ग्रहण है। अपादादि शब्द से पादान्त तथा पाद मध्यस्थ की तरह छन्दोहीन वाक्यस्थ का भी ग्रहण करना चाहिए। इसमें ग्रामे कम्बलो में स्वम् यह भाष्य प्रयोग ही प्रमाण है।

षष्ठ्यादीति । सर्वस्य पदस्येत्युभयाधिकारसामर्थ्यादिदं लभ्यते इत्यन्यत्र विस्तरः। तौ चानुदात्ताविति । अनुदात्तत्वगुणविशिष्टयोर्विधानादिति भावः।

उक्तविषयोरिति । पदात्परयोपादादौ स्थितयोरित्यर्थः। द्वितीयायां त्वामयोरपवादत्वादाह—षष्ठीचतुर्थ्येकेति ।

विभक्तिक्रमलब्धद्वितीयादिक्रमेणोदाहरति—श्रीश इति । दत्तादित्यनेन चतुर्थ्यन्तत्वं स्फुटीकृतम् । संवेद्योऽस्मानिति । नन्वत्र सन्ध्यभाव नवाक्षरत्वेनानुष्टुप्पादत्वानापत्तिः। सन्धौ तु उभयत आश्रयणेऽन्तादिवत्त्वाभावेन कथमादेशप्राप्तिरिति चेत् ? न, संवेद्यो इत्येकादेशविशिष्टस्य पूर्वान्तवत्त्वेन पदत्वात्, स्मानित्यस्य चैकदेशविकृतन्यायेन द्वितीयान्ता (१) स्मच्छब्दत्वेन तत्प्राप्तिरित्याशयात् । सन्धिश्चान्तरङ्गत्वादादेशात्पूर्वमेव । (२) आदेशे सति 'नः कृष्णः सर्वदाऽवतु' इति पादादित्वापत्त्यो (३) पजीव्यविरोधाच्चाऽऽदेश इत्यन्ये । उभयत आश्रयणेऽपि तस्य स्वीकार इति इणधातौ निरूपयिष्याम इति (४) परे ।

षष्ठ्यादीति । सर्वस्य तथा पदस्य इन दोनों के अधिकार से ही यह प्राप्त होता है। तौ चानुदात्ताविति । क्योंकि अनुदात्त गुण वालों का विधान है।

उक्तविषयोरिति । पदस्य परे और अपादादिमे स्थिति अर्थ है। द्वितीया में त्वा, म के अपवाद होने से कहते हैं—षष्ठीचतुर्थ्येकेति । विभक्ति क्रम से प्राप्त द्वितीयादि क्रम से उदाहरण देते हैं—श्री श इति । दत्तादि चतुर्थ्यन्त स्पष्ट किया है। संवेद्योऽस्मानिति । अब यहाँ पर शंका करते हैं कि सन्धि के अभाव में नौ अक्षर होने से अनुष्टुप का पाद् नहीं होगा। सन्धि होने से दोनों के आश्रयण अन्तादि वत्त्व की प्राप्ति न होने से आदेश की प्राप्ति किस प्रकार से है। उत्तर एकादेश विशिष्ट संवेद्यो को पूर्वान्तवद्भाव से पदत्व होने से और एकदेशविकृतन्याय से स्थानी को द्वितीयान्त

असम (शब्द स्वीकार करने से आदेश प्राप्ति है। अन्तरंग होने से सन्धि आदेश से पूर्व ही होती है। आदेश करने पर 'नः कृष्णः सर्वदाऽवतु' ऐसी योजना में पादादित्व होने से उपजीव्य विरोध होने से आदेश नहीं होता है। ऐसा किसी का मत है। उभयतः आश्रयण मे उसका स्वीकार होता है— यह इण् धातु में निरूपण करेंगे।

ननूक्तरीत्या षष्ठयाद्यन्तानामेवाऽदेशा भविष्यन्ति, किं स्थग्रहणेन ? अत आह–स्थेति। अहानौ स्थशब्द इति भावः। युष्मत्पुत्र इति। युवयोर्युष्माकं वा पुत्र इत्यर्थः। यद्यपि वृत्तौ सङ्ख्याविशेषानवगम इति भाष्ये स्पष्टं तथापि सम्बोद्धयत्वेनैवानेकव्यक्त्यवगतिनं तु तुद्वित्वादेर्भानं, नाप्येकत्वस्येति त्वमौ न कृतौ। विग्रहे तु संङ्ख्याविशेषभानात् द्विवचनादि भवत्येव। तस्य लुक्यपि प्रत्ययलक्षणेन द्विवचनाद्यन्तत्वम्। अत एव 'वध्वोरगारं वध्वगारम्' इति प्रगृह्यसञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये प्रयुक्तम्। वचनद्वयविषयसूत्रप्रत्युदाहरणलाभाय 'इति त्वत्पुत्रः' इति न प्रत्युदाहृतम्।

उक्त रीति से षष्ठयन्तों को ही आदेश होंगे। फिर स्थग्रहण की क्या आवश्यकता है उत्तर देते हैं—स्थेति। यहाँ अदानि में स्थ शब्द है। युष्मत्पुत्र इति। युवयोर्युष्माकं वा पुत्रः। अर्थात् द्विवचन या वहुबचन से ही विग्रह करना। यद्यपि वृत्ति में संख्या विशेष का ज्ञान नहीं है ऐसा भाष्य में स्पष्ट है तो भी सम्बोद्धय होने से अनेक व्यक्तियों का ज्ञान होता है। द्वित्वादि का भान् ही होता है और एकत्व का नहीं होता है। इसीसे त्वम् नहीं किये विग्रह में तो संख्या विशेष के भान से द्विवचनादि होंगे ही। उसके लुक होने पर भी प्रत्यय लक्षण होने से द्विवचनादि अन्तत्व है इसीसे 'वध्वोरगारं वध्वगारम्' यह प्रयोग प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र के भाष्य में प्रयुक्त है। द्विवचन तथा बहुबचन विषय वाले सूत्रों के प्रत्युदाहरण लाभ के लिये ही त्वत्पुत्रः यह प्रत्युदाहरण नहीं दिया।

समानवाक्ये इति। निमित्तनिमित्तिनोरेकवाक्यस्थत्वे इत्यर्थकं 'समानवाक्ये' इति प्रकृत्य विधेया इत्यर्थः। निघातो नामानुदात्तः। एकतिङ्ङिति बहुव्रीहिः, एकङिन्तघटितमित्यर्थः। तेन 'पचति' इत्ये (५) तन्मात्रस्य न वाक्यत्वम्। इदं स्वशास्त्रकार्योपयोगि एकवाक्यत्वलक्षणम्। तेन 'पश्य मृगो धावति' इत्यादौ लौकिकैकवाक्यत्ववत्यपि नाव्याप्तिः। समर्थसूत्रे भाष्ये स्पष्टमेतत्। अत एव 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इत्यत्रैतदाश्रित्य अतिङ' इति प्रत्याख्यातं भाष्ये। लौकिकवाक्यत्वञ्च—

सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता (अ० को० १।६।२)

इत्यमरेणोक्तोम् । वाशब्दश्चेदर्थे । कारकान्तिक्रिया चेद्, बोद्धयेति शेषः। तेन निरर्थकशब्दसमुदायव्यावृत्तिः । सुप् च तिङन्तञ्च सुप्तिङन्ते, सुब्विशिष्टं तिङन्तं, तेषामेकशेषः। तेन कारकान्वितक्रियाबोधकसुबन्तचय-तिङन्तचय-सुप्तिङन्तचयानां त्रयाणामपि वाक्यत्वलाभः। तत्र सुबन्तचयो-देवदत्तेन शयितव्यम् । द्वितीयं पचति भवतीत्यादि । तृतीयं चैत्रः पचती-त्यादि ।

* (एतत्समानार्थकमेव 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इति सूत्रे 'अतिङ' इति वदत्सूत्रकारभिप्रेतं वाक्यलक्षणम् 'अख्यातं सविशेषणं वाक्यम्' इति समर्थसूत्र भाष्ये उक्तम् । तत्राऽख्यातपदेन क्रियाप्रधानं लक्ष्यते। तेन 'त्वया शयितव्यम्' इत्यादेः सङ्ग्रहः । सविशेषणमित्यस्य साक्षात् परम्परया वा यद्विशेषणं, तत्सहितेत्यर्थः । तेन 'नद्यास्तिष्ठति कूले' इत्यादौ नद्यादेः समानवाक्यस्थत्वसिद्धिः । सविशेषणत्वेन विभागे साकाङ्क्षत्वं लब्धम् । एतदेवैकोद्देश्यकैकविधेयकत्वरूपैकार्थत्वगर्भमेकवाक्यत्वलक्षणं बोध्यम्। 'अर्थै-क्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' (जै० सू०) इति जैमिन्युक्तेः। अनेन च 'ब्रूहि ब्रूहि' इत्यस्यासङ्ग्रहो, विशेषणानुपादानेन सविशेषणत्वा-भावात् । वाक्यत्वफलं त्वत्र प्रश्नोत्तरे 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' (८। २।१०५) इत्यनेन वाक्यस्य टेः प्लुतसिद्धिः अतः स्वशास्त्रपरिभाषितं लक्षणम् 'एकतिङ् वाक्यम्' इत्युक्तम् । अत एव एतदुदाहरणं 'ब्रूहि ब्रूहि' इत्येव भाष्ये दत्तम् । यत्तु-अत्रोदाहरणं देवदत्तेति विशेषणं पूरणीयमिति; तन्न, पूर्वलक्षणेनैव सिद्धेः, द्विः प्रयोगस्य भाष्ये व्यर्थत्वापत्तेश्च । यद्यपि पदद्वित्वेऽवान्तरपदत्वमप्यस्ति, तथापि 'एकातिङ् इत्यस्य एकानुपूर्वीकैक-तिङन्तवदित्यर्थ इति न प्रकृते दोष इत्यलम् ।

समानवाक्येइति। निमित्त और निमित्ती दोनों एक वाक्य में स्थिति होने चाहिये अर्थवाला समान वाक्ये को लेकर आदेश करने चाहिए। निघात का अर्थ है। अनुदात्त। एकतिङ्ति बहुव्रीहि है। एक तिङ्त से युक्त यह इसका अर्थ है इससे केवल 'पचति' वाक्य नही है यह लक्षण अपने शस्त्र के कार्य में उपयोगी है। इससे 'पश्य मृगो धावति' इत्यादि लौकिक एक वाक्यत्व में अति व्याप्ति नही है। यह समर्थ सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है इसी से उक्त लक्षण स्वीकार 'तङ्ङतिङः' के अतिङ ग्रहण का भाष्य में प्रत्याख्यान किया है। लौकिक वाक्य का लक्षण इस प्रकार है—

सुप् तिङन्त चयो वाक्यं क्रिया का कारकान्विता। यह अनाकार ने कहा।

वाशब्दचेत् के अर्थ में है। कारक से अन्वित क्रिया हो। बोद्धया इसका शेष है। इससे निरर्थक शब्द समुदाय की व्यावृत्ति होती है। सुप् च तिङन्तञ्च सुप तिङन्ते, अथवा सुब्विशिष्टं तिङतं सुप्तिङ्त्तं, उनदोनों का एक शेष है। इससे कारक से अन्वित क्रिया बोधक सुबन्त समुदाय, तिङन्त समुदाय और सुप् तिङन्त समुदाय इन तीनों को वाक्यत्वसिद्ध होती है। सुक्त समुदाय का देवदत्तेन शमितव्यम्। तिङत्त समुदाय का पचति भवति। तृतीय का चैत्रःपचति उदाहरण है।

इसके समान अर्थ वाला ही 'तिङङतिङः' सूत्र में 'अतिङ' के ग्रहण से सूत्रकार को अभीष्ट वाक्यलक्षण 'आख्यातं सविशेषणं वाक्यं' है। ऐसा समर्थ सूत्र भाष्य में कहा है। वहाँ आख्यात शब्द से क्रिया प्रधान का ग्रहण लक्षणा से है। इससे 'त्वया-शमितव्यम्' संग्रह होता है। तिङ न होने पर भी शयन क्रिया का प्राधान्य है सविशेषणं से साक्षात् या परम्परा से जो विशेषण हो उसके सहित अर्थ है। इससे 'नद्यातिष्ठति कूले' इत्यादि में नदी आदि की समान वाक्य में स्थिति सिद्ध हुई। सविशेषणं से विभागे साकांक्षत्व प्राप्त होता है। इसी को एकोद्देश्यक एक विधेयक एक कार्यत्व गर्भ, एक वाक्यत्व का लक्षण जानना। क्योंकि ऐसा ही जैमिन का सूत्र है। 'अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकांक्षम् चेद्विभागे' इससे बहुव्रीहि का भी संग्रह होता है। विशेषण के उपादान न होने से सविशेषत्व का अभाव है। वाक्यत्व का फल प्रश्नोत्तर में 'अनन्त्यस्यापि प्रश्ना-ख्यानयोः' से वाक्य की टि को प्लुत सिद्ध होता है इसी से अपने शास्त्र का कहा लक्षण 'एकतिङ वाक्यं' है। इससे ही इसका उदाहरण 'ब्रूहि ब्रूहि' ही भाष्य में दिया। किसी का कथन है कि इस उदाहरण में देवदत्ता विशेषण की पूर्ति करनी चाहिए, वह उनका कथन ठीक नहीं है। पूर्व लक्षण से ही सिद्ध था ब्रूहि का दो प्रयोग व्यर्थ था यद्यपि पद के द्वित्व में अवान्तर पदत्व भी है तो भी 'एकतिङ' का एकानुपूर्वी वाला एक तिङन्त वाला अर्थ करने से प्रकृति में कोई दोष नहीं है।

ओदनं पचेत्यादि। (१) समर्थपरिभाषा त्वत्र न प्रवर्त्तते, एकार्थीभावविषये एव (२) तत्प्रवृत्तेरिति भावः। एते वांनावादय इति। इदञ्च 'सपूर्वायाः' (८।१।२६) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्।

न च वा (८।१।२४) चादयः समुच्चयविकल्पाद्भुतखेदावधारणार्थाः तेषामन्यतमेन योगे इत्यर्थः। ननु तृतीयानिर्देशेनैव सिद्धे युक्तग्रहणं व्यर्थमत आह–युक्तग्रहणादिति। साक्षादिति। युष्मदस्मदर्थगतसमुच्चयादिद्योतकत्वे इत्यर्थः। परम्परेति। स्वार्थाश्रयान्वय्यन्वयित्वादिरूपेत्यर्थः।

ओदनं पचेत्यादि। समर्थ परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि एकार्थीभाव के विषय में ही उस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। एते वांनावादय इति। यह 'सपूर्वायाः' के भाष्य में स्पष्ट है।

न च वा। चारियों का क्रम से समुच्चय, विकल्प अद्भुत, खेद तथ्य अवधारण अर्थ है। "उनमें किसी का योग होने पर" यह अर्थ है। तृतीया निर्देश से कार्य सिद्ध था, फिर 'युक्त ग्रहण व्यर्थ है उत्तर देते हैं— मुक्तग्रहणादिति। साक्षादिति। युष्मद या अस्मद् के अर्थ में रहने वाले समुच्चय के द्योतक होने पर यह अर्थ होता है। परम्परेति। अपने अर्थ के आश्रय के अन्वय वाले का जो अन्वय वाला हो।

चेतसेति। 'अनालोचनार्थैः' इत्येव पर्युदासेन सिद्धे 'पश्यार्थैः' इत्येतद् (३) इन्द्रियजन्यसकलज्ञानसङ्ग्रहार्थमिति भावः। परम्परेति। स्वान्विता-न्वयित्वादिरूपेत्यर्थः। तदुक्तं भाष्ये 'पश्यार्थैश्च प्रतिषेधः' 'समानवाक्ये' इति प्रकृत्य वक्तव्यः। इतरथा हि यत्रैव पश्यार्थानां युष्मदस्मदी साधनं, तत्र प्रतिषेधः स्यात् ग्रामस्त्वां सम्प्रेक्ष्यगत इति। इह न स्यात्ग्रामस्तव स्वं सम्प्रेक्ष्य गतः' इति। समानवाक्ये इति करणेन समानवाक्ये पश्यार्थै-र्युक्ते युक्तयुक्ते च युष्मदाद्यर्थे आदेशप्रतिषेध इति कैयटः। एवञ्च 'न चवा' (८।१।२४) इति सूत्रे युक्तग्रहणं स्पष्टार्थमेव। तद्भावेऽपि प्रकृत-सूत्रस्येव तस्यापि साक्षात्सम्बन्धे एव प्रवृत्तिः स्यात्। समानवाक्ये इत्येतत्-सम्बन्धात्तु अस्य युक्तयुक्तेऽपि प्रवृत्तिरित्यन्यत्। अत एव 'देवदत्तस्य पुत्राद् यज्ञदत्तः पृथक्' इत्यादौ देवदत्तशब्दान्न पञ्चमीत्याहुः। भक्तस्तवेति। 'इह तव' इत्यस्य रूपेण सम्बन्धो, न तु साक्षाद्धयायतिनेति भावः।

चेतसेति। 'अनालोचनार्थैः' इतने पर्युदास से ही सिद्ध था 'परयार्थैः यह इन्द्रिय से जन्य सम्पूर्ण ज्ञान के संग्रह के लिए है। परम्परेति। अपने अन्वित का अन्वय वाला यह अर्थ है। भाष्य में भी कहा है 'परमार्थैश्च प्रतिषेधः' सभान वाक्येइति प्रकृत्य-वक्तव्य :। पश्यार्थैः से प्रतिषेध समान वाक्य में कहना चाहिए नही तो जहां भी पश्यार्थकों के कारण युष्मद् अस्मद् होगे वहाँ प्रतिषेध होने लगेगा। जैसे 'ग्रामस्त्वाँ संप्रेक्ष्य गतः' वाक्य में होगा। ग्रामस्तव स्वं संप्रेक्ष्य गतः में नही होगा। समानवाक्ये कहने से समान वाक्य में पश्यार्थक धातुओं से योग वाले और उनसे भी योग वाले युष्मद् अस्मद को आदेश प्रतिषेध होता है ऐसा कैयट का मत है। अब 'न च व' सूत्र में युक्त ग्रहण स्पटार्थ ही है। युक्त ग्रहण के अभाव में भी 'पश्यार्थैः' की तरह उसकी भी साक्षात् सम्बन्ध में ही प्रवृत्ति होगी। समान वाक्ये के सम्बन्ध से यह सूत्र मुक्त-मुक्त में लगता है। यह दूसरी बात है इसी से 'देवदत्तास्य पुत्राद् यज्ञदत्तः पृथक' इत्यादि में देवदत्त शब्द से पञ्चमी नहीं होती है। भक्तस्तवेति। यह तब रूप से सम्बन्ध है। साक्षात द्वयधातु से नहीं है।

सपूर्वा (८।१।२६)। सहशब्दा विद्यमानवाची। अवधेरपि सम्बन्धि-

त्वेन विवक्षायां (१) षष्ठ्यर्थेऽन्यपदार्थे 'अनेकम्' (२।२।२४) इति समासो, वोपसर्जनस्य' (६।३।८२) इति सः, तदाह—विद्यमानपूर्वादिति । प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणमित्याह—प्रथमान्तादिति । ननु 'एते वांनावादयः' (का० वा०) इत्येनैव विकल्पसिद्धे किमेतेनेत्यत आह—आन्वादेशेऽपीति । अत्र नेति निवृत्तं, तदाह—आदेशा वेति । तेनेति । भक्तत्वेनेत्यर्थः । प्रक्रान्तार्थत्वान्न यच्छब्दोपादानापेक्षेति भावः । स्पष्टञ्चेदं सप्तमोल्लासे काव्यप्रकाशादौ । अत्र 'हरिस्त्वाम्' इत्येकमुदाहरणम् । 'स माम्' इत्यपरम् । त्रायते इत्यस्य च मध्यमणिन्यायेन तन्त्रेणोभयत्रान्वयः तेन स इत्यस्यापि समानवाक्यस्थ-त्वेन विद्यमानपूर्वत्वं बोद्धव्यम् ।

सपूर्वा । सह शब्द विद्यमान वाची है अवधि को भी सम्बन्धित्व से विवक्षा में षष्ठ्यर्थ अन्य पदार्थ मानने पर 'अनेकम्' से समास होता है । 'वोपसर्जनस्य' से सह का सादेश होता है । यह सब जानकर ही लिखा है—विद्यमान पूर्वादिति । प्रत्यय के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण होता है इसलिए लिखा है—प्रथमान्तादिति । 'एते वांनावादयः' से विकल्प सिद्ध है फिर इसकी क्या आवश्यकता है इसलिए कहते हैं अन्वादेशेऽपीति । यहाँ नकार की निवृत्ति है- इसलिए लिखा है आदेशावेति । तेनेति । भक्तत्व होने से प्रक्रान्त होने से यद् शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं है क्योंकि प्रक्रान्त, प्रसिद्ध तथा अनुभूतार्थक तच्छब्द यच्छब्द की अपेक्षा नहीं करता है यह काव्य प्रकाश के सप्तम् उल्लास में लिखा है । यहाँ 'हरिस्त्वाम' यह एक उदाहरण है । 'समाम्' यह दूसरा है । त्रायते का मध्यमणिन्याय से तन्त्र मान कर दोनों में अन्वय है । इससे स के समान वाक्य स्थिति होने से विद्यमान पूर्वत्व है ।

सोऽऽमन्त्रितम् (२।३।४८) । सम्बोधने च' (३।२।१२५) इत्यतः सम्बोधने इति वर्त्तते । 'सौ' इत्यनेन प्रथमा परामृश्यते । आमन्त्रणमाम-न्त्रितमिति महासञ्ज्ञा(२)बलात्तदन्तविधिरित्याह—तदन्तमिति । अत एव है हे भो इत्यादीनामपि संज्ञासिद्धिः । अन्यथा 'अन्तरङ्गानपि' (प० भा० ५२) इति न्यायेन पूर्वं विभक्तिलुकि प्रथमाया अभावेन 'नखनिर्भिन्नः' इत्यत्रेसभाववदत्र संज्ञा न स्यात् । यद्यप्येषां सम्बोधने शक्तेः प्रातिपदि-कार्थसूत्रेणैव प्रथमा, तथापि सम्बोधनविषयप्रथमासत्त्वान्न दोष । एतदर्थमेव 'प्रथमा' इत्यनुवर्तमाने सेति पदम् ।

साऽऽमन्त्रितम् । 'सम्बोधने च' से सम्बोधने की अनुवृत्ति होती है 'सा' से प्रथमा का परामर्श होता है । आमन्त्रण, आमन्त्रित इस महासंज्ञा के बल से तदन्त विधि होती है- इसी से लिखा है । तदन्तमिति । इसी से है हे भो इनकी भी संज्ञा सिद्ध

होती है। नहीं तो 'अन्तरङ्गानपि' न्याय से पहले विभक्ति का लुक् होने पर प्रथमा के अभाव से 'नखनिर्भिन्नः में 'भिस्' लुक् होने से जैसे ऐस् नहीं होती है उसी प्रकार यहाँ संज्ञा नहीं होती। यद्यपि इनकी सम्बोधन में शक्ति होने से प्रातिपदिकार्थ सूत्र से प्रथमा सिद्ध है तो भी सम्बोधन के विषय में प्रथमा होने से दोष नहीं है। इसीलिये सा पद है।

अन्ये तु 'सम्बोधने च' (३।२।१२५) इत्यस्य तत्र वर्तमानादित्यर्थे अन्यत्रेवात्रापि 'सम्बोधने च' इत्येव प्रथमा प्रातिपदिकोक्तत्वस्याव्यावर्त्तकत्वेन विभक्त्यप्रतिबन्धकत्वात्, तिङ्कृत्तद्धितसमासैः' इति परिगणनाच्च। सेति विधेयसमर्पिकाया अनुवाद्यत्वाय स्पष्टार्थमित्याहुः।

अन्य का कथन है 'सम्बोधने च' का सम्बोधन में वर्तमान अर्थ करने से अन्य स्थल की तरह यहाँ भी 'सम्बोधने च' से ही प्रथमा है। प्रातिपदिक से उक्त होना किसी का व्यावर्तक नहीं होता है, इसलिए विभक्ति में भी प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है। 'तिङ्कृत्तद्धितसमासैः' यह चार स्थल उक्त के परिगणित है। सा तो विधेय भूत प्रथमा के अनुवाद के लिए स्पस्टार्थ है।

अविद्यमानवदिति। 'गोतो णित्' (७।१।९०) इतिवत् (१) सिद्धे वत्करणमतिदिश्यमानविरुद्धस्वाश्रयस्यापि लाभार्थम्। तेन 'आमभो देवदत्त' इत्यादौ 'आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके' (८।१।५५) इति एकान्तरत्वप्रयुक्तामन्त्रितनिघातनिषेधसिद्धिरिति स्पष्टं भाष्ये। न चात्र 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे' (८।१।७३) इत्यनेन निषेधादविद्यमानवत्त्वमेव नेति वाच्यम्, अस्य सम्बोधनमात्रद्योतकत्वेन विशेष्यवचनत्वाभावात्, देवदत्तस्यैव विशेष्यत्वाच्च।

अविद्यमानवदिति। 'गोतो णित्' की तरह ही कार्य सिद्ध था, फिर वत् करने से अतिदिश्य मान से विरुद्ध स्वाश्रय कार्य के लाभ के लिए है। अन्यत्र स्वाश्रय कार्य का ग्रहण नहीं होता है। इससे आम्भो देवदत्त' इत्यादि में 'आम एकान्तरमामन्त्रित-मनन्तिके' एक भो का व्यवधान मानकर देवदत्त को आमन्त्रितनिघात का निषेध सिद्ध हुआ। यहाँ 'आमन्त्रिते समानाधिकरणे' से निपेध होने अभिमानबद्भाव ही नहीं है। सम्बोधन मात्र का द्योतक होने से यह कोई विशेष बंधन नहीं है और देवदत्त ही विशेष्य है।

इहेति। 'अग्ने तव' 'देवास्मान्' इत्यत्रादेशाः, 'अग्ने नय' इत्यत्र तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इति निघातः, 'अग्ने इन्द्र' इत्यत्र 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) इति निघात इति विवेकः। अत्र पूर्वमित्यनेन परस्याऽ-

ऽक्षेपात् पूर्वं परस्य कार्येऽविद्यमानवदित्यर्थः । तेन 'देवास्मान्' इत्यत्र देवेत्यस्याऽऽमन्त्रिताद्युदात्तत्वं भवत्येव । पूर्वं किम् ? पाहि देव । अत्राऽऽमन्त्रितनिघातो भवत्येव ।

इहेति । 'अग्ने तव' 'देवास्मान्' में आदेश 'अग्ने नय' में 'तिङङतिङ' से निघात, 'अग्नेइन्द्र' में आमन्त्रितस्य से निघात नहीं होता है। यहाँ पूर्व से पर का आक्षेप होने से पहले पर के कार्य में अविद्यमानवत् होता है। इससे 'देवास्मान्' में देव को षाष्ठ (छठें अध्याय का) आमन्त्रित आद्युदात्त होता ही। पूर्वग्रहण का फल है कि कि पाहिदेव में आष्टमिक आमन्त्रित निघात होता है।

प्राचीनमिति । एवमेव 'लक्ष्मीपते तेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि' इत्यादिसिद्धिः । (२) नृसिंहाश्रम ते ख्यातिः इत्यादौ 'गेये केन विनीतौ वाम्' इत्यादाविव विभक्त्यन्तप्रतिरूपकनिपाताङ्गीकारेणादोषः । अयं समाधिः प्रकृतेऽपि, 'नः' इत्यस्य विभक्तिप्रतिरूपकत्वात् । अन्यार्थन्तु मूलोक्तकल्पनावश्यकत्वम्, तदाह—एवमिति । सर्वेषां निघातइति । अस्य प्राप्त इति शेषः । तत्र यमुने सरस्वतीत्यनोर्बाधकाभावाद्भवति । शुतुद्रीत्यस्य तु न, पादादिस्थत्वात् ।

एतेन 'आदिभ्यः' 'सर्वेषाम्' इति बहुवचनमसङ्गतमित्यपास्तम् ।

प्राचीनमिति । इस तरह 'लक्ष्मीपतेतेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि' इत्यादि की सिद्ध होती है। 'नृसिंहाश्रम ते ख्यातिः' इत्यादि में 'गेये केन विनीतौ वाम्' की तरह विभक्त्न्तप्रतिरूपकनिपात स्वीकार करने से दोष नहीं है। अर्थात् उक्त दोनों स्थानों में क्रमशः ते तथा वाम् निपात है। आदेश नहीं है। यह समाधान प्रकृति में भी समझना। 'नः' भी विभक्ति प्रतिरूपक निपात है। जैसा कि लिखा है—एवमिति। सर्वेषाँ निघात इति। इसको प्राप्त था यह इसका शेष है। वहाँ यमुना, सरस्वती में बाधक न होने से होती है। पाद के आदि में स्थिति होने से शुतुद्री में नहीं होता है। इससे 'आदिभ्यः' सर्वेषाम् में बहुवचन असंगत है। यह कहना व्यर्थ है।

अग्ने तेजस्विन्निति । अनुदात्तं सर्वमित्यनयोः सम्बन्धानहेत्वेन निवृत्त्या तत्साहचर्येणापादादावित्यस्याप्यविद्यमानवत्सूत्रे निवृत्तिरिति भावः । आमन्त्रिते किम् ? (१) देव करोषि । सामान्यवचनं किम् ? 'अघ्न्ये देवि सरस्वति इडे काव्ये' इत्यादौ पर्यायेषु परेषु निषेधो मा भूत् । सामानाधिकरण्यञ्चैकार्थविशेष्यकबोधजनकत्वमेव, न तु प्रवृत्तिनिमित्तभेदगर्भमिति दिक् ।

अग्ने तेजस्विन्निति : अनुदात्तं सर्वमि दोनों के सम्बन्ध योग्य न होने से निवृत्ति होने से उनके साहचर्य से अपदादौ की थी। अविघ्नशानवत् सूत्र में निवृत्त की है। आमन्त्रिते अभाव में देव करोषि में दोष था। सामान्य वचन के अभाव में अघ्न्ये देवि सरस्वति इडे काव्ये' इत्यादि में पर्यायों के परे निषेध होने लगता। सामानाधिकरण्य तो एकार्थ विशेष्यक बोध जनकत्व ही लेना। (एक अर्थ को विशेष्य मानकर जहाँ बोध होता हो) प्रवृत्ति निमित्त भेद वाला नहीं है। प्रवृत्ति निमित्त का अर्थ सकृत्या वच्छेदक है।

सुपादिति। शोभनौ पादावस्येति बहुव्रीहिः। 'संङ्ख्यासुपूर्वस्य' (५।४।१४०) इत्यकारलोपः समासान्तः।

अञ्चेः सुपीति। निपातने साहचर्यादिति भावः।

अनिदिताम्। (६।४।२४) (२) इत्संज्ञेकार (३) वद्भिन्नाना-मित्यर्थः। अङ्गस्येत्यधिकारः।

सुपादिति। शोभनौ पादौ अस्य इस विग्रह में बहुव्रीहि समास है। 'संङ्खया-सुपूर्वस्य' से समासान्त अकार का लोप होता है।

अञ्चेः सुपीति। निपातनों से साहचर्य होने से उक्त अर्थ का लाभ है।

अनिदितान्। इत्संज्ञक इकार यालों से भिन्नों को अर्थ है। अंगस्य का अधिकार है।

अञ्चतेर्भस्येति। 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) इतिवद् अस्यापि प्रत्यञ्चमञ्चति तेन (१) 'प्रत्यक्चा' इत्यादौ पूर्वाकारे न प्रवृत्तिः। अच इत्यञ्चतेर्लुप्तनस्य ग्रहणम् (२) व्याख्यानात्। अस्य किम्? प्रत्यञ्चौ। लुप्तनस्येति किम्। पूजायां प्रत्यञ्चा।

अञ्चतेर्भस्येति। 'अल्लोपोऽनः' की तरह इसकी भी प्रत्यञ्चमञ्चति विग्रह निदपन्न तृतीयान्त 'प्रत्यक्चा' में पूर्व आकार में प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्थात यकार में विद्यमान जो अच् का आकार है। अचः से लुप्त नकार वाली अञ्चति का ग्रहण है। इसमें व्याख्यान ही शरण है। अकार का लोप न कर ब लोप करने से न लोप विवक्षित है। भ के अभाव में प्रत्यञ्चौ में अकार का होने लगता। लुप्तनस्य के अभाव में पूजा में प्रत्यञ्चा में अकार का लोप होने लगता।

चौ (६।३।१३८)। नेदं वर्णग्रहणं व्याख्यानात्, तदाह—लुप्तेत्यादि। अण इति। 'कर्तृचः' इत्यादीनामनभिधानमिति भावः। एवञ्चाण्ग्रहण-मुत्तरत्र 'सम्प्रसारणस्य' (६।३।१३९) इत्यत्र 'तृतीयः' इत्येतद्व्यावृत्त्यर्थमा-वश्यकमिहापसम्बद्धयते, न त्वत्रास्य व्यावर्त्यमस्ति इत्याकरे स्पष्टम्।

अक्तेति । तत्परिभाषाऽभावे तु 'चौ (३) प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वचनमेव भाष्योक्तं शरणम् ।

चौ । यह वर्ग ग्रहण नहीं है (च वर्ग) इसमें व्याख्यान ही शरण है । अतएव लिखा है--लुप्तेत्यादि । अणइति । कर्त्तच इत्यादि प्रयोगों का अनभिधान है । इस तरह अण्ग्रहण आगे 'सम्प्रसारणस्य' तथा 'तृतीयः' इत्यादि की व्यावृत्ति के लिए है, उसका सम्बन्ध यहाँ भी हो जाता है । यहाँ उसका कोई व्यावर्त्य नहीं है । ऐसा भाष्य में स्पष्ट है ।

अक्तेति । उस परिभाषा के अभाव में तो 'चौ' प्रत्यगस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः' यह भाष्योक्ति वचन ही शरण है । प्रत्यंग (अन्तरंग) ।

विष्वग्दे (६।३।९२) । चात् 'आ सर्वनाम्नः' (६।३।९१) इत्यतः सर्वनाम्नः इत्याकृष्यते । (४) सामर्थ्यादुपसर्जने प्रवृत्तिः । अप्रत्यये इति पाठेऽविद्यमानः प्रत्ययः, क्विबादिरित्यर्थः । वप्रत्यये इति पाठेऽप्यकारस्याविवक्षितत्वात् (५) स एवार्थः । अद्र्यादेशसघ्र्यादेशावन्तोदात्तौ निपातनादिति स्पष्टं भाष्ये ।

विष्वग्दे । चकार से 'आ सर्वनाम्नः' में सर्वनाम्नः का अपकर्ष होता है । सूत्रारम्भ करने के कारण उपसर्जन में भी प्रवृत्ति होती है । अप्रत्यय पाठ में अविधमान प्रत्यय अर्थात् क्विप् आदि जानना । व प्रत्यये पाठ में भी अकार के अविवक्षित होने से क्विबादि ही अर्थ है अद्रतथा सध्र दोनों ही आदेश निपातन से अन्तोदान्त है ।

अदसो (१।१।१२) 'असेः' इतीकार उच्चारणार्थः । अदस इत्यवयवषष्ठी । सग्रहणं तत्स्थानिकौकाररेफयोरप्युपलक्षणम् । तेन 'अदस्यति' 'अदोऽत्र' 'अदः' इत्यादौ न दोषः । दादिति किम् ? अमुयोरित्यत्रान्त्यस्य मा भूदिति । समाहारद्वन्द्व इति । इदमर्वाचामनुरोधेन । (१) वस्तुतोऽयुक्तमेतत् । उ स् ऊ स् इति द्वन्द्वे सुलोपे घ्यन्तत्वाद्ध्रस्वस्य पूर्वनिपाते नपुंसकह्रस्वसवर्णदीर्घयोः प्राप्तयोर्दीर्घस्य शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यत्वेन नित्यत्वाद्, अपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च ह्रस्वत्वे ततः सवर्णदीर्घे ऊ इतिरूपासिद्धेः । अत एव 'उकालः' (१।२।२७) इत्यत्र उकाल इति न कृतम् । तस्माद् 'दिव उत्' (६।१।१३१) 'ऋत उत्' (६।१।१११) इति च तपरत्वेन भाव्यमानोकारस्य सवर्णग्राहकत्वात्सिद्धमिति बोद्धयम् ।

अदसो । असेः में इकार उच्चारण के लिए है । अदसः यह अवयव षष्ठी है । सकार का ग्रहण उसके स्थान में होने वाले औकार और रेफ का भी उपलक्षण है ।

इससे अदस्य. अदोऽत्र तथा अदः आदि में दोष नहीं है। दात् का फल है, अमुयोः में अन्त्य को न होना। समाहार द्वन्द्व इति। यह कथन प्राचीनों के अनुरोध से है। वास्तविक में यह युक्त नहीं है। क्योंकि उस् ऊम् इस द्वन्द्व में सुलोप करने पर नंपुसक ह्रस्व और सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होने पर दीर्घ, शब्दान्तर को प्राप्त होने से अनित्य है नित्य होने से तथा पर निमित्तक न होने से एवं अन्तरंग होने से ह्रस्व करने पर तदन्तर सवर्ण दीर्घ करने पर उ इस रूप की सिद्ध नहीं होगी। इसी से 'ऊकालः' में ऊकार नही किया इसलिए 'दिवउत' तथा 'ऋतउत' के तपर करण से ज्ञापित उकार 'भाव्यमानोकारस्य ग्रहणान्त' परिभाषा से ही कार्य सिद्ध होगी।

'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) इति सूत्रे भाष्ये 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' (प० भ० ६५) इति परिभाषा पठिता। अन्त्यसदेशा (२) नन्त्यसदेशयोरेकप्रयोगे युगपत् प्राप्ताव (३) न्त्यसदेशस्यैवेति तदर्थः। अनन्त्यविकार (४) इति च लिङ्गम्। तामर्थतः पठति—अन्त्यबाधे इति। अन्त्यस्य बाधे कार्याप्राप्तौ, अर्थादनेकानन्त्यस्य प्राप्तावित्यर्थः। अन्यथा 'णो नः' (६।१।६५) इत्यादि 'नेता' इत्यादावेव स्यात्, न तु 'नमति' इत्यादाविति भाष्ये स्पष्टम्। 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) 'अचः' (६।४।१३८) 'सान्त' (६।४।१०) इत्यादावनेकक्लिष्टकल्पनापेक्षयेय न्याय्या।

सूत्र के भाष्य में 'अनन्त्य विकारे द्वऽन्त्यसदेशस्य परिभाषा है। कहीं पर अन्त्यसदेश तथा अनन्त्यसदेश दोनों के एक प्रयोग में एक साथ प्राप्त होने पर अन्त्य के समीपवाले को ही कार्य करना चाहिए, यह परिभाषा का अर्थ है इसमें अनन्त्य विकारे लिग है। उसको अर्थ से पढ़ते है—अन्त्यबाधे इति। अनन्त्य को बाध होने पर अर्थात् कार्य की प्राप्ति न होने पर अर्थ है उक्त अर्थ न करने पर 'णो नः' से नकार 'नेता' में हो तथा नमति में नहीं हो यह भाष्य में स्पष्ट है। इसका तात्पर्य है कि केवल एक अन्त्य होने पर ही परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु अनेक होने पर भी होती है। नेता में केवल इकार ही है परन्तु नमति में मकार और अकार दो है। 'अल्लोपोऽनः' 'अचः' 'सान्त' इत्यादि स्थलों में अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं की अपेक्षा परिभाषा को मानना ही उचित है।

किञ्च भसंज्ञायां कार्यकालपक्षाश्रयणमशक्यं परत्वेन पदसंज्ञाबाधकत्वा- (१) नुपपत्तेः। 'राज्ञः' इत्यादौ नलोपस्यासिद्धत्वात्पूर्वम् 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) इति लोपे पश्चात्प्राप्तनलोपैकवाक्यतापन्नपदत्वस्यैतदेकवाक्यतापन्नभत्वेन बाधायोगान्न (२) लोपापत्तेश्च। तस्मादाकडारस्थसञ्ज्ञासु यथोद्देशाश्रयणमेवावश्यकमिति 'यजादिस्वादिपरो योऽन्' इत्यर्थस्य न तत्र लाभः।

'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६।१।१३) इति सूत्रस्थ–'कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषं, भस्येत्युपस्थितमिदं भवति यचि भमिति। तत्र यजादिपरतयाऽनकारं विशेषयिष्यामः। 'अनाऽकारम्' इति भाष्यन्त्वे (३) कदेश्युक्तिः, यजादिप्रत्ययस्या (४) ङ्गांशे उत्थिताकांक्षतया तेनास्यो विशेषणायोगाच्च। अत एव सर्व–फलानामन्यथासिद्धिं प्रदर्श्यापि 'तस्माद् यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयो–जनानि तदर्थमेषः कर्त्तव्या' इति उपसंहृतं भाष्ये इति भावः।

और दूसरी बात यह है कि भसंज्ञा में कार्यकाल पक्ष का आश्रयण कठिन है, क्योंकि पर होने से पद संज्ञा की बाधक होती है। यह सिद्ध नहीं होगा। तब राज्ञः इत्यादि में न लोप को असिद्ध कर पहले 'अल्लोपोऽनः' से लोप करने पर पीछे न लोप के साथ एक वाक्यता को प्राप्त पद संज्ञा का 'अल्लोपोऽनः' से एक वाक्यता पन्न भ संज्ञा से बाध न होने से न लोप होने लगेगा। इससे आकडारस्थ संज्ञाओं में यथोद्दे-श्य पक्ष का आश्रयण ही आवश्यक है। तब 'राजादि स्वादिपरो योऽन्' इस अर्थ का वहाँ लाभ नहीं हो सकता है। 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' सूत्र के भाष्य में जो लिखा है कि कार्यकाल संज्ञा परिभाषा पक्ष में भाष्य की उपस्थिति यचि भमि में होती है। वहाँ यजादि पर तथा अनकार को विशेष्य करेगे। (यजादि प्रत्यय है परे जिससे ऐसा जो अन्) अन् का विशेष्य अकार मानेंगे (अन् का जो आकार) यह भाष्य एक देशी है। क्योंकि यजादि प्रत्यय की अंगांश में आकांक्षा उपस्थित होने से यजादि प्रत्यय अन् का विशेषण नहीं हो सकता है। इसी से सब फलों की अन्यथा सिद्ध दिखाकर भी 'तस्माद्' इत्यादि से भाष्य में उपसंहार किया है। (जो इस परिभाषा के प्रयोजन हो उनके लिए यह परिभाषा करनी चाहिए)।

अन्त्यसदेशस्येति। अन्त्येन समानो देशो यस्येत्यर्थः। तत्त्वञ्चान्त्य-वर्णतद्वर्णयोरि (१) तराव्यवधाने भवति। 'चलीक्लृप्यते' इत्यादौ ऋका-रान्तर्गतरेफस्योत्तराज्भागेन व्यवधानान्नान्त्यसदेशत्वसम्भव इति न तत्रैत-त्परिभाषाप्रवृत्तिः। अत एव 'न सम्प्रसारणे' (६।१।३७) इत्युदाहरणी-भूतस्य 'विद्धः' इत्यादेर्नानया सिद्धिः। अत एव 'न सम्प्रारणे' (६।१।३७) इति सूत्रं सार्थकम्। 'नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि' इति तत्सूत्रस्थ-भाष्यस्य त्वयमर्थः–एतत्सूत्रसाध्यानि 'विद्धः' इत्यादीन्युदाहरणानि नैतस्याः परिभाषाया भवन्तीति। अन्त्यसदेशत्वाभावादिति च तद्भावः।

अन्त्यसदेशस्येति। अन्त्य से समान है देश जिसका यह अर्थ है। वह वर्ण और समीपस्थ वर्ण में अन्य के व्यवधान न होने पर ही होता है।

'चलीक्लृप्यते' इत्यादि में ऋकार के अन्तर्गत रेफ का उत्तर के अच् भाग से

व्यवधान होने से अन्त्यसदेश नहीं है, इसी से इस परिभाषा की प्रवृति उसमें नहीं होती है। इसी से 'न सम्प्रसारणे' के विद्धः उदाहरण इस परिभाषा से सिद्ध नहीं है। इसी से न सम्प्रसारणे सूत्र भी सार्थक है 'नैनस्याः' इत्यादि भाष्य का तो यह अर्थ है, कि इस सूत्र से सिद्ध होने वाले विन्न इत्यादि उदाहरण इस परिभाषा के नही है। अन्त्यसदेश का न होना ही इसमें कारण है। अन्त्यधकार के समीप अकार है बकार नहीं है।

परस्यैवेति। द्रशब्दस्यैवेत्यर्थः। अः सेरिति। अत्र अकारेण आकारस्यापि ग्रहणं तेन 'अमूदृक्' इत्यादिसिद्धिः। तत्र हि 'आ सर्वनाम्नः' (६।३।९१) इति पूर्वपदान्तस्यात्वम्। त्यदाद्यत्वेति। त्यदादीनामत्वविषय इत्यर्थः पक्षे इति। अत्र तन्त्रेणार्थद्वयेऽपि सूत्रतात्पर्यम्। तत्र लक्ष्यानुरोधाद्व्यवस्था। अत्र प्रमाणमुपन्यस्यति—उक्तश्चेति। लत्ववदिति। 'चलीक्लृप्यते' इत्यत्र यथा लत्वं रीगृकारयोर्भवति तथेत्यर्थः। अत्र 'अमुदयङ् इति रूपवादिमतं (२) न्याययुतं, लत्वे उक्तरीत्यैतन्न्यायाप्रवृत्तावपि अत्रैतदप्रवृत्तौ मानाभावात्। अतएव भाष्ये 'अदसोऽनोस्त्रेः' इतिवार्त्तिकप्रत्याख्यानाय 'अथवा अः सेः' इति पक्षमुक्त्वा 'यद्येवम् 'अमुमुयङ्' इति न सिद्ध्यति, 'अदद्र्यङ्' इति प्राप्नोति, 'अदमुयङ्' इति भवितव्यम् अनन्त्यविकारे इति' इत्युक्तम्। अत्र 'इति प्राप्नोति' इत्युक्त्या तत्रासम्मतिरुक्ता। 'इति भवितव्यम्' इत्यनेन पृथक् मुत्वमिति पक्षे सम्मत्यभावो दर्शितः। 'इति भवितव्यम्' इत्युक्त्या च तत्र शब्देऽप्रयुक्तत्वं सूचितमित्याहुः।

परस्यैवेति। द्रशब्द का ही । अः सेरिति। यहाँ अकार से आकार का भी ग्रहण है, इसी 'अमूदृक' की सिद्ध होती है, क्योंकि उक्त प्रयोग में 'आसर्वनाम्नः' से पूर्वपद अदस् शब्द में आत्व होता है त्यदाद्यत्वेति। अर्थात् 'त्यदादीनामः' के विषय में ही प्रवृत्ति होती है। पक्षेइति। यहाँ तन्त्र से दोनों अर्थो से सूत्र का तात्पर्य है। वहाँ लक्ष्य के अनुसार ही व्यवस्था है। इसमें प्रमाण देते है– लत्ववदिति। 'चलीक्लृप्यते' में जैसे रीक् और लृकार दोनों को ही लत्व होता है। यहाँ 'अमुदयङ्' रूप सिद्ध करने वाले का मत ही न्याय से उचित है। इसी से भाष्य में 'अदसोऽनोस्त्रेः' इस वार्तिक के प्रत्याख्यान के लिए अथवा अः सेः इस पक्ष को कह कर यदि ऐसा है तो 'अमुमयङ्' की सिद्ध नहीं होगी। 'अदद्रयङ्' प्राप्त होगा, अनत्यविकोर से 'अदमुयङ्' होना चाहिये यह लिखा है। यहाँ प्राप्नोति कहने से उसमें अपनी असम्मति कही है 'इति भवितव्यम् से पृथक मुत्वम् इस पक्ष में सम्मति का अभाव प्रदर्शन किया है। 'इति भवितव्यम्' कहने से उस शब्द में अप्रयुक्तत्व दोष स्पष्ट किया है।

विष्वग्देवयोः किमिति। चस्याप्युपलक्षणमिदम्। ननूत्तरपदाधिकारादञ्चुरूपे उत्तरपदे इत्यर्थाद् 'विष्वगञ्चनम्' इत्यादेर्व्यावृत्तौ व्यर्थमप्रत्ययग्रहणमत आह—अप्रत्ययेति। तेनेति। अन्यथा 'अतः कृ: (८।४।४६) इत्यत्र 'नित्यं समासे' (८।३।४५) इत्यतोऽनुवृत्तसमासग्रहणेनोत्तरपदाक्षेपेऽपि कृधातुरूपे उत्तरपदे इत्यर्थापत्तौ 'अयस्कृद्' इत्यादावेव स्यादिति भावः।

विष्वग्देवयोः किमिति। यह चकार की भी उपलक्षण है। उत्तर पद के अधिकार होने से अञ्चुरूप उत्तर पद के परे अर्थ होने से 'विषगञ्चनम्' इत्यादि के व्यावृत्ति सिद्ध थी फिर अप्रत्यय ग्रहण व्यर्थ है,। इस शंका का उत्तर देते है–अप्रत्ययेति। तेनेति। नहीं तो 'अतः कृ' सूत्र में 'नित्यं समासे' से अनुवृत्ति से प्राप्त समास ग्रहण से उत्तर पद का आक्षेप होने पर भी कृ धातु रूप उत्तर पद के परे अर्थ होने पर 'अपस्कृद्' इत्यादि में होता।

उद् ईत् (६।४।१३९)। अत्र 'अचः' (६।४।१३८) इत्यनुवर्त्तते।

समः स (६।३।९३)। 'समो मिङ्' 'इति' 'सम इक्' इति वा न कृतं, परिभाषाज्ञावकृत (?) गौरवापत्तेः।

उद् ईत्। यहाँ अच् की अनुवृत्ति है। समः स। 'समोमिङ्' अथवा 'सम इक्' ऐसान्यास तो नहीं किया। क्योंकि उन दोनों न्यासों में परिभाषा की आवश्यकता होने से ज्ञान गौरव होता।

(२) तिरसस्ति (६।३।९४)। 'अलोपे' इत्यत्र शकन्ध्वादित्वात्पररूपेणाकारः प्रश्लिष्यते। अस्य अलोपो लोपाभावे यस्मिन्नञ्चतावित्यर्थस्तदाह—अलुप्ताकारेति। तिरश्चेति। श्चुत्वेऽल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं तु न, पूर्वत्रासिद्धीये तन्निषेधात्।

तिरसस्ति। 'अलोपे' में शकन्ध्वादि से पर रूप मानकर अकार का प्रश्लेष करते हैं उस अलोप का लोप का अभाव है जिस अञ्चति के परे यह अर्थ है वही कहते हैं—अलुप्ता कारेति। तिरश्चति। श्चुत्व करने में अकार के लोप का स्थानिवद्भाव तो नही होता है; क्योंकि पूर्वत्रा सिद्धीये से निषेध हो जाता है।

पूजार्थस्येति। पूजारूपार्थस्य गम्यत्वे इत्यर्थः। अत एवाव्याकुलं गच्छतीत्यर्थके 'अञ्चितं गच्छति' इत्यादौ नलोपो नः। अव्याकुलगमनेन च पूजा गम्यते, न त्वञ्चतेरेव सोऽर्थ इति स्पष्टम् 'अञ्चोऽनपादाने' (८।२।४८) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः। 'प्राचः' इत्यादि चिरन्तनादिरूढस्येति बोद्धयम्। एतेन 'अञ्चतेर्गतौ' इति नियमेनैव सिद्धौ 'नाञ्चेः पूजायाम्' (६।४।३०) इति व्यर्थमित्यपास्तम्।

पूजार्थस्येति। पूजारूप अर्थ की प्रतीति होने पर अर्थ करना इसी से 'अव्याकुल जाता है' इस अर्थ में 'अञ्चितं गच्छति' इत्यादि प्रयोगों में न लोप नहीं होता है। क्योंकि अव्याकुल गमन से पूजा की प्रतीत होती है। केवल अञ्चति का ही पूजा अर्थ नहीं है यह 'अग्योऽनपादाने' सूत्र के भाष्य एवं कैयट में स्पष्ट है। 'प्रायः' इत्यादि तो चिरन्तन अर्थ में रूढ़ है। उक्त व्यवस्था करने से 'अञ्चतेर्गतौ' इस नियम से सिद्ध था फिर 'नाञ्चेः पूजायाम्' सूत्र व्यर्थ है। यह उनका कथन ही व्यर्थ है।

नलोपाभाव इति। (१) ओपधत्वबोधनद्वारेत्यर्थः। स्पष्टञ्चेदं 'परेश्च घ' (८।२।२२) इति सूत्रे भाष्ये। अपिना चसमवधाने 'चोः कुः' (८।२।३०) इति बोद्धयम्। इति कुत्वाभावो, निरुपपदात् क्विन् इति च निपात्यते इति बोद्धयम्। 'सङि' इति वचनाद्वा कुत्वाभावः। षत्वं, स्कोरितीति। सलोपे षत्वस्यासिद्धत्वात्सलोपे कृते षत्वम्। व्रश्चेः क्विपि 'ग्रहिज्या' (६।१।१६) इति सम्प्रसारणे पूर्वत्वे श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्सलोपः। सुवृट्स्विति। चर्त्वस्यासिद्धत्वाद् 'ङः सि' (८।३।२९) इति वा धुट्। निपात्यन्ते इति। अतिप्रत्ययान्ता इति शेषः। तत्र पृषद्बृहतोर्गुणाभावश्च, गमेर्जगादेशश्च, महेः कर्मणि प्रत्ययश्च, निपातनात्। शतृवदिति। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया शतृप्रत्ययान्तवदित्यर्थः। 'शतुरनुमः' (६।१।१७३) इति सूत्रे 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' इति तु पृषदादिव्यावृत्तये नियमार्थमिति बोद्धयम्।

न लोपाभाव इति। अकार उपधा में है, यह भी समझना यह विषय 'परेश्च घ' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। अपि के चकार समवधान में 'चोः कुः' से कुत्व का अभाव और निरुपपद से क्विन् का निपातन भी जानना अथवा 'सङि' कहने से कुत्व नहीं होता है। षत्वं, स्कोरितीति। सकार को लोप करने में सत्व के असिद्ध होने से सलोप करने पर षत्व होता है वृश्च क्विप् करने पर 'ग्रहिज्या' से सम्प्रसारण और पूर्व रूप करने पर, श्चुत्व के असिद्ध होने से सकार का लोप होता है। सुवृट्स्विति। चर्त्व के असिद्ध होने से 'ङःसि' से विकल्प से धुट् होता है। निपात्यन्ते इति। अतिप्रत्यय वाले यह इसका शेष है। वहाँ पृषद् और वृहत को गुण का अभाव भी गम को जगादेश और मह को कर्म में प्रत्यय भी निपातन से सिद्ध है। शतृवदिति। प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से शतृ प्रत्ययान्तवत् अर्थ है। 'शतुरनुमः' सूत्र में 'वृहन्महतोरूपसंख्यानम्' से पृषदादि व्यावृत्त के लिए नियमार्थ है।

अत्वसन्त (६।४।१४)। चस्त्वर्थे। अतु इति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम्। अधातोरिति असन्तस्यैव विशेषणं (२) तुशब्दात्। तदाह—धातुभिन्नेति। अत एव 'उगिदचाम्' (७।१।७०) इति सूत्रे गोमत्यतेरप्रत्यये

गोमानिति प्रयोगो भाष्ये सङ्गच्छते । अङ्गविशेषणतयाऽर्थसिद्धतदन्तविधेरेवानुवादकमन्तग्रहणम् । परमिति । वचनसामर्थ्यादुपधापदासम्बन्धेन चारितार्थ्यादित्यभिमानः । अयमभ्युच्चय इत्याह–नित्यमिति । कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेणेत्यर्थः । सामर्थ्यादिति । वाक्यार्थबोधकाले विरोधाभावेनोपधासम्बन्धे कृते सामर्थ्यात्पूर्वं दीर्घप्रवृत्तिरेव कल्प्यते इति भावः । धीमानिति । न चै(३)कानुबन्धकपरिभाषया मतुपोऽग्रहणम्, सूत्रं तु सर्वादिपठितेऽनुनासिकोकारविशिष्टे भवतुशब्दे चरितार्थमिति वाच्यं पकारादेः समुदायानुबन्धत्वेऽप्यतोर्व्यनुबन्धकत्वाभावात् । अवयवानां नान्तरीयकतया समुदायोपदेशे एव ऋषितात्पर्यमित्यर्थस्य 'आदेच उपदेशे' (६।१।४५) इतिसूत्रस्थभाष्यसम्मतत्वेन यदुपदेशप्रयुक्ता यस्येत्संज्ञा तस्य तदनुबन्धताया एव स्वीकारात् । न चोकारलोपेऽत्वन्तत्वस्याप्यभावः, उकारस्याश्रयणेन तदंशे भूतपूर्वगतिस्वीकारात् । एतेन तदाश्रयणे अतुबन्तेमेतत् नात्वन्तमित्यपास्तम्, तदाश्रयणाभावात् । तस्मादनुनासिकोकारविशिष्टो य उपदेशे अत् तदन्तस्य प्रयोगस्थस्य दीर्घ इति सूत्रार्थ इति न दोषः ।

अत्वसन्त । चकार तु के अर्थ में है । अतु लुप्त षष्ठीक पृथक पद है । अधातुतो तु शब्द के बल से असन्त का ही विशेषण है । जैसा कि लिखा है—धातुभिन्ने ति । इत् से "उगिदचाम्" सूत्र में गोमत्यत् से अप्रत्यय करने पर गोमान् प्रयोग भी भाष्य का संगत होता है । अंग के विशेषण होने से स्वतः सिद्ध तदन्त विधि का अनुवादक ही अन्तग्रहण है परमिति । वचन सामर्थ्य में उपधा पद के असम्बद्ध से चरितार्थ है । यह अभिमान मात्र हैं । परम यह अभ्युच्चय है—नित्यमिति । करने पर और न करने से प्राप्ति होने से । सामर्थ्याति । वाक्यार्थ बोध के समय विरोध के न होने से उपधा के सम्बन्ध करने पर सामर्थ्य के कारण पहले दीर्घ की प्रवृत्ति की कल्पना करते हैं । धीमानिति । एक अनुबन्ध वाले के ग्रहण में दो अनुबन्ध वालों का ग्रहण नहीं होता है, इस परिभाषा के बल से इस सूत्र में मतुप का ग्रहण नहीं होना चाहिये । सूत्र तो सर्वादिगण में पठित अनुनासिक उकार वाले भवतु शब्द में चरितार्थ है, यह शंका उचित नहीं है । क्योंकि पकार समुदाय का अनुबन्ध है अतु का नहीं है । इसलिए अतु दो अनुबन्ध वाली नहीं है । अवयवों का नान्तरीयक (आवश्यक) होने से समुदाय की उपदेश में ही ऋषि का तात्पर्य है ऐसा अर्थ 'आदेच उपदेशे' सूत्र के भाष्य सम्मत होने से जिसके उपदेश को लेकर जिसकी इत्संज्ञा हुई है वह उसी अनु- बन्ध से माना जाता है । उकार के लोप होने पर अत्वन्त भी नहीं है । यह कहना उचित नहीं है क्योंकि उकार के आश्रयण से उकारांश में भूतपूर्वगति के स्वीकार

करने से दोष नहीं है। उक्त विषय को स्पष्ट करने से भूतपूर्वगति के स्वीकार करने से अनुबन्त ही होगा, अत्वन्त नहीं होगा यह कथन भी परास्त हो गया। उसका आश्रयण नहीं है। अब अनुनासिक उकार विशिष्ट जो उपदेश में अत्तदन्त जो प्रयोग में स्थित है। उसको दीर्घ होता है इस अर्थ से कोई दोष नहीं है।

नियमार्थमिति। धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि नलोपिनोऽञ्चतेरेवेति नियम इति भावः। तेन 'उखास्रत् ब्राह्मणी' इत्यादौ नुम्ङीपौ न। न्यायप्राप्ताल्लोपाकरणपूर्वकं नलोपकरणस्य विवक्षार्थत्वमित्याशयः। यद्यपि अञ्चतेश्चेन्नलोपिन एवेति नियमेऽप्यञ्चतिग्रहणं चरितार्थं, तथापि भाष्यप्रामाण्येन सामान्यापेक्ष उक्तनियमो युक्त इति बोद्धयम्।

नन्वत्र धातुत्वात्कथं नुम्, अत आह—अधातोरिति। न चौपदेशिकधातुविषयक एव नियमोऽस्तु, किमनेनेति वाच्यम्, औपदेशिकत्वानन्तर्भावेण सामान्यापेक्षनियमज्ञापनार्थत्वात्। तत्फलं 'पर्णध्वद्' इत्यादाविव 'गोमान्' इत्यादिनामधातौ 'उगितश्च' (४/१/६) इतिङीबभाव इति दिक्। क्यच्पक्षेऽल्लोपो न स्थानिवत् क्वौ लुप्तत्वात्। अत्राऽऽचारक्विव् अर्वाचीनमतेन। वस्तुतो (हलन्तेभ्यस्तदभाव इति 'ह्रस्वनद्यापः' (७/१/५४) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्।

नियमार्थमिति। धातु को यदि उगित् कार्य हो तो नकार लोप वाली अञ्चति को ही हो, यह नियम है उक्त नियम स्वीकार करने से 'उखास्रत ब्राह्मणी' इत्यादि प्रयोगों में उगित मानकर नुम् और ङीप नहीं होते हैं। न्याय से प्राप्त अकार लोप के न करने से और न लोप के करने से उक्तार्थ का लाभ होता है। यद्यपि 'अञ्चति को हो तो न लोप वाली की ही दो' नियम में भी अञ्चति ग्रहण चरितार्थ है। तो भी भाष्य के प्रामाण्य से सामान्यापेक्ष उक्त नियम ही ठीक है।

यहाँ धातु होने से नुम् कैसे होता है, उत्तर देते है अधातोरिति। अब यहाँ शंका करते है कि औपदेशिक धातुविषयक ही नियम स्वीकार करो इसकी क्या आवश्यकता है। औपदेशिक का अन्तरभाव न कर सामान्यापेक्ष नियम ज्ञापन के लिए है। इसी से 'पर्णध्वत्' की तरह 'गोमान्' इत्यादि नाम धातुओं में भी 'उगितश्च' से ङीप नहीं होती है। क्यच् के पक्ष में अल्लोप को स्थानिवत् भाव नहीं होता है। क्विप् के परे लोप होने से 'क्वौलुप्तम्' से निषेध हो जाता है। यहाँ अर्वाचीन (दीक्षित) के मत से आचार क्विप् नहीं होता है यह 'ह्रस्वनद्यापः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

उभे अभ्य (६/१/५)। लक्ष्यानुसारेण (२) गर्गदण्डनन्यायादत्र समुदाये वाक्यसमाप्तिरित्याह—उभे समुदिते इति। द्वे इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे उभेग्रहणं

स्पष्टार्थम् । यत्तु उभेग्रहणसामर्थ्यात्सहभावोपसर्जनद्वित्वविशिष्टार्थकं, तेन समुदिते इत्यर्थलाभ इति; तन्न, अशब्दार्थत्वात् शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यस्य बहुशो भाष्यकृतोपहसितत्वाच्च । ध्वनितञ्चेदं 'तदसति प्रयोजने उभेग्रहणं सहार्थं विज्ञास्यते' इति ग्रन्थेन भाष्ये । अत एव सूत्रशेषे भाष्य गर्गदण्डन-न्यायेनैतदर्थसिद्धिमाश्रित्य 'सहग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति वार्त्तिकं प्रत्याख्यातम् । तुल्यन्यायात्तदर्थकत्वेन पराभिमतमुभेग्रहणञ्च प्रत्याख्यातमेवेति सुधियो विभावयन्तु । तत्र त्र्यादिशब्दाना (३) मेकापायेऽप्रवृत्तेः 'ऐत्संन्' इत्यादा-वभ्यासलोपे कार्यकालपक्षे न सञ्ज्ञेति न जुस् । एकादेशात्पूर्वमाव्यन्नादिषू-पदेशिवद्वचनेवान्तरङ्गत्वादन्तादेशेऽपि 'सर्वे सर्वपदादेशाः' इति न्यायेन स्था-निवद्भावात् झित्वेन जुसापत्तिः । किञ्चैकादेशे जुसोऽपवादभावाप्रवृत्तौ एका-देशे जुसापत्तिः । यथोद्देशे पूर्वं समुदाये प्रवृत्तसञ्ज्ञायाः स्थानिवद्भावेना-भ्यासलोपे सत्त्वेऽपि पञ्चमीसमासेनैकादेशस्य स्थानिवत्त्वान्न तत्प्रवृत्तिः । अत एव 'प्रत्यैषिषन्' इत्यादौ न दोष इत्यलम् ।

उभे अभ्य । लक्ष्य के अनुसार गर्ग दण्डनन्याय से यहाँ समुदाय में वाक्य समाप्ति है गर्गों पर सौ रुपया दण्ड होना चाहिए कथन से प्रत्येक पर दण्ड नहीं होता है, किन्तु समुदाय पर ही सिर्फ सौ रुपया दण्ड होता है (जहाँ उद्देश्यतावच्छेदक पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक धर्म ही विधेयता वच्छेदक पर्याप्त अनुयोगितावच्छेक होता है) वहाँ उक्त न्याय की प्रवृत्ति होती है प्रकृति में द्वित्व धर्म ही उस प्रकार है अतः न्याय की प्रवृत्ति उचित है । उभे समुदिते इति । द्वे की अनुवृत्ति में ही कार्य सिद्ध था उभे का ग्रहण स्पष्टार्थ है किसी का कथन है कि उभे ग्रहण सहभाव उपसर्जन द्वित्व विशिष्ट अर्थ का बोधक है इसी से समुदिते का लाभ होता है । परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि किसी शब्द का यह अर्थ नहीं है शब्द के अधिक होने से अर्थ भी अधिक होता है इसकी अनेक स्थानों में भाष्यकार ने हँसी की है भाष्य में कहा है कि 'तदसतिइत्यादि' प्रयोजन के अभाव में उभे ग्रहण सहार्थ समझा जायेगा । इसी से सूत्र के अन्त में भाष्य में गर्ग-दण्डन न्याय से इस अर्थ को सिद्धकर 'सहग्रहणं' कर्त्तव्यम्' वार्तिक का प्रत्याख्यान किया है तुल्य न्याय से अभ्य सम्मत उस अर्थ वाले उभे ग्रहण का प्रत्याख्यान भी विद्वानों को समझना चाहिये । द्वि त्रि आदि शब्दों की 'एक' के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती है । इसी से 'ऐत्संन' में अभ्यास के लोप होने पर कार्यकाल पक्ष में अभ्यास संज्ञा न होने से जुस् नहीं होता है । एकादेश से पूर्व आयन इत्यादि में उपदेशिवद् वचन से अन्तरंग अन्तादेश होने पर भी 'सर्वे सर्वपदादेशाः' न्याय से स्थानिवद् भाव से झि मानकर जुस् होने लगेगा । और भी एकादेश करने पर जुस् अपवाद का विषय हो ही

गया है तब 'प्रकल्प्य' अपवाद विषय को छोड़कर उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है इस न्याय से, पहले 'झोन्तः की प्रवृत्ति नहीं होगी तब एकादेश करने पर जुस् होने लगेगा। यथोद्देश पक्ष में पहले समुदाय में होने वाली संज्ञा का अभ्यास लोप होने पर भी स्थानिवद् भाव से है तो भी पंचमी समास से एकादेश को स्थानिवत् भाव करने से जुस् नहीं होता है। इसी से 'प्रत्यैषिषन' में जुस् नहीं होता है।

नाभ्यस्ता (७।१।७८)। बहुयोगव्यवच्छिन्नोपि नुम् इहानुवर्त्तते सामर्थ्यात्। तदाह—नुम्नेति। दाञः शतरि शपः श्लौ 'श्लौ' (६।१।१०) इति द्वित्वेऽभ्यासह्रस्वत्वे 'श्नाभ्यस्तयोः' (६।४।११२) इत्यालोपे 'ददत्' इति।

त्यदादिषु (३।२।६०)। आलोचनमिह ज्ञानमात्रम्।

नाभ्यस्ता। बहुत से सूत्रों से व्यवहित होने पर भी सामर्थ्य से नुम् की यहाँ अनुवृत्ति होती है। जैसा कि वृत्ति में लिखा है-नुम्नेति। दाञः से शत् प्रत्यय और शप् करने पर शप् का श्लु होने पर 'श्लौ' से द्वित्व फिर अभ्यास को ह्रस्व करने पर 'श्नाभ्यस्तयोः' से अकार लोप करने पर 'ददत्' सिद्ध होता है।

त्यदादिषु। यहाँ आलोचन से ज्ञानमात्र का ग्रहण है अर्थात् केवल चाक्षिषु ज्ञान मात्र का ग्रहण नही है।

आस (६।३।९१)। 'दृग्दृश्वतुषु' (६।३।८९) इति सूत्रमनुवर्त्तते। षत्वापवादत्वादिति। 'कुः क्विन्यतः' इति न्यासेन दृष्ट इत्यध्याहारेण च बहुव्रीहिफले सिद्धे प्रत्ययग्रहणेनान्यपदार्थांशे वीप्सागर्भबहुव्रीहिणा लब्धं तादृशादिक्विन्नन्तविषये लक्षणमचरितार्थमिति भावः। खकार इति। अघोषमहाप्राणशकारतुल्यत्वादिति भावः। कैयटेति। 'क्विन्प्रत्ययस्य' [८।२।६२] इति सूत्रस्थेत्यादिः। असिद्धत्वादिति। यद्यपि जश्त्वापवादोऽपि कुत्वं, तथापि शस्थानिकजश्त्वस्यैव, [१] न तु स्वस्थानिकस्यापीति भावः। वस्तुत इदं चिन्त्यम्, प्रत्ययग्रहणस्य बहुव्रीहिमात्रफलकताया एव भाष्यकृतोक्तेः। तस्माद्घृक्-अञ्चु-युजुक्रुङ्षु अस्य चारितार्थ्येन जश्त्वषत्वापवादता न युक्तेति। तदेतद् 'मते' इति वदता सूचितमिति दिक्।

आस। 'दृग्दृश्वतुषु' से सूत्र की अनुवृत्ति होती है। षत्वापवादिति। 'कुः क्विन्यतः' न्याय से और दृष्टे के अध्याहार से बहुव्रीहि समास सिद्ध ही था फिर प्रत्यय ग्रहण से अन्य पदार्थ के अंश में वीप्सागर्भ बहुव्रीहि से प्राप्त तादृश आदि खकारइति। अघोष महाप्राण वाले सकार से तुल्य होने से कैयटेति। 'क्विन्प्रत्यस्य' इस सूत्र में स्थिति इसका आदि भाग हैं असिद्धत्वादिति। यद्यपि कुत्व जश्त्व का भी अपवाद है तो

भी शकार के स्थान में होने वाले जश्त्व का अपवाद है खकार स्थानिक जश्त्व का नहीं है। वास्तव में यह विचारणीय है, क्योंकि प्रत्यय ग्रहण का बहुव्रीहि मात्र ही फल भाष्यकार ने कहा है इससे द्धृक्, अञ्चु, युजि, क्रुङ्षु आदि में चरितार्थ होने से जश्त्व, षत्व का अपवाद मानना उचित नहीं है। यह सब 'मते' कहने से स्पष्ट होता है।

नगिति। षडगकाः प्राग्वत्। नङ्भ्यामिति। 'मस्जिनशोः' [७/१/६०] इति नुम् तु न, धातुप्रत्यये तद्विधानात्।

स्पृशोऽनु [३/२/५८]। अनुदके किम्? [२] उदकस्पर्शः। अन्तोदात्तत्वमिति। नित्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्तम्। कुत्वस्य जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वादाह–कुत्वात्पूर्वमिति।

नगिति। षडगक पूर्ववत् जानना। नङ्भ्यामिति। 'मस्जिनशोः' से नुम् तो नहीं होता है, क्योंकि धातु से विहित प्रत्यय के परे ही उसकी प्रवृत्ति होती है।

स्पृशोऽनु। अनुदक ग्रहण के अभाव में उदक स्पर्शः में सूत्र की प्रवृत्ति होने लगती।

अन्तोदात्तत्वमिति। नित् होने से आद्युदात्त प्राप्त था। जश्त्व के प्रति कुत्व के असिद्ध होने से कहते है कुत्वात्पूर्वमिति।

वोरु [८/२/७६] 'सिपि धातोः' [८/२/७४] इत्यतो धातोरिति वर्त्तते, तच्च वाभ्यां [१] विशेष्यते। पिपठिषतेः क्विपि अतो लोपे प्रातिपदिकत्वात्सौ हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन पदान्तत्वाद्रुः। रुत्वेऽल्लोपो न स्थानिवत्। पूर्वत्रासिद्धे [२] तन्निषेधात्।

वोरु॥ 'सिपि धातोः' से धातु की अनुवृत्ति होती है वह धातु ग्रहण रकार वकार से विशेषित होता है अर्थात धातु विशेषण तथा रकार वकार विशेष्य है। पिपठि से क्विप् प्रत्यय करने पर अकार के लोप के पश्चात् प्रातिपदिक संज्ञा करने पर आने वाले सु का हलङ्यादि लोप होता है, फिर प्रत्ययलक्षण से पदान्त मानकर रु होता है। रु करने में अकार लोप को स्थानिवत् भाव नहीं होता है क्यों कि पूर्वत्रासिद्धीय से निषेध हो जाता है।

नुम्वि (८।३।५८)। 'इण्कोः' (३।८।५७) इति वर्त्तते। व्यवधानेऽप्राप्तेरिदम्। अयमप्यधिकारः। अत एव 'निस्स्व' इत्यत्र धातोः सस्य नानेन षत्वम्। व्यवायशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धो व्याख्यानात्। तदाह–प्रत्येकमिति। अपिनाऽव्यवधानेऽपि। नुम्स्थानिकेति। प्रकृतसूत्रस्थं हयवरट्सूत्रस्थञ्च भाष्यमत्र मानम्। त्रप्स्वेति च इति। सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यप्रवृत्तियोग्य-

तायां त्रिपादीस्थस्याप्रवृत्तेर्हल्ङ्यादिलोपोत्तरं विविश्स् इत्यवस्थायां षत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोपे ष इत्यर्थः । कलोप इति । पदान्तसंयोगादिलोपस्य संयोगान्तलोपापवादत्वादिति भावः ।

नुम्वि । 'इण्कोः' की अनुवृति होती है । व्यवधान में प्राप्त न होने से सूत्रारम्भ किया । यह भी अधिकार है । इसी से 'निस्स्व' में धातु के सकार को इससे षत्व नही होता है । क्योंकि वह सकार आदेश या प्रत्यय अवयव नहीं है । व्यवाय शब्द का व्याख्यान से प्रत्येक में सम्बन्ध है । जैसा कि कहा है—प्रत्येक मिति । अपि से अव्यवधान में भी होता है । नुमस्थानिकेति प्रकृत सूत्र का तथा हयवरट् सूत्र का भाष्य में ही प्रमाण है । व्रश्चेति ष इति । सपादसप्ताध्यामीस्थ कार्य की अनुवृत्ति की योग्यता होने पर त्रिपीदीस्थ कार्य की प्रवृत्ति नहीं होती है । इसलिए हल्ङ्यादि लोप के बाद विविश्स् इस अवस्था में षत्व के असिद्ध होने से संयोगान्त लोप करने पर षकार होता । है । कलोपइति । पदान्त संयोगादि लोप संयोगान्त लोप का अपवाद होता है ।

तडिति । तक्ष्णोतेः क्विम् । ण्यन्ताभ्यामिति । णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'तक्स्थाता' इत्यादौ संयोगादिलोपाप्राप्तेः 'काष्ठशगेव नास्ति' कुतः काष्ठशक्स्थाता' इति 'परेश्च घाङ्कयो' (८।२।२२) इतिसूत्रस्थ भाष्येण न विरोधः । तत्र झल्परसंयोगादिलोपमाशङ्क्य तथोक्तम् । तस्य दोष इति । 'क्वौ लुप्तम्' इति तु न सार्वत्रिकमिति भाव इत्यन्यत्र विस्तरः ।

तडिति । तक्ष् धातु से क्विप् है । ण्यन्ताभ्यामिति । णि लोप के असिद्ध होने से 'तक्स्थाता' इत्यादि में संयोगादि लोप की प्राप्ति नहीं है । इसी से 'काण्ठशगेव नास्ति कुतः काष्ठशक्स्थाता' 'परेश्च घाङ्कयों' इस सूत्र के भाष्य से विरोध नहीं है । कहीं झल् परे संयोगादि लोप की आशंका करके कहा है । तस्यदोषइति । 'क्वौ लुप्तम' सार्वत्रिक नही है ।

कुत्वस्यासिद्धत्वादिति । पिपच् स् इत्यवस्थायाङ्कुत्वस्यासिद्धत्वात् तदभावे 'स्कोः' (८।२।२९) इत्यस्याप्राप्तेः संयोगान्तलोपे इति भावः । दिधगिति । 'दादेः' (८।२।३२) इति घः । 'एकाचः' (८।२।३७) इति भष्भावः ।

कुत्वस्यासिद्धत्वादिति । पिपच् स् इस अवस्था में कुत्व के असिद्ध होने से उसके अभाव में "स्कोः" की प्राप्ति न होने से संयोगान्त लोप होता है । दिधगिति । 'दादेः से घ होता है । 'एकाचः' से भष् भाव होता है ।

विद्वानिति । विदेः शतुर्वसावदादित्वाच्छपो लुकि शतुर्ङित्वाद् गुणा-

भावे उगित्त्वान्नुमि 'सान्त' (६।४।१०) इति दीर्घे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वान्नलोपो न ।

विद्वानिति । विद् से शतृ को वसा देश करने पर अदादि होने से शप् का लुक् होता है । शत् के ङित होने से गुण नहीं होता है । उगित् होने से नुम् करने पर 'सान्त' से दीर्घ होने पर संयोगान्त लोप होता है । उसके असिद्ध होने से न लोप नहीं होता है ।

वसोः (६।४।१३१) । प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं, 'भस्य (६।४।१२९) इत्यधिकारः, तदाह–वस्वन्तस्येत्यादि । न च विदेः शतुर्वसोरेकानुबन्धकत्वात्तस्यैव ग्रहणं स्यात् न लिडादेशक्वसोरिति वाच्यम्, वसुसादेशेन तस्यापि द्व्यनुबन्धकत्वादिति भाष्ये स्पष्टम् । विदुष इति । सम्प्रसारणपूर्वत्वस्य 'षत्वतुकोः' (६/१/८६) इत्यसिद्धत्वे तु न, पदान्तपदाद्योरेकादेशस्यैव (१) तेनासिद्धत्वात् ।

वसोः ।। प्रत्यय के ग्रहण में तदत्त का ग्रहण होता है, भस्य का अधिकार है । तदाहवस्वन्तस्येत्यादि । अब यहाँ शंका करते है कि विद् धातु से शतृ को वसु करने पर एकानुबन्ध परिभाषा से उसी का ग्रहण होगा, दो अनुबन्ध होने से लिट् के स्थान होने पर क्वसु का ग्रहण नहीं होना चाहिए । वसुस आदेश होने से वह भी दो अनुबन्ध वाला है । यह भाष्य में स्पष्ट है । विदुषइति । सम्प्रसारण पूर्वरूप 'षत्वतुकोः' से षत्व करने में असिद्ध नहीं होते है । क्योंकि पदान्त और पदादि का ही एकादेश असिद्ध होता है । अतएव वृक्षेच्छत्रम् से श्छेचेति में ह्रस्व मानकर नित्य तुक नहीं होता है किन्तु पदान्ताद्धे से विकल्प से ही होता है ।

सेदिवानिति । षद्लृधातोः भाषायां सद' [३/२/१०८] इति लिटः क्वसौ द्वित्वे 'अत एक' [६/४/१२०] इत्येत्वाभ्यासलोपयोः 'वस्वेकाजाद्' [७/२/६७] इतीट् । अकृतेति । परे तु–पदावधिकेऽन्वाख्याने सेद वस् अस् इति स्थिते इट्सम्प्रसारणयोः प्राप्तौ प्रतिविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात् पूर्वं सम्प्रसारणे वलादित्वाभावादिटः प्राप्तिरेव नेति 'सेदुषः' इत्यादिसिद्धिरित्यकृतव्यूहपरिभाषा निष्फला । लक्ष्यानुरोधादत्र पदावधिकमेवान्वाख्यानमित्याहुः ।

सेदिवानिति । षद्लृधातु से 'भाषायां सद' से लिट् के स्थान में क्वसु प्रत्यय द्वित्व करने पर 'अत एक' से एत्व और अभ्यास लोप करने पर 'वस्वेकाजाद्' से इट् होता है । अकृतेति । यहाँ नागेश का सिद्धान्त है कि पदावधिक अन्वाख्यान मानने पर सेद् रस् अस् इस स्थिति में इट् और सम्प्रसारण की प्राप्ति होने पर प्रतिपद

विधि होने से शीघ्रोपस्थिति होने से पहले सम्प्रसारण करने पर वलादि के अभाव में इट् की प्राप्ति ही नहीं होती है। तब सेदुषा आदि की सिद्ध स्वयं हो जायेगी। अकृत व्यूह परिभाषा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। लक्ष्यानुरोध से यहाँ पदावधिक अन्वाख्यान ही उचित है।

साहचर्यादिति। न च महत्यतेः क्विपि महतोऽपि धातुत्वसम्भव इति वाच्यम्, औपदेशिकधातुत्वासम्भवेन तत्साहचर्येणौपदेशिकधातुभिन्नसान्त-संयोगस्य ग्रहणमित्याशयात्। सुहिनिति। नान्तलक्षणदीर्घस्तु संयोगान्त-लोपस्यासिद्धत्वान्न। हिसीत्यस्येदित्त्वात् 'अनिदिताम्' (६।४।२४) इति नलोपो न। ध्वदिति। ध्वंसु अवस्रंसने, क्विप्। अनिदित्त्वान्नलोपः। 'वसु' (८।२।७२) इति दत्वम्।

साहचर्यादिति। महति से क्विप् करने पर महत को भी धातुत्व सम्भव है, यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि औपदेशिक धातु के अभाव में उसके साहचर्य से औप-देशिकधातु भिन्न सान्त संयोग का ही ग्रहण होता है। सुहिनिति। नान्त मानकर उपधा दीर्घ तो संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से नहीं होता है। हिंसि के उदित होने से अनिदिताम् से नलोप नहीं होता है। ध्वदिति। ध्वंसु अवस्रंस ने से क्विप् है। अनिदित् होने से नलोप होता है। 'वसु' से दत्व होता है।

विवक्षिते इति। भाष्ये—'असुङ्युपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थं बहिर-ङ्गलक्षणत्वात्' इत्युक्तेरिति भावः। वस्तुतो वचनमेव न्याय्यः। विवक्षित-सप्तम्यामपि विभक्तिबुद्धिनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गत्वात्ततः पूर्वं 'परमपुमान्' इत्यादौ स्वरप्रवृत्तौ दोषात्। बहुपुंसीति। विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणा-न्नासुङ्। विभक्तिविवक्षया लिङ्गकार्योत्तरमेव सत्त्वेन न ङीप प्रागसुङिति भावः। पून इति। पातेरिति पाठान्तरम्। 'स्त्रियाम् (४।१।३) इति सूत्रे भाष्ये तु 'भूतेः सस्य षः, ह्रस्वः म्सुम्प्रत्ययः' इत्युक्तम्। वस्तुत उच्चारणा-र्थानामपीत्सञ्ज्ञावश्यकत्वादियमुक्तिर्निष्फला। पुमानिति। 'सान्त' (६।४। १०) इति दीर्घः।

विवक्षिते इति। भाष्य में "असुङ्युपदेशिवद्वचनं स्वर सिद्धयर्थं बहिरंगलक्षण-त्वात्" कहा है। 'असुङ् में स्वर सिद्ध के लिए उपदेशिवद्भाव कहना चाहिए। बहि-रंग होने से' वास्तविक में वचन मानना ही श्रेष्ठ है क्योंकि विवक्षित सप्तमी मानने पर भी विभक्ति बुद्धि निमित्तक होने ने बहिरंग होने के कारण असुङ् से पूर्व परम-पुमान् इत्यादि में स्वर की प्रवृत्ति होने से दोष हो जायेगा। बहुपुंसीति। विभक्ति निमित्तक कार्य में लिंग विशिष्ट का ग्रहण न होने से असुङ् नहीं होता है। लिंग

निमित्तक कार्य होने के पश्चात् ही विभक्ति विवक्षा होने से ङीप से पूर्व भी असुङ नहीं होता है। पून इति। कहीं पातेरिति भी पाठ है। 'स्त्रियाम्' सूत्र के भाष्य में तो "सूतेः सस्य पः ह्रस्वः म्सुन्प्रत्ययः" ऐसा कहा है। वास्तविक में उच्चारणार्थो की इत्संज्ञा आवश्यक होने से यह कथन निष्फल है। पुमानिति। 'सान्त' सान्त होने से दीर्घ होता है।

उशनेति। वशेः कनसिः, ग्रहिज्या' [६/१/१६] इति सम्प्रसारणम्। अस्य सम्बुद्धाविति। एतच्च वृत्तौ वाचनिकं पठितम्। वशधातौ माधवस्तु—

'सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्'।

इति श्लोकवार्तिकमित्याह। भाष्यानुक्तत्वादिदमप्रमाणमेवेति प्रामाणिकाः। उशना शुक्रः। अनेहा कालः। 'नञि हन एह च' [उ० सू० ६७३] इत्यसुन्, हन एहादेशश्च। सुव इति। आघातोरित्यस्य धात्ववयवभिन्नासन्तस्येत्यर्थ इति भावः। अन्यथा समुदायस्य धातुभिन्नत्वाद्दीर्घः स्यादेवेति बोध्यम्।

उशनेति। वश् धातु से कनस् प्रत्यय होता है कित् होने से "ग्रहिज्या" से सम्प्रसारण होता है। अस्य सम्बुद्धाविति। यह वृत्ति में वचन रूप से पढ़ा है वश धातु पर माधव ने कहा है—

सम्बोधन में उशनस् शब्द के सान्त, नान्त तथा अदन्त तीन रूप होते है। और 'सम्बोधने' इत्यादि को श्लोक वार्तिक कहा। परन्तु भाष्य में न होने से यह कथन अप्रामाणिक है। ऐसा प्रामाणिकों का कथन है। उशना शुक्र का पर्याय है। अनेहा काल का नाम है। इसमें 'नञि हन एह च' से असुन् प्रत्यय तथा हन को एह आदेश होता है। सुवइति। अधातोः का धातु अवयव भिन्न असन्त अर्थ है नहीं तो समुदाय के धातु भिन्न होने से दीर्घ हो ही जाता।

अदस औ (७।२।१०७)। अदस इति षष्ठी। 'तदोः सः' (७।२। १०६) इत्यतः साविति वर्त्तते। औत्वं त्यदाद्यत्वापवादः। ननु 'सोडौं' इत्येवास्तु इति चेत्? न, असावित्यत्र टिलोपे कृते नित्यत्वात्सत्वं बाधित्वा त्यदाद्यत्वे 'असौ' (१) इत्यसिद्धेः। असुक इति। 'अमुकः' इत्यादौ त्वव्युत्पन्नोऽदःशब्दपर्यायोऽमुकशब्द इत्याहुः।

अदस औ। अदसः यह षष्ठी है। 'तदोः सः' से सौ की अनुवृत्ति होती है। औत्व 'त्यदादीनामः' का अपवाद है। "सोडौं" न्यास से तो कार्य सिद्ध सम्भव नहीं है। असौ में टिलोप करने पर नित्य होने से 'त्यदादीनामः' सत्व को बाध लेगा तब

'असौ' की सिद्ध नहीं होगी। असुक इति। अमुक इत्यादि में तो अदस् का पर्याय अव्युत्पन्न अमुक शब्द है।

एत ईत् (८।२।८१) बहुवचनशब्दो यौगिक इत्याह–बह्वर्थेति। तेन 'अमी' इति (२) सिद्धम्। पश्चादुत्वेति। उत्वेत्युपलक्षणमीत्वस्यापि।

ननु मुत्वस्यासिद्धत्वात्कथं नाभाव इत्यत आह–(३) न मु ने इति। कर्तव्य कृते चेति। एवञ्च ने इति विषयसप्तमीति भावः। भाष्ये तु ने यत्कार्यं तन्नासिद्धत्वं नेत्यर्थेनैव नाभावोऽप्याक्षिप्त इति व्याख्यातम्। मु इति समाहारद्वन्द्वः। कृते चेत्युक्तेर्मुत्वे 'सुपि च' (७।३।१०२) इति (१) दीर्घो न। अमीभिरिति। 'नेदमदसोः' (७।१।११) इत्यैस् न।

इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः।

एत ईत्। बहुवचन शब्द का अर्थ यौगिक है—बह्वर्थेति। इससे 'अमी' की सिद्ध होती है। परिभाषित के ग्रहण में तो अमीभि में उक्त सूत्र की प्रवृत्ति होती। पश्चादुत्वेति। उत्व ईत्व का भी उपलक्षण है। मुत्व के असिद्ध होने से नाभाव किस प्रकार होता—उत्तर नमुनेइति।

कर्तव्ये कृते चेति। उक्त दो अर्थ करने से स्पष्ट है कि ने विषय सप्तमी है। भाष्य में तो ने यत्कार्य तथा सिद्धत्व न अर्थ से नाभाव का भी आक्षेप किया है। मु में समाहार द्वन्द्व है। कृते च कहने से मुत्व करने पर 'सुपि च' से दीर्घ नहीं होता है। उनमीभिः। 'नेदमदसोः' से ऐस् नहीं होता है।

॥ इति हलन्ताः पुल्लिङ्गाः ॥

हलन्त स्त्रीलिंग प्रकरणम्

नहो धः (८/२/३४)। 'झलो झलि' (८/२/२६) इत्यतो झलीति, पदस्येति, 'स्कोः' (८/२/२९) इत्यतोऽन्त इति चानुवर्त्तते। झलि परे (२) पदान्ते विद्यमानस्येत्यर्थः। 'अलोऽन्त्यस्य' (१/१/५२) इत्येतल्लब्धं हस्येति। उपपूर्वात् णह बन्धने इत्यतः क्विप्। 'नहिवृत्ति' (६/३/१०६) इति पूर्वपदस्य दीर्घः। सोर्हल्ङ्यादिलोपे धत्वजश्त्वचर्त्वादि।

नहो धः। 'झलोझलि' सूत्र से झलि की, पदश्च, अधिकार और 'स्कोः' से अन्तः की अनुवृत्ति होती है। इन सबको मिलकर यह अर्थ होता है। झलि परे पदान्त में विद्यमान 'अलोऽन्त्यस्य' के बल से प्राप्त हस्येति। उपपूर्वत् णह बन्धने धातु से क्विप् प्रत्यय होता है। 'नहिवृति' से पूर्वपद को दीर्घ होता है। सु का हल्ङ्यादि लोप करने पर धत्व, जश्त्व चर्त्व होते है।

(३) दलोपषत्वे इति। पूर्वपदान्तस्य लोपो, धातोः सस्य षत्वम्। 'आदेशप्रत्यययोः' (८/३/५९) इति तु न षत्वं, पदाद् आदिरिति पक्षे 'सात्पदाद्योः, (८।३।१११) इति निषेधात्। हस्य घ इति। कैयटादिमते षत्वस्येव ढत्वस्यापि कुत्वेन बाधादिति भावः। 'उष्णिगञ्चु' इति निर्देशात्कुत्वस्य जश्त्वेनासिद्धत्वम्। स्वरीत्या तु ढडगका इति बोद्धयम्।

दलोपषत्वे इति। पूर्वदान्त का लोप तथा धातु के सकार को षत्व होना है। 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व नही होता है। पदादादिः से पंचमी समास में 'सात्पदाधोः' से षत्व का निषेध हो जाता हैं। हस्य धइति। कैयट के मत षत्व की तरह ढत्व का भी कुत्व सं बाध हो जाता है। 'इष्णगञ्चु' निर्देश से जश्त्व करने में कुत्व असिद्ध नहीं होता है। अपने सिद्धान्त से तो ढ, ड, ग, क क्रम से होते हैं।

द्यौरिति। 'दिव औत्' (७।१।८४) इत्यौत्वं, यण्। चतस्र इति। परत्वादामं बाधित्वा चतस्रादेशे सकृद्गतिन्यायात्पुनराम् नेति स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये। चतसृणामिति। 'न तिसृ' (६।४।४) इति दीर्घनिषेधः। सर्वावदिति। सर्वाशब्दवदित्यर्थः। अत एव 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति न पुंवत्वं, शब्दपरस्य कदाऽपि सर्वनामत्वाभावादिति भावः।

द्यौरति। 'दिव औत्' से औत्व करने पर यण् होता है। चतस्र इति। पर होने

से चतुस्र से प्राप्त आम् को बाधकर चतस्र आदेश करने पर सकृतगतिनन्याय से फिर आम् नहीं होता है, यह स्थानिवत् सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है।

सर्वावदिति। अर्थात् सर्वाशब्द की तरह अर्थ है उक्तार्थ करने से ही सर्वनाम्नोः वृत्ति मात्रे से सर्वा को पुंवद्भाव नही होता है। क्योंकि शब्द परक कभी भी सर्वनाम् नहीं हो सकता है।

यः सौ [७।२।११०]। पुंस्यया बाधात्, क्लीबे सोर्लुका लोपात्, स्त्रियामिदम्। वागिति। वचः 'क्विब् वचि' इत्यादिना क्विप्, दीर्घोऽ-सम्प्रसारणञ्च।

यः सौ। पुल्लिंग में यः से बाध हो जाता है, नंपुसक में सु का लुक् ही होता है। इसलिये उक्त सूत्र स्त्रलिंग में प्रवृत्ति होता है। वागिति। वच् धातु से 'क्वब् वचि' से दीर्घ और सम्प्रसारण का अभाव होता है।

अपो भि [७।४।४८]। 'अच उपसर्गात्तः' [७।४।४७] इत्यतस्त इत्यनुवर्त्तते। अबिति न प्रत्ययो व्याख्यानात्। दिगिति। दिश अतिसर्जने, क्विप्। षडगकाः प्राग्वत्। त्विष गतो, अस्मात् क्विप्, जश्त्वचर्त्वे। जुषी प्रीतीत्यतः क्विप्। सहस्य सभावे सजूः। अमूभिरिति। अदन्तत्वाभावा-देत्वाभावेन 'एत ईत्' (८।२।८१) इत्यस्याभावे मूत्वमेव।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः।

अपो भि। 'अच् उपसर्गान्त' से त की अनुवृत्ति होती है व्याख्यान से ज्ञात होता है कि अप् प्रत्यय नहीं है। दिगिति। दिश अतिसर्जने से क्विप् प्रत्यय होता है। ष, ड, ग, का पूर्व की तरह है। गत्यर्थक त्विष् धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर जश्त्व चर्त्व होते है। प्रीतिसेवन अर्थ में विद्यमान जुषी से क्विप् होता है, सह को स करने से सजूः की सिद्ध है अमूभिरित। अदन्त न होने से एत्व के अभाव में 'एतईत्' की प्रवृत्ति न होने से मूत्व ही होता है।

॥ इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

हलन्त नंपुसक लिग प्रकरणम्

दत्वमिति। 'वसुस्रंसु' (८।२।७२) इत्यस्य पदाधिकारस्थत्वात्तदन्तेऽपि दत्वम्। एवमाङ्गत्वादामपि। पूर्वपदस्येवेति। प्रत्ययलक्षणेनेति भावः। अत एव राजपुरुषादौ नलोपादिसिद्धिः। उत्तरपदत्ते चेति। उत्तरशब्देनोत्तरपदं लक्ष्यते। उत्तरपदशब्दश्च समासचरभावयवे रूढः। तेन तस्य पदत्वे तत्प्रयुक्तकार्ये कर्त्तव्ये लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न। पदादिविधौ त्वयं निषेधो नेत्यर्थः। तेन 'परमवाचा' इत्यादौ न कुत्वं 'दधिसेचौ' इत्यादौ 'सात्पदाद्योः' (८।३।१११) इति षत्वेनिषेधश्च। निरुपपदादेव क्विचि षष्ठीसमासोऽत्र। पदादिविधिश्च प्रतिपदोक्तत्वात् 'सात्पदाद्योः' (८।३।१११) इत्येव। तेन 'परमबुद्धौ' इत्यादौ भष्भावो न 'उत्तर पदादिः' कर्णो वर्ण लक्षणात्' इत्यादौ तूत्तरपदशब्दस्य समासचरमावयमात्रे रूढेनं दोषः। भयञ्च निषेध उत्तरपदस्य कार्यित्व एवेति ङमुट्सूत्रे उक्तम्। बहुच्पूर्वके 'बहुवाचौ' 'बहुसेचौ' इत्यादावपि न दोषः, 'बहुच्पूर्वस्य च पदादिविधावेव प्रत्ययलक्षणम्' इति वचनान्तरात्। पूर्ववार्त्तिकमपि 'उत्तरपदत्वे च पदादिविधौ' इत्येवमेव पठितम्। एतत्प्रत्याख्यानप्रकारस्तु गुरुतर इति न युक्त इति भाष्ये ध्वनितं प्रत्याख्यानोत्तरं पुनर्नञ्घटितवद्वचनपाठेनेति न स लिखितः। उत्तरपदशब्देन मध्यमपदत्वानाक्रान्तोत्तरपदस्य ग्रहणं व्याख्यानात्। तेन 'पूर्वदण्डिप्रियः' इत्यादाववान्तरतत्पुरुषोत्तरपदेऽपि नलोपादिसिद्धिः। कादेशो नेति। इदंशब्दे 'यः सौ' (७।२।११०) इति च नेत्यपि बोद्धयम्।

दत्वमिति। 'वसुस्रंसु' सूत्र पदाधिकार में है इसी से तदन्त में भी दत्व होता है। आम् विधायक सूत्र अंगाधिकार में है। इसलिए आम् भी होता है। पूर्वपदस्येवेति प्रत्यय लक्षण से समझना इसी से राजपुरुषः में न लोप होता है उत्तर पदत्वेचेति। उत्तर शब्द उत्तर पद में लक्षणा है। उत्तर पद शब्द समास के अन्तावयव में रूढ़ है इससे उसके पदत्व में पदत्व को मानकर कार्य करने में लुमता से लुप्त होने पर प्रत्यय लक्षण नहीं होता है। यह निषेध पदादिविधि में नहीं होता है। उक्त अर्थ करने से परमवाचौ में कुत्व नही होता है और दधिसेचौ इत्यादि में 'सात्पदाद्योः' से षत्व का निषेध हो जाता है। निरुप पद से क्विच् करने पर षष्ठी समास होता है। अर्थात्

सिञ्चत इति् से चौ दहनः से चौ दधि से चौ) क्योंकि उपपद सहित से विच्ध अनभिधान है ऐसा कैयट का मत है। कोई ण्यन्त से क्विप् करते है प्रतिपदोक्त होने से 'सात्पदाद्योः' ही पदादि विधि है। इसी से परम बुद्धी में भष् भाव नही होता है। 'उत्तर पदादिः कर्णो वर्ण लक्षणात्' इत्यादि में समास के चरमावयव मात्र में उत्तार पद शब्द रूढ़ मानने से दोष नहीं है। यह निषेध जहां उत्तार पद कार्यी होता है। (उत्तार पद को कार्य करना होता है।) वहां ही प्रवृत्ति होता है ऐसा ङ्मुट् सूत्र में कहा है बहुच पूर्व वाले बहुवाची बहुसेचौ इत्यादि में भी कोई दोष नहीं है क्योंकि 'बहुच' पूर्वस्य च विधावेव प्रत्यय लक्षणं' यह अन्य बचन है। (बहुच्पूर्व को पदादि-विधि में ही प्रत्यय लक्षण होता है।) पूर्व वार्तिक कः पाठ भी भाष्य में 'उतरपदत्वे च पदादिविधौ' ही है इस वार्तिक के प्रत्याख्यान का प्रकार गुरुभूत है इसलिए युक्त नहीं है ऐसा भाष्य में ध्वनित है। क्योंकि प्रत्याख्यान के अनन्तर नञ् से युक्त इस वार्तिक का पाठ किया है इसलिए नही लिखा है। उत्तार पद से मध्यम पद से जो अक्रान्त न हो उसका ग्रहण करना इससे पूर्व दण्डिप्रियः में अवान्तर तत्पुरुष समास का उत्तर पद होने से न लोपादि की सिद्ध होती है। क्यों कि दण्डिन मध्य पद अक्रान्त ही है। का देशो नेति। इदं शब्द में "यः सौ" से या देश भी नही होता है।

वक्तव्य इति। 'द्वितीयाटौस्सु' इति अत्र सम्बद्धयते। अयञ्च सामर्थ्याल्लुका लुमेऽपि भवति। एनादेशोऽपि 'एनम्' इत्यादिसिद्धयर्थं वक्तव्यः। येननाप्राप्तिन्यायेनैनतस्त्यदाद्यत्वापवादत्वेन तत्र कृते (१) त्यदाद्यत्वाप्राप्तेः अतएव भाष्ये 'नपुंसकैकवचने एनद्वक्तव्यः, कुण्डमानय प्रक्षालयैनत्' इत्युक्तम्। अत्र नपुंसकैकवचने इत्युक्त्याऽन्यत्रैनो वक्तव्य इति स्पष्टमेवोक्तं वार्त्तिककृता सिद्धान्तिना। अपवादत्वमजानत एकदेशिनो यद्येनदित्यादिरुक्तिः, यदिगर्भवाक्ये पूर्वपक्ष्युक्तित्वस्यैवौचित्यात्। भाष्यकृता तु फल्गुत्वान्नात्रोत्तरमुक्तम्।

सिद्धान्ती तु 'किमुच्यते नपुंसकैकवचने इति, सर्वत्र एनदेव वक्तव्यः' इत्येवंशब्दैः प्रत्याख्यानं कुर्यात्। (२) अनयोरप्यादेशयोः' 'एतदस्त्रतसोः' (२।४।३३) इत्येतत्साहचर्येणोपसर्जने न प्रवृत्तिः त्यदाद्यत्वेन सिद्धमितिभाष्यासङ्गतेश्च। एनतमादायैनादेशप्रत्याख्यानपरं 'यद्येनत्क्रियते' इत्यादि भाष्यं त्वेकदेश्युक्तिरिति भाष्यप्रदीपोद्द्योते निरूपितम्। अन्वादेशविषये इदमेतदोः (३) समासस्याबभिधानमेव, 'यद्येनत्क्रियते' एनो न वक्तव्यः। कथमेनमित्यादि ? त्यदाद्यत्वेन सिद्धम्। यद्येवमेतच्छ्रितको न सिद्धयति, एनच्छ्रितक इति प्राप्नोति; यथालक्षणमप्रयुक्ते' इति भाष्यात्।

वक्तव्य इति। 'द्वितीया टौस्सु' का यहाँ सम्बन्ध है। यह आरम्भ सामर्थ से लुक् से लोप होने पर भी होता है। येनम् सिद्ध के लिए एगदेश भी आवश्यक है। इसी लिए भाष्य "नपुंसकैकवचने एनद्वक्तव्यः" नपुंसक के एक वचन में एनत् कहना चाहिए 'कुण्डमानम प्रक्षालमैनत' यहाँ नपुंसक के एक वचन कहने से अन्यत्र मेन कहना चाहिये यह सिद्धान्ती वार्तिक कार ने स्पष्ट ही कहा है अपवाद को न समझकर एक देशी के यद्येनत इत्यादि कहा है। यदि वाले वाक्य में पूर्व पक्षी की उक्ति मानना ही उचित है। भाष्यकार ने सामान्य समझकर उत्तर नहीं दिया।

सिद्धान्ती तो नपुंसक के एक बचन में ही क्या कहते हैं। ? सर्वत्र एनत् कहना ही उचित है, इन शब्दों से प्रत्याख्बान करना। "एतदस्त्रतसो:' के साहचर्य से इन आदेशों की उपसर्जन में प्रवृत्ति नहीं होती है। "त्यदादीनामः" से सिद्ध है इस भाष्य की भी असंगत होगी। येनत् को मानकर एनादेश का प्रत्याख्यान रूप 'यद्येनत्क्रियते' इत्यादि भाष्य तो एक देशी की उक्ति है। ऐसा भाष्य प्रदीप उद्योत में स्पष्ट है अन्वादेश के विषय में इदं और येतत् के समास का अनभिधान है। भाष्य में लिखा है यदि येनत् करते हो तो एन् कहने की आवश्यकता नहीं है। तब ये नम् की सिद्ध किस प्रकार से होगी। त्यदादि होने से अकार हो जायेगा। ऐसा मानने पर येनत्च्छ्रित का प्राप्त होगा एनत्च्छ्रित की सिद्ध नही होगी, अप्रयुक्त लक्षण का अभाव करना चाहिये, यह भाष्य है।

वास्तविक में समास के अनभिवधान मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्यों कि अप्रयुक्त में सूत्र के अनुसार ही कार्य करना। तकार के उच्चारण करने से अन्तरंग नपुंसक लुक् में मेनत् होगा। वहिरंग सामासिक लुक् में नहीं होगा।

ब्रह्मणी इति 'न संयोगात् (६।४।१३७) इति निषेधादल्लोपो न। रोऽसुपि अहर्भातीति । 'अहन्' (८।२।२८) इति रुत्वे 'अहो भाति' इति स्यादिति भावः। नलोपे प्राप्ते इति। न च नलोपेऽकारस्य रो रे वा विशेषाभावेनान्यतरेणैवोपपत्तावुभयविधानसामर्थ्यादेव लोपो नेति वाच्यम्, सम्बुद्धौ नलोपनिषेधेन, अहर्गच्च' इत्यादावुत्वाभावेन, 'दीर्घाहो निदाघ' इत्यादावुत्वसम्पादनेन च चारितार्थ्यात्। न च नकारोच्चारणसामर्थ्य-लब्धेन नकारान्तानुकरणेन नान्तस्याहन्शब्दस्येति व्याख्यानान्नलोपो नेति वाच्यम्, 'दीर्घाहो निदाघ' इत्यादौसम्बुद्धौ प्रवृत्त्या भ्यामदौ व्यावृत्त्या च नकारस्य चारितार्थ्यात्तेन नलोपबाधे मानाभावादिति भावः।

ब्रम्हणी इति।' न संयोगात्' के निषेध से अकार का लोप नही होता है। रोऽसुपि अहर्भातीति। 'अहन्' से रुत्व करने पर 'अहोभाति' होता। न लोपे प्राप्ते इति। नकार के लोप होने पर अकार रु या र करने में कोई अन्तर न होने से एक के

विधान से ही कार्य सिद्ध हो जाता फिर दोनों के विधान से लोप नही होगा यह कहना उचित नही है। क्योंकि सम्बुद्धि में न लोप के निषेध होने से 'अहर्गच्छ' इत्यादि में उत्व के न होने से 'दीर्घ हो निदाध' में उत्व के करने से चरितार्थ है फिर शंका करते है कि नकार के उच्चारण करने से प्राप्त नकारान्त के अनुकरण करने से नान्त अहन् शब्द को ही ऐसा व्याख्यान से न लोप नहीं होगा। उत्तर दीर्घा हो निदाध इत्यादि सम्बुद्धि में प्रवृत्ति से और श्यामादि में अप्रवृत्ति से नकार चरितार्थ है। फिर उससे न लोप के बाध करने में कोई प्रमाण नहीं है।

आवर्तेति। आवृत्तौ मानं च 'रूपरात्रि' (का० वा०) इति वार्तिकमेव। अन्यथा नलोपेऽकारस्य रेफादेशेनैव सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। (१) भाष्यप्रामाण्याच्च तस्य सम्बुद्धावप्रवृत्तिः। तज्ज्ञापकसिद्धवचनकल्पनापेक्षया आवृत्तिर्लघीयसीति भावः। आवृत्तस्य पदान्ते अहन् इति निपात्यते इत्यर्थः। इदमसम्भव एवापवादत्वमिति वार्त्तिकमते 'अहन्' (८।२।२८) इत्यस्य नलोपोत्तरञ्चारितार्थ्याभिमानेन। वस्तुतः सत्यपि सम्भवे बाधनं भवतीति भाष्यसिद्धान्ताद् रुत्वरत्वे नलोपापवादभूते एव, निषेधविषयेऽपि प्राप्तिमात्रेण येननाप्राप्तिन्यायविषयसत्त्वात्। निषेधेनापि तस्य बाध इत्यन्यत्। एतेन सम्बुद्धौ चारितार्थ्यमित्यपास्तम्। ध्वनितञ्चेदम् 'अपवादो रुर्नलोपं बाधिष्यते' इत्यर्थक भाष्येण। एतदग्रे नलोपे कृतेऽकारे सावकाशत्वशङ्कातत्समाधानादिवार्त्तिकानुसारिणोरित्यलम्।

आवर्त्येति। 'रुपरात्रि' इत्यादि वार्तिक ही आवृत्ति में प्रमाण है। नही तो न लोप करने पर अकार को रेफादेश करने से सिद्ध था उसका वैयर्थ्य स्पष्ट ही है। भाष्य में प्रामाण्य से उसकी सम्बुद्धि में प्रवृत्ति नही होती है। ज्ञापक सिद्ध वचन की कल्पना की अपेक्षा आवृत्ति में ही लाघव है। आवृत्ति का पदान्ते में अहनक निपातन होता है। यह असम्भव में अपवाद होता है इसको मानने वाले वार्तिक कार के मत में है 'अहन' न लोप के बाध चरितार्थ है इस प्रकार के अभिमान से है।

वास्तविक में सम्भव होने पर भी बाध होता है, इस भाष्य सिद्धान्त से रुत्व और रत्व न लोप के अपवाद ही है। निषेध के विषय में भी प्राप्ति मात्र से येननाप्राप्ति न्याय का विषय होता है निषेध से भी उसका बाध होता है यह दूसरी बात है। उक्त कथन से सम्बुद्धि में चरितार्थ कहने वाले भी अस्त है अपवाद रु न लोप का बाध करेगा। इस भाष्य से भी ध्वनित है इसके आगे न लोप करने पर अकार में सावकाश है इत्यादि शंका समाधान वार्तिक कार के अनुसार चलने वालो की है।

तदन्तस्यापीति। पदाधिकारस्थत्वात्। 'ग्रहणवता' (प० भा० ३१)

इति निषेधस्तु प्रत्ययविधिविषय इति 'असमासे निष्कादिभ्यः' (५।१।२०) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टमिति भावः। तस्यासिद्धत्वादिति। अकृत-व्यूहपरिभाषया दीर्घाप्रवृत्तिः स्यादित्यभिमानेनेदम्। दीर्घस्तु परत्वाद्धल्ङ्या-दिलोपात्पूर्वमेव बोद्धयः। सम्बुद्धो त्विति। सुपोऽत्र हल्ङ्यादिलोपात् 'असम्बुद्धौ' इत्युक्तेदीर्घाभावे रुत्वे हशि च' (६।१।११४) इत्युत्वे आद्-गुणः। स्रग्वीणीति। इन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणाद्दीर्घ इति भावः। बहुवृत्रहाणीति। अत्र यद्वक्तव्यं तदुक्तम्।

तदन्तस्यापीति। पदाधिकार में स्थित होने से 'ग्रहणवता' निषेध प्रत्यय विधि में ही होता है। (जहाँ प्रत्यय का विधान हो या प्रत्यय को मानकर अन्य किसी का विधान हो वह प्रत्यय विधि है) 'असमासे निष्कादिभ्यः' सूत्र के भाष्य कैयट में स्पष्ट है। तस्यासिद्धत्वादिति। यकृत व्यूह परिभाषा से दीर्घ की प्रवृत्ति नहीं होगी इस अभिमान से यह कहा है। (नागेश के मत में उक्त परिभाषा नहीं है) दीर्घ तो पर होने से हल्ङयादि रूप से पूर्व ही होगा। सम्बुद्धौत्विति। यहाँ सुप् का हल्ङयादि लोप होने से असम्बुद्धौ कहने से दीर्घ के अभाव में रुत्व करने पर 'हशि च' से उत्व और 'आदिगुणः' से गुण होता है। स्रग्वीजीति। इन् के ग्रहण में अनर्थक का भी ग्रहण होने से दीर्घ होता है (परि १६ परिभाषा) बहुवृत्रहाणीति। यहां पर जो कहना था वह कह चुके है।

पदान्ते कुत्वमिति। 'क्विन्प्रत्ययस्य' (८।२।६२) इत्यस्यासिद्धत्वाद् 'व्रश्च' (८।२।३६) इति षत्वे कुत्वमित्यर्थः। षत्वन्तु 'सृष्टम्' इत्यादौ सावकाशमिति भावः। भाष्यप्रयोगादिति। अनेन भाष्यप्रयोगेणानव्ययपूर्व-पदे कुत्वाभावो बोद्ध्यते। तेन 'असृग्' इत्यत्र न दोषः। कुत्वापवाद इति। सृजियज्योः पूर्वोत्तरसाहचर्येण पदान्तेऽपि विशिष्य षत्वबोधनेन तत्सामर्थ्या-त्कुत्वबाध इति भावः। अत एव 'उपयट्काम्यति' इति काम्यच्सूत्रस्थो भाष्यप्रयोगः सङ्गच्छते। निपातनादेवेति। निपातनेन ह्यनयोरपवादा-प्रवृत्तिमात्रबोधनं, कुत्वन्तु स्वशास्त्रेणैव। एतेन निपातनादपदान्तेऽपि कुत्वापत्तिरिति निरस्तम्।

पदान्ते कुत्वमिति। 'क्विन्प्रत्ययस्य' के असिद्ध होने से 'व्रश्च' से षत्व होने पर कुत्व होता है। षत्व तो सृष्टम् इत्यादि में चरितार्थ है। भाष्य प्रयोगादिति। इस भाष्य के प्रयोग से अव्यय पूर्व पद होने पर कुत्व के अभाव का बोधन होता है। इससे 'असृग' में कोई दोष नही है। क्योंकि यहां तो नञ् अव्यय ही है। कुत्वापवादइति। पूर्वोत्तर साहचर्य से सृजियज्ञ पदान्त में विशेष रूप से षत्व बोधन करने से कुत्व का

बाध होता है इसी से "उपयट्काम्यति' यह काम्यति सूत्र में स्थिति भाष्य प्रयोग भी संगत होता है। निपातनादेवेति। निपातन से इनकी अपवाद की अप्रवृत्ति मात्र ही है कुत्वतो कुत्व विधायक शास्त्र से ही होगा। उक्तार्थ स्वीकार करने से निपातन से अपदान्त में भी कुत्व की आपत्ति है यह कहना उचित नहीं हैं।

असृक्शब्दस्त्वन्नि। इदमेव न्याय्यम्। ऊर्गिति। अयं पुल्लिङ्गोऽपि 'नपुंसकस्य' (७।१।७२) इति सूत्रे 'बहव ऊर्ज्जः' इति कैयटात्। नरजानामिति। 'बहूर्जि नुम्प्रतिषेधः' (का० वा०) इति वार्त्तिकरीत्येदम्। अचः परो यो झल् तदन्तस्य नुमिति तत्प्रत्याख्यातृ भाष्यमते तु नुमोऽत्र प्राप्तिरेव नेति बोद्धयम्। न चैवं 'कुण्डानि' इत्यसिद्धिः। 'इकोऽचि' (७।१।७३) इति सूत्रेऽचः सर्वनामस्थाने इत्यनुवर्त्त्य अनुवृत्तिसामर्थ्यादिक इत्येतत्साहचर्याच्च सर्वनामस्थाने इति सप्तम्या षष्ठीं प्रकल्प्य वाक्यभेदेनाजन्तस्य क्लीबस्य तत्र नुम्विधानान्नदोष इति भाष्ये स्पष्टम्। 'काष्ठतङ्क्षि' इत्यादौ 'दिव औत्' (७।१।८४) इति सूत्रभाष्योदाहृतेऽचः परझल्त्वजातेराश्रयणान्न दोषः। अन्त्यादिति। इदं वाचिनकमेव बहूर्ज्शब्दमात्रविषयकम्। बहूर्ञ्जीति। श्चुत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णो बोद्धयः। स्थानिवत्त्वादिति। 'क्वौ लुप्तं न' इति त्वसार्वत्रिकमिति भावः। स्पष्टञ्चेदं 'दीधीवेवीटाम्' (१।१।६) इति सूत्रे कैयटे।

जायन्ते नव सौ तथाऽमि च नव भ्याम्भिस्भ्यसां सङ्गमे
षट्संख्यानि नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि।
चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि तद्
जानन्तु प्रतिभाऽस्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः॥

इति प्राचीनस्य शुष्कप्रक्रियातार्किकस्य प्रश्ने तदनुसारेणैव श्लोकद्वयेनोत्तरमाह—गवाक्शब्दस्येति। शब्दपरत्वेनापूजार्थकत्वान्नस्य लोपः। भेदत इति। आद्यादित्वात्तसिः। भेदेनेत्यर्थः। नवेति। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात्प्रत्येकं नवेत्यर्थः। अग्रेऽपि प्रत्येकमेव संख्याऽन्वयः। गवागिति। सोर्लुका लुप्तत्व नुम् न। षण्णामिति। कुत्वपक्षे त्रयाणां, गतौ त्रयाणामित्यर्थः। चत्वंस्येति। तेन गतौ त्रयाणामाधिक्यं नेत्यर्थः। कुत्वपक्षे इति। पूजायामित्यर्थः। अश्वाक्षीति। सप्तविंशत्यधिका पञ्चशतीत्यर्थः।

असृक्शब्दस्त्वति। यह भी उचित है। ऊर्गिति। यह पुल्लिग भी है क्योंकि 'नंपुसकस्य' सूत्र में 'बह्वऊर्जः' ऐसा कैयट का प्रयोग मिलता है। नरजानामिति।

'बहूर्जिनुम्प्रतिषेधः' इस वार्तिक के अनुसार यह है अच् से परे जो झल् तदन्त को नुम् हो इस अर्थ से उसका प्रत्याख्यान करने वाले भाष्यकार के मत में तो नुम् की प्राप्ति ही नहीं है अब कुण्डानि की सिद्ध नहीं होगी। उत्तर 'इकोऽचि' सूत्र में 'अचः' सर्वनाम स्थाने की अनुवृत्ति कर अनुवृत्ति करने से और इक् के साहचर्य से सर्वनाम स्थाने सप्तमी को षष्ठी मानकर वाक्यभेद से अजन्त नपुंसक को नुम करने से दोष नहीं है ऐसा भाष्य में स्पष्ट है। काष्ठतङ्क्षी इत्यादि में अच् से पर झलत्व जाति के आश्रयण करने से (अनेक झल होने पर भी दोष नहीं है) यह प्रयोग 'द्विव औत्' सूत्र के भाष्य में उदाहृत है। अन्त्यादिति। यह बहूर्ज शब्द की ही लिये वाचनिक है। बहूर्ज्जीति। श्चुत्व के असिद्ध होने पर अनुस्वार पर सवर्ण से सिद्ध होता है। स्थानिवत्वादिति। 'क्वौलुप्तम् न' सार्वत्रिक नही है यह 'दीधीवेवीटाम' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। सु तथा अम् में नव, नव, भ्याम्, भिस् भ्यस्, में छः, छः तथा सुप् में भी नव, जस तथा शस् में तीन-तीन अन्य वचनों में चार-चार रूप किस शब्द के होते है। हे विद्वानों यदि आप लोगों के कहने की प्रतिभा है तो छः मास की अवधि है। केवल प्रक्रिया ज्ञान वाले किसी शुष्क पंडित के प्रश्न का उत्तर दो श्लोकों से देते है गवाक्यशब्दस्येति। शब्द परक होने से पूजा के न होने से नकार का लोप हो जाता है। भेदत इति। भेदता का अर्थ भेदेन है तृतीयान्त से आद्यादिक्यः से तस् प्रत्यय है। नवेति। द्वन्द्व के अन्त श्रूयमाण पद का प्रत्येक में अन्वय होता है। स्वम्सपसु द्वन्द्व के बाद नव पद है। इसलिए इसका तीनों में अन्वय है। अर्थात सु, अम्, सुप् में नव-नव होते है आगे भी संख्या का अन्वय प्रत्येक से ही करना। गवागिति। सु का लुक् होने से नुम् नहीं होता है। षण्णामिति। कुक्पक्ष में तीन तथा गति में तीन होने से। चत्वंस्येति। इस गति में में तीन अधिक नहीं होते है कुक्पक्षेइति। पूजा के अर्थ में। अश्वाक्षीति। अर्थात् ५२७ रूप होते है। अश्व सात, अक्षि दो, भूत ५,। अंको की उल्टी गति होने से ५२७ संख्या होती है।

यः शतेति। शतृप्रत्यय इत्यर्थः।

आच्छीन (७।१।८०) वेति वर्त्तते, उत्तरसूत्रे नित्यग्रहणात्। 'नाभ्यस्यात्' (७।१।७८) इत्यतो नेति तु नानुवर्त्तते निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात्। अत्र च प्राप्त्यभावात्। नुम्ग्रहणन्तु स्पष्टार्थम्। शतुरवयव इति। परो यः शतेति तु नोक्तम 'तुदन्ति' इत्यादावेकादेशे उभयत आश्रयणेऽन्तादिवद्भावाभावेन व्यपवर्गालाभेन च नुमभावापत्तेः। अवर्णश्च(१)शतृभिन्नावयव एव गृह्यते शत्रकारेणाव्यभिचारात्।

यः शतेति। शतृ प्रत्यय अर्थ है।

आच्छीन। उत्तर सूत्र नित्य ग्रहण होने से यहाँ व की अनुवृत्ति होती है। 'नाभ्य-

स्तात्' से नकार की अनुवृत्ति नहीं होती है क्योंकि निषेध प्राप्त होने पर होता है, यहाँ प्राप्ति नहीं है। नुम् ग्रहण स्पष्टार्थ है। शतुरवयवइति। पर जो शत् ऐसा तो नही कहा। क्योंकि तुदन्ति में एकादेश करने पर उभयतः आश्रयण में अन्तादिवद्भाव के न होने से पार्थक्य के अभाव में नुम् का अभाव होने लगता। अकार रात् प्रत्यय का नही लेना क्योंकि उसमें कोई व्यभिचार ही नही है, वह तो अवश्य ही रहेगा।

शप्श्यनोः। (७।१।८१)। आदिति 'भाति' इत्यादौ नित्यनुमभावाय। अन्यथा प्रत्ययलक्षणेन स्यात्। आदित्युक्तौ तु वर्णप्राधान्यान्न प्रत्ययलक्षणम्। 'न लुमता' (१।१।६३) इति निषेधस्तु प्रत्यासत्त्या लुप्तप्रत्ययनिमित्ताङ्गस्य कार्ये एवेति भावः। 'पचन्ति' इत्यादिबहुवचने 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) इति नुम्। निरवकाशत्वमिति। इदं 'छदिरुपधिबलेर्ढञ्' (५।१।१३) (२) इति सूत्रे (३) 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टम्। परे तु निरवकाशत्वरूपप्रतिपदोक्तत्वस्य बाधकताप्रयोजकत्वम्। प्रकृते तदभावेनाबाधकत्वेऽपि प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकतया पूर्वं प्रवृत्तौ नियामकत्वे बाधकाभावेन पूर्वं दीर्घे ततो नुमि (१) 'स्वाम्पि' इत्येवेत्याहुः।

शप्श्यनोः। आत् 'भातिः' इत्यादि में नित्यनुम् के अभाव के लिए हैं नहीं तो प्रत्यय लक्षण से हो जाता आत् कहने से वर्ण प्राधान्य होने से प्रत्यय लक्षण नहीं होता है। अंग करने के लिए कार्य करने में ही न लुमताङ्गस्य से निषेध हो जाता है। बहुवचन पचन्ति में 'नपुंसकस्य झलचः' से नुम् होता है। निरवकात्वमिति। यह 'छदिरुपधिवलेर्ढञ्' सूत्र में तथा शेषादिभाषा सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। नागेश का कथन है कि निरवकाशत्व रूप प्रतिपदोक्त बाधकता का प्रयोजक है। प्रकृति उउके न होने से बाधक के अभाव में भी प्रतिपदविधि के कारण शीघ्र उपस्थिति होने से पूर्व प्रवृत्ति में नियामक होने में बाधक न होने से पहले दीर्घ करने पर नुम् होगा तब स्वाम्पि में ही रूप होगा।

धनुरिति। 'र्वोः' (८।२।७६) इति दीर्घस्तु न; रेफान्तस्याधातुत्वात्। 'श्रेयांसि' इत्यादौ युगपद् द्वयोरन्यादचः' परत्वायोगाद्विरोधेन परत्वाज्झलन्तलक्षणे नुमि कृते उगिल्लक्षणो न, सकृद्गतिन्यायात्। किञ्च अन्त्यादचः परो मित्प्रयोक्तव्य इति 'मिदचः' (१।१।४७) इत्यस्यार्थेन द्वयोर्मितोरन्त्यादचः परप्रयोगासम्भवेन नात्र नुम्द्वयप्रसक्तिः पुनः प्रसङ्गविज्ञानेऽपि। किञ्च सत्यपि नुम्द्वये परस्यानुस्वारे तस्य झल्ग्रहणेन ग्रहणात्

पूर्वस्यानुस्वारे द्वयोरनुस्वारयोः श्रुतौ न विशेष इति 'नपुंसकस्य' (७।१। ७२) इति सूत्रेभाष्ये स्पष्टम् ।

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

धनुरिति । 'र्वोः' से दीर्घ तो नहीं होता है क्योंकि रेफान्त धातुत्व नहीं है । 'श्रेयांसि' इत्यादि में एक साथ दोनों को अन्त्य अच् परे मिलना कठिन है, इसलिए विरोध होने से, पर होने से, झलन्त लक्षण नुम् होता है, उगितलक्षण नहीं होता है । इसमें सकृत गतिन न्याय ही प्रमाण है और अन्त्य अच् परे मित् का प्रयोग करना चाहिये, यह मिदचोऽन्त्यात् का अर्थ है दोनो मितों का अन्त्य अच से परे प्रयोग सम्भव न होने से पुनः प्रसंग से यहाँ दो नुम् नहीं होते है और दो नुम् होने पर भी दूसरे अनुस्वार करने पर उस अनुस्वार को झल् मानकर पूर्व को अनुस्वार करने पर दोनों अनुस्वारों के श्रवण में कोई विशेषता नहीं है । ऐसा 'नपुंसकस्य' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ।

॥ इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

॥ अव्ययप्रकरणम् ॥

स्वरादि (१।१।३७)। स्वरादीनामपि निपातसंज्ञैव तु न कृता, स्वरादी निपाता 'आद्युदात्ताः' (सू० ४/८०) इत्यापत्तेः। एतेन चादीनाम-व्यव्ययसञ्ज्ञैव कार्येत्यपास्तमित्यन्यत्र विस्तरः। स्वरित्यादि। अनुकरणान्येतानि। तत्रेत्थ एव निर्देशान्न स्वाद्युत्पत्तिः, तेन विसर्गादिकं च। स्वरादीनामनेकशक्तिप्रधानता स्वरागताः, स्वः स्थितः, स्व पश्येत्यादिदर्शनात्। गणे च तन्त्रेण सर्वेषामुच्चारणम्। 'उच्चै' इत्यादीन्यधिकरणशक्तिप्रधानानि शब्दशक्तिस्वभावात्। हिरुगादीनि क्रियाप्रधानानि। क्रियाप्राधान्यञ्चैषां क्रियायामेव विशेषणत्वेन। स्पष्टञ्चेदं 'तद्धितश्च' (१।१।३८) इति सूत्रे कैयटे। सायं, चिरं मान्ते अव्यये। 'सायञ्चिरम्' (४।३।२३) इति सूत्रस्थ (१) भाष्यप्रामाण्याच्चिरमित्यव्ययमप्रामाणिकमिति परे।

स्वरादि। स्वरादियों की निपात संज्ञा नहीं की। क्योंकि निपात संज्ञा होने पर स्वरादियों निपाता आद्युदात्ताः से आद्युदात्त स्वर होने लगता। उक्त कथन से चादियों की अव्ययसंज्ञा ही करनी ठीक थी यह मत भी अस्त है। स्वरित्यादि। यह सब अनुकरण है। इसी निर्देश से वहाँ स्वरादि की उत्पत्ति नहीं होती है, इसी से विसर्गादि नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वादि के अभाव में पद संज्ञा न होने से उक्त कार्य नहीं होते हैं। स्वरादियों की अनेक शक्ति प्रधानता है। स्वरागतः (स्वर्ग से आया है) स्वः स्थितः (स्वर्ग में स्थिति है) स्वः पश्य (स्वर्ग को देखो) इत्यादि प्रयोग दर्शन ही प्रमाण है। गण में तन्त्र से सबका उच्चारण ही उच्चैः इत्यादि में अधिकरण शक्ति प्रधान है। शब्द शक्ति का स्वभाव ही कारण है। हिरुग आदि क्रिया प्रधान है। क्रिया में विशेषण होने से ही क्रिया प्राधान्य है। (हिरुग का वर्जन अर्थ है) 'तद्धितश्च' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है सायं, चिरं, मान्त अव्यय है। 'सायंञ्चिरम' सूत्रस्थ भाष्य प्रामाण्य से चिरम् को अव्ययत्वसित नही होता है। उक्त भाष्य में सायं को अव्यय मानकर उसका खण्डन किया है। चिरम् नहीं किया इससे स्पष्ट है कि चिरम् अव्यय नहीं है।

वदिति। 'तेन तुल्यम्' (५।१।११५) 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) 'तदर्हम्' (५।१।११७) इति विहितः। 'उपसर्गाच्छन्दसि' (५।१।११८)

इति विहितस्य च्छान्दसत्वादेव (२) न सञ्ज्ञा। वस्तुतः 'तद्धितश्च' (१।१।३८) इत्येव सिद्धेर्वद्ग्रहणं व्यर्थम्। अन्तराऽन्तरेणेति। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२।३।४) इति सूत्रे भाष्येऽनयोर्निपातत्वोक्तेः स्वरादिष्वनयोः पाठः प्रक्षिप्तः।

वदिति। 'तेन तुल्यम्' 'तत्र तस्येव' तदर्हम्' से विहित वत् लेना। 'उपसर्गाच्छन्दसि' से विहित वत् की तो छान्दसि होने से संज्ञा नहीं होती है इसी से उसके उदाहरणों यदुद्धतो निवत में विभक्ति का श्रवण होता है। वास्तविक में तद्धितश्च से सिद्ध है वद् ग्रहण व्यर्थ है। अन्तराऽन्तरेणेति। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' सूत्र के भाष्य में इनको निपात स्वीकार किया है, तब स्वरादि में इनका पाठ प्रक्षिप्त है।

अस्तीति। धनवानित्यर्थके 'अस्तिमान्' इत्यादौ धनवाचिनः सत्ववचनस्य विभक्तिप्रतिरूपकत्वेन न सिद्धिरित्यस्य पाठः विनिगमनाविरहेण विभक्तिप्रतिरूपकस्य शब्दतोऽर्थतश्च ग्रहणात्। तेनैवसिद्धिरिति तु मतुप्सूत्रे भाष्यकैयटयोः। सत्ताकर्त्तृत्वेनैव धनबोधादस्ति कथञ्चिदर्थतः साम्यमिति तद्भावः। एवञ्चास्तीत्यस्याप्रामाणिकः पाठ इति तत्त्वम्। नमसिति। 'महसां नमसाम्' इति प्रयोगस्तु सत्त्ववाचकत्वे बोद्ध्यः। प्रताम् प्रशामिति। प्रतानिति नान्ताव्ययस्य पृथक् पाठसामर्थ्यादपदान्तत्वाच्चास्य नत्वाभावः। प्रशानिति नान्तपाठोऽसाम्प्रदायिकः। मान्तानुकरणे नत्वाप्राप्तेः, स्वरादौ रुत्वादिवत्। (३) कृन्मेजन्तसूत्रस्थभाष्यस्वरसोऽप्येवमेव। नञः स्वरादिष्वप्रामाणिकः पाठः। 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' इत्यत्र पृथक् नञ्ग्रहणं तु 'अकरणिः' इत्यादौ परस्यापि कृत्स्वरस्य बाधनार्थमित्याकरः। एवं माङोऽपि स्वरादौ प्रक्षिप्तः पाठः। यावत्तावच्छब्दावव्युत्पन्नौ।

अस्तीति। धनवान अर्थ वाले 'अस्तिमान' इत्यादि में धनवाची, सत्ववाची को विभक्ति प्रति रूपक अव्यय होने से कार्य सिद्ध नहीं होती इसलिये इसका पाठ है। वास्तविक में तो विनिगमना विरह से शब्द से तथा अर्थ से विभक्ति प्रति रूप का ग्रहण है उसी से कार्य सिद्धि हो जायेगी यह मतुप सूत्र के भाष्य कैयट में स्पष्ट है। सत्ता कर्त्तृत्वेनैवेति। धन बोधन करने से अर्थ से कुछ साम्य है। यह उसका भाव ही इस तरह से अस्ति का पाठ भी अप्रामाणिक है। नमसित। 'महसां नमसाम्' प्रयोग तो सत्ववाची का है। प्रताम् प्रशामिति। प्रतानि इस नान्त अव्यय का प्रथक पाठ करने से और अपदान्त होने से नत्व नहीं होता है। प्रशान् यह नान्त पाठ असाम्प्रदायिक है मान्त के अनुकरण में नत्व की अप्राप्ति है। जैसे स्वरादियों में रुत्व नहीं होता है। कृन्मेजन्त सूत्र के भाष्य का भी इसी में तात्पर्य है। नञ् का स्वारादियों में पाठ

अप्रामाणिक है। 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' सूत्र में अव्यय पृथक नञ् का ग्रहण तो अकरणीय इत्यादि में पर कृत्स्वर को बाधने के लिए है। इस तरह से स्वरादि में माङ का पाठ भी प्रक्षिप्त है। यावत् तावत् शब्द अव्युत्पन्न है।

उपसर्गविभक्ति (ग० सू०)। अत्र प्रतिरूपकत्वं विनिगमनाविरहा-दर्थतः शब्दतश्च गृह्यते। 'गेये केन विनीतौ वाम्' इत्यत्रापि वामित्यस्य युष्मत्प्रकृतिविभक्त्यन्तसमानार्थत्वमस्त्येव। स्वरांशे तु नाऽर्थतोऽसम्भवात्। एतेन युगं पततीत्यादिव्युत्पत्त्याश्रयणेन 'युगपत्' इत्यादीनां विभक्तिप्रति-रूपकत्वादेव सिद्धे तेषां गणे पाठो व्यर्थ इत्यपास्तम्। एवं तदित्यपि लुप्तषष्ठीकं विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। अत एव 'अविद्या तच्चितोर्योगः' तत्तादर्थविभागः' इत्यादौ 'त्यदादीनि' (१।२।७२) इति (१) नैकशेषः अवदत्तामिति। अत्र क्रियायोगेऽपि—

अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते॥

इति भाष्यवचनोपसर्गत्वाभावबोधनद्वारा तादेशाभावो बोध्यत इत्याशयः।

उपसर्ग विभक्ति। यहाँ विनिगमना के अभाव में प्रतिरुपकत्व शब्द और अर्थ से ग्रहण करना। 'गेये केन विनीतौवाम्' में भी युष्मद प्रकृति वाले विभक्तयन्त से समा-नार्थकत्व है। स्वरांश में असम्भव होने से अर्थ से नहीं लेना। इससे युगं पतति इत्यादि व्युत्पत्ति से सिद्ध युगपत् इत्यादि में विभक्ति प्रतिरूपक मानने से सिद्ध थे फिर गण् में पाठ व्यर्थ है। यह कथन ही व्यर्थ है। इसी तरह से तत् भी विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है। षष्ठी का लोप हो रहा है। इसी से 'अविद्या तच्चितोर्योगः' 'तत्तदर्थं विभागः' इत्यादि में 'त्यदादीनि च' से एक शेष नहीं होता है क्योकि उसके साहचर्य से अनव्यय का ही ग्रहण है। अवदत्तामिति। यहाँ क्रिया योग होने पर भी 'अवदत्तं विदत्तञ्च' इत्यादि भाष्य बचन से उपसर्गत्व का अभाव बोधन द्वारा तादेश का अभाव भी बोधन होता है।

आकृतीति। 'अहः' इत्यहनीत्यर्थे। ओमिति च स्वरदिषु। तच्च अश्च उश्च म् चेति व्युत्पत्त्या शिवादिवाचकम्, 'अवतेष्टिलोपश्च' इति सिद्धं ब्रह्मण्यङ्गीकारे च। उभयोरपि स्वरदित्वं व्याख्यानात्। अन्त्ये 'कृन्मे-जन्तः' (१।१।३९) इति तु न सिद्ध्यति 'च्विरव्ययम्' (सू० २३३) इत्य-णादिपठितेव नियमादप्राप्तेः। उणादिव्युत्पन्नानाञ्चेच्चादिस्वरादपठितानां भवति, तर्हि च्व्यन्तानामेवेति तदर्थः। अन्यथा च्व्यन्तानां नि(*)पातत्वा-

देवसिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । 'स्वरादिनिपातम्' (१।१।३७) इत्यत्र निपातपदे गौणमुख्यन्यायाप्रवृत्तिः, अनित्यत्वात् । अन्यथा 'ओत्' (१।१।१५) इति प्रगृह्यत्वमिवेदमपि न स्यात् । एवमतिशयेन साधुरित्यर्थे (२) साधीय इत्यपि ।

आकृतीति । 'अहः' अहन् के अर्थ में है । ओम् स्वरादि में है वह, अश्च' उश्च, सचेति, व्युत्पत्ति से शिव का वाचक है । 'अवतेष्टिलोपश्च' से सिद्ध तो ओम् ब्रह्मण्य तथा अङ्गीकार अर्थ में है । व्याख्यान से दोनों ही स्वरादि है । अन्त्य ओम में 'कृन्मेजन्तः' से तो सिद्ध नहीं हो सकती है । 'चिवखयम्' इस उणादि पठित से नियम होने से प्राप्ति नहीं है नियम का आकार यह है उणादि से व्युत्पन्न को हो तो चादि और स्वरादि में अपठितो को हो तो च्व्यन्तों को ही हो । नहीं तो च्व्यन्तों को उर्यादि से निपात् होने से सिद्ध था । तब उसका वैयर्थ्य स्पष्ट है । 'स्वरादिनिपातम्' में अनित्य होने से गौणमुख्यन्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है नहीं तो 'ओत्' से प्रगृह्य संज्ञा की तरह यह भी नहीं होता इसी तरह अतिसजेनसाधुः इस अर्थ में साधीयः भी अव्यय है । इसी से भाष्य में कश्च साधीयः यह प्रयोग उपलब्ध होता है । अव्यय के अभाव में साधीययान होना उचित था ।

सर्वशब्दोऽत्र 'सर्वः पटो दग्धः' इतिवद् (३) अवयवकात्स्न्र्ये इत्याशयेनाह–यस्मात्सर्वेति । वचनत्रयात्मिकेत्यर्थः । नेति । किन्त्वेकवचनमेवेत्यर्थः । ननु–सङ्ख्याकारकबोधकैरेकवाक्यतया सुपां विधानम्' इति पक्षेऽव्ययार्थे सङ्ख्याकारकयोरभावात्कथं विभक्तिः ? 'अव्ययादाप्सुपः' (८।४।८२) इति ज्ञापकाश्रयणे च सर्वाऽपि ।

किञ्च विहितानां नियमपक्षेऽपि नास्योपपत्तिः, तत्पक्षे सर्वेष्वर्थेषु विधेयतया प्रधानप्रत्ययानुरोधेन गुणभूतप्रकृतिभेदकल्पनेन सर्वविभक्त्युत्पत्तौ लोपेनेव जातस्य निवृत्तिः । तन्निवृत्तौ च कल्पितगुणस्वरूपं स्वत एव निवर्त्तते । नियमश्च द्विविधः–अर्थनियमः, प्रत्ययनियमो वा । अन्त्योऽपि द्विविधः–प्रकृतार्थापेक्षः, सामान्यापेक्षो वा । तत्र कर्माद्यर्थयोग्यप्रातिपदिकाच्चेत्कर्मणि विभक्तिस्तदा द्वितीयैव । कर्मादिरहिते तद्योग्यप्रातिपकात्प्रथमैवेत्यादिर (१) र्थनियमः । अत्र पक्षे (२) सर्वाः सप्तापि विभक्तयोऽव्ययेभ्यो, विभक्तीनामनियतत्वात् ।

सर्व शब्द यहाँ सर्वः पटो दग्धः (सब कपड़ा जल गया) की तरह सम्पूर्ण अवयवो के लिए है इसी आशय से कहा है—यस्मात्सर्वेति । अर्थात् तीनों वचन वाली । नेति । किन्तु एक वचन ही आता है । अब यहाँ शंका करते है कि संख्या और कारक

बोधक सूत्रों की एक वाक्यता से सुपों का विधान होता है इस पक्ष में अवयवों से संख्या और कारक के अभाव में विभक्ति कैसे होती है। 'अव्ययादाप्सुपः' को ज्ञापक मानने पर सब विभक्तियाँ होनी चाहिए और विहितों के नियम पक्ष में इसकी उपपत्ति नहीं है। उस पक्ष में सब अर्थों के विधेय होने से प्रधानप्रत्यय के अनुरोध से गुणभूत प्रकृति के भेद कल्पना से सम्पूर्ण विभक्तियों की उत्पत्ति होगी। तब लोहा की तरह जाति की निवृत्ति होगी। इन प्रत्ययों की निवृत्ति होने पर कल्पित् प्रकृतियों की स्वतः निवृत्ति हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण विभक्तियों के आने पर प्रत्यय में विशेषनीभूत उतनी ही प्रकृतियों की कल्पना की जायेगी। प्रत्ययों की निवृत्ति होने पर प्रकृतियों की भी निवृत्ति हो जायेगी। नियम दो प्रकार का होता है अर्थ नियम या प्रत्यय नियम। प्रत्यय नियम भी दो प्रकार का है प्रकृति अर्थ की अपेक्षा करने वाला या सामान्य अर्थ अपेक्षा करने वाला। वहाँ कर्मादि अर्थ के योग्य प्रातिपदिक से कर्म में विभक्ति हो तो द्वितीया ही हो। कर्मादि सेरहित उसके योग प्रातिपदिकार्थ में प्रातिपदिक से प्रथमा ही हो यह अर्थ नियम है। इस पक्ष में सब सातो विभक्तियाँ अवयवों से होगी। विभक्तियों के अनियमित होने से।

कर्माद्यर्थयोग्यप्रातिपदिकाच्चेद् द्वितीया तदा कर्मण्येव, न करणादौ; कर्मादियोग्ये तद्रहितप्रातिपदिकार्थे एव प्रथमा, न कर्मादौ, संख्यावदर्थयोग्यप्रातिपदिकादेकत्वादावेवैकवचनादि, न द्वितीयादावित्यादिः प्रकृतार्थापेक्षप्रत्ययनियमः। (२) अत्रापि पक्षे सर्वाः सप्तापि विभक्तयोऽव्ययेभ्यो लभ्यन्ते।

अथ प्रातिपदिकाच्चेद् द्वितीया तदा कर्मण्येव, नान्यत्र; प्रातिपदिकाच्चेत्प्रथमा तदा मात्रग्रहणात्पर्युदासन्यायेन कर्मादियोग्यतद्रहितप्रातिपदिकार्थे एवेत्यादिः सामान्यापेक्षः प्रत्ययनियमः। तदाऽव्ययेभ्यो विभक्तिप्राप्तिरेव नेति पूर्वोक्तज्ञापकादेव सा, इति सर्वाऽपि। यद्यपि सुपां तिङां संख्याकर्मोभयार्थकत्वेन कर्मण्येव नान्यत्रेति वक्तुमशक्यं, तथापि 'कर्मण्येव, न तु तदभावे' इत्याकारो वक्तुं शक्यः। स्पष्टञ्चेदं सर्वं 'बहुषु' (१।४।२१) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये। तत्र हि अर्थनियमे प्रकृतार्थापेक्षप्रत्ययनियमे च सप्तापि विभक्तयः सम्पूर्णा उक्ताः। सामान्यापेक्षप्रत्ययनियमे च सुपोऽप्राप्तिरेवोक्ता। 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) इति सूत्रे भाष्येऽपि स्फुटमिदम्,—इति चेत्।

कर्मादि अर्थ के योग्य प्रातिपदिक से यदि द्वितीया हो तो कर्म में ही हो, करणादि में न हो, कर्मादि योग्य उससे रहित प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा हो, कर्मादि में न हो,

संख्या वाले अर्थ के योग्य प्रातिपदिक से एक वचनादि द्वित्वादि के बोध नहीं यह प्रकृतार्थापेक्ष प्रत्यय नियम है। इस पक्ष में भी सातो विभक्तियाँ अव्ययों से प्राप्त होती है।

प्रातिपदिक से द्वितीया हो तो कर्म में ही, अन्यत्र नहीं, प्रातिपदिक से प्रथमा हो तो मात्र ग्रहण करने से पर्युदास न्याय से (पर्युदास सदृशक ग्रहण करता है) कर्मादि की योग्यता वाले और कर्मादि से रहित प्रातिप्रतिकार्थं में ही हो। यह सामान्यापेक्ष प्रत्यय नियम है। तब तो अव्ययों से विभक्ति की प्राप्ति ही नहीं है। तब 'अव्ययदाप्सुपः' ज्ञापक से प्राप्त होगी। तब भी सबकी प्राप्ति है। यद्यपि सुप् तिङों के संख्या तथा कर्म दोनों अर्थ होने से कर्म में ही, अन्यत्र नहीं ऐसा कहना कठिन है। तो भी कर्म में ही उसके अभाव में नहीं यह नियम का स्वरूप जानना। यह सब 'बहुषु' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। अर्थ नियम या प्रकृतार्थापेक्ष प्रत्यय नियम में सातों विभक्तियों की प्राप्ति है। सामान्यापेक्ष प्रत्यय नियम में सुप की प्राप्ति ही नहीं है। 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

अत्र 'तद्धितश्च' (१।१।३८) इति सूत्रे भाष्यकृतः—'एकवचनम्' इत्येव सूत्रं कार्यम्। एकग्रहणञ्च न कार्यम्। विभक्तिविधावुद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नादेकवचनमित्युत्सर्गः। तस्य द्वित्वबहुत्वयोरितरे (१) बाधके भविष्यतः। एवञ्चैकत्ववत्यपि भविष्यति, (२) अलिङ्गासंख्येभ्योऽव्ययेभ्यश्चैकवचनम्। द्विवचनादिविधायकयोर्द्विबहुग्रहणासामर्थ्यान्महासंज्ञाबोद्धयैकत्वाभावेऽपि तत्प्रवृत्तेः। द्वित्वबहुत्वयोर्द्विवचनोक्तावर्थात् (३) एकवचनस्य 'एकवचनम्' इत्येतद्वचनं विनाऽपि द्वित्वाद्यभावे कर्मादौ सिद्धत्वेन सामर्थ्यादप्राप्तप्रापणार्थमेतदिति कर्माद्यभावेऽप्येतत्प्रवर्त्तते इति विनिगमनाविरहात्सर्वविभक्त्येकवचनमनेन। अत एव 'अव्ययादाप्सुपः' (८।४८१) इति प्रत्याहारग्रहणं चरितार्थं, 'तृतीयासप्तम्योः' (२।४।८४) इति च। प्रथमाऽपिमात्रग्रहणाद् यत्प्रातिपदिकार्थस्य कर्मत्वाद्याविषयसम्भावना तत्रैवेति तस्या अप्यप्राप्तिरव्ययेभ्यः।

यहं पूर्व पक्ष है उत्तर 'तद्धितश्च' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि 'एक वचनम्' इतना ही सूत्र करना चाहिये। एक ग्रहण नही करना चाहिए। विभक्ति विधि में उद्देश्यता वच्छेद का तावच्छेदक घटत्वादि उससे अवच्छिन्न (मुक्त) घटादि से स्वाभाविक एक वचन आ जायेगा। उसके द्विवचन तथा बहुवचन बाधक हो जायेंगे। इस तरह से एकत्व वाले लिङ्ग संख्या से रहित अव्ययों से भी एक वचन हो जायेगा। द्वित्व तथा बहुत्व के करने वाले सूत्रों में द्वि, और बहुत्व के ग्रहण करने से महासंज्ञा से बोध्य एकत्व के अभाव में भी उसकी प्रवृत्ति होगी। द्वित्व बहुत्व के

द्विवचन, बहुवचन के उक्त होने पर एक वचन में सिद्ध होने से 'एक बचनम्' इस वचन के बिना भी द्वित्वादि के अभाव में कर्मादि में सूत्रआरम्भ सामर्थ्य से अप्राप्त के लिए कर्मादि के अभाव में भी इसकी प्रवृत्ति होती है इसलिए विनिगमना के अभाव में सम्पूर्ण विभक्तियों का एक वचन इससे होता है। इसी से 'अव्ययादात्सुपः' सुप् प्रत्याहार ग्रहण भी चरितार्थ है। सब विभक्तियों के एक वचन आने से 'तृतीयासप्तम्योः' सूत्र भी चरितार्थ है प्रतिपदि कार्य सूत्र में मात्र ग्रहण से जिस प्रातिपदिकार्य को कर्मत्वादि अधिक की सम्भावना हो वहां ही प्रथमा हो। इस अर्थ में अव्ययों से प्रथमा की प्राप्ति नहीं है।

'पचतिकल्पम्' इत्यादौ तु नानेन सर्वैकवचनं सर्वथाऽप्राप्तावेव तस्य विध्यर्थत्वात्। अत्र च न तथा, कर्तृत्वकर्मत्वसत्त्वेन क्रियायां स्वत एकत्वसत्त्वेन सर्वथा तदप्राप्त्यभावादिति बोद्धयम्।

'पचति कल्पम्' इत्यादि प्रयोगों में तो इससे सब विभक्तियों एक वचन नहीं आता है। क्योंकि सर्वथा अप्राप्ति होने पर भी वह विद्धयर्थ है। यहाँ पर वैसा नही है, क्योंकि कर्तृत्व, कर्मत्व के होने से क्रिया में स्वतः एकत्व रहने से सब प्रकार से उसकी अप्राप्ति का अभाव है।

यत्तु–कैयटेन प्रथमातिक्रमे कारणाभावादनेकनियमबाधे गौरवाच्चं प्रथमैकवचनस्यैवानेनोत्सर्गत्वं बोद्धयते इति 'तद्धितश्च' (१।१।३८) इति सूत्रे रूपप्सूत्रे चोक्तम्; तन्न, स्वादिसूत्रे प्रथमायाः प्राथम्येऽपि नियमशास्त्रपर्यालोचनया द्वितीयाया अपि तत्त्वेन तस्याविनिगमकत्वात्, 'निजां त्रयाणाम्' इत्यत्र त्रयाणाङ्ग्रहणेन 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) इति सूत्रे आदिग्रहणेन च पाणिनिना स्वशास्त्रे एतन्न्यायानाश्रयणज्ञापनाच्च।

कैयट का कथन है कि प्रथमा के अतिक्रमण करने में हेतु के न होने से और अनेक नियमों के बाध करने में गौरव होने से प्रथमा के एकवचन को ही यह स्वाभाविक बोधन करता है यह 'तद्धितश्च' तथा रूपत्सूत्र में कहा है परन्तु यह कथन उचित नहीं है क्योंकि स्वादि सूत्र में प्रथमा के प्राथम्य होने पर भी नियम शास्त्र के देखने से द्वितीया का भी प्राथम्य प्रतीत होता है, इसलिए स्वादि सूत्र विनिगमक नहीं हो सकता है। और 'निजां त्याजाम्' में त्रयाणाम् ग्रहण से और आद्युदात्तश्च सूत्र में आदिग्रहण पाणिनि ने अपने शास्त्र में उक्त न्याय का अनाश्रयण ही सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि यदि प्राथम्य विवक्षा होती तो निजाम् बहुवचन से प्रथमोपस्थित तीन का ही ग्रहण होता और उदात्त भी प्रथमोपस्थित आदि को ही होता।

अत्र प्रथमा सम्पूर्णाऽव्ययेभ्यः, प्रथमाया एवैकवचनम् इत्यादिपक्षान्तराणि अर्वाचीनग्रन्थे दृश्यन्ते, तान्यसङ्गतानि उक्तरीत्या तेषामुक्तिसम्भवा-

भावात् । घट इत्युक्ते एकत्व निश्चयस्तु द्विवचनाद्यभावेन द्वित्वाद्यप्रतीतौ संख्यावदर्थत्वेन सत्त्वभूतत्वात्, प्रकरणाच्च । 'बहुषु' (१/४/२१) इत्यादि-सूत्रभाष्योक्तपक्षास्त्वेकदेशिनो, न सिद्धान्तिन इति तत्त्वम् ।

असर्वविभक्तिरितिबहुव्रीहिलभ्यो विशेष्य इत्याह—तद्धितान्त इति । केवलस्य तद्धितस्य प्रयोगाभावेन फलाभावात्सञ्ज्ञाविधावपि तदन्तविधि-रिति भावः ।

नन्वेवमपि 'पचतिकल्पम्' इत्यादावतिव्याप्तिः उक्तरीत्या तेषामसर्ववि-भक्तित्वात्, उभयशब्दे चातिव्याप्तिः, ततो द्विवचनानुत्पादाद्; अत आह-परिगणनमिति । एवञ्च सूत्रं न कार्यमिति भावः ।

यहाँ सम्पूर्ण अव्ययों से प्रथमा आती है, प्रथमा का एक वचन आता है इत्यादि अनेक पक्ष अर्वाचीनों के ग्रन्थ में है । वे सब असंगत है । उक्त रीति से उनका यहाँ सम्भव नहीं है । अतः कहने पर एक का निश्चय तो द्विवचनादि के अभाव से द्वित्व बहुत्व की प्रतीत न होने पर संख्या विशिष्ट अर्थ होने से सत्वरूप तथा प्रकरण से होता है । 'बहुषु' सूत्र में कहे अनेक पक्ष तो एक देशी के है सिद्धान्ती के नहीं है ।

असर्वविभक्ति में बहुव्रीहि समास से प्राप्त विशेष्य कहते है तद्धितान्त इति । केवल तद्धित का प्रयोग सम्भव होने से फल के अभाव से संज्ञा विधि में भी तदन्तविधि हो जाती है ।

उक्त नियम स्वीकार करने पर भी 'पचति कल्पम् में अति व्याप्ति है । उक्त रीति से वे असर्व विभक्तिक है । और उभय शब्द में भी अतिव्याप्ति है— क्योंकि उससे द्विवचन नहीं आता है । इससे कहते है— परिगणनमिति । अब सूत्र करने की आवश्यकता नहीं है ।

तसिलादय इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' (५/३/७) इत्यारभ्य 'द्वि-त्र्योश्च धमुञ्' (५/३/४५) इत्यन्ता इत्यर्थः । शस्प्रभृतय इति । 'बह्वल्पार्थाच्छस्' (५/४/४२) इत्यारभ्य 'अव्यक्तानुकरणाद्' (५/४/५७) इत्यिडाजन्ताः । यस्तु—'इवे प्रतिकृतौ' (५/३/९६) इत्यधिकारे 'प्रत्नपूर्ववि-श्वेमात्थाल्छन्दसि' (५/३/१११) इति थाल्, तस्य स्वरादौ 'आस्थालो' इति पाठेनाव्ययत्वम् । तत्र 'इण आसिः' (उ० सू० ६७) इत्युणादिसूत्र-विहित आसिः । 'अयाः' इत्युदाहरणम् । आसिविधायके छन्दसीति नानु-वर्तते । एवञ्च लोके विभक्तिरहितप्रयोगाभावाव्ययत्वमावश्यकम् । अत्र च स्वरादावासिपाठ एव लिङ्गम् । 'अयासावयसा' इति तु च्छान्दसम् ।

तसिलादयइति । " पञ्चम्यास्तसिल्' से आरम्भ कर द्वित्र्योश्च धमुञ्' से अन्त

तक जानना । शस्प्रभृतय इति । बह्वल्पार्थाच्छस् से 'अव्यक्तानुकरणाद्' से विहित डाच् प्रत्यात्त । किसी का कथन है कि 'इवे प्रतिकृतौ' के अधिकार में 'गत्नपूर्वविश्वे-मात्थाल्छन्दसि' से विहित थाल् लेना । परन्तु उसको तो स्वरादि में आस्थालो इस पाठ से अव्यय संज्ञा है । वहाँ इण आसिः' सूत्र से विहित असिः है । 'अयाः उदाहरण है आसिविधायक में छन्दसि की अनुवृत्ति नहीं होती है इसलिए लोक में विभक्ति रहित प्रयोग के लिए अव्यय मानना आवश्यक है इसमें स्वरादि में आसि का पाठ ही लिंग है । 'अयासावयसा' तो छन्दसि है ।

अम् आमिति । 'अमु च च्छन्दसि' (५/४/१२) 'किमेत्तिङ्' (५/४/११) इति विहितौ । कृत्वोर्था इति । कृत्वसुच्सुज्धाः । तसिवती इति । 'तेनैकदिक्' (४/३/११२) 'तसिश्च' (४/३/११३) 'तेन तुल्यम्' (५/१/११५) इत्यादिविहितौ । एवञ्च स्वरादिषु वदिति पाठे फलं चिन्त्यम् । नानाञाविति । 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह' (५/२/२७) इति विहितौ ।

अम् आमिति । 'अमु चच्छन्दसि' से विहित अम् किमेतिङ् से विहित आम् । कृत्वोर्था इति । कृत्व, सुच्, सुज्धाः । तसिवती । 'तेनैकदिक् तसिश्च' से विहित आम् । कृत्वोर्था इति । कृत्व, सुच्, सुज्धाः । तसिवती । 'तेनैकदिक् तसिश्च' से विहित तस् 'तेन तुल्यम्' से विहित अब स्वरादि में वत् प्रत्यय के पाठ का विचारणीय है । नाना-ञाविति । "विनञ्भ्यां नानाञौ न सह" से विहित लेना ।

कृन्मेजन्तः (१/१/३९) । कृद्यो मान्त इति । 'कारयाम्' इत्यामन्ते 'आमः' (२/४/८१) इति लुकेष्टसिद्धिरिति भाव इत्याकरे विस्तरः । कृदन्तस्य तु नैतद् विशेषणं गणे प्रशाम्शब्दपाठात् । अन्यथा श्रुत्या मान्तत्वेन प्रत्ययलक्षणात्कृदन्तत्वे चानेनैव सिद्धे तत्पाठवैयर्थ्यं स्पष्ट-मेव । तेन प्रतामौ, लवमाचक्षाणो 'लोः' इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । न च—'आधये' 'हे आधे' 'कुम्भकारेभ्यः' इत्यादौ गुणे एत्वे च कृते एजन्तत्वेन सञ्ज्ञापत्तिः । न च बहिरङ्गत्वं गुणादेः, सञ्ज्ञायाः कार्यार्थत्वात्सञ्ज्ञाकार्यस्य तत्त्वेन सञ्ज्ञाया अपि तत्त्वात्; लिङ्गसंख्याद्यन्वयित्वेऽप्यव्ययीभावादावि-बाग्राप्त्यापत्तेः—इति वाच्यम्, सन्निपातपरिभाषया बाधात् । न च तथा सन्निपातविघातकलुको बाधेऽपि सञ्ज्ञाबाधे मानाभाव इति वाच्यम्, एज्वि-षयसन्निपातनिमित्तकाऽऽत्वीयसन्निपातविघातकस्य 'क्ङिति च' (१।१।५) इति निषेधस्य तथा निवृत्तावपि 'उपादास्त' इत्यत्र कित्वापत्तेः । कित्व-फलन्तु तत्सन्नियोगविशिष्टेत्वसिद्धिः । एवञ्च 'उपादिस्त' इति स्यात् ।

तत्र हि किदिति व्यपदेशातिदेश एव, इत्वप्रवृत्तिकाले कित्कार्यस्यातिदेश्यस्याभावात्। तस्मादनया सन्निपातनिघातकशास्त्रस्येव तच्छास्त्रप्रवृत्तिनिमित्तातिदेशसञ्ज्ञानामपि निवृत्तिरवश्यं वाच्या। साक्षात्परम्परया वा स्वसन्निपातविघातकस्य स्वयमनिमित्तमिति परिभाषाऽर्थः। एतेनात्राकजादि स्यादित्यपास्तम्, अकजाद्येकवाक्यतापन्नाव्ययसञ्ज्ञायां गुणादेरसिद्धत्वाच्च। लुगेकवाक्यतापन्ना तु न गुणादितोऽन्तरङ्गा, उभयोरपि शब्दतः सुबाश्रयत्वात्।

कृन्मेजन्तः। कृद्यो मान्तइति। 'कारयाम्' आमन्त में तो आमः से लुक्र होने से ही इष्ट सिद्ध है। गण में प्रशाम् शब्द के पाठ करने से आम् कृदन्त का विशेषण नहीं है। नही तो प्रशाम् श्रूयमाण मान्त और प्रत्यय लक्षण से कृदन्त होने 'कृन्मेजन्तः' से ही कार्य सिद्ध था, फिर गण में उसका पाठ व्यर्थ ही था। इससे प्रतामी, लवमाचक्षाणाः विग्रह में निष्पन्न लोः इत्यादि में दोष नहीं है। अब यहाँ शंका करते हैं कि 'आधये' ही आधे, कुम्भकारेभ्यः इत्यादि में गुण और एत्व करने पर (प्रथम दो में गुण तथा तृतीय में एत्व) एजन्त मानकर उक्त से अव्यय संज्ञा हो जानी चाहिये। गुणादि को बहिरंग कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि संज्ञा कार्य के लिए होती है, इसलिए संज्ञा कार्य के बहिरंग होने से संज्ञा भी बहिरंग है। लिंग संख्या आदि के अन्वय होने पर भी अव्ययी भावाद् की तरह उक्त प्रयोगों में भी संज्ञा होने लगेगी। उत्तर सन्निपात परिभाषा से बाध हो जाता है। अर्थात प्रत्यय को मानकर गुण तथा एत्व हुआ है वह प्रत्यय का विघातक नहीं हो सकता था। उस परिभाषा से सन्निपात विघातक लुक् के बाध होने पर भी संज्ञा के बाध में कोई प्रमाण नहीं है। यह कहना भी ठीक नही है। एज् विषय सन्निपात के निमित्त वाले आत्व सम्बन्धी सन्निपात विघातक "क्ङिति च" से होने वाले निषेध को परिभाषा से निवृत्ति होने पर भी उपादास्त में कित्व होने लगेगा। कित्व का फल इत्व है। इत्व करने पर उपादिस्त प्रयोग होने लगेगा। वहाँ किन्तुकाव्यपदेशि से ही अतिदेश है। क्योंकि इत्व प्रवत्ति के समय अतिदेश्य कित्व कार्य का अभाव है। इसलिये इस परिभाषा से सन्निपात विघातक शास्त्र की तरह सूत्रों की प्रवृत्ति में निमित्त अतिदेश संज्ञाओं की निवृत्ति भी अवश्य कहनी चाहिये। साक्षात् या परम्परा से अपने सन्निपात विघातक का स्वयं निमित्त नहीं होता है, यह परिभाषा का अर्थ है। उक्त व्यवस्था करने से उक्त प्रयोगों में अव्यय मानकर अकच् आदि प्रत्यय हो जाये यह कहने वाले भी परास्त है। अकच् आदि के साथ एक वाक्यता को प्राप्त अव्यय संज्ञा में गुणादि असिद्ध भी है। लुक् के साथ एक वाक्यता को प्राप्त संज्ञा तो गुणादि से अन्तरंग नही है। क्योंकि दोनों ही शब्द से सुप् का आश्रय लेते हैं।

अव्ययादा (२।४।८२)। 'ण्यक्षत्रिय' (२।४।५८) इत्यतो लुगनुवर्त्तते। विहितेति। अङ्गसञ्ज्ञायां विहितत्वांशप्रवेशेन विहितप्रत्ययनिरूपिताङ्गविशेषणादित्यर्थः। आप्सुब्भ्यामक्षिप्ताङ्गस्याव्ययरूपस्यैव प्रत्यासत्त्या ग्रहणमिति भावः। तेन 'कुम्भकारेभ्यः' इत्यादौ सन्निपातपरिभाषयाऽव्ययसञ्ज्ञानिवृत्तिद्वारा लुङ्निवृत्तिपरभाष्येण न विरोधः।

अव्ययादा। 'ण्यक्षत्रिय' से लुक् की अनुवृत्ति होती है। विहतेति। अंगसंज्ञा में विहित अंश के प्रवेश होने से विहित प्रत्यय को निमित्त मानकर अंग का विशेषण है। आप् और सुप् से आक्षिप्त अंग का अव्यय का ही सामीप्य होने से ग्रहण है। इससे 'कुम्भकारेभ्यः' में सन्निपात परिभाषा से अव्यय संज्ञा की निवृत्ति कर लुक् की निवृत्ति करने वाले भाष्य से विरोध नहीं है।

अत्युच्चैसाविति। अत्राधिकरणशक्तिप्रधानस्यापि उच्चैस्शब्दस्य वृत्तिविषये शक्तिमत्प्रधानत्वाद् द्वितीयान्ततया 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' (का० वा०) इति समासे अवयवभूतोच्चैःशब्दादव्ययात्परत्वेन लुक् स्यात्। समुदायस्य तु नाव्ययत्वं लिङ्गाद्यन्वयित्वादित्यभिमानः। समुदायस्यापि तत्त्वमाशङ्क्य समाधत्ते—यद्यपीति। तदन्तेति। शब्दस्य विशेष्यत्वात्। 'प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम्' इति वाचनिकस्तदन्तविधिरिति भावः।

अत्युच्चैसाविति। यहाँ अधिकरण शक्ति प्रधानवाले उच्चैस शब्द की समास वृत्ति के विषय में शक्ति वाले की प्रधानता से द्वितीयान्त होने से 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' समास करने पर उस समास के अवयव अव्यय उच्चैःश् से परे विभक्ति का लुक् हो जाना चाहिए। लिंगाद के अव्यय होने से समुदाय की अव्यय संज्ञा नहीं है यह अभिमान मात्र है। समुदाय की भी संज्ञा मानकर समाधान देते है—यद्यपीति। तदन्तेति। शब्द के विशेष्य होने से तदन्त विधि हो जायेगी। 'प्रयोजनं सर्वनामात्यय सञ्ज्ञायाम्' से वाचनिक तदन्त विधि है।

न गौणे इति। अयं भावः—सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन लिङ्गाद्यनन्वय्यर्थबोधकत्वविशिष्टाव्ययपदवत्त्वेन हि अव्ययपदं बोधकमिति तादृशमहासञ्ज्ञाकरणात्तादृशार्थानां गणेऽनुकरणावश्यकत्वे इतरेषामनुकरणे मानाभावेन समुदायस्य नाव्ययत्वमिति। वस्तुतोऽत्रार्थस्य प्रधानाप्रधानन्यायेन सर्वनामसञ्ज्ञासाहचर्येण च प्रसिद्धान्तरङ्गपदान्तरानपेक्षानुपसर्जनभूतस्यैव लिङ्गाद्यनन्वयिनो ग्रहणेन—न समुदायस्य, (१) नाव्ययवयवस्य सञ्ज्ञा। अत एव भाष्ये सर्वनामसञ्ज्ञासूत्रस्थोपसर्जनप्रतिषेधानुवृत्त्या 'अत्युच्चैसो' इत्या-

दावव्ययत्वाभावमुक्त्वा तत्प्रत्याख्यानरीत्यैवात्राप्येतत्प्रत्याख्यानमुक्तम्। एवञ्च विहितविशेषणमङ्गाक्षेपो वा व्यर्थ एव अव्ययात्परत्वस्याप्यभावात्। 'उच्चैरो' 'उच्चैराभ्याम्' इत्यादेरभिधाने तु न मानम्। अत एव भाष्ये एतन्नोक्तम्।

न गौणे इति। सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से लिंगादि का अनन्वय अर्थ बोधकता से युक्त अव्यय पद वत्व ही अव्यय है उक्त अर्थ अव्यय मध संज्ञा करने से प्राप्त होता है। इसलिए उसी अर्थ वालो का गण में अनुकरण करना आवश्यक है अन्य का नहीं। उक्त अर्थ करने से समुदाय की अव्यय संज्ञा नहीं होती है। वास्तविक में प्रधाना प्रधान न्याय से (प्रधान और अप्रधान में कार्य प्राप्त हो तो प्रधान में ही कार्य करना) और सर्वनाम संज्ञा के साहचर्य से प्रसिद्ध अन्तरंग अन्यपद की अपेक्षा न कर अनुपसर्जन हो और लिंगादि का जिसमें अन्वय न होता हो उसका ही ग्रहण करने से समुदाय या अवयव की अव्यय संज्ञा नहीं होती है। इसी से भाष्य में सर्वनाम संज्ञा करने वाले सूत्र में स्थिति उपसर्जन प्रतिषेध की अनुवृत्ति कर अत्युच्चैसो में अव्यय संज्ञा का अभाव कहकर उसके प्रत्याखयान किया है अब विहित विशेष ण या अंग का आक्षेप करना व्यर्थ है और उक्त उदाहरण में विभक्ति अव्यय से परे भी नहीं है। 'उच्चैरो, 'उच्चैराभ्याम्' इत्यादि प्रयोगों के अभिधान का कोई प्रमाण नहीं है। इसी से भाष्य में नहीं कहा।

अलिङ्गत्वादिति। नन्विदं 'सदृशं त्रिषु' इति विरुद्धमत आह— लिङ्गेत्यादि। अयं भावः-यथोपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मपराया अस्याः श्रुतेर्भाष्यप्रामाण्यादत्रोपसंहारः, तथा तत्प्रामाण्यादेव लिङ्गाद्यभावपरताऽपीति। विभक्तिवचनशब्दौ कारकसंख्यापरौ, प्रत्ययपरत्वेऽन्यतरवैयर्थ्यापत्तेः। लिङ्गेषु इत्यादि विषयसप्तमी। तत्तद्विषयं सादृश्यञ्च लिङ्गाद्यभावाश्रयत्वेन। लिङ्गाभावेन सादृश्यमव्ययीभावातिरिक्तविषये तस्य लिङ्गयोगसत्वात्। संखयाभावस्तु सर्वसाधारणः। तदभावादिसादृश्यादेव, यत् विविधं रूपं तन्न प्राप्नोतीत्यर्थः।

अलिङ्गत्वादिति। यह 'सदृशं त्रिषु' के विरुद्ध है— इससे कहते है लिङ्गेत्यादि। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार उपक्रम तथा उपसंहार से ब्रह्मपरक इस श्रुति का भाष्य के प्रमाण से यहाँ उपसंहार किया है। उसी प्रकार उस प्रमाण से ही लिंगादि अभाव परता भी है। विभक्ति वचन शब्द संख्या कारक परक है। प्रत्ययपरक मानने से एक का ग्रहण व्यर्थ हो जाता। लिङ्गेषु इत्यादि विषय सप्तमी भी है उन उन विषय में सादृश्य लिंगादि के अभाव का आश्रयण करने से है। लिंग के अभाव से सादृश्य अव्ययीभाव से अतिरिक्त स्थल में लेना। क्योंकि अव्ययीभाव में लिंग का योग

होता है। संख्या अभाव तो सर्वसाधारण है। उसके अभाव का सादृश्य ग्रहण करने से ही, अनेक प्रकार के रूप नहीं होते हैं।

प्रसङ्गादाह–वष्टीति । वशेश्छान्दसत्वेनेह प्रयोगश्चिन्त्यः भागुरिः आचार्यः । अपिसाहचर्यादवेऽप्यादेरकारस्यैव लोपः । इदं भाष्ये न दृश्यते । निशृदिशोरिगुपधलक्षणं केऽदन्तत्वादेव टाप् । क्विनि 'दिक्' इत्यपि । अत एव 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (४।१।१) इति सूत्रे 'आब्ग्रहणं न कार्यम्, अकारान्ताट्टाप् तत्रान्तवद्भावात्प्रातिपदिकत्वेनैव सिद्धम् । यस्तर्ह्यनकारान्तात् 'कुञ्चा' 'उष्णिहा' 'देवविशा' इति । अत्राप्यकारान्तादेव; क्रुञ्चानालभेत, 'उष्णिहककुभौ, देवविशमिति । (१) अन्त्ये 'कप्रत्यय एवंविषयः' इत्युक्त्वा 'बहुराजेति डाबन्तार्थमाब्ग्रहणम् इति भाष्ये उक्तं सङ्गच्छते ! तस्माद् 'वाचा' इत्यसाध्वेवेति शिवम् ।

।। इति अव्ययानि ।।

प्रसङ्गादाह– वष्टीति । वश धातु के वैदिक होने से यहाँ उसका प्रयोग विचारणीय है। भागुरिः आचार्य का नाम है। अपि के साहचर्य से अवि के भी आदि का ही होता है। यह भाष्य में उपलब्ध नही है। निश् दिश् में युगपध लक्षणक प्रत्यय करने से ही अदन्त मानकर ही टाप् हो जायेगा। क्विन् प्रत्यय करने पर दिगि भी सिद्ध होगा। इसी से 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र में लिखा है कि आप् ग्रहण की करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अकारान्त से टाप् करने पर अन्तवद्भाव से प्रातिपदिक आने से ही कार्य सिद्ध हैं जो कि क्रुञ्चा उष्णिहा, देवविशा अकारान्त नहीं है। वहाँ कार्य किस प्रकार से होगा। वहाँ अकारान्त होने से ही होगा। क्रुञ्चान् अलभेत् उष्णिककुभौ, देवविराम इत्यादि प्रयोगों से अकारान्त सिद्ध है। देव विराम में क प्रत्यय का विषय है। ऐसा कहकर बहुराजा इस डाबन्त प्रयोग के लिए आप ग्रहण है। यह भाष्योक्ति संगति होती हैं, इस तरह वाचा प्रयोग असाधु ही है।

।। इति अव्ययानि ।।

। स्त्री प्रत्यय प्रकरणम् ।

स्त्रियाम् (४।१।३) । अचेतनखट्वावृक्षादिसाधारणं लिङ्गन्तु (२) सत्त्वादीनां गुणानामुपचयापचयस्थितिरूपं क्रमेण पुंस्त्रीनपुंसकाख्यम् 'एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिङ्गान्यत्वम्' इति भाष्योक्तेरर्थनिष्ठं केवलान्वयि, इयं व्यक्तिः, इदं वस्तु, अय पदार्थः, इति त्रिविधव्यवहारस्य पदार्थमात्रे सत्त्वात् । केनचिच्छब्देन किञ्चिद्वस्तु एकैकविशिष्टमेव, केनचित्पर्यायेण लिङ्गद्वय-विशिष्टं, केनचिल्लिङ्गत्रयविशिष्टमिति लिङ्गानुशासनादितो निर्णेयम् । तत्र

'स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः'

इत्यादिलौकिकलिङ्गासम्भवे शास्त्रीयं कार्यं शास्त्रीये उक्ते एव । तत्सम्भवे तु शास्त्रीयविशिष्टे लौकिके । शास्त्रीयमपि शब्दतो बुद्ध्यते, तथाऽनुभवात् । उपचयापचययोः स्थितेरपि सत्त्वेन तन्मात्रविवक्षायां 'सामान्ये नपुंसकम्' इति प्रवाद इत्यन्यत्र विस्तरः । अत इति । वर्णग्रहणात्तदन्त-विधिस्तदाह–अकारान्तस्य चेति । वाच्यं यत् स्त्रीत्वमिति । (१)तद्वाच्या-र्थगतं यत्तद्वाच्यं स्त्रीत्वमित्यर्थः एवं व्याख्याने फलमग्रे स्फुटम् । तत्र द्योत्वे इति । प्रत्ययार्थत्वे हि तस्य (१) विशेष्यतापत्तिः । द्योत्यस्य तु (२)विशे-षणत्वमेवेति स्पष्टमाकरे । (३) वागादिषु (४) विनाऽपि टाबादिकं तस्य बोधाच्च । अत एव 'व्यावक्रोशी' इत्यादौ 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' (३।३।४) इति णचि 'णचः स्त्रियाम्' (५।४।१४) इत्यञि च(५)ङीप्सि-द्धिः, 'व्यतिलुनीते' इत्यादौ 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति न्यायेन(६)समुच्च-यस्य दृष्टत्वात् । टाप्स्यादिति । स चाधिकारात्प्रातिपदिकादेव, तच्च सन्निधानादजादिरूपमेव ।

स्त्रियाम् । अचेतन अट्वा वृक्षादि साधारण लिंग तो सत्व, रजः तमः आदि गुणों का उपचय (अधिक) अपचय (न्यूनता) की स्थिति रूप क्रम से पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग समझना । अर्थात् सत्व रजस्तमस् का उपचय पुंल्लिग उन तीनों का उपचय स्त्रीलिंग तथा तीनों की साम्यावस्था नपुंसक लिंग है । एक अर्थ में शब्द के अन्य होने से लिंग को अन्य देखा जाता है । उक्त भाष्य के कथन से अर्थवृत्ति तथा

केवलान्वयि है। जिसका अभाव नही मिलता है वह केवला अन्वयी होता है। जैसे अभिदेयत्व, क्रमेएत्वादि एक ही में तीनो लिगों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे इयमः व्यक्तिः इदं वस्तु, अयं पदार्थः इति तीनों प्रकार का व्यवहार पदार्थ मात्र में है। किसी शब्द से कोई वस्तु एक-एक लिंग से युक्त किसी से पर्याय से, दोलिगों से युक्त, किसी तीनों लिगों से युक्त ज्ञान होता है। यह लिंगानुशासन तथा कोशादि से निर्णय करना चाहिये। "स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः" उक्त में केश से भग और लोम से शिश्न को ग्रहण करना। तब भगवत्वं स्त्रीत्वं शिश्नवत्वम्, पुंस्वम् यह लक्षण निष्पन्न होते है।

उक्त लौकिक लिंग के अभाव शास्त्रीय कार्य शास्त्रीय उक्त लिंग (गुणानामित्यादि) में ही करना। यदि शास्त्रीय संभव हो तो शास्त्रीय से युक्त लौकिक में करना शास्त्रीय भी शब्द से ही ज्ञात होता है क्योंकि वैसा ही अनुभव होने से उपचय तथा अपचय की स्थिति के भी होने से स्थिति मात्र विवक्षा में 'सामान्ये नपुंसकम्' यह प्रवाद है। अतइति। वर्ण ग्रहण से तदन्त विधि होती है इससे कहा है— अकारान्तस्य चेति। वाच्यं यत् स्त्रीत्वमिति। अजाद्यतः के पंचम्यन्त स्वीकार नहीं करना किन्तु षष्ठयन्त मानना। अजादि वाच्य जो अर्थ उसमें रहने वाला जो उसका वाच्य स्त्रीत्व होना चाहिए। अजादि पदार्थ गत स्त्रीत्वे वर्तमानात् (अर्थात् स्त्रीत्ववाचकात्) प्रातिपदिकात् टाप् होता है। यह अर्थ है। उक्त अर्थ करने से पंचादी में समुदाय वाच्य स्त्रीत्व के रहने पर भी अज शब्द के वाच्य अर्थ में पुंल्लिग होने से टाप् नहीं होता है। इस प्रकार के व्याख्यानकः फल आगे स्पष्ट है। तत्रद्योत्येइति। प्रत्यय पर के अर्थ मानने पर तो वह विशेष्य हो जायेगा क्यों कि (प्रकृत प्रत्ययौ सहार्थम् ब्रूतस्तयोः प्रत्यय साथ ही अर्थ कहे वहाँ प्रत्यय का अर्थ कहे वहाँ प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है जैसे औपगवः में अण् प्रत्यय का अर्थ अप्रत्यय प्रधान होता है। द्योत्य अर्थ तो विशेषण ही होता है। (जैसे रामः में एकत्व विशिष्ट राम यह बोध होता है) यह भाष्य में स्पष्ट है। वाक् आदि में टाप् के बिना भी स्त्रीत्व का बोध भी होता है। इसी से 'व्यावक्रोशी' इत्यादि प्रयोगों में ("कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' से णच् और "णचः स्त्रियाम्' से अञ् करने पर ङीप की सिद्धि होती है। (अन्यथा उक्तार्थ के अप्रयोग होने से ङीप नहीं होता है) द्योतक मानने में यह आपत्ति नहीं है, क्यों कि व्यतिलुनीते इत्यादि में 'द्विर्बद्ध सुबद्ध भवति' न्याय से द्योतक समुच्चय देखा जाता है। टाप्स्यादिति। वह टाप् प्रातिपदिक के अधिकार होने से प्रातिपादिक से ही होता है। वह प्रातिपदिक भी सामीप्य होने से अजादि रूप ही है।

नन्व (७) जादिष्वकारान्तपाठो व्यर्थोऽत इत्येव सिद्धेरत आह— अजाद्युक्तिरिति। (१) येननाप्राप्तिन्यायादिति भावः। एतेन ङीति कृतेऽपि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया टाप् चरितार्थ इत्यपास्तम्। ननु प्रत्यय-

विधौ पञ्चम्यायुक्तत्वेनाजादिभ्यष्टाप्। स्त्रीत्वे द्योत्ये इत्यर्थ एव युक्तः, स्त्रीत्वञ्च प्रत्यासत्त्या प्रकृत्यर्थनिष्ठमेवेत्यत आह–अजादिभिरिति। (२) व्याख्यानादेतत् षष्ठ्यन्तमिति भावः। अन्यत्र तु स्त्रियामिति (३) तदन्तस्यापि विशेषणं (४) व्याख्यानादेव। एवञ्च पञ्च सुत्वानो यस्यां सा (५) पञ्चसुत्वरीत्येव।

अब यहाँ शंका करते हैं कि अजादियों अकारान्त का पाठ व्यर्थ है। अतः कहने से ही कार्य हो जायेगा। उत्तर अजाद्युक्तिरिति। येननाप्राप्ति न्याय से ङीप और ङीप के बाध के लिये है उक्त कथन से ङीप के करने पर भी लिंग विशिष्ट परिभाषा से टाप चरितार्थ हो जायेगा यह कथन व्यर्थ है। प्रत्यय विधि में पंचमी का होना आवश्यक होने से आनादियों से टाप् हो स्त्रीद्योत्व होने पर यह अर्थ उचित था और स्त्रीत्व प्रत्यासत्यन्याय से प्रकृत्यर्थ वृत्ति ही लेना। इस शंका का उत्तर करते हैं—अजादिभिरिति। व्याख्यान से यह षण्ठयन्त है अन्य स्थल में स्त्रियाम् यह व्याख्यान से तदन्त का विशेषण है इस प्रकार से पंञ्चसुत्वानोयस्याम् साविग्रह से पंचसुत्वरी सिद्ध होता है। पंच सुत्वरी अति सुत्वरी का उप लक्षण है, क्योंकि पंचसुत्वरी में तो 'अनोबहुव्रीहिः' से निषेध हो जायेगा।

पञ्चाजीति। पञ्चानामजानां समाहार इति द्विगौ 'अकारान्तोत्तरपद' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' (४।१।२१) इति ङीप्। अजादिभ्य इति व्याख्यानेऽमहत्वपूर्वग्रहणेनानुपसर्जनाधिकारेण च 'वनो र च' (४।१।७) इत्यत्रेवात्रापि तदन्तविधिसम्भव इति भावः। न च तदन्तविधावपि श्रुतत्वात्स्त्रियामित्यजादीनामेव विशेषणमिति वाच्यम्, अनुपसर्जनाधिकारेण तदन्तग्रहणस्येव स्त्रियामित्यस्य तदन्तविशेषणत्वमित्यर्थस्यापि बोधनात्। अत्रीति। समासेऽजशब्दसत्त्वेऽपि समाहारनिष्ठं स्त्रीत्वं समुदायवाच्यं नाजशब्दमात्रवाच्यम् सामर्थ्येनाजादिमात्रवाच्यस्त्रीत्वस्यैव ग्रहणादिति भावः। चटकेति। क्षिपकादित्वादित्वं न। ह्रस्व इति। असंज्ञायान्तु भस्त्राफलेत्वे। 'सम्भस्त्रा' (का० वा०) इति, 'सदच्' (का० वा०) इति, 'मूलान्नञः' (का० वा०) इति च 'पाककर्ण' (४।१।६४) इति प्राप्तस्य ङीषो बाधनार्थम्। एवञ्च 'श्वेतफला त्रिफला' इत्यप्यत्र बोद्धयम्।

पञ्चाजीति पञ्चानाम अजानाम् (बकरों का) समाहारः से विग्रह में द्विगु समास करने पर 'अकारान्तोत्तर पदे' से स्त्रीत्व होने पर 'द्विगोः' से ङीप होता है। अजादिभ्यः व्याख्यान करने पर अनुपसर्जनाधिकार और अमहत् पूर्वक ग्रहण से 'वनो रच' की तरह तदन्त विधि सम्भव था। तदन्त विधि होने पर श्रुत होने से स्त्रियाम्

को अजादियों का ही विशेषण स्वीकार करने से दोष नहीं है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अनुपसर्जन अधिकार तदन्त ग्रहण की तरह स्त्रियाम् को तदन्त का विशेषण भी स्वीकार करते है। अत्रहीति। समास में आज शब्द होने पर भी समाहार में रहने वाला स्त्रीत्व समुदाय से वाच्य है केवल अच् शब्द से नहीं है यहाँ सामर्थ्य से केवल अजादि से वाच्य स्त्रीत्व होना चाहिए। चटकेति। क्षिपकादि होने से इत्व नहीं होता है। ह्रस्वइति। असंज्ञा में तो भस्त्र फला ही होगा। 'सभ्यस्ता' 'सदच्' 'मूलान्नञः' इत्यादि का पाठ 'पाककर्ण' से प्राप्त ङीष के बाधने के लिए है। इसी प्रकार से श्वेत-फला त्रिफला का पाठ भी यहाँ समझना।

शूद्रा चेति। जातिलक्षणङीपोऽपवादः। जातिश्चेद्वाच्येत्यर्थः। 'पञ्च-शूद्री' इति समाहारे जातिवाचकत्वाभावात् शूद्रशब्दार्थगतस्त्रीत्वाभावाच्च न दोषः। जातिश्चेदित्यस्य कृत्यमाह—पुंयोगे त्विति। न चात्र गौणत्वं (१) सदृशलाक्षणिकस्यैव गौणत्वात् गौणमुख्यन्यायस्य (२) पदकार्यविषयत्वाच्चेति भावः। अमहत्पूर्वेत्यत्रापि जातिश्चेदिति सम्बद्ध्यते महत्पूर्वो न टापं लभते जातिश्चेद्वाच्येति तदर्थः। तत्फलन्तु जात्यन्तरनिवृत्तिपरत्वे पूर्वञ्जा-तिमात्रविवक्षया महच्छब्दस्य शूद्रशब्देन (३) मृगक्षीरकुवकुटाण्डवत्समासे ततः (१) स्त्रीत्वविवक्षायां महती शूद्रेत्यर्थे महाशूद्रेति टाबेव। अमहत्पूर्वेत्यत्र जातिरित्यस्यासम्बन्धेऽनुपसर्जनाधिकारेण प्रधानेन तदन्तविधिसत्त्वात् 'जातेः' (४।१।६३) इति ङीष् स्यात्। शूद्रशब्दे जातिवाचकत्वस्य, स्त्रीत्वे (२) शूद्रशब्दर्थसमवेतत्वस्यापि सत्त्वेनात्र टाप् निर्बाध इति भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम्। महाशूद्रीति। 'आभीरी तु महाशूद्री' (अ० को० २।६।१३) इत्यमरः। ब्राह्मणाद्गुग्रकन्यायामाभीरः। नृपाच्छूद्रायामुत्पन्नोग्रजातिकन्या। अत्रानुलोमसङ्कराणां (३) मातृजातिवृत्तित्वात्तत्र तां जातिमारोप्य शूद्रशब्द-प्रयोग इत्ययं शूद्रशब्दोऽर्थवानेवेति शूद्रशब्दार्थसमवेतस्त्रीत्वमप्यत्रास्ति। तदर्थसमवेतस्त्रीत्वेऽपि शूद्रशब्दादेव टाप् स्यान्न तदन्तात्, 'ग्रहणवता' (प० भा० ३१) इति निषेधादिति तदन्तविधिज्ञापकता नासङ्गता। अत एव शंखस्मृतौ 'ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैः क्षत्रियावैश्याशूद्रासूत्पन्नाः क्षत्रियवैश्य-शूद्रा एव भवन्ति' इत्युक्तमिति भावः।

शूद्रा चेति। जाति लक्षण ङीप का अपवाद है। जातिश्चेद्वाच्येत्यर्थः। पंचशूद्री इस समाहार प्रयोग में जाति वाचक के न होने से और शूद्र में स्त्रीत्व के न होने से टाप् नहीं होता है। जातिश्येदि का पदकृत्य कहते है—पुंयोगेत्विति। यहाँ गौण नहीं

है, क्योंकि सादृश्य सम्बन्ध से जहाँ लक्षणा होती है उसी को गौण कहते है। जैसा कि दर्पणकार ने लिखा है सादृश्यान्तुमता गौण्यः यदि तुष्यतु दुर्जनः न्याय से इसको गौण मान लिया जाय तब भी गौणमुख्यन्याय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि वह न्याय पद कार्य में ही प्रवृत्ति होता है। (जो विभक्ति निमित्तक तथा स्त्रीत्व निमित्ताक नहीं होता उसी को पद कार्य कहते है। अमहत्पूर्व में भी जातिश्चेत का सम्बन्ध होता है। महत्पूर्व टाप् का लाभ नहीं करता है यदि जाति वाच्य हो यह उसका अर्थ है उसका फल यह है कि पहले अन्य जाति की निवृत्ति परक जाति मात्र की विवक्षा में महत्शब्द का शूद्र शब्द से मृगक्षीरम् कुक्कुटाण्डम् की तरह समास करने पर स्त्रीत्व विवक्षा में महती शूद्रा इस अर्थ में यहाँ शूद्रा में टाप् ही होगा। अमहत्पूर्वा में जाति के सम्बन्ध के अभाव में अनुपसर्जनाधिकार तदन्त विधि होने से 'जातेः' से ङीप हो जाता शूद्र शब्द में जाति वाचत्व है और स्त्रीत्व में शूद्र शब्दार्थ समवेतत्व भी होने से यहाँ टाप् होने में कोई बाधा नहीं है यह यह विषय भाष्य प्रदीप तथा उद्योत में स्पष्ट है। महाशूद्रीति। 'आमीरी तु महाशूद्री' यह अमर है। ब्राह्मण से उग्रकन्या में उत्पन्न अमीर होता है। राजा से शूद्रा में उत्पन्न उग्र जाति की कन्या होती है। यहाँ अनुपलोप शंकरो में मात्रजाति के वृत्ति (कर्म) होने से उस जाति को उसमें आरोप का शूद्र शब्द का प्रयोग होता है इसलिए यह शूद्र शब्द अर्थवान ही है। शूद्र शब्द के अर्थ में (व्यक्ति) में समवाय सम्बन्ध से स्त्रीत्व (जाति) भी है, उसके अर्थ समवेत स्त्रीत्व के होने पर भी शूद्र शब्द से ही टाप् होता है, तदन्त से नहीं होता है क्योंकि 'ग्रहणवत्ता' से तदन्त विधि का निषेध हो जाता है। अतएव तदत्त विधि की ज्ञापकता भी संगत होती है। शंख स्मृति में ब्राह्मण क्षत्रिय आदि में उत्पन्न अनुपलोप संकर होते है। क्षत्रियादि से ब्राह्मणी आदि में उत्पन्न प्रतिलोम संकर होते है अनुलोम सङ्करों में मातृ जाति मानी जाती है। और प्रतिलोम सङ्करों में पितृ जाति मानी जाती है।

यत्तु शूद्राभीरमित्यादौ (१) सामान्यविशेषवाचित्वाद् द्वन्द्वाभावमाशङ्क्य 'आभीरा जात्यन्तराणि' इति 'त्यदादीनि' (१।१।७४) इति सूत्रे भाष्ये उक्तं, तत्तु अनारोपाभिप्रायेणेति न तद्विरोधः। अजादिराकृतिगणः। तेन 'न मु ने' (८।२।३) इति सूत्रे 'टायामादेशः' इति भाष्य प्रयोगः सिद्धः। प्रथमाध्यायचतुर्थपादे 'चमसवदविशेषात्' (ब्र० सू० १।४।८) इति सूत्रे शाङ्करभाष्यवाचस्पत्ययोरजायां 'छागा' इति टाबन्तप्रयोगो दृश्यतेऽतश्छागशब्दोऽप्यजादिष्विति (२) केचित्।

जो कि शूद्रा भीरम् इत्यादि में सामान्य तथा विशेष बाची होने से द्वन्द्व के के अभाव की आशंका कर आभीर जात्यन्तर है यह 'त्यदादीनि' सूत्र के भाष्य में कहा है, वह तो आरोप के न करने से है इसी से उससे विरोध नहीं है। अजादि आकृति

गण है। इसी से नमूने सूत्र में 'टायामादेशः' यह भाष्य प्रयोग भी सिद्ध हुआ क्योंकि टायाम् प्रयोग टाप् करने से सिद्ध होगा। शाङ्करभाष्य के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में 'चमसवदविशेषात्' सूत्र में भाष्यकार तथा वाचस्पतिमिश्र (भामतीकार) का अजायाम् 'छागा' यह टाबन्त प्रयोग दृष्ट पथ में आता है। इससे छाग शब्द का अजादि में पाठ मानना चाहिए।

उगितश्च (४।१।६)। उगिच्छब्देन प्रातिपदिकस्य विशेषणादन्तविधिः। प्रत्ययविधाविति निषेधस्तु न 'उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' (३) इत्युक्तेः तदाह—उगिदन्तादिति। भवतीति। 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' (प० भा० ३२) इति निषेधस्तु (४) सूत्रोपात्तान्तादिशब्दविषय एवेति भावः। भवतु इति उगितः प्रातिपदिकस्यापि सत्त्वात् 'प्रत्ययमात्रग्रहणाभावेन 'प्रत्ययग्रहणे' (प० भा० २३) इति परिभाषाया अप्रवृत्त्या (५) 'निर्यवमती' इत्यादौ न दोषः। अञ्चतेस्त्विति। (६) नलोपिनोऽञ्चतेरित्यर्थः। नियमोऽपि नलोप्यञ्चतिविषय एवेति निरूपितम्।

उगितश्च। उगित शब्द को प्रातिपदिक का विशेषण मानकर तदन्त बिधि है। प्रत्ययविधी यह निषेध तो नहीं होता है क्योंकि उसका भी 'उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' निषेध हो जाता है। अर्थात् उगितग्रहण तथा वर्ण ग्रहण को छोड़कर तदन्तविधि का निषेध होता है। इस अभिप्राय से कहते है—उगिदन्तादिति। भवतीति। 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिके ने निषेध तो सूत्रों में जहाँ अन्तादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ ही निषेध होता है। भवतु उगित प्रातिपदिक भी है। इसलिए प्रत्ययमात्र का ग्रहण न होने से 'प्रत्यय ग्रहण परिभाषा भी प्रवृत्ति नहीं होती है' इसी से निर्यवमती प्रयोग भी सिद्ध होता है। अञ्चतेस्त्विति। न लोपी अञ्चति इसका अर्थ है। नियम भी न लोपी अञ्चति के विषय का ही है।

व्यपदेशिवद्भावलब्धमर्थं स्पष्टप्रतिपत्तये आह—वन्नान्तादिति। नन्वेवं प्रत्ययग्रहणपरिभाषया 'बहुधीवरी' न सिद्ध्येदत आह—तदन्ताच्चेति। तत्परिभाषामब्धवन्नन्तेन (१) प्रातिपदिकस्य विशेषणादिति भावः। सामान्येति। सूत्रेऽनुबन्धानुच्चारणात्तदनुबन्धकपरिभाषाया विषयो नेति भाव। इदं 'मतुवसोः' (८।३।१) 'जाग्रो वि' (७।३।८५) इतिसूत्रेषु भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्। इदं सूत्रं न ङीब्विधायकं, किन्तु 'ऋन्नेभ्यः' (४।१।५) इति प्राप्तङीबनुवादेन तत्सन्नियोगशिष्टरभावमात्रविधायकम्, उभयविधौ गौरवात्। शर्वरीति। शृधातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।१७८) इति

वनिप्। एतत्सिद्ध्यर्थमाह–(२)हशन्ताद्विहित इति । अर्थवतो ग्रहणान्नेह 'मघोनी'। कनिप्रत्ययान्तनिपातितस्येदम्।

व्यपदेशिवद्भाव से प्राप्त अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कहते है—वन्नन्तादिति। उक्त अर्थ मानने पर प्रत्ययग्रहण परिभाषा से बहुधीवरी की सिद्ध नही होगी इसलिए कहते है—तदन्ताच्चेति। प्रत्ययग्रहण परिभाषा से प्राप्त वन्नन्त को प्रातिपदिक का विशेषण मानकर तदन्त विधि करने से उक्तार्थ का लाभ होता है। सामान्येति। सूत्र में अनुबन्ध के उच्चारण न होने से तदनुबन्ध परिभाषा का विषय नहीं है इसी से दोनो का ग्रहण नहीं होता है। यह 'मतुवसोः' 'जाग्रोवि' इत्यादि सूत्रों के भाष्य कैयट में स्पष्ट है यह सूत्र ङीप् का विधायक नहीं है, किन्तु 'ऋन्नेभ्यः' से प्राप्त ङेप के अनुवाद से ङेप के सहयोग से केवल र भाव का विधायक है। दोनों विधान में गौरव है। शर्वरीति। शृ धातु से 'अन्येभ्योऽपिदृश्यते' से वनिप्प्रत्यय है। इसकी सिद्ध के लिए कहते है—हशन्ताद्विहित इति। अर्थवत् ग्रहण करने से 'मघोनी' में नहीं होता है, क्योंकि यह कनिप्रत्ययान्त है।

बहुव्रीहौ वा (का० वा०। 'अनो बहुव्रीहेः' (४।१।१२) इति प्रतिषेधे प्राप्ते इदम्। एतच्च वार्त्तिकम् 'अन उपधा' (४।१।२८) इतिसिद्धङीबनुवादेन रादेशविधायकम्। अत एवेदमनुपधालोपिनि 'सुपर्वा' इत्यादौ नेति विकल्पोऽर्थसिद्धः। 'वनो र च' (४।१।७) इत्येतत्तु 'ऋन्नेभ्यः' (४।१।५) इत्येतन्ङीब्विषयमेवेत्युक्तम्। पक्षे डाबिति। तेन द्विवचने रूपत्रयम्।

बहुव्रीहौ वा। "अनो बहुव्रीहेः" से निषेध प्राप्त होने पर इसका आरम्भ है। यह वार्तिक 'अन उपधा' से सिद्ध ङीप् के अनुवाद से केवल रादेश का विधायक है। इसी से यह अनुपधा लोपी 'सुपर्वा' में नहीं लगता है। इसी से विकल्प अर्थ सिद्ध है। 'वनो रच' तो जहाँ ऋन्नेभ्यः' से ङीप होगा वहाँ ही प्रवृत्ति होगा। पक्षेडाबिति। इससे द्विवचन में तीन रूप होते है।

कृतसमासान्त इति। उत्तरसूत्रे ऋच्याभिधेयायां तस्यैव सम्भवेनार्थाधिकारानुरोधादिति भावः। तेन पादयतेः क्विबन्तस्य ग्रहणं न। द्विपदीति। द्वौ पादावस्या इति बहुव्रीहौ 'संख्यासुपूर्वस्य' (५।४।१४०) इति पादशब्दान्तलोपस्ततो ङीपि पादः पत्।

कृतसमासान्त इति। उत्तर सूत्र में ऋच् वाच्य उसी के सम्भव होने से अर्थाधिकार के अनुरोध से उक्त का ही ग्रहण है। ण्यन्तपाद से विहित क्विबन्त का ग्रहण नहीं है। द्विपदीति। दौपादौ अस्या इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर 'संख्या-

सुपूर्वस्य' से पाद शब्द के अन्त आकार का लोप करने पर ङीप् होता है फिर 'पादः-पत्' से पदादेश होता है।

टाबृचि [४।१।९]। पूर्वसूत्रप्राप्तङीपोऽपवाद इति प्राञ्चः, तच्चिन्त्यम्। 'शेषाद्विभाषा' [५।४।१५४] इतिसूत्रस्य भाष्यविरोधात्। तत्र हि प्रतिपदविहितसमासान्तानां कपो वैकल्पिकत्वेन कबभावे सावकाशत्वमुक्तं, तद्रीत्याऽस्यापि पूर्वसूत्रस्य वैकल्पिकत्वेन तदभावे सावकाशत्वात्। 'बहुव्रीहेरूधसः' [४।१।२५] इत्यत्रापि भाष्ये स्पष्टमेतत्। [३] अत एव 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' [४।१।१] इति सूत्रे पादशब्दसमानार्थमकारान्तं पदशब्दमङ्गीकृत्यैतत्प्रत्याख्यातम्, 'श्रूयते च छन्दसि तस्याः सप्ताक्षरमेकं पदं, एकः पाद इत्यर्थः' इति च भाष्योक्तं सङ्गच्छते। (१)तदा हि ऋच्यपि 'एकपदी एकपात्' इतीष्यत एव। एवञ्च 'एकपाद् ऋक्' इत्यस्य सूत्रमते सिद्धये 'टाबृचि' (४।१।९) इत्यत्राप्यन्यतरस्याङ्ग्रहणमनुवर्त्यम्। (२) पादन्तस्य ऋच्यनभिधानमिति तु न भाष्याशयः। (३)ङीबन्तप्रयोगस्य सूत्ररीत्येष्टस्यासिद्धयापत्तेरिति बोद्धयम्। केवलपाच्छब्दस्य स्त्रियाम् ऋचि वाऽसम्भवेनात्र तदन्तविधिः।

टाबृचि ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्त ङीप् का अपवाद है। यह प्राचीनों का मत है। "शेषाद्विभाषा" सूत्र के भाष्य का विरोध होने से वह ठीक नहीं है। भाष्य में लिखा है कि प्रतिपद विहित समासान्त को कप् के विकल्प होने से कप् के अभाव में सावकाश कहा है। उनकी रीति से इस पूर्व के भी विकल्प होने से उसके अभाव में सावकाश था। 'बहुव्रीहेरूधसः' के भाष्य में भी स्पष्ट है इसी से 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र में पाद शब्द के समान अर्थ वाले पद शब्द को स्वीकार कर इस का प्रत्याख्यान कर दिया है। छन्द में सुना जाता है तस्याः सप्ताक्षरमेकम् पदम् उसका अर्थ में। (एक पाद सात अक्षरो का होता है) तब तो ऋचा में भी एक पदी, एक पात् दोनों इष्ट है। अब एक पाद ऋक इसको सूत्रकार के मत में सिद्ध करने के लिए 'टाबृचि' में भी 'अन्यतरस्याम्' में ग्रहण की अनुवृत्ति करनी चाहिए। पादान्त का ऋचा में अनभिधान है यह भाष्य का आशय नहीं है सूत्रकार के मत से इष्ट ङीबन्त प्रयोग की असिद्ध होने लगेगी। केवल पात शब्द का स्त्री में तथा ऋचा में असम्भव होने से यहाँ तदन्त विधि है।

असिद्धत्वादिति। (४) आपः परिगणितेष्वभावान्न तत्र नलोपासिद्धत्वम्। इदञ्च (५) कार्यकालपक्षे। अयं निषेधः 'प्रियपञ्चा द्रौपदी' इत्यादौ (१) तदन्तेऽपि। 'स्त्रियां यत्प्राप्नोति तन्न' इत्यर्थात् 'अन उपधा'

(४।१।२८) इति ङीबपि नेति बोद्धयम्। (२) ध्वनितञ्चेदं भाष्ये। (३) परे त्वत्र बहिरङ्गासिद्धत्वाप्राप्तिः नलोपस्य तत्त्वाभावात्। सञ्ज्ञाकृत-बहिरङ्गत्वानाश्रयणात्। 'पञ्च' इत्यत्र तु स्त्रियां यत्प्राप्नोति तन्नेत्यर्था (४) श्रयणबलाद् भूतपूर्वषट्त्वाश्रयो निषेधः। अत एव षट्सञ्ज्ञायां नलोपासिद्धत्वस्य न फलमिति 'नलोपः सुप्' (८।२।२) इत्यत्र भाष्ये उक्त-मित्याहुः।

असिद्धत्वादिति। 'न लोपः' सूत्र में आप परिगणितों में नहीं है इसलिए न लोप असिद्ध नहीं हो सकता है यह कथन कार्यकाल पक्ष में है निषेध स्त्री प्रत्यय में तदन्त विधि होने से प्रियपञ्चाद्रौपदी में तदन्त में भी होता है। स्त्री में जो प्राप्त हो वह न हो इस प्रकार के अर्थ से 'अन उपधा' से ङीप भी नहीं होता है। यह भाष्य में ध्वनित है नागेश का कथन है कि पंचइत्यादि में बहिरंगासिद्धत्व की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि न लोप बहिरंग नहीं है। संज्ञा कृत बहिरंग माना भी नहीं जाता है पञ्च में तो स्त्री में जो प्राप्त हो वह न हो इस अर्थ के बल से भूतपूर्व षट्त्व मानकर निषेध होता है। उक्त समाधान से षट्संज्ञा में न लोप के असिद्ध होने का कोई फल नहीं है। ऐसा "न लोपः सुप्" सूत्र के भाष्य में कहा है।

मनः (४।१।११)। न ङीबिति। अयम्, 'अन' (४।१।१२) इति च उक्तरीत्या टाब्ङीपोरुभयोरपि निषेधः। एतेन 'सीमभ्यां' 'बहुयज्वभ्यां' 'बहुधीवभ्याम्' इत्यत्र डाब्ङीपोरभावे नलोपे टाब् दुर्वार इत्यपास्तम्।

मनः। न ङीबिति। यह और 'अनः' दोनों ही उक्तरीति से टाप् और ङीप् दोनों का निषेध करते हैं। दोनो का निषेध मानने से 'सीमभ्यां' बहुयज्वभ्य' 'बहुधीवभ्याम्' में डाप् और ङीप के अभाव में न लोप होने पर टाप् हो जायेगा, यह उक्ति अस्त है।

डाबुभा (४।१।१३)। उभाभ्यांग्रहणाभावे सन्निहितस्थान एवानुवृत्तिः सम्भाव्येत। वचनसामर्थ्याद् डाब्निषेधयोः पर्याये सिद्धेऽन्यतरस्यामिति स्पष्टार्थम्। भाष्ये त्वन्यतरस्याङ्ग्रहणं वाक्यभेदेन 'अनो बहुव्रीहेः' (४।१।१२) इत्यनुवर्त्त्य ततः पक्षे 'ऋन्नेभ्यः' (४।१।५) इति ङीबर्थम्। एवञ्च 'अन उपधा' (४।१।२८) इति सूत्रं नियमार्थमिति 'बहुधीवरी' इत्यत्र 'ऋन्नेभ्यः' (४।१।५) इति ङीबिति तत्सन्नियोगेन रेफादेशः सिद्धयतीति बहुव्रीहौ वेति वचनं प्रत्याख्यातम्। (१) 'अन उपधा' (४।१।२८) इति 'ऋन्नेभ्यः' (४।१।५) इत्यस्यैवानुवाद इति नियमस्य विधिमुखेन प्रवृत्तावपि न दोषः।

डाबुभा। उभाभ्यां के न होने पर समीपस्थ अनह् की अनुवृत्ति की सम्भावना थी। वचनारम्भ से डाप् और निषेध का क्रम सिद्ध होने से अन्यतरस्याम् ग्रहण स्पष्टार्थ है। भाष्य में तो अन्यतरस्याम् का ग्रहण वाक्यभेद से 'अनो बहुव्रीहेः की अनुवृत्ति कर पक्ष में 'ऋन्नेभ्यः' से ङीप् होने के लिए अब 'अनउपधा' सूत्र नियमार्थ है। बहुधीवरी में 'ऋन्नेभ्यः' से ङीप और उसके संयोग से रेफादेश भी सिद्ध होता है। इस प्रकार से बहुव्रीहो व वचन का प्रत्याख्यान किया है। 'अन्उपधा' तो 'ऋन्नेभ्यः' का ही अनुवाद है तब नियम की विधि मुख से प्रवृत्ति मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

अन उ (४।१।२८)। 'बहुव्रीहेरूधसः' (४।१।२५) इत्यतो बहुव्रीहेरिति 'संख्याऽव्ययादेः' (४।१।२६) इत्यतो ङीबिति चानुवर्त्तते। अनुपसर्जनादित्यनुवृत्तमप्यत्र न सम्बद्धयते तस्य गृह्यमाणविशेषणतया गृह्यमाणस्य चाऽन्नन्तबहुव्रीहाव (२) नुपसर्जनस्यासम्भवात्। (३) ध्वनितञ्चेदं 'वनो र च' (४।१।७) इति सूत्रे भाष्ये। (४) तत्र हि 'अनो बहुव्रीहेः' (४।१।१२) इत्यनन्तरम् 'उपधालोपिनो वा' इति न्यासो दर्शितः। विद्धयर्थमिदम्। अन्यतरस्याङ्ग्रहणं तु अनुपधालोपिसुपर्वेत्यादौ सावकाशयोर्डाप्प्रतिषेधयोरुपधालोपिन्यनवकाशेन ङीपा बाधो मा भूदिति। अन्यथा विधानसामर्थ्येन त्रयाणां पर्यायसिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

अ न उ। 'बहुव्रीहेरुधसः' से बहुव्रीहे की और 'संख्याऽव्ययादेः' सेङीप की अनुवृत्ति होती है। अनुपसर्जनात की अनुवृत्ति होने पर भी उसका यहाँ सम्बन्ध नहीं है। क्यों कि अनुपसर्जनात् गृह्यमाण का विशेषण है। अनन्त बहुव्रीहे में गृह्यमाण का अनुपसर्जन होना संभव नहीं है यह 'वनोरच' सूत्र के भाष्य में ध्वनित है भाष्य में 'अनोवहुव्रीहेः' अनन्तर 'उपधालोपिनोवा' न्यास दिखलाया है। यह विद्वयर्थ है। अन्यतरस्याम् ग्रहण को अनुपधा लोपी सुपर्वा-इत्यादि में सावकाश डाप् और निषेध का उपधालोपी में निकरवाश ङीप् से बाधके अभाव के लिए है नहीं तो विधान करने से तीनों को पर्याय सिद्ध होने पर उसका ग्रहण व्यर्थ ही था।

ककारादिति। (५) अनेन वर्णमात्रं विवक्षितम्, अकार उच्चारणार्थं इति सूचयति। न च 'कारिका' इत्यत्राकारेण व्यवधानादाप्परककाराभावेनेत्वानापत्तिः, एकादेशेऽपि 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इति स्थानिवत्त्वाद् व्यवधानमेव। आपि परतोऽकारस्य कात्पूर्वस्येत्यर्थेऽपि निर्दिष्टपरिभाषोपस्थितेर्व्यवहिते (१) न प्राप्नोतीति वाच्यम्, आनन्तर्यांशोपस्थितावपि 'येन नाव्यवधानम्' इति न्यायेनाकारव्यवधानेऽपि प्रवृत्तेः। रथकट्यादौ च

नातिप्रसङ्गः । क इति संघातग्रहणे तु एतिका' इत्याद्यसिद्धिः अकच्य-कारस्योच्चारणार्थतया कशब्दाभावात् 'न यासयोः' (७।४।४५) इति ज्ञापकेन वर्णग्रहणमित्येव ज्ञाप्यते । अकज्विधायकस्थमकारवैशिष्ट्यमादायत्वप्रवृत्ति-ज्ञापकत्वाश्रयणे तु गौरवम्, तावताऽपि प्रत्ययस्थत्वांशा (२) नुपपत्तेश्च ।

ककारादिति । इससे वर्ण मात्र ही विवक्षित है अर्थात् क् अकार उच्चारण के लिए है । इस प्रकार से कारिका में अकार के व्यवधान होने से आप् हैं परे जिससे ऐसे ककार के न होने से इत्व नहीं होगा । एकादेश करने पर भी 'अचः परस्मिन' से स्थानिवद्भाव होने से व्यवधान ही है । अर्थात् टाप् के साथ दीर्घ रूप एकादेश का स्थानिवद्भाव हो जायेगा । आप् के परे ककार से पूर्व अकार हो इस अर्थ में भी निर्दिश्यमान परिभाषा की उपस्थिति होने से व्यवहित में इत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती है । उत्तर आनन्तर्य अंश की उपस्थित होने पर भी 'येन नात्यवधानम्' न्याय से अकार के व्यवधान में इत्व की प्रवृत्ति होती है । अर्थात् जिसके व्यवधान के बिना कार्य न हो सकता हो उसके व्यवधान में भी कार्य होता है । रथकद्या में अनेक व्यवधान होने से नहीं होता है अकार विशिष्ट ककार के ग्रहण से तो एतिका की सिद्ध नहीं होगी क्योंकि अकच् में अकार के उच्चारणार्थ होने से क शब्द का मिलना असम्भव है । 'न यासयोः' इस ज्ञापक से भी वर्ण ग्रहण का ग्रहण प्रतीत होता है । अकच् विधायक में स्थित अकार को मानकर इत्व प्रवृत्ति कल्पना में गौरव है । और उक्त स्वीकार करने पर भी प्रत्यय में स्थिति अंश मिलना कठिन है ।

न च वर्णग्रहणपक्षे एतिका इत्यादावकारद्वयव्यवधानादित्वाप्राप्तिः द्वयोरकारयोरेकादेशे टापा सहैकादेशस्य स्थानिवद्भावादेकेनैवाकारेण व्यव-धानात् । पुनः स्थानिवत्त्वन्तु न; [३] लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तेः । टापा सहैकादेशस्य स्थानिवत्त्वं विना पूर्वैकादेशस्य स्थानिवत्त्वन्तु वक्तुमशक्यं, तस्य टावेकादेशेनापहारेणादर्शनात् । अत एव 'न यासयोः' [७।३।४५] इतिनिषेधसार्थक्यम् ।

वर्ण ग्रहण पक्ष में एति का इत्यादि में दो अमोश के व्यवधान होने से वत्व की प्राप्ति नहीं है । उत्तर दोनो अकारों का पर रूप एकादेश के स्थानिवद्भाव करने पर एक ही अकार का व्यवधान है । लक्ष्ये लक्षण न्याय से पुनः स्थानिवद्भाव होने की सँभावना नहीं है । पहले पूर्व रूप का स्थानिवद्भाव होना तो कठिन है । क्योंकि टाप् के साथ एकादेश होने से उसका अपहार हो गया है । इसी से 'न यासयोः' यह निर्देश भी संगत होता है । वास्तव में तो लक्ष्ये लक्षण न्याय संस्कारक विधि में ही प्रवृत्त होता है इसलिए 'न बासपोः' निर्देश से एकादेश के होने पर वह व्यवधान सह्य हैं । यह कल्पना करनी उचित है ।

स्थग्रहणन्तु स्पष्टार्थं, केवलककारस्य प्रत्ययस्याभावात् । असुप इति बहुव्रीहिणा नाङ्गविशेषणम् 'बहुचर्मिका' इत्यादावित्वानापत्तेः, प्रत्ययलक्षणेनाङ्गस्य सुब्वत्त्वात् । 'न लुमता' [१।१।६३] इति तु नात्र लुमता लुप्ते प्रत्यये यदङ्गं तस्य कार्ये तन्निषेधप्रवृत्तेः । इदन्तु टाप्यङ्गमिति दिक् ।

स्थग्रहण स्पष्टार्थ है । केवल ककार प्रत्यय संभव नहीं हैं । असुपः इस बहुव्रीहि से अंग को विशेषण नहीं मानना चाहिए, क्योंकि 'बहुचर्मिका' में इत्व नहीं होगा । प्रत्ययलक्षण से अंगसुप् वाला है । 'न लुमता' से निषेध का तो यह विषय नहीं है । न लुमता लुप्त प्रत्यय के परे जो अंग उसको कार्य करने में ही उसकी प्रवृत्ति होती है । यह तो टाप् के परे अंग है ।

सर्विकेति । 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यकच् । कारिकेति । करोतेर्ण्वुल् । नौशब्दात्स्वार्थे कः । सुपः परो नेति प्रसज्यप्रतिषेधेन व्याख्याने फलमाह–बहुपरिव्राजकेति । पर्युदासे हि समुदायस्य सुब्भिन्नत्वेन सुबन्तभिन्नत्वेन च ततः परत्वादित्वं दुर्वारमिति भावः । परिपूर्वाद् व्रजेर्ण्वुलि बहुव्रीहौ सुपो लुक्यपि प्रत्ययलक्षणेनापः सुबन्तात्परत्वं बोद्धयम् । कटुकेति । आपा सह सवर्णदीर्घात्पूर्वं वार्णादाङ्गस्य बलीयस्त्वादपवादत्वाच्चान्त्यककारादुत्तरस्याकारस्येत्वं स्या (१) दिति भावः । मामकेति । कस्य प्रत्ययस्थत्वाभावादप्राप्ते वचनम् । ममेयमिति विग्रहे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्याम्' [४।३।१] इत्यणि 'तवकममकावेकवचने' [४।३।३] इति ममकादेशे आदिवृद्धिः । नरानिति । कै शब्दे इत्यस्य 'आदेच उपदेशे' [६।१।४५] इत्यात्वे 'आतोऽनुपसर्गे' [३।२।३] इति के 'आतो लोप इति च' [६।४।६८] इत्यालोपः ।

सर्विकेति । अव्यय सर्वनाम्नाम् से अकच् है । कारिकेति । कृधातोर्ण्वुल् का रूप है । नौशब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय करने से नौका बनता है । सुप् से परे न हो इस प्रसज्य प्रतिषेध से व्याख्यान का फल कहते है बहुपरिव्राजकेति । पर्युदास मानने पर समुदाय के सुब् भिन्न और सुबन्त भिन्न होने से उससे परे होने से इत्व दुवरि था । परिपूर्वक व्रजधातु से ण्वुल करने पर सुप् के लुक् होने पर भी प्रत्यय लक्षण से आप् सुबन्त से परे है । कटुकेति । आप के साथ सवर्ण दीर्घ से पूर्व 'वार्णदाङम बलीया' परिभाषा से और अपवाद होने से अन्त्यककार में विद्यमान अकार को इत्व होने लगेगा । मामकेति । क के प्रत्यय में स्थिति न होने से इत्व की प्राप्ति नहीं थी इसलिए वचन किया । मम् इयम्, इस विग्रह में 'युष्मदस्मनोस्यतरस्याम्' से अण् और तवकममकावेकवचने' ममकादेश करने पर आदिवृद्धि होने पर उक्त प्रयोग की सिद्ध

होती है नरानिति। 'कै शब्दे' धातुओं 'आदेच उपदेशे' से आत्व होने पर 'आतोऽनुपसर्गे' से क प्रत्यय होता है 'आतो लोप इति च' से आकार का लोप होता है।

न यासयो: [७।३।४५]। प्रत्ययस्थादिति प्राप्ते निषेधोऽयम्। यकेति। यत्तदोरकच्, त्यदाद्यत्वे टाप्। सन्निपातपरिभाषाऽस्मादेव निषेधानिर्देशाच्चानित्येति तद्विरोधात्कथं टाबिति न शङ्क्यम्। त्यकनश्चेति। 'मृदस्तिकन्' इति इत्वभूतनिर्देशेन ज्ञापकेनास्येत्वं वारयितुं शक्यमिति भाष्यकृत:। पञ्चभिर्मृत्तिकाभि: क्रीत इत्यर्थे 'पञ्चमृत्तिक:' इत्यस्यानभिधानमिति तदाशय:। अत्रं त्यिकनि कर्त्तव्येऽकारोच्चारणादित्वं नेति न वक्तुं शक्यं 'पञ्चोपत्यको ग्राम:' इत्यादावकारश्रवणानापत्ते: टापो लुकि प्रत्ययलक्षणं स्थानिवत्त्वञ्च न उभयोरपि 'न लुमता' (१।१।६३) इत्यनेन निषेधात्। अतएव 'कति' इत्यादौ वार्त्तिकमतेऽपि न गुण इत्यन्यत्र विस्तर:।

न यासयो:। प्रत्यय स्नात् से प्राप्त इत्व का निषेध करता है। यकेति। यत्तवद् से अकच् प्रत्यय 'त्यदादीनाम: से अकार फिर टाप् करने से उक्त प्रयोगों की सिद्धि होती है। सन्निपात परिभाषा इसी निषेध तथा निर्देश से अनित्य है। इसलिए उसके विरोध होने से यहाँ टाप् कैसे हुआ। यह शंका नहीं करनी चाहिए। त्यक्श्चेति। इस प्रकार के निर्देश से ज्ञापन से इसको इत्व वारण हो सकता है यह भाष्यकार का कथन है। पंचभि: मृत का भी क्रीत: इस अर्थ में निष्पन्न पंच मृत्तिक: का अनविधान है। यह उनका आशय है यहाँ त्यिकनि करने पर अकारोच्चारण से इत्व नहीं होता है। यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि उक्त विचार मानने पर पञ्चोपत्यको ग्राम: इत्यादि में अकार का श्रवण नहीं होता। टाप् लुक् होने से प्रत्यय लक्षण तथा स्थानिद्भाव नहीं हो सकता है। दोनों का 'न लुमता' से निषेध हो जायेगा। इसी से कति में वार्तिक कार के मत में भी गुण नहीं होता है। इसको अन्यत्र विस्तार से कहा है।

आशिषि वु (का० वा०)। आशिषि विहितस्य वुनोऽस्येत्वं नेत्यर्थ:। जीवतादित्यर्थे 'आशिषि च' (३।१।१५०) इति वुन्। देवदत्तशब्दादनुकम्पायां कनि 'अजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्य:' (का० वा०) इति दत्तशब्दस्य लोप:। 'देवदत्तिका' इत्युपन्यासस्तु दत्तलोपमभिव्यङ्क्तुम्। ध्रुवकेति। 'ध्रु स्थैर्ये' (धा० सू०) पचाद्यचि कुटादित्वाद् गुणाभावे उवङ्, ततष्टाप्यज्ञातार्थे क:, 'केऽण:' (७।४।१३) इति ह्रस्व:, पुनष्टाप्। चटे सञ्ज्ञायां क्वुन्। वार्त्तिकोक्ता गणा आकृतिगणा:। तेन कन्यकाध्रुवकाऽलकेष्टकादय: साधव:। उदीचान्त्विति। अत्रापि शकुनाविति। सम्बद्ध्यते। तेनान्यत्र नित्यमेवेत्वम्।

आशिषि वु । आशीर्वाद में विहिति कृन को इत्व नहीं होता है । 'जीवतात्' इस अर्थ में 'आशिषि च' से बुन होता है । देवदत्त शब्द से अनुकम्पा में कन् प्रत्यय होता है । 'अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः' दत्त शब्द का लोप विकल्प से होता है । दत्त शब्द के लोप को अभिव्यक्ति करने के लिए ही देवदत्तिका का उपन्यास किया है । ध्रुव केति । ध्रुस्थैर्ये से पचादि अच् प्रत्यय करने पर कुटादि होने से गुण के अभाव उवङ् फिर टाप् अज्ञातार्थ में क् प्रत्यय 'केऽणः' से ह्रस्व करने पर फिर टाप् होता है । चटे संज्ञायाँ क्वुन् प्रत्यय होता है । वार्तिकोक्त गण आकृतिगण है । इससे कन्यका ध्रुव का अलका इष्ट का आदि भी साध है । उदीचान्त्विति । यहाँ भी शकुनी का सम्बन्ध है । इससे अन्यत्र इत्वनित्य ही होता है ।

सूतका पुत्रि (का० वा०) । पुत्रकेत्यकारसहितः पाठोपपाठः, कैयटाद्यसम्मतेः । सूतशब्दात् स्वार्थे कन् । वृन्दशब्दात् 'श्रृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्' इति मत्वर्थीय आरकन् । वृन्दारकशब्दो मुख्यवाची त्रिलिङ्ग इति भावः । ङीन इति । शार्ङ्गरवादित्वाज्जातस्येति भावः । अन्यत्रसूतकादौ ।

सूतकापुत्रि । पुत्र का ऐसा अकार वाला पाठ पाठा भास है क्योंकि उसमें कैयट आदि सम्भव नहीं है । सूत शब्द से स्वार्थ में कन् प्रत्यय है । वृन्द शब्द से 'श्रृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्' से मत्वर्थीय आरकन् प्रत्यय है । वृन्दारक शब्द मुख्य अर्थ को कहने वाला तीनों लिंगों में है । ङीनइति । शार्ङ्गरवदि मानकर होने वाला यह उसका भाव है । अन्यत्र सूतकादि में ।

उदीचाम् (७।३।४६) । यकपूर्वत्वञ्चाव्यवहितमेव । एवं प्रत्ययस्थात्' (७।३।४४) इति सूत्रे कात्पूर्वत्वमपि 'उदात्तस्वरितयोः' (८।२।४) इत्यादाविवानुवादेऽपि निर्दिष्टपरिभाषाप्रवृत्तेः । तेन कुशराशब्दात्के ह्रस्वे इत्वविकल्पो न । नेत्यनुवृत्तावपि निषेधविकल्पे विधिविकल्पस्य फलितत्वादाह–इद्वेति । आतः किमिति । 'उदीचां यकपूर्वायाः' इत्येवास्तु । य–क–पूर्वस्त्रीबोधकाकारस्येत्यर्थः । साङ्काश्यके च नातिप्रसङ्गः । प्रत्ययावयवत्वेनाकारस्य स्त्रीबोधकत्वाभावात्' इति प्रश्नः । बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधादवयवषष्ठ्येव स्यात् । न च प्रतिपदोक्तस्त्रीप्रत्ययस्यैवात्र ग्रहणं विशिष्य तदनुपादानात्' इत्युत्तरम् । स्त्रीप्रत्ययस्य किमिति । यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः किमर्थं इति प्रश्नः । धात्वन्तेति । धात्वन्तयकारककारपूर्वयोरकारयोरित्यर्थः । इत्वमिति शेषः ।

उदीचाम । यकपूर्वत्व अव्यवहित ही लेना । 'विधौपरिभाषोपतिष्ठतेनानुवादेः' परिभाषा की प्रवृत्ति विधि में होती है, अनुवाद में नहीं होती है यह सिद्धान्त होने पर

भी जैसे 'उदात्त स्वरितयोः' में अनुवाद में निर्दिष्ट परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार यहाँ भी समझना। इसी से कृशरा शब्द से क् प्रत्यय और ह्रस्व करने पर इत्व विकल्प से नहीं होता है। न की अनुवृत्ति होने पर भी निषेध विकल्प में विधि विकल्प ही फलता है' इसी से कहा है–इद्वेति। आतः किमिति। आत' ग्रहण क्यों किया (उदीचाँ यकपूर्वायाः) ऐसा ही कहना उचित था। यक पूर्वक स्त्रीबोधक आकार को ही हो यह अर्थ है। साङ्काश्यमा में कोई दोष नहीं है। प्रत्यय के अवयव आकार में स्त्रीबोधकत्व नहीं है— यह प्रश्न है बहुलक्ष्यों के संस्कार के अनुरोध से 'अवयव षष्ठी' ही हो। तो प्रतिपदोक्त होने से स्त्री प्रत्यय का ही यहाँ ग्रहण करेंगे। यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि विशेष करके उसका ग्रहण नहीं किया है। यह उस प्रश्न का उत्तर है। स्त्री प्रत्यय किमिति। यकपूर्वाया में स्त्रीलिंग का निर्देश क्यों किया यह प्रश्न है। धात्वन्तेति। धातु के अन्त्य यकार और ककार से पूर्व अकारो को इत्व हो।

भस्त्रैषा (७।३।४७)। अयमपि निषेधविकल्प इत्याह–अत इति। अत्राप्यातः स्थान इत्यनुवर्त्तते। तदन्तेति। 'येन विधिः' (१।१।७२) इति सूत्रे 'त्यदादिविधिभस्त्रादिग्रहणञ्च प्रयोजनम्' इति भाष्यात्। अपिना नञ्भिन्नपूर्वाणाञ्च सङ्ग्रहः। अत्र नञ्पूर्वाणामहीति स्पष्टार्थम् 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च' इति सिद्धेः। उपसर्जनार्थमिति। एवञ्चानुपसर्जने 'आदाचार्याणाम्' (७।३।४९) इत्यात्वं भवत्येव, उपसर्जनेऽस्य चारितार्थ्येन बाधे मानाभावात्। अन्यस्य–अनुपसर्जनस्य। उत्तरसूत्रम्–'अभाषितपुंस्काच्च' (७।३।४८) इति।

भस्त्रैषा। यह भी निषेध बिकल्प है, वह कहा है। अतइति। यहाँ भी आतः स्थाने की अनुवृत्ति होती है। तदन्तेति। 'येन विधिः' सूत्र में लिखा है कि त्यादादि विधि और भस्त्रादि का ग्रहण ही प्रयोजन है' अपि से नञ् भिन्न पूर्व और अपूर्वी का संग्रह है। इसमें नञ् पूर्वाणाम का ग्रहण स्पष्टार्थ है। क्योंकि 'पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्त विधि होने से कार्य हो जायेगा। उपसर्जनार्थमिति। अत्र अनुपसर्जन में 'आदाचार्याणाम्' से आत्व हो ही जायेगा। क्योंकि उपसर्जन में इसके चरितार्थ होने से बाध में कोई प्रमाण नहीं है। अन्यस्य। अर्थात् अनुपसर्जन को। उत्तर सूत्रम् 'अभाषित पुस्काच्च' है।

अन्तर्वर्त्तिनीमिति। न एतद् सु इति स्थिते अकचि कृते अकृते वा नञा तत्पुरुषे 'अन्तरङ्गानपि' इति न्यायेन त्यदाद्यत्वात्प्राक् सुपो लुकि ततोऽकचि वा पुनर्विशिष्टात्सुपि त्यदाद्यत्वे टापि समासात्पूर्वोत्पन्नसुपः पर

एव टाबिति भावः। बहुव्रीहौ तु 'प्रियैतत्का' 'प्रियैतकत्का' वा, कबभावे 'प्रियैतकत्' इत्येव। सर्वथा नेत्वप्राप्तिः। अनेषकेति। अज्ञाता एषा एषका, न एषकेति विग्रहः। पूर्वं नञ्समासे अज्ञाता अनेषा इति। असम्भवादिति। 'एषाद्वा' इति निर्देशात् (१) सञ्ज्ञोपसर्जनयोरप्राप्तेरिति भावः। अकजर्हं इति। एवञ्च तदकारस्याऽऽतःस्थानिकत्वाभाव इति भावः अर्थान्तरे त्विति। आत्मज्ञातिधनेष्वित्यर्थः।

अन्तर्वर्तिनीमिति। न एतद सु इस स्थिति में अकच् करने पर या न करने पर नञ तत्पुरुष के पश्चात् 'अन्तरङ्गानपि' न्याय से त्यदादीनामः' से पूर्व ही सुप् का लुक् होता है फिर विकल्प से अकच् होने पर अकच् विशिष्ट से सुप् होने पर, "त्यदादीनामः' से पूर्व ही सुप् का लुक् होता है फिर विकल्प से अकच् होने पर, अकच् विशिष्ट से सुप् होने पर, "त्यदादीनामः" से अत्व करने पर टाप् है। समास से पूर्व में उत्पन्न सुप् से परे ही टाप् है बहुव्रीहि में तो प्रियैतत्का या प्रियैतकत्का होता है, कप् के अभाव में प्रियैतकत ही होता है। किसी प्रकार से भी इत्व की प्राप्ति नहीं है अनेषकेति अज्ञाता एसा एषका , न एषकेति विग्रह में अनेषका सिद्ध होता है। पहले नञ् समास करने पर असाता अनेषा विग्रह है असम्वादिति। 'एषाद्वा' निर्देश से संज्ञा तथा उपसर्जन में अप्राप्ति है। अकजर्हं इति। इस तरह उसके अकार में आतः स्थानिकत्व नहीं है अर्थान्तरे त्विति। आत्मा, साति तथा धन के अर्थ है।

स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने। (अ० को० ३।३।२१० इति कोशादिति भावः। कप्रत्ययान्तत्वादिति। तत्र च नान्तर्वर्त्तिविभक्त्या सुपः परत्वं, केन व्यवधानादिति भावः। 'संज्ञापूरण्योश्च' (६।३।३८) इति निषेधे सञ्ज्ञाया अपि भाषितपुंस्कत्वबोधनेन सञ्ज्ञाभूते न 'अभाषितपुंस्काच्च' (७।३।४८) इत्यनेन सिद्धिः आत्मीयत्वपुरस्कारेणैव सञ्ज्ञाकरणादिति बोद्धव्यम्। नित्यमेवेति। तत्र ह्यकचि कृते आतःस्थानिकत्वाभाव इति भावः। एवमत्यन्तस्वार्थिककान्तेऽपि नित्यमेवेत्वम्। अकचोऽत्यन्तस्वार्थिकापवादत्वाभावात्। निःस्वकेति। स्वस्या निष्कान्तेति विग्रहः। उपसर्जनह्रस्वः, टाप्, अज्ञातादौ कः।

स्वः शब्द के चारो अर्थो का विवेचन करते है ज्ञात अर्थ में स्वः अर्थात् पुल्लिग, आत्मा में स्वं अर्थात नपुंसकलिग आत्मीय अर्थ स्व और तीनों लिगों में और धन अर्थ में स्त्रीलिग, भिन्न अर्थात नपुंसकलिग एवं पुल्लिग में स्वः शब्द होता है। कप्रत्ययान्तत्वादिति। वहाँ अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति से सुप् से परे नही है क्योंकि ककार का व्यवधान है। "संज्ञा पूरण्योश्च" निषेध से संज्ञा को भी भाषित पुंस्कत्व बोधन करने से संज्ञा

में अभाषित पुंस्काच्च' सिद्ध नहीं हो सकती है आत्मीयत्व सामने रखकर ही संज्ञा की जाती है। नित्यमेवेति। वहाँ अकच् करने पर आतः स्थानिकत्व नहीं है इसी तरह अत्यन्त स्वार्थिक क प्रत्ययान्त में भी नित्य ही इत्व होगा। अकच् भी अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्ययों का अपवाद नहीं होता है। निःस्वकेति। स्वस्या निष्क्रान्ता विग्रह में "निरादया क्रान्तादयर्थे से समास फिर उपसर्जन ह्रस्व फिर टाप् तब अज्ञातादि अर्थ में क प्रत्यय होता है।

अभाषित (७।३।४८) 'स्त्रीविषयाच्च' इति नोक्तम्। स्त्रीनपुंसकदामशब्दाड्डापि अज्ञाता दामा 'दामिका' 'दामाका' 'दामका' इत्यसिद्धयापत्तेः। विहितस्येति व्याख्याने फलमाह—बहुव्रीहेरिति। अविद्यमाना खट्वा यस्या इति विग्रहे पाक्षिककबभावे 'गोस्त्रियोः' (१।२।४८) इत्युपसर्जनह्रस्वेऽखट्वशब्दादापि सुप्यज्ञातादौ के सुब्लुकि 'केऽणः' (७।४।१३) इति ह्रस्वे पुनष्टाप्यभाषितपुंस्काद्विहिताकारस्थानिकाकाराभावेनैतद्विकल्पाप्राप्तावुत्सर्गेण नित्यमेवेत्वं, परविशेषणत्वे तु तादृशखट्वशब्दात्परत्वेन दोषः स्यादेवेति भावः।

अभाषित। 'स्त्रीविषयाच्च' सूत्र तो नहीं कहा। क्योंकि स्त्री तथा नपुंसक में वृत्तिदाम शब्द से डाप् करने पर अज्ञाता दामा विग्रह में दामिका दामाका दामका की असिद्ध होने लगेगी। विहितस्य, व्याख्यान का फल कहते है—बहुव्रीहेरिति। अविद्यमाना खट्वा यस्या विग्रह में बहुव्रीहि में पाक्षिक कप् के अभाव में 'गोस्त्रियोः' से उपसर्जन ह्रस्व करने पर अखट्व शब्द से आप्, सुप के अनन्तर अज्ञातादि अर्थ में क प्रत्यय करने पर सुप् के लुक् के पश्चात 'केऽणः' से ह्रस्व करने पर फिर टाप् करने पर अभाषित पुंस्क में विहित आकार स्थानिक अकार के न होने से विकल्प की प्राप्ति न होने पर उत्सर्ग (प्रत्ययस्थात्) से नित्य ही इत्व होता है। पर विशेषण में तो उस प्रकार के खट्व शब्द से परे होने से दोष हो ही जाता।

शैषिके कपीति। न खट्वा सु इत्यवस्थायां कपि सुब्लुकि प्रत्ययलक्षणेन भागद्वयस्य सुबन्तत्वात्समाससंज्ञायां 'समासान्ताः' (५।४।६८) इतिशास्त्रबलात्कबन्तस्यैव समासत्वेनोपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तान्तसमासरूपप्रातिपदिकाभावाद् 'गोस्त्रियोः' (१।२।४८) इति ह्रस्वाभावे 'केऽणः' (७।४।१३) इति ह्रस्वे 'न कपि' (७।४।१४) इति निषिद्धे 'आपोऽन्यतरस्याम्' (७।४।१५) इति ह्रस्वे कपः प्राग्वर्त्तिनः खट्वशब्दात्परस्यापोऽभाषितपुंस्काद्विहितत्वेन तत्स्थानिकाकारस्यायं विकल्पः, ह्रस्वाभावे तु 'अखट्वाका' इति, इति भावः।

शैषिके कपीति। न खट्वा सु इस अवस्था में कप् और सुप्, लुक करने पर प्रत्यय लक्षण से दोनों भागों के सुबन्त होने से समास संज्ञा करने पर 'समासान्ताः' शास्त्र के बल से कबन्त ही समास होने से उपसर्जन स्त्री प्रत्ययान्त समास रूप प्रातिपदिक के न होने से 'गोस्त्रियोः' से ह्रस्व के अभाव में 'केऽणः' से प्राप्त ह्रस्व का न कपि' से निषेध होने पर 'आपोऽन्यतरस्याम्' से ह्रस्व करने पर कप् पूर्व विद्यमान खट्व शब्द से परे आप् को अभाषित पुंस्क से विहित होने से उसके स्थान में होने वाले अकार का यह विकल्प है। ह्रस्व के अभाव में 'अखट्वाका' सिद्ध होगा।

अयमेवेति। (१) आचारक्विबन्तप्रकृतिककर्तृक्विबन्तानामनभिधान-मेव स्त्रियाम्, एतद्भाष्यप्रामाण्यात्। पञ्च स्त्रीगोव्यक्तयो धनं यस्य स 'पञ्चगवधनः' इत्यत्रार्थवत्सूत्रोक्तार्थवत्त्वाभावाट्टजन्तस्य प्रातिपदिकत्वाभावेन न ङीप्। आपिशलिना प्रोक्तमधीते आपिशला ब्राह्मणीत्यत्र तु न ङीप्। प्रोक्ताणः स्त्रियामवर्त्तनात्। अध्येत्रणतुलुप्तः, अण् योऽकार इति व्याख्या-नेन वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणाभावात्। अद्धयेत्रर्थगतस्त्रीत्वमादाय(१) तदणिन-मित्तकस्य न प्राप्तिः। स्त्रियामित्वस्य गृह्यमाणविशेषणत्वात्तदण एतत्स्त्री-त्वेऽवर्त्तनात्। (२) अतएव काशकृत्स्निना प्रोक्तां मीमांसामधीते काश-कृत्स्ना ब्राह्मणी इत्यत्रापि न ङीप्। प्रोक्तार्थगतस्त्रीत्वमादाय तु पुनर्न ङीप्, लक्ष्येलक्षणस्येति न्यायात्। तस्माद् 'बहुकुरुचरा' इत्येव तद्व्यावर्त्यम्। तत्र च तदन्तविधि विना प्राप्तिरेव न। ज्ञापिते तु तदन्तविधौ(३) प्राधान्यादे-(४) तदारम्भाच्च स्त्रियामिति ङीप्प्रकृतिविशेषणमेव। (५) अतएव धीवान मतिक्रान्ता 'अतिधीवरी' इति सिद्धम्। एवञ्च 'आपिशला' इत्या-द्यप्यस्यैव व्यावर्त्यम्। अनुपसर्जनादिति च (१) सामर्थ्याद् गृह्यमाणविशे-षणमेवेति भावः।

अयमेवेति। गौरइवा चरति गौरायते, गौरायते इति गौरा में षिद् गौरादिभ्यश्च ङीषि व्यावृत्ति के लिए अनुपसर्जनाधिकार चरितार्थ है, इस शंका को दूर करने के लिये लिखते हैं, आचार क्विबन्त प्रकृति वालों से कर्त्ता में क्विप् का स्त्री में अनभि-धान है इसमें यह भावयही प्रमाण है। पञ्चस्त्रीगोव्यक्तयोधनं यस्य स पञ्चगवधनः (पाँच गाय है धन जिसके) में अर्थवत् सूत्र में स्वीकृत अर्थवत्व के न होने से टजन्त की प्रातिपदिक संज्ञा न होने से ङीप नहीं होता है। आपिशालिना प्रोक्तमधीयते विग्रह में निष्पन्न आपिशाला ब्राह्मणी में तो (आपिशलि आचार से कहे विषय को पढ़ने वाली) ङीप नहीं होता है क्योंकि प्रोक्त अन् स्त्री में विद्यमान नहीं है। अध्येत्रण्य अण का तो लोप हो चुका है, प्रत्ययलक्षण हो नहीं सकता है क्योंकि अण् जो अकार इस

व्याख्यान से वर्णाश्रय होने में 'वर्णाश्रय नास्ति प्रत्ययलक्षणं' से निषेध हो जायेगा। अद्ध्येतृ अर्थ में रहने वाली स्त्रीत्व को लेकर प्रोक्तार्थक अण् निमित्तक की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि स्त्रियाम् गृह्यमाण का विशेषण है। वह अण् इस स्त्रीत्व में (अद्ध्येतृगत स्त्रीत्व) विद्यमान नहीं है। प्रोक्त अण् का अध्येतृगत स्त्रीत्व में न होने से ही काशिकृत्स्ना ब्राह्मणी में ङीप नहीं होता है। (काशिकृत्स्नि आचार्य से कहीं मीमांसा को पढ़ने वाली) प्रोक्त अर्थ में विद्यमान स्त्रीत्व को लेकर फिर ङीप नहीं होता है। क्योंकि लक्ष्य में लक्षण एक बार ही लगता है इसलिये 'बहुकुरुचरा' ही अनुपसर्जनाधिकार का व्यावर्त्य है। वहाँ तदन्तनिधि के बिना प्राप्ति भी नहीं है। तदन्तविधि के ज्ञापन करने पर प्राधान होने से (प्रधानप्रधानयो प्रधाने कार्य सम्प्रत्या) और अनुपसर्जनाधिकार के आरम्भ से स्त्रियाम् ङीप प्रकृति (प्रातिपदिक) का ही विशेषण है। गृह्यमाण प्रातिपदिक से तदन्तविधि स्वीकार करने से धीवानमतिक्रान्ता विग्रह में अतिधीवरी की सिद्ध होती है। अन्यथा वन्नन्त तदापि के न होसे से सिद्ध नहीं होती। अनुपसर्जनाधिकार से 'रनो रच' में दो तदन्तविधि होती है। वन्नन्त धीवर और वन्नन्तान्त अतिधीवर होता है। इस तरह से आपिशला भी अनुपसर्जनाधिकार का भी व्यावर्त्य है। अनुपसर्जनात् तो आरम्भ सामर्थ्य से गृह्यमाण बादी विशेषण है। तात्पर्य यह है कि तदन्त प्रातिपदिक तो सर्वत्र अनुपसर्जन ही रहेगा।

तदन्तविधिमिति। अण्णन्तादेः प्रातिपदिकविशेषणत्वेनाण्णन्तान्तमित्येवंरूपमित्यर्थः। अन्यथा प्रत्ययविधौ प्रतिषेधात्स दुर्लभः स्यात्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषालभ्यस्य तु नायं निषेधः (२) प्रातिपदिकादित्यनेन सहान्वयापत्तेः। (३) तत्फलं कौम्भकारेयसिद्धिः। अन्यथा कुम्भकारेय इत्यापद्येत। कुम्भेन समासे ङीपि कुम्भविशिष्टस्यापत्येन योगे कार्यर्थं तदयोगस्य वक्तुमशक्यत्वात् कदाचित्ततोऽपि ढकि कुम्भशब्दोकारे वृद्ध्यभावस्याप्यापत्तेः। निष्कृष्यैकार्थीभाव एव वृत्तिनिमित्तमिति तु वक्तुमशक्यम्। 'तद्धितार्थ' (२।१।५१) इत्युत्तरपदे समासविधानात्समुदायेनैकार्थीभावेऽवयवेनापि तस्यैव सत्त्वात्। कृद्ग्रहणपरिभाषायाः (४) कृन्मात्रग्रहणे प्रवृत्त्या न तथा विशिष्टादेव ङीबुत्पत्ति प्रत्याशा।

तदन्तविधिमिति। अण्णन्तादि को प्रातिपदिक के विशेषण होने से अण्णन्तान्त अर्थ होता है नहीं तो प्रत्ययविधि तदन्तविधि के निषेध होने से उक्त अर्थ नहीं होता। प्रत्ययग्रहण परिभाषा से प्राप्ति का तो यह निषेध नहीं है। क्योंकि प्रातिपदिक के साथ अन्वय नहीं होता। यद्यपि अण् रूप प्रातिपदिक अ शब्द से 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय करने पर प्रकृतिभूत अकार के लोप होने पर सम्भव है। परन्तु डादियो को सम्भव नहीं है कौम्भकारेय की सिद्ध ही द्वितीय तदन्तविधि का फल है। नहीं तो

कुम्भारेया होने लगता। कुम्भ से समास करने पर ङीप होने पर कुम्भ विशिष्ट का अपत्य से योग होने से कार्यी से उसका योग नहीं है। यह कहना कठिन है। कभी केवल कार्यी से ढक करने पर कुम्भ शब्द के उकार को वृति का अभाव होने लगेगा। उतना एकार्थी भाव ही वृत्ति का निमित्त होता है। यह कहना तो उचित नहीं है क्योंकि 'तद्धितार्थ' सूत्र से उत्तरपद परे रहते समास करने से समुदाय से एकार्थी भाव होने पर अवयव से भी एकार्थी भाव का होना सम्भव है। 'कृद्ग्रहणेगति' इत्यादि परिभाषा कृद् को उच्चारण करके जहाँ कार्य होता है वहाँ ही प्रवृत्ति होती है, इसलिये उससे भी समुदाय से ङीप उत्पत्ति की आशा दुराशा मात्र है।

न च तदन्तग्रहणेऽपि कारशब्दस्य व्यपदेशिवद्भावेनाण्णन्तान्तत्वात्तोऽपि कदाचिन्ङीपि कुम्भकारेयो दुर्वारः। किञ्च समुदायान्ङीप्यपि स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमाभावेन केवलादपि कदाचिड्ढकि स दुर्वार इति वाच्यम् एतदधिकारादेव ज्ञापकादसहाय एव व्यपदेशिवद्भावप्रवृत्तेः, अर्थवत्सूत्रोक्तार्थवत्त्वाभावेनाणन्तस्यप्रातिपदिकत्वाच्च, तदादिनियमाभावेनाधिकस्य कार्यं बोद्ध्यते, न तु न्यूनस्येत्यदोषाच्च। अन्यथा तदन्तग्रहणे फलाभावेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। एतदेवाभिप्रेत्यात्र भाष्ये उक्तं 'समासे च कृतेऽवयवादुत्पत्तावक्यवस्य। वृद्धिः स्यात्' इति। 'येन विधिः' [१।१।७२] इति सूत्रे च प्रत्ययग्रहणे तदादितदन्तविधेः प्रयोजनं 'गार्ग्यायणः' 'परमगार्ग्यायणः' इति उक्तं भाष्ये। तत्रैकदेशात्प्रत्ययाभावे परमश्चासौ गार्ग्यायण इति तदर्थो वाच्यः। तथा सति नैव परमगार्ग्यात्प्रसक्तिरिति तत्प्रयोजनत्वोक्तिरसङ्गता स्यात्। मम तु परमगार्ग्यस्यापत्यमित्यर्थेऽप्युक्तन्यायाद् गार्ग्यशब्दादेव प्रत्ययो न तु परमगार्ग्यात्, तथा सति 'पारमगार्ग्यायण इति स्यात्' इति तत्प्रयोजनत्वोक्तिसङ्गतिः। कैयटोऽपि 'तदादिनियमावश्यकत्वप्रदर्शनाय परमगार्ग्यायण इत्युपन्यासः' इत्युक्तवान्। यत्तु सर्वादिसूत्रे भाष्ये 'अनुपसर्जनादित्येष योगः प्रत्याख्यायते' इत्युक्तं, तत्त्वत्र वार्त्तिककृता तस्य प्रत्याख्यानात्तदभिप्रायकमिति भाष्यप्रदीपोद्द्योते विस्तरः।

अब यहाँ शंका करते हैं कि तदन्त ग्रहण होने पर भी व्यपदेशिवद्भाव से कार को अणन्त मानकर उससे भी ङीप करने पर कुम्भकारेयः प्रयोग दुर्वार है और समुदाय ङीप करने पर भी स्त्री प्रत्यय में तदादि नियम के न होने से केवल से भी कभी ढक करने पर कुम्भकारेयः होने लगेगा। उत्तर इस अधिकार से ही ज्ञापन करते हैं कि असहाय (केवल) में ही व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति होती है, प्रकृति में असहाय होने से नहीं होगी, और अर्थवत् सूत्र में कहे अर्थवत्व के अभाव से प्रातिपदिक भी

नहीं है। तदादि नियम न होने पर भी अधिक को ही कार्य होता है न्यून को नहीं होता है। इस प्रकार से अब कुम्भकारेयः नहीं होगा। नहीं तो तदन्त के ग्रहण में फल के अभाव में अनुपसर्जनाधिकार व्यर्थ ही है। यह जानकर ही भाष्यकार ने कहा है। समास करने पर अवयव से प्रत्यय होने पर अवयव को वृद्धि हो जायेगी। 'येनविधिः' सूत्र में प्रत्यय के ग्रहण में तदादि तदन्त विधि का प्रयोजन 'गार्ग्यायणः' परमगार्ग्यायणः कहा है। वहाँ अवयव से प्रत्यय के अभाव में परमश्चासौ गार्ग्यायणः उसका अर्थ कहना होगा। ऐसा करने पर परमगार्ग्य से प्रसक्ति नहीं है। फिर उसको प्रयोजन कहना असंगत होगा मेरे मत से तो परमगार्ग्यस्य अपत्यम् इस विग्रह में भी उक्त न्याय (प्रत्यय ग्रहणे) से गार्ग्य शब्द से ही प्रत्यय होगा, परमगार्ग्य से नहीं होगा। विशिष्ट से करने पर परमगार्ग्यायणः होने लगेगा। तब उस परिभाषा का प्रयोजन भी सिद्ध होता है। कैयट ने भी स्पष्ट कहा है कि तदादि नियम की आवश्यकता दिखाने के लिए परमगार्ग्यायणः का उल्लेख है। जो कि सर्वादि सूत्र के भाष्य मे 'अनुपसर्जनात्' सूत्र का प्रत्याख्यान करने से उक्त अभिप्राय वाला है। विशेष इसका विस्तार भाष्य प्रदीप उद्योत में है।

टिड्ढा (४।१।१५)। ठेत्येव सिद्धे ठक्ठञोरुपादानं ठन्ठिठयोर्व्यावृत्त्यर्थम्। अदन्तमिति। प्रत्यासत्त्या टिदाद्यवयवाकारान्तमित्यर्थः। तेन 'पञ्चाश्वा' इत्यादौ ठग्निमित्तोऽपि न ङीप्। कुरुचरीति। कुरुषु चरतीत्यधिकरणे उपपदे चरेष्टः। टितोऽप्रत्ययस्यापि सत्त्वात्प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया अप्रवृत्त्याऽत्र टिदन्तत्वं कुरुचरशब्दस्येति बोध्यम्।

टिड्ढा। केवल ढ कहने से ही कार्य सिद्ध था, फिर ठक् ठञ का ग्रहण ठन् और ठिठ् की व्यावृत्ति के लिए है। अदन्तमिति। सामीप्य होने से टिदादि का अवयव अकारान्त अर्थ है। इससे पञ्चाश्वा में ठक् को निमित्त मानकर होने वाला भी ङीप नहीं होता है क्योंकि प्रत्यय के लुक् होने पर अकार प्रत्यय का अवयव नहीं है। कुरुचरीति। कुरुषुचरति विग्रह में अधिकरण उपपद होने पर (चरेष्टः) से ट् प्रत्यय होता है। टित अप्रत्यय भी होता है, इसलिए प्रत्ययग्रहण परिभाषा के अप्रवृत्त होने से यहाँ कुरुचर शब्द में टिदन्तत्व है।

वक्ष्यमाणेति। वचेर्लृटः शामच्। टित्वादिति। स्थानिवत्त्वेनेत्यादिः। 'न ल्यपि' (६।४।६९) इति लिङ्गाट्टित्वादेरशास्त्रीयस्याप्यतिदेशः, अनुबन्धकार्ये 'अनल्विधौ' इतिनिषेधाप्रवृत्तिश्चेति भावः। ङित्वेनेति। लिङादेशानां स्थानिवत्त्वेनैव सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तद्धि अवयवेऽचरितार्थतया समुदायोपकारकम्। न चेदं ङित्वं 'स्तुयात्' इत्यादावनिग्लक्षणवृद्धिनिषेधार्थमिति वाच्यं विनिगमनाविरहात् उत औदिति वक्तव्ये वृद्धिग्रहणेन

स्थानिनिर्देशेऽपीक्परिभाषोपस्थित्यातस्या अपि इग्लक्षणत्वाच्च ।

वक्ष्यमाणेति । वच् धातु से लृट को शानच् होता है । टित्वादिति । इसके आदि में स्थानिवत्वादि आवश्यक है । 'न ल्यपि' के लिंग से अशास्त्रीय भी टित्वादि का अतिदेश होता है और अनुबन्ध कार्य में 'अनल्विधौ' निषेध की प्रवृत्ति भी नहीं होती है । ङित्वेनेति । लिंगादेशों को स्थानिवत् भाव से ही ङित्व सिद्ध था फिर यासुट का ङित् करना व्यर्थ ही है वह अवयव में चरितार्थ न होकर समुदाय का उपकारक है । यासुट का ङित्व 'स्तुयात' में अनिक लक्षण वृद्धि के निषेध के लिए है, यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि इसमें कोई विनिगमन नहीं है । उत् औत कहने से ही कार्य हो जाता, फिर वृद्धि ग्रहण से स्थानी के निर्देश होने पर भी इक् परिभाषा की उपस्थित होने से 'उतोवृद्धिः' भी इग् लक्षण है ।

नन्वेवं 'ब्रूतात' इत्यत्र ब्रुव ईट् प्राप्नोति लाश्रयानुबन्धकार्यस्य तदादेशेष्वभावेऽपि तिपः पित्त्वस्य तदादेशे तातङ्यभावकल्पने मानाभावादत आह—श्न इति । क्वचिदिति । लक्ष्यानुरोधेन च व्यवस्था ।

उक्त सिद्धान्त मानने पर 'ब्रूतात' में ब्रुव, ईट् की प्राप्ति होगी । लाश्रयानुबन्ध कार्यों का उसके स्थान में होने वाले आदेशों में अभाव होने पर भी तिप् को पित्व का उसके आदेश तातङ् में अभाव कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है । इसलिए उत्तर कहते है—श्न इति । क्वचिदिति । लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था करना ।

परे तु यासुटो ङित्त्वं न ज्ञापकं 'पिदर्थं ङित्त्वम् भाष्यात् । 'सार्वधातुकम्' (१।२।४) इति सूत्रेऽपिदित्यावर्त्य प्रसज्यप्रतिषेधसिद्धेन 'ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न' इत्यनेन 'हलः श्नः' (३।१।८३) इतिसूत्र भाष्योक्तेन पित्सु ङित्त्वाप्रसक्तेः । शानचः शित्त्वमपि तत्सूत्रे एव भाष्ये प्रत्याख्यातम् । हेरपित्त्वस्य तातङो ङित्त्वस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च ज्ञापकत्वे दूषणमप्युक्तं भाष्ये । तस्माद् 'वक्ष्यमाणा' इत्यादौ सत्यभिधानेऽजादिपाठाट्टाप ।

अब यहाँ नागेश का कथन है कि यासुट का ङित्व ज्ञापक नहीं है क्योंकि 'पिदर्थं ङित्वम्' (ङित्व पित्त्व के लिए है ।) ऐसा भाष्य में लिखा है । 'सार्वधातुकम्' सूत्र में अपित की आवृत्ति का नञ् को प्रसज्यप्रतिषेध मानने से ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न,' ङित, पित् नहीं होता है और पित् ङित् नहीं होता है ऐसा 'हलः श्नः' सूत्र में भाष्यकार ने कहा है इसलिए पित् में ङित्व की प्रसक्ति नहीं हो सकती है । शानच् के सित्त्व का भी उसी सूत्र के भाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया है । ज्ञापक मानने पर 'हि' का अपित्व और तातङ् का ङित्व भी व्यर्थ हो जायेगा, यह दूषण भी भाष्य में कहा है । इससे यह सिद्ध हुआ कि वक्ष्यमाणा में ङीप होने लगेगा । उक्त प्रयोग का अनभिधान है, यदि अभिधान हो तो अजादि गण् में पाठ मानकर टाप् करना ।

यत्तु 'क्ङिति च' (१।१।५) इतिसूत्रभाष्ये यासुटो ङिद्वचनस्य न ङिदादेशानां ङित्त्वमित्यर्थे ज्ञापकतोक्ता, तत्तु वार्त्तिकमतम्, ङिच्च पिन्नेत्वादेस्तेनानुक्तेः। यदपि 'गाङ् लिटि' (२।४।४९) इति सूत्रे ङित्त्वं सानुबन्धकादेशेऽनुबन्धास्थानिवत्त्वस्य ज्ञापकमुक्तं वार्त्तिककृता; तदपि 'प्रयोजनाभावात् इत्यादिना भाष्ये दूषितमित्याहुः।

जो कि 'क्ङिति च' सूत्र के भाष्य में यासुर के ङित्व से ङ़ित के स्थान में होने वाले आदेशों में ङ़ित्व नही होता है– ऐसे अर्थ में ज्ञापकता कही है वह तो वार्तिक कार का मत हैं, क्योंकि 'ङिच्च पित्र' को उन्होंने नही कहा है जोकि 'गाड़ लिटि' सूत्र में गाड़् के ङित्व को सानुबन्धक आदेशों में अनुबन्ध का स्थानिवत् भाव नहीं होता है ऐसे अर्थ में ज्ञापक वार्तिक कार ने कहा है। उसका भी प्रयोजन के अभाव से कोई फल नहीं है।– कहकर भाष्य में नागेश का मत दूषित कर दिया है।

निरनुबन्धकस्य स्त्रियां वृत्तेरसम्भवात्सानुबन्धस्य ढको ग्रहणमित्याह– सौपर्णेयीति। सुपर्णीशब्दादपत्ये 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) इति ढक्। स्पष्टश्चेदम् (१)भाष्ये। ऐन्द्रीति। 'साऽस्य देवता' (४।२।१४) इत्यण्। (१)ऊरुदघ्नीत्यादि। प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्र चः। संख्याया अवयवे तयप्। मात्रजिति मात्रशब्दादारभ्यायचश्चकारेण (२) प्रत्याहार इति 'उभयी' इति सिद्धिः। (३)तत्र ह्ययच् प्रत्ययान्तरम्। अत एवोभयशब्दस्य जसि सर्वनामत्वविकल्पो नेति 'नवेति' [१।१।४४] इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। आक्षिकीति। 'तेन दीव्यति' [४।४।२] इति ठक्। 'तदस्य पण्यम्' [४। ४।५१] इत्यधिकारे [४]लवणाठ्ठञ्। यादृश्यां 'त्यदादिषु दृशः' [३।२। ६०] इति कञ्। इत्वरीति। 'इण्नशजि' [३।२।१६३] इति क्वरप्। अनुबन्धद्वयोपादानं स्पष्टार्थं वरज्व्यावृत्तेरन्यतरेणापि सिद्धेः [५]चौरीति। चुरा शीलमस्या इत्यर्थः।

निरनुवन्धक ढक की स्त्री में नृत्ति के न होने से अनुवन्ध विशिष्ट ढक का ग्रहण है। उदाहरण देते है सौपर्णेनीति सवर्णे शब्द से 'स्त्रीभ्य खक' से होता है, यह भाष्य में स्पष्ट में ऐन्द्रीति। साऽस्य देवता से अण् प्रत्यय है। ऊरुदहनीत्यादि। प्रमाणेद्वयसज्द घ्नञ्मात्रच: संख्याया अवयवे तयप्। मात्र शब्द के मकार प्रारम्भ करके अयच् के चकार तक मात्च प्रत्याहार है इसी से उभगी की सिद्ध होती है। वहाँ अयच् प्रत्यान्तर है त्यप् के स्थान में आदेश नहीं है। अन्य प्रत्यय मानने से ही उभय शब्द से जश् के परे सर्वनाम संज्ञा विकल्प से नही होती है यह सब नवेति के भाष्य में स्पष्ट है। आक्षिकीति। तेन दीव्यति से ढक प्रत्यय है। तदस्य पण्यम के अधिकार में

लवणादुञ से ठञ् होने पर लावण की सिद्ध होता है। यादृशी में त्यादिषु दृशः से कञ् प्रत्यय होता है। इत्वरीति। इण्नशजि से क्वरप् होता है दो अनुबन्धों का उच्चारण स्पष्टार्थं ही वरच् की व्यावृत्ति तो एक अनुबन्ध से भी हो सकती है –चौरीति चुरा शीलमस्या यह विग्रह है।

नञ्स्न [का० वा०] तरुणतलुनयोः 'वयस्यचरमे' [का० वा०] इति ङीपि सिद्धेऽपि गौरादिपाठात्परत्वात्प्राप्तेन ङीषा बाधाभावाय[६] पुनरत्र ग्रहणम्। तयोश्च स्वरे विशेषः। एतौ हि 'त्रि रश्चलो वा' [उ० सू० ३४१] इत्युनन्तत्वादाद्युदात्तौ। स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ। 'प्रहरणम्' [४।४।५७] इत्यधिकारे शक्तियष्ट्योरीकक्। 'आढ्यसुभग' [३।२।५६] इति ख्युन्।

यञश्च। [४।१।१६]। 'प्राचां ष्फ' [४।१।१७] इत्यत्र यञ एवानुवृत्तये योगविभागः।

नञ्स्न। तरुण और तल्कुन वयस्यचरम से ङीप सिद्ध होने पर भी गौरादि गण में पाठ होने से पर होने से प्राप्त ङीष का बाधा न हो इसलिए फिर उन दोनों का ग्रहण है। ङीप और ङीप के स्वर में भेद है यह दोनों त्नो रश्चलो वा' से उननन्त होने से ङित्व मानकर आद्युदात्त है। अन्य उदाहरणो की सिद्ध लिखते हैं। स्त्री पुंसम्यां नञ्स्नञौ।' नञ् और स्नञ् प्रत्यय है। प्रहरणम के अधिकार में शक्तिभष्टयोरीकक् से ईकथ् प्रत्यय। आठ्य सुभग से ख्युन प्रत्यय होता है।

मञश्च्। 'प्राचां ब्फ' में मञ् की ही अनुवृन्त के योग विभाग है।

हलस्त (६।४।१५०) हल इति पञ्चमी, यस्येति सूत्राद् 'ईति' इत्यनुवर्त्तते, 'सूर्यतिष्य' (६।४।१४९) इत्यतो 'य उपधाया' इति च। यलोपेऽल्लोपस्याभीयासिद्धत्वाद्यस्य ईकारपरत्वाभावाद्वचनसार्थक्यायोपधाग्रहणानुवृत्तिः। अनपत्याधिकारस्थादिति। अपत्याधिकारस्थभिन्नादित्यर्थः। यञ्शब्देन (१) व्याख्यानादपत्याधिकारस्थस्यैव ग्रहणमिति भावः।

हलस्त। हलः यह पंचमी है। यस्येति सूत्र से 'ईति' की अनुवृत्त होती है। सूर्यतिष्य से य और उपधा की अनुवृत्ति होती है। यकार के लोप में अल्लोप को आभीयासिद्धत्व होने से यकार को ईकार परत्व के न होने से वचन को (सूत्र) सार्थक करने के लिए उपधा ग्रहण की अनुवृत्ति ही अनपत्याधिकारस्पादिति। अत्याधिकारस्थ से भिन्न यह अर्थ है। यञ् शब्द से आपत्यग्रहणम् इत्यादि वार्तिक मूलक व्याख्यान से अप्रत्याधिकारस्थ का ही ग्रहण है।

(२) प्राचां स्फ (४।१।१७) यञ इति वर्त्तते, अत इति च। यञो

योऽकार इति चार्थः। तेन 'वतण्डी' इत्यत्रोदीचां मते सावकाशं शार्ङ्गरवादिङीनं बाधित्वा 'आवटयायनी' इत्यादाविव सर्वत्रग्रहणात्प्राचां मते प्राप्तोऽपि ष्फो न। अत्र हि 'वतण्डाच्च' (४।१।१०८) इति यञो 'लुक् स्त्रियाम्' (४।१।१०९) इति लुक्, वर्णाश्रयत्वाच्च न प्रत्ययलक्षणम्।

प्राचां स्फ। यञ्: और अतः की अनुवृत्त होती है। यञ् का जो अकार यह अर्थ है जिससे 'वतण्डी' में उदीचो के मत में सावकाश शार्ङ्गरवादिङीन को बाधकर 'आवटयायनी' की तरह सर्वत्र ग्रहण से प्राचीनो के मत में प्राप्त भी स्फ नहीं होता है। वतण्डी में (वतण्डाच्च) से विहित यञ् का लुक्स्त्रियाम् से लुक् होता है। वर्णाश्रय होने से प्रत्यय लक्षण नहीं होता है।

षः प्रः (१।३।६)। 'आदिर्ञिटुडवः' (१।३।५) इति सूत्राद् आदिरित्यनुवर्त्तते। प्रत्ययस्येति किम्? षोडश। 'षष उत्वम्' (का० वा०) इत्यत्र षष्शब्दस्य निपातनादुपदेशस्थोऽयं षकारः। वस्तुत उपदेशे इत्यस्य स्वरितत्वमेव नेति पूर्वं निरूपितम्। आदिरिति तूत्तरत्रावश्यकमुपरञ्जकतयाऽत्रापि सम्बन्धितम्।

षाप्र। आदिर्ञिटुगवः' सूत्र से आदि की अनुवृत्ति होती है। यदि इस सूत्र में प्रत्ययस्य न होता तो षोडश में भी इत्संज्ञा होने लगती 'षष् उत्वम् में षष् शब्द के निपातन होने के यह षकार उपदेश में स्थित है। विचार करने पर तो यहाँ उपदेशे की अनुवृत्ति स्वरितत्व के अभाव में नहीं होती है। आदि की अनुवृत्त की आगे आवश्यकता होने से उपरंजक रूप से यहाँ भी इसका सम्बन्ध है।

आयने (७।१।२)। आयनो नस्य नेत्त्वम्, फिनो नित्करणात्। तत्साहचर्यादीनोऽपि नस्य नेत्त्वम्। आदिग्रहणं किम्? उरुदघ्नम्। प्रत्ययेति किम्? फक्कति, खनति। खच्घञादौ 'घिण्यतोः' 'खित्यनव्ययस्य' (६।३।६६) इत्यादिलिङ्गादित्तसञ्ज्ञैव नादेशाः उणादीनां बहुलवचनान्नादेशाः। (१) घचश्चित्त्वसामर्थ्यादेते प्रत्ययसन्बन्ध्यादेशा उपदेशसन्नियोगशिष्टकार्यादपि पूर्वमेव। तेनान्तोदात्तत्वाय चित्त्वं सफलम्। अन्यथाऽऽद्युदात्तत्वेनैव सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। ननु स्त्रियामेव ष्फविधानाद् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति ङीष् न स्यादत आह—षित्त्वसामर्थ्यादिति।

आयने। फिन को नित् करने से आयन के नकार की इत्संज्ञा नहीं होती है। उसके साहचर्य से ईन् के नकार के भी इत्संज्ञा नहीं होती है। आदि ग्रहण के अभाव में अरुदघ्नम् में भी घ को इ प्रत्यय होने लगता। प्रत्यय के अभाव में फक्कति, खनति, इत्यादि धातुओं में भी हकार और खकार को आदेश होने लगते। खञ, घञ,

आदि में घिण्येत: खित्यनव्ययस्य इत्यादि लिंग से इत्संज्ञा ही होती है। आदेश नहीं होते हैं उणादि प्रत्ययो में बहुल ग्रहण से आदेश नहीं होते हैं वास्तव में ऋते सीयङ के स्थान में छंङ के करने से और ईय आदेश से ऋतोयते की सिद्ध हो जाती फिर ईयङ विधान व्यर्थ होकर नियम करता है कि धातु से विहित प्रत्ययों को आयनादि आदेश नहीं होते है उक्त नियम से ही घञ, खच् उणादि आदि में आदेश नहीं होंगे। खच् के चित्व करने से ये प्रत्यय सम्बन्धी आदेश उपदेश सन्नियोग विशिष्ट कार्य से भी पूर्व होते हैं इससे अन्तोदात्त करने के लिए चित्व सफल हुआ नहीं तो आद्युदात्त होने से सिद्ध भी चित्व का वैयर्थ्यं स्पष्ट ही है स्फ प्रत्यय स्त्री में होता है तब उक्तार्थ का प्रयोग न होने से ङीष नहीं होना चाहिये इस शंका का उत्तर देते हैं षित्व-सामर्थ्यानिति।

ष्फेणोक्तेऽपीति। द्योतितेऽपीत्यर्थः। 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति न्यायेन क्वचित्समुच्चयस्य दृष्टत्वात्। षित्त्वमपि तदाश्रयणे ज्ञापकम्।

ष्फेणोक्तेऽपीति। इसका अर्थ द्योतिता है क्योंकि स्त्री प्रत्यय के प्रत्यय द्योतक ही है वाचक नहीं है पूर्व में लिखा भी है 'स्त्रीत्वद्योत्वे। दुर्बद्धं सुबद्धं भवति न्याय से व्यतिलुमीयते इत्यादि में समुच्चय भी देखा जाता है षित्व भी उस न्याय के आश्रयण में प्रमाण है।

सर्वत्र (४।१।१८)। सर्वेषां मते इत्यर्थस्तदाह–नित्यमिति। प्राचामित्यस्य निवृत्त्यानित्यत्वे सिद्धेऽपि 'प्राचां ष्फ' (४।१।१७) इत्यस्य सर्वत्र-ग्रहणापकर्षेण बाधकविषयेऽपि प्रवृत्त्यर्थं (२)तत्। तेन 'आवट्यायनी' इत्यत्र 'आवट्याच्च' (४।१।७५) इति चापं बाधित्वा प्राचां मते ष्फ एव। अवटो गर्गादिः। चाप्तु उदीचां मते प्राप्तङीब्बाधनेन चरितार्थः। सर्वत्र-ग्रहणात्तद्बाधकत्वमेव चापो न नु अनन्तरष्फबाधकत्वम्। चापि कृते तु न ष्धप्राप्तिरत इत्यधिकारात्। लोहितादिर्गर्गाद्यन्तर्गणः। यद्यपि तत्र कतशक-लकण्वेति पाठात् शकलस्य लोहितादिकण्वादिबहिर्भूतत्वात् ष्फाणो न ततः प्राप्नुतस्तथापि कतन्तेभ्यः कण्वादिभ्य इत्युभयत्रापि षष्ठीतत्पुरुषबहुव्रीह्यो-रेकशेषेण न दोषः। कतन्तशब्दे शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्। तेन 'शाकल्या-यनी' शाकल्यस्य छात्राः 'शाकलाः' इति सिद्धम्। टाप्ङीषोरिति। कौर-व्यशब्दे योषधप्रतिषेधाट्टाब्, माण्डूकशब्दे जातित्वान्ङीषिति भावः। टाब्-ङीपोरपवाद इति पाठस्तु प्रामादिकः।

सर्वत्र। अर्थात् सभी के मत में इसी को स्पष्ट करते हैं।– नित्यमिति। प्राचां निवृत्ति होने से नित्य सिद्ध होने पर भी प्राचां स्फ के सर्वत्र ग्रहण के अपकर्ष

से बाध के विषय प्रवृत्त के लिये सर्वत्र ग्रहण है। इससे आवटयायनी में आवस्याच्च से प्राप्त चाप का बाध करके प्राचीनो के मत में ष्फ ही होता है। अवर गर्गादि में है। चाप् तो उदीचो के मत में प्राप्त ङीप के बाध करने से चरितार्थ है सर्वत्र ग्रहण करने से चाप् ङीप का ही बाधक है अनन्तर ष्फ का बाधक नहीं है चाप् करने पर तो ष्फ की प्राप्ति नहीं है क्योंकि अतः का अधिकार है। इससे दीर्घ से प्राप्त नहीं है लोहितादि गर्गादि का अन्तगण है। यद्यपि वहाँ कत् शकल कण्वेति पाठ होने से शकल को लोहितादि और कण्वादि से प्रथक होने से ष्फ और अञ् की प्राप्ति नहीं है तो भी कतन्तदेभ्य, कण्वादिभ्यः दोनों षष्टी तत्पुरुष और बहुव्रीहि का एक शेष स्वीकार करने से दोष नहीं है। कतन्त शब्द में कतअत्त इस अवस्था में शकल ध्वादि मानकर पर रूप है इससे शाकल्यायनी और शाकला:' शाकल्यस्य छात्रा सिद्ध होते हैं टापङीपोरिति। कौरव्य शब्द योपध के प्रतिषेध होने से टाप्, और मण्डूक शब्द में जाति होने से ङीप समझना चाहिये टाब्ङीपोरपवादः यह पाठ तो प्रामादिक है।

वयसि (४।१।२०) प्राणिनां कालकृतावस्थाविशेषो वयः। वयसीत्यस्य वयोरूपे प्रवृत्तिनिमित्त इत्यर्थस्तदाह-प्रथमवयोवाचिन इति। तेन उत्तानशया' इत्यादौ न। प्रकरणादिना वयःप्रतीतावपि नायं तद्वाचकः याऽपि व्याध्यादिवशादुत्ताना शेते तस्या अपि प्रतीतेः। 'द्विवर्षा' इत्यादिरपि न वयोवाची शालादावपि प्रयोगात्। कौमारयौवनवृद्धत्वभेदात् त्रीणि वयांसि, आयुषश्चतुर्भिर्भागैश्चत्वारि वा। त्र्यनीका समाहारे 'तद्धितार्थ' (२।१।५१) इति द्विगुः। अकारान्तोत्तरपदत्वात्।

वयसि। प्राणियों की समय कृत अवस्था, विशेष का नाम वय। वयस का अर्थ वयोरूप प्रवृत्ति निमित्त होने में हैं जैसा कि लिखा है– प्रथम वयो वाचिन। उक्त अर्थ करने से उत्तानशया इत्यादि में नहीं होता है। यद्यपि प्रकरणादि से अवस्था की प्रतीति होती है। तथापि वय वाचक नहीं है। उत्तानशया का अर्थ है चित्त सोने वाली) उक्त प्रकार का शयन बाल्यावस्था में होता है ऐसा नहीं क्यों कि व्याधि के कारण भी चित्त सो सकती है। द्विवर्षा इत्यादि भी बयोवाची नहीं है क्योंकि शाल आदि में भी इस प्रकार का प्रयोग होता है। कौमार, यौवन, वृद्धत्व के भेद से अवस्था (वय) तीन प्रकार की होती है। जैसा कि लिखा है।— पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे नस्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति। आयु के चार विभाग करने से चार प्रकार की भी वय हो सकती है जैसा कि कहा है–प्रथमे वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किम करिष्यत। त्र्यनीका समाहारे तद्धितार्थं से द्विगु समास होता है अकारान्त उत्तर पद होने से स्त्रीलिंग होता है।

(१) अपरिमाण (४।१।२२)। अत्र परिमाणशब्देन 'परिमाणन्तु सर्वतः' इति पारिभाषिकमेव गृह्यते। 'सुवर्णबिस्तौ हेम्नोऽक्षे कम्बल्यमूर्णापलशतम्' इति कोशबलेकोन्मानभूतबिस्तकम्बल्यग्रहणन्तु उन्मानस्य चेद्बिस्तकम्बल्योरेवेति नियमार्थम्। तेन द्विनिष्की सिद्धा। द्वे वर्षे भूता, द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतेत्यर्थे द्विशता, तिर्यङ्माने द्विहस्ता भित्तिरित्यादौ च निषेधः सिद्धः। 'काण्डान्तात्' (४।१।२४) इति तु क्षेत्रे एवेति नियमार्थम्। तेन द्विकाण्डी रज्जुरित्यत्र। द्वौ बिस्तौ पचतीति। पचेर्द्रवीभावानुकूलो व्यापारोऽप्यर्थः। अत्रौन्मानत्वाट्ठको लुक् 'आचितः शाकटो भारः' इत्युक्तेराचितः परिमाणमित्येके। 'आचितो दश भाराः' स्युःइत्युक्तेरुन्मानमेतदिति एतदपि नियमार्थमित्यन्ये।

अपरिमाण। यहाँ परिमाण शब्द मे 'परिमाणन्तु सर्वतः' (नापने का पात्र) यह परिभाषिक ही लिया जाता है। 'सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽक्षे कम्बल्य मूर्णापलशतम्' सुवर्ण के तौल सुवर्ण और विस्त का प्रयोग होता है। उनके सौपल को कम्बल्य कहते है। (पल पांच तोले का होता है) इस कोश के बल से उन्मान रूप बिस्त और कम्बल्य की हो इस नियम के लिए है उक्त नियम से द्विनस्ली की सिद्ध होती है। अर्थात यहाँ निशेलन ही होता है। (निष्क $1\frac{1}{4}$ तोले को कहते हैं) द्वे वर्षे भूता, द्वाभ्यांशताभ्यां क्रीता इस अर्थ में द्विवर्षा, द्विशता, और तिर्यङ्मान में द्विहस्ताभित्तिः इत्यादि में निषेध सिद्ध हुआ। 'काण्डान्तात्' तो क्षेत्र में ही हो इस नियम के लिये है इससे द्विकाण्डी रज्जु में नहीं होता है। दौ बिस्तौ पचतीति। पच् धातु का द्रवीभावानुकूल व्यापार भी अर्थ है। (द्रवीभाव पतला टिगलना) यहाँ उन्मान होने से ठक् लुक् होता है। 'आचितः शाकटोभारः' इस कथन से आचित परिमाण है यह किसी का मत है। ('शाकटोभारः' अर्थात् एक गाड़ी का बोझा) 'अचितो दश भाराः स्युः' के अनुसार यह उन्मान है। यह भी नियमार्थ है। ऐसा किसी का मत है।

प्रमाणे इति। षोडशहस्तप्रमाणदण्डवाचककाण्डशब्दस्याऽऽयाममात्रपरिच्छेदकत्वेन प्रमाणत्वमिति भावः।

प्रमाणे इति। सोलह के हाथ के प्रमाण वाले दण्ड का वाचक काण्ड शब्द को आयाम् (दैर्ध्य) मात्र के परिच्छेदक होने से प्रमाणत्व है।

पुरुषात्प्रमाणे (४।१।२४)। पुरुषस्योर्ध्वाधरदिगवस्थितवस्तुमात्रपरिच्छेदकत्वेनोन्मानत्वाद् उन्मानस्य चेद् बिस्तादेरेवेति नियमान्निषेधाप्राप्त्या नित्यं ङीषि प्राप्ते विकल्पार्थमिदम्। अत्र प्रमाणशब्दः परिच्छेदकमात्रपरो न त्वायामपरिच्छेदकवाची। अत एव तस्य पुरुषविशेषणता नास-

ङ्गता। जातिवचनस्यापि पुरुषशब्दस्य 'पञ्चारत्निः पुरुषः' इति शुल्बसूत्रादत्र प्रमाणे इति विशेषणाल्लोकव्यवहाराच्च परिच्छेदकवाचित्वमपि। द्विपुरुषीति। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या इत्यर्थे 'तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७) इति प्रत्ययस्य 'अद्ध्यर्द्ध' (५।१।२८) इति लुकि उदाहरणम्। तत्र हि परिमाणशब्देन (१)उत्तरसूत्रानुरोधात्परिच्छेदकमात्रस्य ग्रहणमिति सिद्धान्तः।

पुरुषात्प्रमाणे। पुरुष को ऊपर नीचे दिशा में स्थिति वस्तु मात्र परिच्छेदक होने से उन्मान होने के कारण उन्मान को यदि हो तो विस्तादियों को ही इस नियम से निषेध की अप्राप्ति होने से ङीप पाया था यह सूत्र विकल्प के लिए है यहां प्रमाण शब्द नाम मात्र के लिए है केवल दैर्घ्य रूपी परिच्छेद का ही कहने वाला नहीं है। परिच्छेदक मात्र परक मानने से प्रमाण की पुरुष में विशेषता भी संगत होती है यद्यपि पुरुष शब्द जातिवाची है तथापि 'पञ्चारत्निः पुरुष' (पांच हाथ का पुरुष) इस शुल्ब सूत्र से प्रमाण इस विशेषण से और लोक व्यवहार से परिच्छेदक वाची भी है। द्विपुरुषीति। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या (दो मनुष्यों के बराबर) इस अर्थ में 'तदस्य परिमाणम्' से विहित प्रत्यय का 'अद्धयर्द्ध' से लुक् होने पर उदाहरण है। वहाँ परिणाम शब्द से उत्तर सूत्र के अनुरोध से परिच्छेक मात्र का ग्रहण है संख्यायाः संज्ञा' इस उत्तर सूत्र में विद्यमान संख्या से समानाधिकरण्य होने से।

ऊधसो [५।४।१३१] समासान्तोऽयम्। तत्र स्त्रियामित्युपसङ्ख्यानादाह-स्त्रियामिति। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' (५।४।११३) इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवर्त्तते। ङित्वाच्चस्याऽऽदेशत्वम्। ङाच्ङीब्निषेधेष्विति। समासान्तानामलौकिके वाक्ये एव प्रवृत्त्या पूर्वमनङ्येषां प्राप्तिः। 'अन उपधालोपिनः' (४।१।२८) इत्यत्रास्यनुवृत्त्या ङीपोऽपि बाधः। एतेन मद्धयेऽपवादन्यायाड्डाब्निषेधयोरिदं बाधकमित्यपास्तमिति भावः। ङीषिति। ङीपि तु कुण्डोधन्शब्दे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण धकाराकारस्यानुदात्तनिवृत्तिस्वराप्राप्त्याऽन्तोदात्तत्वान्न सिद्ध्येत्। कुण्डामिवोधो यस्या इति विग्रहः। बहुव्रीहेः किम्? ऊधः प्राप्ता प्राप्तोधाः 'प्राप्तापन्ने च' (२।२।४) इति समासः। अव्ययग्रहणानुवृत्तेरिति। 'अल्वरितत्वादिति भावः। विषेधावपीति। अपिवा 'अन उपधा' (४।१।२८) इति ङीप्। अन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणात्। द्विहायनी बालेति। 'द्विहायनी द्विवर्षा गौः' (अ० को०) इति प्रायोवाद इत्येके।

'बाला' इत्यस्य गौरित्यर्थ इत्यन्ये।

ऊधसो ।। यह अनङ् समासान्त है । वहां स्त्रियाम् के कहने से कहते हैं स्त्रिया-म्मिति । 'बहुव्रीहो शवथ्यक्ष्णो:' से बहुव्रीहौ की अनुवृत्ति होती है । ङित होने से अनङ् आदेश है । ङाब्ङीब् निषेधेष्विति । समासान्त अलौकिक वाक्य में ही प्रयुक्त होते हैं । इसलिए अनङ् करने पर इनकी प्राप्ति है । 'अनउपधालोपिन:' में इसके अनुवृत्ति होने से ङीप का भी बाध है । उक्त कथन से मद्वयेऽपवादन्याय से डाप् और निषेध का ही यह बाधक है यह कहना भी असत्य है । ङीषिति ङीप करने पर तो कुण्डा धन शब्द में पूर्वपद प्रकृतिस्वर से धकार के अकार को अनुदात्त होने से उदात्त-निवृत्ति स्वर प्राप्ति न होने से अन्तोदात्त सिद्ध नहीं होगा । इसका तात्पर्य यह है कि ङीप पितृ होने से अनुदात्त है उसके परे अनुदात्त धकार कार का लोप हुआ है । इस लिए उदात्त निवृत्ति स्वर की प्राप्ति नहीं है । जिस अनुदात्त के परे उदात्त का बोध होता है वहाँ उस स्वर की प्राप्ति होती है । यहाँ ई और अकार दोनों ही अनुदात्त है ङीप में तो प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त सिद्ध है । कुण्ड के समान है ऊध (ऐध) जिसका यह अर्थ है बहुव्रीहि के अभाव में अध: प्राप्न विग्रह में 'प्राप्तापन्ने च' से समास करने पर निष्पन्न प्राप्तोधा: में होने लगता । अव्ययग्रहणाननुवृत्तेरिति । अस्वरित होना ही कारण है । निषेधावपीति । अपि से 'अन् उपधा' से विहित ङीप का ग्रहण है क्योंकि 'अन् के ग्रहण में अनर्थक का भी ग्रहण होता है । द्विहायनी बालेति । 'द्विहायनी द्विवर्षा-गौ:' इसको कोई प्रायोवाद कहते हैं । अन्य आचार वाला का अर्थ गौ करते है ।

नित्यं सञ्ज्ञा (४।१।१९) । ननु सञ्ज्ञाशब्दा नियतानुपूर्वीका अनादय:, छन्दसि च दृष्टस्यैव विधानमिति ङीबभावविशिष्टस्य तत्र प्रयो-गासम्भवाद् 'अन उपधा' [४।१।२८] इत्येव सिद्धे इदं व्यर्थमिति चेदुत्तरा-र्थत्वात् । योगविभागस्तु व्यर्थ एव । तद् ध्वनयन् लक्षणान्तरसिद्धमुदाह-रति—वेदे पञ्चदाम्नीति केचित्तु 'शतमूर्ध्नी' इति पाठ: ।

नित्यं संज्ञा । संज्ञा शब्द नियत आनुपूर्वी वाले अनादि है । और वेद में दृष्ट ही विधान होता है, वहाँ ङीप के अभाव वालों का प्रयोग सम्भव होने से 'अन उपधा से सिद्ध होने से यह व्यर्थ है । इस शंका का उत्तार करते हैं कि उत्तारार्थ है । और योग विभाग तो व्यर्थ ही है । इसी को स्पष्ट करते हुए अन्य सूत्र में सिद्ध उदाहरण देते हैं—वेदे पञ्चदाम्नीति । कहीं शतमूर्ध्नी भी पाठ है ।

केवलमामक [४।१।३०] । अस्मच्छब्दादणि 'तवकममकावेकवचने' [४।३।३] इति ममकादेश: । भागशब्दात्पुँल्लिङ्गात्स्वार्थेऽभिधेये स्वार्थिकेषु लिङ्गातिवृत्तेरपि सत्त्वात्स्त्रीत्वम् । पापशब्दोऽर्शआद्यचा तद्वति वर्त्तमान: स्त्रियाभ् । अपर: पवर्गमध्यो घृतादित्यादन्तोदात्त: । 'उतापरं यक्षिदेवान्'

इत्यादौ 'उतापरीभ्यो मघवा' इत्यादौ चान्तोदात्तपाठात् । पूर्वमनयन्नापरम्' इत्यादौ पठ्यमानमाद्युदात्तत्वमपि वृषादित्वात् । 'अपराः पूर्वामभ्येति' इत्यादावजादिपाठाट्टाबपि । आर्येण कृतेति प्राक् सुबुत्पत्तेः समासेऽदन्तत्वम् । भेषजशब्दोऽव्युत्पन्न औषधे रूढः । भिषज इदमित्यणि भैषजशब्दोऽपि तत्र । सुमङ्गलीरियं वधूरिति तु मत्वर्थीये ईप्रत्यये बोद्धयम् ।

केवलमामक । असमद शब्द से अण् प्रत्यय करने पर 'तवकममकावेकवचने' से ममक आदेश होता है । पुंल्लिग भाग शब्द से स्वार्थ वाच्य होने पर स्वार्थिक प्रत्ययों में लिंग के परिवर्तन से स्त्रीलिंग हैं । पाप शब्द में अर्शादि अच् से पाप वाले के होने से स्त्री में वर्तमान है । पवर्ग मध्य वाला अपर शब्द 'घृतादिनाञ्च से अन्तोदात्त है । 'उतापरं यक्षिदेवान्' इत्यादि में और 'उतापरीभ्योमघवा' इत्यादि में अन्तोदान्त पाठ मिलता है । पूर्वमनमन्नापरं में आद्युदात्त पाठ भी मिलता है । वहाँ 'वृषादिनाञ्च से आद्युदात्त होगा ।

'अपराः पूर्वामभ्येति' इत्यादि में अजादि मानकर टाप् भी होता है । आर्येण कृता इस विग्रह में सुप् की उत्पत्ति से पूर्व समास करने पर अदन्त है अव्युत्पन्न भेषज शब्द औषध में रूढ है । भिषज इदम् विग्रह में 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय करने पर सिद्ध भैषज शब्द भी औषध को कहता है । सुमंगलीरियं वधूः मध्वर्थीय ईप्रत्यय सिद्ध है ।

प्रकृति भागाविति । [१]नुक्सन्नियोगेनेति भावः । मतुबिति । वत्वन्तु 'मादुपधाया' [८।२।९] इति सिद्धम् ।

यज्ञेन सम्बन्ध इति । स्त्रिया इत्यर्थः । संयोगपदं सम्बन्धोपलक्षणम्, सम्बन्धश्च यज्ञफलप्रतियोगिकैश्वर्यवत्त्वं तदाह–तत्कर्तृकेति ।

प्रकृति भागाविति । नुक् के संयोग से जानना । मतुबिति । वत्व तो 'मादुपधायाः' से सिद्ध है । यज्ञेन सम्बन्धइति । स्त्री का । संयोग पद सम्बन्ध का उपलक्षण हैं । वह सम्बन्ध यज्ञ का फल है प्रतियोगी जिसका ऐसा ऐश्वर्यत्व ही है । सम्बन्ध का एक प्रतियोगी होता है और एक अनुपयोगी होता है । जिसका सम्बन्ध होता है वह प्रतियोगी होता है और जिसमें सम्बन्ध रहता है वह अनुपयोगी होता है । वही लिखा है– तत्कर्तृकेति ।

विभाषा (४।१।३४) सहशब्दो विद्यमानवाची, पूर्वशब्दोऽवयववाची, व्याख्यानात् । तत्र केवलपतिशब्दस्य विद्यमानपूर्वावयवत्वासम्भवादव्यभिचाराच्च पतिशब्देन तदन्तं गृह्यते इत्याह–पतिशब्दान्तस्येत्यादि । न पत्युरिति । सपूर्वस्येत्यनेन पत्यन्तस्य गृह्यमाणत्वादिति भावः । बहवो वृषलपतयो यस्या इति कर्मधारयोत्तरपदबहुव्रीहौ वारणायेहार्थोऽप्यनुपसर्जनपद-

सम्बन्ध (२) इत्यन्ये । बहुव्रीहावित्युपसर्जनोपलक्षणम् । तेन पतिमतिक्रान्ता 'अतिपत्नी' इत्यपि । व्यस्ते । 'विभाषा सपूर्वस्य' (४।१।३४) इत्यत्र यज्ञसंयोग इति न सम्बद्ध्यते, भाष्ये 'कथं तुषजकस्य पत्नी' इति व्यस्ते एव प्रश्नात् । वृषलत्वेन यज्ञसंयोगाभावात्पूर्वेणाप्राप्तेः, सपूर्वत्वाभावाच्चै-तदप्राप्तेरिति भावः । उपचारादिति । पाणिग्रहणादिति भावः । यद्वेति । प्रौढ्या, तत्प्रकृतिककर्तृक्विपि दृढमानाभावात् । पूर्वसूत्रे यज्ञसंयोग इति तु 'वृषलस्य पतिः स्त्री' इतिप्रयोगसाधनार्थम् । सपूर्वस्य किमिति । अवयव-वाची पूर्वशब्दः किमर्थ इति प्रश्नः । गवां पतिरिति । स्वामिनीत्यर्थः ।

विभाषा । सहशब्द का अर्थ विद्यमान है व्याख्यान से पूर्व शब्द अवयव वाची है । केवल पति शब्द विद्यमान पूर्व का अवयव होना असम्भव । और अव्यभिचार होने से पतिशब्द से तदन्त का ग्रहण होता है जैसा कि कहा है पतिशब्दान्तस्येत्यादि । न पत्यु-रिति । सपूर्वस्य से प्रत्यन्त का ही ग्रहण है बहवो वृषलपतयो यस्याः इस कर्म धारय उत्तरपद बहुव्रीहि में वारण के लिए यहाँ अर्थ में भी अनुपसर्जन पद का सम्बन्ध है । बहुव्रीहौ यह उपसर्जन का उपलक्षण है इससे पतिमति क्रान्ता विग्रह में 'अतिपत्नी' भी होता है । व्यस्तेइति । 'विभाषा सपूर्वस्यां में यज्ञ संयोगे का सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि भाष्य में "कथं तुषजकस्य पत्नी" यह वाक्य में ही प्रश्न किया है । वृषल (शूद्र) होने से यज्ञ के संयोग के अभाव में पूर्व सूत्र से प्राप्ति नहीं है । और सपूर्व न होने से इसकी प्राप्ति नहीं है । उपचारादिति । पाणिग्रहण के आश्रयण से । यद्वेति । यह समाधान प्रौढोक्ति मात्र है क्योंकि इस प्रकार क्विप् करने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है । पूर्वसूत्र में यज्ञ संयोगे तो 'वृषलस्य पतिः स्त्री' इस प्रयोग की सिद्ध के लिये है सपूर्वस्य किमिति । अर्थात् अवयव वाची पूर्व शब्द किस लिये है यह प्रश्न है । गवां पतिरिति । अर्थात स्वामिनी (स्त्री) ।

निपात्यते इति । तेन चोदात्तसादेशस्यैव प्रवृत्त्या सपत्नीशब्दस्या-द्युदात्तत्वमपि सिद्धम् । किञ्च समानस्वामिकस्त्रीविशेषस्यैव रूढ्या बोध-नार्थं ङीब्नकारविशिष्टोच्चारणम् । अतएव समानस्वामिकदासीभूम्यादौ सपतिरित्येव । समानत्वं चैकस्यैव तत्तत्पत्नीसम्बन्धेन भेदमारोप्य बोद्धयम् । मुख्यसादृश्यवत्पतिकासु तु न तथा प्रयोग इष्यते ।

त्रिसूत्रीति । व्याख्यानादिति भावः ।

सन्नियोगशिष्ट इति । तेन तदभावे ङीबपि नेति भावः ।

नितान्तानामित्यत्राकार उच्चारणार्थः । नितन्तानामिति पाठे जश्त्वा-भावः सौत्रः । त्रीण्येतानीति । अत्रैतशब्दस्योपसर्जनत्वेऽपि तदन्तमनुपसर्जन-

मेव। अनुपसर्जनादिति चात्र तदन्तविशेषणम् । अतएव गृह्यवृत्तिकृता नारायणेनात्र बहुव्रीहि कृत्वाऽनेन ङीबत्युक्तं, तदनुसारेण चेदम् ।

निपात्यते इति। और उससे उदान्त्त सादेश की ही प्रवृत्ति होने से सपत्नी शब्द में आद्युदान्त्त भी सिद्ध होता है। और रुढि से समान स्वामीवाली स्त्री को जलजाने के लिये ही ङीप और नकार विशिष्ट उच्चारण है अर्थात सपत्नी शब्द का प्रयोग है। समान स्वामीवाली दासी या भूमि आदि में सपतिः का ही प्रयोग होगा। समानत्व एक का ही तत्-तत् पत्नी सम्बन्ध से भेदक आरोपकर जानना। मुख्य सादृश्य वाले पतिवालियों में तो उस प्रकार का प्रयोग इष्ट नहीं है। त्रिसूतीति। इसमें व्याख्यान ही शरण है।

सन्नियोगशिष्टइति। इससे उसके अभाव में ङीप भी नहीं होता है। नितान्ता नाम में अकार उच्चारण के लिये है। नितन्तानाम् पाठ में सूत्र होने से जश्त्व का अभाव जानना। त्रीण्येतानीति। यहाँ एक शब्द के उपसर्जन होने पर भी तदन्त अनुपसर्जन ही है। यहाँ अनुपसर्जनात तदन्त का विशेषण है। इसी से गृहसूत्र के वृत्तिकार नारायण ने बहुव्रीहि करके इससे ङीप किया है। उसी के अनुसार यह है।

परे तु 'उपमानानि' (२।१।५५) इतिसूत्रस्थभाष्यस्वरसात् 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) इत्यादौ गृह्यमाणविशेषणत्वस्य क्लृप्तत्वाच्चात्रापि तथैवोचितम्। तत्र हि 'शस्त्रीश्यामा' इत्यादौ श्यामाशब्दः शस्त्र्यामेव, उपमेयन्तु समासवाच्यमिति पक्षे 'शस्त्रीश्यामो देवदत्तः' इत्यत्र ह्रस्वत्वन्न सिद्ध्यति। यद्युपसर्जनस्येति (१)ह्रस्वत्वं, तदा (२)कुम्भकपाललोहिनी' इत्यत्रानुपसर्जनलक्षण ईकारो न प्राप्नोति' इत्युक्तम्। 'त्र्येण्या' इत्यस्य(३) त्रिषु स्थानेषु एन्येत्यर्थो बोद्ध्य इत्याहुः।(४)आर्षमत्र णत्वम्। वर्णात्किम्? प्रकृता। 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) इत्याद्युदात्तः इति। 'श्वेतो वाजी जायते' इत्यादौ तथा पाठादिति भावः। छन्दसि क्नम्' (का० वा०) इति नादेशापवादः। तेन 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इति न्यायात् (१)तत्स्थानिकत्वं ङीप्सन्नियोगशिष्टत्वञ्चास्य बोद्ध्यम्। विशुद्धिवाचीति पाठे तत्प्रवृत्तिनिमित्तक इत्यर्थः।

नागेश का मत यहाँ इस प्रकार से है। "उपमानानि" सूत्र के भाष्य के आधार से और 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि गृह्यमाण के विशेषणत्व के निश्चित होने से यहाँ भी उसी तरह स्वीकार करना उचित है। उक्त सूत्र के भाष्य में कहा है कि 'शस्त्रीश्यामा आदि में श्यामा शब्द शस्त्री में ही है। और उपमेय समास वाच्य है, इस पक्ष में 'शस्त्रीश्यामो देवदत्तः में ह्रस्व सिद्ध नहीं होगा। यद्यपि 'गोस्त्रियोः से ह्रस्व हो

सकता है। तो भी कुम्भकपाललोहिनी में' अनुपसर्जन को मानकर होने वाला ईकार प्राप्त नहीं होगा। (कुम्भकपाल इत्यादि दोष लौकिक उपसर्जन मानकर दिया है) त्र्येण्या का त्रिषुस्थानेषु एनी यह अर्थ जानना सुपसुपा से समास उक्त प्रयोग में णत्व आर्ष है। क्योंकि समान पादत्व के अभाव में अट्कुप्यांङ' की प्राप्ति नहीं है और संज्ञा के न होने से 'पूर्वपदातसंज्ञायाम् की भी प्राप्ति नहीं हैं। 'वर्णग्रहण के अभाव में प्रकृतिः में दोष था। 'गतिरनन्तर:' से आद्युदात्त है। अन्तोदात्तइति। श्वेतोवाजी' जायते' में अन्तोदात्त पाठ है। छन्दसि क्रम' यह नादेश का अपवाद है। अपवाद होने से 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' न्याय से वहीं इसका भी स्थानीय है। अनेकाल मानकर सर्वादेश नहीं है, अथवा 'वर्णानुदान्तात्' से तकार की अनुवृत्ति करने से तकार है क्रादेश का स्थानी है क्रादेश ङीप के साथ ही संयोग शिष्ट होने से होता है। विशुद्ध वाची पाठ में उसी प्रवृत्ति वाला अर्थ है।

अन्यतो (४।१।४०)। सन्निधानाद् (२)व्याख्यानाच्च तोपधस्यैव प्रतियोगित्वेनान्वय इत्याह–तोपधभिन्नादिति। वर्णात्किम् ? खट्वा, आद्युदात्तः।

नर्त्तकीति। 'शिल्पिनि ष्वुन्'। (३।१।१४५) गौरशब्दो वर्णवाच्यप्यन्तोदात्त इतीह पाठः। अनड्वाहीति। 'आमनड्डहः स्त्रियां वा' (का० वा०) इति वचनात्पक्षे आम्।

अन्यतो। सन्निधान तथा व्याख्यान से तो तोपध का ही प्रतियोगित्व रूप से अन्वय है। तित्तिरकल्माषी प्रयोग ही व्याख्यान में प्रमाण है तोपधभिन्नादिति। वर्ण के अभाव में खट्वा में भी प्रवृत्ति होने लगती। यह आद्युदात्त है।

नर्त्तकीति। 'शिल्पिनिष्वुन् से ष्वुन् प्रत्यय है। वर्णवाची गौर शब्द अन्तोदात्त है। इसलिये उसका यहाँ पाठ है। अनड्वाहीति। 'आमनड्डहः स्त्रियाँ वा' वचन से पक्ष में आम होगा।

सूर्येति। स चेद्य इति। सूर्यादीनामङ्गानामुपधाया इति व्याख्याने तु 'सौरी बलाका' इति न सिद्ध्येत्। सूर्येणैकदिगित्यण्णन्तान् ङीपि अण्णन्तमङ्गं न सूर्यशब्द इति तदसिद्धिः। वचनं नु 'सूरी कुन्ती' इत्यत्र चरितार्थम् अणो लोपेऽप्याभीयत्वेन सोऽसिद्धः, अण्निमित्तकाल्लोपस्तु व्याश्रयत्वान्नासिद्ध इति यस्योपधत्वम्, उपधाग्रहणादेव (३)भाविकारमभिव्याप्याभीयासिद्धत्वमिति बोद्ध्यम्। यग्रहणन्तूत्तरार्थम्। ङ्यामिति निर्देशात्सप्तम्येकवचनस्याग्रहणम्। नक्षत्राणीति। नक्षत्रवाचकाद् योऽण् तत्रेत्यर्थः। तेन तिष्येण युक्तं तैषमहः, तिष्येभ वस्तैषः इत्यादि सिद्धम्। मातरि षिच्चेति।

पितामहीसिद्ध्यर्थमिदम् । दंष्ट्रेति । दंशेः 'दाम्नीशस' (३।२।१८२) इति करणे ष्ट्रन् । अयमजादिषु पठ्यते । गौरादिषु मातामहीशब्दपाठोऽनार्ष इत्यन्ये ।

सूर्येति । सचेद्यइति । सूर्यादि अंगों की उपधा का यकार इस व्याख्यान में सौरी बलाका की सिद्ध नहीं होगी क्योंकि 'सूर्येण एकदिक् विग्रह में अण् प्रत्यय करने पर अणन्त अंग है सूर्य शब्द नहीं है। इसलिए उसकी सिद्धि नहीं होगी। सूत्र तो सूरीकुन्ती में चरितार्थ है। अण् के लोप होने पर वह लोप आभीय होने से असिद्ध है अण् निमित्तक अकार का लोप तो समानाश्रय के न होने से असिद्ध नहीं है। इसलिए यकार उपधा में है उपधा के ग्रहण से ही भाधिकार तक आभीया सिद्धत्व है। यग्रहण उत्तरार्थ है ङ्याम् निर्देश से ही ङीप का ही ग्रहण है। सप्तमी एक बचन वाली ङि का ग्रहण नहीं है, क्योंकि उसके ग्रहण में ङौ का ही प्रयोग आता है। नक्षत्राणीति। नक्षत्र वाचक से जो अन् उसमें यह अर्थ है अर्थात नक्षत्राण यह सप्तमी का एक वचन है। प्रथमा का बहुवचन नहीं है उक्त अर्थ करने से तिष्येण युक्त विग्रह में निष्पन्न तैषमदः तिष्ये भवा विग्रह में निष्पन्न तैष इत्यादि की सिद्धि होती है। क्योंकि उक्त प्रयोगों में नक्षत्रवाचक तिष्य से अण् प्रत्यय करने पर यकार को लोप हुआ है। मातरि षिच्चेति। यह पितमही की सिद्ध के लिए है। दंष्ट्रेति। दंश से "दाम्नीशस" से करण में इष्ट्रन प्रत्यय है। इसका अजादि में पाठ है। गौरादिगण मातामही शब्द का पाठ अनार्ष है। यह किसी का मत है।

जानपदीति । जनपदे भवेत्यर्थः । उत्सादित्वादञ् । ङीप्याद्युदात्तत्वे प्राप्तेऽन्तोदात्तार्थं वचनम् । वृत्तिः अनुच्छेद्या जीविका । अप्रत्यय इति । तथा च क्रियाशब्दोऽयमिति भावः । अमत्रे—कमण्डलुरूपे * ।

कुण्डी कमण्डलौ, जारात् पतिवत्नीसुते पमान् ।

इति मेदिनीकोशात्स तत्र नित्यस्त्रीलिङ्ग इति भावः । यदि तु 'पिठरे तु न ना कुण्डम्' इति विश्वकोशे तस्य नपुंसकत्वमप्युक्तं पिठरामत्रशब्दौ च पर्यायौ, 'पिठरं स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरे नपुंसकत्वमात्रोक्तिस्त्ववयुत्याऽनुवाद इत्युच्यते, तदाऽनेकविधसंस्थानेषु अमत्रेषु कुण्डव्यवहारे कुण्डत्वे जातित्वाभावादप्राप्तौ ङीषिति बोद्ध्यम् । स्त्रीविषयत्वादित्युपलक्षणमिति बहवः । कमण्डलुसंस्थानस्थानुगतत्वात्तद्रूपामत्रवाचिनो जातित्वमप्यस्ति । सूत्रं तु नियमार्थमेव । अमृते जारजाषां कुण्डेत्येवेत्यपरे । आवपने च नित्यस्त्रीत्वादप्राप्तस्य ङीषो विधिः । आवपनमिति सामान्ये नपुंसकम् ।

जानपदीति। जनपद में होने वाली। यहाँ उत्सादि होने से अञ् प्रत्यय है

ङीप में आद्युदात्त पाया था अन्तोदात्त करने के लिए सूत्र है। वृत्तिः जिसका उच्छेद न हो उसको वृत्ति कहते हैं। अप्रत्यय इति। यह क्रिया शब्द है। अमत्रं अर्थात कमण्डलु में है जैसा कि मेदनीकार ने कहा है। कुण्डी कमण्डलौ, जारात् पतिवत्नी सुते पुमान्। कुण्डी कमण्डलु में नित्य स्त्रीलिंग है पतिवाली स्त्री के जार से जो पुत्र उत्पन्न होता है उसको कुण्ड कहते हैं वह पुल्लिग है 'पिठरे तु' इत्यादि विश्वकोश में नपुंसक भी कहा है। पिठर और अमत्र शब्द पर्यायवाची है। पिठरं स्थाल्युरखा कुण्डम् इस अमर में तो केवल नपुंसक का कथन तो एक देशानुवाद है ऐसा कहने पर तो अनेक प्रकार के समरूप स्थानों में कुण्डका व्यवहार होने से जाति के न होने से ङीप प्राप्त नहीं था। स्त्रीविषयत्वात् सूत्र में उपलक्षणा है ऐसा बहुतों का कथन है। कमण्डलु के सस्थान के अनुगत होने से उस रूप को ही कहने वाले में जाति भी है। सूत्र तो नियमार्थ है। अमृत में जार से उत्पन्न कन्या कुण्डा ही होगी। आवपन में तो नित्य स्त्री होने से अप्राप्त ङीप के विधान के लिये आवपनम् यह सामान्य में नपुंसक है।

गुणयोगादिति। गौणत्वेऽप्यपदकार्यत्वात्प्रवृत्तिरिति भावः। (१) विधित्वानुरोधाद् गौण एवास्य प्रवृत्तिः। वर्णश्चेदिति। तद्विशिष्टश्चेदित्यर्थः। अन्यथा 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्युक्त्याऽसङ्गतं स्यादिति बोद्ध्यम्। सूत्रे वर्णशब्दोऽर्शआद्यजन्तः। कालाऽन्येति। कौर्यगुणयुक्तेत्यर्थः।

नील्या अनिति। वृत्त्यनुसारेणेदम्। प्रतिपदोक्तत्वाद् अन्प्रकृतिङीषन्तप्रविष्टनीलशब्दस्यैवात्र ग्रहणं, न त्वस्य लाक्षणिकत्वात्। अनाच्छादने इति नीलवर्णवती शाटीत्यर्थे 'नीली' इति वारणाय चरितार्थम्। नील्या रक्ता गौरित्यर्थे (२)नीवेत्येवोचितमिति परे। मैथुनेच्छाशब्दोऽर्शआद्यजन्तस्तद्वतीत्यर्थः। अन्येति। मैथुनादन्यद् या इच्छति। कमेः 'लषपत' (३।२।१५४) इत्युकञ्। शोणशब्दो वर्णवाची 'वर्णानां तण' (२।३।३) इत्याद्युदात्तः। अन्यत इति सिद्धे विकल्पार्थमिदम्।

गुणयोगादिति। गौण में अपदकार्य होने से प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि गौण-मुख्यन्याय पद कार्य में लगता है। विधि और नियम के सम्भव होने पर विधि मानना ही श्रेष्ठ होता है। इसलिये विधि मानने से गौण में इसकी प्रवृत्ति होती है। वर्णश्चेदिति। वर्ण विशिष्ट हो यह अर्थ है नहीं तो ('गुणःशुक्लादयः पुंसि के सिद्धान्त से असंगत हो जाता। सूत्र में वर्ण शब्द में अर्शादि मानकर अच् प्रत्यय है। उक्त प्रत्यय से ही वर्ण वाला अर्थ होता है। कालाऽन्येति। अर्थात् क्रूरता से युक्त।

नील्या अनिति। यह कथन वृत्ति के अनुसार है प्रतिपदोक्त होने से अन् प्रकृति वाले ङीषन्त नीली में प्रविष्ट नील शब्द का ही यहाँ ग्रहण है। इसका लाक्षणिक होने

से नहीं है। अनाच्छादने तो नील वर्ण वाली साड़ी इस अर्थ में नीले प्रयोग के वारण करने के लिये चरितार्थ है। नील्या रक्ता गौः इस अर्थ में नीला प्रयोग ही उचित है, यह नागेश का मत है इसके लाक्षणिक होने से सूत्र में नील शब्द से इसका ग्रहण नहीं होगा। यहाँ अण् प्रत्यय होने पर ईकार के लोप होने से नील बना है। मैथुनेच्छा शब्द अर्श आदि अजन्त है। इसलिए मैथुनेच्छा वाली अर्थ है। अन्येति। मैथुन से अन्य जो चाहती है। कम से 'लषपत्' से उकञ् करने पर कामुकी सिद्ध होता है। शोणशब्द वर्णवाची है। 'वर्णानाँ तण' इस सूत्र से आद्युदात्त है। अन्यतः से सिद्ध था यह विकल्प के लिये है।

वोतो (४।१।४४)। (१)अत्र गुणवचनशब्देन समस्त–कृदन्त–तद्धितान्त–सर्वनाम–जाति–सङ्ख्या–सञ्ज्ञाशब्दातिरिक्तशब्दो गृह्यते; (२) आकडारसूत्र भाष्यपर्यालोचनया तादृशानामेव तत्सञ्ज्ञालाभात्। तत्र हि प्रातिपदिकमात्रस्य गुणवचनसञ्ज्ञामुक्त्वाग्रे तद्बाधकत्वेनैताः क्रमेण पठिताः। गुणवचनेत्य (३)न्वर्थसञ्ज्ञया गुणोपसर्जनगुणिवाचकानामेव तादृशानां सा सञ्ज्ञेति न रूपादीनां ग्रहणं, जातिपदेनाऽऽकृतिग्रहणद्रव्यवृत्तिजातिवाचकानामेव तत्र ग्रहणात्। कठादिशाखातदध्येतॄणाञ्च तद्धितान्तत्वादेव व्यावृत्तिः। एतत्सूत्र भाष्योक्तम्।

(४)सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥

इति गुणलक्षणंत्वेकदेश्युक्ति(१)र्बहुविशेषणानांवैयर्थ्यात् भाष्यकृताऽव्याख्यानाच्च। तस्मादाकडारसूत्रोक्तमेव भाष्यसम्मतमिति भाष्यप्रदीपोद्द्योते निरूपितम्। शुचिरिति। शुचेरौणादिकः किन्। उत इत्यस्याभावेऽपि 'खरुसंयोगोपधान्न' (का० वा०) इत्येतत्सामर्थ्येनात् इत्यस्यात्रासम्बन्धः उणादीनामव्युत्पन्नत्वात्' 'कृदिकारात्' (ग० सू०) इत्यस्यात्राप्रवृत्तिरित्यभिमानः। (२)शुक्लेति तु प्रत्युदाहरणमुचितम्। तपरः किम् ? वधूः, कासूः। 'वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री' 'कासूर्विकलवाचि स्याद्' इतिकोशबलेन (१)नवोढात्वस्य(२)विकलवाक्त्वस्य च प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन खरुशब्दवद् गुणवचनत्वात्। पतिवरेति। (३)पतिलाभोत्कण्ठावतीत्यर्थः।

वोतो। इस सूत्र में उतः के विशेषण होने से अदेङ रूप गुण का ग्रहण नहीं है नैयायिक के गुण का भी ग्रहण नहीं है क्योंकि मृद्वी, बुद्धि की सिद्ध नहीं होगी। इसलिए कहते हैं कि यहाँ गुण वचन शब्द से समस्त 'समास' कृदन्त-तद्धितान्त–सर्वनाम-जाति-संख्या-संज्ञा शब्दों से अतिरिक्त शब्द का ग्रहण है। अर्थात समासादि संज्ञातादि

अतिरिक्त प्रातिपादिकमात्र गुण वचन शब्द से गृहीत होते हैं। समासादि संज्ञाओं से गुणवचन संज्ञा का बाध होने से ही चित्रगुत्वम्. कार्यकरत्वम्, औपगत्वम्, उच्चैस्त्वम्, सर्वत्वं, घटत्वं, बहुत्वं, पञ्चत्वं, डित्यत्वम् इत्यादि में गुणवचन के अभाव से ष्यञ् प्रत्यय नहीं होता है। किन्तु त्व ही होता है, एकद्रव्य को कहने वाली संज्ञा होती है जैसे डित्यादि, पूर्वोक्त क्रम से समासादि के उदाहरण हैं। आकडार, सूत्रभाष्य से उनकी ही संज्ञा प्राप्त होती है। वहाँ प्रातिपादिकमात्र की गुणवचन संज्ञा कहकर आगे समासादि संज्ञा उसके बाधक कही हैं। गुण संज्ञा से ही कार्य हो जाता फिर गुणवचन इस अनवर्य संज्ञा से गुण उपसर्जन गुणी को कहने वालों की ही वह संज्ञा है। इसलिए रूपादि का ग्रहण नहीं होता है। भाष्य जातिपद से आकृत से ग्रहण वाले द्रव्य में रहने वाली जाति के वाचकों का ही ग्रहण है। कठादि साखाओं को पढ़ने वालों की ताद्धितान्त होने से व्यावृत्ति हो जायेगी। इस सूत्र के भाष्य में कहा—सत्त्वे निविशते इत्यादि गुणलक्षण तो एक देशी की युक्ति है, क्योंकि उसमें अनेक विशेषण व्यर्थ हो जावेंगे, और भाष्यकार ने उसकी व्याखया भी नहीं की है। इसलिए आकडार सूत्रस्थ लक्षण ही भाष्य सम्मत है। सत्त्वे निविशते की व्याखया इस प्रकार है। सत्त्वे द्रव्य से निविशते सम्बन्ध को प्राप्त होता है। अपैति उससे अलग भी हो जाता है। पृथक भिन्न-भिन्न जातिषु भिन्न जातीय वाले द्रव्यों में जो दीखता हो वही गुण है जैसे शुक्लादि। शुक्ल का घट में सम्बन्ध भी होता है। पाक् होने पर निवृत्ति भी हो जाती है। और भिन्न जाति वाले दुग्ध, दधि, शंखादि में दिखाई भी पड़ता है। उक्त गुण का लक्षण जात में नहीं जाना जाता है, क्योंकि घटत्वादि जाति का घट से ऊपाय नहीं होता है क्रिया में दोष वारण के लिए आद्येय उत्पादच् हो अक्रियाजः अर्थात अनुत्पादच ही विशेषण है। अवयव द्रव्य में अतिव्याप्त वारण के लिये असत्व प्रकृति विशेषण है अर्थात द्रव्य स्वभाव वाला न हो। अवयवी तो प्रव्य ही है इसलिए नित्यानित्य वृत्ति पदार्थ विभाजकोमत्वम् लक्षण है। सत्त्वे निविशते, या पृथक जातिषु दृश्यते से ही जाति का वारण संभव था अन्यतर व्यर्थ हैं। शुचिरिति। शुच् धातु से औणादिक किन् प्रत्यय है। उत् के अभाव में भी "खरुसंयोगोपधन्न" के आरम्भ से यहाँ अंत् का सम्बन्ध नहीं होता हैं। उणादियो के अव्युत्पन्न होने से 'कृदकारात्' यहाँ प्राप्त नहीं है यहाँ अभिमान मात्र है। शुचिः के कृदकारात् से हो ही जायेगी इसलिए शुक्ला प्रत्युदाहरण उचित है यहाँ भी 'संयोगोपधान्न' से निषेध हो जायेगा। खरु के साहचर्य से उकारान्त में ही निषेध होगा यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वह परिभाषा अनित्य है। तव प्रत्युदाहरण पीता है, शोणात प्रायाम् से अदत्त वर्णवाची से हो तो शोण शब्द से ही हो ऐसा नियम मानने पर हरित् प्रत्युदाहरण है। तपरकरण के अभाव में वधूः, कासूः में दोष है, वधूः स्नुषा नवोढास्त्री कासूर्विकलवाचि स्यात् इस कोश के बल से नवोतत्व और विकलवाक्त्व प्रवृत्ति निमित्त मानकर खरु शब्द की तरह गुण वचन है। पतिमवरेति। पति के लाभ के लिए उत्कंठावाली।

बह्वादि (४।१।४५)। बहुशब्दस्योक्तरीत्या गुणवचनत्वाभावेन ग्रहणम्। 'कृदिकाराद्' (ग०सू०) इति 'सर्वत' (ग०सू०) इति च गणसूत्रे। अकृतोपीत्यर्थः। 'व्यवस्थितविभाषाश्रयणात्क्वचिन्न। 'सुगन्धिः, (४) प्रियकतिर्वेश्या इत्यादि' इति वृत्तिः। पुराणशब्दोऽत्र पठ्यते। स यद्यपि 'अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः' इत्यादावन्तोदात्तदर्शनेन घृतादिपाठादन्तोदात्त इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण ततो ङीब्ङीषोः स्वरे विशेषाभावस्तथाप्यत्र पाठसामर्थ्यात्पक्षे टाबेवेति बोद्धयम्। अजननिरिति। 'आक्रोशे नञ्यनिः' (३।३।११२) इति जनेरनिः। अहन्शब्दोऽत्र पठ्यते। सामर्थ्यादनुपसर्जनाधिकारबाधः। 'दीर्घाह्नी' प्रावृड्' इति ङीष्यन्तोदात्तम्। बह्वादिराकृतिगण इति गणरत्नकृत्।

बह्वादिभ्यश्च। बहु शब्द पूर्व सूत्र में कहे गुण वचन में नहीं आता है इसलिये ग्रहण आता है। कृदिकारादिति। सर्वतः दोनोगण सूत्रों का ग्रहण है। अर्थात् अकृत् का भी ग्रहण है। व्यवस्थित द्विभाषा के आश्रयण से कहीं नहीं भी होता है। 'सुगन्धिः' में नहीं है। वृत्तिकार ने प्रियकतिर्वेश्या इत्यादि में कहे हैं। पुराण शब्द का भी यहाँ पाठ है। यद्यपि वह अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः इत्यादि में अन्तोदात्त देखने से वृतादि में पाठ होने से अन्तोदात है। उदात्त निवृत्ति स्वर से ङीप और ङीप करने में कोई स्वर में विशेषता नहीं है तो भी यहाँ पाठ करने से पक्ष में टाप् ही होता है। अजननिरिति। 'आक्रोशे नञ्यनिः' से जन् धातु से अनिः प्रत्यय है। अहन्श शब्द का भी यहाँ पाठ है। पाठ होने से अनुपसर्जनाधिकार का भी बाध होता है 'दीर्घाहनी प्रावृड' में ङीप करने से अन्तोदात्त है। गणकार का मत है कि बह्वादि आकृतिगण है।

पुंयोगादा (४।१।४८)। हेतौ पञ्चमी। आख्यायामिति (६) पञ्चम्यर्थे सप्तमी। आख्याशब्दो बोधकपरः। आख्याचोपस्थितत्वात्पुंस एव न स्त्रियाः स्त्रियां वर्त्तमानस्य स्त्र्याख्यत्वाव्यभिचारादाख्यापदवैयर्थ्यापत्तेः। (७) पुंस्येव यः प्रसिद्धः शब्द इत्यर्थः। (८) पुंयोगाद्धेतोः प्रवृत्तिनिमित्तारोपेण स्त्रियां वर्त्तमानात्पुंबोधकाच्छब्दान्ङीषित्यर्थः। योगः सम्बन्धः, पुंयोगात्किम्? देवदत्ता। आख्यायां किम्? प्रसूता। तदभावे हि स्त्रियां वर्त्तमानं यत्प्रातिपदिकं पुंयोगहेतुकप्रवृत्तिनिमित्तकमित्यर्थोऽपि सम्भाव्येत। अस्ति हि तत्प्रवृत्तिनिमित्ते प्रसवे पुंयोगहेतुकत्वम्। उक्तपुमाख्या तु नैषेति भावः। पुंयोगोऽत्र दाम्पत्यरूप एवेति भाष्यस्वरसः 'यथेयं भर्तृपापकृतान् बन्धादीन् लभते, एवं तच्छब्दमपि' इति भाष्योक्तेः। 'देवकी' इत्यादि तु गौरादिषु बोद्धयमिति (१) केचित्।

पुंयोगादा। यह पंचमी हेतु में है। आख्यायाम् में सप्तमी पंचमी के अर्थ में है। आख्या उपस्थित होने से पुरुष को ही लेना स्त्री को नहीं। क्योंकि स्त्री में विद्यमान को स्त्री की आख्याका व्यभिचार होने से आख्यापद व्यर्थ हो जाता। पुल्लिंग में जो शब्द प्रसिद्ध हो पुंयोग के कारण प्रवृत्ति निवृत्ति के आरोप से स्त्री में विद्यमान पुरुष बोधक शब्द से ङीप हो यह इसका अर्थ है योग का अर्थ सम्बन्ध है। पुंयोग के ग्रहण से देवदत्ता में ङीप नहीं होता है आख्यायाम् के अभाव में प्रसूता में भी ङीप होने लगता। आख्यायाम् के अभाव में स्त्री में विद्यमान जो प्रातिपदिक पुंयोग हेतु वाले प्रवृत्ति निवृत्ति वाला ऐसे अर्थ वाले की भी संभावना होने लगती। यहाँ भी उस प्रवृत्ति निवृत्ति प्रसव में भी पुंयोग को कारणता है परन्तु पुमाख्या नहीं है। यहाँ दाम्पत्य रूप ही पुंयोग ग्रहीत है। ऐसा भाष्य का आशय है। जिस तरह से यह पति के पाप से होने वाले बन्धन को प्राप्त करती है उसी प्रकार उस शब्द को भी प्राप्त करती है यह भाष्य भी उक्ति है। देव भी में तो गौरादि गण में होने से ङीप सिद्ध है।

गोपालिकेति। गाः पालयतीति गोपालः, स एव गोपालकस्तस्य स्त्रीत्यर्थः। ण्वुलन्तस्य तु कारकषष्ठया समासनिषेधाच्छेषषष्ठया समासे आपः सुपः परत्वादित्वं दुर्लभम्। वस्तुतः शेषषष्ठया अप्यत्र कारकत्वात्सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव तत्रापि समासः यथाकथश्चित्कारकग्रहणेऽपि कथश्चित्कारकत्वमादाय 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्यस्य प्रवृत्ते (२) रत्रत्यभाष्यात् (१) 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) इतिसूत्र भाष्याच लाभात्। यद्वा तन्निषेधस्यानित्यत्वादप्रवृतौ कारकषष्ठया सुबुत्पत्ते पूर्व समासेन तत्रापीत्वं सुलभम् सूर्येति। सर्त्तेे क्यप्याद्युदात्तसूर्यशब्दाच्चाप्यन्तोदात्तमिदम्। एतेन ङीष्निषेधेन टापैव सिद्धिरित्यपास्तम्। सूरीति। सूर्यस्य स्त्री या कुन्ती इयं मानुषी, न देवतेत्यर्थः।

गोपालिकेति। गो को पालन करने वाला गोपाल उससे स्वार्थ में प्रत्यय करने से गोपालक होता है। उसकी स्त्री गोपालिका है। ण्वुल् करने पर कारक षष्ठी से समास का निषेध होने पर शेष षष्ठी से समास होने पर आप् सुप् से परे होने पर इत्व हो जाता। वास्तव में तो यहाँ शेष षष्ठी को कारक होने से वहाँ भी सुप् की उत्पत्ति से पूर्व ही समास होगा। किसी प्रकार से कारक ग्रहण में भी किसी प्रकार कारक मानकर 'गतिकारकोपदानाम्' की प्रवृत्ति होती है। यहाँ के भाष्य से और 'उपपदमतिङ्' सूत्र के भाष्य से यह लाभ होता है अथवा उस निषेध के अनित्य होने से प्रवृत्ति न होने पर कारक षष्ठी से सुप् की उत्पत्ति से पूर्व ही समास होने से वहाँ भी इत्व सुलभ है। सूर्येति। सरति आकाशे इतिसूर्यः सृ में धातु से क्यप् से निष्पन्न आद्युदान्तु सूर्य शब्द से चाप करने पर यह अन्तोदात्त है। ङषि के निषेध होने

से टाप् से सिद्ध हो जायेगा यह कहना उचित नहीं है क्योंकि अन्तोदात्त नहीं होता। सुरीति। सूर्यस्य स्त्री जो कि कुन्ती है वह मानुषी है वह देवता नहीं है।

महत्त्वे इति। तद्योगे एवेषां स्त्रीत्वमिति भावः। यवनाल्लिप्या-मिति। लिप्यर्थकोऽत्र ङीष् 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यणबाधक इति बहवः। लिपिः अक्षरविन्यासः।

महत्त्वे इति। महत्व के योग मे ही इनको स्त्रीत्व युवनाल्लिप्यामिति। लिपि अर्थ का बोधक यहाँ ङीष् है। बुद्धतों का कथन है कि 'तस्येदम्' का बाधक है लिपि अक्षर विन्यास को कहते हैं।

मातुलेति। मातुलान्नित्ये प्राप्ते उपाध्यायादप्राप्ते विभाषेयम्। या तु स्वयमेवेति। 'अपादाने स्त्रियां घञ उपसङ्ख्यानं, तदन्ताच्च वा ङीष्' (का० वा०) इति तृतीये 'इङश्च' (३।३।२१) इति सूत्रे वार्त्तिकादिति भावः। उपेत्याधीयते यस्या इति विग्रहः। अर्येति ह्रस्वादिस्तदाह–स्वामि-नीति। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (३।१।१०३) इत्युक्तेः। आर्येति पाठस्तु कयटाद्यसम्मतः। स्वार्थ इति। अत एव भाष्ये 'अर्याणि, अर्या' इत्येवोक्तम्। पुंयोग एव प्रवृत्तौ तु उपाध्यायीतिवद् अर्यीतिपक्षे ङीष्मेवोदाहरेत्। कर्म-ण्यन् इति। (२) सूत्रं तु 'इन्द्री' इत्यादिव्यावृत्त्यर्थमिति भावः।

मातुलेति। मातुल से नित्य प्राप्त था और उपाध्याय को अप्राप्त था अतः दोनों में विभाषा है, अर्थात् प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। या तु स्वयमेवेति। 'अपादाने स्त्रियां घञ उपसङ्ख्यानं' तदन्ताश्च वा ङीष् यह तृतीयाध्याय के 'इङश्च' सूत्र में वार्तिक है। उपेत्याधीयते यस्या यह विग्रह है। (समीप जाकर जिस स्त्री से पढ़ा जाये)। अर्येति। इसका आदि अकार ह्रस्व है इसी से इसका अर्थ स्वामिनि है क्यों कि स्वामी तथा वैश्य अर्थ में 'अर्यः स्वामिवैश्योः' से अर्य की सिद्ध होती है। दीर्घपाठ कैयटादि के सम्मत नहीं है। स्वार्थइति। इसी से भाष्य में अर्याणी अर्या ही कहा। पुंयोग में प्रवृत्ति होने पर तो उपाध्यायी की तरह अर्यी ङीषन्त का ही उदाहरण देना उचित था। कर्मण्यण् इति। सूत्र तो इन्द्री की व्यावृत्ति के लिये है तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन्द्रमानयति जीवयति विग्रह मे अण् प्रत्यय तथा ङीप करने पर इन्द्राणी की सिद्ध हो सकती है तथापि इन्द्रस्य स्त्री इस अर्थ में इन्द्री का प्रयोग न हो किन्तु इन्द्राणी का ही हो इसलिये 'इन्द्र वरुण' सूत्र है।

क्रीतात् (४।१।५०)। करणादिति वक्तव्ये पूर्वग्रहणादनुवृत्तप्रातिपदि-करूपान्यपदार्थेऽवयववाचिपूर्वशब्देन बहुव्रीहिः। तेन 'वस्त्रेण क्रीता' इति वाक्ये न। अत इति चानुवर्त्तते। करणे किम्? सुक्रीता। धनक्रीतेति। 'कर्त्तृकरणे' (२।१।३२) इत्यत्र बहुलग्रहणेन 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्य-

स्यानित्यत्वादत्र सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समास इति भावः इदम् 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। अयमजादिष्वित्यन्ये। एवञ्च 'गति' इत्यादेरनित्यत्वे न मानमिति तदाशयः। अत एवैतत् 'कर्तृकरणे' (२।१।३२) इति सूत्रे बहुलग्रहणफलत्वेन भाष्ये नोक्तम्। 'अम्बाम्ब' (८।३।९७) इति सूत्रं गवादिग्रहणन्तु नियमार्थम्। तेन 'हृदिस्थः' इत्यादौ षत्वं नेति दिक्।

क्रीतात्। करणात् ही कहना था। पूर्व ग्रहण से अनुवृत्ति से प्राप्ति प्रातिपदिक रूप अन्य पदार्थ में अवयव वाची पूर्व शब्द से बहुब्रीहि समास ही इसलिए वस्त्रेण क्रीता इस वाक्य में नहीं होता है। करण के अभाव में सुक्रीता मे भी होने लगता। धनक्रीतेति। 'कर्त्तृकरणे में बहुल ग्रहण से 'गतिकारकोपपदानाम्' परिभाषा के अनित्य होने से यहाँ सुप् की उत्पत्ति के अनन्तर ही समास है।

यह उपपदमतिङ्' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। कोई इसको अजादि में मानते हैं तब 'गतिकारक' इत्यादि परिभाषा के अनित्यत्व में प्रमाण नहीं है। इसी से 'कर्तृकरणे सूत्र में यह बहुल ग्रहण का फल है ऐसा भाष्य में नहीं कहा। 'अम्बाम्ब' सूत्र गवादियों का ग्रहण नियमार्थ है। नियमार्थ होने से हृदिस्थः इत्यादि में षत्व नहीं होता है। अर्थात गवादि पूर्व को ही होता है।

अभ्रलिप्तीति। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि' (प० भा०) इति विशिष्टस्य क्तान्तत्वम्। अल्पाख्यायामिति समुदायोपाधिः। अल्पत्वं करणगत, क्रियागतं वा। क्तान्तादिति। क्तान्तान्तादित्यर्थः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषालब्धक्तान्तेन प्रातिपदिकस्य विशेषणात्। उरुभिन्नीति। 'जातिकालसुखादिभ्यः परानिष्ठा' (६।२।१७०) इति भिन्नशब्दस्य परनिपातः। पाणिगृहीतीति। अग्निसाक्षिकतया गृहीतपाणिकेत्यर्थः। भाष्ये तु 'पाणिगृहीत्यादीनां विशेषे' (१) इत्युक्तम्।

अभ्रलिप्तीति। 'कृदग्रहणे' परिभाषा से विशिष्ट में क्तान्तत्व। अल्पाख्यायाम् समुदाय का विशेषण है। अन्यत्र करणगत्व है यह क्रियागत जानना क्तान्तादिति। क्तान्तात् अर्थ है। प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से तदन्तविधि होने से क्तान्त का बोध होता है, फिर प्रातिपदिक विशेष्य मानकर तदन्तविधि करने से क्तान्तात् अर्थ होता है। अरुभिन्नीति 'जाति काल सुखादिभ्यः परानिष्ठा'' इससे भिन्न का पर निपात होता है। पाणिग्रहीतीति' अग्नि को साक्षी करके पाणिग्रहण वाली अर्थ है। भाष्य में तो 'पाणिगृहीत्यादीनां विशेषे कहा है। विशेष यह है कि भार्या हो तो पाणिग्रहीती, जिसका किसी प्रकार से हाथ ग्रहण किया जाता है वह पाणिगृहीता है कैयट ने भी स्पष्ट कर दिया है कि जिसका अग्निसाक्ष पूर्वक पाणि ग्रहण किया जाय।

अस्वाङ्गपूर्वं (४।१।५३)। न स्वाङ्गम् अस्वाङ्, पूर्वञ्च तत्पदं

पूर्वपदं, पुनः कर्मधारयः। अस्वाङ्गभूतात्पूर्वपदात्परं यत् क्तान्तं तदन्तबहुव्रीहेरित्यर्थः' उत्तरसूत्रे भाष्ये 'कल्याणपाणिपादा' इत्यादौ तत्प्रवृत्तिवारणाय तत्रैतदनुवर्त्य कर्मधारयस्याश्रयणेनात्रापि तथैवौ (२) चित्यात्। तत्र 'यदुपसर्जनं 'पाणिपादम्' इति समुदायो, न स स्वाङ्गम् स्वाङ्गसमुदायश्च न स्वाङ्गशब्देन गृह्यते। यच्च स्वाङ्ग पादेति, न तदस्वाङ्गरूपपूर्वपदात्परम् इत्युक्तम्। एवञ्च 'करमुखी' इत्याद्यसाध्वेव। जातिपूर्वादितीहापि सम्बध्यते। दुर्वारत्वात्, तदाह–नित्ये प्राप्ते इति। वस्त्रच्छन्नेति। बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे शेषनिघाते चानुदात्तान्तोऽयम्। 'पुत्रादिनी' इत्यादौ 'सुप्यजातौ' इति णिनिदर्शनेनाऽऽकृतिग्रहणत्वाद्यभावेन च पुत्रशब्दस्य जातिवचनत्वाभावेऽपि 'पुत्रहती' इत्यादौ गौरादिङीषिति बोद्धयम्। अस्वाङ्गादित्येव सिद्धे पूर्वपदग्रहणं स्पष्टार्थम्। किञ्च तदभावेऽस्वाङ्गादिति प्राधान्याद् बहुव्रीहिविशेषणं स्यादिति।

अस्वाङ्गपूर्वं ॥ न स्वाङ्गम् अस्वाङ् नञ् समास है पूर्वञ्च तत्पदं पूर्वपदं कर्मधारय है। अस्वाङ्गञ्च तद पूर्वपदं अस्वाङ पूर्वपदं फिर कर्मधारय है। अस्वाङ भूत पूर्व पद से परे जो क्तान्त तदन्त बहुब्रीहि से अर्थात् क्तान्त है अन्त में जिसके उससे प्रत्यय हो। उत्तर सूत्र के भाष्य में कल्याण पाणिपादा में उस सूत्र की प्रवृत्ति की निवृत्ति के लिये वहाँ इसकी अनुवृत्ति कर कर्मधारय के आश्रयण से किया है।

इसलिये यहाँ भी वही उचित है। इसी से सुन्दरी ऊरू भित्री यस्या इस विग्रह में सुन्दरोरूभित्राही होता है, इससे ङीष् नहीं होता है, और जातिपूर्वक का भी अभाव है। उस भाष्य में इस प्रकार से लिखा है कि जो उपसर्जन पाणिपाद समुदाय है वह स्वाङ्ग नहीं है क्योंकि स्वाङ्ग समुदाय का स्वाङ्ग शब्द से ग्रहण नहीं होता है, जोकि स्वाङ्ग पाद है वह अस्वाङरूप प्रातिपदिक से परे नहीं है। क्योंकि पाणि का व्यवधान है, पाणि से यद्यपि परे है वह तो अंग ही है इस तरह से करमुखी भी असाधु ही है। इस सूत्र में भी जाति पूर्वात् का सम्बन्ध है नहीं तो वह नञ् आदि के अस्वाङ्ग होने से उनके पूर्व होने पर विकल्प दुर्वार था कहा है नित्येप्राप्तेइति। 'वस्त्रच्छन्नेति बहुब्रीहि होने से पूर्वपद प्रकृतिस्वर करने पर शेषनिघात (अनुदात्त) होने पर यह अनुदात्तान्त है पुत्रादिनी इत्यादि में सुप्यजातौ से णिन् प्रत्यय देखने से और आकृति ग्रहणाइत्यादि जाति लक्षण के अभाव से पुत्र शब्द के जातिवाचक न होने पर भी, पुत्रहती में गौरादि मानकर ङीष् है। तात्पर्य यह है कि णिन् प्रत्यय जाति भिन्न उपपद मान करके ही होती है। यदि पुत्र शब्द जाति वाचक होता तो पुत्रादिनी में णिन् नहीं होता। अस्वाङ्गात् से कार्य हो जाता। पूर्वपद ग्रहण स्पष्टार्थ है। और पूर्वपद के अभाव में अस्वाङ्गात् प्रधान होने से बहुब्रीहि का विशेषण हो जाता।

स्वाङ्गाच्चो (३।१।५४) तदन्तादित्युपसर्जनग्रहणलब्धम्। बहुव्रीहेरि-

त्यनुवर्त्तमाने उपसर्जनग्रहणफलमाह–अतिकेशीति । 'एकविभक्ति' (१।२।४४) इति केशानामुपसर्जनत्वमप्रधानत्वञ्च । शिखेति । इदमेव प्रत्युदाहरणम् । शोभनेत्यादि सुशिखान्तं (३) प्रक्षिप्तं विशिष्टेऽदन्तत्वाभावेनाप्राप्तेः । यद्यपि भाष्ये अशिखेति प्रत्युदाहृतं तस्याप्येकदेश एव तात्पर्यम् । नञ्पूर्वे 'सहनञ्' इतिनिषेधेन प्राप्त्यभावात् । एतेन क्रोडादिषु शिखाशब्दपाठ इत्यपास्तम् ।

स्वाङ्ग च्चो । तदन्तात् तो उपसर्जन के बल से प्राप्त है बहुव्रीहि की अनुवृत्ति होने पर उपसर्जन ग्रहण का फल कहते है—अतिकेशीति । एक विभक्ति से केशों की उपसर्जन संज्ञा और अप्रधानत्व है । शिखेति । यही उदाहरण ठीक है । शोभनात्यादि सुशिखान्त प्रक्षिप्त है । किसी का कहना है कि प्रक्षिप्त कहने वाले विक्षिप्त है । क्योंकि अस्वाङ्पूर्व के अभाव में केवल में प्राप्त नहीं है इसलिए भाष्य में अशिखा उदाहरण दिया है, अशिखा में अस्यशिखा विग्रह है नञ् समास नहीं है, नञ् समास मानने पर तो 'सहनञ' से निषेध हो जायेगा । वास्तविक में अस्वाङ्पूर्व पदात् थी यहाँ अनुवृत्ति नहीं है, इसलिये शिखा प्रत्युदाहरण उचित है । क्योंकि विशिष्ट में अदन्त के अभाव में प्राप्त नहीं हैं यद्यपि भाष्य में अशिखा प्रत्युदाहरण दिया है तो भी उसका एक देश शिखा में ही तात्पर्य है । नञ् पूर्व में 'सहनञ' से निषेध होने से प्राप्त नहीं है । इससे कोठादिगण में शिखा शब्द मानने वाले परास्त है ।

ननु स्वमङ्ग स्वाङ्गञ्चेत् 'सुमुखा शाला' इत्यत्रापि स्यात्, मुखस्य शालाङ्गत्वात् 'सुकेशी रथ्या' इत्यत्र च न स्यात्, केशानां तदङ्गत्वाभावात्, अत आह–अद्रवमिति । (१) स्पर्शवद्द्रव्यपरिमाणं मूर्तिः । रथ्येति । इदानीं प्राणिस्थात्वाभावात्पूर्वलक्षणेनासिद्धिः । एवञ्चेदं 'पूर्वलक्षणे प्राणिस्थत्वमुपलक्षणम्' इत्यत्र तात्पर्यग्राहकमिति भावः । प्रतिमादिगतस्तनस्य प्राणिनि कदाप्यदृष्टत्वादाह––तेन चेदिति । अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गं (यदि) तेन तज्जातीयेन वस्तुना प्राणी यथा सम्बद्धस्तदाऽप्राणी सम्बद्धश्चेदित्यर्थः । अत एव 'तस्य चेत्तत्तथा युतम्' इत्यस्य 'अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गम्' इति (२) शेषो भाष्ये दर्शितः ।

अब यहाँ शंका करते है कि स्वाङ्ग में स्वम् अङ्गम् की व्युत्पत्ति की जायेगी तो सुमुखा शाला में हो जायेगा क्यों कि मुख शाला का अङ्ग है । सुकेशीरथ्या में नहीं होगा, क्योंकि केश ।

इसमें स्वाङ का लक्षण करते है—अद्रवमिति ।

स्पर्श वाले द्रव्यों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) के परिमाण को मूर्तिः कहते है । रथ्येति । इस समय केश प्राणी में स्थिति नहीं है क्योंकि उनको काटकर फेंक दिया

है। इसलिये पूर्व लक्षण से सिद्धि नहीं हो सकती। इस तरह से यह पूर्व लक्षण में प्राणिस्थत्व उपलक्षण है इनमें तात्पर्य यह जानना प्रतिमादि में रहने वाले स्तनादि प्राणी में कभी भी दृष्ट गोचर नहीं हो सकते हैं इसलिए दूसरा लक्षण करते है तेन चेदिति। अप्राणी को स्वाङ्ग हो सकता है यदि उस जाति वाली वस्तु से प्राणी का जिस प्रकार सम्बन्ध है उसी प्रकार अप्राणी भी हो इसी से 'तस्य चेन्तत्तथा युतम्' इसका 'अप्रणिनोऽपि स्वाङ्गम्' यह शेष भाष्य में दिखलाया है तात्पर्य यह है कि उक्त शेष को स्वीकार करने से 'तस्यचेन्तत्तथा युतम्' लक्षण की अप्राणि सम्बद्ध विषयता स्पष्ट ही है।

पुरस्तादिति। स ह्यनन्तरस्यैव बाधकः। मद्धये इति। स हि पूर्वस्यैव बाधकः। प्रामाणिका इति। एवश्च 'सुगात्री' इत्यादयोऽपप्रयोगा एवेति भावः।

उरः क्रोडेति। टाबन्तोऽयं स्वभावतो विशेषविषयः।

शूर्पणखेति। 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' (८/४/३) इति णत्वम्। केवलयौगिकत्वे तु 'शूर्पनखी' इत्येव।

न ङीविति। अस्वरितित्वादिति भावः।

इति शब्द इति। एवञ्च भाषायामिति व्यर्थम्। छन्दसीत्यस्य 'दिक्पूर्वपदात्' (४/१/६०) इत्यत्रासम्बन्धेनास्वरितत्वादसम्बन्धसिद्धेः। परे तु दिगिति सूत्रे 'वाहः' (४/१/६१) इत्यत्र च (१) छन्दसीति वर्त्तते। लोके त्वन्तोदात्तमेव 'प्राङ्मुखी' इति। एवञ्च तन्निवृत्तिवोधनाय भाषाग्रहणम्। इतिश्चार्थे, तेन छन्दस्यपि। अत एव 'ङेराम्' (७/४/११६) इति सूत्रे कयटे—'सख्यशिश्वी च भाषायाम्' इति पाठो दृश्यते इत्याहुः।

पुरस्तादिति। वह न्याय अनन्तर का ही बाधक है। मद्धयेइति। वह न्याय पूर्व का ही बाधक है। प्रामाणिका इति। इस तरह से सुगात्री इत्यादि प्रयोग भी अशुद्ध ही है।

उरः क्रीडेति। यह टाबन्त स्वभाव से विशेष विषय है।

शूर्पणखेति। यहाँ 'पूर्वपदातसंज्ञायाम्' से नत्व है। केवल यौगिक मानने पर संज्ञा के अभाव में णत्व न होने से शूर्पनखी प्रयोग होता है न ङीवित। अस्वरितत्व होने से। इति शब्दइति। अब भाषायाम् व्यर्थ है। छन्दसि का 'दिक्पूर्वपादात्' में असम्बन्ध होने से अस्वरितव होने के कारण असम्बन्ध सिद्ध है।

नागेश का मत यह है कि दिक्सूत्र में और वाह सूत्र में "दीर्घजिह्वी च छन्दसि" से छन्दसि अनुवृत्ति होती है। लोक में तो अन्तोदान्त ही होता है–प्राङमुखी उदाहरण है इस तरह छन्दसि के निवृत्ति बोधन के लिए भाषा ग्रहण है, इत् चकार के अर्थ में

है इससे छन्द में भी होता है। इसी से "ङेराम" सूत्र के कैयट में—"सख्यशिश्वी च भाषायाम्" पाठ मिलता है।

क्वचिदिति। सर्वविधीनां छन्दसि वैकल्पिकत्वेन 'सखा सप्तपदी भव' इति सिद्धम्। न विद्यते शिशुरस्या इत्यशिश्वी। क्वचिदस्याद्युदात्तत्वन्तु छान्दसत्वात्।

क्वचिदिति। सब विधियों के वेद में विकल्प से होने 'सखा सप्तपदी भव' भी सिद्ध हुआ। जिसके बच्चा न हो उस स्त्री को अशिश्वी कहते है कही इसको आद्युदान्त भी छान्दस्य मानकर होता है।

जातिशब्देन अर्थे कार्यासम्भवात्तद्वाचकग्रहणमित्याह—जातिवाचीति। अनन्यभावे विषयशब्द इत्याह—न च स्त्रियां नियतमिति। (२) भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययमिमित्तं जातिः, (३) नित्यमेकमनेकानुगत सामान्यमित्यस्य च (१) शुक्लादिगुणस्यैकत्वनित्वपक्षे तत्रातिव्याप्तिः। (२) 'जननेन प्राप्यते सा जातिः' इति च युवत्वादावव्याप्तमत आह–[३] आकृतीति। ग्रहणमिति करणे ल्युट्। सामान्य नपुंसकम्। आकृतिरवयवसन्निवेशः। आकृतिर्ग्रहणं यस्या इति विग्रहस्तदाह–अनुगतेति। ईदृशाकारो गौरित्याकृत्युपदेशादिव्यङ्ग्या इत्यर्थः। न च बाल्याद्यवस्थाभेदभिन्नानेकदेहवृत्तिदेवदत्तत्वादेराकृतिव्यङ्ग्यत्वेन तत्रातिव्याप्तमिदमिति वाच्यम्, [४] समानकालिकानेकव्यक्तिवृत्त्यनुगतसंस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थाद्, [५] अवस्थाभेदेऽपि तद्भेदाप्रतीतेश्च, स एवायमिति प्रतीतेश्च, तज्जातीयोऽयमित्यप्रतीतेश्च।

[१] अत एवेन्द्रत्वादिकं न जातिः। पञ्चेन्द्रोपाख्यानादिभिरनेकेषां समकालिकत्वेऽपि सर्वेषां संस्थानस्यैकत्वे मानाभावात्। 'दुर्गा' 'अपर्णा' इत्यादौ स्त्रीविषयत्वादि न ङीष्। तटीति। अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यमेतत्। जलसमीप देशविशेषो हि तटम्।

अर्थ में कार्य का होना असम्भव होने से जाति शब्द से जातिवाचक का ग्रहण है—जातिवाचीति। यहाँ अनन्यभाव में विषय शब्द हैं—इसी से लिखा है न च स्त्रियां नियतमिति। भिन्नों में अभिन्न अभिधान और प्रतीत का निमित्त जाति है इस प्रकार से भिन्नों में अभिन्नाभिधान का निमित्त जाति है, और भिन्नों में अभिन्न प्रतीत का नाम जाति है अर्थात एक रूप से जहाँ प्रतीत हो। नैयायिक रीति से जाति का अन्य लक्षण नित्यमेकानुगतं सामान्यं (जाति) नित्य हो, एक हो और अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहता हो उसको सामान्य (जातीय) कहते हैं। समन्वय इस प्रकार है। घटत्व नित्य है। एक है और अनेक घटों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हैं। इसका पदकृत्यकालिका

बली की आठवीं कालिका में देखिये। इन दोनों लक्षणों की शुक्लादि गुण को एकत्व, नित्यत्व मानने पर अतिव्याप्ति है हिम-हिम दुग्ध, शंख आदि में शुक्ला-शुक्ला समप्रतीत होने से उनमें भी जाति है अब तृतीय लक्षण करते हैं। "जननेन प्राप्यते सा जातिः" (जो जनन से प्राप्त हो वह जाति) लक्षण की युवत्वादि में अतिव्याप्ति है। इससे चतुर्थ लक्षण करते हैं। आकृतीति। ग्रहण में करण में ल्युट् प्रत्यय है। सामान्य में नपुंसक है। अवयव सन्निवेश को आकृति कहते हैं। (हस्तादियों की यथास्थान स्थिति ही अवयव सन्निवेश है।) आकृति ग्रहण है। जिसकी यह विग्रह का अर्थ है। उसी को स्पष्ट करते हैं—अनुगतेति। इस प्रकार के आकार वाला गौ होता है इस प्रकार के उपदेश हो जो व्यंग्य हो। अवशंका करते हैं कि बाल्यादि अवस्थाओं के भेद से भिन्न जो अनेक शरीर उनमें देवदत्तत्वादि के आवृत्ति व्यंग्य होने से देवदत्तत्व में जातिलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। उत्तर देते हैं कि एक काल में जो अनेक व्यक्ति उनमें रहने वाले अनुगत संस्थान से व्यंग्य होना चाहिए। देवदत्तत्व भिन्न समय में वृत्ति होने से जाति नहीं है। और अवस्था के भेद होने पर भेद की प्रतीति भी नहीं है। और यह वही है। ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी होती है। और यह उस जाति वाला है। ऐसी प्रतीति नहीं होती है। समानकालिकेत्यादि लक्षण करने से इन्द्रत्वादि जाति नहीं है। पञ्चेन्द्रों के उपाख्यान से अनेकों के समानकाल में होने पर भी सबके एक संस्थान होने में प्रमाण नहीं है। दुर्गा अपरणा इत्यादि में स्त्री विषय होने पर भी जाति के अभाव पर भी ङीप नहीं होता है। तरीति। यह अनुगत संस्थान से व्यंग्य है। जलसमीपदेश विशेष का नाम तट है।

नन्वेवं वृषलत्वादीनां जातित्वं न स्यात्। अवयवसंस्थानस्य ब्राह्मणादिसाधारण्येन तस्या आकृतिग्रहणत्वाभावात्, किन्तु साज्ञादुपदेशगम्या सेत्यत आह–(२) लिङ्गानामिति। इयमपि जातिरित्यर्थः। लिङ्गानामिति कर्मणि षष्ठी। सर्वाणि लिङ्गानि न भजति इति सर्वशब्दस्य लिङ्गापेक्षत्वेऽपि भाष्यप्रामाण्यात् भजो ण्विः, समासश्च। आख्यातम् आख्यानम्, उपदेशः। कथनात्–उपदेशात्। एकत्र 'इन्द्रः' इत्युपदिष्टे अन्यत्र तद्ग्रहे मानाभावान्नेन्द्रत्वादि तथा। ब्राह्मणत्वन्तु एकत्रोपदिष्टे (१)तत्तत्पित्रादिषु सुग्रहम्। वृषलत्वं (२) तदपत्यतत्सहोदरादौ सुग्रहम्। अत्राकृतिग्रहणेति नित्यानित्यसाधारणमिति (३) युवत्वादिकमपि जातिरेतन्मते। अपर आहेत्यादिना (४)यावद्द्रव्यभावित्वमित्यनित्यव्यावृत्तं लक्षणान्तरं भाष्ये दर्शितम्। एवञ्च भिन्न–ऋषिकर्तृकलक्षणद्वयप्रामाण्येन कुमारादिशब्दे जातिकार्यविकल्पः। अत एव 'युवजानिः' इत्यत्र पुंवत्त्वं, युवतितरा' इत्यत्र तदभावश्च भाष्ये उदाहृतः।

उक्त लक्षण मानने पर वृषलत्व आदि को भी जाति नहीं होगी। क्योंकि अवयव संस्थान ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में उसी प्रकार का होने से आकृति ग्रहण का अभाव है। किन्तु वह यह वृषल है। इत्यादि साक्षात् उपदेश से गम्य है। इसलिए अन्य लक्षण करते हैं। लिङ्गानामिति। पर भी जाति है। लिङ्गानाम षष्ठीकर्म में है। सर्वाणि लिङ्गानि न भजति (अर्थात जो सब लिंगों को न कहे) सर्व शब्द लिंग में सापेक्ष होने पर भी भाष्य के प्रामाण्य से 'भजो ण्विः' से ण्वि प्रत्यय होने पर समास हो जाता है तात्पर्य यह है कि सामर्थ्य से ही प्रत्यय तथा समास होता यहाँ सर्वशब्द लिंग में सापेक्ष है। आख्यातम् का अर्थ आख्यान है। अर्थात् उपदेश है। कथन से अर्थात उपदेश से एक स्थान में इन्द्र के कहने पर अन्यत्र उसके ज्ञान में प्रमाण न होने से इन्द्रत्व जाति नहीं है ब्राह्मणत्व का तो एक में उपदेश होने पर उसमें तथा उसके पिता आदि में ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है। वृषलत्व का उसके बच्चे तथा भाई आदि में ज्ञान हो जाता है। उसके पिता आदि में नहीं होता है, क्योंकि ब्राह्मण से भी शूद्रा में शूद्र की उत्पत्ति सम्भव है। यहाँ आकृतिग्रहण नित्य अनित्य साधारण है। इसलिये इनके मत में युव-त्वादिक भी जाति है। यह भी गुण लक्षण में जातिर्भिन्नत्व का विशेष का फल जानना। कोमल संस्थान से व्यंग्य युवत्व जाति है। शिथिल संस्थान से व्यंग्य वृद्धत्व जाति है। अपर आह इत्यादि से भाष्य में यावद्द्रव्यभावित्वम् यह अन्य लक्षण भी कहा है। यह लक्षण अनित्य से व्यावृत्ति है। इस तरह भिन्न-भिन्न ऋषियों से दो लक्षण होने से कुमादि शब्द में जातिकार्य विकल्प से होता है। दो लक्षण होने से युवजानिः में पुंवद् भाव होता है और युवतितरा में पुंवद भाव नहीं होता है।

नन्वेताभ्यामपि 'औपगवी' 'कठी' इत्यादेरसङ्ग्रहोऽनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यत्वाभावात्सर्वलिङ्गत्वाच्चेत्यत आह—(५) गोत्रञ्चेति। (६) शास्त्रीय-मत्र गोत्रम्। अत एव गोत्राधूनि प्रत्ययो भवति, (७) 'स्त्रियां लुक्' इति न्यासे 'औपगवी माणविका' इत्यत्राण् योऽनुपसर्जनमित्यनुपसर्जनलक्षण (८) ईकारो न प्राप्नोति, मा भूदेवम् (९) 'अणन्तादनुपसर्जनादित्येवं भविष्यति' इति प्रौढया पूर्वपक्षिणोक्तं तदङ्गीकृत्यैव 'इह तर्ह्यौपगवीभार्यः, जातिलक्षणः पुंवत्त्वप्रतिषेधो न प्राप्नोति, मा भूदेवं वृद्धिनिमित्तस्येत्येवं भविष्यति। एवन्तर्हि ग्लुचुकायनीभार्ये दोषः' इति 'एको गोत्रे' (४।१।९३) इति सूत्रस्थभाष्ये युवापत्यस्य जातित्वाभावकथनं सङ्गच्छते। अन्यथा जाति-लक्षणङीष एव परत्वाद्वक्तुं युक्तत्वं, पुंवत्त्वप्रतिषेधो न प्राप्नोतीत्यसङ्गति-श्च। ग्लुचुकायनीभार्ये दोषस्तु ङीष्पुंवत्त्वप्रतिषेधयोरसिद्धिरूपो बोद्धयः। 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थात्' इति ङीषि तु पुंवत्त्वप्रतिषेधासिद्धिरेव दोषः। अत एव 'ब्राह्मोऽजातौ' (६।४।१७१)। इति सूत्रेऽपत्ये जातौ नेत्यर्थः सङ्गच्छते। तत्र

त्वपत्यस्य जातित्वाव्यभिचारात्तदसङ्गतिः, 'ब्राह्मो नारदः' इत्यसिद्धिः। अतः सामर्थ्येनात्र शास्त्रीयगोत्रस्यैव ग्रहीतुमौचित्यम्। अनन्तरापत्यप्रत्ययान्ते (१)। 'अवन्ती' इत्यत्र जातिप्रयुक्तो ङीषिति 'अनुसर्जनात्' (४।१।१४) इति सूत्र भाष्यं त्वनन्तरेऽश्वत्थाम्नि द्रौणायनिवदोत्रत्वारोप इत्यभिप्रायेण। यूनि तु न शास्त्रीयगोत्रत्वारोपः, तत्र युवैव न गोत्रमिति नियमेन तत्संज्ञा-निषेधात्, तदाह—अपत्यप्रत्ययान्त इति। 'अपत्यं पौत्रप्रभृति' (४।१।१६२) इति परिभाषित इति शेषः। शाखाध्येत्रिति षष्ठीतत्पुरुषः, शाखायामस्त्री-विषयत्वाभावात्। जातिकार्यं लभते इति। अनेनास्यातिदेशत्वं बोधयति कठेन प्रोक्तमधीते इति वैशम्पायनान्तेवासित्वात्प्रोक्तार्थणिनेः 'कठचरकात्' (४।३।१०७) इति लुक्। अध्येत्रणः प्रोक्ताल्लुक्। बह्व्य ऋचोऽध्येतव्या यस्या इति विग्रहे 'ऋक्पूः' (५।४।७४) इत्यप् समासान्तः। स्त्रिया अध्यय-नाभावेऽपि तद्वंश्यत्वात्ताच्छब्द्यम्, यथाऽनधीयाने माणवके। 'ब्राह्मणी' इत्यत्रापत्येऽणि 'ब्राह्मोऽजातौ' (६।४।१६१) इत्युक्तेष्टिलोपाभावः।

इन दोनों लक्षणों से भी औपगवी कठी इत्यादि का संग्रह नहीं होगा, क्योंकि अनुगत संस्थान व्यंग्य का अभाव है, और सर्वलिंग भी है इसलिये कहते हैं–गोत्रञ्चेति। यहाँ शास्त्रीय गोत्र है। अपत्य मात्र नहीं है। शास्त्रीय गोत्र स्वीकार करने से 'गोत्रा-द्यूनि प्रत्ययो भवति' स्त्रियाँ लुक् से इस न्याय से 'औपगवी माणरिका' में अण् जो अनुपसर्जन अर्थ में अनुपसर्जन मानकर होने वाला ईकार नहीं प्राप्त होगा। इस प्रकार से न हो अण्णन्तात् उपसर्जनात् अर्थ में हो जायेगा। इस प्रकार बलपूर्वक पूर्व पक्षी के कहने पर उसको स्वीकार कर फिर भी औपगवी भार्याः में जातिलक्षण पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त नहीं होगा। इससे न होने पर भी वृद्धिनिमित्तस्य, से हो जायेगा। ऐसा मानने पर भी ग्लुच् कामिनीभार्या में दोष है। यह सब 'एको गोत्रे' सूत्र के भाष्य में है। इससे स्पष्ट है कि युवापत्य में जातित्व का अभाव है। जाति होने पर जाति लक्षण ङीप को ही पर होने से कहना उचित था। और पुंवत्व का प्रतिषेध नहीं प्राप्त होगा। इस कथन की असंगति भी थी। ग्लुचकायनीभार्या में ङीप और पुंवद्भाव प्रतिषेध का असिद्ध रूप दोष जानना। सर्वतोऽक्तिन्नर्थात्' से ङीप करने पर पुंवत्व प्रतिषेध की असिद्धी दोष है इसी से 'ब्राम्होऽजातौ' सूत्र में अपत्य जाति में नहीं होता है, यह अर्थ संगत होता है। तुम्हारे मत में अपत्य में जाति के व्यभिचार न होने से उसकी असंगति स्पष्ट ही थी। ब्राम्होनारदः की सिद्धि भी नहीं होती। इस-लिये शास्त्रीय गोत्र का ग्रहण करना ही यहाँ उचित है। अनन्तरापत्यप्रत्ययान्त अवन्ती में तो अवन्तेरपत्यमस्त्री इस अर्थ में 'वृद्धेत्कोसला' से ञ्यङ् उसका "स्त्रिया-मवन्ति" से लुक फिर इससे ङीष करने पर सिद्ध होता है। जाति मानकर ङीष होता है ऐसा अनुपसर्जनात् सूत्र के भाष्य में है। वह तो गोत्र के आरोप से अनन्तर अश्व-

स्थामा में द्रोषायिनः की तरह जानना। युवा में शास्त्रीय गोत्र का आरोप नहीं होता है, क्योंकि युवासंज्ञा ही होती है। गोत्र संज्ञा नहीं इस नियम से गोत्रसंज्ञा का निषेध हो जाता है। इसी से लिखा है। अपत्यप्रत्ययान्त इति। 'अपत्यं पौत्रप्रभृति' परिभाषित का ही ग्रहण करना। शाखाध्येतित। षष्ठी तत्पुरुष है। शाखा में अस्त्री विषयत्व का अभाव है। जातिकार्यम लयते इति। इससे इसको अतिदेशत्व का बोधन होता है। कठेनप्रोक्तमधीयते विग्रह में 'वैशम्पाय नान्तेवासिभ्यः' से णिन् प्रत्यय होता है, उसका 'कठचरकात्' से लुक् हो जाता है। अध्येत्र अण का प्रोक्तालुक् से लुक् होता है। बहृत्यः इत्यादि विग्रह में समास करने पर समासान्त अप होता है फिर ङीष। स्त्री को वेदाध्ययन के अभाव में भी उसके वंशज होने पर लक्षणा से ताच्छदयत्व है जैसे अपठित बालक में ब्राह्मणी में अपत्य में अण् प्रत्यय है। 'ब्राम्हीऽजाती' कहने से टिलोप नहीं होता है।

(१) परे तु आकृतिग्रहणेत्येव लक्षणम्। आकृतिपदमुपदेशोपलक्षणम्। आकृतिद्वारा साक्षाद्वोपदेशेन ग्राह्या जातिरित्यर्थः। तत्रेदृशाकारो गौरित्याकृत्युपदेशग्राह्या गोत्वादिजातिः, 'अयं ब्राह्मणः' इतिसाक्षादुपदेशग्राह्या ब्राह्मणत्वादिजातिः (२) यद्वा, आकृतिग्रहणं (३) जातिग्राहकोपदेशस्याप्युपलक्षणम्। लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक् इति तत्स्व (४) रूपानुवादकम्। तेन शुल्कादिगुणानामेकत्वेऽपि जातित्वाभावो बोधितः। (५) अत एव 'विशेषणानाञ्च' (१।२।५२) इति सूत्रे जातेराविष्टलिङ्गत्वं भाष्ये उक्तम्। आविष्टालिङ्गत्वं नियतलिङ्गत्वमिनि कैयटः। तच्च प्रायिकमिति केचित्। '(२) भाष्यप्रामाण्याज्जातेरेकशब्दवाच्याया न त्रिलिङ्गता, 'तटं त्रिषु' इत्यादिकोशकृतां प्रमादः' इत्यन्ये। 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इत्यनेनैकत्वमनेकानुगतत्वञ्च बोधितम्। सकृदेकवारं क्वचिद्व्यक्तौ साक्षादाकृतिद्वारा वोपदिष्टा व्यक्त्यन्तरे ग्रहीतुं शक्येति तदर्थः। गोत्रञ्चेत्यादि प्राग्वदेव। (३) अत एव—

प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥

इति (४) लक्षणान्तरं भाष्ये उक्तम्। सत्त्वस्य द्रव्यस्य प्रदुर्भावविनाशाभ्यां या तौ प्राप्नोति सा जातिरिति लक्षणम् (५) यावद्द्रव्यभाविनीति तदर्थः। (६) अनेन गोत्वब्राह्मणत्वाद्योरुभयोरपि सङ्ग्रहः। (७) गुणैर्युगपद् द्रव्येण सम्बध्यते। (८) यथा निर्गुणस्य द्रव्यस्य नोपलम्भतथा जाति रहितस्यापीत्यर्थं इति कैयटः। इदं स्वरूपकथनमेव। अत्र लक्षणे असर्वलिङ्गमित्येतत् मदुक्तार्थकमेव, न तु लक्षणान्तरम् अनुपयोगात्। बह्व-

र्थाम् । सर्वव्यक्तिव्यापिनीमित्यर्थः । एतदेकवाक्यतया (९) पूर्वलक्षणेऽपि मदुक्तव्याख्यैवोचिता ।

(१०) अत एव 'कः पुनरेतयोर्जातिलक्षयोर्विशेषः । यथा पूर्वलक्षणं तथा कुमारीभार्य इति भवितव्य, यथोत्तरं तथा कुमारभार्यः' इति भाष्ये लक्षमित्येकवचनमेव प्रयुक्तम् । अत एवाकडारसूत्रशेषे 'आकृतिग्रहणा जातिः' इत्येवोक्तं भाष्ये इत्याहुः ।

नागेश का मत है कि आकृतिग्रहण ही लक्षण ठीक है । आकृति पद उपदेश का उपलक्षण है । आकृति के द्वारा अथवा साक्षात् उपदेश से जिसका ग्रहण हो वह जाति है । वहाँ इस प्रकार का गो है—यह आकृति द्वारा उपदेश से ज्ञात होता है । यह ब्राह्मण है यह साक्षात् उपदेश से ग्राह्य ब्राह्मणत्वादि जाति है उक्त प्रकार से शुक्लादि गुण में भी जातीत्व आ जायेगा इसलिये कहते हैं । यहाँ आकृति ग्रहण जाति ग्राहक उपदेश का भी उपलक्षण है वह उपदेश इस आकार वाला गो, यह ब्राह्मग ही है । अयं शुक्लः तो गुण ग्राहक उपदेश है । "लिङ्गानाञ्च च सर्वभाक्" यह उसके स्वरूप का अनुवादक है । इससे शुक्लादि गुणों में एकत्व होने पर भी जातीत्व का अभाव प्रतीत होता है असर्वलिंग होने से ही 'विशेषणानाञ्च' सूत्र के भाष्य में जाति को आविष्ट लिङ्गत्व कहा आविष्ट लिङ्ग का कैयट ने नियत लिङ्ग अर्थ किया है । वह प्रायिक है । ऐसा किसी का कथन है । भाष्यप्रामाण्य से एक शब्द से वाच्य जाति में तीनों लिङ्गो को होना सम्भव नहीं है । तट तीनों लिङ्गो में होता है यह कोशकारों का प्रमाद है सकृदाख्यात निगह्यिा से एकत्व और अनेकानुगतत्व का लाभ होता है । सकृत् अर्थात एक बार किसी व्यक्ति में साक्षात् या आकृति के द्वारा उपदेश देने पर अन्य व्यक्ति में जिसका ग्रहण हो सकता है । गोत्रच्च इत्यादि पूर्ववत् है । गोत्व ब्राह्मण-त्व को एक लक्षण से संग्रह होने से ।

प्रादुर्भावविनाभ्याम् इत्यादि अन्य लक्षण भाष्य में कहा है, सत्त्वस्य–अर्थात् द्रव्य के प्रादुर्भाव और विनाश से जो उनको प्राप्त करती है वह जाति है उसका अर्थ है यावद्द्रव्य भाविनी, अर्थात् जब तक द्रव्य है तब तक उसमें रहने वाली, इस एक लक्षण से गोत्व ब्राह्मणत्व दोनों का संग्रह है । गुणैः में तृतीया 'प्रकृत्यादिभ्य उप-संख्यानम्' से है द्रव्येण में तृतीया सहार्थ में है । गुणो से एक साथ द्रव्य के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होती है । जिस प्रकार निर्गुण द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती है, उसी प्रकार जाति रहित द्रव्य ही उपलब्धि नहीं होती है । ऐसा कैयट ने कहा है । यह स्व-रूप कथन मात्र है इस लक्षण में असर्वलिङ्गाम् भी मेरे कहे अर्थ वाला ही है भिन्न लक्षण नहीं है, क्यों कि उसका कोई उपयोग नहीं है । बह्वर्थाम् अर्थात् सब व्यक्तियों में व्याप्त इसके साथ एक वाक्यता होने से सकृदाख्यात लक्षण में भी मेरी व्याख्या उचित है । पूर्वोक्त दोनो लक्षणों को एक ही लक्षण मानने से । इन दोनों जाति लक्षणों में क्या विशेषता है । जैसे पूर्व लक्षण मानने पर कुमारी भार्यः होना चाहिए । भाष्य

में लक्षणम् एक वचन का ही प्रयोग किया है इसी से 'आकडार' सूत्र के अन्त में "आकृति ग्रहण जातिः' इतना ही भाष्य में कहा है।

बलाकेति। अयञ्च बिसकन्ठिकापदवाच्यजातिविशेषवाची। स च बकत्वव्याप्योऽन्यो वेत्यन्यदेतत्। (११) अस्त्रीविषयादित्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये लिङ्गान्तररहितभिन्नादित्यर्थः। (१) एतेन बलां कायतीति यौगिकस्य सर्वलिङ्गत्वात्।

बलाका बकपंक्तिः स्याद् बलाका बिसकण्ठिका।
बलाका कामुकी प्रोक्ता बलाकश्च बकोमतः ॥

इति कोशे पुंल्लिस्याप्यभिधानाच्च नेदं युक्तमित्यपास्तम्। (२) अत एव 'पाककर्ण' (४।१।६४) इति सूत्रे चरितार्थम्। तद्धिस्त्रीविषयार्थम्। (३) अन्यथा तेपामपि यौगिकेऽर्थे लिङ्गान्तरसम्भवेन पूर्वेण सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

बलाकेति। यह विषकन्ठिका पद से बाच्य जो जाति विशेष उसका बाची है। वह बकत्व बाध्य हो अथवा अन्य हो। अस्त्रीविषयात् का तो प्रवृत्ति निमित्त के एक्य होने पर लिङ्गान्तर से जो रहित हो उससे भिन्न हो यह अर्थ है। अस्त्री विषयात् का पूर्वोक्त अर्थ करने से वलां कायतीति बिग्रह से यौगिक को सर्वलिङ्ग होने से (बलाका बकपङ्क्ति स्यात्) इत्यादि कोश में पुल्लिग के भी यह युक्त नहीं है बे परास्त है।

बकपंक्ति को बलाका कहटे हैं, बिसकण्ठिका को बलाका कहते हैं, कामुको को भी बलाका कहते हैं बक को बलाक (पुल्लिग) कहते हैं। योगार्थक अग्रह से 'पाककर्ण' सूत्र भी चरितार्थ हुआ। वह सूत्र स्त्रीय विषय के लिये है। उक्त रीति से स्त्री विषयत्व के न मानने पर यौगिक अर्थ में उनको भी लिङ्गान्तर सम्भव होने से पूर्व सिद्ध होने पर वैयर्थ्य ही था।

पाककर्ण (४।१।६४)। जातिवाचिनः किम्? बहुपुष्पा शाखा। स्त्रीविषयादपीति। अजात्यर्थन्तु न, प्राक्पुष्पादिषु जातिवचनेषु नित्यस्त्रीलिङ्गेषु 'सदच्काण्ड' (का० वा०) इत्यादिनिषेधात्। योपधादपीति। पुनर्जातिग्रहणादिति भावः। अस्त्रीविषयादिति तु पूर्वसूत्रेण विच्छिन्नम्। तित्तिरिरिति।

(४) स्त्रीपुंसयोरपत्यान्ता (५) द्विचतुःषट्पदोरगाः।

इत्यमरादयं स्त्रियामपीति भावः। इतः किम्? दरत्। 'व्द्यञ्मगध' (४।१।१७०) इत्यणः 'अतश्च' (४।१।१७७) इति लुक्।

पाककर्ण। जातिवाची के अभाव में शतपुष्पाशाला में दोष था। स्त्रीविषयादपीति। अजाति के लिये तो नहीं है। क्योंकि जातिवाचक नित्यस्त्रीलिंग प्राक्-पुष्पादिओं

में 'सदच्काण्ड' से निषेध हो जायेगा। पोपधादपीति। फिर जाति ग्रहण के करने से। अस्त्री विषयात् तो पूर्व सूत्र में निच्छिन्न है। तित्तिररिति। 'तित्तिर ककुभो लावः' इस अमर में पुल्लिग ककुभ और लाव् के साहचर्य से तित्तिर भी पुल्लिग ही होना चाहिये फिर स्त्रीत्व किस प्रकार से हुआ, उसका उत्तर देते हैं। "स्त्रीपुंसयोरयत्यान्ता द्विचतुः षट्पदोरगाः।" इस प्रकार से यह स्त्री में भी है। अपत्यान्ताः का अर्थ है कि अपत्य अर्थ का बोधक प्रत्यय अन्त में हो अतएव औपगवः, औपगवी सिद्ध होते हैं। द्विचतुरित्यादि द्विपद, चतुष्पद-षट्पद उरगवाची जाति विशेष को कहने वाले स्त्रीलिंग और पुल्लिग होते है। इतः के अभाव में दरत् में दोष होता है। उक्त प्रयोग 'द्वयन्मगध' से अन् और अनश्च उसका लुक होता है।

ऊङ्उतः [४।१।६६]। ङकारो 'नोङ्धात्वोः' [६।१।१६५] इति विशेषणार्थः। अन्यथा 'यवाग्वा' इत्यादवपि निषेधः स्यात्। दीर्घोच्चारणं प्रश्लेषेणोकारद्वयविधानद्वारा [६] 'ब्रह्मबन्धूः' इत्यादिबहुव्रीहौ [७] परकब्निवृत्त्यर्थं, रूपाणां सवर्णदीर्घेण सिद्धेरिति भाष्ये स्पष्टम्। [८] श्वश्रूरिति तु 'श्वशुरः श्वश्र्वा' [१।२।७१] इति निर्देशात्सिद्धम्। कुरूरिति। एकादेशस्य पूर्वान्तवत्त्वात्स्वादयः। अध्वर्युरिति। अध्वर्युशाखाध्यायिवंशोद्भवेत्यर्थः। रज्ज्वादीति। उत इति तु नेह सम्बध्यते 'अलाबूः' इति भाष्योदाहरणादिति भावः। 'कृकवाकुः' इत्यत्र मनुष्यजातित्वाभावात्पूर्वेणापि न।

ऊङुतः। ङकार 'नोङधात्वोः' में विशेषण के लिये है नहीं तो 'यवाग्वा' इत्यादि में भी निषेध हो जाता। दीर्घोच्चारण प्रश्लेष से उकार द्वय के विधान के द्वारा ब्रम्हबन्धुः इत्यादि बहुव्रीहि में 'शेषाद्विभाषा' से प्राप्त कप् भी निवृत्ति के लिये है। सवर्ण दीर्घ तो प्रयोगों की सिद्ध हो जायेगी। यह भाष्य में स्पष्ट है। श्वश्रूः तो श्वश्रूराः 'श्वशत्वा' इस निर्देश से सिद्ध है। कुरुरिति। एकादेश को पूर्वान्तवद्भाव से स्वादि होते हैं। अध्वर्युरिति। अध्वर्युशाखात्वा को पढ़ने वाले के अंश में उत्पन्न यह अर्थ है। रजत्वादीति। 'अलावूः' इस भाष्य उदाहरण से यहाँ उतः का सम्बन्ध नहीं है। 'कृकवाकुः' में मनुष्य जाति के न होने से पूर्वसूत्र से भी नहीं होता है।

पङ्गोश्च [४।१।६८]। पङ्गुशब्दो गुणवाचीति पूर्वेणाप्राप्तिः। श्वशुरस्येति। 'श्वश्र्वा' इति निर्देशादन्त्याकारस्य लोपः। तन्निर्देशसिद्धमेवैतत्। भाष्ये त्विदं न दृश्यते। [१] ङ्याब् [४।१।१] इति सूत्रस्थ भाष्यस्वरसस्त्वयमनूङन्तोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति।

पङ्गोश्च। पंगु शब्द गुणवाची है। इससे पूर्वसू से प्राप्ति नहीं है। श्वशुरस्येति। 'श्वश्रवा' इस निर्देश से अन्त्यषकार का लोप होता है। उस निर्देश से सिद्ध है, भाष्य में तो यह नहीं दीखता है। 'ङयाप्' सूत्र के भाष्य से तो यह अनूऽन्त अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है।

ऊरूत्त (४।१।६९)। उपमीयतेऽनयेत्युपमा उपमानं, तद्भाव औपम्यम् उपमानत्वम्। एवञ्च तद्बोधकोरूत्तरपदादित्यर्थः। उत्तरपदाक्षिप्तं पूर्वपदं प्रत्यासत्त्योपमानवाच्येव। अतः 'करभोपमोरुः' इत्यत्र न, तदाह— उपमानवाचीति। करभेति मणिबन्धादाकनिष्ठं करबहिर्भागः करभस्तद्वदूरू यस्या इत्यर्थः।

ऊरूत्त। 'उपमीयतेनेन उपमा' जिससे उपमा दी जाय अर्थात् उपमान उससे भाव में ष्यञ् प्रत्यय करने से औपम्यम् की सिद्ध होगी अर्थात उपमानत्वम्। इस तरह उपमान बोधक उत्तरपद से इत्यादि अर्थ है। उत्तरपद से आक्षिप्त पूर्वपदभी प्रत्यासत्य न्याय से उपमान वाची ही लेना। इसी से 'करभोपमोरुः' में नहीं होगा। उसीका उपपादन करते हैं— उपमानवाचीति। करभेति। मणिबन्ध (पहुँचे) से कनिष्ठ अंगुलि पर्यन्त हाथ के बाहर के भाग का नाम करभ उसके समान है। उरुः जिसके यह अर्थ है।

उपचारादिति। शफशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्योरुपदार्थे आरोपादित्यर्थः। एवञ्च समासस्योपमानोपमेयभावाबोधकत्वेन न पूर्वसूत्रप्राप्तिः। तदारोपे च स निमित्तमित्यन्यदिति भावः।

ननु सहशब्दग्रहणं व्यर्थं सर्वस्योरुमत्त्वेन सहशब्दप्रयोगस्य तत्समभिव्याहारे व्यर्थत्वेन 'सहोरूः' इति प्रयोगस्यैवाभावादत आह—सहेते इति। रतिश्रममिति शेषः। सह विद्यमानावूरू यस्या इत्यर्थं इति कैयटः। अतिरमणीयावित्यर्थ इति तदाशयः 'कमलानि कमलानि' इतिवत्।

उपचारादिति। इसका अर्थ आरोपात् शफ शब्द के प्रवृत्ति निमित्त का उरुपदार्थ में आरोप है। इस तरह से यहाँ समास उपमान उपमेया भाव का बोधक न होने से पूर्व सूत्र की प्राप्ति नहीं है। उसके आरोप में वह निमित्त मात्र है।

अब यहाँ शंका करते हैं कि सहशब्द का अर्थ विद्यमान है तब सह ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि सब ही उरुः वाले है। तब उसके पास में सह शब्द का प्रयोग व्यर्थ होने से सहोरुः' प्रयोग सम्भव नहीं है। उत्तर देते हैं–सहेते इति। अर्थात् रति के श्रम को सहन करने वाले। सह विद्यमान है। उरु जिसके यह अर्थ कैयट ने किया है। उसका तात्पर्य है कि अतिरमणीय है। कमलानि-कमलानि की तरह यह अर्थ है। तदा जायन्ते गुणा यदा सदहृदयेग्रहन्ते रविकिरण गृहीतानि भवन्ति कमलानि-कमलानि। यहाँ द्वितीय कमल शब्द व्यंजना वृत्ति से अतिसुन्दरता का द्योतक है, उसी प्रकार यहाँ भी अतिरमणीय अर्थ को कहने से व्यर्थ नहीं है।

कद्रूरिति। नागमातुः सञ्ज्ञा। अच्छन्दोऽर्थमिति। छन्दसि 'कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि' (४।१।७१) इत्यनेनैव सिद्धिरिति भावः।

कद्रूरिति । नागों की माता का नाम है। अच्छन्दोऽर्थमिति । वेद में तो 'कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि' से सिद्ध है।

अञो य इति । शार्ङ्गरवादीति लुप्तपञ्चम्यन्तम्, अञ् इति च षष्ठी। अनुपसर्जनादिति विभक्तिविपरिणामेनास्य विशेषणम्। एवं 'टिड्ढा' (४।१। १५) इत्यत्रापि सुवचम्। तद्वदत्र पञ्चम्यन्तत्वमपि सुवचम्। अञ्योऽकार इत्यपि पाठः क्वचित्। शार्ङ्गरव्यां जातिलक्षणे ङीषि प्राप्ते वचनम्। अणि आदिवृद्धयोर्गुणौ। पुत्रशब्दोऽत्र पठयते तस्य पाठसामर्थ्याज्जातित्वाभावेऽपि ङीन्।

अञो यइति। शार्ङ्गरवादि लुप्तपंचमम्यन्त है अर्थात् इसकी पंचमी का लोप हो गया है। और अञः षष्ठी है। अनुपसर्जनात् विभक्ति विपरिणाम् करने से इसका विशेषण है।, इसी प्रकार 'टिड्ढा' में भी कह सकते हैं। उसकी तरह यहाँ पंचमम्यन्त भी सुवच् है अञ्योकारः ऐसा भी कहीं पाठ है। शार्ङ्गरवी में जाति लक्षण ङीष प्राप्त था वचनारम्भ किया। शृङ्गरु शब्द से अण् प्रत्यय आदि वृद्धि और ओर्गुणाः अवादेश करने पर शार्ङ्गरब की सिद्धि होती है। शार्ङ्गरवादि गण में पुत्रशब्द का भी पाठ है। पाठ होने के कारण जाति के अभाव में भी ङीन् हो जाता है।

नृनरयोरिति। यद्यपि 'नारी' इति नृशब्देन सिद्धं, 'नरी' इति तु पुंयोगङीषा दुर्वारं, जातिग्रहणानुवृत्त्या तत्रास्याप्रवृत्तेरिति नरग्रहणं व्यर्थं, तथाऽपि नरत्वजातिमात्रप्रतिपिपादयिषायां 'नरी' इति व्यावृत्त्यर्थं तद्ग्रहणम्। अत्राद्याकारस्यैव वृद्धिर्लक्ष्यानुसारिव्याख्यानात्। वस्तुत इदं गणसूत्रमनार्षम्। 'नुर्नरस्य च धर्म्या नारी' इति 'ऋतोऽञ्' (४।४।४९) इति सूत्रेण 'नरस्य चेति वक्तव्यम्' (का० वा०) इति वार्तिकेन चाद्युदात्तनार्याः सिद्धेः। रूढया योग्यतया तद्धर्म्या नरत्वजातिविशिष्टैव बुद्धयते। अत एव 'वसेस्तव्यत् कर्त्तरि णिच्च' इति वचनं वास्तुनि भवो 'वास्तव्यः' इति दिगादित्वात्संसाद्ध्य प्रत्याख्यातं भाष्ये। नित्यानां शब्दानां यथाकथञ्चिदन्वाख्यानं कार्यमिति कैयटः। रूढया सर्वदोषपरिहार इति तदाशयः।

नृनरयोरिति। यद्यपि नृ शब्द से नारी की सिद्ध हो जायेगी पुयोंग में ङी करने पर 'नरी' भी होगा। जाति ग्रहण की अनुवृत्ति होने से वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, फिर नर ग्रहण व्यर्थ है तो भी नरत्व जाति मात्र की प्रतिपादन करने की इच्छा से नरी प्रयोग की व्यावृत्ति के लिए नर का ग्रहण है। लक्ष्यानुसारी व्याख्यान से नर में नकार के आकार को ही वृद्धि होती है। बास्तबिक में यह गण सूत्र अनार्ष है। 'नुर्नरस्य चधर्म्या नारी' 'ऋतोऽञ्' सूत्र से 'नरस्य चेति वक्तव्यम्'' इस वार्तिक से

आद्युदान्त नारी की सिद्ध हो जायेगी। रुढ़ि और योग्यतासे 'नर के धर्म वाली नरत्व जाति विशिष्ट ही समझी जाती है। उसी प्रकार 'वसेस्तव्यत् कर्त्तरिणिच्च' वचन को वास्तुनि भवो विग्रह में दिगादि मानकर यत् से सिद्ध कर प्रत्याख्यान भाष्य में कर दिया है। नित्य शब्दों का किसी प्रकार अन्वाख्यान करना चाहिये ऐसा कैयट ने लिखा है। रुढ़ से सब दोषों का परिहार है यह कैयट का आशय है।

यङश्चाप् (४।१।७४)। पकारो 'याडापः' (७।३।११३) इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः। चकारस्य द्व्यनुबन्धकत्वसम्पादनद्वारासामान्यग्रहणाविघातकत्वेन चारितार्थ्येऽपि 'आम्बष्टया' 'आवट्या' इत्यादौ परत्वाच्चित्स्वरः पित्स्वरं बाधते इति बोद्धयम्। षाद्यञ इति। एवञ्च गौकक्ष्यशब्दस्य गर्गादियञन्तस्योदीचां मतेऽनेनैव चापः सिद्धेः स क्रौड्यादिषु न पाठ्यः। सम्प्रसारणन्तु तस्य नेष्टमिति स्पष्टं भाष्ये।

यङश्चाप्। यकार 'यागपः' में सामान्य ग्रहण के लिए है चकार दो अनुबन्ध वाला बनाकर सामान्य ग्रहण का अविघातक होने से चरितार्थ भी है तो भी आम्बष्टया आवप्या में पर होने से चितस्वर, पितस्वर बाध लेना है। षाद्यञइति। गर्गादि यञ् प्रत्ययान्त गौपक्ष शब्द को उदीचों के मत में इसी से चाप् सिद्ध है। फिर क्रौडयादि में उसका पाठ नहीं करना उसको सम्प्रसार तो इष्ट नहीं है।

यूनस्तिः (४।१।७७)। 'ऋन्नेभ्यः' (४।१।५) इति ङीपोऽपवादः। उत्तरार्थं इति। इह करणं तदनित्यत्वज्ञापनार्थमिति केचित्।

यूनस्तिः। 'ऋन्नेभ्यः सेविहित ङीप का यह अपवाद है। उत्तरार्थइति। यहाँ करना उसके अनित्यत्व में ज्ञापक है।

॥ इति स्त्रीप्रत्ययाः ॥

॥ कारकप्रकरणम् ॥

आरोहण (चढ़ाव) अवरोहण (उतार) क्रमों के बीच में अवरोहण क्रम से ही शब्दों के साधुत्व को कहने वाले ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्ति श्रीमान् भट्टोजिदीक्षित पहले वैयाकरणों के सिद्धान्त में सिद्ध वाक्यस्फोट के अभिव्यंजक वाक्य के साधुत्व के बोधक पंचसंधिप्रकरण को कहकर वाक्य के साधुत्व ज्ञान के लिए वाक्य के मध्य में आये सुबन्त तथा तिङन्त पदों के साधुत्व ज्ञान की आवश्यकता होने पर सूची कटाहन न्याय से (अर्थात् सुबन्त में श्रम कम है और तिङन्त में अधिक) प्रथम सुबन्त के साधुत्व को सिद्ध करने वाले अजन्तादि षट् लिङ्ग तथा अव्यय प्रकरण का प्रतिपादन कर सुप् के प्रकृति भूत प्रातिपदिक के साधुत्व को सिद्ध करने वाले समास तद्धित प्रकरणों की अपेक्षा उनके उद्देश्यतावच्छेदक को सिद्ध करने वाले सुप् के साधुत्व को सिद्ध करने वाले कारक प्रकरण का कथन आवश्यक था तो भी सुप् और प्रातिपादिक के अन्तर्गत स्त्री प्रत्यय के पश्चात् भी ङ्याप् प्रातिपदिकात् से स्वाद् प्रत्ययों का विधान होने से स्त्री प्रत्यय प्रकरण को प्रथम कहकर कारक का निरूपण आवश्यक समझकर स्वौजसमौड इत्यादि ग्रन्थ से कारक प्रकरण प्रारम्भ करते है।

(१) 'स्वौजसमौड्' (४।१।२) इतिविहितस्वादीनामर्थविशेषव्यवस्थां दर्शयितुमाह—प्रातिपदिकार्थेति । (२) इदमपि सूत्रं (३) क्रियायोगे एव प्रवर्त्तते (४)अन्ततोऽस्तिक्रियायाः सर्वत्र सत्त्वात् । आख्यातार्थकर्त्रादिना-(५)ऽभेदान्वयेन तद्द्वारकः क्रियायोगो बोद्धयः । प्रथमान्तार्थस्यापि क्रिया-जनकत्वादस्याः कारकविभक्तित्वेन भाष्ये व्यवहारः । ननु कृष्णादिशब्देषु लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वाल्लिङ्गग्रहणमनर्थकमत आह—नियतेति । (१)यस्मिन्प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स इति तदर्थः । (१)अन्वयानुपपत्तिपूर्विका लक्षणा पदे एव । प्रत्ययोत्पत्तिः सर्वत्र शक्यार्थे एव । (१)शक्यतावच्छेदकारोप एव च लक्षणेति न लक्ष्यासङ्ग्रहो दोषः । तटादिशब्दानां तत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहारे सकललिङ्गबोधकतया न किमपि लिङ्गं ततो नियतोपस्थितिकमिति न तद्बोद्ध्यलिङ्गस्यात्र प्रातिपदिकार्थशब्देन ग्रहणमिति लिङ्गग्रहणमिति भावः ।

'स्वौजस' सूत्र से विहित स्वादियों की विशेष अर्थ व्यवस्था दिखाने के लिए कहते है—प्रातिपदिकार्थेति द्वितीया की तरह प्रथमा भी कारक विभक्ति है। इस बात

की पुष्टि करने के लिए कहते हैं कि यह प्रातिपदिकांत सूत्र भी क्रिया के योग में प्रवृत्ति होता है। इसमें 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र का भाष्य ही प्रमाण हैं वहाँ लिखा है कि उक्त सूत्र अप्रधान ग्रहण के अभाव में 'पुत्रेण सहागतः पिता' यहाँ पितृपद से भी तृतीया विभक्ति हो जायेगी ऐसी आशंका कर कारक विभक्ति होने से प्रथमा बाधिका हो जायेगी। इस प्रकार का समाधान ही प्रमाण है। अन्यथा क्रियान्वयि व रूप कारक के अभाव में वह समाधान असंगत ही था। चैत्रः में क्रिया योग नहीं है। यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अन्त में अस्ति क्रिया सर्वत्र विद्यमान है 'त्रयः कालाः' में ज्ञायन्ते का अध्याहार करके कार्य सिद्ध करना क्योंकि वहाँ अस्ति आदि का अध्याहार होना सम्भव नहीं है। आख्यात (तिङ) का अर्थ कारता आदि के साथ अभेदान्वय से उसके द्वारा क्रिया योग जानना। प्रथमान्त का अर्थ भी क्रिया का जनक होता है। इसलिए प्रथमा को भी कारक विभक्ति का व्यवहार भाष्य में किया है। कृष्णादि शब्दों में लिङ्ग को भी प्रातिपदिकार्थ होने से लिङ्ग ग्रहण व्यर्थ है इस प्रकार की शंका कर उत्तर देते हैं—नियतेति। जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या, कारक, पांच प्रातिपदिकार्थ होने पर भी प्रकृति में लिङ्ग ग्रहण से इस सूत्र में नियतोपस्थित की ही प्रातिपदिकार्थ लिया जाता है। नियतं उपस्थितिर्यस्य स नियतोपस्थितिकः, निपूर्वकयम् धातु का व्यापकत्व अर्थ है; उससे जो क्त प्रत्यय हुआ है उसका आश्रय अर्थ है। यस्य षष्ठी का अर्थ विषयता है इस प्रकार से व्यापकता श्रयो पस्थिति विषयत्वम् प्रातिपदिकार्थ लक्षण हुआ। व्यापकता व्याख्यांश में साकांक्ष होती है। अतः उच्चारण प्रातिपदिक निष्ठा व्याप्यता ग्रहण होती है तब उच्चारण प्रातिपदिक निष्ठ व्याप्यता निरूपित व्यापकता वधुपस्थिति विषयताम् श्रमत्व लक्षण सम्पन्न हुआ। यहाँ व्याप्यतावच्छेदक तथा व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध, समवाय ही है क्योंकि प्रातिपदिक शब्द रूप है वह समवाय सम्बन्ध से आकाश में रहता है तथा उपस्थिति ज्ञान रूप है। वह समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहती है। यहाँ प्रातिपदिक व्याप्य है और उपस्थिति व्यापक है तब समवाय सम्बन्धावच्छिन्नोच्चारित प्रातिपदिक निष्ठ व्याप्यता निरूपित समवाय सम्बन्धावच्छिन्न व्यापकतावदुपस्थित विषयत्वम्। अधिक विस्तार संस्कृत टीका में देखिये। जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करने से जिस अर्थ की नियम से उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है। अब यहाँ शंका होती है कि सिंहोमाणवकः इत्यादि लक्षणास्थल में लक्ष्यार्थ माणवक की नियतोपस्थित न होने से सिंहादि पद रूप प्रातिपदिकत्व नहीं होगा। उत्तर अन्वय की अनुपपत्ति होने पर जो लक्षणा होती है। वह सिद्ध पद में ही होती है अर्थात् माणवकः तथा सिंहः की सिद्ध होने पर अन्वय न होने से लक्षणा होती है। प्रत्यय की उत्पत्ति सब जगह शक्यार्थ में ही होती है। अथवा शक्यतावच्छेदक का आरोप ही लक्षणा है जैसे गंगायाम्घोषः में गंगात्व का आरोप करके गंगात्व प्रकार तीर विशेष्यक बोध होता है। इस प्रकार से लक्ष्य का भी संग्रह हो जाता है। तट् शब्द का प्रयोग तीनों लिंगों में होता है। तटादि शब्दों का उन-उन प्रत्ययों के समीप

में सकल बोधक होने से कोई भी लिंग नियतोपस्थितिक नहीं है। इसलिए उससे बोध्य लिंग का प्रातिपदिकार्थ से ग्रहण नहीं हो सकता है, इसलिए लिंग ग्रहण किया है।

लिङ्गमात्रेति। [२]लिङ्गस्यैवाधिक्ये इति क्रमेणार्थः। यद्यपि [३] विशेष्यविशेषणभावोऽप्यधिको भासते तथापि तस्य वाक्यार्थत्वेन बहिरङ्गतया न स्वार्थमात्रनिमित्तकप्रथमप्रवृत्तसंस्कारबाधकत्वमिति बोद्ध्यम्। अभेदेन संसर्गेणेति। [१]इतरसम्बन्धानवच्छिन्नविशेषणविशेष्यभावसंसर्गेणेत्यर्थः। अभेदस्तु न संसर्ग इत्यन्यत्र प्रपञ्चितम्।

लिङ्गमात्रेति। केवल के लिङ्ग अधिक होने पर यह क्रम से अर्थ है। यद्यपि विशेषण विशेष्य भाव भी अधिक प्रतीत होता हैं, तो भी उसके वाक्यार्थ होने से बहिरंग होने के कारण स्वार्थ मात्र निमित्त वाले प्रथम प्रवृत्त संस्कार का बाध नहीं होता है। अभेदेन संसर्गेणेति। अन्य सम्बन्ध से रहित केवल विशेष्य विशेषण भाव से ही कहना अभेद सम्बन्ध नहीं है यह मन्जूषा के सुअर्थ प्रकरण में स्पष्ट किया है। अभेद के सम्बन्ध न होने से मूल में इतर पद भी व्यर्थ ही है क्योंकि उससे किसी की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है। यदि अभेद सम्बन्ध होता तो राहोक्षिरः में सम्बन्ध में षष्ठी हो जाती। फिर त्यवदैशिवह भाव से षष्ठी का कहना भाष्यकार का व्यर्थ हो जाता।

इहोक्तार्थत्वादिति। उक्तार्थानामप्रयोगात् प्रातिपदिक प्रतिपादित संख्याविशिष्टे [२]संख्यान्तराभावाच्च तदप्राप्तिः। अनन्विताथंकविभक्त्यपेक्षयाऽनुवादकविभक्तेरेव न्याय्यत्वान्न व्याादिभ्यः सर्वविभक्यत्यापत्तिरिति भावः। [३]लिङ्गविशिष्टपरिभाषया 'इन्द्राणी' इत्यादौ प्रथमासिद्धिः। परिमाणशब्दश्च परिच्छेदकपर इत्युन्मानादिष्वपि प्रथमासिद्धिरिति बोद्धयम्।

इहोक्तार्थत्वादिति। एकः द्वौ बहवः में विभक्ति आने की संभावना नहीं है, क्योंकि जो अर्थ उक्त हो चुका है उसका प्रयोग नहीं होता है। सु का एकत्व अर्थ एक से उक्त हो गया है। अतः प्रातिपदिकात में प्रथमा का आना असम्भव है, इसलिये वचन ग्रहण किया अब यहां शंका होती है कि एक से औ द्वि से सु विपरीत संख्या क्यों नहीं होती है प्रातिपदिक से प्रातिपादित संख्या वाले में अन्य संख्या के अभाव के कारण अन्य संख्या की प्राप्ति नहीं है।अर्थात् जिस विभक्ति का अन्वय हो सकता हो उसकी कल्पना करना उचित है, अन्वय न होने वाली की नहीं, एक में द्वित्वादि मान करना उचित नहीं है। अनुवादक विभक्ति कल्पना ही न्याय उचित है इस लिये द्विआदि से सम्पूर्ण विभक्तियों की आपत्ति नहीं है इन्द्राणी में प्रथमा सिद्ध करने के लिये कहते हैं कि लिंग विशिष्ट परिभाषा से इन्द्राणी में भी प्रथमा हो जाती है क्योंकि स्त्रीप्रत्ययान्त के अप्रातिपदिक होने से प्रातिपदिकार्थत्व नहीं है। परिभाषा

शब्द का परिच्छेदक भी अर्थ है इसलिये उन्मानादि में प्रथमा सिद्ध होती है।

[४]परे त्वत्र सूत्रे प्रातिपदिकार्थशब्देन [५]प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्च। स च मुख्य इवाऽऽरोपिततदाश्रयोऽपि। अत एव 'गोपी' इत्यादौ स्वादि-प्रकृतेर्लाक्षणिकत्वेऽपि न दोषः। [१]अत एव लिङ्गग्रहणं सार्थकम्। [१] अन्यथा 'स्वमोर्नपुंसकात्' [७।१।२३] इत्यादिशास्त्रप्रामाण्येन लिङ्गस्यापि [२]प्रातिपदिकार्थतया तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। [३]अत एव 'स्त्रियाम्' [४।१।३] इति सूत्रे स्त्रीत्वे द्योत्ये इत्यर्थ इति भाष्ये सिद्धान्तितम्। [४]'तस्माच्छसः' [६।१।३] इत्यत्र पुंसीत्यस्य पुंशब्दस्य प्रकृतित्वे इत्येवार्थः। [५]'अभिहिते प्रथमा' इति वार्त्तिकस्य तत्तत्प्रातिपदिकार्थगत-कारकशक्तावन्येनाभिहितायां स्वार्थे प्रातिपदिकात्प्रथमेत्यर्थ इति न तद्वि-रोधः। एतेन [६] तन्नये कारकस्य प्रत्ययार्थत्वं, [७]तव तु तन्नेति विरोध इत्यपास्तम्।

परे तु से नागेश अपना सिद्धान्त प्रकट करते हैं कि इस सूत्र में प्रातिपदिकार्थ शब्द से प्रवृत्ति निमित्त और उसके आश्रय का ग्रहण है। प्रवृत्ति निमित्त का लक्षण पक्षधर मिश्रकृत यह है। वाच्यत्वे सति वाच्य वृत्तित्व सति वाच्योपस्थिति प्रकार-ताश्रत्व अर्थात् वाच्य हो वाच्य में रहता हो तथा वाच्य की उपस्थिति में प्रकारता (विशेषणता) का आश्रय हो। जैसे जाति तथा व्यक्ति दोनों ही पदार्थ वैयाकरणों के मत में हैं। जाति वाच्य है, वाच्य व्यक्ति में रहती है तथा व्यक्ति में उपस्थिति विशेषण भी होती है जैसे घटत्व वाच्य है और घट में रहता है। और घट की उपस्थिति प्रकार विद्यमान होता है। घटत्व विशिष्टो घटः वह मुख्य के समान आरोपित तदाश्रय भी लेना। इसी से 'गोपी' में स्वादि प्रकृतिक लाक्षणिक होने पर भी कोई दोष नहीं है उनमें दोनों के प्रातिपदिकार्थ पद से ग्रहण होने से लिंग ग्रहण भी सार्थक होता है। नहीं तो 'स्वमोर्न पुंसकात्' इत्यादि शास्त्र के प्रामाण्य से लिंग के प्रातिपदिकात होने से लिंग ग्रहण का वैयर्थ्य स्पष्ट ही है। लिंग के प्रातिपदिक वाच्य होने 'स्त्रीयाम्' सूत्र में स्त्रीत्व द्योत्य होने पर यह अर्थ भाष्य में सिद्धान्त रूप से किया है। अर्थात् लिंग तो प्रातिपदिक का वाच्य ही है। 'तस्माच्छसः' में पुंसि को पुं शब्द के प्रकृति-स्थ होने पर ही अर्थ है। पुल्लिंग में विद्यमान शस् के सकार को नत्व हो यह अर्थ नहीं है। कृततद्धित से उक्तकारक वाचिनी प्रथमा इस प्रकार के अर्थ वाले अभिहिते प्रथमा इस वार्तिक के बल से प्रथमा को अन्य से अभिहित कारकार्थ भी प्रतीत होती है, प्रातिपदिकार्थ मात्र में वर्तमान प्रातिपदिक से प्रथमा होती है—यह आप से किये अर्थ में अन्य से उक्त कारकत्व का अभाव प्रतीत होता है इसलिये कहते हैं कि अभि-हिते प्रथमा, वार्तिक का उस प्रातिपदिकार्थ में विद्यमान कारक शक्त के अन्य से

अभिहित होने पर स्वार्थ में प्रातिपदिक से प्रथमा होती है इस प्रकार के अर्थ से कोई विरोध नहीं है, इससे वार्तिककार के मत में कारक प्रातिपदिकार्थ है आप के मत में नहीं है। इस प्रकार के विरोध कहने वाले भी परास्त हैं।

तटादिशब्दानमपि लिङ्गं वाच्यमेव। द्योतकास्तु विसर्गादयः। पूर्व तत्तल्लिङ्ग बुद्धिस्थीकृत्वैव तस्य तस्य विसर्गादेः साधुत्वान्वाख्यानम्। नियमांशनिवेशे तु न मानम्। इदमेवाभिप्रेत्य वृत्तौ 'प्रातिपदिकार्थः सत्ता' इत्युक्तम्। सत्तेति प्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षणम्। आश्रयस्तु तदाक्षिप्तत्वान्न पृथगुक्तः। एवञ्च प्रातिपदिकार्थ इत्यस्याऽलिङ्गा लिङ्गप्रवृत्तिनिमित्तकाश्चव्ययपुमादय उदाहरणम्। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्त्रीशब्दोऽप्यस्यैवोदाहरणम्। अन्ये सर्वे लिङ्गाधिक्ये इत्यस्य।

तटादि शब्दों का भी लिंग वाच्य ही है विसर्गादि उसके द्योतक है। पहले उस उस लिंग को बुद्धिस्थ करके उन-उन विसर्गादि का साधुत्व सिद्ध होता है। नियमांश निवेश में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार के अर्थ को समझकरके ही वृत्ति में प्रातिपदिकार्थ को सत्ता कहा है सत्ता प्रवृत्ति निमित्त का उप लक्षण है आशय का प्रवृत्ति निमित्त से आक्षेप होने के कारण आशय का पृथक नहीं कहा। इस प्रकार से प्रातिपदिकार्य के अलिङ्ग तथा लिङ्ग प्रवृत्ति निमित्तक पुमाद उदाहरण है। लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा से स्त्री शब्द भी प्रातिपदि कार्य ही उदाहरण है। अन्य सब लिङ्गाधिक्य के है।

द्रोणत्वादिप्रवृत्तिनिमित्ताकानां द्रोणादिशब्दानां परिमाणत्वेन परिमाणमपि लिङ्गवद्विशेष्यान्वय्यर्थः। एवञ्च तस्य लिङ्गवत्प्रातिपदिकार्थत्वाभावात्परिमाणग्रहणम्। द्रोणः परिमाणमित्येष तु 'द्वौ ब्राह्मणौ' इतिवत्प्रयोगः, द्रोणशब्दस्यानेकार्थत्वाद्वा। मूलोक्तं तु न युक्तम्। 'द्रोणो व्रीहिमानय' (१) इत्यस्याप्यापत्तेः। किञ्च 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' इतिवार्तिकैकवाक्यतया भेदान्वये 'द्रोणो व्रीहिः' इत्यनिष्टम्। न च—'यदा मेये द्रोणादीनां वृत्तिस्तदा तस्यानेकत्वेन परिमाणमात्रपरत्वे तदबोधेन च व्यभिचारान्मेयस्य नियतोपस्थितिकत्वाभावेनाप्रतिपदिकार्थत्वादसिद्धौ कर्मव्युत्पत्त्या प्रमेयार्थकं परिमाणग्रहणम् इति कैयटोक्तं युक्तमिति वाच्यम्। 'सिंहो माणवकः' इत्यस्या (२) सिद्धयापत्तेः तद्वदस्यापि सिद्धेश्च नियमांशनिवेशे मानाभावाश्च।

द्रोणत्वादि प्रवृत्ति निमित्त (विशेषण खारी के सोलवे भाग को द्रोण कहते है जैसा कि लीलावती में भास्कराचार्य ने लिखा है द्रोणत्व खार्या. खलुषोड़शांशः) वाले द्रोणादि शब्दों का परिमाणत्व से परिमाण भी लिङ्ग की तरह विशेष्य में अनवयी है।

इस तरह लिङ्ग की तरह प्रातिपदिकार्थ के न होने से परिमाण ग्रहण किया। द्रोणः परिमाणम् प्रयोग 'द्वौ ब्राह्मणौ' की तरह है अथवा द्रोण के अनेकार्थ है। तात्पर्य यह है कि द्रोण के परिमाण होने से परिमाण कहने की आवश्यकता नहीं है तो भी ब्राह्मणौ के कहने से द्वित्व का भान हो जाता। फिर द्वौ के कथन की तरह यहाँ परिमाण ग्रहण है। मूलोक्त (सिद्धान्त कौमुदी में कहा) ठीक नहीं है। क्योंकि द्रोणो व्रीहिः मानयक भी प्रयोग होने लगेगा। अपि से प्रमेयो व्रीहिः का ग्रहण करना वहाँ प्रमेयाभिन्न यत् परिमाणं तत् परिच्छेद्यो व्रीहिः यह बोध होने लगेगा। और 'तिङसमानाधिकरणे प्रथम' इस वार्तिक से एक वाक्यता होने से भेदान्वय में द्रोणोव्रीहिः यह प्रयोग अनिष्ठ है, (अर्थात समानाधिकरण में अभेद अन्वय ही होगा) अब यहाँ शंका करते है। कि जब मेये (नापने योग्य धान्यादि) में द्रोणाविर्यों की वृत्ति है तब मेय के अनेक होने से और परिमाण मात्र परक होने से उसके बोधन होने से व्यभिचार होने के कारण मेय के नियतोपस्थिति न होने सेप्रातिपदिकार्थ के अभाव से असिद्ध होने पर कर्म व्युत्पत्ति से (परिमीयते यत् तत् परिमाणं) प्रमेयार्थक परिमाण ग्रहण है ऐसा कैयट का कथन युक्त है। उत्तर तब सिद्धोमाणवः का भी प्रयोग नहीं होगा। अथवा उसकी तरह इसका भी प्रयोग हो जायेगा। वास्तविक में तो यहाँ असम्भव दोष ही है। और नियमांश के निवेश प्रमाण भी नहीं है।

'एकः' 'द्वौ' इत्यादिसिद्धये तु वचनग्रहणम्। अन्यथैतत्सूत्रोपस्थित 'अनभिहिते' इत्यस्यात्र फलाभावादेतदेकवाक्यतापन्नसङ्ख्यावाक्यान्वयित्वेन तदप्राप्तेः। 'रामौ' इत्यादौ सङ्ख्याधिक्ये प्रथमा तु 'व्येकयोः' (१।४।२२) इत्याद्येकवाक्यतयेति बोद्धयम्। (१) मात्रग्रहणाभावे तु यथा 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) इति नियमेन कर्मत्वाज्ञानसमानकालिकार्थान्तरस्यैव व्यावृत्तिः, न तु तज्ज्ञानसमानकालिकार्थान्तरस्य। अत एव 'गां दोग्धि पयः' इत्यादावपादानत्वादिबोधेऽपि द्वितीया। एवश्च कर्मणि सत्येव 'द्वितीया, न तु तदसत्त्वे' इति नियमाकारः। तथाऽनेनापि प्रातिपदिकार्थसत्त्वे एव प्रथमा, न तु तदसत्त्वे' इत्येव नियमः स्यात्। एवञ्चानर्थकनिपातेभ्यः प्रथमा नैव स्यात्। एवञ्च तत्समभिव्याहारे 'सपूर्वायाः प्रथमा' (८।२।२६) इत्यादिशास्त्रप्रवृत्तिर्न स्यात्। तत्सत्त्वे कर्मादियोग्यार्थकप्रातिपदिकाश्चेत्तद्रहितस्वार्थे इत्यर्थान्न दोषः। इदमेव मात्रग्रहणं 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) इत्यादेर्मदुक्ताकारनियमत्वे मानम्। मात्रग्रहणाच्च सूत्रकारस्य प्रत्ययनियमपक्ष एवाभिमत इति गम्यते। तदकरणलाघवेन तु 'कर्मणि द्वितीयैव' इत्यर्थनियम उक्तो भाष्यादौ। स्पष्टञ्छेदं सर्वं भाष्ये इति भाष्यप्रदीपोद्द्योते निरूपितमित्याहुः ॥

'एकः' 'द्वौ' इत्यादि की सिद्ध के लिये वचनग्रहण है वचन ग्रहण के अभाव में इस सूत्र में उपस्थित 'अनभिहिते' की फल के अभाव से इससे एक वाक्यता को प्राप्त संख्यावाक्य में अन्वयी होने से उसकी प्राप्ति नहीं है रामौ में संख्या के अधिक होने पर 'द्वयेकयो' की एक वाक्यता होने से प्रथमा होती है। मात्र ग्रहण के अभाव में तो जैसे 'कर्मणि द्वितीया' के नियम से कर्मत्व के अज्ञान समानकाल वाले अर्थानन्तर की ही व्यावृत्ति होती है—कर्मत्व के ज्ञान समानकाल वाले अर्थानन्तर की व्यावृत्ति नहीं होती है इसीलिये 'गां दोग्धि पयः'' इत्यादि में अपादान के बोध होने पर भी, द्वितीया होती है। इसी तरह कर्म के होने पर भी द्वितीया होती है, उसके अभाव में नहीं होती है। यह नियम का आकार है। उसी तरह उससे भी प्रातिपदि कार्य के होने पर ही प्रथमा होती है उसके अभाव में नहीं ऐसा ही नियम होना चाहिये, इस प्रकार से अनर्थक निपातो से प्रथमा नहीं होगी। इस प्रकार से अनर्थक निपातो के समीप होने पर सपूर्वा याः प्रथमा इत्यादि शास्त्रों की प्रवृत्ति नहीं होगी उसके रहने पर कर्मादि योग्य अर्थवाले प्रातिपदिक हो तो उससे रहित स्वार्थ में हो ऐसा अर्थ करने से दोष नहीं है यह मात्र ग्रहण ही "कर्मणि द्वितीया" इत्यादि के मेरे से कहे नियम में प्रमाण है। मात्र ग्रहण से सूत्रकार को प्रत्यय नियम पक्ष ही अभिमत है। उसके न करने में लाघव मानने से तो 'कर्मणि द्वितीयैव' ऐसा अर्थ नियम ही भाष्य आदि में कहा है। यह सब विषय भाष्य प्रदीप तथा उद्योत में स्पष्ट है।

(१) सम्बोधने च (२।३।४७)। तत्र वर्तमानादित्यर्थः। सम्बोधनमभिमुखीकरणम्। तत्फलं प्रवृत्तिनिवृत्ती। सम्बोध्यतावच्छेदकरूपेण सम्बोध्यस्य सिद्धि विना तत्वासम्भवादनुवाद्ये एवैषा विभक्तिः। अत एव विधेयभूतक्रियायामेवैतदर्थान्वय उद्देश्यतया। अत एव 'राजा भव, युद्धयस्व' राजन् युद्धस्व इत्यनयोर्व्यवस्थयैव प्रयोगः। 'राम मां पाहि' इत्यादौ चाभिमुखीभवद्रामाद्युद्देश्यकप्रवर्तनाविषयो रक्षणमिति बोधः।' व्रजानि देवदत्त' इत्यादावपि जानीहि इत्यादि शेषो बोद्धयः। तत्र व्रजनस्य कर्मत्वाद्देवदत्तस्योद्देश्यत्वादुभयोः समानवाक्यस्थत्वम्। 'एकतिङ् वाक्यम्' इत्यस्य च श्रूयमाणैकतिङित्यर्थ इति न दोषः। उद्देश्यविधेयभावो वाक्यार्थः। अभिमुखीभवनानुकूलव्यापारश्च सम्बोधनविभक्त्यन्तशब्दप्रयोगरूपः। व्रजानीति प्राप्तकाले लोट्। अत एव गच्छेत्याद्यध्याहारे 'धिक् मूर्ख' इत्यादौ प्रथमा, अनध्याहारे तु द्वितीयैवेति दिक्। इति प्रथमा॥

सम्बोधने च। सम्बोधन में वर्तमान से यह अर्थ है। सम्बोधन का अर्थ है अपनी तरफ आकृष्ट करना है। अभिमुखीकरण का अर्थ प्रवृत्ति या निवृत्त है। अर्थात् जिसको सम्बोधन से आकृष्ट किया है उसको किसी कार्य में लगाना अथवा किसी कार्य से निवृत्त करना। सम्बोधता वच्छेद रूप से सम्बोध्य की सिद्ध के बिना प्रवृत्ति निवृत्त

दोनों के असम्भव होने से यह विभक्ति अनुवादक में ही होती हैं। तात्पर्य यह है कि जिसको आप सम्बोधन से आकृष्ट करते है उसको उस रूप सिद्ध होना आवश्यक है। इसीलिये विधेय भूतक क्रिया में इसके अर्थ का अन्वय उद्देश्यत्व से होता है। सम्बोधता वच्छेदक रूप से सिद्ध होने से ही 'राजाभव युद्धयस्व राजन युद्धयस्व इन दोनों की व्यवस्था से ही प्रयोग होता है अर्थात् कुमारावस्था में वह राजा नहीं है। इसलिये वहाँ सम्बोधन नहीं होता है क्योंकि सम्बोध्यकुमार अभी राजा नहीं है। इसकी सम्बोधतावच्छेदक रूप से सिद्धि नहीं है। राजा होने पर सम्बोधन विभक्ति होती है, राजन युद्धयस्व। 'हे राम मां पाहि' इत्यादि में अभिमुखी भवदरामाद्युद्देश्यक प्रवर्तना विषयो लक्षणं यह बोध होता है। आकृष्ट होने वाले राम को उद्देश्य करने वाला प्रवर्तना का विषय लक्षण है। राजा की अवस्था में सम्बोध्य राजन उसका अवच्छेदक (विशेषण) राजत्व, उस रूप (राजत्वेन राजा की सिद्ध) से राजा की सिद्ध होने से राजन युद्धयस्व में सम्बोधन की सिद्ध होती है कुमारावस्था में राजात्वेन राजा की सिद्ध न होने से सम्बोधन नहीं होती है व्रजानि देवदत्त इत्यादि में तो जानीहि इत्यादि का शेष जानना। वह व्रजन के कर्मत्व होने से देवदत्त उद्देश्य होता है इसलिये दोनों समान वाक्य में स्थिति है। अब यहाँ व्रजानि तथा जानीहि तो तिङ होने से एकतिङ्वाक्यं यह वाक्य का लक्षण नहीं जायेगा। यह शंका नहीं करना क्योंकि श्रूयमाण एकतिङ का होना आवश्यक है। प्रकृति में जानीहि श्रूयमाण नहीं है। उद्देश्य विधेय भाव ही वाक्यार्थ है। अभिमुखी भावानुकूल व्यापार सम्बोधन विभक्ति के अन्त वाले शब्द का प्रयोग नहीं है। व्रजानि में प्राप्तकाल से लोट् लकार है इसी से गच्छ के अध्याहार करने पर धिक् मूर्ख इत्यादि में प्रथमा होती है और अध्याहार के अभाव में द्वितीया होती है। इति प्रथमा ॥

कारके (१।४।२३)। कारकत्वं (१)क्रियाजनकत्वम्। भाष्ये 'करोति–क्रियां निर्वर्त्तयति' इतिव्युत्पत्तिप्रदर्शनात्। (१)ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' इत्यादौ ब्राह्मणस्य न कारकत्वम्। पुत्रेणा(२)न्यथासिद्ध्या तत्त्वाभावात्। अत एवैषां क्रियायामेवान्वयः। क्रियाजनकमिति ज्ञाते का सा क्रियेत्याकाङ्क्षोदयेन, क्रियाया जनकाकाङ्क्षया च तत्रैवान्वयस्यौचित्यात्। सर्वेषां च कारकाणां (३)स्वस्वावान्तरक्रियाद्वारा (४)प्रधानक्रियानिष्पादकत्वं बोद्ध्यम्। (५)असन्निहितसम्प्रदानस्यापि दातृबुद्धिस्थत्वावश्यकत्वेन (६)स्वज्ञानपूर्वकालकत्वेनैव जनकत्वम्। एवं 'स्तोकं पचति' इत्यादौ फलस्यापि। (७)घटं करोति स्मरति इत्यादौ बौद्धघटादेः पूर्वकालत्वेन स्मृत्यादिनिष्पादकत्वं बोद्ध्यम्।

कारके। क्रिया जनकत्व (क्रिया का कारण) ही कार्यकत्व है क्योंकि भाष्य में

करोति अर्थात् क्रिया को सिद्ध करे इस प्रकार की व्युत्पत्ति देखते हैं। 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' इत्यादि में ब्राह्मण को कार्यकत्व नहीं है क्योंकि पुत्र से ही कार्य हो जायेगा, पिता के अन्यथा सिद्ध (चतुर्थ कुलालजनकोपरः) होने से कार्यकत्व नहीं है। इसी से इनका क्रिया में अन्वय होता है जनक कारण को कहते हैं, कारण का लक्षण इस प्रकार है अन्येथासिद्ध शून्यत्वे सति कार्यान्यिवहित प्राक्क्षणावच्छेदेन वर्तमानत्वम्। अन्यथा सिद्ध न होने पर कार्य से व्यवधान रहित पूर्वकक्षण में जो रहता है। प्राचीन क्रियान्वयित्व रूप कारक मानता है। क्रियाजनक के ज्ञान होने पर वह क्रिया कौन है ऐसी आकांक्षा के उदय होने से और क्रिया को जनक की आकांक्षा होने से कारक का क्रिया में अन्वय होना उचित है। सम्पूर्ण कारकों का अपनी-अपनी अवान्तर क्रिया के द्वारा प्रधान क्रिया को सिद्ध करता है। अवान्तर क्रिया को लेकर ही "वह्निना स्थाल्यां तण्डुलं पचति चैत्रः" में जो जिसका कार्य है वह दूसरे से नहीं हो सकता है यह अनुभव ही अनुकूल तर्क है। यहाँ प्रधानत्व अन्य के अधीन न होना ही जानना। अब यहाँ शंका होती है कि संप्रदान के अभाव में उसके ज्ञानमात्र से उसको उद्देश्य करके दान होता है, वहाँ सम्प्रदान को क्रियाजनकत्व न होने से कारकत्व नहीं होना चाहिये। उसका उत्तर कहते है कि सम्प्रदान के समीप में न होने पर भीदाता की बुद्धि में स्थित के आवश्यक होने से अपने ज्ञान के पूर्व काल में वृत्तिता मानने से जनकत्व है सम्प्रदान के ज्ञान में रहने वाली दीनजनकता का सम्प्रदान में आरोप होता है। इसी प्रकार 'स्तोकं पचति' में फल का भी आरोप समझना। घटं करोति घटं स्मरति में बौद्ध घटादि को पूर्वकालत्वेन स्मृत्यादि निष्पादकता है। यहाँ शंका इस प्रकार से थी कि घट की अनुपत्ति दशा में घट के अभाव में कार्यसंज्ञा नहीं होनी थी।

(१) कर्तुरीप्सित (१।४।४९)। ईप्सितशब्दोऽत्र (२) क्रियापरो, (३) नाभिप्रेतपरो रूढः। (४) स्पष्टञ्चेदं 'वारणार्थानाम्' (१।४।२७) इत्यत्र भाष्यकैयटयोः। कर्तुरिति 'क्तस्य च वर्त्तमाने' (२।३।६७) इति (५) कर्तरि षष्ठी। आप्नोतेः सन्नन्तात्। 'मतिबुद्धि' (३।२।१८८) इति वर्त्तमाने कर्मणि क्तः। 'मतिः—इच्छा' इति तत्राऽऽकरः। एवञ्च कर्त्राऽऽप्तुमिष्यमाणं कर्मेत्यर्थः। आप्तिश्चात्र सम्बन्धः। स च कर्तृपदार्थविशेषणीभूतव्यापार-द्वारक एव। उपस्थितपरित्यागेनानुपस्थितकल्पने मानाभावात्। (१) एवञ्च कर्त्रा स्वनिष्ठव्यापारप्रयोज्यफलेन सम्बन्धुमिष्यमाणमित्यर्थः। यथा—'तण्डुलं पचति' इत्यादौ। फलस्यापि (१) व्यपदेशिवद्भावेन फलसम्बन्धित्वात्कर्म-त्वम्। अत एव तत्समानाधिकरणे 'स्तोकं पचति' इत्यादौ कर्मत्वसिद्धिः। क्तप्रत्ययोपात्त (१) वर्त्तमानत्वन्तु न विवक्षितम्। (१) तेन कटं कृतवान् करिष्यतीत्यादिसिद्धिः।

कर्तुरीप्सित। यहाँ ईप्सित शब्द क्रियापरक है। (सम्बन्ध अर्थवाली आप धातु से बनने के कारण सम्बन्धेच्छाविषय अर्थ है।) अभिप्रेतपरक नहीं है। अभिप्रेत जो कर्त्ता को इष्ट हो सुख अथवा दुःख की निवृत्ति। यह विषय 'वारणार्थानाम्' सूत्र के भाष्य में कैयट में स्पष्ट है। कर्त्तुः में क्तस्य च वर्तमाने से षष्ठी है। सन्नन्त आप धातु से 'मति बुद्धि' सूत्र से वर्तमान में, कर्म में, क्त प्रत्यय है। माति का अर्थ इच्छा है—यह भाष्यकार का मत है। इस प्रकार कर्त्ता से सम्बन्ध करने को जो इष्ट हो वह कर्म है यहाँ आप् धातु का अर्थ सम्बन्ध है। और वह सम्बन्ध कर्त्तपदार्थ में विशेषणभूत व्यापार द्वारा ही है क्योंकि उपस्थिति को छोड़कर अनुपस्थिति की कल्पना में प्रमाण नहीं है इस प्रकार से कर्त्ता को अपने में रहने वाले व्यापार से पद होने वाले फल से सम्बन्ध करने को इष्ट जो कारक कर्म होता है। कर्त्त, वृत्ति, व्यापार, प्रयोज्य फलाश्रयत्व प्रकार के च्छोद्देश्य कर्म यह अर्थ सिद्ध होता है। इच्छार्थक धातु के समीप विषयता ही कर्म प्रत्यय का अर्थ है। फलाश्रयता फलतावच्छेदक सम्बन्ध से ग्रहण करना। इसलिए कालम् पचति प्रयोग नहीं होता है। यद्यपि काल कालिक विशेषणता सम्बन्ध से फलाश्रयत्व प्रकारक इच्छा का उद्देश्य है फलतावच्छेदक सम्बन्ध तत्-तत् धातु के व्यापार के पास भिन्न-भिन्न है जैसे तण्डुलम् पचति में समवाय सम्बन्ध से विक्लित्त का आश्रय तण्डुल हो—इस प्रकार की इच्छा में समवाय सम्बन्ध ही फलतावच्छेदक है। कालिकादि नहीं है। अतएव कालिक विशेषणता से काल में फलाश्रयता के रहने पर भी कालि की कर्म संज्ञा नहीं होती है। फलावच्छेदक सम्बन्ध का अर्थ है—फल में जो विशेषण हो (अवच्छेदक अर्थ विशेषण होता है) पच् धातु में समवाय फलतावच्छेदक है। क्योंकि समवाय विक्लित में विशेषण है। फल को भी व्यपदेशिवद्भाव से फल सम्बन्धी मानने से कर्म संज्ञा होती है। व्यपदेशिवद्भाव से घटत्व और घटकत्व का अतिदेश होता है—यह शंका नहीं करना क्योंकि तुल्यादि सूत्रस्य भाष्य के प्रामाण्य से आश्रयत्व का भी अतिदेश व्यपदेशिवद्भाव से होता है व्यपदेशिवद्भाव से फलाश्रय मानने से स्तोकं पचति में कर्मत्व होता है। क्त प्रत्यय यद्यपि वर्तमान में होता है तथापि वर्तमानत्व की विवक्षा नहीं है इसी से कटं कृतवान (भूत) कटं करिष्यत (भविष्यत) में कर्मत्व की सिद्ध होती है।

कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यादिति। 'कारके' इति प्रथमार्थे सौत्री सप्तमी। तेन कारकं सत् कर्मसञ्ज्ञमित्यर्थः। सञ्ज्ञिनः (२) क्रियाजनकत्वन्तु महासञ्ज्ञयाऽऽक्षिप्तम्। यद्वा सप्तमी यथाश्रुतैव। कारकपदश्च क्रियापरम्। करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशानिति व्युत्पत्तेः। जनकमित्यध्याहारः। विषयत्वं सप्तम्यर्थः। कारकग्रहणे च स्वरितत्वप्रतिज्ञया तदधिकारोक्तकर्त्रादिषट्कमेव, तन नटश्रवणमित्यादौ न कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। ग्रामेवासः इत्यादौ च(१) तत्स्वरसिद्धिरित्यन्यत्र बिस्तरः।

कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यादिति । 'करके' सूत्र में प्रथमा के अर्थ में सप्तमी हैं। इसलिये कारक होता हुआ कर्म संज्ञक होता है। संज्ञा में क्रियाजनकता महासंज्ञा से आक्षेप होने पर होती है। यद्व सप्तमी कारके में उचित ही है। कारक पद क्रिया परक है कर्तृ कर्म व्यवहार को जो करे ऐसी व्युत्पत्ति से सिद्ध है। यहाँ जनकम् का अध्याहार हैं सप्तमी का अर्थ विषयत्व है और कारक ग्रहण करने पर उसमें स्वरितत्व प्रतिज्ञा से स्वरितत्व अधिकार के लिये होता है। कारक के अधिकार वाले कर्ता आदि छः कारक है। 'शेषे षष्ठी' कारक के अधिकार में नहीं है, इसलिये उसको कारकत्व नहीं है इससे नटश्रवणम् में 'गतिकारकोपपदात्' से कृत स्वर की सिद्ध नहीं होती हैं। ग्रामेवासः इत्यादि में तो 'गीतिकारकोपपदात्' के अपवाद 'थाथादि' स्वर की सिद्ध होती है—ये दोनों सूत्र समास स्वर में है।

अब यहाँ प्राचीन नवीन के मत से कारकत्व का विचार इस प्रकार से है प्राचीन क्रियान्वयित्वम् कारकत्वम् मानता है परन्तु उक्त लक्षण मानने पर ब्राह्मणस्य पुत्र पन्थानं पृच्छति ब्राह्मण को भी कारकत्व हो जायेगा, क्योंकि उसका भी पुत्र के द्वारा क्रिया में अन्वय है उस दोष की निवृत्ति के लिए साक्षात निवेश करने पर साक्षात क्रियान्वयित्वम् कारकत्वम् लक्षण होता। षष्ठी का साक्षात अन्वय नहीं है परन्तु उक्त लक्षण में अधिकरण कारक को भी कारकत्व नहीं होगा। क्योंकि उसका भी साक्षात क्रिया में अन्वय नहीं है। किन्तु कर्ता आदि के द्वारा है। तब प्राचीन स्ववृत्ति कर्तृवृत्तित्व, स्ववृत्ति कर्मवृत्तित्व अन्यतर सम्बन्ध से साक्षात् क्रियान्वयित्वम् मानता है प्रथम सम्बन्ध अकर्मक धातु के लिये है और द्वितीय सकर्मक के लिये है। देवदत्तः कटे आस्ते स्थालया ओदनं पचति यह क्रमशः उदाहरण है। स्वपद से क्रिया लेना उसमें रहने वाला कर्ता देवदत्त है उसमें वृतिता करकी हैं। उसी तरह से पचति क्रिया पाक् की वृत्तिता कर्म ओदन में है और उसकी वृत्तिता स्थाली में है अब यहाँ यह शंका होती है अक्षशोण्डा में समास नहीं होगी क्योंकि अक्ष का शौण्ड के साथ अन्वय न होने से सामर्थ्य नहीं है और समास 'समर्थः पदविधिः' अधिकार से सामर्थ्य में होता है उस दोष की निवृत्ति के लिये शौण्ड की आश्रित शौण्ड में लक्षणा करते है। आश्रित क्रिया है। लक्षणा मानना ही दोष मानकर नवीन क्रिया जनकत्वम् कारकत्वम् मानता है। जनकत्व कारणत्व है और कारणत्व अन्यथा सिद्ध से शून्य कार्य से अव्यवहित जो रहता है उसको कहते है—ब्राह्मणस्य पितरं इत्यादि में ब्राह्मण चतुर्थ अन्यथा सिद्ध है। प्राचीन कहते हैं कि अक्षेषु शौण्डस्य पुत्राय धनं देहिः में लक्षणा नवीन को भी माननी होगी इसलिये प्राचीन का मत ही उचित है। प्राचीन अन्वय साक्षात तथा सम्बन्ध परम्परा से मानता है नवीन सम्बन्ध साक्षात तथा अन्वय परम्परा से मानता है।

कर्तुः किमिति । तदभावेऽपि केनाऽऽप्तुमिस्याकाङ्क्षायां (२) कारकाधिकाराव्द्यापारलाभ इति प्रश्नः । माषेष्विति । माषेषु प्रशक्तमश्वं

माषनाशो मा भूदित्यन्यत्र (३)बध्नातीत्यर्थः तदाह—कर्मण इति । तमब्ग्रहणं किमिति । अवयवद्वारा समुदायस्य प्रश्नः । (४)कर्तुरुद्देश्यं कर्मत्येवास्त्विति भावः । (५)पयसौदनमिति । यदा कृतभोजनोऽपि पयोलाभेनौदनभोजने प्रवर्तते तदेदं प्रत्युदाहरणम् । तत्क्रियायाः पयउद्देश्यकत्वात् । ईप्सिततमशब्दस्य तु क्रियाशब्दत्वात्पयसस्तदा फलाश्रयत्वेनाविवक्षणान्न दोष इति भावः । (१)तमस्य फलं तु 'अग्नेर्माणवकं वारयति' इति । तदभावे हि 'वारणार्थानाम्' (१।४।२७) इति सूत्रम्(२)स्यापवादः स्यात् । एवञ्च माणवकस्य कर्मत्वं न स्यात् । न चाग्नौ तच्चरितार्थम् तस्यापि तदुपस्थाप्यसंयोगरूपफलाश्रयत्वात् । वारयतेश्च (३)संयोगाद्यनुकूलव्यापाराभावानुकूलव्यापारोऽर्थः । एष एव प्रवृत्तिविघातः । ईप्सितशब्द उभयत्रापि क्रियाशब्द एव । न च संयोगो न तत्कर्तृव्यापारजन्यं इति तत्र कर्मत्वाप्राप्तिरिति वाच्यम् । कर्तृव्यापारवाचकधातूपात्तफलाश्रयत्वमित्यर्थस्यैव तेन लाभात् । तमब्ग्रहणे त्वीप्सितमात्रे सावकाशस्य परत्वादीप्सिततमेऽनेन बाधः । (१)ईप्सिततमत्वञ्च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वम् । तच्च नाग्न्यादौ । फलव्यापारयोः प्रकृतधात्वर्थत्वन्तु प्रत्यासत्तिलभ्यम् । येन यदा पुष्ट्यर्थं माषभक्षणाय माषक्षेत्रे एवाश्वबन्धनं तदा 'माषेष्वश्वं बध्नाति' इत्यादौ माषाणां न कर्मत्वम् । बन्धनप्रयोज्यभक्षणफलाश्रयत्वेऽपि भक्षणस्य बध्नात्यर्थत्वाभावात् । (१) प्रयोज्यत्वनिवेशाद् 'गां पयो दोग्धि' इत्यादौ विभागानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थकदुहियोगे पयसः कर्मत्वसिद्धिरिति स्पष्टं भाष्ये ।

कर्तुः किमिति । अर्थात कर्तृग्रहण के अभाव में भी किससे सम्बन्ध करने की इच्छा इस प्रकार की आकांक्षा में कारक के अधिकार से व्यापार का लाभ हो जायेगा यह प्रश्न है तब यद्किंचित निष्ठ व्यापार प्रयोज्य फलाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यम् कारकं कर्म यह अर्थ होगा । माषेष्वित । माष (उड़द) में घुसे घोड़े को उड़दों का नाश न हो इसलिये अन्यत्र बांधता है, अश्वबन्ध धातु का कर्म है—कर्ता नहीं है । जैसा कि मूलकार ने लिखा है कि भाष कर्म (अश्व) को इष्ट है । कर्ता को नहीं है । कर्त्त ग्रहण के अभाव में यत् किंचित से अश्व का ग्रहण करने पर उसमें रहने वाला व्यापार भक्ष धातु का गलबिलाधा संयोगानुकूल व्यापार उससे प्रयोज्य फल गलबिलाधा संयोग रूप है । व्यापार से पूर्व जो रहता है वह फल होता है । उसके आश्रय माषच्छोद्देश्य है । इसलिये माष की कर्म संज्ञा हो जायेगी । कर्त्तृ ग्रहण करने पर कर्ता देवदत्त का व्यापार बन्ध धातु का रज्जुशंकु संयोगानुकूल व्यापार तत् प्रयोज्य फल रज्जुशंकु संयोग है

उसका आश्रय अश्व है। इसलिये अश्व की कर्म संज्ञा होती है। कर्त्तृग्रहण के करने से व्यापार भी प्रकृति धातु पात्त से लेना। अन्यथा भक्ष धातु के व्यापार को लेकर पूर्ववत् माष की कर्मसंज्ञा हो जायेगा। प्रत्यासक्तन्याय से फल भी प्रकृति धातु पात्त लेना अन्यथा भक्ष धातु के फल को लेकर माष की कर्म संज्ञा हो जाना निश्चित था। अब अर्थ इस प्रकार का होता है (कर्त्तृनिष्ठप्रकृतधातुपात्त व्यापार प्रयोज्य प्रकृति धातुपान्त फलाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यम् कारकं कर्म संज्ञं भवति) च्छोद्देश्य के निवेश करने से ताडनभिया विषम भुङ्क्ते कशाभिरर्हता कारागारम् गच्छति। यहाँ विष तथा कारागार की कर्म संज्ञा होगी क्योंकि मार के डर से विष तथा कारगार ही च्छोद्देश्य हैं। उक्त अर्थ में देवदत्तः काशीम् गच्छति न प्रयागम् में प्रयाग की कर्म संज्ञा नहीं होगी क्योंकि इच्छोद्देश्य प्रयाग नहीं है। उत्तर नञ् के समीप में गम् धातु का उत्तर देश संयोगानुकूल व्यापार तथा तद्भावानुकूल व्यापार अर्थ है। प्रथम व्यापार के फल को लेकर काशी की कर्म संज्ञा तथा द्वितीय व्यापार के अभाव रूप फल के आश्रय होने से प्रयाग की भी कर्मसंज्ञा होती है। तमप् ग्रहण का फल कहते हैं। यहाँ अवयव के द्वारा समुदाय में प्रश्न है। अर्थात् तमप् का ग्रहण है जिसमें वह पद ईप्सित तम् ग्रहण क्यों किया अर्थात कर्तुरुद्देश्यम् कर्म यह अर्थ ही रुढ़ि रूप से उस सूत्र का स्वीकार करना। उसके अभाव में पैसा ओदनम्भुनते में पय की भी कर्म संज्ञा हो जायेगी क्योंकि वह भी उद्देश्य है जब बालक भोजन कर चुका, कुछ ओदन अवशिष्ट रहा तब किसी ने कहा कि तुम सब ओदन खा लोगे तो दूध देंगे यहां दुग्ध घर ले जाने के लिए है खाने को नहीं। जब दूध के साथ भात खाता है तब भी पय की कर्म संज्ञा नहीं होगी। क्योंकि (अन्नेन व्यजंनम्) इत्यादि तृतीया समास विधायक सूत्रों के बल से तृतीया ही होगी। ईप्सिततम् शब्द क्रियाशब्द है तब पय की फलाश्रयत्वेन विवक्षा न करने से कर्म संज्ञा नहीं होती है। तम् का फल तो अग्नेर्माणवकम् वारयति में है तमब्ग्रहण के अभाव में 'वारणार्थानाम्' सूत्र कर्तुः का अपवाद हो जायेगा, तब माणवक की कर्मसंज्ञा नहीं होगी किन्तु अपादान संज्ञा होगी। पंचमी विधायक सूत्र अग्नि में चरितार्थ है। यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अग्नि भी धातु से उपस्थाप्य संयोग रूप फल का आश्रय है और वारयति अर्थ संयोगानुकूल व्यापाराभावानुकूल व्यापार है। इसको ही प्रवृत्ति विघात कहते हैं। ईप्सित शब्द दोनों सूत्रों में क्रिया शब्द ही है। अब यहां शंका होती है कि संयोग उसके कर्ता के व्यापार से जन्य नहीं है। इसलिए वहाँ कर्मत्व की प्राप्ति नहीं है। उत्तर कर्त्त व्यापार वाचक धातुः पात्त फलाश्रयत्वम् इस अर्थ का ही उससे लाभ होता है। तमप् ग्रहण करने पर ईप्सित मात्र में (अग्नि) में सावकाश पंचमी के होने से ईप्सित तम में पर होने से कर्मसंज्ञा अपादान संज्ञा का बाध करती है—ईप्सित तमत्वका परिष्कार इस प्रकार से है प्रकृतधात्वर्थ प्रधानीभूत व्यापार प्रयोज्य प्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वम्। उक्तईप्सिते तमृत्वम् अग्नि में नहीं है। फल तथा व्यापार प्रकृतधातूः पात्त की प्राप्ति

प्रत्यासन्तिन्याय से प्राप्त है। इससे जब पुष्ट के लिए माष के भक्षण के लिये बांधता है तब भी माषो की कर्मसंज्ञा नहीं होती हैं। क्योंकि बन्धन से प्रयोज्य भक्षण रूप फल के आश्रय होने पर भी भक्षण बन्ध धातु का अर्थ नहीं है प्रयोज्यत्व के निवेश से गां पयोदुग्ध में दुह् के योग में पय की कर्मसंज्ञा होती है। विभागानुकूल व्यापारानुकूल व्यापार ही दुद धातु का अर्थ है। जन्यत्व निवेश से कार्य सिद्ध संभव नही थी– क्योंकि जन्यत्व साक्षात में ही आता है– प्रयोज्यत्व जन्य और जन्य-जन्य में भी आता है। प्रकृति में गोप के व्यापार से जन्य गो व्यापार धातु वाच्य है उससे जन्य पयोवृत्ति व्यापार पूर्वक विभाग है इस प्रकार से पय में रहने वाला विभाग रूप फल का गोप में वृत्ति धात्वर्थ प्रधान व्यापार से जन्य न होने से कर्मसंज्ञा नहीं होती इसलिये प्रयोज्यत्व का निवेश हैं। यह साक्षात् परम्परा साधारण है।

कर्मेत्यनुवृत्ताविति। 'अधिशीङ्स्थासाम्' (१।४।४६) इति सूत्रात्। आधारेति। (२) कर्तृकर्मद्वारा क्रियाश्रयो हि सः। तदाहगेहमित्यादि। अनुक्ते कर्मणीति। (१) कर्मपदेनैतच्छास्त्रबोधितकर्मसंज्ञकं (२) कर्मत्व–शक्तिमद् गृह्यते। सर्वकर्मविहितद्वितीयादीनां कर्मत्वशक्तिमानर्थः। क्रिया-कारकभावः सम्बन्धश्च तदर्थः। 'राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजपुरुषयोः सम्बन्धस्य षष्ठी वाचिका, कष्टं श्रित इत्यत्र क्रियाकारकयोः सम्बन्धस्य द्वितीया वाचिका' इतिसमर्थसूत्रस्थभाष्यात्। एवञ्च 'हरिं भजति' इत्यादौ हरि–कर्मकं भजनमिति बोधः।

कर्मेत्यनुवृत्ताविति। "अधिशीङ्स्थाभ्याम्" सूत्र से कर्म की अनुवृत्ति हो जाती। आधारेति। कर्म के साथ आधार की भी अनुवृत्ति होती, आधार भी कर्त्ता और कर्म के द्वारा क्रिया का आश्रय है। उसी विषय को स्पष्ट करते हैं—गेहमित्यादि। अनुक्ते कर्मणीति। कर्मपद से इस शास्त्र से जिसकी कर्म संज्ञा होती है उसका तथा कर्मत्व शक्ति वाले का ग्रहण है केवल प्राचीनोक्त आश्रय मात्र ही अर्थ नहीं है। कर्मत्व शक्ति कर्म संज्ञा से प्रतीत होती है। सम्पूर्ण कर्म में विहित द्वितीया आदि का कर्मत्व शक्तिमान अर्थ है। क्रियाकारक भाव सम्बन्ध ही उसका अर्थ है। राज्ञः पुरुषः में राजा और पुरुष के सम्बन्ध कहने वाली षष्ठी है। कष्टंश्रितः में क्रिया कारक के सम्बन्ध की बाचिका द्वितीया है; ऐसा समर्थ सूत्र के भाष्य में प्राप्त है। इस प्रकार से हरि भजति में हरि कर्मकं भजनम यह शब्द होता है। अर्थात् जिस भजन के हरि कर्म है।

अभिहिते त्विति। अनभिहिताधिकारादिति भावः। (१)पञ्चकं प्रातिपदिकार्थ इति पक्षे 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) इत्यादेः 'द्वेकयोः' (१।४।२२)इत्यादेश्च नियमत्यम्। एतदभावेऽपिस्वादिसूत्रेण 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे' इति कर्मादौ संख्यायाञ्च स्वादीनां सिद्धेः। तत्र यदा कर्म-

णीत्यादेर्द्व्येकयोरित्यादेश्चैकवाक्यतायामेकस्मिन् कर्मणीत्यन्वयेन सूत्रजबोधे कर्माद्यर्थस्य प्राधान्यं तदा नार्थोऽ(२)नेन । (३)सूत्रजबोधविषयप्रधान-विषयेण 'उक्तार्थानाम्' इति न्यायेन सिद्धेः । यद्यपि 'द्विर्बद्धं सुबद्धम् इति न्यायेन 'द्वौ ब्राह्मणौ' 'व्यतिलुनीते' इत्यादौ द्योतकवाचकयोर्द्योतकयोश्च समुच्चयो दृष्टस्तथापि प्रकृते लक्ष्यानुसारादुक्तार्थानामिति न्यायानुसरणस्येव वक्तुं शक्यत्वात् । एवञ्च कर्मादीनां द्योत्यत्वमेव । यदा तु कर्मगते एकत्वे इत्यन्वयेन संख्यायास्तत्त्वं तदा सूत्रभारब्धव्यम् । भाष्ये एषु विभक्त्यर्थत्व-व्यवहारो द्योत्यतयैव, न त्वेतावता तच्छक्यत्वमेषां भ्रमितव्यं; नियमत्वानु पपत्तेरिति स्पष्टं 'बहुषु' (१।४।२१) इति सूत्रे भाष्यादिषु । द्योतकविष-येऽप्युक्तार्थानामिति न्यायो 'अधिपरी' (१।४।९३) इति सूत्रे भाष्ये दृश्यते । तत्र हि अध्यागच्छतीत्यादावागच्छतीत्यतोऽनधिकार्थयोरधिपर्योः प्रयोगस्योक्तार्थानामितिन्यायेनाभावमाशङ्क्य 'अपूपौ द्वौ' इत्यादावुक्तार्थानां प्रयोगदर्शनेनसमाधानं कृतम् । तत्र हि द्विशब्दापूपशब्दयोर्वाचकयोः प्रकृति-प्रत्यययोर्वाचकद्योतकयोर्द्वावित्यत्र तयोर्वाचकानुवादकयोश्च समुच्चयः । अत एव द्विदशा इत्यादौ समासेन सुजर्थस्योक्तत्वान्न सुजिति भाष्ये उक्तम् । तत्र हि समासः सुच्चेत्युभयमपि द्योतकम् । सुजर्थश्च जन्मेति तत्रैव वक्ष्यते । तथा तद्धितद्विर्वचनयोर्द्योतकयोस्तद्धितेनोक्तत्वादीप्सायां न द्विर्वचनं माषश इत्यादाविति 'सर्वस्य द्वे' (८।१।१) इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । एवं च धातो-रपि क्रियात्वक्रियाकालकारकसंख्यारूपं पञ्चकमर्थः । अत एव तद्विषयेऽपि 'द्व्येकयोः' [१।४।२२] इत्यादेः 'भावकर्मणोः' [१।३।१३] इत्यादेश्च नियमत्वं भाष्यसम्मतं सङ्गच्छते । अत एव दधि अजर्घा अवेत् इत्यादौ प्रातिपदिकधातुभ्यामेव सर्वबोधः । अत एव 'भावकर्मणोः' [१।३।१३] इत्यस्य तद्वृत्ताद्धातोरित्यर्थः 'स्नुक्रमोः' [७।२।३६] इतिसूत्रे भाष्ये दर्शितः । द्योत्यत्वादेवोभयत्रापि प्रत्ययार्थस्य विशेषणत्वमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ।

अभिहिते त्विति । क्योंकि अनभिहित का अधिकार है, प्रथमा को छोड़कर अन्य विभक्ति या अनभिहित में होती है । जिससे प्रत्यय होता है उसको अभिहित कहते हैं उससे भिन्न को अनभिहित कहते हैं जिसमें प्रत्यय होता है उसको अभिहित (उक्त) कहते हैं कर्ता में प्रयय होने से कर्ता उक्त होता है कर्म में प्रत्यय से कर्म उक्त होता है । पञ्चक प्रातिपदिकार्थ (जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या, कारक) पक्ष में "कर्मणि द्वितीया" इत्यादि तथा 'द्व्ये कयो' इत्यादि को नियमत्व है । नियम के अभाव में भी

'स्वादि' सूत्र से जिनका अर्थ निर्दिष्ट नहीं होता है, वे प्रत्यय स्वार्थ में होती है। इस नियम से कर्मादि में और संख्या में स्वादि प्रत्यय सिद्ध हैं। जब कर्मणि इत्यादि और द्वये कयोः इत्यादि की एक वाक्यता होने पर एक कर्म में अन्वय स्वीकार करने पर सूत्र से उत्पन्न बोध में कर्माद्यर्थ का प्राधान्य होने पर अनभिहिताधिकार की आवश्यकता नहीं है। सूत्र से जायमान बोध में किसी की प्रकारता (विशेषणता) को लेकर विशेष्यता से भाष मान जो अर्थ वह यदि अन्य पद से उक्त हो तो उस अर्थ में पदान्तर को शास्त्र से साधुत्व नहीं होता है। अर्थात् उक्तार्थानाम् इस न्याय से ही सिद्ध है यद्यपि दिर्वद्व सुबुद्धम होता है। इस न्याय से द्वौ ब्राह्मणौ में द्योतक तथा वाचक का समुच्चय है और व्यपिलुनियते में वि अति दोनों द्योतकों का समुच्चय है। तो भी प्रकृति में लक्ष्य के अनुसार से उक्तार्थानाम् न्याय का अनुसरण करना ही ठीक है। इस प्रकार से कर्मत्वादि का द्योतक होना उचित है। जब कर्म में वृत्ति एकत्व ऐसे अन्वय से संखयाओं का तब सूत्र की आवश्यकता है, भाष्य में इनमें बिभक्ति के अर्थ का व्यवहार द्योत्यमान कर रही है। इससे वे शक्य हैं ऐसा भ्रम नहीं करना। क्योंकि उस प्रकार के भ्रम में नियम का होना सम्भव नहीं है। यह सब 'बहुषु' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। 'उक्तर्थानाम्' न्याय द्योतक के बिषय में भी लगता है यह 'अधिपरी' सूत्र के भाष्य में उपलब्ध होता है। भाष्य में इस प्रकार से लिखा है। अध्यागच्छति इत्यादि में आगच्छति से अधिक अर्थ वाले न होने से अधिपर का प्रयोगों को 'उक्तर्थानाम्' इस न्याय से अभाव की आशंका पर अश्वौ द्वौ इत्यादि में उक्ततार्थानाम् प्रयोग होने से समाधान किया। वहाँ इस प्रकार से लिखा है कि द्वि शब्द और अश्व शब्द वाचकों का प्रकृति और प्रत्ययों के वाचक द्योतकों का द्वौ में वाचक और अनुवादकों का समुच्चय है इसलिए द्विदशाः इत्यादि से समास से सुजर्थके के उक्त होने से सुच् नहीं होता है, भाष्य में कहा है वहाँ समास तथा सुच् दोनों ही द्योतक है। सुच् का अर्थ जन्य है यह वहाँ ही कहेंगे माषशः में द्योतक तद्धित द्विर्वचनों का तद्धित से उक्त होने से वीप्सा में द्वित्व नहीं होता है इसी प्रकार धातुओं का भी क्रियात्व, क्रिया, काल, कारक, संख्या पाँच अर्थ है। इसी से उसके विषय में भी द्वयेकयोः इत्यादि का और भाव कर्मणोः इत्यादि का भाष्य सम्मत नियमत्व संगत होता है। द्योतक होने से ही दधि, अजर्घाः अवेत् इत्यादि में प्रतिपदिक तथा धातु से ही सब प्रकार का बोध होता है अर्थात् उक्त प्रयोगों में प्रत्यय का लोप हो जाता है। इसी से 'भाव कर्मणोः' का भाव या कर्म में विद्यमान धातु यह अर्थ हैं। यह सब 'स्नुक्रमोः' सूत्र के भाष्य में लिखा है। द्योतक होने से दोनों स्थलों में प्रत्यार्थ विशेषण ही है।

प्रथमैवेति। सा हि प्रातिपदिकार्थस्य तेनोक्तत्वेऽपि भवत्येवेति भावः। अत एव 'अभिहिते प्रथमा' इति वार्तिकं सङ्गच्छते। तिङ्कृदित्यादि (१) परिगणनादेव 'कटं भीष्मं कुरु' इत्यादौ विशेष्यादुत्पन्नद्वितीयया गतार्थ—

त्वेऽपि विशेषणात् सा । यदा तु प्रक्रियादशायां कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि इत्याश्रयणात् (२) कटत्वविशिष्टकटनिष्ठकर्मत्वोक्तावपि भीष्मत्वादिगुण–विशिष्टनिष्ठस्य तस्य बोधार्थं ततोऽपि सा । (१) बोधस्तु परस्परं तयो–र्विशेष्यविशेषणभावेनैव । कारकाणां भावनाऽन्वयव्युत्पत्तिः साक्षात्स्वाश्रय–द्वारा वाऽन्वयविषयेति, तदा परिगणनं भाष्ये प्रत्याख्यातम् । तिङ्कृतौस्व–प्रकृत्यर्थं प्रति यस्य कर्मता तस्य (२) सर्वस्यापि कर्मतामाहतुरिति 'कृतः कटः सुन्दरः' इत्यादौ न क्वापि द्वितीयेति दिक् ।

प्रथमैवेति । प्रथमा विभक्ति प्रातिपदिकार्थ के उक्त होने पर भी होती है इसी से 'अभिहिते प्रथमा' यह वार्तिक भी संगत होता है । तिङ्कृत इत्यादि परिगणन से ही 'कटं भीष्मं कुरु' इत्यादि में विशेष्य से उत्पन्न द्वितीया के गतार्थ होने पर भी विशेषण से विभक्ति होती है । जब प्रक्रिया दशा में कट भी कर्म है और भीष्मादि भी है । ऐसा मानने पर कटत्व से युक्त कट में रहने वाले कर्म के उक्त होने पर भी भीष्मत्वादि गुण से युक्त कट में वृत्ति कर्मत्व के बोध के लिए उससे भी विभक्त होती है अर्थात् कट पद से द्वितीया आती है । परिनिष्ठित से बोध तो आपस में विशेष्य विशेषण भाव से ही होता है । क्योंकि कारकों की भावना (क्रिया) में अन्वय होता है । साक्षात् या परम्परा से अपने आश्रय के द्वारा अन्वय मानने पर परिगणन की आवश्यकता नहीं है । अतएव भाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया है । तिङ और कृत अपने प्रकृत्यर्थ के प्रति जिसकी कर्मता हो उस सबकी कर्मता को कहते हैं । इसलिए कृतः कटः सुन्दरः में विशेष्य या विशेषण से द्वितीया नहीं होती है ।

अब यहाँ शंका करते हैं कि अजा ग्रामं नीयते में ग्रामवृत्ति कर्म के भी उक्त होने पर द्वितीया नहीं होनी चाहिये । उत्तर 'स्वप्रकृत्यर्थं प्रतियस्य कर्मता' इसका तात्पर्य यह है 'व्यापार प्रयोज्यैकफलाश्रयत्व पयुक्तां सर्वस्य कर्मतामाहतुः' इस प्रकार के अर्थ से संयोगाद्यनुकूल व्यापारानुकूल व्यापारार्थक नी प्रवृत्ति धातुओं के योग में संयोगाद्या-नुकूल व्यापाररूप फल के आश्रय अजाआदि में रहने वाले कर्म के उक्त होने पर भी संयोगरूप फल के आश्रयभूतग्राम वृत्ति कर्मता के अनुक्त होने से ग्राम पदोत्तर द्वितीया होती है ।

इत्यशति । यहाँ कहते हैं—कर्मादि पद की तरह शतयः में भी विभक्ति वाच्यता-वच्छेदक रूप से कर्मादि का भान नहीं होता है । इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कर्मादि पद की विभक्ति वाच्य में विशेषणीभूत उद्भूत शक्ति द्वारा कर्मादि भाषकता सामर्थ्य नहीं है उसी प्रकार शत्यादि पद से तद्धितादि की भी नहीं है । इसलिए औपगवः शिवत्न ही प्रत्युदाहरण देना उचित था । वहाँ पर जिस प्रकार से षष्ठी का भानु होता है उसी प्रकार तद्धित और समास से भी समुदाय शक्ति से होता है अनयि-

हिताधिकार के अभाव में घट इत्यादि में षष्ठी के वाच्य जो नहीं दिखलाई दिते हैं उन्हीं का प्रातिपादिकार्य पद से ग्रहण होना चाहिये उनसे भिन्नों का षष्ठी विधायक 'शेषे षष्ठी' में शेष पद से गहण होना चाहिये इसलिए यहाँ को सम्बन्धी षष्ठी वाच्य होने से प्राप्त षष्टी को वारण करने के लिए अधिकार है।

शत्य इति। (१) अत्र वदन्ति—कर्मादिपद इवात्रापि न विभक्तिवाच्यतावच्छेदकरूपेण कर्मादेर्भानम्। अत औपगवश्चित्रगुरिति युक्तं प्रत्युदाहर्तुम्। तत्र च सम्बन्धस्य येन रूपेण षष्ठया भानं तेनैव तद्धितान्तादिभिस्समुदायशक्त्या। एतदधिकाराभावे च घट इत्यादौ षष्ठयवाच्यत्वेन दृष्टानामेव प्रातिपदिकार्थपदेन ग्रहणं स्यात्, तद्भिन्नस्यैव च षष्ठीविधायके शेषपदेन ग्रहणं स्यादित्यत्रत्यसम्बन्धस्य षष्ठीवाच्यत्वेन दृष्टतया प्राप्तां षष्ठीं वारयितुं सः।

(२) वस्तुतस्तु 'कट भीष्मम्' इति परिगणनफलमुक्त्वा तत्प्रत्याख्यानाय (३) 'अशेषत्वान्नात्र शेषलक्षणा षष्ठी, अन्यानभिहितकर्मादीनामभावाच्च नान्या' इत्याशङ्क्य 'न केवला प्रकृतिः इति समयः कृतः न चान्योत्पद्यमाना एतमभिसम्बन्धमुत्सहते वक्तुमिति कृत्वा द्वितीया' इत्युक्तं भाष्ये। तेनौपगवादावपि षष्ठी वारितेवेति तयोरप्यप्रत्युदाहरणत्वमेव। (१) तदुक्तम् 'अनेकम्' (२।२।२४) इत्यत्र भाष्येऽपि 'चित्रगुरित्यत्र षष्ठयर्थस्य नियमेन भानात् षष्ठी प्राप्नोति' इत्याशङ्क्य 'अभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूतः प्रातिपदिकार्थः सम्पन्न इति प्रथमा' इत्युक्तम्। अनेनाशेषत्वरूपं षष्ठयप्राप्तिबीजमुक्तम्। अन्तर्भूत इत्नेन चित्रगवादौ सम्बन्धस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रातिपदिकार्थपदेन ग्रहणयोग्यतोक्तेति बोद्धयम्।

वास्तविक में कटं भीष्मम् को परिगणन का फल कहकर उसके प्रत्याख्यान के लिये अशेष होने से यहाँ शेष लक्षण षष्ठी नहीं हो सकती है। अन्य से अनभिहित कर्मादि के अभाव से अन्य भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार की आशंका कर 'न केवला' केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है। ऐसा नियम किया। अन्य विभक्ति आकार भी इस सम्बन्ध को कहने में समर्थ नहीं है इसलिये द्वितीया होती है ऐसा भाष्य में कहा है। उक्तभाष्य से औपगवा तथा चित्रगुः में षष्ठी का वारण होने से भी प्रत्युदाहरण नही है। अनेकम् के भाष्य में भी कहा है। चित्रगुः में नियम से षष्ठयर्थ का भान होने से षष्ठी की प्राप्ति होती है यह आशंकाकर वह अर्थ अभिहित होने से अन्तर्भूत प्रातिपदिकात् हो जाता है। उससे अशेष होने से शेष के अभाव में षष्ठी की अप्राप्ति का बीज कहा। अन्तर्भूत कहने से चित्रगुः आदि में सम्बन्ध के प्रवृति निमित्त से प्रातिपदिकार्थ से ग्रहण होने की योग्यता है।

(२)परे तु—'शत्यः' इत्यादौ कारकान्वययोग्यतावच्छेदकसाध्यत्वेन न क्रयादेर्भानव् । अत एव न तत्रेतरकारकाणामन्वयः इदञ्च 'कर्तृकर्मणोः' (२।३।६५) इत्यत्र निरूपयिष्यते । एवं 'प्राप्तानन्दः' इत्यादौ यत्कर्मक-प्राप्तिकर्त्ताऽऽनन्द इति विग्रहतो बोधे समासतश्चानन्दकर्तृकप्राप्तिकर्मेति बोधे विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेनैकार्थीभावः कल्प्यः स्याद्, (३)वृत्ति-विग्रहयोः समानार्थत्वभङ्गश्च । किं च तथा सति बहुव्रीह्युपजीव्यस्यैकधर्मि-बोधकत्वरूपसामानाधिकरण्यस्य हानिः । किं चैवं प्राप्ता भार्या यं स 'प्राप्तभार्यः' इत्यादौ पुंवत्त्वानापत्तिः । पूर्वोत्तरपदयोरेकविशेष्यकप्रतीति-जनकत्वरूपवक्ष्यमाणसामानाधिकरण्याभावात् । तस्मात् 'कालाः' परिमा-णिना' (२।२।५) इत्यादिसूत्रभाष्योक्तस्य वृत्तिविग्रहयोः समानार्थत्वस्य निर्वाहार्थं वृत्तिविग्रहयोः(१)प्राप्तिकर्त्रानन्दकर्मेत्येव बोधः । विशेष्ये तन्नि-रूपकत्वबाधेन तु विशेषणभूतप्राप्तौ तत्पर्यवसानं 'स्वर्गी ध्वस्तः' इतिवत् । शाब्दबोधस्तु विशिष्टे तदारोपेणोपपाद्यः ।

अपर आचार्यों का मत यह है कि शत्य इत्यादि में कारक में अन्वय की योग्यता में विशेषण साध्य (क्रिया) त्व से क्रयादि का भान नहीं होता है । इसी से वहाँ अन्य-कारकों का भी अन्वय नहीं होता है । यह विषय 'कर्त्तृ कर्मणोः' सूत्र में निरूपण करेंगे । इसी प्रकार से 'प्राप्तानन्दः' इत्यादि में प्राप्त आनन्द यम् इस विग्रह से प्राप्त हुआ । आनन्द जिसको इस अर्थ यत् शब्द अर्थ कर्म है । और आनन्द कर्ता और समास से आनन्द है कर्ता जिसका ऐसी प्राप्ति (कर्ता) बोध होता है यहाँ विग्रह और समास में विशेष्य विशेषण भाव को व्यव्यास से एकार्थीभाव की कल्पना होगी और वृत्ति विग्रह का समानार्थ भी भंग होगा । ऐसा मानने पर बहुव्रीहि का उपजीव्य (समानाधिकरण) एक धर्मी को कहने वाले समानाधिकरण की हानि हो जायेगी । इस प्रकार प्राप्ता भार्या यं विग्रह में निष्पन्न प्राप्त भार्या में पुंवदभाव नहीं होगा । पूर्वपद और उत्तर पद को एक विशेष्य वाली प्रतीति का जनम समानाधिकरण नहीं होगा । इस लिए 'कालाः परिभाषिना' इत्यादि सूत्र के भाष्य में कथित वृत्ति और विग्रह का एक अर्थ होने का निर्वाह करने के लिये वृत्ति और विग्रह की प्राप्ति कर्त्तृक आनन्द कर्मक ही बोध अर्थात् आनन्द को प्राप्त करने वाला, विशेष में उस निछेपकत्व के बोध होने से प्राप्तिरूप विशेषण में उसका पर्यवसान समझना चाहिये 'स्वर्गी ध्वस्त' की तरह तात्पर्य यह है कि यहाँ स्वर्ग रूपी विशेषण का ही ध्वंस होता है विशेष्य का नहीं । विशिष्ट में उसका प्रयोग करके शाब्द बोध करना चाहिये ।

एवञ्चात्र शब्दात्कर्मादेः क्रियाजनकत्वेन विभक्तिवाच्यतावच्छेदको-

द्भूतशक्तिमत्त्वेन च न भानम्, अतो न विभक्तिप्रसक्तिः । अत एव 'गतिकारकोपपदात्' (६।२।१३९) इति सूत्रे 'गतिकारकोपपदादिति किमर्थं परमं कारकं परमकारकम्' इति प्रतीकमुपादाय 'यथा सम्प्रदानादयः शब्दा न कारकरूपतां प्रतिपादयन्ति, तथा कारकशब्दोऽपीति । कृदन्ता हि क्रियायोग्यताविशिष्टद्रव्यवाचिनो न तूद्भूतां कारकशक्तिं प्रतिपादयन्ति' इति कैयटेनोक्तम् । अत एव तस्य कर्मत्वस्य न क्रियान्वयनियमः । अन्यथा कारकशक्तेः क्रियाविशेषणत्वनियमेन कर्मादिप्राधान्यानापत्तिः । एवं कर्मादिपदैरिव पक्वादिपदैरपि न विभक्तिप्रयोजकरूपेण कर्मादीनां भानम् ।

इस तरह से यहाँ पर भी शब्दादि कर्म का क्रिया के जनक होने से एवं विभक्ति से वाच्य जो उद्भूत शक्ति उस रूप से भान नही होता है इसलिए यहाँ विभक्ति आने का योग नहीं है इसी से 'गतिकारकोपदात्' सूत्र में गतिकारकोपपदादिति किमर्थ इस प्रतीक को लेकर जिस प्रकार सम्प्रदायादि शब्द कारक स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते है उसी प्रकार कारक शब्द भी नही करता है। कृदन्तादि क्रिया की योग्यता से विशिष्ट द्रव्यवाची है, उद्भूतकारक शक्ति का प्रतिपादन नहीं करते है अर्थात कारक शक्ति उनमें अन्तर्भूत है। इसलिये उसके कर्म का क्रिया में अन्वय नही होता है। नही तो कारक शक्ति को क्रिया का विशेषण होने के नियम से कर्मादिकों का प्राधान्य नही होगा। इस प्रकार कर्मादि पदों की तरह पक्व इत्यादि पदों से विभक्ति के प्रयोजक रूप से कर्मादिकों का भान नहीं होता है।

तिङ्कृत्तद्धितसमासैरभिधान' इत्यस्यायमर्थः । यत्तैरभिधाने तत्तच्छक्त्यावेशेन न भानमिति विभक्त्यप्रसक्तिः । अत्रैव 'अनभिहिते' (२।३।१) इतितात्पर्यग्राहकम् । ध्वनितञ्चेदं 'सुप आत्मनः' (३।१।८) इति सूत्रे भाष्ये । तत्र हि इष्टः पुत्र इष्यते पुत्र इत्यर्थे क्यचमाशङ्क्य 'स्वशब्देनोक्तत्वान्न' इति समाहितम् । इष्टशब्दसामानाधिकरण्यात्पुत्रार्थे कर्मत्वावगतावपि पुत्र इति सुबन्तं न कर्मवाचीति न ततः क्यजिति तद्भावः । स्वं कर्मत्वं तद्वाचक-शब्देन पुत्रगतं कर्मत्वमुक्तं, न तु पुत्रशब्दस्य तत्र वृत्तिरित्यक्षरार्थः । 'सुप आत्मनः' (३।१।८) इति सूत्रस्य कर्मत्वविशिष्टबोधकसुबन्तादित्यर्थ इति तदाशयः । पस्तुतः कर्मत्वविशिष्ठो योऽर्थस्तद्बोधकादित्यर्थे 'इह भवन्त' इत्यादिना समाध्यन्तरमुक्तम् । वाक्ये फलं विशेष्यं, वृत्तौ व्यापार इति समानार्थत्वाभावात्तात्रार्थे वृत्तिर्नेतीत्याहुः ।

तिङ्कृतद्धित समास से उक्त होता है—इसका यह अर्थ है उनसे उक्त होने पर उस-उस शक्ति के आवेश (स्वरूप) से भान न होने के कारण विभक्ति नहीं होती है।

इसी अर्थ में 'अनभिहिते' तात्पर्य ग्राहक है। 'सुप् आत्मन्' सूत्र के भाष्य में यह अर्थ ध्वनित है। उस भाष्य में इष्टः पुत्रः, इष्यते पुत्रः इस अर्थ में क्यच् की आशंका करके स्व शब्द से उक्त होने के कारण नहीं होता है—यह समाधान किया। इष्ट शब्द के साथ पुत्र का समानाधिकरण होने पर भी पुत्र शब्द में कर्मत्व का ज्ञान होने पर भी पुत्र सुबन्त कर्मवाची नहीं है इसलिये क्यच् नही होता है। रूवं का अर्थ कर्मत्व है। उसके वाचक शब्द से पुत्र में रहने वाला कर्मत्व उक्त है। पुत्र शब्द की कर्मत्व में वृत्ति नहीं है। यही अक्षरार्थ है। कर्मत्व विशिष्ट बोधक शब्द से क्यच् होता है यह सुध आत्मनः का अर्थ है। वास्तव में तो कर्मत्व से युक्त जो अर्थ उसके बोधक से प्रत्यय होता है। इस तरह से 'इह भवन्त' इत्यादि से अन्य समाधान भी किया। वाक्य में फल विशेष्य है और वृत्ति में व्यापार विशेष्य है इसलिये समानार्थक न होने के कारण उस अर्थ में वृत्ति नहीं होती है।

प्राचीनानुसारेणोक्तस्य प्रायेणेत्यस्य फलमाह–क्वचिदिति। परे त्वत्र तुमुनः साधुत्वायेष्यते इत्यध्याहार आवश्यकः। अन्यथा क्रियार्थक्रियोपपदत्वाभावाच्छकादियोगाभावाच्च स दुर्लभः स्यात्। अध्याहारे तु इच्छार्थेषु तुमुनिति सुलभः। विषवृक्षोऽपि सम्बद्धर्थ्य छेत्तुमिय्यते इति यत् तदसाम्प्रतम्–अन्याय्यमित्यर्थः। एवञ्चाद्ध्याहृततिङाऽभिधानान्न द्वितीया। तादृशेच्छाया अन्याय्यत्वञ्च तद्विषयस्यान्याष्यत्वेन। एवम् 'अमु नारद इत्यबोधि सः' इत्यादौ 'नारद इति' इति श्रीकृष्णीयज्ञानाकारानुकरणम्। नारद इत्येतच्छब्दाभिलप्यमानाकारो बोध इत्यर्थ इति प्रथमान्तस्या(१) प्रातिपदिकत्वान्न तत्र द्वितीया। अत एव 'अधिहरि' इत्यादौ समासः। तद्वचनसामर्थ्येन ह्यस्य परिगणनत्वकल्पनैव युक्ता। अत एव 'अभ्र आँ अपः' इत्यादौ सप्तमी। (२)किञ्च निपातेनाभिधानेऽपि प्रातिपदिकादुद्भूतत्तच्छक्तिमत्त्वेनैव भानमिति तत्र विभक्तिः सुलभा। शब्दशक्तिस्वभावादस्यैवार्थस्य द्योतकोऽधिर्निपातः। अत एव परिगणनप्रत्याख्यानेऽपि न दोष इत्याहुः।

प्राचीनों के अनुसार कहे हुये प्रायेणका फल कहते है क्वचिदिति नागेश का कथन है कि क्षेन्तुं में तुमुन् की सिद्धि के लिए इष्यते का अध्याहार करना आवश्यक है। अन्यथा क्रियार्थक क्रियोपपद न होने से और शकादि के योग न होने से तुमुन का होना कठिन था। अध्याहार करने पर तो इच्छा अर्थ में तुमुन सुलभ है। विष वृक्ष को भी बढ़ाकर जो काटने की इच्छा करते हैं वह ठीक नहीं है। ऊसांप्रतम् का अर्थ अनुचित है। इस प्रकार अध्याहृत 'इष्यते' कर्म में प्रत्यय होने के कारण उक्त कर्म में वृक्षः में प्रथमा है द्वितीया नहीं होती है। उस प्रकार की इच्छा का अनौचित्यत्व उस विषय के

अनुचित होने से है। इस प्रकार 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इत्यादि माघ १/३ श्लोक में 'नारद इति' ऐसा श्रीकृष्ण के ज्ञान का अनुकरण कवि ने किया है। नारद 'शब्द से कहा गया' इस प्रकार का बोध है। प्रचमान्त के प्रातिपदिक न होने के कारण यहां द्वितीया नहीं होती है। इसी तरह अधिहरि में समास होता है। उस वचन के होने से इस परिगणन की कल्पना करना ही उचित है। इसीलिये 'अभ्र आँअपः' इत्यादि में सप्तमी होती है। और निपात से अभिधान होने पर भी प्रातिपदिक से उद्भूत उन-उन शक्ति युक्तों से थान होता है इस लिये विभक्ति सुलभ है। शब्द शक्ति के स्वभाव से इसी अर्थ का द्योतक निपात अधि है इसलिए परिगणन का प्रत्याख्यान करने में भी कोई दोष नहीं है।

तथायुक्तम् (१।४।५०)। (१)तत्त्वञ्च समभिव्याहृतधात्वर्थप्रधान-व्यापारप्रयोज्यतद्धात्वर्थ (२)फलाश्रयत्वरूपम्। पराधीनतया विषं भुञ्जानेऽपि भुजिक्रियाफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वात्पूर्वसूत्रेणैव सिद्धम्। तदुक्तं भाष्ये 'आतश्च विषमीप्सितं यत्तद्भक्षयति' इति। तस्मात् 'चोरान् पश्यति' इति (४)द्वेष्योदाहरणम्। विषयेन्द्रियसम्बन्धाद् दृश्यमाना अपि ते न दर्शनोद्देश्याः, अपि तु अनिष्टदर्शना एवेति स्पष्टं भाष्यकैयटयोः। एवञ्च तत्र पूर्वेणाप्राप्तौ वचनम्। अनीप्सितम्—अनुद्देश्यम्। तच्च द्वेष्यम् (५)ऽदासीनञ्च। तृणमिति। यथा स्पृश्यमानस्य गङ्गा स्पर्शादिजन्यसंयोगादिफलाधारत्वं तथैव तृणादेरणीति। भावः। (६)अनीप्सितपदाभावे ईप्सितस्य (७)प्रकर्षहीनस्याप्यनेन (१)तथायुक्तमिति किम्? 'विषेणौदनं भुङ्क्ते' इत्यादौ करणत्वमात्रविवक्षयां (२)विषस्य मा भूत। (३)'प्रयागात्काशीं गच्छति' इत्यत्र प्रयागस्य च मा भूत्। तत्सत्त्वे तु प्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वरूपतत्त्वाभावान्न दोषः।

तथा युक्तम। तथा युक्तत्व का परिष्कार इस प्रकार से है। समभि व्याहृतधात्वर्थ प्रधान व्यापार प्रयोज्य तद्धात्वर्थ फलाश्रयत्वरूपम् समीपस्थ धातु का अर्थ जो प्रधान व्यापार उससे जन्य जो उस धातुका फल उसका जो आश्रय हो कारक विवक्षा के अधीन होते है बक्ता ने उस प्रकार के फलाश्रयत्व से विवक्षित होना है। कर्तुरीप्सित सूत्र में तादृशफला श्रयत्व प्रकारक इच्छा के उद्देश्य से विवक्षित होना चाहिए केवल इतना ही दोनों में भेद है। पराधीन होने से विष को खाने पर भी भुज् धातु के फलाश्रय होने से उद्देश्य होने के कारण पूर्व सूत्र से सिद्ध है जैसा कि भाष्य में कहा है कि बिष भी ईप्सित है क्योंकि भय से जो कुछ भी खा सकता है इसलिए चौरान् पश्यति यह अन्य उदाहरण देते हैं उक्त उदाहरण द्वेष्य का है। विषय (चोर) और इन्द्री नेत्र सम्बन्ध से इन्द्री नेत्र से देखे गये भी वे चोर दर्शन के उद्देश्य नहीं है किन्तु अनिष्ट दर्शन है। इस प्रकार से कर्तुरीप्सितम् से अप्राप्त होने के कारण वचनारम्भ

है। अनीप्सित का अर्थ उद्देश्य रहित है वह द्वेष्य अथवा उदासीन है। तृणमिति। जैसे स्पर्श हुये गंगा आदि को स्पर्श से जन्य संयोगादि रूप फलाश्रयता है उसी प्रकार तृणादि को भी है अब यहाँ शंका करते हैं कि तथायुक्तम् में तथा में थाल् प्रत्यय सादृश्य के अर्थ में है तब ईप्सित तम् सादृश्य से युक्त अर्थ का लाभ हो ही जायेगा। यदि ईप्सित तम् को ही तथा युक्त पद से ग्रहण करने पर सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा। फिर अनीप्सित ग्रहण की क्या आवश्यकता है। उत्तर अनीप्सित पद के अभाव में प्रकर्ष से हीन ईप्सित की तथा कर्त्तसमवेत्येच्छानुद्देश्य की भी कर्ता में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान इच्छा के अनुदेश की भी हो जाती इसलिये तथायुक्तम् कहा। 'बिषेणौदनं भुङ्क्ते इत्यादि में करणत्व की विवक्षा में विषकी कर्मसंज्ञा न हो इसलिये तथा युक्त ग्रहण किया। और प्रयागात्काशीं गच्छति से प्रयाग की कर्मसंज्ञा वारण के लिये भी तथा युक्तम् है। उसके रहने पर तो प्रकृत धातु (भुजगम्) के फल की आश्रयता विष और प्रयाग में नहीं है इसलिये दोष नहीं है।

अपादानादिविशेषैरिति। (४)तत्तद्रूपेणाभासमानमित्यर्थः। अकथितशब्दोऽत्रासङ्कीर्तितपरो नाप्रधानपर इति भावः। (१)एवञ्च पूर्वविधिविषयप्रसक्तिपूर्वक तदविवक्षयां, सर्वथा पूर्वविधेरप्रसक्तौ चैतत्प्रवृत्तिरिति बोद्धयम्। अपादानत्वादिविवक्षायां पञ्चम्याद्येव। केन रूपेण विवक्षेति चेत्–कर्मत्वेनेति गृहाण। कारकत्वव्याप्यसञ्ज्ञानां स्वबोद्धयार्थे कर्मत्वादिशक्तिमत्त्वबोधकत्वात्। बोधोऽपि तथैव।

अपादानादिविशेषैरिति। अब यहां शंका करते हैं कि दुहादि धातुओं के दो व्यापार मानकर पय तथा गौ की कर्म संज्ञा हो जायेगी। फिर इस सूत्र की कोई आबश्यकता नहीं है। दुह धातु का अर्थ इस प्रकार से है बिभागानुकूल व्यापार, व्यापारानुकूल व्यापार, विभाग रूपफल को लेकर पय की और तदनुकूल व्यापार रूप फल को लेकर गो की कर्म संज्ञा हो जायेगी। गो के प्रधान कर्म होने से गौर्दुह्यते पयः की सिद्धि हो जायेगी। गौणे कर्मणिदुह्यादेः की भी आवश्यकता नहीं है। तत्तद्रूपेणभासमानम् अर्थात् अपापादान रूप से भासमान न हो। अकथित शब्द का अर्थ अप्रधान नहीं है किन्तु असंङ्कीर्तित है। पूर्व विधि अपादानादि के विषय की प्राप्ति-पूर्वक उसकी अविवक्षा में सबप्रकार से पूर्वविधि की अप्राप्ति होने पर अकिथंच्च की प्रवृत्ति होती है यदि अपादानादि विवक्षा करने पर तो पंचमी आदि बिभक्तियाँ होगी। किस रूप से विवक्षा की जाये तो कर्मत्व उचित है। कारकत्व से व्याप्य संज्ञाओ (कर्मकरणादि) का अपने अर्थ में कर्मत्वादि शक्ति मत्ता की वोधकता है। बोध उसी प्रकार से होता है।

तत्तच्छास्त्राभावे सर्वत्र षष्ठीप्राप्त्या सर्वासां तदपवादत्वेन तदपवादत्वमात्रेण सम्बन्धार्थकत्वं न युक्तम्। अत एव 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२)

इत्यस्य न वैरूप्यम् । (१)अत एवैतत्सूत्रशेये भाष्येऽनेनैव सिद्धे (२)आद्य-सूत्रद्वय(३)वैयर्थ्यमाशङ्क्येप्सितमात्रस्याप्यनेन सञ्ज्ञायां (४)'वारणार्थानाम्' (१।४।२७) इति सूत्रस्यानवकाशत्वे माणवकादपि पञ्चमी स्यादिति ईप्सिततममित्याद्यारब्धव्यमित्यु(५)त्तरितम् । एतेन दुहादीनां व्यापारद्वयार्थकत्वे कर्तुरिति कर्मत्वे तत्त्वेनाविवक्षायामप्यनेन कर्मत्वमिति परास्तम् । वदतो व्याघातात् । अत एव कर्तुरित्थनेन सिद्धिमाश्रित्यास्य वैयर्थ्यं भाष्ये (१)नाशङ्कितम् ।

उन उन सूत्रों के अभाव में सब स्थानों पर षष्ठी की प्राप्ति होने से सब षष्ठी का अपवाद होने से उन सबका सम्बन्धार्थ मानना उचित नहीं है। इसी से 'कर्मणि-द्वितीया' की व्यर्थता नहीं है। इसी से इस सूत्र के अन्त में भाष्य में लिखा है कि इससे ही सिद्ध होने पर 'कर्तुरीप्सित' तथा युक्त दोनों सूत्र के व्यर्थता की आशंका कर यदि ईप्सित मात्र की इससे संज्ञा होने पर 'वारणार्थनाम्' सूत्र के अनवकाश होने पर माणवक से भी पंचमी हो जायेगी। इसलिये ईप्सित तम् का आरम्भ किया, यह भाष्य में उत्तर दिया। उक्त कथन से दुहादियों के व्यापार द्वय अर्थ मानने पर 'कर्तुः' से कर्म होगा। अविवक्षा में इससे कर्मत्व होगा। ऐसा कहने वाले भी परास्त है। कहने वाले का भी व्याघात है इसी से 'कर्तु' से सिद्धमान कर इसकी व्यर्थता की आशंका भाष्य में नहीं की है।

कारकमिति । क्रियाजनकमित्यर्थः । नन्वेवं 'नटस्थ श्रृणोति' इत्यादावतिप्रसङ्ग । सर्वथा तत्र तदप्राप्तेः । गीतद्वारा च तस्य क्रियाजनकत्वम् । न च तस्य कर्मयुक्त्वाभावः । तदंशस्यापि परिगणनलभ्यत्वात् । नटस्यापादानत्वविवक्षा तु न कदापि । 'आख्यात' (१।४।२६) इति सूत्रे उपयोगग्रहणे-नानुपयोगे आख्यातुरपादानत्वाविवक्षाया बोधनात्; अतः परिगणनमाह-दुह्याजिति । कर्मयुगिति । कर्मयुक्त्वं धात्वर्थव्यापारात्प्राक् तदनन्तरं वा तत्सम्बद्धत्वम् । तत्र ब्रुविशास्यतिरिक्ते धात्वर्थव्यापारात्प्रागेव तत्सम्बद्धत्वं, नद्विषये तु तदनन्तरं तत्सम्बद्धत्वं बोद्धयम् । तत्र सति सम्भवे प्राक् तत्सम्बद्धत्वमेव ग्राह्यम् । एतेन स्थाल्यादेरपि तद्व्यापारादनन्तरं पयः सम्बद्धत्वेन कर्मत्वं तेषां दुर्वारमित्यपास्तम् । तेन 'गांपयो दोग्धि स्थाल्याम्' इत्यादौ स्थाल्यादेरधिकरणत्वाविवक्षायामपि नानेन कर्मत्वम् । एवञ्चापादानादीत्यादिशब्देनापादानसम्प्रदानाधिकरणान्येव । करणन्तु न गृह्यते । हस्तादेः करणस्य पयआदिकर्मयुक्त्वाभावात् ।

कारकमिति । क्रिया के जनक को कारक कहते हैं उक्त अर्थ मानने पर 'नटस्य

शृणोति' में दोष है। सब प्रकार से वहाँ प्राप्ति नही है। गीत के द्वारा नटको भी क्रियाजनकत्व कर्मयुक्तत्व का अभाव है, यह कहना भी उचित नहीं है, वह अंश भी परिगणन से प्राप्त है। नटकी अपादनत्व की विवक्षा तो कभी भी नहीं है। क्योंकि 'आख्याती प्रयोगे' सूत्र में उपयोग ग्रहण करने से अनुपयोग में आख्यातः की अपादान विवक्षा के अभाव का बोधन किया है। इसलिए परिगणन कहते हैं। दुह्याजिति। कर्म युक्तत्व वह है जो धात्वर्थ व्यापार से पूर्व अथवा पश्चात् उससे सम्बन्ध रखता हो। ब्रुविशास्य से अतिरिक्त में धात्वर्थ व्यापार से पूर्व ही सम्बन्ध होता है—उन दोनों धातुओं के विषय में तो पश्चात् सम्बन्धत्व है। जहां तक सम्भव हो पूर्व सम्बन्धत्व को ही स्वीकार करना। उक्त निश्चय से 'गां पयो दोग्धि स्थालयम्' में स्थाली की कार्म संज्ञा नहीं होती है क्योकि स्थाली को भी उसके व्यापार के अनन्तर पय दुग्ध से सम्बन्ध होने से कर्मत्व हो जायेगा। यह उनका कथन भी उचित नहीं है क्योंकि कह चुके हैं कि पूर्व सम्बन्ध को ही लेना। अपादानादि में आदि शब्द से अपादान सम्प्रदान और अधिकरण का ही ग्रहण करना। करण का ग्रहण नहीं करना। हाथ आदि करण का दुग्ध आदि कर्मयुक्तत्व का अभाव है।

यदपि–'गां दोग्धि' इत्यादौ गौः पयस्त्यजति, गवा पयस्त्याजयतीत्याद्यर्थप्रतीत्या 'कर्तुरीप्सिततमम्' (१।४।४९) इत्येव सिद्धम्। प्रधानकर्मत्वञ्च गवादीनामिति तत्रैव लादिसिद्धिः। प्रधानकर्मत्वञ्च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे कर्तृनिष्ठप्रधानव्यापारविशेषणफलाश्रयत्वम्। ण्यन्तविषये ईदृशप्राधान्यस्यैव ग्रहात्। प्रकृते च पयोनिष्ठविभागानुकूलो यो गोनिष्ठव्यापारस्तदनुकूलव्यापारस्य (२)शब्दतः प्राधान्यात्। 'गर्गाः शतं दड्यन्ताम्' इत्यत्र गर्गाणामेव तत्त्वम्।उद्देश्यत्वरूपमार्थं प्राधान्यं तु शतस्येत्यनुद्देश्यत्वेनाप्रधानगर्गानुरोधान्न शतावृत्तिरिति न वृद्धिसूत्रस्थभाष्यविरोधः एवमेव (३)शकारमसि चोदित' इत्याद्युपपत्तिः।

(१)अत एव—

प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्।
अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः॥

इत्युक्त्वोत्तरार्द्धोपात्तातिरिक्ता द्विकर्मकाः के ? इति प्रश्ने–

नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः॥

इत्युक्तम्। तत्र न्यादिग्रहणं तव कृषिवन्मम व्यापारद्वयार्थकधातू-(२)पलक्षणम् एवञ्चेदं सूत्रं व्यर्थं, तथापि यदा पयोनिष्ठविभागानुकूलव्या-

परादिरेव धात्वर्थस्तदाऽपादानत्वाद्यविवक्षायामन्येनासिद्धकर्मत्वार्थमिदमावश्यकम्। तदा च 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इत्युक्तेरप्रधाने गवादावेव लादयः। अप्रधानकर्मत्वञ्चोक्तप्रधानकर्मभिन्नकर्मत्वम्। तच्चोक्तार्थे गवादीनामस्त्येव, (३) फलानाश्रयत्वात्।

यद्यपि—'गां दोग्धि' इत्यादि में गो दुग्ध को छोड़ती है। गाय से दुग्ध छुटाया जाता है। इस अर्थ की प्रतीत से कर्तुरीप्सिततमम् से कर्मसंज्ञा हो जायेगी और प्रधान कर्मता गो आदि की होने से उसमें ही लकार होगा। प्रधान कर्मत्व का परिष्कार इस प्रकार से है (कर्तृप्रत्यय समभिव्याहारे कर्तृनिष्ठप्रधान व्यापार विशेषण फलाश्रयत्वम्) कर्त्ता में हुई प्रत्यय के समीप में, कर्त्ता में जो प्रधान व्यापार उसमें विशेषणीभूत जो फल उसका जो आश्रय हो। ण्यन्त के बिषय में इसी प्रकार के प्रधान का ग्रहण है। प्रकृत में पय (दुग्ध) में रहने वाला विभागानुकूल जो व्यापार अर्थात् गो से दुग्ध अलग होता है। गोवृत्ति व्यापार उसका जनक जो व्यापार उसको ही शब्दतः प्राधान्य है। (अर्थात् शान्दबोधीय विशेष्यता)। "गर्गाशतं दण्डयन्ताम्" में गर्गों का ही प्राधान्य है। उद्देश्यत्व रूप अर्धप्राधान्य शत् को भी है। इसलिए उद्देश्य न होने के कारण अप्रधान गर्गो के अनुरोध से शत् (रुपयों) की आवृत्ति नहीं होती है, अर्थात् प्रत्येक गर्ग से शत् मुद्रा दण्ड रूप में नहीं ली जाती है। इसलिए उक्त आश्रय वाला 'वृद्धि राद्धेच' सूत्र के भाष्य से भी विरोध नहीं होता है। इसी प्रकार से 'शकरामसि चोदितः' की उपपत्ति होती है। जिज्ञासा, ज्ञापन, चुद् धातु का अर्थ है। शकार पद शानच् प्रत्यय में विद्यमान शकार के प्रयोजन में है। कर्म प्रत्यय के समीप फल रूप ज्ञान व्यापार की अपेक्षा प्रधानता है।

कर्तृ प्रत्यय में व्यापार प्रधान होता है और कर्म प्रत्यय में कर्म की प्रधानता होती है। इसलिए मद्वृत्ति व्यापार जन्य यत् शकर विषयक प्रयोग विषयक जिज्ञासा विषयक ज्ञान तदाश्रयत्वम्। यह बोध होता है। यहाँ युष्मद् अर्थ में प्राधान्य होने से क्त प्रत्यय उसमें ही होता हैं। इसी से प्रधान कर्मणीत्यादि दो कर्म वाली धातुओं के उक्त प्रधान कर्म में लकारादि होते हैं, दुहादियों के अप्रधान कर्म में होते हैं। ण्यन्त में जो अण्यन्त का कर्ता कर्म हो जाता है। यह कहकर उत्तरार्ध में उपान्त से अतिरिक्त द्विकर्मक कौन है इस प्रश्न पर भी वह और गत्यर्थक इनका द्विकर्मकों में ग्रहण करना यह निश्चय है। वहाँ न्यादि ग्रहण तुम्हारे कृषिधातु की तरह मेरे व्यापार द्वयार्थक धातु का उपलक्षण है अन्यथा अन्य धातुओं के ग्रहण करने में न्यूनता हो जायेगी इस प्रकार से अकथितञ्च सूत्र व्यर्थ है। तो भी जब एक व्यापार ही अंगीकार करेंगे अर्थात् पयोनिष्ठ विभागानुकूल व्यापार धात्वर्थ ही स्वीकार करेंगे तब अपादानात्वादि अविवक्षा में अन्य किसी सूत्र से कर्मत्व की सिद्ध न होने पर कर्म संज्ञा के लिए 'अकथितञ्च' की आवश्यकता है तब अप्रधान में दुहादियों का होता। इसके अनुसार अप्रधान गवादि में

ही लकारादि होंगे। पूर्वोक्त प्रधान कर्म से भिन्न ही अप्रधान कर्म है वह अप्रधान फल के आश्रय न होने से गवादि को है। अर्थात् फलतावच्छेदक सम्बन्ध से फलाश्रय नही है।

गां दोग्धीति। अन्तःस्थितद्रवद्द्रव्यनिष्ठविभागानुकूलव्यापारो-दुहेरर्थः। तत्र गोरपादानत्वाविवक्षायामनेन कर्मत्वम्। तद्विवक्षायां पञ्चमी। गोः पयस्यन्वये षष्ठी। द्विकर्मकेषु गवादीनां कर्मत्वाविवक्षया क्रियाऽन्वये षष्ठी न, अनभिधानात्। षठ्यन्तस्य स्वान्वययोग्यनामसमभिव्याहारे तत्रै-वान्तयस्योत्सर्गतो व्युत्पत्तेश्च। अत एव 'तण्डुलानामोदनं पचति' इत्यत्र 'व्यर्थश्चैव पचिर्विकारयोगे षष्ठी' इत्येव कर्तुरिति सूत्रे भाष्ये उक्तमिति दिक्।

गां दोग्धीति। अन्दर स्थिति पत्ररे द्रव्य (पय) में रहने वाला जो विभाग तदनुकूल व्यापार ही दुह का अर्थ है। यहाँ गो की अपादान संज्ञा की अविवक्षा करने पर 'अकथितञ्च' कर्म संज्ञा होती है। और अपादान की विवक्षा करने पर पंचमी होगी। गो का पय में अन्वय करने पर षष्ठी होती है। दो कर्म वाली धातुओं गो आदिक कर्मत्व की अविवक्षा में क्रिया में अन्वय करने पर भी अनभिधान के कारण षष्ठी नहीं होती है। षष्ठयन्त का अपने अन्वय के योग्य प्रातिपदिक के पास में स्वभाव से उस प्रातिपदिक में अन्वय और व्युत्पत्ति से भी करना। उक्त नियम से 'तण्डुलाना-मोदनं पचति' में पच् धातु दो अर्थ वाला है। विकार के योग में षष्ठी होती है, इतना ही 'कर्त्तु' सूत्र के भाष्य में लिखा है।

बलिं याचते इति। यदा परस्वत्वनिवृत्ति-स्वस्वत्वोत्पत्त्युभयानुकूलो व्यापारो याचेरर्थः, स्वत्वे बलेर्निरूपकतयाऽन्वयः, तदाऽनेन कर्मत्वम्। पूर्वविषयस्य कस्याप्यभावात्। न चात्रापादानत्वप्रसक्तिः। विभागस्य धात्वर्थत्वाभावात्। 'न हि याचनादेवापायो भवति, याचितो यदि ददाति तदाऽपायेन युज्यते' इति भाष्योक्तेः। 'असङ्कीर्तिपर्यायाकथितग्रहणे 'गां दोग्धि' 'गौर्दोग्धि' इति च, याचिपृच्छिभिक्षियोगे कर्मसञ्ज्ञैवेत्येषा व्यवस्था' इति च सिद्धान्ते कैयटोक्तेश्च। व्यापारद्वयार्थत्वे तु कर्तुरिति कर्मत्वं बोद्ध्यम्। वसुधायाः स्वामित्वसम्बन्धात् कर्मयुक्त्वम्।

बलि याचते इति। जब दूसरे के स्वत्व की निवृत्ति और अपने स्वत्व की उत्पत्ति दोनो का जनक व्यापार याच् धातु है। स्वत्व में बलि का निरूपकता सम्बन्ध से अन्वय है, तब इससे कर्म संज्ञा होगी यहाँ अन्य किसी विभक्ति की प्राप्ति नही है। यहाँ बलि में अपादानत्व की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि विभाग धात्वर्थ नहीं है। पंचमी विभाग में ही होती है। मागने से अपाय (विभाग) नहीं होता है। जिससे मागा जाता है वह यदि देता है, तब अपाय से युक्त होता है ऐसा भाष्य में कहा है। असङ्कीर्तित पर्याय ही

अकथित के ग्रहण में 'गांदोग्धि' गौर्दोग्धि होता है। याचिपृच्छिभिक्षि के योग में कार्य-संज्ञा ही होगी। यह व्यवस्था को सिद्धान्त में कैयट ने कहा है। दो व्यापार मानने पर तो कर्तुः से कर्म संज्ञा होगी। वसुधा का स्वामित्व सम्बन्ध से कार्य युक्तत्व है।

अविनीतमिति । याचेः स्वीकारानुकूलव्यापारोऽर्थः । स्वीकारश्च 'इदमवश्यं करिष्यामि' इतिशब्दप्रयोगजनको ज्ञानविशेषः । विनयेन च तद्विषयज्ञानवत्त्वं सम्बन्धः ।

अविनीतिमिति । याच् धातु का स्वीकारानुकूल व्यापार अर्थ है। और स्वीकार 'यह मैं अवश्य करूँगा' इस प्रकार के शब्द प्रयोग का जनक ज्ञान विशेष है, विनय के साथ याच धातु का विषय ज्ञानवत्व सम्बन्ध है। अविनीतिम् विनिमाय याचते अविनीत मुख्य कर्म है।

तण्डुलानिति । तण्डुलान् विक्लेदयन्नोदनं निर्वर्त्तयतीत्यर्थस्य कर्त्तु-रितिसूत्रस्थभाष्यकैयटसम्मतत्वेन कर्तुरित्येव कर्मत्वसिद्धेरस्यैतदुदाहरणत्वं चिन्त्यम् । 'एवं स्वसम्प्रदानकदानानुकूलव्यापारानुकूलशासनरूपव्यापार्थ-दण्ड्यादियोगेऽपि तेनैव सिद्धम् । एवं व्यापारद्वयार्थत्वेन सति प्रयोगे बहूनां द्विकर्मकत्वं बोद्धव्यम् ।

तण्डुलानिति । तण्डुल (चावलों) को गीला कर ओदन का निर्माण करता है, ऐसा अर्थ (कर्तुः) सूत्र के भाष्य कैयट के सम्मत होने, कर्तुः से ही कर्मत्व ही जायेगा। यह उदाहरण उक्त सूत्र का चितन्य है। इसी प्रकार दण्ड के योग में दो व्यापार मानने से (कर्तुः) से कर्म संज्ञा हो जायेगी। दण्ड का अर्थ इस प्रकार से है 'स्वसम्प्रदानक' अपने सम्प्रदान वाला जो दान उसका जनक भी व्यापार उसका जनक शासन रूप व्यापार अर्थ है। इस प्रकार से दो व्यापार मानने से प्रयोग होने पर बहुत सी धातु-द्विकर्मक हो जायेगी।

व्रजमिति । निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकयत्किञ्चिदधिकरणकचिरस्थित्यनु-कूलव्यापारो रुधेरर्थः । व्रजे गौस्तिष्ठति, तत्र तां निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकं चिरं स्थापयतीति सम्प्रत्ययात् । अधिकरणत्वाविवक्षायामनेन कर्मत्वम् । व्यापा-रद्वयार्थत्वे कर्तुरिति कर्मत्वम् ।

व्रजमिति । निकलने की रुकावट कर किसी अधिकरण में चिरकाल तक स्थिति के अनुकूल व्यापार ही रुध का अर्थ है। व्रज में जो स्थिति है वहाँ उसको निकलने की प्रतिबन्ध के साथ चिरकाल की स्थिति कराता है। इस प्रकार का ज्ञान होता है व्रज-रूपी अधिकरण की अविवक्षा में "अकथित" से कर्म संज्ञा होती है। दो व्यापार मानने पर (कर्तुः) से कर्म संज्ञा हो जायेगी।

पन्थनिमिति । जिज्ञासाविषयार्थज्ञानानुकूलः 'केन पथा गन्तव्यम्'

इत्यभिलाषादिरूपो व्यापारः पृच्छेरर्थः । ज्ञाविषयत्वेन पथः कर्मत्वम् । माणवकेन च तज्ज्ञानाश्रयत्वं सम्बन्धः । अपादानत्वं तु नात्र । 'न प्रश्नादेवापायो भवति पृष्ठोऽसौ यदाचष्टे तदाऽपायेन युज्यते' इति भाष्योक्तेः सम्प्रदानत्वमपि न । कर्मसम्बन्धवत्त्वेनेच्छाविषयत्वाभावात् । व्यापारद्वयार्थत्वे तु कर्तुरिति कर्मत्वम् ।

जिज्ञासा का विषय है जो अर्थ ज्ञान उसका जनक 'किस मार्ग से जाना चाहिये' ऐसा प्रयोगात्मक व्यापार पृच्छ का अर्थ है । ज्ञान का विषय होने से पन्थः को मुख्य कर्मता है । ज्ञान का बिषय होने पर पथ की कर्मसंज्ञा होती है । माणबक से उसके ज्ञानाश्रयत्व का सम्बन्ध है । यहाँ अपादान नहीं है । क्योंकि प्रश्न मात्र से अपादान का होना सम्भव नहीं है । पूछने पर जब वह कहता है तब अपाय से युक्त होता है ऐसा भाष्य में कहा है । सम्प्रदानत्व भी नहीं है क्योंकि कर्म सम्बन्धवत्ता से इच्छा का विषय नही है । दो व्यापार मानने पर तो (कर्तुः) से कर्म संज्ञा हो जायेगी ।

वृक्षमिति । विभागपूर्वकोऽऽदाने चिञ् । वृक्षात्फलान्यादत्ते इत्यर्थात् । अपादानत्वाविवक्षायामनेन कर्मत्वम् ।

धर्मं ब्रूते इत्यादि । ज्ञानानुकूलः शब्दप्रयोगरूपो व्यापारो ब्रूञर्थः । प्रवृत्तिपर्यवसायी स शासेः । स च 'धर्मं कुरु' इत्यादिविधिघटितोपदेशरूपः । विषयता च फलतावच्छेदकः सम्बन्धः । वचनादिकर्मणा धर्मेण माणवकस्याभिप्रेयमाणत्वात्तस्य सम्प्रदानत्वम् । तदविवक्षायाञ्चानेन कर्मत्वम् । अत्र कर्तृव्यापारानन्तरं तज्ज्ञानाश्रयत्वरूपो माणवकस्य धर्मेण सम्बन्धः । नयतेः संयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारोऽर्थः । स एव स्कन्धग्रहणादिपूर्वो वहेरर्थः । गत्यनुकूलव्यापारविशेषः कृषेः । बलाद्ग्रहणपूर्वकं देशान्तरप्रापणं हरतेः । एषु 'कर्तुः' (१।४।४९) इति कर्मत्वं बोद्धव्यम् । एवञ्च भाष्यानुक्तानामत्र ग्रहणं प्राचामनुरोधेनेति तत्त्वम् । भाष्योक्ता हि 'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञ्बुविशासयः' ।

वृक्षमिति । विभाग पूर्व ग्रहण करने में चिञ् धातु है । क्योंकि वृक्ष से फलों को लेना है । इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति होती है । अपादानत्व की अविवक्षा में उक्त सूत्र में कर्म संज्ञा होती है ।

धर्मं ब्रूते इत्यादि । ज्ञान का जनक शब्द का प्रयोग रूप व्यापार ब्रू का अर्थ है । प्रवृत्ति का पर्यवसायी व्यापार शास्त्र का अर्थ है वह व्यापार 'धर्मं कुरु' (धर्म करो) इत्यादि विधि वाक्य से युक्त उपदेश रूप है । यहाँ फलतावच्छेदक सम्बन्ध विषयता है । वचनादि कर्म धर्म से माणवक को उपदेश देने के कारण सम्प्रदानत्व है ।

सम्प्रदान की अविवक्षा में 'अकथितञ्च' से कर्म संज्ञा होगी। माणवक धर्म से कर्त्ता के व्यापार के पश्चात् उस ज्ञान का आश्रयत्व रूप सम्बन्ध है। नीयप्रापणे का संयोगानुकूल व्यापारानुकूल व्यापार अर्थ है। उक्त अर्थ ही वह का है केवल कन्धे पर रखना ही उसके पूर्वांध है कृषि का गत्यनुकूलन व्यापार विशेष अर्थ है। हृ धातु का बल से ग्रहण का अन्य देश में पहुँचना अर्थ है। इनमें 'कर्तुः' से कर्मत्व होता है। इस प्रकार से प्राचीनों के मत से भाष्य में अनुक्त धातुओं का यहाँ ग्रहण है। भाष्योक्ति दुहिः इत्यादि है।

अर्थनिबन्धनेयमिति । इदमपि कैयटानुरोधेन। वस्तुतस्तु येषामेतदर्थानां द्विकर्मत्वमिष्टं तेषां व्यापारद्वयार्थत्वेन कर्तुरित्येव सिद्धम्। (१)अन्यथा 'आख्यातोपयोगे' इतिसूत्रभाष्योक्तपरिगणनभङ्गापत्तिः। किञ्च भाष्ये भिक्षिग्रहणवैयर्थ्यापत्तिः । उभयार्थकयाचिग्रहणेनैव सिद्धेरित्यन्ये।

अर्थनिबन्धनेयमिति। यह कैयट के अनुरोध से है वास्तव में जिनको दो कर्म बनाना इष्ट हो उनकी दो व्यापार मानने से कर्तुः से ही कर्मता हो जायेगी। अर्थ निबन्धन मानने पर 'आख्यातोपयोगे' सूत्र में जो भाष्य में परिगठन किया है वह भंग हो जायेगा। और भाष्य में भिक्षा ग्रहण भी व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि दोनों अर्थ वाली याच के ग्रहण से ही सिद्ध है।

अकर्मकधातुभिरिति । तेषां स्वकरणकव्यापने वृत्त्या व्याप्तिरूपफलाश्रयत्वेन कर्तुरिति कर्मत्वम्। 'मासमास्ते' इत्यादेर्मासमासनेन व्याप्नोतीत्यादिक्रमेणार्थ इति भावः । यत्त्विदमेव कर्मसञ्ज्ञाविधायकमिति। तन्न, भाष्ये तादृशवचनानुपलम्भात् । 'अकथितञ्च' (१।४।५१) इति सूत्रे अकर्मकप्रकृतिकण्यन्तानां कथं द्विकर्मकत्वमिति शङ्कायां 'कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसञ्ज्ञा ह्यकर्मणां देशश्च' इति भाष्ये उक्तम्। तच्च न विधायकं, हिशब्दघटितत्वात् । किं च 'कालाध्वनोः' (२।३।५) इति सूत्रे 'कालाध्वानौ कर्मवदिति वक्तव्यम्' इतिवार्त्तिकप्रत्याख्याने 'प्राकृतमेवैतत्कर्म, यथा कटं करोति' इत्युक्तम्। अस्य वचनत्वे 'उक्तं वा' प्राकृतं वा' इति वदेत्। तस्मादु(२)क्तरीत्या कालादीनां तद्योगे कर्मतया द्विकर्मकत्वमित्येव तत्तात्पर्यम्। (३)अत एव 'समां समां विजायते' (५।२।१२) इति सूत्रे 'समायां समायां विजायते' इति (४)विग्रहकथनपरं भाष्यं सङ्गच्छते। (५)अन्यथा अनेन द्वितीयाया एव तत्र साधुत्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव। अत एवोक्तभाष्यार्थानुवादिका हरेः कारिका—

कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः ।
सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते ।। इति ।।

सकर्मकविषयेऽप्यनेन प्रकारेण कालादिकर्मणा सकर्मकत्वम् । तुल्य-न्यायात् । तेन 'मासमोदनं पचति' इति भवति । तत्र कालादिकर्म अप्र-धानं, द्रव्यकर्म तु प्रधानम् । कालस्याधारत्वेन द्रव्यद्वारा क्रियासम्बन्धात् । किञ्च कठिनपाक्यस्य महापरिमाणस्य बहुसङ्ख्यस्य च चिरेण पाकोऽन्यस्या-चिरेणेति द्रव्यधर्मं पर्यालोच्य क्रियासु कालयोग इति स बहिरङ्गः । अपि च साधनसम्बन्धे जाते क्रियायाः परिच्छेदकबाह्यकालाकांक्षेति स बहिरङ्गः । अकर्मकव्याहारस्तु धातूनां द्रव्यकर्माभावनिमित्त एव । अत्र बीजं वक्ष्यते । तदुक्तम्—

अतस्तैः कर्मभिर्युक्तो धातुर्द्रव्यैरकर्मकः ।
लस्य कर्मणि भावे च निमित्तत्वाय कल्पते ।। इति ।।

अकर्मकधातुभिरिति । उन सबकी (देशकाल यध्वा) देशादिकरण वाले व्याप्त में शक्ति होने पर वृत्ति से व्याप्त रूप फल के आश्रय होने से (कर्तुः) से ही कर्मत्व है । मासमास्ते' का अर्थ है कि एक मास रहता है । किसी का कहना है कि यह वार्तिक ही कर्म संज्ञा का विधायक है, उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि भाष्य में उस प्रकार का कोई वचन उपलब्ध नहीं होता है 'अकथितञ्च' सूत्र में अकर्मक प्रवृत वाले ण्यन्त धातुओं की द्विकर्मकता किस प्रकार से है ऐसी शंका कर भाष्य में 'कालभावाध्वगन्तव्याः' काल, भाव, मार्ग, गन्तव्य अकर्मकों की और देश की कर्म संज्ञा कही है वह विधायक नहीं है । क्योंकि उसमें हि शब्द का प्रयोग है और "काला ध्वनोः" सूत्र में काल अध्वा कर्मवत् होते हैं । इस प्रकार के अर्थ वाले वार्तिक के प्रत्याख्यान में "प्राकृतमेवैतत्कर्मः यथा कटं करोति" (यह स्वाभाविक ही कटं करोति की तरह कर्म है) ऐसा भाष्यकार ने कहा । यदि यह वचन होता हो—उक्तं वा, प्राकृतं वा कहना उचित था । उक्तरीति से (धात्वर्थ करणक व्याप्ति रूप फलाश्रय-त्वेन) कालादि की उसके योग में कर्म होने से द्विकर्मक होना ही उसका तात्पर्य है । अतएव (धात्वर्थकरणक व्याप्ति रूप फलाश्रयत्वेन विवक्षायाम्) "समां समां विजा-यते" सूत्र के भाष्य में 'सयायां सामयां विजायते' यह विग्रह सप्तम्यन्त प्रदर्शन भी संगत होता है । इसके विधायक होने पर द्वितीया मात्र की साधुता से सप्तम्यन्त से विग्रह प्रदर्शन की असंगति स्पष्ट ही थी । इसी से उक्त भाष्य के अर्थ की अनुवाद करने वाली भर्तृहरि की कारिका है । कालभावा इत्यादि·········अन्तर्भूत है क्रियान्तर जिनमें इस प्रकार की सब अकर्मक धातुओं के योग में काल, भाव, अध्वा, देश की कर्म संज्ञा होती है । सकर्मक धातुओं के विषय में भी इसी प्रकार से कालादि

कर्म से सकर्मकत्व व्यवहार होता है। क्योंकि न्याय दोनों के लिये बराबर है। इसी से 'मासमोदनं पचति' में मास की कर्म संज्ञा होती है वहाँ कालादि कर्म अप्रधान है द्रव्यकर्म प्रधान है। काल के आधार होने से द्रव्य ओदन के द्वारा क्रिया से सम्बन्ध है। कठिनता से पकने वाले अधिक परिमाण वाले और अधिक संख्या वाले का पाक् विलम्ब से होता है—अन्य का शीघ्र ही होता है। इसी तरह द्रव्यधर्म को विचार कर क्रिया में काल का योग होने से वह बहिरंग है। और भी साधन के साथ सम्बन्ध होने पर क्रिया का इयत्ता करने वाले वाह्य की आकांक्षा होने से वह बहिरंग है। धातुओं का अकर्मकत्व व्यवहार तो द्रव्य रूपी कर्म के अभाव को लेकर ही है। कहा भी है—अतस्तैः कर्मभिर्युक्ता धातुर्द्रव्यैरकर्मकः। लस्य कर्मणि भावे च निमित्तत्वाय कल्पते॥ (इससे उन द्रव्य रूपी कर्मों से उक्त धातु अकर्मक है और लकार के भाव और कर्म में निमित्त होता है।)

गतिबुद्धिप्र (१।४।५२)। शब्द कर्म कारकं येषामित्यर्थो (१)व्याख्यानात्। तेन ह्वाययतिक्रन्दयत्योर्न। अणाविति। णिच्यनुत्पन्ने इत्यर्थः। अत्र णिज् हेतुमण्णिजेव। णावित्यत्रापि स एव। व्याख्यानात्। अत एव भक्षेर्निषेधश्चरितार्थः। स हि नित्यण्यन्तश्चुरादिरिति बोद्धयम्। (१) अन्यानधीनत्वलक्षणाऽर्थप्राधान्य(२)शाब्दप्राधान्ययोः प्रयोजकव्यापारे सत्त्वेन तदनुरोधिकर्मत्वस्यान्तरङ्गादपि कर्तृत्वात् बलवत्त्वेन कर्तुरित्येव सिद्धे णिजर्थेनाप्यमानस्य चेद् गत्यर्थादीनामेवेति नियमार्थमिदम्। तेन पाचयत्यादियोगे नेति 'हेतुमति च' (३।१।२६) इति सूत्रे भाष्यकृतः। प्रधानकार्यं सर्वतो बलवत्' इति आकडारसूत्रे कैयटे स्पष्टम्। तेन गत्यादियोगे प्रयोजस्य कर्मत्वशक्तिमत्त्वं, पाचयत्यादियोगे कर्तृत्वशक्तिमत्त्वमेवेति बोद्धयम्। गमयति देवदत्तेनेति। यज्ञदत्तकर्मकगमनानुकूलदेवदत्तकर्तृकव्यापारानुकूलो विष्णुमित्रकर्तृको व्यापार इति बोधः। (३)अत्र देवदत्तस्य न कर्मत्वम्।

गतिबुद्धिः। भाष्य के सिद्धान्त से शब्द कर्मकारक है जिन धातुओं के वे शब्द कर्मक है। उक्त अर्थ करने से ह्वञ् और क्रन्द का ग्रहण नहीं होता है। अणाविति। णिच् प्रत्यय की अनुत्पत्ति होने पर यह अर्थ है। यहाँ 'हेतुमति च' से विधीयमान णिच् का ग्रहण है। सणौ में भी उसी का ग्रहण है इससे भक्ष का निषेध भी चरितार्थ होता है। व भिक्ष नित्य ण्यन्तचुरादि है। दूसरे के अधीन न होना रूपी शब्द प्राधान्य और अर्थ प्राधान्य का प्रयोजक के व्यापार होने से उसको मानकर होने वाली कर्म संज्ञा अन्तरग कर्तृ संज्ञा से भी बलवती होने के कारण (कर्तुः) से कर्मसंज्ञा सिद्ध थी फिर गतिबुद्धि सूत्र नियमार्थ हैं, नियमाकार इस प्रकार से है। णिजर्थ से आत्यमान (स्वी क्रियमाण) की यदि कर्म संज्ञा हो तो गत्यादि की ही हो। उक्त नियम

से पाचयति के योग से कर्मसंज्ञा नहीं होती है। ऐसा "हेतुमति च" सूत्र में भाष्यकार का मत है। प्रधानकार्य सबसे बलवान होता है। ऐसा आकडारादेका संज्ञा सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। इससे गत्यादि के योग में प्रयोज्य को कर्मत्व और पाचयति आदि के योग में कर्तृत्व शक्ति मत्व जानना। गमयति देवदत्तेनेति। यज्ञदत्त कर्म वाला गमनानुकूल देवदत्तकर्ता वाला व्यापार का जनक विष्णुमित्रकर्ता वाला व्यापार यह बोध सिद्ध होता है। यहाँ देवदत्त की कर्मसंज्ञा नहीं होती है।

गतिबुद्धि सूत्र में प्राचीन तथा नवीनो का मतभेद है। प्राचीनों का कहना है कि कर्त्त संज्ञा कर्म संज्ञा से पर है अन्तरंग है। और उपजीव्य है क्योंकि कर्तृ संज्ञा के बिना कर्मसज्ञा का होना कठिन है मनोरमा में लिखा भी है परत्वादन्तरंगत्वादि उपजीव्यतयापिच प्रयोज्यस्यासिद्ध कर्तृत्वं गत्यादेर्विधितोदिता। यदि कर्मसंज्ञा विधायक सूत्र में कर्तृपद को स्वतन्त्र का उपलक्षण मानने पर भी परतया अन्तरंग होने से कर्तृसंज्ञा हो जाती—इसलिये कर्मसंज्ञा करने के लिये गतिबुद्धि सूत्र है। नवीनो का कथन है कि यद्यपि कर्तृसंज्ञा परतया अन्तरंग है। तथापि प्रधानव्यापाराश्रित होने से कर्मसंज्ञा बलवती है कहा भी है कि प्रधानानुरोधिकार्यसर्वतोबलवत्। इस सिद्धान्त ('कर्त्तुः') से कर्म संज्ञा सिद्ध होने पर पाचयत ओदनं देवदत्तेन में देवदत्त की कर्मसंज्ञा न हो इसलिए गति बुद्धि सूत्र नियमार्थ है। नियमाकार इस प्रकार है। णिजर्थ व्यापार प्रयोज्य फलाश्रयस्य कर्म संज्ञाचेदर्तहिं गत्यादीनामेव। उक्त नियम से पाचयत के योग में कर्मसंज्ञा नहीं होती है। व्यापार मात्र वाले पचि की अपेक्षा व्यापार तथा फल अर्थ वाले पचि के ऐक्य होने से पाचयतदेवदत्तम् यज्ञदत्त की तरह पाचयत ओदनं देवदत्तेन यज्ञदत्तः में कर्मसंज्ञा होनी चाहिये। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि अर्थ के भेद से शब्द में भी भिन्नता है। कालादि से भिन्न कर्म अन्वय न होने वाले अर्थ वाले का ग्रहण करना अब यहाँ शंका करते हैं कि केचित भाष्य से धातु मात्र से काल कर्म वाले अर्थ में वृतिता ही दिखलाई है। अथवा जो कर्म हो या न हो उसमें अकर्मकोंका बोध है और उक्त कर्म कहीं भी नहीं होता है। इस भाष्योक्ति पक्षान्तर से उसके सामर्थ्य से व्यभिचार द्रव्य कर्म से रहित अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार मासादि के प्रयोग होने पर भी उस अवस्था में ही अकर्मकता जानना। इससे इस सूत्र में नचकेचित्इति इस प्रतीक को लेकर कालादि की अविवक्षा में उससे अकर्मकत्व की सम्भावना है। यह आशंका कर इस शास्त्र में अत्यन्त अविद्यमान कर्म वालो का ही अकर्मकपद से ग्रहण है। अन्यथा पचादि धातुओं में अविवक्षित कर्म में लकार होने लगेंगे। इस प्रकार का कैयट का कथन अस्त व्यस्त है। यदि अति प्रसंग हो तो अनभिधान से वारण करना।

नियन्त्रिति। नियन्तृकर्तृकण्यन्तप्रकृतिभूतस्येत्यर्थः। प्रापणार्थवहेर्गत्यर्थत्वाभावेऽपि 'ग्रामं प्राप्तः' इत्यादौ तत्प्राप्तेर्गतिं विनाऽसम्भवादा-

(४)क्षिप्तगत्याऽपि (५)गत्यर्थत्वमित्यभिमानेन वार्तिकारम्भः । 'सुखं प्राप्तः' इत्यादौ न तदाक्षेपः, तत्र कर्तरि क्त आदिकर्मणि बोद्ध्यः । अत एव ग्रामं प्रापयति देवदत्तेनेत्येवेति ध्वनितं 'न गति' (१।३।१५) इति, 'न वा' (१।१।४४) इति सूत्रे च भाष्ये । नयतेस्तु 'या प्रापणे' इत्यादेरिव गत्युपसर्जनं प्रापणं वाच्यमिति तस्य गत्यर्थत्वमेवेति बोद्ध्यम् । (१)अदि-खाद्योरिति । प्रत्यवसानार्थत्वात्प्राप्तिः । प्रत्यवसान भक्षणम् । भक्षयति बलीवर्दानिति । हिंसाङ्गे भक्षणे भक्षेर्वृत्तिः । परकीयसस्यभक्षणे परो हिंसितो भवतीति तत्स्वामिनोऽत्र हिंसा द्रष्टव्या ।

नियन्त्रित । नियन्तृ कर्तृक अर्थात् ण्यन्त का प्रकृतिभूत प्रापणरूप अर्थ में विद्यमान वह यद्यपि गत्यर्थ के अभाव में भी ग्रामं प्राप्तः इत्यादि स्थल में गति के बिना ग्राम की प्राप्ति असम्भव होने से आक्षिप्त गति से भी गत्यर्थत्व समझना चाहिये । इसलिए उक्त वार्तिक का आरम्भ है । सुखं प्राप्तः में सुखसमवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है अतः यहाँ समवाय सम्बन्ध है । धनं प्राप्त में स्वस्वामि भाव है इसलिए प्राप्त सम्बन्ध मात्र रूप लेना । केवल संयोग रूपा ही न लेना । अतएव गंगा प्राप्तः में संयोग रूप प्राप्त की प्रतीत होने से 'गत्यर्थकर्मक' से कर्ता में क्त होता है । सुखं प्राप्तः में समवाय सम्बन्ध से गति का आक्षेप न होने से 'आदिकर्मण' से क्त प्रत्यय होता है । इसी से ग्रामं प्रापयति देवदत्तेन ही होता है । यह बिषय 'न गति' 'न वा' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है । णीयप्रापणे तो यापप्रापणे की तरह गतिउपसर्जन प्रापण मानने से गत्यर्थत्व है ।

आदिखाद्योरिति । प्रत्यव सानार्थनक (भक्षण) होने से गतिबुद्धि से प्राप्त है । भक्षयति बली वर्दानिति । भक्ष धातु हिसांग भक्षण में है । दूसरे के धान खाने से वह धन का स्वामी हिंसित होता है । इसलिए उसके स्वामी की हिंसा जानना ।

जल्पयतीति । पुत्रो धर्मं जल्पति–तद्बोधकवाक्यानि कथयति, देवदत्तो जल्पयति धर्मं पुत्रमित्यर्थः । शब्दाययतीति । शब्दं करोतीत्यर्थे 'शब्दवैर' (३।१।१७) इत्यादिक्यङन्ताण्णिच् । परे तु शब्दक्रियाणामित्यर्थे ह्वाययति-शब्दाययतिक्रन्दयतीनां प्रतिषेध उक्तो भाष्ये, न तु शब्दकर्मकाणामिति पक्षे । एवञ्च तत्र पक्षे भाष्ये शब्दाययतौ प्रतिषेधानुक्त्याऽकर्मकशब्दायति-सत्त्वे न मानम् । शब्दस्य धात्वर्थसंङ्गृहीतत्वेऽपि बहिर्भूतपुत्रादिकर्मणो-ऽभावे मानाभावाद् ह्वयताविवेति चिन्त्योऽयं निषेध इत्याहुः ।

जल्पयतीति । पुत्र धर्म को कहता है अर्थात् धर्म के बोधक वाक्यों को कहता है । देवदत्त पुत्र से धर्म को कहलवाता है । शब्दाययतीति । शब्दं करोति के अर्थ में 'शब्दवैर' इत्यादि से क्यङन्त से णिच् होता है । यहाँ नागेश का कथन इस प्रकार

से है—शब्द क्रिया वालों के अर्थ में "ह्वाययतिशब्दाययतिक्रन्दयतीनांवक्तव्यः" भाष्य में कहा है। शब्द कर्मकाणाम् प्रतिषेध नहीं कहा है। इससे शब्दायत के प्रतिषेध के न कहने से अकर्मक शब्दायत के होने में कोई प्रमाण नहीं है। शब्द के धात्वर्थ संगृहीत होने पर भी (अकर्मक बहिर्भूत के पुत्रादि कर्म के अभाव में कोई प्रमाण न होने से ह्वयायत की तरह कहना उचित नहीं है इसलिए उक्तग्रन्थ विचारणीय है।

येषामिति। अयं भावः—गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' (१।४।५२) इति सूत्रं (२)नियमस्य सजातीयापेक्षत्वात्सकर्मकाणाञ्चेदेषामेवेतिनियमपरम्। एवं सिद्धेऽकर्मकग्रहणे सामर्थ्याद्देशकालादिभिन्नकर्माभाववतोऽकर्मकग्रहणेन ग्रहणार्थम्। तच्च सामान्यापेक्षं ज्ञापकम्। शास्त्रेऽकर्मकपदेन ईदृशानामेव ग्रहणमिति। तेन 'मासमास्वते' इत्यादौ भावे लो भवति। न त्विति। तदविवक्षा हि द्वेधा—तदन्वययोग्यधात्वर्थत्यागात्, सत्येव तस्मिन्नर्थे तत्र सम्बन्धित्वेनान्वयविवक्षणाद्वेति भावः इदं कैयटानुरोधेन।

येषामिति। इसका यह भाव है। गति बुद्धि सूत्र नियम के सजातीय होने के कारण सकर्यकाणाच्चेदयेषामेवेति (गत्यादीनाम्) नियम होगा। तब अकर्मक ग्रहण व्यर्थ होकर देश और काल से भिन्न कर्म के अभाव वाले धातु अकर्मक से ग्रहण होते है। वह ज्ञापक भी सामान्यापेक्ष है क्योंकि शास्त्र में अकर्मक पद से इसी प्रकार के विहित होते है इस नियम से 'मासमास्यते' इत्यादि में भाव में लकार होता है। न त्विति। उसकी अविवक्षा दो प्रकार से होती है। उसके अन्वय योग धात्वर्थ के त्याग से उस अर्थ के होने पर भी सम्बन्धित्वेन अन्वय विवक्षा करने से यह कैयट के अनुसार है।

(१)परे त्वविवक्षितकर्मणामप्यकर्मकपदेन ग्रहणम्। क्तादीनामविवक्षितकर्मकेभ्यः 'कृतपूर्वी कटम्' इत्यादौ भाष्यकृता कैयटेन चाङ्गीकारात्। लुनातेर्निवृत्तप्रेषणाण्णिचि 'लावयति केदारं देवदत्तः' इत्यादौ केदारस्य कर्मद्वितीयान्तस्य 'णेरणौ' (१।३।६१) इत्यत्र कैयटेन प्रयोगाच्च। न चात्रार्थान्तरे वृत्त्याऽकर्मत्त्वं, न त्वविवक्षयेति वाच्यम्। सत्त्वप्रत्यभिज्ञयाऽर्थान्तरत्वाभावात्। तदुदाहरणं तु स्यदन्ते इत्याद्यर्थकं 'नदी बहति' इत्याद्याकरे स्पष्टम्। 'अधीगर्थ' (२।३।५२) इति सूत्रे कर्मणः शेषत्वविवक्षयाऽकर्मकत्वे 'मातुः स्मर्यते' इत्यत्र भावे लस्य भाष्ये उदाहृतत्वाच्च।

यहाँ नागेश का मत इस प्रकार से है अकर्मक पद से अविवक्षित कर्म वालों का ग्रहण है। अविवक्षित कर्म वालों से क्त प्रत्यय आदि की स्वीकृति कृतपूर्वी कटं इत्यादि

में भाष्यकार तथा कैयट ने कही है प्रेषणा से रहित लुञ्धातु से णिच् करने पर 'लावयति केदारं देवदत्तः' इत्यादि में द्वितीयान्त केदार का प्रयोग 'णेरणौ' सूत्र में कैयट ने किया है। उक्त स्थल में अर्थान्तर में वृत्ति होने से अकर्मत्व है—अविवक्षा से नहीं है यह किसी का कथन ठीक नहीं है। तत्वप्रत्यभिज्ञा से (अर्थात् उसी अर्थ में वृत्ति होने से) अर्थान्तर का अभाव है। अर्थान्तर में वृत्ति का उदाहरण तो स्यदन्ते के अर्थ वाला नदी बहति है। 'अधीगर्थ' सूत्र में कर्म की शेषत्वविवक्षा से अकर्मत्व मानने हर 'मातुः स्मर्यते' में भाव में लकार का उदाहरण भाष्य में कहा है।

यत्तु प्रकृतसूत्रे भाष्ये 'कालकर्मणामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्। न कर्त्तव्यम्। न च केचित्कालभावाध्वभिरकर्मकाः, त एवं विज्ञास्यामः–कश्चिद्येऽकर्मका इति' इत्युक्तम्। कश्चिदित्यस्य कालादेः कर्मसञ्ज्ञाप्रयोजकव्याप्त्यादिरहितेऽर्थे इत्यर्थः। तस्यायं भावः–उक्तरीत्याऽकर्मकपदसामर्थ्यादत्र शास्त्रेऽकर्मकपदस्यावस्थान्तरे कर्मरहिताः इत्यर्थ इति। तादृशत्वश्च सर्वथा द्रव्यकर्माभावात्तदविवक्षणाद्वेत्युभयविधमपि कृतपूर्वीत्यादिभाष्याद्ग्राह्यं, विनिगम नाविरहाश्च। अत एवाकर्मकाधिकारे श्रुदृश्यादिभ्य आत्मनेपदविधानं सङ्गच्छते। अकर्मकशब्दे च धातुरेवान्यपदार्थः। (१) अर्थभेदेन च शब्दभेदः। कर्मत्वेन कालाद्यतिरिक्तकर्मानिन्वय्यर्थकत्वश्च। तत्त्वमिति बोद्धयम्। 'न च केचित्' इति भाष्येण धातुमात्रस्य कालकर्मकार्थवृत्तित्वमिति दर्शितम्। यद्वा 'यत्कर्म भवति न च भवति तेनाकर्मकाणां, न चैतत्कर्म कचिदपि न भवति' इति भाष्योक्तपक्षान्तरेण तत्सामर्थ्याद् व्यभिचारिद्रव्यकर्मरहितेत्यर्थो बोधितः। एवञ्च मासादिप्रयोगेऽपि तद्वस्थायामेवाकर्मकत्वं बोद्ध्यम्। एतेनात्र सूत्रे 'न च केचित्' इति प्रतीकमुपादाय 'कालादेरविवक्षया तैरकमकत्वसम्भवोऽस्त्येव' इत्याशङ्क्य 'अत्यन्ताविद्यमानकर्मकाणामेवात्र शास्त्रेऽकर्मकपदेन ग्रहणम्, अन्यथा पचादीनामविवक्षितकर्मत्वे लादयः स्युः' इति कैयटेनोक्तं, तत्परास्तम्। अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानाद्वारणीय इति वदन्ति।

उक्त सूत्र के भाष्य में 'कालकर्मणामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्' कहा। फिर न करना चाहिये। कोई काल भाव अध्वा से अकर्मक नहीं है, उसका इस प्रकार से विचार करेंगे। कहीं जो अकर्मक हो। क्वचिद् का अर्थ यह है, कालादि को कर्म संज्ञा की प्रयोजक व्याप्ति से रहित अर्थ में हो उसका भाव यह है कि उक्त रीति अकर्मक पद के ग्रहण करने से इस व्याकरण शास्त्र में अकर्मक पद का अर्थ है अवस्थान्तर में कर्म से रहित होना अर्थ है। उस प्रकार का द्रव्य कर्म के अभाव से अथवा उसकी अविवक्षा

से यह दोनों ही कृतपूर्वी के भाष्य से लेने चाहिये, एक के ग्रहण में कोई विनिमयक भी नही है। इसी से अकर्मक के अधिकार में श्रुदृश्यादि से आत्मने पद का विधान भी संगत होता है। अकर्मक शब्द में अन्य पदार्थ धातु ही हैं। आनुपूर्वी के एक होने से एक शब्द का स्वीकार करना ठीक नही है क्योंकि अर्थ के भेद से शब्द में भी भिन्नता होती है।

कर्मत्व से—काल से अतिरिक्त जिसका अन्वय न हो—यह जानना चाहिये। कोई कहते हैं कि भाष्य में सम्पूर्ण धातुओं में कालरूपी कर्म के अर्थ में जिसकी वृत्ति हो—अथवा जो कर्म होता है और नही भी होता है इससे अकर्मकाणाम् कहा हैं यह कर्म कहीं भी नहीं होता—इस भाष्य में कहे हुए अन्य पक्ष की सामर्थ्य से अकर्मक का व्यभिचार द्रव्य से रहित यह अर्थ जानना चाहिते इसी प्रकार मासादि के प्रयोग में भी उसी अवस्था में अकर्मकत्व समझना चाहिये। पूर्वोक्त कथन से इस सूत्र में 'न च केचित' इस प्रतीक को लेकर कालादि की अविवक्षा करने से उनसे भी अकर्मकत्व सम्भव है—ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि इस शास्त्र में सर्वथा अविद्यमान कर्म वाली धातु भी अकर्मक पद से गृहीत है नही तो पचादि धातुओं में भी अविवक्षित कर्म होने पर लकारादि होने लगेंगे। यह कैयट का मत निरस्त हो जाता है। कहीं अति प्रसंग आने पर तो अनभिधान द्वारा ही वारण करना चाहिये।

हृक्रोरन्य (१।४।५३) तत्राभ्यवपूर्वस्य हरतेर्भक्षणार्थत्वाद्विकारार्थ-करोतेश्चाकर्मकत्वात्प्राप्ते, अर्थान्तरे चाप्राप्ते उभयत्र विभाषेयम्।

(२) (अभिवादिदृ)। हेतुमण्ण्यन्तस्याभिवादेः (३) दृशिप्रकृतिक-ण्यन्तस्य चेत्यर्थः।

अधिशीङ् (१।४।४६)। आधार इत्यनुवर्त्तते। तस्यैव कर्मत्वशक्ति-मत्ताऽनेन बोध्यते।

हृकोरन्य। अभि अवपूर्वक हृकोभक्षणार्थक होने से और विकारार्थक कृ को अकर्मक होने से प्राप्त था। अर्थान्तर में अप्राप्त होने से दोनों स्थानों में विभाषा है।

अभिवादिह। हेतु में ण्यन्त अभिवाद से और दृशिप्रकृति वाले ण्यन्त का।

अधिशीङ्। यहाँ आधार की अनुवृत्त है उस आधार को यह सूत्र कर्मत्वशक्ति वाला बतलाता है।

अभिनिविश (१।४।४७)। (१) व्याख्यानाद् 'अभिनि' इति द्वन्द्वे तत्पूर्वो विशिति समासः। अभिनिवेशः—आग्रहः। सन्मार्गविषयकाऽऽग्रह-वानित्यर्थः। व्यवस्थितेति। 'परिक्रयण' (१।४।४४) इत्यतोऽन्यतरस्या-ङ्ग्रहणानुवृत्तेरस्य (२) वैकल्पिकत्वम्। (३) अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधाना-द्वारणीयः। एतच्च 'एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्' इति प्रतीके समर्थसूत्रे कैयटे।

परे त्वेतद्भाष्यप्रयोगाद् (४) 'अभिनिविश्' इत्यानुपूर्व्या अविकृताया यत्र श्रवणं तत्रैवैतत्सूत्रप्रवृत्तिः, अन्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्तौ व्यवस्थितविभाषाश्रयणे च न मानमित्याहुः ।

अभिनिविश । व्याख्यान से संघात का ग्रहण होता है । यहाँ व्याख्यान इस प्रकार से है—अल्पाच होने से निः का पूर्वनिपात करता था अभि का पूर्वनिपात करना ही है । अभिनि के द्वन्द्व करने पर वे जिसके पूर्व में हो ऐसा विश यह समास है अभिनिवेश का अर्थ आग्रह है । अभिनिवेशते सन्मार्गम् का अर्थ है—सन्मार्ग विषय का आग्रह वाला । तीनो के पूर्व में होने पर ही कर्मसंज्ञा होगी अतएव निविशते यदि शूक शिखापदे में केवल निः के होने से कर्मसंज्ञा नहीं होती है । व्यवस्थितेति । "परिक्रमणे" से अन्य तरस्यामि की अनुवृत्ति होने से यह विकल्प से कर्मसंज्ञा करता है । अतिप्रसंग आने पर अनभिधान की शरण ले लेना । व्यवस्थित विभाषा का विषय देवत्राता इत्यादि परिगणित है इसलिए 'एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्' इस भाष्य के प्रयोग से जहाँ अविकृत आनुपूर्वी हो वहाँ कर्मसंज्ञा होती है ।

उक्त भाष्य प्रयोग में सत्व से विकृत है और पापेभिनिवेशा में गुण से विकृत है इसलिए कर्मसंज्ञा नहीं होती है । उक्त सिद्धान्त से अन्यतरस्याम् ग्रहण की अनुवृत्ति तथा व्यवस्थित विभाषा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

उपानु (१।४।४८) । अलुग्विकरणत्वाद् भ्वादेरेव ग्रहणमित्याह—वसतेरिति । भाष्ये 'अश्यर्थस्य न' इत्युक्तम् । 'मशकार्थो धूमः' इतिवदशिनिवृत्त्यर्थस्येति तदर्थः, तत्फलितमाह-अभुक्त्यर्थस्य नेति । 'उपोष्य रजनीमेकाम्' इत्यादौ 'कालाध्वनोः' (२।३।५) इति द्वितीया । 'ग्रामे उपवसति' इत्यत्र 'ग्रामे वसन् त्रिरात्रमुपवसति' इत्यर्थ इतीदं न कार्यमिति भाष्ये स्पष्टम् ।

उपानु ।। विकिरण (शप्) शप् के लुक् न होने से भ्वादिगण की ही वस लेना इसलिये वसतेः लिखा है । भाष्य में 'अश्यर्थस्य न' (अश भोजने) कहा है । 'मशकार्थोधूमः' का अर्थ मच्छर की निवृत्ति के लिये धुंआ होता है । उसी तरह यहाँ भोजन निवृत्ति अर्थ जानना कहा भी है—अभुक्त्यर्थनेति । 'उपोष्य रजनीमेकाम्' एक रात्रि का उपवास कर में कालाध्वनोः से द्वितीया है ('ग्रामे उपवसति' में ग्राम में निवास करता हुआ तीन रात्रि का उपवास करता है । इस प्रकार से उक्त वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है ।

उपपदविभक्तिमाह—उभेति । उपपदविभक्तीनां सम्बन्धोऽर्थः । विशिष्यानुक्तेः 'षष्ठ्यपवादत्वाच्च । उभसर्वयोस्तसाविति विग्रहः । उभांशे उभयशब्दनिष्ठं प्रकृतित्वमुभशब्दे आरोप्य तत्प्रकृतिकत्वं षष्ठ्यर्थः । उभय-

शब्दसर्वशब्दप्रकृतिकतसन्तयोगे इत्यर्थः । आम्रेडिन्तान्तेष्विति । कृतद्विर्वचने-ष्वित्यर्थः । धिक् कृष्णेति । (१) धिगर्थो निन्दा । कृष्णाभक्तसम्बन्धिनी निन्देत्यर्थः । उपर्यादीनां समीपोर्ध्वदेशादिवृत्तित्वमर्थः । अभितः परित इत्यत्र 'पर्यभिभ्यां च' (५।३।६) इति तसिल् । तत्राद्यस्योभयत इत्यर्थोऽन्त्यस्य सर्वत इत्यर्थ इति 'पर्यभिभ्याञ्च' (५।३।६) इत्यत्र भाष्ये ।

उपपद विभक्तियों को कहते हैं—उभेति । उपपद विभक्तियों का अर्थ सम्बन्ध है । क्योंकि षष्ठी का अपवाद है तथा विशेष कुछ कहा नहीं है । उभसर्वयोस्तसौ यह विग्रह है । उभांश में उभय शब्द में वृत्ति प्रकृति का उभ् शब्द में आरोप कर तत्प्रकृति-कत्व ही षष्ठी का अर्थ है । अर्थात् उभय प्रकृति वाला उभय शब्द सर्व शब्द प्रकृति वाले तसन्त के योग में द्वितीया होती है । आम्रेडिन्तान्तेष्विति । द्विर्वचन द्वित्व करने पर अर्थ है । क्योंकि आम्रेडित संज्ञा द्वित्व करने पर ही होती है । धिक् कृष्णेति । धिक् का अर्थ निन्दा है । कृष्ण के अभक्त की निन्दा अर्थात् अभक्त सम्बन्धिनी निन्दा । खेदजनक व्यापार का नाम निन्दा है । समीप उर्ध्वादि देश में रहना ही उपर्यादियों का अर्थ है । अभितः परितः में 'पर्यभिभ्यां च' से तसिल् प्रत्यय है । (प्रथमा अभितः) का अर्थ उभयतः है परितः का सर्वतः अर्थ है यह उक्त सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ।

(२) अन्तराऽन्तरेण (२।३।४) ॥ अन्तरेणेत्यटाबन्तसाहचर्यादन्त-रेत्यटाबन्तम्, अन्तरेत्यतृतीयान्तसाहचर्यादन्तरेणेत्यतृतीयान्तम् । साहचर्यं-साहृश्यम् । 'तद्यथा अस्य गोद्वितीयेनार्थ इति गौरेवानीयते नाश्वो न गर्दभः' इति दृष्टान्तपरभाष्येण सदृशानामेव प्रयोगे सहायतेत्यर्थस्य प्रतिपादनात् । तेन 'किमनयोरन्तरेण ज्ञातेन' इति (३)सिद्धम् । अन्तरेण-विशेषणेत्यर्थः । एवञ्चैतयोरव्यययोरेव ग्रहणम् । यद्वा अन्तराशब्दस्य प्रथमैकवचना-न्तस्यानभिधानाद् 'अन्तरा इत्यानुपूर्वीकमव्ययमेव प्रयोगेषु दृश्यते इति तत्साहचर्यादन्तरेणेत्यप्यव्ययमेव । तदुक्तं भाष्ये 'अन्तराशब्दोऽयमदृष्टा-पचारो निपात एवेति' इति बोद्धयम् । अवधित्वरूपः सम्बन्धो मध्यत्वान्वयी मध्यार्थान्तराशब्दयोगे द्वितीयार्थः । तस्यैव (१) सम्बन्धत्वेन बोधे षष्ठी । हर्यादिपदात्तु न द्वितीया, 'उपपदविभक्तेः' (प०भा०) इति न्यायेन तत्र प्रथमाया एव प्राप्तेः । (२)युक्तग्रहणन्तु स्पष्टार्थम् ।

अन्तराऽन्तरेण । यहाँ मुक्ते में दोनो का अन्वय होने से द्वन्द्व समास होता है इसलिये अन्तरा के योग में और अन्तरेण के योग में विभक्ति होती है । अन्तरेण अटा-बन्त के साहचर्य से अन्तरा भी अटाबन्त ही लेते है । अन्तरा तृतीयान्त से भिन्न

के साहचर्य से अन्तरेण भी अतृतीयान्त गृहीत होता है। साहचर्य सादृश्य को कहते हैं जैसे इस द्वितीय बैल से अर्थ है इस कथन के पश्चात् बैल ही लाते है घोड़ा या गधा नही लाते हैं उक्त दृष्टान्त से सदृश के प्रयोग में ही सहायता होती है। इससे 'किमनयो स्तेण ज्ञातेन' भी सिद्ध होता है। अर्थात् अव्यय अन्तरेण के योग में द्वितीया की अप्राप्ति में अमयो: में षष्ठी सिद्ध होती हैं। यहाँ अन्तरेण का विशेष है। इससे यह सिद्ध है कि अन्तरा, अन्तरेण अव्यय ही गृहीत होते है अथवा प्रथमा के एकवचनान्त अन्तरा शब्द के अनभिधान से अन्तरा अव्यय ही प्रयोग में मिलता है उसके साहचर्य से अन्तरेण भी अव्यय लेना। भाष्य में भी कहा है कि अन्तराव्यभिचार से रहित निपात ही है। अवधिस्वरूप सम्बन्ध मध्यत्व में अन्वय होने वाला मध्यार्थ वाले अन्तराशब्द के योग में यहाँ द्वितीया का अर्थ है। उसको ही सम्बन्धत्व विवक्षा में षष्ठी होती है। ह्यर्यादि पद से द्वितीया नहीं होती है क्योंकि उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होने से प्रथमा ही होती है। युक्त ग्रहण तो स्पष्टार्थ है।

अधिकृत्येति। 'बिभाषा कृञि' (१।४।९८) इत्यन्तमिति बोद्धयम्। महासञ्ज्ञाकरणन्त्वन्वर्थत्वाय। कर्म–क्रियां प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः। बाहुलकात् कर्तरि भूते अनीयः। तेन सम्प्रति (३)क्रियां न द्योतयन्ति किन्तु क्रियानिरूपितं सम्बन्धविशेषं (४)द्योतयन्ति। कचित्सम्बन्धविशेषा-द्योतकेऽपि वचनसामर्थ्यात्संज्ञा, यथा–'अधिपरी अनर्थकौ' सुः पूजायाम्' इति च। (५) निपातसञ्ज्ञासमावेशस्त्वस्या अप्युक्तः।

अधिकृत्येति। 'विभाषा कृञि' के अन्त तक मध संज्ञा का करना अनवर्थ ज्ञान के लिए है। कर्मप्रवचनीयाः का अर्थ है क्रिया को कहने वाले (कर्म–क्रियां प्रोक्तवन्तः) इस विग्रह में बाहुलक मानने से कर्ता में भूतकाल में अनीयत् प्रत्यय है। भूत में मानने का फल है कि इस समय क्रिया विशेष के द्योतक न होने पर क्रियानिरूपित विशेष सम्बन्ध के द्योतक होते है। कहीं सम्बन्ध विशेष के द्योतक न होने पर भी सूत्र के आरम्भ करने के कारण संज्ञा होती है। जैसे अधपरी अनर्थकौ सुः पूजायाम्' निपात संज्ञा का समावेश कर्मप्रवचनीय से संज्ञा के लिये भी कहा है। 'प्रागीश्वरान्निपाता' सूत्र का अधिरीश्वरे' तक निपातसंज्ञक होते हुये गति आदि संज्ञक होते है। उक्त व्याख्यान से कर्मप्रवचनीयों की अव्यय संज्ञा सिद्ध होती है।

लक्षणे इति। तत्सम्बन्धे लक्ष्यलक्षणभावरूपेऽनुना द्योत्ये इत्यर्थः। अपवाद इति। (६) तद्द्योत्यसम्बन्धस्य क्रियान्वयात्तयोः प्राप्तिः। तेन प्रकृते 'गतिर्गतौ' (८।१।७०) इति निघातो न। द्वितीयार्थो लक्ष्यलक्षणभावः सम्बन्धो, हेतुश्च अनुना द्योत्यते। लक्षणत्वञ्च ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम्। (७)जपज्ञानेनं हि कालविशेषविशिष्टा वृष्टिर्ज्ञाप्यते। जपाभिन्नहेतुज्ञानजन्य-

ज्ञानविषयो वर्षणमिति बोध इत्याह–हेतुभूतेति। पराऽपीति। (१) कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञावकाशो हेतुत्वाविवक्षयां, हेतुतृतीयावकाशो 'धनेन कुलम्, इति, प्रकृते च हेतुत्वविवक्षायां परत्वात्तृतीयाप्राप्तिरिति भावः। पुनःसञ्ज्ञेति। 'लक्षणेत्थंभूत' (१।४।९०) इत्येव सिद्धे पुनःसञ्ज्ञाकरणबोधितपुनर्द्वितीयाविधानसामर्थ्यादित्यर्थः। एतेन सञ्ज्ञाया विजातीयत्वाद्विभक्तिबाधः कर्तुमशक्य इति परास्तम् (२) स्पष्टञ्चेदं भाष्ये।

लक्षणे इति। लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध अनु से द्योत्य होने पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अपवाद इति। उससे प्रतीत होने वाले सम्बन्ध का क्रिया में अन्वय होने से गति संज्ञा तथा उपसर्ग संज्ञा की प्राप्ति है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के अपवाद होने से प्रकृति प्रयोग में 'गतिर्गतौ' से निघात (अनुदात्त) नहीं होता है। द्वितीया का अर्थ लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध है। और अनु से हेतु द्योत्य है। ज्ञान जनक ज्ञानविषयत्वम् (ज्ञान का जनक जो ज्ञान उसका जो विषम हो) लक्षण का लक्षण है। ज्ञान जन्य ज्ञान विषयत्वम् लक्ष्य का लक्षण है। जप के ज्ञान से कालविशेष में होने वाली वृष्टि जानी जाती है। कदावृष्टिरभूत् (वर्षा कब हुई) प्रश्न करने पर जप मनु प्रावर्षत (जप करने पर वर्षा हुई) यह उत्तर भी संगत होता है इससे जप के समय के ज्ञान के द्वारा उसके उत्तर काल में वृष्टि का ज्ञान होता है। वृष्टि के ज्ञान का जनक जो जप ज्ञान उसका विषय जप है। इसलिये जप लक्षण है। जप ज्ञान से जन्य जो वृष्टि ज्ञान उसका विषय वर्षा है। इसलिए वर्षा लक्ष्य है। जप से अभिन्न हेतु अर्थात जप रूप हेतु के ज्ञान से जन्य ज्ञान का विषय वर्षा है। जैसा कि कौमुदी में लिखा है। हेतु भूतेति। पराऽपीति। लक्षणेत्थम् से विहित कर्मप्रवचनीय संज्ञा का अवकाश हेतुत्व की अविवक्षा में है। हेतु तृतीया का अवकाश 'धनेन् कुलम्' में है। उक्त प्रयोग में हेतुत्व की विवक्षा में पर होने से तृतीया की प्राप्ति थी। उसका बाध यह करती है। पुनः संज्ञेति। 'लक्षणेत्थम् भूत' से सिद्ध था फिर संज्ञा करने से बोधित द्वितीया विभक्ति के विधान करने से यह अर्थ करना। उक्त अर्थ करने से विभक्ति तथा संज्ञा के विजातीय होने से बाध होना कठिन है, कहने वाले परास्त है। यह विषय भाष्य में स्पष्ट है। गदाधर भट्टाचार्य का मत है कि लक्षण शब्द हेतु परक होने से हेतुत्व ही द्वितीया का अर्थ है। विशेष व्युत्पत्ति वाद के द्वितीया कारक में देखिये।

तृतीयार्थे (१।४।८५) तृतीयाशब्देन तन्निमित्तशब्दः 'सहयुक्ते' (२।३।१९) इत्यत्रोपात्तो (३) ऽनन्तरत्वात् सहशब्दो लक्ष्यते। तदर्थे (४) साहित्ये द्योत्ये इत्यर्थः। साहित्यरूपः सम्बन्धोऽनुद्योत्यो द्वितीयार्थस्तदाह–नद्येति। क्त इति। कर्तरीति भावः।

तृतीयार्थे। तृतीया शब्द से तृतीया के निमित्तभूत शब्द सह का ग्रहण है क्योंकि

'सहयुक्ते' में उसका ग्रहण है और वह अनन्तर भी है। 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' 'सहयुक्ते प्रधाने' सूत्र पाठ है। साहित्य रूप उसका अर्थद्योत्य होने पर यह उसका अर्थ है। साहित्य रूप सम्बन्ध अनुका द्योत्य है, वही द्वितीया का अर्थ है कहा भी है— नद्येति। क्तइति। कर्ता में क्त प्रत्यय जानना।

उपोऽधिके च (१।४।८७)। चाद्धीने। सप्तमीति। 'यस्मादधिकम्' (२।३।९) (१) इत्यनेनेति भावः। (२) उपखार्यां द्रोण इति यथा। (३) खार्यपेक्षयाऽधिकत्ववान् द्रोण इत्यर्थः। (४) तेनोभयमस्तीति फलति।

उपोऽधिके च। चकार से हीन अर्थ में भी उक्त सूत्र की प्रवृत्ति होती है। सप्तमीति। (यस्मादधिकम) से होती है। उदाहरण उपपरार्धे हरेर्गुणा है। उदाहरणान्तर उपखार्यां द्रोणः है। खारी की अपेक्षा अधिक वाला द्रोण है। 'खारीद्रोण चतुष्टयम्' अर्थात् चारद्रोण की खारी होती है। भाष्कराचार्य ने लीलावती के आरम्भ में लिखा है द्रोणस्तु खार्याः खलु षोडशांशः (खारी की सोलहवां हिस्सा द्रोण होता है।) उक्त दोनो प्रकार से द्रोण खारी ने न्यून होता है, फिर अधिक कहना उचित नहीं है इस शंका का उत्तर नागेश लिखते हैं कि तेनेति अर्थात् इससे दोनो की सत्ता प्रतीत होती है अर्थात् एक खारी तथा एक द्रोण धान्य है। आधिक्य का उदाहरण 'उपसुरान हरिः' है।

इत्थंभूतः—कश्चित्प्रकारं प्राप्तः, स आख्यायतेऽनेनेति इत्थंभूताख्यानं-प्रकारविशेषनिरूपकम्। भागशब्देनार्शआद्यजन्तेन तत्स्वामी उच्यते। वीप्साया द्विर्वचनविशिष्टवृक्षशब्दबोद्ध्यत्वादाह—विषयभूतेष्विति। वृक्षं प्रतीति। वृक्षप्रकाशेनविद्युद्विद्योतदेशज्ञानात् वृक्षो लक्षणम्। वृक्षं वृक्षमिति। वृक्षस्य व्यापकतासम्बन्धेनान्वयो यद्यपि द्विर्वचनबलादेव, तथापि प्रत्यादि-सत्त्वे सोऽपि तन्निर्णायक इति सम्बन्धपरिच्छेदकत्व बोद्ध्यम्। (५) वृक्षा-दीनां सेचने कर्मत्वेऽपि तत्त्वेनाविवक्षायामनेन द्वितीया। (६) किञ्च यद्यत्र कर्मणि द्वितीया स्यात्तदा प्रतिना सामर्थ्याभावात्प्रतिवृक्षमितिसमा-सानापत्तिः। (७) किञ्च प्रत्यादेः (८) क्रियाविशेषकत्वेऽन्वर्थतया कर्म-प्रवचनीयसञ्ज्ञाया एवानापत्तिः। (९) अत एव भाष्ये 'किमर्थं पुनरिद-मुच्यते ? न चोपसर्गसञ्ज्ञाबाधनार्थं, क्रियायोगाभावात्' इत्युक्त्वा 'द्वितीया-र्थम्' इति सिद्धान्तितम्। (१०) अत एव 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः' इत्यादाव-र्थस्य निवेशनक्रियानिरूपिताधिकरणत्वेऽपि 'अर्थमर्थं प्रति' इति विग्रहो भाष्ये दर्शितः। वृत्तिविषये प्रतिरेव वीप्साया अपि द्योतक इत्यन्यदित्यास्ताम्। फलान्तरमप्याह—अत्रेति।

इत्थंभूत का अर्थ है किसी प्रकार को प्राप्त हुआ। इत्थंभूताख्यान शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सः आख्यायतेऽनेनेति' इत्थंभूताख्यानं अर्थात् प्रकार विशेष का निरूपक भाग शब्द में 'अर्शआद्यच्' से करने से भाग वाले का ग्रहण होता है अर्थात् भाग का स्वामी वीप्सा से द्वित्व विशिष्ट वृक्ष के ज्ञान होने से कहते हैं। 'विषयभूतेष्विति'। वृक्षं प्रतीति। वृक्ष के प्रकाशन से बिजली से प्रकाशित देश के ज्ञान से वृक्ष लक्षण है। वृक्षं वृक्षमिति। वृक्षः का व्यापकता सम्बन्ध से अन्वय द्विर्वचन के बल से ही यद्यपि प्रतीति होता है तो भी प्रत्यादि के रहने पर वह प्रत्यादि भी उस सम्बन्ध का निर्णायक है इससे सम्बन्ध का परिच्छेदक जानना। वृक्षं वृक्षं प्रतिसिंचति, इत्यादि में 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया सिद्धी, सत्व का न होना ही कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है। इस प्राचीन मत का खण्डन नागेश करते हैं कि वृक्षादियों की सेचन में कर्मत्व होने पर भी कर्मत्वेन अविवक्षा करने पर उक्त सूत्र से द्वितीया होती है। कर्मणि द्वितीया से द्वितीया होने पर अन्य दोष भी हैं अर्थात् प्रति से सामर्थ्य न होने से प्रति वृक्षम् समास भी नहीं होगा। और प्रत्यादि के क्रिया विशेष विषयक तात्पर्य ग्रहकत्व होने पर अन्वर्थता से कर्मप्रवचनीय संज्ञा ही नहीं होगी। क्योंकि कर्मप्रवचनीय का अर्थ है पूर्वक क्रियां प्रोक्तवन्तः अर्थात् पहले जो क्रिया को कह चुके हैं। अर्थात् इस समय क्रिया विशेष के जो द्योतक न हो उसकी ही कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। यहाँ कर्मप्रवचनीय होने से ही द्वितीया होती है। इसमें भाष्य का भी प्रमाण देते हैं। भाष्य में कहा है किसलिए उक्त सूत्र का निर्माण होता है, उपसर्ग संज्ञा के बाध के लिए भी कहना ठीक नही है। क्योंकि क्रिया के योग के अभाव में उपसर्ग संज्ञा की प्राप्ति नहीं है। अन्त में सिद्धान्त किया कि द्वितीया विभक्ति के विधान के लिए है। इसके द्वितीया विधान से ही 'प्रत्यर्थं शब्द निवेशः' इत्यादि में अर्थं यद्यपि निवेशन क्रिया का अधिकार न होने पर भी 'अर्थमर्थं प्रति' विग्रहभाष्ये में दिखलाया है। अर्थात् उक्त सूत्र से द्वितीया की है वृत्ति के विषय में प्रति ही वीप्सा का द्योतक है यह बात दूसरी है। फलान्तर भी कहते है—अत्रेति। यहाँ नागेश का खण्डन इस प्रकार से है कि यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से ही द्वितीया होती है—क्योंकि उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होती है, और कर्मत्व की अविवक्षा करना भी ठीक नहीं है क्योकि पद को द्वित्व होता है, बिना विभक्ति के पदसंज्ञा के अभाव में द्वित्व नहीं होगा। प्रतिवृक्षम् में समास नही होगा, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वाचक अव्ययों से अव्ययीभाव समास होता है।

यदत्रेति। यद्वस्तु मम भागः स्यादित्यर्थः।

कुतोऽधीति। कुत इत्यपादाने पञ्चमी। द्वितीया तु न। कर्मप्रवचनीयद्योत्यसम्बन्धप्रतियोगित्वरूपस्य कर्मप्रवचनीययुक्तत्वस्याभावात्। गतिसञ्ज्ञाबाधादिति। धात्वर्थमात्रद्योतकत्वेन क्रियायोगाद्गतित्वं प्राप्तं, विशेषद्योतकत्वाभावात्त्वनर्थकत्वव्यवहारोऽपीति भावः।

यदत्रेति । जो वस्तु मेरा भाग हो । कुतोऽधीति । कुतः अपादान में पंचमी है, यहाँ द्वितीया नही होती है—क्योंकि कर्मप्रवचनीय युक्त नहीं है, कर्मप्रवचनीय से द्योत्य जो सम्बन्ध उसका प्रतियोगी ही कर्मप्रवचनीय से युक्त होता है । गतिसंज्ञाबाधादिति । धात्वर्थमात्र के द्योतक होने से क्रिया के योग से गतिसंज्ञा की प्राप्ति थी । किसी विशेष द्योतक के न होने से अनर्थकत्व व्यवहार भी होता है ।

सुसिक्तमिति । सेकगतपूज्यत्वद्योतकः सुः । क्रियापूज्यत्वकृते तत्तत्क्रियाकर्त्तुः पूज्यत्वे गम्ये एवैषा सञ्ज्ञा । अत एव (१) सुषिक्तं किं तव' इत्यत्र न ।

अतिक्रमणम्–उचितादधिकानुष्ठानम् । चात् पूजायामित्यनुकृष्यते अतिदेवानिति । देवेभ्योऽधिको देवपूज्य इति वाऽर्थः । द्वितीये 'कुगति' (२।२।१८) इति समासस्याभावस्तु अनभिधानात् । आद्ये तु प्राप्तिरेव न, 'स्वती पूजायामेव' इत्ययुक्तेः ।।

सुसिक्तमिति । सु सेक में रहने वाले पूज्यत्व का द्योतक है । क्रिया के पूज्यत्व के होने पर उन-उन क्रिया के कर्ता के पूज्यत्व की प्रतीति होने पर यह संज्ञा होती है इसीलिए सुषिक्तं किंतवं में नही होती है । यहाँ पूज्यत्व की प्रतीति न होने से कर्मप्रवचनीय संज्ञा के अभाव में उपसर्ग संज्ञा के होने से षत्व होता है ।

उचित से अधिक अनुष्ठान को प्रतिक्रमण कहते है । चकार से पूजायाम् का अनुकर्ष उत्तर सूत्र से होता है । अतिदेवानिति । देवताओं से अधिक अथवा देवों का पूज्य अर्थ है । द्वितीया पूज्य अर्थ में अनभिधान से 'कुगतिप्रादयः' से समास नहीं होता है । प्रथम अधिक अर्थ में तो समास की प्राप्ति ही नही है । क्योंकि 'स्वतीपूजायामेव' पूजा में ही सुअति समास को प्राप्त करते हैं ।

अपिः पदार्थ (१।४।६६) । पदस्य–अप्रयुज्यमानपदान्तरस्य अर्थः–पदार्थः । सर्पिषोऽपीति । अत्र बिन्दुरित्यादेः पदस्यार्थोऽपि द्योत्यः यदुक्तं वृत्तिकृता–'मात्रा बिन्दुः स्तोकमित्यस्यार्थेऽपिर्वर्तते' इति । सम्भावनायां लिङ्ति । 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (३।४।८) इतिसूत्र भाष्ये पठितेन 'उपसंवादाशङ्कयोर्लिङ' इत्यनेन । तश्च लोकसाधारणमित्यपि तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । तत्राऽऽशङ्का–उत्प्रेक्षा । सम्भावनाऽप्युकटकोटिका शङ्कैवेति भावः । कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्द्योत्यसम्बन्धमाह-तस्या एवेति । सम्भावनाया एवेत्यर्थः । कर्त्तृदौर्लभ्यमिति षष्ठीतत्पुरुषः । कर्त्तृपदं प्रकृताभिप्रायम् । सर्पिषोऽपिपिबेदित्यादौ कर्मदौर्लभ्येत्यादि बोद्ध्यम् । तत्र बिन्दोस्तद्दौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्य सम्बन्धस्य द्योतोऽपिः । सम्बध्यत इति । स्यात्पदवाच्यक्रियायामपिद्योत्य बिन्दोः कर्तृतया, द्योत्योक्तसम्बन्धेन चान्वयादिति भावः । तदाह–अपि-

शब्दबलेनेत्यादि । एवञ्च सर्पिरवयवबिन्दुदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यवती तत्कर्तृका (२) सम्भवनाविषयः सत्तेति बोधः । विशिष्टसत्तायाः सम्भवनाविषयत्व-बोधे दौर्लभ्यस्यापि सम्भावनाविषयत्वमनुभवसिद्धम् ।

अपिः पदार्थ ॥ पद का अर्थात् अप्रयुज्यमान जो पदान्तर उसका अर्थ पदार्थ है । सर्पिषोऽपीति । उक्त स्थल बिन्दु इत्यादि पद का अर्थ अपि से द्योत्य है, इसको वृत्तिकार ने कहा भी है, कि मात्रा बिन्दुः स्तोकम के अर्थ में अपि है । सम्भावनायां लिङिति । 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' से लिङ् लकार होता है । यह 'उपसंवादाशङ्क-योश्च' सूत्र के भाष्य में पढ़ा है । यद्यपि वह सूत्र वैदिक प्रकरण का है । तो भी भाष्य-कार ने उक्त वार्तिक को लोकवेद साधारण कहा है । आशङ्का का अर्थ उत्प्रेक्षा है । सम्भावना भी उत्कट कोटि वाली आशङ्का ही है । कर्मप्रवचनीय होने से उसके द्योत्य सम्बन्ध को कहते है । तस्या एवेति । अर्थात् सम्भावना का ही कर्तृदौर्लभ्यम् में षष्ठी तत्पुरुष है । कर्तृपद प्रकृति उदाहरण के लिए कहा है । सर्पिषोऽपि पिबेत् इत्यादि में कर्मदौर्लभ्यम् समझना । वहाँ बिन्दु और उसके दुर्लभता से प्रयुक्त जो दौर्लभ्य सम्बन्ध का द्योतक अपि है । सम्बध्यतेइति । स्यात् पद से वाच्य क्रिया में अपि से द्योत्य बिन्दु का कर्तृत्व से द्योत्य उक्त सम्बन्ध (तद्दौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्य) से अन्वय होता है । कहा भी है । अपि शब्द बलेनेत्यादि । इस प्रकार से सर्पिरवयव बिन्दु दौर्लभ्य प्रयुक्त दौर्लभ्यवती तत्कर्तृका सम्भावना विषय (सत्ता) घृत के अवयव बिन्दु की दुर्लभता से होने वाली दुर्लभता वाली बिन्दुकर्ता वाली सम्भावना की विषय द्वारा यह बोध होता है इससे स्पष्ट है कि तिङन्त में धात्वर्थ विशेष्यक ही बोध होता है । प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक बोध वैयाकरणों के सिद्धान्त के विरुद्ध है । विशिष्ट सत्ता के सम्भावना विषय बोध होने पर दौर्लभ्य का भी सम्भावना की विषयता अनुभव सिद्ध है ।

नन्वेवं कर्मप्रवचनीयद्योत्येऽर्थे सर्पिषोऽन्वयेन तस्य कर्मप्रवचनीययुक्त-त्वाद द्वितीया स्यादत आह—द्वितीया त्विति । न त्वपिनेति । बिन्दुना योगेऽप्यपिद्योत्यसम्बन्धेनानन्वय इत्यर्थः । कर्मप्रवचनीयद्योत्यसम्बन्धप्रति-योगित्वमेव तद्युक्तत्वम्, प्रकृते चापिद्योत्यस्योक्तसम्बन्धस्य विन्दुः प्रतियोगी, न सर्पिरिति भावः । यदा स्पष्टप्रतिपत्तयेऽपिद्योत्यस्यापि बिन्दोः प्रयोग-स्तदापि द्वितीयां बाधित्वोपपदविभक्तेरिति (१) प्रथमैव । तत्र कारक-विभक्तित्वे क्रियाजनकत्वार्थकविभक्तित्वमिति दिक् ।

कर्मप्रवचनीय से द्योत्य अर्थ में सर्पिः का अन्वय होने से उसकी कर्मप्रवचनीय से युक्तता होने से द्वितीया होनी चाहिये । उसका उत्तर लिखते है—द्वितीयात्विति । न त्वपिनेति । सर्पिः का सम्बन्ध बिन्दु से है, अपि से नहीं है, अर्थात् बिन्दु से योग

होने पर भी अपि से द्योत्य सम्बन्ध से अन्वय नही है कर्मप्रवचनीय से द्योत्य जो सम्बन्ध उसका प्रतियोगी होना ही उससे युक्त जानना । सर्पिषोऽपि स्यात् में अपि से द्योत्य सम्बन्ध का बिन्दु प्रतियोगी है । सर्पिः नही है और बिन्दु का प्रयोग भी नही है । सम्बन्ध का एक प्रतियोगी होता है और एक अनुपयोगी । जिसका सम्बन्ध होता है वह प्रतियोगी और जिसमें सम्बन्ध होता है वह अनुपयोगी जानना । जब स्पष्ट ज्ञान के लिए अपि से द्योत्य बिन्दु का प्रयोग करने पर भी द्वितीया नही होगी । किन्तु 'उपपदविभक्तेः' से द्वितीया का बाधकर प्रथमा ही होगी । क्रिया के जनक अर्थ वाली विभक्ति को ही कारक विभक्ति कहते है ।

सञ्ज्ञाफलमाह—अनुपसर्गत्वादिति । अपि स्तुयादिति । पूर्ववल्लिङ् । (२) क्रियाविषयं शक्यत्वादिना सम्भावनमपिद्योत्यम् । प्रकृतेऽवाङ्मनसगोचरं विष्णुमपि स्तुयादिति शक्त्युत्कर्षाविष्करणम् । अत्युक्तिरसम्भाव्यार्थसम्भावनम् । सम्भावनपदस्येदृशार्थकत्वे व्याख्यानमेव शरणम् । विष्णुविषयायाः शक्यत्वसम्भावने चान्यविषया निश्चयेन शक्या कर्तुमिति फलति । शक्त्युत्कर्षमित्यौचित्योत्कर्षादेरप्युपलक्षणम् । 'अपि वेदान्तपारगं हन्यात्' इत्यादौ हननक्रियायां सम्भावनाविषयौचित्योत्कर्षद्योतनात् । सम्भावितौचित्यस्य चानुष्ठानमयुक्तमिति अस्य स्वार्थे तात्पर्याभावो धर्मशास्त्रोक्तः सङ्गच्छते । कामचारः—इच्छया प्रवृत्तिः । स्तुहिः मा वा; यथेष्टं कुर्विति यावत् । 'प्रैषातिसर्ग' (३।३।१६३) इति लिङ् । अपि स्तुयात् वृषलमिति । 'उपसंवाद' (३।४।८) इतिसूत्रपठितवार्तिकेन परेणान्तरङ्गेण च 'गर्हायां लडपि' (३।३।१४२) इति बाधित्वा सम्भावने लिङ् । क्रियागतं गर्ह्यत्वमपिद्योत्यं वृषलपदसमभिव्याहारात् स्तुतेर्गर्ह्यत्वेन तत्कर्तुर्गर्ह्यत्वं फलति । तदेव धिगित्यादिनाऽनूद्यते । अपि सिञ्चेत्यादि । अपिद्वयेन मिलितेन समुच्चयद्योतनात्प्रत्येकं सञ्ज्ञायामुभयत्रापि षत्वाभावः ।

संज्ञा के फल को कहते हैं—अनुपसर्गत्वादिति अपिस्तुयादिति । यहाँ 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' से लिङ्ग है । क्रिया का विषय (अपिगिरिंशिरसाभिंदयात्) में शक्यत्वादि से सम्भावना अपि से द्योत्य है । प्रकृति प्रयोग में वाणी तथा मन का भी जो विषय नहीं ऐसे विष्णु की स्तुति करें । इस प्रकार से शक्ति के उत्कर्ष का प्रकट करना ही है । असम्भव अर्थ की सम्भावना ही अत्युक्ति है । सम्भावना का इस प्रकार के अर्थ करने में व्याख्यान ही शरण है । विष्णु विषयक स्तुति के शक्यत्व सम्भावना करने पर शिवादि विषयक स्तुति निश्चय से करने योग्य है । शक्ति का उत्कर्ष औचित्योत्कर्ष का भी उपलक्षण है । "अपि वेदान्तपारगं हन्यात्" इत्यादि में हनन् क्रिया सम्भावना का

विषय औचित्यौत्कर्ष का ही द्योतन करती है। सम्भावित औचित्य का अनुष्ठान अयुक्त है। इसलिए इसका स्वार्थ में तात्पर्य का अभाव धर्म शास्त्रोक्त भी संगत होता है। कामचार का अर्थ है–इच्छा से प्रवृत्ति। स्तुति करो या न करो। अर्थात् जैसा तुमको इष्ट हो, करो। यहाँ लिङ्लकार 'प्रैषातिसर्ग' से है। अपि स्तुयाद् वृषलमिति (चर्मकार की स्तुति करो) 'उपसंवाद' सूत्र में पढ़े वार्तिक से पर और अन्तरंग होने से 'गर्हायां लऽपि' को बाधकर सम्भावना में लिङ् है। क्रिया में रहने वाला गर्हयत्व अपि से द्योत्य है। वृषलपद के समीप होने से स्तुति में धिक् गर्ह्यत्व फलित होता है। उसका ही अनुवाद करता है। अपि सिञ्चदिति। दोनों अपिमिलकर समुच्चय का द्योतन करते हैं, प्रत्येक की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से पूर्वोक्त दोनों (स्तुयात्) स्थलों में षत्व नहीं होता है। क्योंकि उक्त संज्ञा से उपसर्ग संज्ञा का बाध होता है।

कालाध्वनो (२।३।५)। अत्यन्तसंयोगो–निरन्तरं सम्बन्धः। स च गुणक्रियाद्रव्यैरभावेन च। तेन मासं भोजनाभाव इत्यादेः संग्रहः। गुणादिभिः कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे प्रत्यासत्त्या कालाध्ववृत्तिभ्यां द्वितीयेत्यर्थः। (३) मासमधीत इति। (१) बुद्धिस्थयावदवयवसम्बन्धरूपा व्याप्तिर्द्वितीयार्थः। 'एकादश्यां रात्रौ जागृयात्' इत्यादावधिकरणत्वविवक्षणान्न द्वितीया।

इति द्वितीया ॥

कालाध्वनो। अत्यन्त संयोग ही-निरन्तर सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध गुण से, क्रिया से, द्रव्य से और अभाव से जानना। इससे मासम भोजना भाव का भी संग्रह होता है। गुणादि से काले और अध्वा (मार्ग) का अत्यन्त संयोग होने पर प्रत्यासत्य से अर्थात् सामीप्य से काल और अध्वा में रहने वालों से द्वितीया होती है। मासमधीते यद्यपि उक्त प्रयोग में क्रिया के रहने से माससमास्ते की तरह कर्म में द्वितीया सिद्ध है तथापि 'मासंगुडधानाः क्रोशं कुटिला नदी में क्रिया के अभाव में द्वितीया विधान के लिये उक्त सूत्र है। बुद्धि में स्थिति सम्पूर्ण अवयवों के सम्बन्ध रूप व्याप्ति द्वितीया का अर्थ है ('एकादश्यां रात्री जागृयात्'') (एकादशी में रात्रि में जागरण करे) में अधिकरणत्व की विवक्षा करने से द्वितीया नहीं होती है।

'मासमधीते' में मासपद तीस दिन के समुदाय को कहते हैं और दिन सूर्योदय से सूर्यास्त तक अखण्ड कालपरक है, बुद्धि में स्थिति मास के अवयव दिन रूप अवयवों अध्ययन के सम्बन्ध होने से अर्थात् तीसोदिनों में अध्ययन सम्बन्ध होने पर ही मासमधीते का प्रयोग होता है। 'मासं स्वपिति में घड़ी दो घड़ी दिन में सोने से उक्त प्रयोग नहीं होगा। ॥ इति द्वितीया ॥

स्वतन्त्रः कर्ता (१।४।५४) ॥ कारकाधिकारात् (२) क्रियाजनने (३) स्वतन्त्र इत्यर्थस्तदाह–क्रियायामिति। (४) स्वातन्त्र्यञ्च (५) कर्तृ-

प्रत्ययसमभिव्याहारे प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयत्वम्। 'पक्वस्तण्डुलो देवदत्तेन' इत्यत्र फलस्य प्राधान्येऽपि देवदत्तस्य कर्तृत्वसिद्धये 'कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे' इति। (६)णिचस्तु वाचकत्वमेव, अतस्तत्र ण्यन्तधातु–तत्प्रकृतिधातु-एतदुभयवाच्यव्यापारयोस्स्वस्वार्थं प्रति प्राधान्याद् 'देवदत्तेन यज्ञदत्तः पाचयति' इत्यादौ (१)प्रयोज्यव्यापाराश्रयस्यापि कर्तृत्वसिद्धिः। द्योतकत्वे तु नैतत् सिध्येत्। 'कारके'(१।४।२३)इतिसूत्रभाष्यात्स्वक्रियाकारकप्रवर्तकत्वं स्वातन्त्र्यमिति लभ्यते, प्रकृतसूत्रभाष्याच्चेति मञ्जूषायां निरूपितम्।

स्वतन्त्रः कर्ता ॥ क्रिया जनने स्वतन्त्र यह अर्थ प्रत्यासन्तिमूलक कारक के अधिकार प्राप्त है। अर्थात् क्रियायाम् का उल्लेख किया। स्वातन्त्र्य पदार्थ का लक्षण करते है कर्तृ प्रत्ययेत्यादि। कर्तृ प्रत्यय के समीप प्रधानीभूत धात्वर्थ का जो आश्रय हो। जैसे देवदत्तः पचति में कर्तृ वाचक प्रत्यय तिप् के समीप प्रधानीभूत धात्वर्थ व्यापार का आश्रमदेवदत्त है। धातु की फलविशिष्ट व्यापार में शक्ति है उसमें व्यापार प्रधान है। पक्क स्तुण्डुलोदेवदत्तेन में कर्म में प्रत्यय होने से फल की प्रधानता होने पर भी देवदत्त को कर्त्तसिद्ध करने के लिये कर्तृ प्रत्ययसमभिहारे का उल्लेख किया है उक्त स्थल में कर्म में प्रत्यय है। 'चैत्रेण मैत्रस्तण्डुलं' 'पाचयति' इत्यादि ण्यन्त स्थल में णिच् के द्योतक होने से विक्लित्यनुकूल व्यापारानुकूल व्यापार पच धातु का वाच्यार्थ होने से प्रयोज्य मैत्र के व्यापार में प्राधान्य के अभाव में मैत्र की कर्तृसंज्ञा नहीं होगी। इसलिये कहते है कि णिच् में वाचकता ही है। इसलिये वहाँ ण्यन्त धातु तथा णि प्रकृतिक धातु इन दोनों के ही व्यापार अपने-अपने विषय में प्रधान होने से देवदत्तेन यज्ञदतः पाचयति में प्रयोज्य व्यापाराश्रय की कर्तृता सिद्ध हुई। णिच् को द्योतक मानने पर सिद्ध नहीं होती। 'कारके' सूत्र के भाष्य से अपनी क्रिया के कारकों का जो प्रवर्तक हो वह स्वतन्त्र है। इस सूत्र के भाष्य से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है। यह मञ्जूषा में देखिये।

प्रकृष्टेति। यद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टम्। (१) तमब्ग्रहणं किमिति। कारकाधिकारात्करणल्युडन्तकरणेतिमहासञ्ज्ञया च साधकत्वे लब्धे साधकग्रहणमेव साधकतमार्थं भविष्यतीति प्रश्नः। (२) गङ्गायामिति। अधिकरणमित्यधिकरणल्युडन्तमहासञ्ज्ञयैव सिद्धे आधारग्रहणसामर्थ्यात्सर्वावयवव्याप्त्या य आधारः सोऽधिकरणमित्यर्थः स्यात्। एवञ्चेदं सूत्रं 'तिलेषु तैलम्' इत्यादावेव प्रवर्तेत। न हि गङ्गा तीरं वा सर्वावयवैर्व्याप्ते। तीरधर्मस्य घोषाधारत्वस्यात्यन्तसामीप्यात्प्रवाहे आरोपोऽत्र बोद्धयः। यदा तु व्यवहितो गङ्गातो घोषः, तदा गङ्गाशब्दस्य तत्तीरे लक्षणा। तमब्ग्रहणेन 'शब्दसामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते' इति ज्ञाप्यते

इति गौणाधारस्याप्यधिकरणसञ्ज्ञा सिद्ध्यति । एवञ्च गङ्गायां गाव इत्यप्युदाहरणम् । सर्वावयवव्याप्त्यभावेन मुख्याधारत्वाभावात् । गौणमप्याधारत्वादि सप्तम्यादिशक्यमेवेति बोद्ध्यम् । इदं प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

प्रकृष्टेति । जिस व्यापार के अव्यवधान से क्रिया की निस्पत्ति हो वहाँ पुरुष है। तमव्ग्रहण किमिति । कारक के अधिकार से तथा करण में ल्युट् प्रत्यान्त करण महासंज्ञा से साधक का लाभ सिद्ध था फिर साधक ग्रहण ही साधकतम् को कहता फिर तम् ग्रहण की क्या आवश्यकता है यह प्रश्न है गङ्गायामिति । अधिकरणम् में अधिकरण यह ल्युडन्त महासंज्ञा से ही आधार का लाभ सिद्ध था फिर आधार ग्रहण के करने से सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त जो आधार उसकी अधिकरण संज्ञा होती है । यह अर्थ अभिव्यक्त होता है । इसलिए यह सूत्र केवल 'तिलेषु तैलम्' में ही सप्तमी करेगा । गङ्गा या उसका तीर सम्पूर्ण अवयवों से व्याप्त नहीं है । तीर धर्म के घोषाधारत्व का अत्यन्त सामीप्य होने से प्रवाह में आरोप होता है । यदि गङ्गा से व्यवधान में घोष है तो गङ्गा शब्द की गङ्गा तीर में लक्षण है । तमब्ग्रहण करने से यह सिद्ध होता है कि शब्द के सामर्थ्य से प्राप्त प्रकर्ष का यहाँ ग्रहण नहीं होता है । इसलिए साधक का साधकतम् अर्थ नहीं होगा । इसलिए गौणाधार (लाक्षणिक) की अधिकरण संज्ञा हो जाती है । इसी प्रकार से गङ्गायां गावः भी उदाहरण है । सम्पूर्ण अवयवों के व्याप्त न होने से मुख्य आधार नहीं है । गौण भी आधार सप्तमी का शक्य ही है यह विषय प्रकृत सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ।

(१) यदि तु महासञ्ज्ञया तदाक्षेपकरणासमर्थं प्रति आधारादिपदं चरितार्थं, साधकशब्दस्य यद्व्यापारानन्तरमव्यवधानेन फलोत्पादस्तत्र शक्तिः । आधारशब्दस्य चाध्रियते यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या कर्तृकर्मणोर्धारणक्रियां

प्रति सर्वावयवव्याप्त्या य आधारस्तत्र शक्तिरित्युच्यते, तदोक्तप्रयोगादिसाधनाय कारकप्रकरणे उद्देश्यवाचके पदे स्वरितत्वप्रतिज्ञया गौणाधारादेर्ग्रहणं वाच्यम् । स्वरितेनाधिकं कार्यमित्यर्थात् । तमपा तु प्रकृते तदभावो बोद्धयते । एवञ्च व्यवधानेन फलोत्पादके करणकत्वोपचारेण तृतीयान्तप्रयोगस्यासाधुत्वबोधनं तमप्फलम् । एतत्तमब्वशादेवान्यत्र स्वरितत्वमिति ज्ञायते इति दिक् । स्पष्टञ्चेदं 'स्वरितेन' (१।३।११) इति सूत्रे भाष्ये ।

यदि महासंज्ञा से उसके आक्षेप करने में जो असमर्थ है उसके लिए आधारादिपद चरितार्थ है साधक शब्द का जिस व्यापार के अनन्तर बिना व्यवधान फल की उत्पत्ति

हो वहाँ शक्ति है। और आधारशब्द की आध्रियते यस्मिन् इस व्युत्पत्ति से करण कर्म की धारण क्रिया के प्रति सम्पूर्ण अवयवों से व्याप्त जो आधार उसमें शक्ति मानने पर गङ्गायां गावः में सिद्धि के लिए उद्देश्य वाचक पद में स्वरितत्व प्रतिज्ञा से गौणाधार का भी ग्रहण करना होगा क्योंकि स्वरित से अधिक कार्य हो यह अर्थ होगा। प्रकृत में तमप् उसके अभाव को कहता है। इस प्रकार व्यवधान से फल के उत्पादक में करणत्व का उपचार करने से तृतीयान्त प्रयोग असाधु होता है यह तमप् का फल है। यह तमप् के कारण ही अन्यस्थल में स्वरितत्व की प्रतीति होती है। यह स्वरितेन सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

रामेणेति। (१) कर्तृतृतीयायाः कर्तृत्वादिशक्तिमान्, कर्तृक्रियाभावसम्बन्धश्चार्थः। करणतृतीयाः करणत्वशक्तिमान्, क्रियाकरणभावः सम्बन्धश्चार्थः। तच्छक्तिमत्त्वञ्च व्यापारवत्येव। (२) रामकर्तृकबाणकरणकप्राणवियोगाश्रयो वालीति बोधः।

प्रकृत्यादिभ्य इति। इदं यथायोगं (३) सर्वविभक्त्यपवादः॥

रामेणेति। कर्ता में जो तृतीया है—उसका कर्तृत्वादि शक्तिमान् और क्रिया कारक भाव सम्बन्ध अर्थ है। आदिपद से 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' से विहित हेतुत्व शक्ति का ग्रहण भी होता है। और करण में होने वाली तृतीया का करणत्व शक्तिमान् और क्रिया करणभाव सम्बन्ध अर्थ है। उस प्रकार की शक्तिमत्ता व्यापार वाले में ही होती है। रामेणबाणेन हतो वाली का शाब्दबोध इस प्रकार होता है। रामकर्तृक बाणकरणक व्यापारजन्यः यः प्राणवियोगस्तदाश्रयो वाली। (राम कर्ता वाले बाण करण वाले व्यापार से होने वाला जो प्राण वियोग उसका आश्रय वाली है) यहाँ कर्म क्त प्रत्यय है—अतः फल विशेष्य बोध होता है, फलाश्रय वाली है। कर्तृप्रत्यय में व्यापार विशेष्य लाभ होता है।) प्रकृत्यादिभ्यइति। यह सर्वविभक्तियों का अपवाद है, प्रायेणाव-याज्ञिकाः में यद्यपि 'इत्थंभूत लक्षणो' से तृतीया सिद्ध थी तो भी सम्बन्ध की विवक्षा में षष्ठी प्राप्त होती है। उसको बाधने के लिए इसकी आवश्यकता होती है। प्रकृत्याचारुः में षष्ठी की प्राप्ती है गोत्रेण गार्ग्यः में प्रथमा की प्राप्ति है। समेनधावति, में द्वितीया की प्राप्ति है, द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति में भी द्वितीया प्राप्ति है, पञ्चकेन पशून्क्रीणाति में भी द्वितीया की प्राप्ति है।

(१) दिवः कर्म च (१।४।४३)। चेन सञ्ज्ञयोः समावेशः। तेन दिवः साधकतमस्य शक्तिद्वययोगो बोध्यते। 'अक्षैर्दीव्यते' इत्यत्र (२) तृतीया परत्वात्, (३) कर्मत्वाच्च कर्मत्वप्रयुक्तपरस्मैपदाभावः। अत्र विप्रतिषेधशास्त्रबलात्तृतीयैव शक्तिद्वयबोधिका। (४) यदाऽक्षाणां फलाश्रयत्वसमानाधिकरणकर्मत्वविवक्षा तदा 'अक्षान्दीव्यति' इत्यादि (५) साधु। '(६)

अक्षाणां देविता' इत्यादौ तृतीयातः परत्वात्कृद्योगलक्षणाषष्ठी। (७) मनसा देवः' इत्यादौ (८) हेतुतृतीयान्तेन पचाद्यजन्तदेवशब्दस्य (९) समासः। न च शक्तिद्वयस्वीकारे (१०) उक्त कर्मणि लकारे करणत्वशक्तेरनुक्तत्वेन तृतीयापत्तिरिति वाच्यम्। 'अपादानमुत्तराणि' इत्यस्योदाहरणे 'गां दोग्धि' इत्यादौ तत्र कर्मणि लकारे पञ्चम्यापत्तिवारणायैकद्रव्यगतानेकशक्तिमद्ध्ये एकस्या अभिहितत्वे परस्या अपि तद्वत् प्रकाशेनाक्षतेः। एकैव शक्तिः सञ्ज्ञाद्वयोपयोगिनीति तु चिन्त्यम्। कर्मादिपदानां कर्मत्वादिपदानां कर्मत्वादितत्तच्छक्तिरूपेण बोधकतयातयो (११) र्भेदस्यैवौचित्यादिति मञ्जूषायां विस्तरः।

दिवः कर्म च। चकार से संज्ञाओं का समावेश है इससे दिवधातु के शाधकतम् का दो शक्तियों से योग होता है। इससे 'अक्षैर्देवयते' में परत्वादि तृतीया और कर्मत्व होने से कर्मत्व प्रयुक्त परस्मैपद का अभाव होता है। यहाँ विप्रतिषेध शास्त्र के बल से तृतीया ही दोनों शक्तियों की बोधक है। जब अक्षों में फलाश्रयत्व युक्त कर्म की विवक्षा होगी तब अक्षान्दीव्यति भी साधु है। अक्षाणांदेविता इत्यादि में तृतीया से पर होने के कारण कर्तृकर्मणोःकृत' से षष्ठी होती है, मनसादेवः में हेतु में तृतीयान्त मनसा के साथ पचाद्यजन्त देव शब्द का समास है, दो शक्तियों के स्वीकार करने से उक्त स्थल में कर्म के लकार करने पर कर्णत्व शक्ति के अनुक्त होने से तृतीया होनी चाहिए उत्तर 'अपादानमुत्तराणि' के उदाहरण में गां दोग्धि इत्यादि में कर्म में लकार करने पर पंचमी की आपत्ति को वारण के लिये एक द्रव्य में स्थिति अनेक शक्तियों के मध्य में एक के उक्त होने पर दूसरी भी अभिहित होती है। ऐसा स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है। एक ही शक्ति दोनों संज्ञाओं की उपयोगिनी होती है—यह विचार उचित नही है, क्योंकि कर्मादिपदो की कर्मत्वादि शक्ति के रूप में बोध होने से उनका भेद मानना ही ठीक है। वस्तुतस्तु करणत्व शक्ति से बोध होने पर करण में तृतीया अन्यथा द्वितीया होगी।

फलप्राप्तिरिति। तस्याञ्च सत्यां प्रयोजनाभावादेव न क्रियाप्रवृत्तिरिति फलप्राप्तिशब्देन तत्पूर्वकस्त्याग उच्यते। त्यागस्य च फलप्राप्तिर्व्यङ्ग्येत्यन्यत्र विस्तरः। नायात इति। अनेन फलाप्राप्तिरेव स्फुटमुच्यते॥

फलप्राप्तिरिति। फल प्राप्त के होने पर प्रयोजन के अभाव से ही क्रिया की प्रवृत्ति नही होती है, फल प्राप्ति शब्द से फल प्राप्ति के पूर्व में होने वाला त्याग कहा जाता है, फल प्राप्ति त्याग की ही व्यंग्य है। नायात इति। इससे स्पष्ट रूप से फल की अप्राप्ति ही कही जाती है।

(१)सहयुक्ते (२।३।१९)। 'पृथग्विनानानाभिः'(२।३।३२)इतिवत्

'सहेन' इत्येव सिद्धे युक्तग्रहणं शब्दविशेषानादरेणार्थयोगे भवत्वित्यर्थमित्याह-सहार्थेनेति। अत एव क्वचित् शब्दयोगं बिनापि भवति।तदाह–विनापीति। न्यायसिद्धेऽर्थे लिङ्गमप्याह-वृद्ध इति। सहार्थः साहित्यं, तच्च स्वसमभिव्याहृतक्रियादिसमानकालिकतत्क्रियादिमत्त्वं, क्वचित्समानदेशक्रियावत्त्वम्। अत एव माषवापोत्तरं तत्रैव क्षेत्रे तिलवापे 'तिलैः सह माषान्वपति' इति भवति। यद्यपि 'पुत्रेण सहागतः' इत्यादौ आगमनक्रियाकर्तृत्वादेव पुत्रात्तृतीया सिद्धा; तथापि 'पुत्रेण सह स्थूलः' इत्यादि अस्य मुख्यमुदाहरणमिति भाष्ये स्पष्टम्।

सहयुक्ते। 'प्रथग्विनानानाभिः' की तरह सहेन से ही सिद्ध था। युक्त ग्रहण से सूचित होता है कि शब्द विशेष का आदर न करके अर्थ के योग में हो। अतएव मूल में सहार्थेन कहा है। इसलिए (अर्थपरक) कहीं शब्द के योग के बिना भी तृतीया होती है, जैसा कि कौमुदी में लिखा है। विनापीति। न्यायसिद्ध अर्थ में लिङ्ग भी कहते हैं—वृद्धइति। सह का अर्थ साहित्य है—वह साहित्य सह के पास क्रियादि के समानकालिक क्रिया वाला। जैसे 'पुत्रेण सहागतः' पिता में पिता के आगमन से साथ ही पुत्र का आगमन है। कहीं समानदेश में क्रिया वाले का भी ग्रहण होता है। जैसे 'तिलैः सह माषान्वपति' उरद के बोने के पश्चात उसी खेत में तिलों के बोने पर उक्त प्रयोग की सिद्ध होती है यद्यपि पुत्रेण सहागतः इत्यादि स्थल में आगमन क्रिया के कर्ता होने से ही पुत्र पद से तृतीया की सिद्ध है तो भी पुत्रेण सह स्थूलः इत्यादि प्रयोगो में तृतीया सिद्ध के लिये सूत्र की आवश्यकता है। और वही इसका मख्य उदाहरण है।

(१)अङ्गेन–अवयवेन। इदं सन्निधानलब्धम्। अङ्गिनः-अवयविनः। सूत्रे अङ्गशब्दोऽर्शआद्यजन्तो व्याख्यानादिति भावः। अक्ष्णाकाण इति। यद्यप्यक्ष्येव काणं तथाप्यवयवधर्मस्य समुदाये आरोपाच्छरीरे तदवच्छिन्ने च व्यवहारो निरूढ इति ध्येयम्। यद्यपि काणशब्दोऽक्षिगतविकारवाचक एव तथापि 'द्वौ विप्रौ' इतिवदक्ष्णेति प्रयोगस्य साधुत्वम्। इदृशरीत्येदृशानां साधुत्वे चेदमेव मानम्। षष्ठ्यपवादोऽयमित्याह-अक्षिसम्बन्धीति। अङ्गविकारः किमिति। अङ्गग्रहणप्रयोजनप्रश्नः। अक्षि काणमिति। प्रथमां बाधित्वाऽ (२) त्रैव स्यात्। लेशतोऽपि दर्शनसामर्थ्यहीनत्व काणत्वम्।

अङ्गेन। अङ्गेन का अर्थ अवयव है—यह सामीप्य से प्राप्त है। अङ्गिनः का अर्थ अवयवी है सूत्र में अङ्ग शब्द में अर्शादि अच् प्रत्ययान्त व्याख्यान से है अक्ष्णाकाण इति। यद्यपि नेत्र ही काना है तो भी अवयव के धर्म का समुदाय में आरोप करने से

शरीर में तथा शरीर वाले में व्यवहार रूढ है। यद्यपि काण शब्द ही नेत्रगत विकार का वाचक है तो भी द्वौ विप्रौ की तरह अक्षणा प्रयोग की सिद्ध जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि विप्रौ के कहने से ही द्वित्व का लाभ सिद्ध था फिर द्वौ का प्रयोग व्यवहार में होता है उसी प्रकार उक्त स्थल में जानना। इस प्रकार से उक्त प्रयोगों की सिद्ध में यह ही प्रमाण है। उक्त सूत्र षष्ठी का अपवाद है। इसलिये कहते हैं अक्षिसम्बन्धीति। अङ्गग्रहणं किमिति। अङ्ग ग्रहण के प्रयोजन का प्रश्न है। अक्षिकाणमिति। प्रथमा को बाध करके उक्त प्रयोग में तृतीया हो जाती। तात्पर्य यह है विकृताङ्ग रूप शक्यार्थ का ही ग्रहण उचित होगा। लक्ष्यार्थ अङ्गी का ठीक नहीं है। जिस नेत्र से कुछ भी न दीखता हो वही काण है।

इत्थंशब्दः प्रकारमात्रपरः। प्राप्त्यर्थाद् भुवः कर्तरि क्तः। कर्मविभक्त्यन्तेत्थंशब्देन भूतशब्दस्य समासः। लक्षणशब्दः करणसाधनः। तस्य कर्मषष्ठयन्तेनेत्थम्भूतशब्देन समास (३) इत्याह—कञ्चिदित्यादि। जटाभिरिति। यद्यपि ताभिस्तापसो ज्ञात इत्यर्थे ज्ञानक्रियायां करणत्वादिदं सिद्धं, तथापि करणत्वाविवक्षयां लक्ष्यलक्षणभावमात्रविवक्षायां तृतीयार्थमिदम। (१)इत्थम्भूतस्य यत्र लक्षणवाचकात्पृथगुपस्थितिरेव तत्रैवानेन तृतीया। तेन 'कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीत' इत्यादौ कमण्डलुपदान्न तृतीया न चोत्पन्नायास्तृतीयायाः 'सुपो धातु' (२।४।७१) इति लुगिति वाच्यम्। कृते समासे तस्या उत्पत्त्या समासरूपप्रातिपदिकानवयवत्वादिति कैयटे स्पष्टम्। कमण्डलुः पाणौ यस्येति बहुव्रीहिः।

इत्थं भूत लक्षणे। इत्थं शब्द प्रकार (विशेषण) मात्र पर है। प्राप्ति के अर्थ में विद्यमान चुरादि भूतधातु से कर्ता में क्त प्रत्यय करने से भूत की सिद्ध है। कर्म विभक्ति वाले इत्थंशब्द से भूत शब्द का समास होता है, लक्षण में करण (ल्युट) में प्रत्यय है उसका कर्म षष्ठयन्त इत्थंभूत शब्द के साथ समास है। अतएव कहते हैं कञ्चिदित्यादि। जटाभिरिति। यद्यपि उन जटाओं से तपस्वी जाना गया। इस अर्थ में ज्ञान क्रिया में करण होने से उक्त प्रयोग की सिद्ध सम्भव है। तो भी करणत्व की अविवक्षा में केवल लक्ष्य लक्षण की विवक्षा में तृतीया करने के लिये उक्त सूत्र है। इत्थंभूत की जहाँ लक्षण वाचक से अलग उपस्थित हो वहाँ उक्त सूत्र से तृतीया होती है। उक्त अर्थ करने पर 'कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीत' इत्यादि स्थल में कमण्डलु शब्द से तृतीया नहीं होती है। उत्पन्न तृतीया का सुपोधातु से लुक् हो जायेगा। यह कहना भी उचित नहीं है। समास के करने पर तृतीया की उत्पत्ति होने से वह समास रूप प्रातिपदिक का अवयव नहीं है। कमण्डुलपाणि में बहुव्रीहि समास है।

परे तु—कमण्डलुपाणिशब्दादत्र तृतीयापत्तिः, कमण्डलुयुक्तपाणिरू-

पस्य कमण्डलुपाणित्वस्य लक्षणत्वेन तस्यैव तद्वाचकत्वात् । तदुक्तम् 'अनुर्लक्षणे' (१।४।८४) इति सूत्रे भाष्ये 'सकृदसौ कमण्डलुपाणिश्छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव लक्षणं भवति' इति । तदेवेत्यस्य कमण्डलुपाणित्वमेवेत्यर्थः। कमण्डलोर्लक्षणत्वे हि स एवेति वदेत् । किञ्च तन्मद्ध्यपतितन्यायेन तद्विशिष्टस्य प्रातिपदिकत्वेन तस्य तदनवयवत्वोक्तेरनौचित्येन लुको दुर्वारत्वम् । अत एव 'नरम्मन्यः' इत्यादौ इजन्तस्योत्तरपदपरत्वाय पूर्वं सुपो लुकि उत्पन्नस्यामः 'सुपो धातु' (१।४।७१)इदि लुक् अम्विधिसामर्थ्येन बारित 'इच एकाचोऽम्' (६।३।८६) इति सूत्रे भाष्ये (१) इत्याहुः ॥

यहां नागेश का मत यह है कि कमण्डलुपाणि शब्द से तृतीया हो जायेगी। क्योंकि कमण्डलु से युक्त पाणि रूप कमण्डलुपाणित्व के लक्षण होने से वही उसका वाचक है। 'अनुर्लक्षणे' सूत्र के भाष्य में कहा भी है 'सकृदसौ'–एक बार कमण्डलु पाणि छात्र के देखने से वही उसका लक्षण होता है। तदेव का अर्थ कमण्डलु पाणित्व ही करना चाहिए। कमण्डलु के लक्षण होने पर सह एव (पुल्लिङ्ग) का प्रयोग करना उचित था और तन्मद्ध्यपतितन्याय से विशिष्ट में ही प्रातिपदिक होने से वह उसका अवयव नहीं है इस कथन के अनौचित्य होने लुक् का होना सम्भव है। इसी से नरम्मन्य: इत्यादि में इजन्त को उत्तर पद परत्व मानने के लिये पहले सुप् का लुक् करने पर उत्पन्न अम् का सुपोधातु से लुक् नहीं होता है। क्योंकि लुक् करने पर अम् विधान ही व्यर्थ हो जाता–यह विषय 'इच एकाचोऽम्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

सञ्ज्ञोऽन्यतर (२।३।२२) ॥ दैवादिकस्य जनेर्न ग्रहणं तस्याकर्मकत्वात् तदाह–जानातेरिति । कर्मत्वशक्तिरेवात्र तृतीयाऽर्थः ॥

सञ्ज्ञोऽन्यतर। दिवादि गण में पठित जान का ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि वह अकर्मक है। इस बात का द्योतन करने के लिए जानातेरिति (क्रियादि) का उल्लेख किया है यहाँ तृतीया का अर्थ कर्मत्व शक्ति ही है।

हेतौ (२।३।२३) ॥ हेतुरिह कारणं न शास्त्रीयः। तस्य कर्तृसञ्ज्ञाया अपि सत्त्वेन कर्तृतृतीययैव सिद्धेः । ननु लौकिकहेतुरपि करणमित्यत आह द्रव्यादीति । आदिना गुणक्रिये । साधारणमिति । तज्जनकेऽपि वर्तते इत्यर्थः । करणं तु क्रियाजनकमेवेति भावः । वैषम्यान्तरमाह–निर्व्यापारेति । करणन्तु व्यापारवदेवेति भावः । (२) एवञ्च करणत्वशक्तेर्भिन्नैव हेतुत्वशक्तिरत्र तृतीयार्थ इति तात्पर्यम् । स्फुटप्रतिपत्तये करणे वैलक्षण्यमाह–करणत्वन्त्विवति । हेतुहेतुमद्भाव एव तृतीयार्थः । दण्डे व्यापारसत्त्वेऽपि क्रियाजनकत्वाभावान्न करणत्वम् । पुण्ये क्रियाजनकत्वेऽपि निर्व्यापारत्वान्न

तत्त्वम्। फलमपीहेति। इह–एतत्सूत्रोदाहरणे। क्वचित्फलमपि हेतुत्वेन विवक्ष्यत इत्यर्थः। तस्यापि स्वज्ञानद्वाराजनकत्वात्। एतञ्च 'प्रत्ययः' (३।१।१) इत्यादिसूत्रेषु कैयटे स्पष्टम्।

हे तौ। यहाँ हेतु का कारण अर्थ है, शास्त्रीय हेतु का ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि तत्प्रयोजकों हेतुश्च से जो हेतु संज्ञा होती है– वह कर्तृ संज्ञा के साथ ही होती है–वहाँ कर्तृ तृतीया से ही कार्य सिद्ध हो जायेगा। लौकिक हेतु भी करण है इसका उत्तर कहते हैं। द्रव्यादीति। यहाँ आदि पद से गुण और क्रिया का ग्रहण करना चाहिये। साधारणमिति। अर्थात् उसके जनक में भी उसका प्रयोग होता है। करण तो केवल क्रिया का जनक ही होता है। अन्य भी विषमता स्पष्ट करते है। निर्व्यापारेति। करण तो केवल व्यापार वाली ही होता है। इस प्रकार से करणत्व शक्ति से भिन्न ही यहाँ हेतु शक्ति है। वही तृतीया का अर्थ है। स्पष्ट ज्ञान के लिये करण में विलक्षणता दिखलाते हैं। करणत्वन्त्विति। हेतु-हेतु मद् भाव ही तृतीया अर्थ है, दण्ड में व्यापार होने पर भी क्रिया जनकता के अभाव में करणत्व नहीं हैं। पुण्य में क्रिया जनकत्व होने पर भी व्यापार के अभाव से करणत्व नहीं है। फलमपीहेति। अर्थात इस सूत्र के उदाहरण में कहीं फल भी हेतुत्व से गृहीत होता है। क्योंकि वह भी अपने ज्ञान के द्वारा जनक है। यह विषय 'प्रत्ययः' इत्यादि सूत्रों के कैयट में स्पष्ट है।

ननु 'अलं श्रमेण' इत्यादौ क्रियावाचकपदाभावात्क्रियाया अप्रतीत्या कथं करणत्वमत आह—गम्यमानापीति। श्रमेणेत्यादिपदजबोधविषया-पीत्यर्थः। न तूच्चार्यमाणतद्वाचकपदजबोधविषयैवेति भावः। अलंशब्दो निषेधार्थस्तदाह–साध्यं नास्तीति। ननु साध्यमित्यर्थज्ञानेऽपि तस्य श्रमेणेति नामार्थत्वेन न क्रियात्वमत आह–इहेति। (१) स्ववाच्यक्रियां प्रति स्वस्य करणत्वमित्यर्थः। स्पष्टं चेदम् 'इग्यणः' (१।१।४५) इति सूत्रे 'प्रविश' 'पिण्डीम्' इति 'वाक्यार्थे वाक्यैकदेशप्रयोगः' इत्यादिना भाष्ये इति मञ्जूषायां विस्तरः।

अलं श्रमेण में क्रिया वाचक पद के अभाव में क्रिया की प्रतीति न होने से करणत्व किस प्रकार से होता है–उसका उत्तर करते हैं 'गम्यमानापीति' श्रमेण इत्यादि पद से जायमान बोध की विषय भी। उच्चार्यमाण या उसके वाचक पद से जायमान बोध की विषय हो-यह नियम नहीं है। अलंशब्द का अर्थ प्रकृत निषेध है–इसी को स्पष्ट करने के लिए साध्यं नास्ति लिखा है। अब यहाँ शंका करते है कि साध्यं के अर्थ ज्ञान होने पर भी उसका श्रमेण नामार्थ से क्रियात्व का अभाव है– उत्तर इहेति। स्वघटित पद से वाच्य क्रिया के पद स्व (अपनों) को करणत्व है। यह विषय 'इग्यणः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है वाक्यार्थ में भी वाक्य के

एक देश का प्रयोग होते है। जैसे ,प्रविश' 'पिण्डीम्' प्रविश का सम्बन्ध गृहं से है गृहं प्रविश्य पिण्डीम् का भक्षय से है। पिण्डी को खाओ।

अशिष्टेति। अशिष्टानां सङ्कीर्णाचाराणां यो व्यवहारः क्रिया तद्बोधकपदप्रयोगे प्रत्यासत्त्या यत्सम्बन्धेन व्वयहारस्य सङ्कीर्णाचारत्वं तद्वाचकाचतुर्थ्यर्थे तृतीयेत्यर्थः। दास्येति । दासीसम्प्रदानकं रतिफलकं दानमि(२)ति बोधः। इति तृतीया॥

अशिष्टेति। सङ्कीर्ण आचार वाले अशिष्टों का जो व्यवहार है उसके बोधक पद के प्रयोग में प्रत्यासन्ति (सामीप्य) से जिसके सम्बन्ध से व्यवहार में संकीर्णाचारता है उससे वाचक से चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है। दास्येति। दासी सम्प्रदान वाला रतिफलक दान–यह इससे बोध होता है। दान् धातु को दानपूर्वक उपभोग में शक्ति है। देकरके उसके साथ अर्थात् उसका उपभोग करता है।

॥ इति तृतीया॥

दानस्येति। (१)दाधात्वर्थस्येत्यर्थः। इदमुपलक्षणं (२) क्रियामात्रस्य। कर्मणेति। सम्बन्धुमिति शेषः। अभिप्रैति–इच्छति। कर्मणा सम्बन्धश्च स्वत्वादिरूपः। सम्प्रदानत्वशक्तिमान् सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थः। स एवोद्देश्य इत्युच्यते। क्रियाकारकभावः सम्बन्धश्च तदर्थः। विप्रसम्प्रदानकं दानमिति बोधः। कर्मणेति किम्? तदभावे हि कर्मणोऽप्युद्देश्यतयाऽन्तरङ्गत्वात्तस्यैव सञ्ज्ञा स्यात् (३) कर्मसञ्ज्ञया तु पर्यायो भविष्यति। यं सग्रहणं किम्? तदभावे क्रियाकर्मणा योऽभिप्रैति ब्राह्मणादिस्तस्यैव स्यात्। कर्तृसञ्ज्ञा त्वकर्मकविषये सावकाशा। न च कर्तुः कर्तृत्वाभावे कथं गोः कर्मत्वम्। कर्मसञ्ज्ञायां कर्तृग्रहणस्य (४) स्वतन्त्रोपलक्षणत्वात् अत एव 'सार्थाद्धीयते' इत्यत्र कर्तुरपादानत्वेऽपि कर्मणि लकारः सिद्धः। ननु कर्मणेत्युक्तावकर्मकक्रियोद्देश्यस्य सम्प्रदानत्वं न स्यादत आह–क्रिययेति। कर्मरहितक्रिययेत्यर्थः। सकर्मकेषु कर्मसञ्ज्ञा अस्या बाधिकेत्याशयेनाह–(१)पत्ये शेते इति। न च दानादीनां तदर्थत्वात्तादर्थ्यचतुर्थ्यैव सिद्धे किमनया सञ्ज्ञयेति वाच्यम्। (२)'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (३।४।७३) इत्यर्थत्वात्, (३)तत्सम्प्रदानकं दानमिति बोधार्थं तदावश्यकत्वाञ्च। अत एव तादर्थ्यचतुर्थ्यां दानकर्मणो गवादेः सम्प्रदानार्थत्वेऽपि दानक्रियायास्तदर्थत्वाभावेन चतुर्थ्यन्तार्थस्य (४)दानक्रियान्वयानापत्तिरिरिति हेलाराजः। (५) तादर्थ्यचतुर्थ्यैं सिद्धे 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (२।३।१३) इति सूत्रं 'रुच्यर्थानाम्' (१।४।३३) इत्यादिविषये चतुर्थ्यर्थमिति भाष्ये स्पष्टम्। पशु-

नेति । कर्म तृतीयाऽर्थः । सम्प्रदानं द्वितीयाऽर्थः । एतञ्च दानार्थकयजधातु-विषयम् । पूजार्थत्वे तु पशोः करणत्वं न्यायसिद्धम् । इदं छान्दसमिति कैयटः ।

दानस्येति । यहाँ दान से दा धातु के अर्थ का ग्रहण करना । अतएव खण्डिको-पाध्यायः शिष्याया चपेटकांददाति । इस भाष्य प्रयोग में शिष्याय में चतुर्थी होती है । चपेटा (तमाचा) यहाँ ददाति का अभिघात रूप संयोग अर्थ है । दान नहीं है । यह क्रियामात्र का उपलक्षण है । अतएव 'शिष्याय शास्त्रं कथयति' में चतुर्थी होती है । कर्मणेति । इसका शेष सम्बन्ध है अर्थात् क्रिया से सम्बन्ध करना । अभिप्रैति का इच्छित अर्थ है । कर्म के साथ सम्बन्ध सत्वादि है । सम्प्रदान चतुर्थी का सम्प्र-दानत्व शक्ति वाला अर्थ है । उसी को उद्देश्य कहते हैं और क्रिया कारक भाव सम्बन्ध ही उसका अर्थ है । विप्र सम्प्रदान वाला दान यह उसका बोध है । कर्मणा का फल कहते हैं । कर्म के अभाव में कर्म के उद्देश्य होने से अन्तरंग होने के कारण उसकी संज्ञा हो जायेगी । अथवा कर्मसंज्ञा के साथ पर्याय होने लगेगा । यम् के ग्रहण न करने पर क्रिया के कर्म से जिसको चाहे ब्राह्मणादि उसकी ही सम्प्रदान संज्ञा होगी, कर्तृ संज्ञा तो अकर्मक के विषय में चरितार्थ है । यदि कर्ता की कर्तृसंज्ञा नहीं होगी तो गो की कर्म संज्ञा कैसे होगी । यह शंका उचित नहीं है क्योंकि कर्मसंज्ञा में कर्तृ-ग्रहण स्वतन्त्र्य का उपलक्षण है । उक्तार्थ स्वीकार करनेसे साथीद्धीयते में कर्ता की अपादान संज्ञा होने पर भी कर्म में लकार होता है । कर्मणा कहने पर अकर्मक क्रिया के उद्देश्य की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होगी । उत्तर क्रिययेति । कर्म से रहित क्रिया से यह अर्थ है । सकर्मक धातुओं में कर्म संज्ञा इसकी बाधक है । इस आशय से कहते हैं पत्ये सेते । पति को प्राप्तिकर सोती है । सम्प्रदान पति को उद्देश्य करके शयन है यह इसका बोध है अब यहाँ शंका करते हैं दानादि भी उसके लिए है तब तादयर्थ चतुर्थी से ही कार्य सिद्ध हो जायेगा इस संज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं है उत्तर 'दाशगोध्नौ सम्प्रदाने' सम्प्रदान के लिए सम्प्रदान संज्ञा का करना आवश्यक है। विप्रसम्प्रदानकं दानमिति । इस बोध के लिए भी संज्ञा की आवश्यकता है । इसीलिए तादयर्थ चतुर्थी में दान के कर्म गो आदि सम्प्रदान के लिए भी है । दान क्रिया उसके लिए न होने से चतुर्थयन्त की दान क्रिया से अन्वय नहीं होगा । यह हेलाराज का कथन है । तादरर्थ चतुर्थी से ही सिद्ध होने पर "चतुर्थी सम्प्रदाने" सूत्र रुच्यर्थानाम् के विषय में चतुर्थी के लिए है । "पशुनेति" तृतीया का अर्थ कर्म है और द्वितीया का अर्थ सम्प्रदान है । यह दानार्थक यजधातु का विषय है पूजार्थत्व में तो पशु का करणत्व न्याय सिद्ध है । कैयट के मत से यह सब वैदिक है ।

अन्यकर्तृक इति । अभिलष्यतिकर्त्रपेक्षयाऽन्यदभिलष्यतिकर्म, तत्कर्तृक इत्यर्थः । (१) यत्किञ्चिद्विषयकप्रीत्यनुकूलव्यापाराश्रयोऽभिलष्यति

कर्ता । हरिर्भक्तिमभिलष्यतीति प्रत्ययात् । यत्किञ्चिन्निष्ठप्रीत्यनुकूलः प्रीति-व्यधिकरणो यो व्यापारस्तदाश्रयो रोचतेः कर्ता, इति अभिलषते रुच्यर्थ-त्वाभावान्न तद्योगे सम्प्रदानत्वमिति भावः । तदाह—हरिनिष्ठेति । पथीति । न च प्रीयमाणपदाभावे सूत्रस्य क्रियाजनकत्वमात्रविवक्षायां सञ्ज्ञान्तराप्राप्तिविषये चारितार्थ्येन परत्वादधिकरणसञ्ज्ञया बाधसिद्धेः कथमेतदिति वाच्यम् । (२)'देवदत्तं रोचते' इत्यस्याप्यापत्तेरित्याशयात् । तत्सत्त्वे त्वस्य कर्मसञ्ज्ञापवादत्वान्न दोषः ।

अन्यकर्तृक इति । अभिलष् धातु के कर्ता की अपेक्षा जो अभिलष् का कर्म वह है कर्ता जिसका यह रुचक अर्थ है। जिस किसी विषय वाली प्रीति का जनक व्यापारा-श्रय कर्ता अभिलष् का होता है यहाँ रुचादि धातुओं के अर्थों का विचार इस प्रकार से है विषयता सम्बन्धावच्छिन्न प्रीत्यनुकूल प्रीति समानाधिकरणो व्यापारो रुचेरर्थः हरियेरोचक्त भक्तिः में प्रीतिका विषय भक्ति है । अतः विषयता सम्बन्ध से प्रीति भक्ति में है और व्यापार भी करमी होने के कारण भक्ति में ही है । अतः दोनों का अधि-करण एक ही है । विषयता सम्बन्धावच्छिन्न प्रीत्यनुकूल प्रीति व्यधिकरणोः व्यापारा अभिलष् का अर्थ है । हरेः भक्तिम् अविलक्ष्यत् में विषयता सम्बन्ध से प्रीति भक्ति में है और व्यापार कर्ता हरि में है । अतः व्यधिकरण होना उचित है । यद्यपि रुचि का तथा प्री का अर्थ एक ही है । भक्तिः हरिः प्रिणाति तो भी प्रीयमाणा में कर्म में शानच् होने से प्रिय धातु के योग में कर्म संज्ञा सम्प्रदान संज्ञा का बाध करती हैं । हरिः भक्तिम अविरक्षित जिस किसी में रहने वाला प्रीति का जनक और प्रीति का व्यधि-करण व्यापार का जो आश्रय है वह सत्व धातु का कर्ता है । इसलिए रुचि से भिन्न अर्थ होने से अभिलष् के योग में संज्ञा चतुर्थी नहीं होती है । लिखा भी है हरिनिष्ठेति । पथीति । प्रीयमाण पद के अभाव में क्रियाजनकत्व मात्र की विवक्षा में सूत्र अन्य संज्ञाओं की अप्राप्ति के विषय में चरितार्थ होने से अधिकरण संज्ञा होने से पथि में सप्तमी सिद्ध हो जायेगी । फिर प्रीयमाणा की आवश्यकता नहीं है यह कहा भी उचित नहीं है । क्योंकि देवदत्तं रोचते भी होने लगेगा । उसके रहने पर तो कर्म संज्ञा का अपवाद होने से सब कार्य सिद्ध होता है ।

गोपी स्मरादिति । श्लाघादेः (१) स्तुत्यादना बोधनमर्थः । स्मरा-दिति हेतौ पञ्चमी । स्तुत्याऽऽत्मानुरागं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः । स्तुतिश्च कृष्णस्यैव । एवं ह्नुत्या स्वानुरागं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः । ह्नुतिः सपत्न्या-दिभ्यः कृष्णस्यैव । एवं स्थित्या शपथेन च कृष्णं स्वानुरागं बोधयतीत्यर्थः । यद्वा, स्तुत्या ह्नुत्या च कृष्णं स्वसखीजनं बोधयति, स्थित्या शपथेन च कृष्णं तं बोधयतीत्यर्थः । ज्ञीप्स्यमानपदे (२) ण्यर्थकर्मणः प्रकृत्यर्थकर्मणश्च

ग्रहणादित्यन्यत्र विस्तरः । स्तुत्यादिमात्रार्थत्वे 'कृष्णं श्लाघते' कृष्णं ह्नुते' इत्येव । ज्ञीप्स्यमान इति ज्ञापनवचनाज्ज्ञपेः सन्नन्तात्कर्मणि शानच् ।

गोपीस्मरादिति । श्लाघादि का स्तुति आदि से बोधन अर्थ है । गुणवान के बोधक शब्द का नाम स्तुत है अदर्शन योग्य देश में 'स्थिति ह्नुति' । स्थिति का अर्थ प्रसिद्ध ही है, उपालम्ब देना शाप है । स्मरात् में पंचमी हेतु में है । स्तुत से अपने अनुराग को कृष्ण के प्रति प्रकट करती है स्तुत कृष्ण की ही है । इसी प्रकार ह्नुति से अपने अनुराग को बोधन करती है, ह्नुति भी सपत्नी सोत् आदि से कृष्ण की ही है इसी प्रकार स्थिति और शाप से कृष्ण के अपने अनुराग को प्रकट करती है अथवा स्तुत ह्नुति से कृष्ण को और सखी जन को बोधन करती है । स्थिति और शाप से कृष्ण को उसको बताती है । ज्ञीप्स्यमम् पद में व्यर्थ कर्म और प्रकृत्यर्थ कर्म दोनो का ही ग्रहण है । स्तुत्यादि मात्र अर्थ मानने पर कृष्णं श्लाघते कृष्णं ह्नुते ही होगा । ज्ञीप्स्यमानः में ज्ञापनार्थक ज्ञप् धातु से यन करने पर कर्म में शानच् प्रत्यय है ।

धारेरु (१।४।३५) । 'धृङ् अवस्थाने' इति ण्यन्तस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । भक्तायेति । ध्रियमाणं स्वरूपेणावतिष्मानं मोक्षं हरिः प्रयुक्तंगे इत्यर्थः । प्रेरणाया भक्तसत्त्वेऽभावात्तस्यापि प्रेरणाजनकत्वेन कारकत्वं बोद्धयम् । (३) अवश्यदेयत्वेन मोक्षेऽपि ऋणत्वं बोद्धयम् ।

धारेरु । 'धृङ् अवस्थाने' (ण्यन्त) धातु का ग्रहण है । भक्तायेति । ध्रियमाण स्वरूप से स्थित मोक्ष को हरि प्रयुक्त करते हैं । भक्ति के अभाव में प्रेरणा का होना असम्भव है इसलिए वह भी प्रेरणा का जनक होने से कारक है । अवश्य देने के कारण मोक्ष में भी ऋण का व्यवहार होता है तात्पर्य यह है कि ऋण देने वाला उत्तर्ण होता है और ऋण लेने वाला अधमर्ण होता है । द्रव्य के अभाव में मोक्ष में ऋण का प्रयोग करना उचित न था । परन्तु अवश्य देय होने से वह भी ऋण है यहाँ भक्ति उत्तर्ण है । और हरि अधमर्ण हैं ।

प्रकर्षविवक्षायान्त्विति । फलाश्रयत्वेन विवक्षायामित्यर्थः । परत्वादिति । इदं सूत्रं विषयतया क्रियाजनकत्वमात्रविवक्षायां चरितार्थमिति भावः पुष्पसम्प्रदानिकेच्छेति चतुर्थीसभभिव्याहारे बोधः ।

प्रकर्षविवक्षायान्त्विति । फलाश्रय की विवक्षा करने पर—यह इसका अर्थ है । परत्वादिति । यह सूत्र विषयता सम्बन्ध से क्रियाजनकत्व मात्र की विवक्षा में चरितार्थ है । चतुर्थी समीप पुष्प सम्प्रदान वाली इच्छा यह बोध है ।

कुमार्य इव कान्तस्य त्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च ।

इत्यत्र क्रियासम्बन्धित्वमात्रविवक्षया षष्ठी । अन्ये तु 'भोगाय' इत्यध्याहृत्य कान्तायेति विभक्तिविपरिणामेन वा व्याख्येयमित्याहुः । स्पृह-

धातुरिच्छामात्रवाची (१) फलावच्छिन्नेच्छावाची च । आद्ये सम्प्रदानत्वम्, अन्त्ये कर्मत्वम् । ईप्सितत्वं धात्वर्थजन्यफलाश्रयत्वं, न तु फलस्य धात्वर्थत्वपर्यन्तमाग्रहः । कर्मसञ्ज्ञायान्तु यथा तल्लाभस्तथोक्तम् ।

कुमार्य इव इत्यादि में क्रिया के सम्बन्धी मात्र की विवक्षा में कान्तस्य में षष्ठी जानना । अन्य लोग भोगाय का अध्याहार करके अथवा चतुर्थी विभक्ति का विपरिणाम करके कान्ताय व्याख्यान करते है । स्पृह धातु इच्छा मात्र का वाची है, और फलावच्छिन्न इच्छा का वाची है । प्रथम अर्थ में सम्प्रदान संज्ञा होती है—और द्वितीयार्थ में कर्म संज्ञा होती है धातु के अर्थ से उत्पन्न फल के आश्रय को ही ईप्सित कहते है । फल धात्वर्थ ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है । कर्म संज्ञा में तो जिस प्रकार का लाभ होता है उसे कह चुके है ।

(२) भार्यामीर्ष्यतीति । नात्र भार्यां प्रति कोपः, किं तु परैर्दृश्यमानां तां न सहते इत्येव । एवञ्चात्र न कोपजन्येर्ष्या किन्त्वन्यपुरुषदर्शनजन्येति भावः । हरेः (१) क्रोधद्रोहाभ्यामिच्छाविषयत्वाभावात् 'क्रियया यम्' (का० वा०) इत्यनेन न सिद्धिः । 'न ह्यकुपितः कुद्ध्यति' इति भाष्येण (२) प्ररूढकोप एव क्रोध इति कुपेस्तदर्थत्वाभावेन न तद्योगे इदम् । 'कुप्यति कस्मैचित्' इत्याद्यसाध्वेव ।

यहाँ स्त्री के प्रति कोष नहीं है, किन्तु अन्य लोगों के देखने से उसको सहन नहीं करता है । अन्य कर्तृकदर्शन विषय का सहन रूपो व्यापार ईष्यतेरर्थः अन्य कर्ता वाले दर्शन का असहन रूप व्यापार ईर्ष्या धातु का अर्थ है । दर्शन में भार्या का कर्मत्व से अन्वय है यहाँ अन्य कर्तृक दर्शन में ही द्वेष है भार्या में नहीं है अतएव यम प्रति कोपः कहने से उसकी (भार्या) की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती है । यहाँ ईर्ष्या कोप से जन्य नहीं है किन्तु अन्य पुरुष के दर्शन से जन्य है । हरि की क्रोध द्रोह से इच्छा के विषय न होने से क्रियया यम् से सिद्ध नहीं थी । वाणी या नेत्र के विकार से अनुमिति वध या ताडन का जनक जो व्यापार उसका जनक चित्तवृत्ति विशेष ही क्रोध है । दुःख जनक क्रिया का जनक चित्त वृत्ति विशेष को द्रोह कहते है । न ह्यकुपितः कुद्ध्यति बिना कोप के क्रोध नहीं होता है इस भाष्य से पुष्ट कोप ही क्रोध है इसलिए कुप् क्रोधार्थक न होने से उससे प्राप्त न होने पर उसके योग में यह प्रवृत्त होता है, 'कुप्यति कस्मैचित्' प्रयोग तो सर्वथा असाधु है ।

उपसृष्टयोरित्यस्यार्थमाह-सोपसर्गयोरिति । वैयाकरणनिकाये एष एतदर्थकत्वेन प्रसिद्धः । पूर्वसूत्रापवादोऽयम् ।

उपसृष्टयोः का अर्थ है उत्सर्ग वाले वैयाकरणों के सिद्धान्त में ही इसका यह अर्थ प्रसिद्ध है, यह पूर्व सूत्र का अपवाद है ।

यदीय इति। यदीयशुभाशुभसम्बन्धीत्यर्थः। राधीक्ष्योः प्रश्नविषयार्थपर्यालोचनमर्थः। कर्मणः प्रश्नविषयस्य धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहादकर्मकावेतौ। अत एव श्यन्। 'राधोऽकर्मकादेव' इत्युक्तेः। कृष्णसम्प्रदानकं शुभाशुभपर्यालोचनमर्थः।

यदीय इति। जिसके शुभ अशुभ सम्बन्ध वाला यह इसका अर्थ है। राधा और ईक्ष्य का विष बिषय अर्थ का पर्यालोचन ही अर्थ है। प्रश्न के विषय कर्म का धात्वर्थ में उपसंग्रह होने से दोनो अकर्मक है। धातोरर्थन्तारे वृत्ति इत्यादि, इसलिये श्यन् भी होता है क्योंकि 'राधोऽकर्मकादेव' कहा है। कृष्ण सम्प्रदान वाला शुभकशुभ का विचार करना ही इसका अर्थ है।

प्रत्याङ्भ्याम् (१।४।४०)। व्याख्यानात्प्रत्येकं निमित्तत्वमित्याशयेनोदाहरति–गां प्रतिशृणोतीति। अनयोः प्रवर्तनापूर्वकाभ्युपगमोऽर्थः। तत्र विप्रस्य कर्तृप्रयोजकत्वेन हेतुत्वे प्राप्ते वचनम्॥

प्रत्याङ्भ्याम्। व्याखयान से प्रति तथा आङ् प्रत्येक ही निमित्त है इसी से उदाहरण देते है—गां प्रतिशृणोतीति। इनका प्रवर्तना पूर्वक स्वीकार ही अर्थ है। वहाँ ब्राह्मण को कर्ता का प्रयोजक होने से हेतु संज्ञा प्राप्त थी। इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है।

अनुप्रति (१।४।४१)। अनुप्रतीति भिन्नं पदं लुप्तपञ्चम्यन्तम्। गृण इति श्नान्तानुकरणात् षष्ठी। शसितुः शसनविषयहर्षानुकूलव्यापारक्षणं प्रोत्साहनमनयोरर्थः। पूर्वव्यापारस्येति। शंसनस्येत्यर्थः। प्रोत्साहयतीति। ओथामेत्यादिशब्देरिति शेषः। शतायेति। करणस्यैव सम्प्रदानत्वेन भानमत्र। शतव्यापारश्च दानरूप एवेति बोद्धव्यम्।

अनुप्रति। अनुप्रति पंचमम्यान्त भिन्न पद है। पंचमी का लोप हो रहा है। गुण में श्नान्त के अनुकरण से षष्ठी कहने वाले के शसनविषयप्रशन्नता के जनक व्यापार लक्षण प्रोत्साहन इनका अर्थ है। पूर्व व्यापारस्येति। शसन का प्रोत्साहयन्त। ओथाम इत्यादि वैदिक रीति से। शतायेति। यहाँ करण का सम्प्रदान्त भाव से भान है। शतव्यापार दान रूप ही जानना।

तादर्थ्ये। (३) तादर्थ्यमुपकार्योपकारकभावरूपः सम्बन्धः। यदा तादर्थ्यस्य सम्बन्धत्वेन भानं तदा षष्ठी–गुरोरिदं गुर्वर्थमिति अत्र भाष्ये स्पष्टम्। क्लृपीति सप्तमी। अर्थग्रहणञ्चात्र। सम्पत्तिः–उत्पत्तिः क्लृप्त्यर्थकधातुयोगे उत्पद्यमानेऽर्थे वर्तमानाच्चतुर्थीत्यर्थः। हितयोगे च। चात्सुखयोगेऽपि।

तादर्थ्ये । उपकार्योपकार भाव सम्बन्ध ही यहाँ तादर्थ्य है । जब तादर्थ्य का सम्बन्ध रूप भान होगा तब षष्ठी होगी जैसे गुरोरिदं गुर्वर्थम् यह भाष्य में स्पष्ट है । क्लृपीति सप्तमी है । तथा यहाँ अर्थग्रहण भी है । सम्पत्तिका अर्थ उत्पत्ति है । क्लृप्त्यर्थ धातु के योग में उत्पद्यमान अर्थ में जो विद्यमान हो उससे चतुर्थी होती है । हितयोगे च । चकार से सुख के योग में होती है ।

(१) क्रियार्थोप (२।३।१४) ॥ क्रिया अर्थः फलं यस्य तत् क्रियार्थम् । तेन स्ववाचकं लक्ष्यते । क्रियाफलकार्थवाचकमुपपदं यस्येत्यर्थः । सोऽर्थश्च प्रत्यासत्त्या क्रियारूप एव । स्थानिशब्दश्च अप्रयुज्यमानवाची वैयाकरणानां निकाये प्रसिद्धः । क्रियार्थक्रियोपपदत्वञ्च तुमुनादेरेवेत्याह— **क्रियार्था क्रियेति** । 'फलेभ्यो याति' इत्यादौ फलकर्मकाऽऽहरणफलकं यानमिति बोधः । यथा वाक्यार्थे वाक्यैकदेशप्रयोगस्थले 'प्रविश पिण्डीम्' इत्यादौ तस्यैव पदस्य सम्पूर्णवाक्यार्थशक्तता तथाऽस्य समुदायस्याहरणघटितोक्तार्थे शक्तिरेतच्छास्त्रबलात् । स्थानिन इत्युक्तेस्तत्प्रयोगे नेति बोद्धव्यम् । अयमेवार्थाद्ध्याहारः ।

क्रियार्थोप । क्रिया है फल जिसका वह क्रियार्थ हुआ यहाँ अर्थ का अर्थ-फल है । उसकी अपने वाचक में लक्षणा है । क्रियाफल वाला अर्थ वाचक उपपद जिसका हो । वह अर्थ सामीप्य सम्बन्ध से क्रिया रूप ही है । वैयाकरणों के सिद्धान्तों में स्थानी का प्रयोग अप्रयुज्यमान अर्थ में होता है । क्रियार्थक क्रिया उपपद तुमुनादि को ही होता है । क्रियार्थाक्रियेति । फलेभ्यो याति इत्यादि में फलकर्मक आहरण फलवाला यान यह बोध है । जैसे वाक्य के अर्थ में वाक्य के एक देश का प्रयोग होता है । गृहं प्रविश में केवल प्रविशही पिण्डीं भक्षय में—केवल पिण्डीम् का ही प्रयोग होता है और एकपद में ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ की शक्ति है उसीप्रकार इस समुदाय की आहरण से युक्त उक्त अर्थ में इस शास्त्र के बल से शक्ति है । स्थानिनः कहने से उसके प्रयोग में नहीं होता है यही अर्थाध्याहार है ।

नमस्कुर्मो नृसिंहायेति । 'नमःस्वस्ति' (२।३।१६) इत्यनेन तु न सिद्धिः, उपपदविभक्तेरिति न्यायेन द्वितीयापत्तेः । पिण्डीमित्यादावप्रयुज्यमानभक्षणक्रियाकर्मणि चतुर्थीवारणाय (२) क्रियार्थोपपदस्येति ।

नमस्कुर्मो नृसिंहायेति । 'नमः स्वस्ति' सूत्र से चतुर्थी की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि 'उपपद विभक्तेः कारक विभक्तिर्बलीयसी' परिभाषा के बल से द्वितीया हो जायेगी । पिण्डम् इत्यादि में अप्रयुज्यमान भक्षधातु के कर्म में चतुर्थी के कारण के लिये क्रियार्थोपपदस्य कहा है ।

तुमर्थात् (२।३।१५) । 'तुम्' शब्देन तदर्थो लक्ष्यते, सोऽर्थो यस्येत्यर्थः । **इति सूत्रेणेति** । भावे ये प्रत्यया वक्ष्यन्ते ते क्रियार्थक्रियायामुपपदे भविष्यति स्युरिति तदर्थः । **यागायेति** । (३) यागफलकं यानमित्यर्थः ।

तुमर्थात् । 'तुम्' शब्द भी तुमर्थ में लक्षणा है वह अर्थ है जिसका यह अर्थ सिद्ध हुआ । इति सूत्रेणेति । भाव में जो प्रत्यय कहे जायेगें । वे क्रियार्थ क्रिया उपपद होने पर भविष्य में हो यह उसका अर्थ है । यागायेति । यागफल वाला गमन यह उसका अर्थ है ।

उपपदविभक्ते रिति । वाचनिकमेवेदं **भाष्ये** पठितमिति केचित् । क्रियाकारकयोः सम्बन्धोऽन्तरङ्गः, उपपदार्थेन तु ल्यत्किञ्चित्क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्धे इति तन्निमित्ता विभक्तिर्बहिरङ्गेति 'अन्तराऽन्तरेण, (२।३।४) इति सूत्रे **कैयटः** । अत्राहुः–एवं सति 'नमस्यति देवान्' इत्यादौ नमः पदार्थे क्रियाकारक–भावेनैवान्वये परत्वाच्चतुर्थीमाशङ्क्,यानेन वारणस्य (१) **भाष्योक्तस्यासङ्गतिः ।** (२) एतेन प्रधानत्वात् क्रियायास्तत्सम्बन्धनिमित्तकत्वेन बलवत्त्वमित्यपि (३) परास्तम् । कारकविभक्तित्वं च क्रियाजनकत्वसमानाधिकरणकर्तादिषट्कान्यतमा–र्थत्वम् । अन्याभिहितानुद्भूतकर्त्राद्यन्यतमार्थत्वं प्रथमाया अपि । 'अभिहिते प्रथमा' (का० वा०) इतिवार्तिकस्वारस्यात् । अतः प्रथमापि कारकविभक्तिरिति बोद्धयम् । द्वावित्यादौ द्वित्वादेरिव 'देवदत्तः पचति' इत्यादौ उभाभ्यामेकस्यैव कर्तृत्वस्य बोध इति न तद्बोधावृत्तिः ।

उपपदविभक्तेरिति । यह परिभाषा वचन रूप से भाष्य में पठित है यह किसी का कथन है । क्रिया और कारक का सम्बन्ध अन्तरंग है । उपपदार्थ के साथ तो सामान्य क्रियाकारक भावमूलक सम्बन्ध है इसलिये उसको निमित्तमान होने वाली विभक्ति बहिरंग है । ऐसा 'अन्तराऽन्तरेण' सूत्र में कैयट ने कहा है । यह अब नागेश कहते है कि इस प्रकार से 'नमस्यति देवान्' में नमः पदार्थ में क्रिया–कारक से अन्वय होने पर, पर होने से चतुर्थी की आशंकाकर इस परिभाषा से वारण करना भाष्य का असंगत होगा । पूर्वोक्त भाष्य की असंगति के कारण क्रिया के प्रधान होने से उसके सम्बन्ध को निमित्त मानकर होने से बलवत्त्र है । वह भी कथन असंगत है, कारक विभक्ति का अर्थ इस प्रकार से है क्रिया के जनकत्वके अधिकरण में कर्ता आदि कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण किसी के लिये जिसका उपयोग हो अन्य से अभिहित अनुद्भूत कर्तादि अन्यतमार्थ प्रथमा को है, ऐसा अभिहिते प्रथमा वार्तिक रहस्य है । इसलिये प्रथमा भी कारण विभ–क्ति है। द्वौ में जिस प्रकार द्वित्व का भान होता है। अर्थात् द्वि का भी अर्थ प्रतीत होता है तथा औ से 'देवदत्तः पचति' इत्यादि में दोनों से एक ही कर्ता का बोध होता है । इसलिये आवृत्ति बोध भी नहीं है । तात्पर्य यह कि प्रथमा का भी अर्थ कर्ता है और तिप् का अर्थ का भी कर्ता है ।

नमस्करोति देवानिति । उत्कृष्टनिष्ठो यः (१)स्वनिष्ठापकृष्टत्वबोधः तद-

नुकूलव्यापाररूप–(२) नमस्कारफलस्य तादृशबोधस्याश्रयतया देवानां कर्मत्वम् । स्वशब्देन प्रयोक्ता । नमः शब्दस्य साक्षात्प्रभृतिषु ऊर्यादिषु वा पाठेन गतित्वात्सं-त्वम् । (३) एकस्या एवोपपदविभक्तित्वे कारकविभक्तित्वे चायं न्याय इति तु न युक्तम् । 'नमस्यति देवान्' इत्यत्रैतत्परिभाषोपन्यासपरभाष्यविरोधात्, 'सहयुक्ते' (२।३।१९) इत्यादिसूत्रस्थभाष्यविरोधाच्च ।

नमस्करोति देवानिति । उत्कृष्ट में रहने वाला जो अपने में अपकृष्ट बोध उसके जनक व्यापार रूप नमस्कार फल का उस प्रकार के बोधक आश्रय होने से देवों को कर्मत्व होता है । स्वशब्द से प्रयोक्ता का ग्रहण करना । अपने को अप-कृष्ट समझकर जो अल्प को उत्कृष्ट समझा जाता है वहाँ इस प्रकार का प्रयोग होता है । नमः शब्द की साक्षात् प्रभृति अथवा ऊर्यादि में पाठ से गतिसंज्ञा होने से सत्व होता है । एक को ही उपपद विभक्ति या कारक विभक्ति होने पर ही इस न्याय की प्रवृत्ति होती है यह कहना उचित नहीं है क्योंकि 'नमस्यतिदेवान्' में इस परिभाषा का भाष्यकार ने उपन्यास किया है वह विरुद्ध होगा और सहयुक्ते सूत्र के भाष्य का भी विरोध है ।

अलमितीति । अलमित्यनेन पर्याप्त्यर्थाना ग्रहणे व्याख्यानादित्यर्थः । तत्र ज्ञापकमप्याह—**तस्मै प्रेति** । षठ्या अपि साधुत्वं बीजं– **स एषामिति** ।

अलमितीति । अलम् से पर्याप्त्यर्थों का ग्रहण करना अलंकारादि अर्थों का ग्रहण नहीं करना इसमें व्याख्यान ही शरण है । उसमें ज्ञापक भी देते हैं । 'तस्मैप्रेति । षष्ठी के साधुत्व में बीज स एषाम् है ।

आशीर्विवक्षायामिति । (४) आशीर्विषयत्वविवक्षायामित्यर्थः । स्व-स्त्यर्थः कुशलं मङ्गलं वा । स्वस्तियोगे चतुर्थ्या अवकाशः—स्वस्तिजाल्मायास्तीति तत्त्वकथनम् । कुशलार्थैराशिषीत्यस्यावकाशः स्वस्तिभिन्नाः कुशलार्थाः । स्वस्ति-शब्दो (५) ऽनव्ययमपि ।

प्रतिगृह्णामि ते धेनुं कुटुम्बार्थे विशेषतः ।
स्वस्तिर्भवतु मे नित्यं सुखञ्चानुत्तमं तथा ॥
इति भविष्योत्तरे प्रयोगात् ।

आशीर्विवक्षायामिति । आशीर्विषय की विवक्षा में अर्थ करना । इससे स्वस्ति अर्थ का ग्रहण नहीं होगा । स्वस्ति का अर्थ कुशल या मंगल है, स्वस्ति के योग में चतुर्थी का सावकाश यथार्थ कथन में स्वस्ति जाल्माया में है । कुशलार्थ से आशिष का अवकाश स्वस्ति से भिन्नकुशलार्थ है । स्वस्तिशब्द अव्यय से भिन्न भी है । क्योंकि भाष्योत्तर में प्रतिग्रह्णामि ते धेनुं कुटुम्बार्थे विशेषतः । स्वस्ति-र्भवतु ते नित्यं सुखञ्चानुत्तमं तथा ।

मन्यकर्मणि (२।३।१७) । **तिरस्कार इति** । अनादरो न आद-

राभावमात्रम्, अपि तु नञोऽधर्मादाविव प्रतिपक्षवाचित्वात्तिरस्कार इति भावः। तत्रानादार इति मन्यकर्मविशेषणं तद्द्योतकं यत्कर्मेत्यर्थः। तेन युष्मच्छब्दाच्चतुर्थी न । तिरस्कारश्च व्याख्यानादपकृष्टनिरूपितोपमेयत्वस्याप्य-भावरूप उपमेयेऽत्र गृह्यते न त्वपकृष्टसादृश्यरूपः । तत्प्रतीतिञ्च नञसमभिव्या-हारे एव। तृणतुल्यमपि न मन्ये इत्यर्थः । 'तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽपि' इत्यादौ नञोऽध्याहारः, तदाह-**न त्वां तृणमिति** । कर्माऽत्र चतुर्थ्यर्थः। **श्य-नेति** । न तु यका, व्याख्यानादिति भावः। श्यंस्तूपलक्षणम् । तेन लिडादावपि भवति। तत् ध्वनयन्न-**तानादिकयोगे नेति** । **भाष्ये** येषु प्राणिषु नेष्-यते ते नावादयो भविष्यन्ति येष्विति बहुवचनेन वृत्त्युदाहरणबलेन चैष्वेवानिष्-टनिर्णय इति भावः ।

मन्यकर्मणि । तिरस्कारइति । अनादरशब्द केवल आदराभावमात्र का बाधक नहीं है। अधर्म में जिसप्रकार नञ् प्रतिपक्ष वाची है उसी प्रकार यहाँ तिरस्कार अर्थ हैं वहाँ अनादर मन्य के कर्मका विशेषण हैं उसका द्योतक जो कर्म अर्थ है इस लिये युष्मद् शब्द से चतुर्थी नहीं होती है यहाँ तिरस्कार व्याख्यान से अपकृष्ट वाले उपमेयत्व का भी अभाव रूप ही है। उपमेय में गृहीत होता है। अपकृष्ट के सादृश्य रूप का ग्रहण नहीं है उस अर्थ की प्रतीति नञ् के समीप में होती है तिनका के समान भी नहीं समझता हूँ । तृणायमत्वारघुनन्दोपि। में नञ् का आध्याहार करना। कहा भी है -नत्वां तृणमिति। यहाँ चतुर्थी का का अर्थ कर्म है। श्यनेति। यक का नही है इसमें व्याख्यान ही प्रमाण है। श्यन-उपलक्षण है इससे लिअदि में होता है इसी को स्पष्ट करते हैं तनादिगुण वाली के योग में प्रवृत्ति नही होती है। नौकाकेति। भाष्य में कहा है कि जिनप्राणियों में इष्ट नहीं है वे नावादि होंगे। येषुइस बहुवचन से और वृत्ति के उदाहरण के बल से अनिष्ट निर्णय है।

गत्यर्थकर्म (२।३।१२) कर्मात्रापि चतुर्थ्यर्थः। गत्यर्थेति किम्? ओदनं पचति। कर्मणीति किम्? अश्वेन गच्छति। **चेष्टायां किमिति** । धात्वर्थस्य क्रियारूपत्वात् प्रश्नः। शरीरक्रियाया एव ग्रहणमित्युत्तरम्। **पन्थानमिति** । अध्वशब्दोऽर्थपरो व्याख्यानादिति भावः। **अधिष्ठित इति** । शब्दप्रयोगसम-कालिकगन्तृव्यापारजन्यफलाश्रय इत्यर्थः। अध्वपदेन गन्तृव्याप्तोऽर्थ उच्यते, तेन गन्तृयुक्तस्त्रियां 'स्त्रियं गच्छति' इत्यादौ न। स्पष्टञ्चेदं **भाष्ये उत्पथादिति** उत्पथं सन्त्यज्येत्यर्थः। **इष्यत इति** । न त्वाक्रान्त इत्यर्थः। **उत्पथेनेति** । गन्तुमशक्त इति शेषः

॥ इति चतुर्थी ॥

गत्यर्थ कर्म । यहाँ भी चतुर्थी का अर्थ कर्म है गत्यर्थ के अभाव में ओदनं पचति में दोष है । कर्मणि के अभाव में अश्वेन गच्छति मे दोष है। चेष्टायां के अभाव में धात्वर्थ को क्रियारूप मानकर प्रश्न है । यहाँ शरीर की क्रिया का ग्रहण है यह अन्तर है पन्थानमिति । व्याख्यान से अध्वशब्द अर्थ परक है अधि–तिष्ठति इति । शब्द प्रयोग के समकाल में ही जाने वाले के व्यापार से उत्पन्न फल का आश्रय यह अर्थ है । अध्वशब्द सेगन्ता से व्याप्त अर्थ कहा जाता है। इस से स्त्रियं गच्छति प्रयोग नहीं होता हैं वह भी गन्ता से युक्त है। यह भाष्य में स्पष्ट है उत्पथाक्षिति । उत्पथ को छोड़ाकर अर्थ है इष्येतेरति आक्रान्त नहीं है। उत्पथेनेति। जाने में असमर्थ है यह इसका शेष है।

॥ इति चतुर्थी ॥

(१) **ध्रुवमपायेऽपा**(१।४।२४) ।। ध्रुव स्थित । अपायो विभाग-जनको व्यापार, तदनाश्रयमिति यावत् । विभागश्च न वास्तवसम्बन्ध पूर्वको वास्तव एव, किन्तु बुद्धिपरिकल्पित सम्बन्धपूर्वको बुद्धिकल्पित्तोऽपि । 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः, इत्यादौ बुद्धिकल्पितापायाश्रयेणैव भाष्ये पञ्चमीसाधनात् । कर्तृवारणाय ध्रुवमिति । अन्यथा कर्तृसञ्ज्ञाया अयमपवादः स्तात् । अपायविषये यत् कारकं तद्रूपक्रियाजनकं तदपादानमि-त्यर्थसम्भवात् । कर्तृ संज्ञा तु पचत्यादियोगे चरितार्था । हरिरप्याह—

अपाये यदुदासीनञ्चलं वा यदि वाऽचलम् ।
ध्रुवमेवातदावेशात्तदपादानमुच्यते ।। इति ।।

स्पष्टश्चेदं **कैयटादौ । भाष्यनुसारिणस्तु** एवं हि 'त्रस्तादश्वात्पतितः'—'धावतः पतितः इत्यादौ ध्रुवत्याभावादपादानत्वं न स्यादित्याशङ्क्य 'अध्रौव्यस्थाविवक्षितत्वमत्र, यतः सतोऽप्यविवक्षा भवति' इति समाहित भाष्ये, तदसङ्गतं स्यात् । त्वदुक्ताध्रुवत्वस्य पतधात्वर्थगपयाराश्रयत्वस्यात्रासत्वेन सतोऽध्रौव्यस्याविवक्षे त्यस्यासङ्गतेः । सिद्धान्तेऽपि त्वदुक्तध्रुवपदार्थकथनमेवोचितमिति तदसङ्गतिश्च । लोकसिद्धातिरिक्तार्थे ध्रुवपदस्य शक्तिकल्पने गौरवश्च । अतदावेशदित्यस्य हरिकारिकायां तदावेशविवक्षणादित्यर्थः । (१) तस्मादपाये गतिविशेषे सति यद् ध्रुव (२) मवधिभावोपगमाश्जयत्वे सति (३) तदतिरिक्तस्यावपधित्वोहयोगिव्यापार—स्यानाश्रयं तदपादानमिति सूत्रार्थः । त्रासादेरवधित्वोपयोगित्वाश्रयणेन शङ्का, 'वृक्षात्पर्णम्' इत्यादौ तस्यासत्त्वान्न तदपयोगित्वं तस्य, प्रकृते विद्यमानस्यापि तस्याविवक्षितत्वान्न तदुपयोगित्वं तस्येस्युत्तरम् । ।ध्रुवमपाये' (१।४।२४) इति तु 'वृक्षस्य पर्ण पतति, इत्यादौ वस्तुतस्तस्य पर्णद्वारा पातजनकत्वात्प्राप्तापादानत्वावरणाय । एवञ्चापाये इति कारके इत्यस्य क्रियाजनकत्वेन विवक्षिते इत्यर्थे तात्पर्यग्राहकं बोद्धयम् । ध्रुवग्रहणन्तु कारकान्तराणामिवापादानस्यावधिभावोपगमातिरिक्तव्यापाराभावबोधनाय (४) इत्याहुः ।

ध्रुवमपायेऽपा । ध्रुव का अर्थ स्थिर है, विभाग के जनक व्यापार को अपाय कहते हैं । उसका जो आश्रय न हो । विभाग वास्तविक सम्बन्धपूर्वक वास्तविक ही हो यह नियम नहीं है किन्तु बुद्धि से कल्पित सम्बन्ध पूर्वक बुद्धि कल्पित भी है । बुद्धिकल्पित मानने से ही "माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः" (मथुरा के मनुष्य पटना वालों से धनी हैं । यहाँ पंचमी भाष्य में सिद्धकी हैं कर्तृ संज्ञा को वारण के लिये ध्रुवम् कहा है । नहीं तो यह कर्तृ संज्ञा की अपवाद हो जाती । अपाय के विषय में जो वारण तद्रूप क्रिया का जनक अपादान हो यह अर्थ सम्भव था । कर्तृसंज्ञा तो पचत् आदि के योग में चरितार्थ है । इसलिये वह

बाधक नहीं हो सकती है। हरि ने भी कहा है—

अपाये इत्यादि। अपाये में जो उदासीन है वह चल अथवा अचल हो अर्थ की अविवक्षा होने से वह ध्रुव ही है। अपादान कहते हैं। भाष्यमें कहा है कि गति वालों में अपादान संज्ञा नहीं होगी क्योंकि वे अध्रौव्य हैं। उसके उत्तर में कहा कि अध्रौव्य की अविवक्षा है, यह विषय कैयट आदि में स्पष्ट है। भाष्य का अनुकरण करने वालों का मत है कि इस प्रकार मानने पर 'त्रस्तादश्वात्पतितः' 'धावतः पतितः' इत्यादिस्थल में ध्रुवत्व (निश्चल) के न होने से अपादान संज्ञा नहीं होगी। ऐसी आशंकाकर उत्तर में कहा कि यहाँ अध्रौव्य की अविवक्षा है क्योंकि विद्यमान की भी अविवक्षा होती है यह भाष्य का समाधान असंगत हो जायेगा। आपका अध्रुवत्व पत धातुत्व के व्यापार आश्रयत्व के यहाँ न होने से विद्यमान भी अध्रौव्य की असंगति होगी। और सिद्धान्त में आप के कहे ध्रुवपदार्थ का कथन ही उचित है यह असंगत होगा। और लोक में प्रसिद्ध अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में ध्रुव पदकी शक्तिकल्पना करने में गौरव भी है। अतदावेशात् का हारिकारिका में उसके आवेश की अविवक्षा अर्थ किया है। इसलिये अब इसप्रकार से अर्थ करते है। अपाय अर्थात् गति विशेष होने पर जो ध्रुव अर्थात् अवधिभाव के उपगम का आश्रय होने पर (अर्थात् अवधित्वेन विवक्षित होने पर) उससे अतिरिक्त अवधित्व के उपयोगी व्यापार का जो आश्रय न हो वह अपादान है यह सूत्र का अर्थ हैं। त्रासादि को अवधित्व के उपयोगित्व के आश्रयण करने पर शंका 'वृक्षात् पर्ण' पतति में उसके न होने से उसकी उपयोगिता नहीं है प्रकृति उसके विद्यमान होने पर उसकी अबिवक्षा से उसकी उपयोगिता नहीं है यह उत्तर है। ध्रुवमपाये के कथन से वृक्षस्यपर्णम् पतति इत्यादि में वास्तविक में पर्ण के द्वारा पात जनक होने पर भी प्राप्त अपादान संज्ञा के कारण के लिये है। इसलिये अपाये का कारके का क्रियाजनकत्वेन विवक्षिते अर्थ में तात्पर्य ग्राहक है। ध्रुवग्रहण तो अन्यकारको की तरह अपादान की अवधि भाव के उपगम से अतिरिक्त व्यापार अभाव के ज्ञान के लिये है अतएव सौकर्य विवक्षा में अश्वः पतति प्रयोग नहीं होता है।

अपादानत्वशक्तिश्च प्रकृतधात्वर्थविभागाश्रयत्वसमानाधिकरणेति अपादानसमभिव्याहारे विभागोऽपि धात्वर्थ इति बोद्धव्यम्। एवञ्च 'वृक्षात्पतति' इत्यादौ तदपादानकविभागपूर्वकः संयोगः पर्णवृत्तिरिति बोधः। 'वृक्षाद् भूमिं पतति' इत्यादौ वृक्षापादनकविभागपूर्वकसंयोगानुकूलो व्यापार इति बोधः 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः' इत्यादौ मेषपदोपात्तयोरेव क्रियाश्रयणात्कर्तृत्वं परस्परपदोपात्तयोरेव विभागाश्रयत्वादपादानत्वम्। मेषदोपात्ते तद्विवक्षणात् प्रयोगानुसारित्वाद्वि

वक्षयाः [विभागपूर्वकं पृष्ठतो गमनमप्रसारणम् । 'आत्मानमात्मना' इत्यादावन्तःकरणाद्युपाधिकृतभेदवत् शब्दरूपोपाधिकृतभेदाग्रहणे मानाभावात् । शब्दालिङ्गितार्थभानस्यैव सत्त्वाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

अपादानत्व शक्ति प्रकृतिधात्वर्थ जो विभाग उसका जो आश्रय है उसके अधिकार में रहना अपादान के समीप में विभाग भी धात्वर्थ है । इस प्रकार से वृक्षात् पतति इत्यादि में वृक्ष अपादान वाला विभाग पूर्वक संयोगानुकूल व्यापार यह बोध है । परस्परस्मान्मेषापसरतः इत्यदि में कियाश्रय होने से उपात्तयमेष की ही कर्तृ संज्ञा होती है। परस्पर पद उपात्त होने से विभागाश्रय होने से उसकी अपादान संज्ञा होती है । मेषपद से उपात्त में उसकी आत्मना में अन्त्यकरणादि उपाधि के भेद में दो का बोध जिस प्रकार होता है उसी प्रकार शब्दरूपोपाधिकृत भेद कार्य करना । उसके ग्रहण न करने में कोई प्रमाण नहीं है और शब्द से आलिंगित अर्थ का भान है ।

यत्त्वपसरत इति सृधातुना गतिद्वयस्याप्युपादानादेकनिष्ठाङ्गतिं प्रति इतरस्यापादानत्वमविरुद्धमिति तन्न । वस्तुतस्तन्निष्ठव्यापारयोर्भेदेऽपि सृधातुना निवृत्तभेदस्येवापायस्योपादानादुभयोरपि तत्क्रियाश्रयत्वेन परत्वात्कर्तृत्वापत्तेः अत एवैकशेषसूत्रे भाष्ये उक्तं 'न वं तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोज-

यन्ति क्रियाया एकत्वात्' इति । 'धनुषा विद्ध्यति' इत्यत्र निःसरच्छरजन्यवेधार्थत्वाद्ध्यधेरपादानत्वकरणत्वोभयप्राप्तौ परत्वात् करणत्वं बोद्ध्यम् ।

किसी का कथन है कि अपसरत में सृ धातु से दोनों गतियों के उपादान होने से एक (मेष) में विद्यमान गति के प्रति दूसरे को भी अपादान होना विरुद्ध नहीं है परन्तु यह कथन उचित नहीं है – क्योंकि वास्तविक में उनमें रहने वाले व्यापारों का भेद होने पर भी सृ धातु से भेद रहित अपाय के अपादान होने से दोनों की ही उस क्रिया के आश्रय होने पर कर्तृसंज्ञा हो जायेगी। इसीलिये एक शेष सूत्र के भाष्य में कहा है कि तिङ्न्तो का एक शेष नहीं होता है क्योंकि क्रिया एक है। धनुषा विद्ध्यति में निकलते बाण से उत्पन्न बोधार्थक के योग में अपादान तथा तथा करण संज्ञा हो जाती है।

ग्रामादायातीति । आयातेर्विभागपूर्वकोत्तरसंयोगानुकूलो व्यापारोऽर्थः । 'वृक्षं त्यजति' इत्यादौ व्यापारव्यधिकरणविभागस्यैव धात्वर्थत्वेन कर्मसञ्ज्ञयाऽपादानत्वस्य बाधः । स्पन्देस्तु न विभागोऽर्थ इति 'वृक्षे स्पन्दते' इत्येव । चलतेस्त्वासनाच्चलित इति प्रयोगादस्त्येव विभागार्थत्वम् । 'सार्थाद्धीयते' इत्यत्र सार्थस्य धात्वर्थप्रधानव्यापाराश्रयत्वेऽपि, 'अपादाने चाहीयरुहोः' (५।४।४५) इति ज्ञापकात्कर्मप्रत्ययान्तहीधातुप्रयोगेऽपादानत्वम् । कर्मसञ्ज्ञायाञ्च कर्तृपदं स्वतन्त्रोपलक्षणमिति कर्मणि लकारः । सार्थेन त्यज्यते देवदत्त इत्यर्थः ।

ग्रामादायातीति । आङ्पूर्वक या धातु का विभागपूर्वक उत्तरदेश संयोगानुकूल व्यापार अर्थ है। तात्पर्य यह है कि पूर्व देश के विभाग के, पश्चात् जिस स्थान पर जाना है उसका संयोग होगा। 'वृक्षं त्यजति' में व्यापार से अधिकरण विभाग के धात्वर्थ होने से कर्मसंज्ञा अपादान संज्ञा का बोध करती है। स्पन्द् धातु का विभाग अर्थ नहीं है। इसलिये वृक्षे स्पन्दते ही प्रयोग होता है पंचमी नहीं होती है। होने पर भी 'अपादाने चाहीयरुहोः' के ज्ञापक से कर्म प्रत्ययान्त भी धातु ने प्रयोग में अपादान संज्ञा हो जाती है। कर्म संज्ञा में कर्तृ पद स्वतन्त्र का उपलक्षण होने से कर्म में लकार होता है। देवदत्त साथी से अलग होता है।

धावत इति । क्रियाविशिष्टस्याप्यश्वस्य प्रकृतधातूपात्तगत्यनावेशात्' धावनस्याविवक्षणाद्वा ध्रुवत्वं बोद्ध्यम् ।

जुगुप्सेत्यादि । (१) जुगुप्सादीनां यद्विषयकत्वेन विवक्षा तदपादानम् । तस्यैव विषयस्य क्रियाजनकत्वरूपकारकत्वेनाविवक्षायां सम्बन्धित्वेन च विवक्षायां 'पापस्य जुगुप्सते' इति षष्ठी भवत्येव सत्यभिधाने । एवमुत्तरसूत्रेष्वपि बोद्ध्यम् । एषां धातूनां स्वार्थपूर्वकबौद्धविश्लेषजनकनिवृत्तिलक्षणया सूत्रेणैव सिद्धयेदं वार्त्तिकमुत्तरसूत्राणि च प्रत्याख्येयानीति (१) स्पष्टं भाष्ये ।

विभागपूर्वक संयोगपर्ण में रहता है। यह बोध जानना वृक्षात् भूमिं पतति में वृक्ष अपादान वाला विभागपूर्वक संयोगानुकूल व्यापार यह बोध है। परस्पर-स्मान्मेषावपसरतः इत्यादि में क्रियाश्रयहोने से उपात्तमेष की ही कर्तृसंज्ञा होती है। परस्पर पद उपात्त होने से विभागाश्रय होने से उसकी अपादान संज्ञा होती है। मेषपद से उपात्त में उसकी आत्मानं आत्मना में अन्त्यकरणादि उपाधि के भेद में दो का बोध जिस प्रकार होता है उसीप्रकार शब्दरूपोपाधिकृत भेद से कार्यकरना। उसके ग्रहण न करने में कोई प्रमाण नहीं है और शब्द से आलिंगित अर्थ का भान है।

यत्त्वपसरत इति सृधातुना गतिद्वयस्याप्युपादानादेकनिष्ठाङ्गतिं प्रति इतरस्यापादानत्वमविरुद्धमिति, तन्न। वस्तुतस्तन्निष्ठव्यापारयोर्भेदेऽपि सृधातुना निवृत्तभेदस्यैवापायस्योपादानादुभयोरपि तत्क्रियाश्रयत्वेन परत्वात्कर्तृत्वापत्तेः। अत एवैकशेषसूत्रे भाष्ये उक्तं 'न वै तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति क्रियाया एकत्वात्' इति। 'धनुषा विद्ध्यति' इत्यत्र निःसरच्छरजन्यवेधार्थत्वाव्द्यधेरपादानत्वकरणत्वोभयप्राप्तौ परत्वात् करणत्वं बोद्ध्यम्।

किसी का कथन है कि अपसरत में सृधातु से दोनों गतियों के उपादान होने से एक (मेष) में विद्यमान गति के प्रति दूसरों को भी अपादान होना विरुद्ध नहीं है परन्तु यह कथन उचित नहीं है-क्योंकि वास्तविक में उनमें रहने वाले व्यापारों का भेद होने पर भी सृधातु से भेद रहित अपाय के उपादान होने से दोनो की ही उस क्रिया के आश्रय होने पर कर्तृ संज्ञा हो जायेगी। इसीलिये एक शेष सूत्र के भाष्य में कहा है कि तिङन्तों का एक शेष नहीं होता है क्योंकि क्रिया एक है। धनुषा विद्ध्यति में निकलतेबाण से उत्पन्न बोधार्थक के योग में अपादान तथा करण संज्ञा दोनों की प्राप्ति होने पर होने से धनुष में कारण संज्ञा हो जाती है।

ग्रामादायातीति। आयातेर्विभागपूर्वकोत्तारसंयोगानुकूलो व्यापारोऽर्थः। 'वृक्षं त्यजति' इत्यादौ व्यापारव्यधिकरण-विभागस्यैव धात्वर्थत्वेन कर्मसञ्ज्ञयाऽपादानत्वस्य बाधः। स्पन्देस्तु न विभागोऽर्थ इति 'वृक्षे स्पन्दते' इत्येव। चलतेस्त्वासनाच्चलित इति प्रयोगादस्त्येव विभागार्थत्वम्। 'सार्थाद्धीयते' इत्यत्र सार्थस्य धात्वर्थप्रधानव्यापाराश्रयत्वेऽपि 'अपादानेचाहीयरुहोः (५।४।४५) इति ज्ञापकात्कर्मप्रत्ययान्तहीधातुप्रयोगे-

ऽपादानत्वम् । कर्मसञ्ज्ञायामपि कर्तृपदं स्वतन्त्रोपलक्षणमिति कर्मणि लकारः । सार्थेन त्यज्यते देवदत्त इत्यर्थः ।

ग्रामादायातीति । आङ्पूर्वक या धातु का विभागपूर्वक उत्तरदेश संयोगानुकूल व्यापार अर्थ है । तात्पर्य यह है कि पूर्वदेश के विभाग के पश्चात् जिस स्थान पर जाना है उसका संयोग होगा । 'वृक्षं त्यजति' में व्यापार से व्यधिकरण विभाग के धात्वर्थ होने से कर्मसंज्ञा अपादान संज्ञा का बाध करती है । स्पन्दधातु का विभाग अर्थ नहीं है । इसलिये वृक्षे स्पन्दते ही प्रयोग होता है । पंचमी नहीं होती है ।

होने पर भी अपादाने 'चाहीयरुहोः' के ज्ञापक से कर्म प्रत्ययान्त भी धातु के प्रयोग में अपादान संज्ञा हो जाती है । कर्मसंज्ञा में कर्तृ पद स्वतन्त्र का उपलक्षण होने से कर्म में लकार होता है । देवदत्त साथी से अलग होता है ।

धावत इति । क्रियाविशिष्टस्याप्यश्वस्य प्रकृतधातूपात्तागत्यनावेशात्, धावनस्याविवक्षणाद्वा ध्रुवत्वं बोद्धव्यम् ।

जुगुप्सेत्यादि । (१) जुगुप्सादीनां यद्विषयकत्वेन विवक्षा तदपादानम् । तस्यैव विषयस्य क्रियाजनकत्वरूपकारकत्वेनाविवक्षायां सम्बन्धित्वेन च विवक्षायां 'पापस्य जुगुप्सते' इति षष्ठी भवत्येव सत्यभिधाने । एवमुत्तरसूत्रेष्वपि बोद्धव्यम् । एषां धातूनां स्वार्थपूर्वकबौद्धविश्लेषजनकनिवृत्तिलक्षणया सूत्रेणैव सिद्धयेदं वार्त्तिकमुत्तरसूत्राणि च प्रत्याख्येयानीति (१) स्पष्टं भाष्ये ।

धावति इति । धावनक्रिया से युक्त भी अश्वकीप्रकृति धातु से उपात्तगत की अविवक्षा से अथवा धावन की अविवक्षा से ध्रुवत्व है ।

जुगुप्सेत्यादि । अनिष्ट साधन अर्थ ही जुगुप्सा का अर्थ है । पंचमी का अर्थ विषयता है । इस प्रकार पापाज्जुगुप्सते का पाप विषयक अनिष्ट साधन अर्थ होता है ।

जुगुप्सादियों की जिस विषय को लेकर विवक्षा होगी उसकी अपादान संज्ञा होती है । उसी विषय की क्रियाजनकत्वरूप कारक से अविवक्षा में और सम्बन्ध की विवक्षा में, इच्छा होने पर पापस्य जुगुप्सते यह षष्ठी होगी । इसे उत्तरसूत्रों में जानना । जिनधातुओं की स्वार्थपूर्वक बोध (कल्पित) विभाग की जनक निवृत्ति में लक्षणा करने पर अपादान संज्ञा करने वाले सूत्र से ही सिद्धि हो जायेगी । यह वार्तिक तथा उत्तर सूत्रों की कोई आवश्यकता नहीं है ।

(२) भयं भी (३) स्त्राणन्त्रास्तदाह-भयार्थानामिति। हेतुतृतीयाऽपवादोऽयम् । अरण्य इति । भयाद्यर्थानां योगे कारकमपादानमित्यर्थेऽविशेषात्सर्वसंज्ञापवादः स्यादिति भावः ॥

भय का अर्थ भी है त्राणत्रास इसलिये लिखते हैं भयार्थानामिति । यह हेतु तृतीया का अपवाद है । अरण्येइति । भयार्थक धातुओं के योग में कारक अपादान संज्ञक होता है । इस प्रकार के अर्थ करने पर सामान्य रूप से सब संज्ञाओं का अपवाद हो जायेगा ।

(४) पराजे (१।४।२६) । असोढो ग्लानिविषयः । एवञ्च पराजेरकर्मकत्वे उदाहरणत्वम्, तदाह-ग्लायतीत्यर्थ इति । अभिभवतीति । तिरस्कारानुकूलो व्यपारो धात्वर्थ इति भावः ।

पराजे । असोढा का अर्थ ग्लानि का विषय है । इस प्रकार पराजि का अकर्मक में उदाहरण है । वह ग्लायति से स्पष्ट है । अभिभवतीति । तिरस्कार जनक व्यापार ही धात्वर्थ है ।

प्रवृत्तिविघात इति (५) । भक्षणसंयोगादिजनकव्यापाराभावानुकूलो व्यापार इत्यर्थः । ईप्सित इति । वारणार्थधात्वर्थफलाश्रय इत्यर्थः । उदाहरणे च तद्धात्वर्थव्यापारजन्यसंयोगादिरूपफलाश्रयत्वाद्यवानामपादानत्वम् । ईप्सित इत्यनेन प्रधानाप्रधानान्यतरव्यपाराश्रयमात्रस्याक्षेपः, कर्मलक्षणे तु तमब्ग्रहणात् (६) प्रकृतधात्वर्थप्रधानभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयस्य ग्रहणमिति भावः

प्रवृत्तिविघात इति 'यवेभ्यो गां वारयति' में (जो खेत से गाय को हटाता है) भक्षण जनक व्यापार (खाना) उसके अभाव का जनक व्यापार वहाँ से हटाना है, कूपादन्धं वारयति में संयोग जनक व्यापाराभावानुकूलो अर्थ होता है । अर्थात् यवेभ्यः में भक्षण और कूपादन्धंवारयति में संयोग जानना । अर्थात् कूप् से संयोग की निवृत्ति करता है । ईप्सितइति । वारणार्थकधातु का अर्थ जो फल उसका आश्रय जो हो वह ईप्सित है । उदाहरण में यवेभ्यो गां वारयति में उस धातु के अर्थ व्यापार से उत्पन्नसंयोगरूप फल के आश्रय होने से यवों की अपादानसंज्ञा होती है । ईप्सित से प्रधान या अप्रधान जो व्यापार उसके आश्रयमात्र का आक्षेप होता है । कर्म के लक्षण में तमप् ग्रहण से प्रकृति धात्वर्थ का प्रधान जो व्यापार उससे उत्पन्न जो प्रकृतिधात्वर्थ फल उसके आश्रय का ग्रहण है ।

अन्तर्धौ (१।४।२८) ।अन्तर्द्धिरन्यकर्तृकस्वकर्मकदर्शनाभावानुकूलो व्यवहितदेशस्थितिरूपस्तद्घटकं यत्कर्तृकदर्शनाभावमिच्छति तदपादानमित्यर्थस्तत्फलितमाह— व्यवधाने सतीति । येनेत्यत्र 'कर्तृकर्मणोः' (२।३।६५) इति षष्ठी न, सौत्रत्वात् । आत्मन इति प्रत्यासत्तिलब्धम् । 'मातुर्निलीयते' इत्यादावाक्षेपलभ्येच्छा बोद्ध्या । चोरानिति । चोरकर्मकदर्शनेच्छाऽभाव इति शाब्दोऽर्थः । स च चोरकर्तृकस्वदर्शनाभावायेति प्राप्तिः । इच्छामात्रस्याक्षेपलभ्यत्वे इव विशिष्टस्याक्षेपलभ्यत्वेपि स्यादिति भावः । प्रकृते नान्तर्द्धिरिति न दोषः । येनेत्यस्याभावे हि स्वकर्मकदर्शनाभावं य इच्छति इत्यर्थे कर्तुरेव स्यादतस्तत् । इच्छतिग्रहणं किमिति । अन्तर्धौ सति यत्कर्तृकदर्शनस्याभावस्तदपादानमित्यर्थोऽस्त्विति भावः । सत्यपीति । अदर्शनेच्छया तदनुकूलव्यापारकरणे दैववशाद्दर्शने सत्यपीत्यर्थः । अन्यथा यत्र दर्शनाभाव एव तत्रैव स्यादिति भावः ।

अन्तर्धौ । अन्तर्धि का अर्थ है अन्य कर्ता वाला जो स्वकर्मकदर्शन के अभाव का जनक व्यवधान वाले देश में स्थिति वाला उसमें स्थिति जिसके दर्शन का अभाव चाहता है उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसा कि लिखा है–व्यवधाने सतीति । येन सौत्र होने से "कर्तृकर्मणोः" से षष्ठी नहीं होती है प्रत्यासत्ति से आत्मनः का लाभ होता है । मातुर्निलीयते इत्यादि में आक्षेप से प्राप्त इच्छा को जानना । चोरानिति । चोर कर्म वाले दर्शन की इच्छा का अभाव यह शब्दार्थ है । वह चोर कर्ता वाले अपने दर्शन के अभाव के लिये है इसलिये प्राप्ति है । इच्छा मात्र के आक्षेप से प्राप्त होने पर जिस प्रकार होती है उसी तरह चोर कर्तृक इत्यादि विशिष्ट के आक्षेप से आने पर भी हो जायेगी । प्रकृति में अन्तर्धि नहीं है इसलिये दोष नहीं है । येन के अभाव में अपने दर्शन के अभाव को जो चाहता है इसलिये येन कहा । इच्छति ग्रहण का फल है । अन्तर्धि के होने पर जिस कर्ता वाले का दर्शन का अभाव हो उसकी अपादान संज्ञा हो—इस अर्थ में सत्यपीति । अदर्शन की इच्छा से उसमें अनुकूल व्यापार करने पर दैव योग से दर्शन होने पर भी हो । अन्यथा जहाँ दर्शन का अभाव ही होता है वहाँ ही संज्ञा होती है ।

नियमेति । उपयोगशब्दस्य तत्रैव रूढेः । नियमो ब्रह्मचर्यादिः । नटस्येति । नटजन्यं श्रवणमिति बोधात् कारकत्वम् । नियमपूर्वकविद्यावक्तृत्वाभावान्नेत्युत्तरम् ।

नियमेति । उपयोग शब्द का रूप से वही अर्थ है । नियम का अर्थ ब्रह्मचर्यादि है । नटस्येति । नट से उत्पन्न श्रवन इस बोध से कारकत्व है । नियम पूर्वक विद्या के वक्ता न होने से पंचमी नहीं होती है ।

जनिक (१।४।३०) । प्रकृतिरुपादानकारणं, ब्रह्म च मायाशबलञ्जगदुपादानकारणम् । वृत्तौ हेतुपदमप्युपादानकारणपर–

मेवेति बोद्धयम् । (१) विभाषेत्येत्र सिद्धे इदमपादानत्वेन बोधनार्थम् । तत्र हि 'गुणेऽस्त्रियाम्' इति प्रायिकम्, बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेरिति (१) वार्त्तिकप्रयोगात् ।

जनिक । अपादान कारण को प्रकृति कहते हैं । माया से युक्त ब्रह्म संसार का अपादान कारण है । वृत्ति में हेतु पद भी उपादान कारणपरक ही है । 'विभाषा' से ही सिद्ध है । यह अपादानत्वसे बोध के लिये है वहाँ 'गुणेऽस्त्रियाम्' यह प्रायिक है, । बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः 'इस वार्तिक के प्रयोग से यह उणादयो बहुलम्' का वार्तिक ही इसका अर्थ यह है कि उणादियों में पढ़ी प्रकृतियों के कम होने से बालुका का आश्रय लिया है ।

(२) भुवः । (१।४।३१) । प्रभवनं प्रथमप्रकाशः प्रग्रहणात् । तदधिकरणमपादानमित्यर्थः । 'प्रभवो जलमूले स्यात् जन्महेतौ पराक्रमे । ज्ञानस्य चादिमस्थाने' इति विश्वः । प्रकाशत इत्यस्य योगे तु न, प्रथमप्रकाशार्थत्वाभावात् । तदाह–तत्र प्रकाशते इत्यर्थे इति ।

भुवः । प्र के ग्रहण से प्रथमप्रकाश को प्रभवन कहते हैं । उसके अधिकरण की अपादान संज्ञा होती है । 'प्रभव जल के मूल में' जल के हेतु में पराक्रम में और ज्ञान के आदिम स्थान में आता है यह विश्वकोश कहता है । प्रकाशते के योग में उक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि वहाँ प्रथम प्रकाशार्थत्व का अभाव है जैसा कि लिखा है कि वहाँ प्रकाशित होता है ।

ल्यब्लोप इति । ल्यबन्तशब्दाज्ञाने इत्यर्थः । कर्मणीति । प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तधात्वर्थस्येति भावः । प्रासादादिति । 'फलेभ्यो याति' इत्यत्रैव बोधप्रक्रिया । आजघ्ने त्रिषमत्रिलोचनस्य वक्षः' इत्यत्र कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठी । वक्ष इत्यस्य प्राप्येति शेषः । गम्यमानाऽपीति । विशिष्य तद्वाचकपदातुपात्ताऽपीत्यर्थः ।'कस्मात् 'त्वम्' इत्यादौ 'फलेभ्यो याति' इत्यत्रैव बोधप्रक्रिया ।

ल्यब्लोप इति । ल्यबन्त शब्द के ज्ञान न होने पर यह अर्थ है । कर्मणीति । प्रत्यासत्ति से ल्यबन्त धात्वर्थ का होना उचित है । प्रसादादिति । फलेभ्यो याति की तरह बोध प्रक्रिया जानना । 'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' के आगे प्राप्य का शेष है । गम्यमानाऽपीति । विशेष करके उसके वाचक पद के उपात्त न होने पर भी कस्मात्त्वम् में फलेभ्यो याति की तरह बोध करना ।

अन्येत्यर्थेति । तदर्थश्च भेदवान् । अत एव 'घटात् भिन्नः' इत्यादिसिद्धिः ।

अन्येत्यर्थेति । उसका अर्थ भेद वाला है । उक्तार्थ मानने से ही घटात् भिन्नः भी सिद्ध होता ।

परे तु 'ध्रुवम्' (१।४।२४) इति सूत्रे अपायशब्देन भेदस्यापि ग्रहणम् । 'पञ्चमी विभक्ते' (२।३।४२)इत्यत्र विभागार्थकविभक्तपदेन भेदस्य व्याख्यानात् । 'भिदिर् विदारणे' (धा० सू०) इत्यत्र भेदज्ञानविषयत्वमपि विदारणम् । एकत्वेन गृहीतस्य तथा बोधे बुद्धिविदारणस्य तत्रापि सत्त्वात् । अत एव ' घटात् भेदः' इति सिद्धं, तद्योगेऽप्यपादानत्वात् तस्यैव सम्बन्धत्वेन विवक्षायाङ्घटीयो भेद इत्यपि । अन्यशब्दार्थस्याक्रियात्वात् तद्योगे एतद्विधानम् । अत एव घटः पटो नेत्यादौ न पञ्चमी । नञो भेदवदर्थकत्वेऽपि अक्रियात्वात् । घटादेक इत्याद्यसाध्वेव । अत एवेतरग्रहणञ्चरितार्थम् । अत एव भाष्येऽर्थग्रहणं नोक्तमि (३) त्याहुः ।

यहाँ नागेश का मत इस प्रकार से है कि ध्रुव सूत्र में अपाय से भेद का भी ग्रहण है क्योंकि 'पंचमी विभक्ते' में विभागार्थक विभक्तिपद से भेद का भी व्याख्यान है। भिदिर विदारणे में विदारण का अर्थ भेदज्ञानविषयकत्व है ; एकत्वे से गृहीत का उस प्रकार के बोध में वुद्धिविदारण वहाँ हैं। अतएव घटात्भेदः में भी पंचमी होती है। भेद के योग में भी अपादान संज्ञा होती है। सम्बन्ध की विवक्षा करने पर घटीयो भेदः भी सिद्ध होता है। अन्य शब्द का अर्थ क्रिया से रहित होने के कारण उसके योग में इस सूत्र से पंचमी होती है। क्रिया के अभाव में घटः पटो न में पंचमी नहीं होती है। क्योंकि यद्यपि नञ् भेद वाले को कहता है तथापि क्रिया का अभाव है। घटादेकः इत्यादि प्रयोग असाधु है। अन्यार्थक न मानने से इतर— ग्रहण भी चरितार्थ है। इसी से भाष्यकार ने अर्थग्रहण का उल्लेख नहीं किया।

नागेश का खण्डन इस प्रकार से है। अन्यभाव प्रधान है अर्थात् अन्यत्वार्थक योग में पंचमी होती है। इससे घटाद्भेदः में पंचमी होती है। अन्यार्थक अन्य शब्द के समान लिङ्ग संख्या वाला ही गृहीत बोता है अतएव घटः पटो न में पंचमी नहीं होती है क्योंकि नञ् में लिङ्ग तथा संख्या का अन्वय नहीं है। इतर शब्द के दो अर्थ हैं—अन्य तथा नीच। नीच अर्थ में 'पंचमी विभक्तेः' से ही पंचमी हो जायेगी। इसलिये इतरग्रहण प्रपञ्चार्थ ही है।

आराद् दूरसमीपयोः । एतद्योगे 'दूरान्तिकार्थैः'(२।३।३४) इति प्राप्तम् ।नन्वयं देशवाची न दिक्शब्दः, अत आह— **दिशि दृष्ट इति** । शब्दग्रहणादिति भावः । ते च रूढ्या दिग्विशेष–वाचकाः पूर्वादय एव गृह्यन्ते, न ऐन्द्रीककुबादयो व्याख्यानात् । **अवयववाचीति** । तद्वाचिपूर्वादियोगेऽवयविवाचकान्नेत्यर्थः ।

ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वात् । अत एवास्मादयं पूर्वो भागः कायस्येति सिद्धम् । अवयवे पूर्वत्वम् अवयवान्तरापेक्षया प्रथम कालोत्पत्तिकत्वेन बोद्धयम् । **अञ्चूत्तरपदस्येति** । दिक्शब्दसाहचर्येण दिग्वाचकस्यैव ग्रहणं, तेन 'सध्र्यङ्' इत्याद्यर्थ तन्नेति भावः । **बाधितुमिति** । परत्वात् प्राप्तमित्यादिः । यदि तु 'षष्ठ्यतसर्थः (२।३।३०) इत्यत्र प्रत्ययग्रहणात्तस्य श्रूयमाणप्रत्यय एव प्रवृत्तिस्तदेदं माऽस्त्विति तत्त्वमिति भाष्ये स्पष्टम् । **दक्षिणा ग्रामादिति** । दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थे दक्षिणादाच्' (५।३।३६) 'आहि च दूरे' (५।३।३७) इत्याजाही । षष्ठ्यतसर्थेत्यस्यापवादः ।

आराद् का प्रयोग दूर तथा समीप अर्थ में आता है। इसके योग में दूरान्तिकार्थैः से प्राप्त था। यह देशवाची है, दिक् शब्द नहीं है। इस शंका का उत्तर कहते हैं—दिशिदृष्ट इति । यह अर्थ शब्द ग्रहण से प्राप्त है। वे रूढ से दिशा विशेष के वाचक पूर्वादि ही लिये जाते हैं—व्याख्यान से ऐन्द्रीय आदि का यौगिक होने से ग्रहण नहीं है। अवयववाचीति । उसके कहने वाले पूर्वादि के योग में अवयवी के वाचक से नहीं होता है क्योंकि ज्ञापक सजातीयापेक्ष होता है। इसी से अस्मादयं पूर्वोभागः कायस्य भी सिद्ध हुआ। अवयव में पूर्वत्व अन्य अवयव की अपेक्षा प्रथमकाल में उत्पत्ति होने से जानना। अञ्चूत्तरपदस्येति । दिक् शब्द के साहचर्य से उसको दिक्वाचक ही लेना। इससे सध्र्यङ् इत्यादि के लिये वह नहीं है। बाधितुमिति । पर होने से प्राप्त था। यदि षष्ठ्यतसर्थः में प्रत्ययग्रहण से उसकी श्रूयमाण प्रत्यय में ही प्रवृत्ति मानने पर तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है यह भाष्य में स्पष्ट है। दक्षिणाग्रामादिति । दक्षिणदिशा में इस अर्थ में 'दक्षिणादाच्' से 'आहि च दूरे' इनसे आच् आदिप्रत्यय होते हैं। षष्ठ्यतसर्थे का अपवाद है।

प्रभृतियोग इति प्रभृतियो इत्यर्थः । 'अपादाने पंचमी' (२।३।२८) इति सूत्रे 'यतश्चाध्वकालनिर्माणं ततः पञ्चमी, कार्तिक्या आग्रहायणी मासे' इति वार्त्तिकप्रत्याख्यानाय 'इदमत्र प्रयोक्तव्यं सन्न प्रयुज्यते कार्तिक्याः प्रभृत्याग्रहायणी मासे' इति भाष्येण 'प्रभृतिशब्दाभावेऽपि तदर्थसत्तामात्रेण पञ्चमी' इत्यर्थकेन 'प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी' इतिवचनसत्त्वस्य भगवता बोधितत्वात् । अन्यथा प्रभृतिपदाभावे पञ्चम्यर्थं बचनस्यावश्यकत्वेन तत्प्रत्याख्यानासङ्गतिरिति भावः । एवञ्च तदर्थकारभ्यशब्दयोगेऽपि पञ्चमी । यथा 'अवीचिमारभ्य मेरुपृष्ठपर्यन्तं भूलोको मेरुपृष्ठादारभ्य

ध्रुवपर्यन्तङ् ग्रहनक्षत्रतारागणचित्रितोऽन्तरिक्षलोकः' इति पातञ्जलभाष्यप्रयोगे। प्रभृतीत्यस्य चावधिमादायेत्यर्थः। आरभ्ये-त्यस्यैतदर्थकताऽपि । अवधौ पञ्चम्यन्तार्थस्याभेदेनान्वयः। तद्वि-शेषणत्वेऽपि न द्वितीया। प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमीति भाष्यकृद्बोधि-तवचनात् । आरभ्येत्यस्य गृहीत्वेत्यर्थेन अवीचिमारभ्य' इत्यादौ द्वितीया । वस्तुतोऽवधित्वं तस्य समभिव्याहृतपदार्थनिरूपितं गम्यमानक्रियापेक्ष मित्यपादानत्वादेवात्र पञ्चमी सिद्धा (१) कार्तिकीतोविभक्ते-अत एव कार्तिक्यवधिके आग्रहायणीघटिते मासे कार्तिकमादाय गते आग्रहायणीति बोधः । भवात्प्रभृति आरभ्य वेत्यत्र भवकालाद्विभक्ते-अतएव भवावधिके मरणान्ते काले-भवकालमादाय 'हरिः सेव्यः' इति बोधः । एवमन्यत्राप्यू-ह्यमित्यलं विस्तरेण ।

प्रभृतियोगइति । प्रभृति अर्थ वाले के योग में होना उचित है। इसमें प्रमाण इस प्रकार से है -अपादाने पंचमी' इस सूत्र में "यतश्चाध्वकालनिर्माणं ततः पंचमी, कार्तिक्याआग्रहायणी मासे" इस वार्तिक के प्रत्याख्यान के लिये जिसका यहाँ प्रयोग होना आवश्यक था उसका प्रयोग नहीं है। कार्तिक्या प्रभृति आग्रहायणी मासे इस भाष्य से प्रभृति शब्द के अभाव में भी उस अर्थ की सत्तामात्र से पंचमी-इस प्रकार के अर्थ वाले प्रभृत्यर्थ योगे पंचमी-इस प्रकार वचन की सत्ता भाष्य-कार ने दिखलाई है। नहीं तो प्रभृतिपद के अभाव में पंचमी करने के लिये वचन की आवश्यकता होने पर उसका प्रत्याख्यान संभव नहीं था। इस प्रकार से उसके अर्थ वाले आरम्भ शब्द के योग में पंचमी होती है। जैसे अवीचिमारभ्य-इत्यादि पातञ्जल भाष्य में की है। प्रभृति का अर्थ अवधि को लेकर है। आरभ्य का अर्थ भी वही है। अवधि में पंचम्यर्थ का अभेद से अन्वय है उसके विशेषण में भी द्विती-या नहीं होती है। क्योंकि प्रभृत्यर्थ योगे पंचमी यह भाष्यकार का संकेत है आर-भ्य का गृहीत्वा (ग्रहण कर) अर्थ करने पर अवीचिमारभ्य में द्वितीया होती है। वास्तविक में उसका अवधित्व समीपस्थ पदार्थ को मानकर है, गम्यमान क्रिया की अपेक्षा है इसलिये अपादान में ही पंचमी सिद्ध है। कार्तिक्या आग्रहायणीमासे का शब्द बोध इस प्रकार का है। कार्तिकीतो विभक्ते इससे कार्तिकी अवधि वाले आग्रहायणी से युक्त मास में कार्तिकी को लेकर गत होने पर आग्रहायणी यह बोध है। भवात्प्रभृति आरभ्य वा में भवकाल से विभक्ति होने पर अर्थ है। इस प्रकार से

अन्यत्र भी बोध कर लेना ।

ज्ञापकादिति । पञ्चम्यन्तेन समासविधानाज्ज्ञापकादित्यर्थः । अयं भावः– परस्परसाहचर्यात्तत्रापपरीवर्जनार्थौ कर्मप्रवचनीया–वेव । तद्योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२।३।१०) इति वचनात्, लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषयाऽपपरिनिमित्तकसुबन्तस्यैव ग्रहणाच्च पञ्चम्यैव सिद्धः–समासः–तत्साहचर्यादुक्तपरिभाषया चाञ्चूत्तर–पदेनापि तन्निमित्तपञ्चम्यैव सिद्धः समासः इति व्यर्थं तत् बहिः पञ्चम्यन्तेन समासविधानद्वारा तद्योगे पञ्चम्या अपि (२) ज्ञाप-नार्थमिति । इदम् 'अपपरिबहिः (२।१।१२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । पञ्चमीति । (३) सापीत्यर्थः । तेन करस्य करभो बहिरिति सिद्धम् ।

ज्ञापकादिति । अव्ययीभाव में पचम्यन्तु से समास का विधान किया है वही ज्ञापक है । एक दूसरे के साहचर्य से अपपरिवर्जनार्थक कर्मप्रवचनीय ही है । उनके योग में 'पञ्चम्यापाङ्परिभिः' वचन से लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से अपपरिनिमित्तक सुबन्त के ग्रहण से पंचमी से ही समास सिद्ध है, उसके साहचर्य से और लक्षणप्रति-पदोक्त परिभाषा से अञ्चूतर पद से भी तन्निमित्तक पंचमी से ही समास सिद्ध है फिर वह व्यर्थ होकर पंचम्यन्त बहि शब्द समास करने के साथ उसके योग में पंचमी भी होती है । इस ज्ञापन के लिये है यह'अपपरिबहि' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है । पञ्चमीति । ज्ञापक सिद्ध सार्वकालिक नहीं होता है– इसलिये वह भी होती है । करस्य करभो बहिः भी सिद्ध हुआ । अर्थात् करस्य में षष्ठी भी सिद्ध है ।

प्रतिनिधि (१।४।९२) यस्मादिति पञ्चम्यर्थः सम्बन्धः । अस्मादेव निपातनात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमी । प्रतिनिधिप्रतिदानशब्दौ कर्मणि-भावल्युडन्तौ । प्रतिनिधिप्रतिदाने यत्सम्बधिनी ततः कर्मप्रवचनीययुक्तात् पंचमीत्यर्थः । प्रतिनिधिः सदृशः प्रतिदानम् दत्ततुल्यमूल्यस्य वस्तुनः प्रत्यर्पणम् । कर्तृव–र्जितमिति । कर्तृसञ्ज्ञारहितमित्यर्थः । ऋणत्वं वस्तुसन्निमित्तं न तु तृतीयावाच्यकोटिनिविष्टम् । हेतुभूतमिति । तेन करणत्ववि–वक्षायान्तृतीयैवेति भावः ।

प्रतिनिधि । यस्मात् में पञ्चम्यर्थ सम्बन्ध है, इसी से निपातन से षष्ठी के अर्थ में पंचमी है। प्रतिनिधि में कर्म में कि प्रत्यय है। और प्रतिदान में भाव में ल्युट् प्रत्यय है। प्रतिनिधि प्रतिदान जिससे सम्बन्ध रखते हैं कर्मप्रवचनीय से युक्त उससे पंचमी होती है, प्रतिनिधि का अर्थ– सदृश है, प्रतिदान का अर्थ दी गई वस्तु के तुल्य मूल्य वाली वस्तु का देना है। कर्तृवर्जितमिति । अर्थात् कर्तृ संज्ञासे रहित। ऋणत्व वस्तु होते हुए निमित्त है तृतीया की वाच्यकोटि में प्रविष्ट नहीं है। हेतुभूतमिति इससे यह सिद्ध है कि कर- णत्व की विवक्षा में तृतीया ही होगी ।

विभाषा गुणे (२।३।२५) । योगविभागादिति । 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृश्यते:' इत्युक्तवार्तिकप्रयोगाद् गुणेऽस्त्रियाम्' इति प्रायिकमित्यन्ये । धूमादिति। (४)धूमपदं स्वज्ञानेऽग्निमत्पदं स्वज्ञानविषये लाक्षणिकं बोद्ध्यम् । समुच्चयार्थमिति । स्पष्टञ्चेदं भाष्ये । एतेनान्यतरस्य आमङ्गीकार इत्यर्थकं (१) पदद्वयमेतदित्यपास्तम् । विकल्पविषयेऽप्यर्थासङ्गतेश्च ।

विभाषागुणे । योगविभागादिति । 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः' इस पूर्वोक्तवार्तिक के प्रयोग से 'गुणेऽस्त्रियाम्' यह प्रायिक है। धूमादिति । धूमपद भी धूमज्ञान में लक्षणा है, अग्निमत् पद स्वज्ञानविषय में लाक्षणिक है। तात्पर्य यह है कि धूमवान् ही अग्निमद्ज्ञान में कारण है। समुच्चयार्थमिति । यह भाष्य में स्पष्ट है। इससे यह कथन व्यर्थ है कि एक का आम् अङ्गीकार अर्थ है। यह दो पद है। विकल्प के विषय में भी अर्थ की संगति नहीं होती। दो विषय के निर्धारण के लिए अन्यतर प्रकृति वाला षष्ठ्यन्त एक है। अङ्गीकारार्थक आम् द्वितीया है।

परे तु द्वितीयासमुच्चयो न फलम् । विना वातं विना वर्षमित्यादौ ऋतेशब्दयोग इव 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते, (का० वा०) इत्यनेन द्वितीयासिद्धेः । अतएव भाष्ये द्वितीयासमुच्चयो नोक्तः । पञ्चम्या अधिकारे द्वितीयाषष्ठीविषये (२) प्रतिषेधो वक्तव्यः, दक्षिणेन ग्रामं दक्षिणतो ग्रामस्य' इति प्रकृतसूत्रस्थभाष्येण 'एनपा द्वितीया' (२।३।३१) इति सूत्रे 'षष्ठ्यतसर्थ' (२।३।३०)इत्यतः प्रागिति च सूचितम् । अन्यथा (३)सौत्रक्रमत्यागे (४)न्यायविपरीतपूर्वनिपातकरणे च बीजानापत्तिः । (५)अतएव 'करणे च'(२।३।३३) इति सूत्रे द्वितीयासमुच्चयो (६) नेत्याहुः ।

अन्य का कथन है कि द्वितीया का समुच्चय फल नहीं है विना वातं विना वर्षम् इत्यादि में ऋते शब्द के योग की तरह 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' से द्वितीया की सिद्धि हो जायेगी। इसी से भाष्य में द्वितीया का समुच्चय नहीं कहा है। 'पंचमी के अधिकार में द्वितीया षष्ठी के विषय में पंचमी का प्रतिषेध करना चाहिये। दक्षिणेन इत्यादि प्रकृतसूत्रस्थ भाष्य से 'एनपा द्वितीया' यह सूत्र 'षष्ठ्यतसर्थ से पूर्व है यह संकेत मिलता है। नहीं तो सूत्रक्रम के त्याग में और न्याय से विपरीत पूर्व निपात के करने में कोई कारण नहीं था। इसी से 'करणे च' मेंद्वि तीया का समुच्चय नहीं है। द्वितीया षष्ठी कहकर षष्ठ्यतसर्थ प्रत्ययेन एनपा द्वितीया सूत्र क्रम का त्याग स्पष्ट ही है। न्याय अल्पाच्त्वेन षष्ठी द्वितीया कहना उचित था अतएव द्वितीया के समुच्चय के अभाव से नेति यहाँ द्वितीया की अनुवृत्ति होने से सन्नियोग शिष्टन्याय से आने पर भी द्वितीया की अनुवृत्ति होगी। यहाँ निवृत्ति होने पर आगे भी निवृत्ति होगी

करणे च (२।३।३३)। करणे तृतीयायाः सिद्धत्वेन पक्षे पञ्चम्यर्थं वचनमिदम्। चकारः तृतीयान्यतरस्यामित्यनुकर्षणार्थः। षष्ठी गापोष्टगितिवत्। अद्रव्येति। द्रव्यभिन्नवचनेभ्य इत्यर्थः। द्रव्यपदेनात्र सर्वनामपरामर्शयोग्यं, लिङ्गनिरूपितविशेष्यं वा स्तोकशब्दो यद्धर्मविशाद् द्रव्ये स्तोकव्यवहारस्तद्धर्मपरः। स च धर्मोऽल्पादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमेव। शुक्लादिवच्चैते धर्मवचना अपि। करणत्वञ्च परम्परया। ईदृशार्थ एव च साधुत्वं सूत्रबलादिति स्पष्टम् अलुगुत्तरपदे' (५।३।१) इत्यत्र कैयटे। करणे किम्? स्तोकम्पचति। असत्त्वरूपफलसमानाधिकरणविशेषणत्वादत्र स्तोकशब्दस्यासत्त्ववचनत्वमिति दिक्।

करणे च। करण में तृतीया की सिद्धि होने से पक्ष में पंचमी के लिये सूत्र है। चकार तृतीयान्यतरस्याम् अनुकर्षण के लिये हैं; गापोष्टक् की तरह षष्ठी जानना। अद्रव्येति। द्रव्य से भिन्न को कहने वालों से होता है। यहाँ द्रत्य पद से सर्वनाम के परामर्श योग्य अथवा लिङ्गनिरूपित विशेष्य का ग्रहण है। स्तोक शब्द जिस धर्म के आवेश (योग) से द्रव्य में स्तोक व्यवहार होता है, उस धर्म को कहता है। वह धर्म अल्पादि शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त ही है। शुक्लादि शब्द की तरह से धर्मवाची भी है। तात्पर्य यह है कि 'गुणाः शुक्लादयः' इत्यादि कोशप्रामाण्य से जैसे शुक्लगुण तथा गुणी दोनों को कहता है। उसी प्रकार से स्तोकादि

को भी जानना । करणत्व परम्परा सम्बन्ध से जानना । इस अर्थ में इनकी साधुता है, सूत्र बल से है, यह अलुगुत्तरपदे के कैयट में स्पष्ट है । करणे किम् स्तोकम् पचति । असत्त्व रूप फल के समानाधिकरण विशेषण होने से यहाँ स्तोक शब्द असत्त्ववाची है ।

दूरान्तिका (२।३।३५) । अत्र 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्, (२।३।३४) इत्यतः समुच्चयार्थकान्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्त्यैवार्थाधिकारात्पञ्चम्याः सिद्धौ चकारो व्यवहिततृतीयासमुच्चयार्थो व्याख्यानादित्याह—चादित्यादि । प्रातिपदिकार्थमात्रे इति । व्याख्यानादिति भावः ।

॥ इति पञ्चमी ॥

दूरान्तिका । यहाँ 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्' से समुच्चय वाची अन्यतरस्याम् ग्रहण की अनुवृत्ति से ही अर्थाधिकार से पंचमी सिद्ध थी फिर चकार व्यवहित तृतीया के समुच्चय के लिये है । जैसा कि लिखा है—चादित्यादि । प्रातिपदिकार्थमात्रे इति । इसमें व्याख्यान ही शरण है ।

॥ इति पञ्चमी ॥

षष्ठी शेषे (२।३।५०) । शेष उक्तादन्यः । स च तत्तद्रूपेण स्वस्वादिः, सम्बन्धत्वेन रूपेण च । कारकविभक्तीनां क्रियाजनकत्वसमानाधिकरणकर्तृत्वादिशक्तिरूपेण बोधकत्वम् । तत्रापि तन्मूलके सम्बन्धे विवक्षिते षष्ठी । तदाह-कारकेति । स्वस्वामिभावादिरिति । स्वत्वस्वामित्वसमूहः सम्बन्ध इत्यन्यत्र विस्तरः । एवं सर्वत्र बोद्ध्यम् । षष्ठ्यर्थस्य (१) संसर्गविधयैव भानम् । कारकविभक्तिभ्योऽपि क्रियाकारकभावस्य संसर्गविधया भानमित्युक्तम् । सम्बन्धमात्रविवक्षायामिति । सम्बन्धत्वेन भाने इत्यर्थः । यद्वा क्रियाकारकभावमूलकसम्बन्धस्यैव विवक्षायां न तु तद्विवक्षायामित्यर्थः । कर्तुरपि तथा विवक्षा 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) इति सूत्रे छात्रस्य हसितम्' इत्यादौ भाष्ये स्पष्टा । संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारस्य न तथा विवक्षा । अत एव 'घटवद् भूतलम्' इति प्रयोग साधकमतुप्सूत्रे अस्मिन्निति चरितार्थमिति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । 'लोहितोष्णीषा, 'इत्यादावपि सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिर्बोद्ध्यः ।

षष्ठी शेषे । उक्त से अन्य को शेष कहते हैं । अर्थात् कारक तथा प्राति-पदिकार्थ से भिन्न ही शेष है । वह उस-उस रूप से या स्वत्वादि सम्बन्ध के रूप से जानना । कारक विभक्तियों को क्रियाजनकत्व समानाधिकरणकर्तृत्व शक्ति के रूप में बोधकता है । वहाँ भी तन्मूलक सम्बन्ध की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है । जैसा कि लिखा है—कारकेति । स्वस्वामिभावादिरिति । स्वत्वतया स्वामित्व समूह ही सम्बन्ध है । जैसे राज्ञः पुरुषः में पुरुष स्वत्व है और राजा में स्वामित्व है । षष्ठ्यर्थ का सम्बन्ध रूप से ही भान होता है, प्रकार रूप से नहीं होता है । कारक विभक्तियों से भी क्रियाकारक भाव का सम्बन्ध रूप से ही भान होता है । सम्बन्धमात्रविवक्षायामिति । सम्बन्धत्व रूप से भान मानने पर यह अर्थ है अथवा क्रियाकारकभाव मूलक सम्बन्ध की ही विवक्षा में, केवल उसकी ही विवक्षा में नहीं कर्ता की भी उस प्रकार की विवक्षा होती है । "क्तस्य च वर्तमाने" सूत्र के भाष्य में छात्रस्य हसितम् इत्यादि प्रयोगों से स्पष्ट है । संयोगसम्बन्ध से युक्त आधार की उस प्रकार की विवक्षा नहीं होती है । विवक्षा न होने से ही घटवद्-भूतलम् इस प्रयोग की सिद्धि करने वाले मतुप् सूत्र में अस्मिन् भी चरितार्थ है । यह वहाँ भाष्य में स्पष्ट है । अन्यथा यहाँ भी षष्ठी हो जाती । लोहितोष्णीषाः (लाल पगड़ी वाले) में षष्ठी के अर्थ में बहुव्रीहि समास है ।

एधो दकस्येति । 'एधः कर्तृ कर्ता वा । दकस्योदकस्यत्य-र्थः । एधशब्दोऽदन्तः पुंल्लिङ्गः 'कारके' (१।४।२३) इति सूत्रे भाष्ये प्रयुक्तः एध पक्ष्यन्ते इति । सान्ताः क्लीबोऽपि हेतौ द्योत्ये इति । हेताविति वर्तते । हेतुहेतुमद्भावेनेतरान्वये इत्यर्थः । तेन 'अन्नं हेतुं पश्य' इत्यादौ न षष्ठीति । हेतुवाचकादित्यर्थः । निमित्तेत्यादि । निमित्तादिप्रयोगे तेभ्यस्तत्समानाधिकरणशब्दे-भ्यच्चेत्यर्थः । किन्निमित्तमिति । प्रथमान्तं द्वितीयान्तञ्च । प्राय-ग्रहणादि । एवञ्च 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' (२।३।२६) 'सर्वनाम्नस्तृ-तीया च' (२।३।२७) इति सूत्रे व्यर्थे इति बोद्धव्यम् ।

एधो दकस्येति । एधः कर्तृ (नपुंसक) कर्ता पुंल्लिग है । दक का अर्थ उदक जल है । एधशब्द अदन्त पुंल्लिग है । यह कारके सूत्र के भाष्य में है । एधाः पक्ष्यन्ते प्रयोग है । सान्त नपुंसक ही है । हेतौद्योत्येइति । हेतौ की अनुवृत्ति होती है । हेतुहेतुमद्भाव से इतर में अन्वय होने पर यह अर्थ है । इससे 'अन्नं हेतुं पश्य' इत्यादि में षष्ठी नहीं होती है । क्योंकि यहाँ इतरान्वय नहीं है 'अन्य में अन्वय नहीं है ।) षष्ठीति । हेतुके वाचक से निमित्तेत्यादि । निमित्तादि के प्रयोग

में उनसे तथा उनके समानाधिकरण शब्दों से षष्ठी होती है। किन्निमित्तमिति । प्रथमान्त तथा द्वितीयान्त है। (क्लीब होने से) प्रायग्रहणादिति। इस प्रकार से "षष्ठी हेतुप्रयोग" तथा "सर्वनाम्नस्तृतीया च" यह दोनों सूत्र व्यर्थ हैं।

षष्ठयत (२।३।३०)। दिक्शब्दात्पञ्चम्यां प्राप्तायामिदम्। (१) 'ततः पश्चात् इत्यत्र तु सार्वविभक्तिकः षष्ठ्यन्तात्तसिः। षष्ठ्यपीति। स्पष्टञ्चेदं वृत्तौ। भाष्ये तु न दृश्यते। विपरीतं 'षष्ठ्यतसर्थ' (२।३।३०) इति सूत्रात्पूर्वम् 'एनपा' (२।३।३१) इत्यस्य पाठ इति लभ्यते इति 'पृथग्विनानाना' (२।३।३२) इति सूत्रे उक्तम्।

षष्ठ्यत। दिक् शब्द से पंचमी की प्राप्ति होने पर यह सूत्र है। 'ततःपश्चात्' में षष्ठ्यन्त से सार्वविभक्तिकतस् प्रत्यय है। क्योंकि पश्चात् के योग में उक्त सूत्र से षष्ठी का करना ही उचित है। षष्ठ्यपीति। यह वृत्ति में स्पष्ट है।भाष्य में तो इसके दर्शन नहीं है। और इसके विपरीत षष्ठ्यतसर्थ सूत्र से पूर्व 'एनपा' का पाठ प्राप्त होता है, यह पृथक्विना सूत्र में कहा है।

दूरान्तिकार्थै (२।३।३४)। यदपेक्षं दूरत्वादिकं ततः षष्ठीत्यर्थः। पञ्चमी चेति। (२) तस्या एव समुच्चयो, न द्वितीयातृतीययोरपीति भावः। ज्ञोऽविदर्थ (२।३।५१)। अत्र सूत्रेऽविदर्थस्येति छेदो (३) व्याख्यानात्। सर्पिषो ज्ञानमिति। जानातेः प्रवृत्तिरर्थः। सर्पिःसम्बन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थः।

दूरान्तिकार्थैः। जिसकी अपेक्षा दूर हो उससे षष्ठी होती है। पञ्चमी चेति। पंचमी का ही समुच्चय है द्वितीया, तृतीया का नहीं है, तात्पर्य यह है कि पृथक् विना के साहचर्य से अन्यतर का अर्थ ग्रहण समुच्चय के लिये है। वहाँ पंचमी का समुच्चय है। ज्ञोऽविदर्थ यहाँ व्याख्यान से अविदर्थस्य छेद है। तात्पर्य यह है कि विदर्थस्य न यह लघु न्यास से ही कार्य सिद्ध था जो विदर्थस्य सन्धियुक्त पाठ का करना ही इसमें मूल है। सर्पिषो ज्ञानमिति। ज्ञा धातु का प्रवृत्ति अर्थ है। सर्पि(घृत) सम्बन्ध वाली प्रवृत्ति यह अर्थ है।

अधीग (२।३।५२) अधीगर्थः स्मृतिः। कर्मणि किम् मातुर्गुणस्मरणम्। करणे शेषेऽनेन षष्ठ्यभावे समासो भवत्येव। अत एवात्र सूत्रे भाष्ये शेष इति वर्तत इत्युक्तम्। प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इति (४) एतैः षष्ठीसमासनिषेधात्। एधो दकस्येति। एध इति पृथक्पदं, दकशब्द उदकवाची।

अधीगर्थ । अधीगर्थ स्मृति है कर्मणि का उदाहरण देते हैं । मातुर्गुणस्मरण । करण शेषे होने पर इससे षष्ठी के अभाव में समास हो जायेगा (गुणस्मरण) इसी से इस सूत्र में शेये की अनुवृत्ति कही है । 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' से अधीगर्थादि के साथ षष्ठी समास का निषेध होता है । एधो दकस्येति । एधः पृथक् पद है दक उदक का वाची है ।

रुजार्थानाम्(२।३।५४) रोगार्थाना (५) धातूनामित्यर्थो व्याख्यानात् । धातोर्भाववचनत्वाव्यभिचारेण सामर्थ्याद्भवचन इति कर्तरिल्युट् । भावशब्देन सिद्धरूपोऽर्थ उच्यते, ल्युट्प्रकृत्यर्थोऽ (६) विवक्षितस्तदाह– भाव–कर्तृकाणामिति । रोगकर्तृकमिति च । रोगोऽत्र क्षयादिः । भावकर्तृकाणां किम् ? श्लेष्मणश्चोररुजा । श्लेष्माऽत्र न भावः । सर्पिषो नाथनमिति । सर्पिर्मे भूयादि–त्याशासनमित्यर्थः ।

रुजार्थानाम् । रोगार्थक धातुओं के योग्य में यह अर्थ है । इसमें व्याख्यान ही शरण है यद्यपि रुजा शब्द दुःख जनक व्याधि में रूढ है तो भी अज्वरपर्युदास से प्रकत्यर्थ मात्र की विवक्षा से उस अर्थ वाली धातु का ही ग्रहण होता है । धातु में भाववचनत्व का रहना स्वाभाविक है इसलिये वचान में कर्ता में ल्युट प्रत्यय है। भाव शब्द से सिद्ध रूप अर्थ कहा जाता है । ल्युट् प्रत्यय का प्रकृत्यर्थ अविवक्षित है । इसलिये कहते हैं भावकर्तृकाणम्, रोगकर्तृकाणाम च । यहाँ रोग पद से क्षय आदि रोगों का ग्रहण करना । यदि भावकर्तृकाणाम् का ग्रहण न होता तो श्लेष्मणश्चौररुजा में दोष होता परन्तु श्लेष्मा यहाँ भाव नहीं है । सर्पिषोनाथनमिति । मेरे घृत हो जाये ऐसी आशा करना अर्थ है ।

जासिनि । (२।३।५६) । जसु मोक्षणे इति दैवादिकस्य (१) न ग्रहणम् । जासीति निर्देशाद्, हिंसायामित्युक्तेश्च । निप्रोपसृष्टौ हनो निप्रहणः । शब्दपरत्वेऽपि सौत्रत्वाद् 'हन्ते.' (८।४।२२) इति णत्वम् । चुरादिरिति । घटादेस्तु न ग्रहणं, दीर्घनिर्देशात् । 'क्राथनम्' इति घटादेः क्रथेः । क्राथेति सूत्रे निपातनाद् वृद्धिरिति वृत्तिः । परे तु एतत्सूत्रप्रामाण्यान्नटसाहचर्याच्चायामपि चुरादिर्बोद्ध्यस्तस्याकृतिगणत्वात् । निपातनस्य शेषषष्ठीसन्नियोगशिष्टत्वे कर्मत्वेन विवक्षायां चोरस्य क्राथनमित्यस्यानापत्तिः । सामान्येन निपातने चिण्णमुल्विषये क्रथं क्रथमित्यादेः क्रथयतीत्यादेश्चानापत्तिरित्याहुः ।

जासिनि । जसु मोक्षणे इस दिवादिगण की धातु का ग्रहण नहीं है किन्तु जसु ताडने, जसु हिंसायाम् यह चुरादि गण की धातुओं का ग्रहण है । क्योंकि जस् तथा हिंसायाम् कहा है । नि तथा प्रि से युक्त हन् निप्रहण है । शब्दपरक होने से 'हन्तेः' से णत्व हुआ । चुरादिरिति । दीर्घ निर्देश होने से घटादि का ग्रहण नहीं है । 'क्रथनम्' घटदिक्रथ का रूप है । क्राथ में (सूत्र में) निपातन) से वृद्धि है । ऐसा वृत्तिकार का मत है । यहाँ नागेश का मत है कि इस सूत्र में प्रामाण्य से और नट के साहचर्य से यह भी चुरादि लेना क्योंकि चुरादि आकृतिगण है । निपातन शेष षष्ठी के सन्नियोग शिष्ट होने से कर्मत्व से विवक्षा करने पर चोरस्य क्राथनन् नहीं होगा । सामान्यतः निपातन से चिण् तथा णमुल के विषय में क्रथं-क्रथं इत्यादि की तथा क्रथयत् भी सिद्ध नहीं होगी ।

समर्थयोरिति । समपर्यायसंशब्देन समासः, शकन्ध्वादित्वान् पररूपं वा । ब्राह्मणपणनमिति । आयप्रत्ययो वैकल्पिकत्वान्न कृतः । उदाहरणे स्तुतावेवेति नियमादपि न ।

समर्थयोरिति । सम पर्याय वाले (नतु तुल्य) संशब्द से समास या शकन्ध्वादि मानकर पररूप करना । ब्राह्मणपणनमिति । वैकल्पिक होने से आय प्रत्यय नहीं किया है । अथवा स्तुत अर्थ में ही आय होता है इसलिए नहीं हुआ ।

दिवस्त (२।३।५८) ।कर्मणि षष्ठी स्यादिति । शेष इति त्वत्र न सम्बध्यते (२) व्याख्यानात् । अत एव 'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।६०) इति सूत्रं 'गामस्य तदहः सभायान्दीव्येयुः' इत्यत्र नित्यं षष्ठीप्राप्तौ द्वितीयार्थमिति भाष्ये उक्तम् । तद् ध्वनयन् तिङन्तमुदाहरति–शतस्य दी-व्यतीति । यद्यपि पूर्वसूत्रे दिवं पठित्वा तदर्थस्येति त्यक्तुं शक्यते तथापि योगविभाग उत्तरार्थः, शेष इत्यस्यासम्बन्धार्थश्च ।

दिवस्त । कर्मणि षष्ठी स्यादिति । यहाँ व्याख्यान से शेष का सम्बन्ध नहीं है। विभाषोपसर्गे तथा द्वितीय ब्राह्मणे इन दो सूत्रों का करना ही प्रमाण है । शेष के सम्बन्ध न होने से ही 'द्वितीया ब्राह्मणे' सूत्र 'गामस्य तदहः सभायान्दीव्येयुः' में नित्य षष्ठी प्राप्त होने पर द्वितीया करने के लिये है ऐसा भाष्य में कहा है इस विषय को स्पष्ट न करते हुये तिङन्त का उदाहरण देते हैं । शतस्य दीव्यतीति । यद्यपि पूर्व सूत्र में दिवं पढ़कर तदर्थस्य का त्याग हो सकता है तो भी योगविभाग उत्तरार्थ है और शेष के सम्बन्ध के लिये भी है ।

विभाषोप(२।३।५८) । अत्रापि शेष इति (१) न सम्बद्ध्यते, तदर्थस्येति च वर्तते । तदाह – पूर्वयोगेति । अत एवेयं प्राप्त-विभाषेति 'नवेति' (१।१।४४) इतिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

विभाषोपसर्गे । यहाँ भी शेष का सम्बन्ध नहीं है । यदि शेष का सम्बन्ध होता तो यह सूत्र ही व्यर्थ हो जाता । और तदर्थस्य की अनुवृत्ति होती, उसी प्रकार कहा है। पूर्वयोगेति । इसी से प्राप्त विभाषा' है यह नवेति विभाषा सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ।

कृत्वोऽर्थ प्रयो(२।३।६४) । शेषे किमिति । 'दिवस्तदर्थस्य' (२।३।५८) इत्यादिना विच्छेदादधिकरणकारक एव षष्ठीविधानं युक्तमिति प्रश्नः । द्विरहनीति । वृत्त्यादिप्रामाण्यान्मण्डूकानुवृत्तिः स्वीकार्येत्युत्तरम् । 'अधीगर्थ'(२।३।५२) इति सूत्रे कर्मादीनामविवक्षा शेषः' इति भाष्ये (२) बहुवचनेनात्रापि शेषपदसम्बन्धबोधनाच्च । वस्तुतस्तु 'कर्माश्रयषष्ठीविषये सूत्रोपात्तसकर्मकाणामकर्मकवद्वचनम्' इतिवार्तिकप्रत्याख्यानाय शेषे इति वर्तते इति भाष्यकृतोक्ते परेण 'शेषश्च कः' इति पृष्टे 'शेषे षष्ठी'(२।३।५०) इतिसूत्रोक्त 'कर्मादीनामविवक्षा शेषः' इति सिद्धान्तिना स्मारितम् । नैतावता 'कृत्वोर्थ' (२।३।६४) इत्यत्र तत्सम्बन्धो लक्ष्यते। (३) किञ्चैतद्भाष्यबलात् 'दिव'(२।३।५८) इति सूत्रेऽपि शेषपद-सम्बन्ध आवश्यकः । अन्यथा वार्तिकरीत्या 'शतस्य दीव्यते' इति भावे इष्टस्य प्रयोगस्यासिद्धिः । अत एव वार्तिकव्याख्यायाम् अधीगर्थादयः (१) प्रेष्यब्रूयन्ताः कर्माश्रयपदेनोच्यन्ते' इति कैयटः । एवञ्च शेष इत्यनुवृत्त्या वार्तिकप्रत्याख्यानवत् एतत् (२) सूत्रद्वयप्रत्याख्याने एव भाष्यतात्पर्यम् । 'द्वितीया ब्राह्मणे(२।३।६०) इतिसूत्रस्थभाष्यं तु वार्तिकरीत्येत्याहुः ।

कृत्वोऽर्थप्रयो । शेष ग्रहण क्यों किया–क्योंकि 'दिवस्तदर्थस्य' में ही उसका विच्छेद हो चुका है। अधिकरण कारक में ही षष्ठी का करना उचित था यह प्रश्न है। द्विरहनीति । वृत्त्यादि के प्रामाण्य से मण्डूक निवृत्ति का स्वीकार करना । जिस प्रकार मण्डूक मध्यमान को छोड़कर उछलकर आगे चला जाता है—उसी प्रकार मध्य के सूत्रों को छोड़कर शेष का सम्बन्ध है । अधि

गर्थ सूत्र में कर्मादियों की अविवक्षाशेष है, ऐसा भाष्य में लिखा है कि वहाँ कर्मादी नाम् के बहुवचन से शेष पद के सम्बन्ध की प्रतीति होती है। वास्तविकमें कर्माश्रय षष्ठी के विषय में सूत्र में उपान्त सकर्मक को अकर्मकवत् कहना इस वार्तिक, के प्रत्याख्यान के लिये शेषकी अनुवृत्ति होती है, ऐसा भाष्यकार ने कहा है। अन्य के यह पूछने पर कि शेष क्या है तब सिद्धान्ती ने कर्मादियों की अविवक्षा ही शेष है इसका स्मरण कराया। इससे कृत्वोर्थ में इसके सम्बन्ध का लाभ नहीं होता है। और इस भाष्य के बल से "दिवस्तदर्थस्य, में शेष के सम्बन्ध की आवश्यकता है। अन्यथा वार्तिक की रीति से शतस्य दीव्यते यह भाव में इष्ट प्रयोग की असिद्धिहोगी। शेष के सम्बन्ध से ही वार्तिक कीव्याख्या में अधीगर्थादि प्रेष्यब्रू पर्यन्त कर्माश्रय पद से कहे जाते है ऐसा कैयर का मत है इस तरह से शेष की अनुवृत्ति से वार्तिक के प्रत्याख्यान की तरह इन दोनों सूत्रों के प्रत्याख्यान में ही भाष्यकार का तात्पर्य है। 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र का भाष्य तो वार्तिक की रीति है।

किञ्च 'यदा कर्म विवक्षितं भवति तदा षष्ठी न भवति स्मराम्यहं मातरम्' इति भाष्ये उक्तम्। त्वद्रीत्या तु यदा कर्मादिविवक्षितं भवतीति वदेत् (३) एवञ्च 'ज्ञोऽविदर्थस्य' [२।३।५१] इत्यत्रापि तदसम्बन्ध एव। एवञ्च तद्योग न कदापि तृतीया। 'शतं दीव्यति' इत्यादि च सिद्ध्यति। अधीगर्थ' (२।३ ५२) इत्यादौ च मण्डूकानुवृत्तिरिति सुधियो विभावयन्तु।

और जब कर्म विवक्षित हो तब शष्ठी नहीं होती है 'स्मराम्यहंमातरम्' ऐसा भाष्य में कहा है आप की रीति से तो जब कर्मादि की विवक्षा हो तब करना उचित है। इस प्रकार से 'ज्ञोऽविदर्थस्य' में भी शेष का सम्बन्ध नहीं है। इसलिये उसके योग में कभी भी तृतीया नहीं होती है और शतंदीव्यति भी सिद्ध होता है। और अधीगर्थ आदि में मण्डूकानिवृत्ति है। ऐसा विद्वानों को समझना चाहिये।

कर्तृकर्मणोः (२।३।६५)। अत्र शेष इति न सम्बद्ध्यते, सूत्रवैयर्थ्यापत्तेः। 'कृद्योगा षष्ठी समस्यते' इति वार्तिकेन तत्र समासस्येष्टत्वात्। कृतिरिति। भावे क्तिन्। कृष्णः कर्ता। जगत इति। कर्मेदम्। कर्तृसाहचर्यात् कर्मापि भात्वर्थे भेदेनान्वय्येव गृह्यते। 'तेन स्तोकं पाकः' इत्यादौ (४) न क्रियाविशेषणात् षष्ठी किञ्च क्रियाविशेणेन 'स्तोकम्पाचकः' इत्यादौ न समानाधिक-

रणसमासो, नापि सुप्सुपेत्यादिः । सुबन्तार्थविशेष्येणान्वयेना(१) ऽसामर्थ्यान् । 'द्वितीयाश्रित' (२।१।२४) इत्यादेस्तु सामर्थ्यादव-यवद्वारके सामर्थ्ये प्रवृत्तिः । द्वितीयाप्रकरणोक्तपरेतुमतरीत्या वा सामर्थ्यम् । अत एए 'पूजनात्पूजितम्' [८।१।६७] इति सूत्र दारुणं यथा भवति तथाऽध्यापक इत्यर्थकस्य 'दारुणाध्यापकः' इत्यस्य सिद्ध्यर्थं (२) मलोपवचनमारब्धं भाष्ये (३) अन्यथा समासेन सिद्धे (४) तद्व्यर्थं स्यात् । एतदेव भाष्यं तत षष्ठ्य-भावेऽपि मानम् । अन्यथा षष्ठीसमासस्य 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (२।२।१५) इत्यादिनिषेधैरुक्तसामर्थ्येऽपि प्रवृत्त्या तत्समासेनैव सिद्धौ मलोपवचनं व्यर्थमेव स्यादिति बोद्धयम् । न च (५)भि-न्नपदत्वेऽपि तथाप्रयोगसाधुत्वार्थं सलोपवचनमिति वाच्यम् । (६) तथा सति वाक्ये मलोपश्च वक्तव्यः इति वदेत् । अत एव कैयटेद क्रिय विशेषणं दारुणादयस्तत्र वैयधिकरण्यात् समासाभावात् मलोपो विधीयते इत्युक्तम् । सुप्सुपेत्यादिसमासो [७] न सार्व-त्रिक इति तदाशय इत्यलम् ।

कर्तृकर्मणोः । यहाँ शेष का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अनुवृत्ति होने पर सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा । 'कृद्योगा षष्ठी समस्यते'' इस वार्तिक से वहाँ समास इष्ट है । कृतिरिति ।भाव में क्तिन् प्रत्यय है कृष्णः कर्ता है । जगत् कर्म है कर्ता के साहचर्य से कर्म भी धात्वर्थ में भेद से अन्वय वाला ही गृहीत होता है । इससे स्तोकं पाकः इत्यादि में स्तोक क्रिया विशेषण में षष्ठी नहीं होती है क्योंकि स्तोक का अभेद सम्बन्ध से पाक में अन्वय है और क्रिया विशेषण से स्तोकम्पाचकः इत्यादि में समानाधिकरण समास नहीं है और सुप्सुपा से नहीं है । सुबन्तार्थ विशेष्य से अन्वय न होने से असमर्थ है । द्वितीयाश्रित इत्यादि सूत्रों कीते विधान सामर्थ्य से अव्ययद्वारक सामर्थ्य में भी प्रवृत्ति होती है । अथवा द्वितीया के प्रकरण में परेतु मत की रीति से सामर्थ्य समझना । इसलिये पूजनादपूजितम् इस सूत्र में दारुणांय-थाभवति तथा अध्यापक ऐसे अर्थ वाले दारुणाध्यापकः की सिद्ध के लिये मकार के लोप वचन (मलोपश्च वक्तव्य)' यह वचन भाष्य में लिखा—अन्यथा समास से ही सिद्ध हो जाती । उसवचन की आवश्यकता नहीं होती–यह वार्तिक भी उससे षष्ठी के न होने में प्रमाण है । अन्यथा षष्ठी समास कात्तृजकाभ्यां कर्तृजि । इत्यादि नि-षेधनों से उक्तसामर्थ्य में प्रवृत्ति होने से उस समास से कार्य सिद्ध हो जाता । म-

लोपवचन व्यर्थ ही था ऐसा होने पर वाक्य में 'मलोपश्च वक्तव्यः' कहना चाहिये था। असामर्थ्य से समास न होने के कारण कैयट में क्रियाविशेषण दारुणाध्यापक है वहाँ से वैयधिकरण से समास के न होने से मलोप का विधान आवश्यक है। सुप्सुपासमास सार्वत्रिक नहीं है वह तो अगतिक गति है।

कृति किमिति। कर्तृकर्मभ्यां क्रिया सन्निधाप्यते। तद्वाची तु धातुरेव। कारकान्वययोग्यतावच्छेदकरूपेण साध्यत्वेन धातुभिरेव तदुपस्थितेः। 'शत्योऽश्वः, आभ्रिकः' इत्यादौ तद्धितान्न तेन रूपेणोपस्थितिरिति न तत्र कारकाणामन्वयः, एतद्भाष्यप्रामाण्यात्। अतएव हिरुगादियोगे न कर्मादिसञ्ज्ञा। एतेन 'देवदत्तेन शत्योऽश्वः' इत्यादौ षष्ठीनिवृत्त्यर्थं कृद्ग्रहणमित्यपास्तम्। अधिका खारी द्रोणेनेत्यत्र हेतौ तृतीया। क्रियायोगाभावात् कर्तुः कर्तृत्वाभावे जनकत्वरूपहेतुत्वसत्त्वात्। धातोश्च द्वये प्रत्ययास्तिङः कृतश्च। तत्र तिङ्योगे 'न लोक' (२।३।६९) इति निषेधात् कृद्योगे एव भविष्यतीति किं तेन। 'नलोक' [२।३।६९] इति सूत्रे कृदव्ययस्यैव ग्रहणं तु अव्ययार्थस्य ये कर्तृकर्मणी इति व्याख्यानेन सिद्धम्। 'उभयप्राप्तौ [२।३।६६] इत्यत्र बहुव्रीहिस्तु 'एकाचो द्वेः' (६।१।११) इत्यादात्रिवान्यपदार्थस्याशाब्दत्वेपि व्याख्यानाद्भविष्यति। न भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानामित्यादौ गुणभूते णिच्प्रकृत्यर्थकर्तरि षष्ठ्यर्थं करोतीति कृदिति कर्तृपरं तदिति वाच्यम्। तृतीयावत्तात्र षष्ठ्या अपि विनैव यत्नसिद्धेरिति प्रश्नः।

कृतिकिमिति। कर्ता और कर्म से क्रिया का लाभ होता है। उस क्रिया का वाची धातु ही है। साध्य क्रिया होती है उसमें कारकों के अन्वय होने की योग्यतावच्छेदक रूप धातु से ही उसकी उपस्थिति होती है। 'शत्योऽश्वः आभ्रिकः' इत्यादि में तद्धित में उस रूप से उपस्थिति नहीं होती है। इसलिये वहाँ कारकों का अन्वय नही होता है, इसमें उक्त भाष्य ही प्रमाण है। इसलिये ही हिरुग् आदि के योग में कर्मसंज्ञा नहीं होती है। उक्त कथन से देवदत्तेन शत्योऽश्वः में षष्ठी के अभाव के लिये कृद्ग्रहण है। यह मत परास्त है। अधिका खारी द्रोणेन हेतु में तृतीया है।

क्रिया के योग के अभाव में कर्ता की कर्तृ संज्ञा न होने से जनकत्वरूप हेतु है। कर्ता और कर्म से धातु का आक्षेप होने से धातु से दो प्रत्यय होते हैं तिङ् और कृत्। वहाँ तिङ् के योग में 'न लोक' से निषेध होगा। तब कृत् के योग में ही होती फिर कृत् ग्रहण की क्या आवश्यकता है? नलोप सूत्र में कृत् अव्यय का ग्रहण है। कृत् अव्यय का ग्रहण है। यह तो अव्ययार्थ के जो कर्ता और कर्म ऐसे व्याख्यान से ही सिद्ध है। उभयप्राप्तौ में बहुव्रीहि समास तो 'एकाचो द्वे' की तरह अन्यपदार्थ में अशाब्दत्व होने पर भी व्याख्यान से होगी। भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् में गुणभूत (गौण) णिच् प्रकृति के लिये कर्ता में षष्ठी के लिये करोतीति कृत् इस व्युत्पत्ति से कर्तृपरक कृत् है, यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि तृतीया की तरह षष्ठी भी बिना प्रयत्न के होजायेगी।

तद्धित इति । (१) तद्धितान्तशक्तिग्रहमात्रप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियायाः कर्त्तरि कर्मणि च मा भूदित्यर्थः । उदाहरणं सकर्मकप्रकृतिकभावक्तान्तस्येदृशवृत्तिमात्रविषयताया भाष्यसम्मतत्वेन तस्य केवलस्य क्वाप्यप्रयोगेण तद्धितान्यसमुदायशक्त्यैव क्रियोपस्थापकत्वात् । (२) कृद्ग्रहणात्कृदन्तशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियाकर्तृकर्मणोर्ग्रहणम्, न चात्र तथा । 'तण्डुलानां पाचकतरः' इत्यादौ च पाकादेः पृथक्प्रयोगेण तच्छक्तिग्रहस्यापि सत्त्वेन कृदन्तशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयत्वं क्रियाया अस्त्येवेति भवत्येव षष्ठी । अत एव तद्धिते माभूदित्येवोक्तं, न तु तद्धिताधिक्येऽपीति । भाष्येऽपि तद्धितस्य ये कर्तृकर्मणी तत्र मा भूत्कृतो ये कर्तृकर्मणी तत्रैव यथा स्यादित्येवोक्तम् ।

तद्धित इति । (१) तद्धितान्तशक्तिग्रहमात्रप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियायाः कर्तृकर्मणि च मा भूत् यहाँ शक्ति आनुभाविकी आकांक्षा के स्थानी वाली है। उपस्थित का अर्थ वाक्यार्थबोध है। अब इसका अर्थ यह होता है, तद्धितान्त से पर्याप्त आनुभाविक शक्ति ग्रहमात्र से प्रयोज्य शब्दबोध विषय क्रिया के कर्ता और कर्म में षष्ठी न हो। कृतपूर्वीकटम् उदाहरण में सकर्मक प्रकृति वाले भाव क्तान्त से इस प्रकार की वृत्ति भाष्य सम्मत होने से उसका केवल का कहीं भी प्रयोग न होने से तद्धितान्त समुदाय शक्ति से ही क्रिया का उपस्थापक है। कृद्ग्रहण से कृदन्त शक्ति ज्ञान से प्रयोज्य उपस्थित विषय क्रिया के कर्ता और कर्म का ग्रहण है। कृतपूर्वीकटम् वह नहीं है-क्योंकि यहाँ केवल कृत् का प्रयोग नहीं होता है। तण्डुलानां पाचकतरः

इत्यादि में तो पाचक का अलग प्रयोग भी हो सकता है विशिष्ट का हो ऐसा निर्णय नहीं है । उसके शक्तिज्ञान के होने से कृदन्त पाचक की शक्तिग्रह से प्रयोज्य उपस्थिति विषयता क्रिया की होने से षष्ठी होती है । इसलिये ही मूल में तद्धित में न हो ऐसा ही कहा । तद्धित के अधिक होने पर न हो ऐसा नहीं कहा । भाष्य में भी तद्धित के जो कर्ता और कर्म वहाँ षष्ठी न हो, कृदन्त के जो कर्ता और कर्म हैं वहाँ षष्ठी हो ऐसा ही लिखा है । अब यहाँ इस प्रकार विचार करते हैं कि कृष्णस्य कृतिः तथा तण्डुलानां पाचकः इत्यादि में तमबादि के विना भी पाकादिक्रिया में रहने वाली जो विशेष्यता तन्निरूपित कर्तृत्व अथवा कर्मत्व सम्बन्ध से युक्त तण्डुल आदि में वृत्तिप्रकारता (विशेषणता) वाला शब्दबोध होने से उस बोध के प्रति तण्डुलादि पद के समीपस्थ कृदन्त पाचकादि पदकी कारणता होने से तण्डुलानां पाचकतमः में षष्ठी होती है । कृतपूर्वी कटम में तो षष्ठी नहीं होती है क्योंकि यहाँ कृतपूर्वी तद्धितान्त की ही कारणता है यहाँ 'न लोक' इत्यादि से षष्ठी का निषेध भी नहीं हो सकता है क्योंकि वह भी निष्ठान्त शक्तिग्रह से प्रयोज्य बोध विषय क्रिया के कर्ता और कर्म में ही निषेध करता है । कृतपूर्वी में कटम् के तद्धितान्त होने से निषेध की प्राप्ति नहीं है ।

कृतपूर्वीति । अत्र कर्मविशेषस्य तत्तद्रूपेण प्रागन्वयाविवक्षयाऽकर्मकत्वाद्भावे क्ते 'पूर्वादिनिः' (५।२।८६) इति तद्धितः । तदनन्तरं तु विशेषरूपेण कर्मयोगो भवत्येव । तत्रोक्तरीत्या षष्ठ्यभावेऽनभिहितत्वाद् द्वितीया । एवं रीत्या साधुत्वेऽत्रत्यभाष्यमेव मानम् । वृत्ते पूर्वं कर्मान्वयाभावाच्च सापेक्षत्वाद् वृत्तिर्न स्यादिति न शङ्क्यम् । एवम् 'अधीती व्याकरणे' इत्यादावपि बोद्धयम् । तदुक्तं भाष्ये–यदा वाक्यं न तदा भावे प्रत्ययः,–यदा प्रत्ययः सामान्येन तदा वृत्तिरिति । न तदा प्रत्ययः न तदा भावे प्रत्ययः । धातोः सकर्मकत्वात् । यदा प्रत्ययः– भावे इति शेषः । तदा वृत्तिरेव सा च वृत्तिर्न कदापि कर्मक्तान्तेनेत्याह । सामान्येनेति । कर्मविशेषस्य तत्तद्रूपेण प्रागन्वयाविवक्षाविशिष्टो योऽर्थः तदर्थकधातुप्रकृतिकक्तान्तेनेत्यर्थ. । इयमेव कर्मणोऽविवक्षा नाम । अनेन तादृशक्तान्तस्य वाक्ये न प्रयोग इति स्पष्टमेवोक्तम् । प्रयोगानुरोधिनी हि विवक्षेति तद्भावः । न चाविवक्षितकर्मतया भावे क्तसाधनयत्नो व्यर्थः, नपुंसके भावे इत्यनेन सकर्मकेभ्योऽपि सिद्धेरिति वाच्यम् । तस्याप्यकर्मकेभ्य एवेष्टेः । अत्र चेदमेव भाष्यं मानम् ।

ददैर्दुःखस्य मादृग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् ।
लिम्पैरिव तनोर्वातैश्चेतयन् स्याज्ज्वलो न कः ।।

इति भट्टिपद्यम् । मादृग्भ्यो दुःखं दद्भिरुत्तमामोदं पुष्पादीनां गृहीत्वा मादृशां दत्तास्य दुःखस्य पोषकैर्मादृशां शरीरं लिम्पद्भिरिव वातैः को मादृक् विरहाग्निव्याप्तश्चेतयन् ज्वलः ज्वलन्निव न स्यादिति तदर्थः । दाधातोः पोषणार्थाद्धाञ्श्च 'ददातिदधात्योः' (३।२।१३९) इति शणौ, लिम्पे शः, ज्वलेर्ण इति। जयमङ्गलाश्लोकव्याख्याप्येतज्जातीयैव तत्रेति दिक् । तत्र धायैरामोदमुत्तममित्यत्र (१) गृहीत्वेत्यध्याहृत्य तद्योगे द्वितीया बोद्ध्या।

कृतपूर्वीति । यहाँ कर्म विशेष की उस रूप से अन्वय की अविवक्षा मानकर अकर्मक जानकर भाव में क्त प्रत्यय होने पर 'पूर्वादिनिः' से तद्धित इनि प्रत्यय होता है । उसके होने पर विशेष रूप से कर्म का ज्ञान होगा ही । वहाँ पूर्वोक्त अर्थ करने से षष्ठी के न होने से अनुक्त होने से द्वितीया कर्म में होती है। इस प्रकार की सिद्धि से यहाँ का भाष्य ही प्रमाण है । तद्धित प्रत्यय के पूर्व कर्म में अन्वय के अभाव से सापेक्ष होने से वृत्ति (तद्धित प्रत्यय) नहीं होगा, यह शंका नहीं करना। इसी प्रकार 'अधीती व्याकरणे' में जानना । भाष्य में कहा है कि जब वाक्य है तब प्रत्यय नहीं है जब सामान्य रूप से प्रत्यय होता है तब वृत्ति है । न तदा प्रत्ययः का अर्थ है कि उस समय भाव में प्रत्यय नहीं होता है क्योंकि धातु सकर्मक है जब भाव में प्रत्यय होता है तब तद्धित प्रत्यय होता है वह वृत्ति कर्म में क्त प्रत्यय करने पर कभी भी नहीं होगी । इसलिये सामान्येन कहा इसका अर्थ है कर्म विशेष की उस-उस रूप से अन्वय की अविवक्षा युक्त जो अर्थ उस अर्थ वाली धातु जिसकी प्रकृति हो ऐसे क्तान्त से हो । इसी का नाम कर्म की अविवक्षा है । इस भाष्य से उस प्रकार के क्तान्त का वाक्य में प्रयोग नहीं होता है । विवक्षा तो प्रयोगों का अनुसरण करती है । अविवक्षित कर्म मानकर भाव में क्त प्रत्यय करना व्यर्थ है-क्योंकि 'नपुंसके भावे क्तः' से सकर्मक धातुओं से भी हो जायेगा । यह कहना भी उचित नहीं है-वह भी अकर्मक धातुओं से भी होता है । इसमें यह भाष्य ही प्रमाण है ।

ददैर्दुःखस्य मादृग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् यह-भट्टिकाव्य का श्लोक है। इसकी व्याख्या इस प्रकार से है - मेरी तरह बालों को दुःख देने वाले फूलों के आमोद (सुगन्धि) ग्रहण करके हम लोगों को दिये दुःख की पोषक मेरे सदृशों के शरीर की

लिपटने वाली वायुओं से कौन मेरे सदृश विरह रूपी अग्नि से व्याप्त चेतन जलने की तरह न होगा। पोषण अर्थ वाली दाधातु से और धाञ् से 'ददातिदधात्यो विभाषा' से श और ण प्रत्यय होते है। लिम्प से श और ज्वल् से ण प्रत्यय होता है। यह जयमङ्गलाटीकाकार की व्याख्या भी उसी प्रकार की है। धार्यैरामोदमुत्तमम् ग्रहीत्वा का अध्याहार करके उसके योग में आमोद में द्वितीया जानना।

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन्निति। तेनैकनिमित्तात्वलाभादोदनस्य पाको ब्राह्मणानाञ्च प्रादुर्भाव इत्यादौ विभिन्नक्रियाकर्तृकर्मणोः षष्ठीप्राप्तौ नायं नियम इति भावः। प्राप्तिपदेन चो (२)भयोः प्रयोग एवायं निषेध इति ध्वनितम्। स्त्रीप्रत्यययोरिति। 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।६४) इत्यधिकारविहितयोरित्यर्थः। नायं बियम इति। तेनोभयत्रापि षष्ठी भवत्येवेति भावः। भेदिकेति। धात्वर्थनिर्देश ण्वुल्, सन्नन्ताद्भिदेः 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) इत्यकारप्रत्ययः। शेषे इति। नियमस्यायं विकल्पः। 'इत्येके' इत्येतल्लब्धमर्थं स्पष्टप्रतिपत्तये आह–केचिदिति। अकाकारभिन्ने कृन्मात्रे इत्यर्थः। अनुशासनमिति। अनुशिष्यन्तेऽसाधुभ्यो विविच्य बोद्ध्यन्ते येनेति करणे ल्युट्। मत इत्यादौ 'मतबुद्धि' (३।२।१८८) इति वर्तमाने क्तः।

उभयप्राप्तौ कर्मणि। उभय (कर्ता और कर्म) की प्राप्ति जिसमें हो इससे दोनों का निमित्त एक होना चाहिए। इसलिये ओदनस्य पाकः और ब्राह्मणोंका प्रादुर्भाव इत्यादि में उक्त वार्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उक्त स्थल में पृथक्-पृथक् धातुओं के योग में कर्ता और कर्म है। प्राप्ति पद से दोनों के प्रयोग होने पर ही यह नियम लगता है अर्थात् निषेध होता है। स्त्रीप्रत्ययोरिति। 'स्त्रियां क्तिन्' के अधिकार से होने वाले हों नायं नियम इति। इससे दोनों में षष्ठी होगी। भेदिकेति। धात्वर्थ के निर्देश में ण्वुल् प्रत्यय है। सान्नन्तभिद्न से 'अ प्रत्ययात्' से अकार प्रत्यय होता है। बिभित्स शेषेइति। नियम का विकल्प है– इत्येते से प्राप्त अर्थ को स्पष्ट ज्ञान के लिये कहते हैं। केचिदिति। अकार से भिन्न कृदन्त मात्र में यह इसका अर्थ है अनुशासनमिति। अनुशिष्यन्ते – इत्यादि विग्रह में करण में ल्युट् प्रत्यय है।

मत इत्यादि में 'गतिबुद्धि' सूत्र से वर्तमान में क्त प्रत्यय है।

इदमेषामिति। कर्तरि षष्ठी। सकर्मकेभ्यस्त्वधिकरणे क्ते कर्तृकर्मणोर्द्वयोरपि षष्ठी, इदमेषां भुक्तमोदनस्य। 'उभयप्राप्तौ'

(२।२।६६) इति तु मध्येऽपवादन्यायेन 'कर्तृकर्मणोः' (२।३।६५) इति बोद्धव्यम् ।

कर्ता में षष्ठी है। सकर्मक धातुओं से तो अधिकरण में क्त प्रत्यय करने पर कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी होने पर, इदमेषां भुक्तमोदनस्य की सिद्धि होती है। उभयप्राप्तौ तो मध्येपठिताः ये अपवादास्ते पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इस परिभाषा के बल से 'कर्तृकमणोः' का ही नियम है।

न लोका (२।३ ६९)। लादेशा इति। लकारसम्बन्धिन इत्यर्थः, तेन (१) 'ददिर्गाः' इति सिद्धम्। केवलस्य क्तापि प्रयोगाभावादेवं व्याख्यातम्। कुर्वन्निति। तृन्प्रत्याहारघटकस्तु नायम्। तृशब्दस्य तद्घटकत्वेऽपि शत्रुस्तद्घटकत्वाभावात्। लिडादेशकस्वादियोगे लिट्सदृशकिकिमोर्योगे च निषेधार्थं (२) तस्यावश्यकत्वाच्च। उ इति। उकारेण व्याख्यानात्तदन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावेनोकारस्यापि 'सनाशंस' (३।२।१६८) इति, अलंकृञ्' (३।२।१३६) इति च उइष्णुचौ। घातुक इति। 'लषपतपद' (३।२।१५४) इत्युकञ्, वृद्धिस्तत्त्वम्। कमेरिति। उकान्तस्यैति शेषः। इदञ्च भाषायामेव। भाषायामिति भाष्योक्तेः। निष्ठेति। एतदपवादतया भाष्ये वार्तिकं पठ्यते-नपुंसके भावे क्तस्य योगे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानं छात्रस्य हसितमिति। इदञ्च प्रतिपदोक्तत्वात् 'नपुंके भावे क्तः' (३।३।११४) इतिसूत्रविहितक्तान्तयोग एव। (३) अत एव 'भ्रान्तं देशम्' इत्यादौ 'गत्यर्थाकर्मक' (२।३।११२) इत्यनेन क्तेनानेन षष्ठी। नपुंसके भावे क्तस्तु नात्र। तस्याप्यकर्मकेभ्य एवेष्टेः। अविवक्षितकर्मतयाऽकर्मत्वेन स्तु नात्र। तस्याप्यकर्मकेभ्य एवेष्टेः। अविवक्षितकर्मतयाऽकर्मकत्वेन क्तस्तु 'कृतपूर्वी' इत्यादिवृत्तिविषये एवेत्युक्तम्। (४) एवञ्च इह 'अहः सृप्तम्' इत्यादौ (५) परत्वेन 'क्तोऽधिकरणे च' (३।४।७६) इत्नेन भावे क्ते शेषत्वविवक्षयैव षष्ठीसाधनस्यावश्यकत्वेन इदं शेषत्वविवक्षया भाष्ये प्रत्याख्यातम्।

न लोका । लादेशा इति । लकार सम्बन्धी आदेश यह इसका अर्थ है इससे दिर्गाः की सिद्धि होती है । अन्यथा कि प्रत्यय के लादेशाभाव में निषेध नहीं होता । लकार सम्बन्धिता अर्थ करने से तो लिङ्वत् अतिदेश से निषेध सिद्ध होता है । केवल लकार का ही प्रयोग न होने से उक्त व्याख्या भी है । कुर्वन्निति । यह तृन् प्रत्याहार के मध्य में नहीं है तृ शब्द उसका घटक भी है परन्तु शतृ उसका घटक नहीं हैं । लिट् के स्थान में आदेश क्वसु आदि के योग में और लिट् के सदृश की किन् के योग में निषेध के लिए ल ग्रहण की आवश्यकता है । उइति । व्याख्यान से उकार से तदन्त विधि है । तदन्त विधि होने पर भी व्यपदेशिवद्भाव से उकार को भी होता है । 'सनाशंस' से उ तथा अलंकृञिति से इष्णुच् होता है । घातुक इति । 'लषपतपद' इत्यादि उकञ् करने पर वृद्धि से उक्त प्रयोग की सिद्धि होती है । कमेरिति । इसका शेष उकान्त जानना । यह भाषा (लोक) में लगता है, क्योंकि भाष्यकार ने भाषायाम् कहा है निष्ठे ति । इसका अपवाद भूत भाष्य में वार्तिक कहा है । नपुंसके भावे क्तस्य योगे षष्ठ्या उपसंख्यानम् (नपुंसक इत्यादि) से होने वाले क्त के योग में षष्ठी कहना उदाहरण छात्रस्य हसितम् है । यहाँ प्रतिपदोक्त होने से 'नपुंसके भावे क्तः' से क्त होने पर उसके योग में षष्ठी होती है । 'नपुंसके' से विहित क्त के योग में प्रवृत्ति होने से भ्रान्तं देशम् में देश पद में षष्ठी नहीं होती है । क्योंकि भ्रान्तं में गत्यर्थकर्मक इत्यादि से क्त प्रत्यय होता है । 'नपुंसके भावेक्तः' से क्त प्रत्यय नहीं होता है । क्योंकि वह अकर्मक से ही होता है । अविवक्षित कर्म मानकर अकर्मक से क्त तो कृतपूर्वी इत्यादिस्थल में ही होता है । वार्तिक से षष्ठी 'नपुंसके भावे क्तः' के योग में होने से ही 'अहेः सुप्तम्' इत्यादि में पर होने से 'क्तोऽधिकरणे' से भाव में क्तः प्रत्यय होने पर शेषत्व विवक्षा से ही षष्ठी का साधन आवश्यक है । शेषत्व की विवक्षा कर भाष्य में उक्त वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है ।

(१) वार्तिकेन चानेन कारकषष्ठीनिषेधविषये शेषत्वविवक्षा नेति ज्ञाप्यते । शेषत्वविवक्षया भाष्यकृत्प्रत्याख्याने तु अनभिधानात् क्तातिरिक्तविषये (२) न सा । (३) 'पूरणगुण' (२।२।११) इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितमिदम् । तत्र हि 'सति किमुदाहरणं, ब्राह्मणस्य कुर्वन्, नैतदस्ति कारकषष्ठीनिषेधात्, शेषषष्ठ्या तु ब्राह्मणस्य कटमित्यर्थेनासामर्थ्यात्' (४) इत्याद्यर्थकमुक्तमिति परे ।

इस वार्तिक से कारक षष्ठी के निषेध के विषय में शेषत्व विवक्षा नहीं होती है, ऐसा ज्ञापन करते हैं । शेषत्व विवक्षा से भाष्यकार के प्रत्याख्यान में तो अनभि-

धान क्त से अतिरिक्त विषय में शेषत्व विवक्षा नहीं होती । यह विषय "पूरणगुण" सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है । भाष्य में इस प्रकार से लिखा है कि सत् में क्या उदाहरण है—'ब्राह्मणस्य कुर्वन् । उदाहरण देकर कहा कि यह नहीं हैं –क्योंकि कारक षष्ठी का निषेध होने से शेष षष्ठी से तो 'ब्राह्मणस्य कटम्' इस अर्थ से असामर्थ्य है । इत्यादि अर्थ वाला कहा है यह परे मत है । अब यहाँ मेरा कथन यह है कि क्त से अतिरिक्त कृदन्त में शेषत्व विवक्षा हो तो शत्रन्त के योग में शेषत्वविवक्षा नही होती है । ऐसे अर्थ वाला यह नहीं है । कहकर कटादिपदार्थो के साथ अन्वय विवक्षा में शेष षष्ठी में तो असामर्थ्य से समास के अभाव का उपपादन कर शतृ ग्रहण का प्रत्याख्यान भाष्योक्त असंगत हो जायेगा । इसलिये इससे यह कल्पना करनी ठीक है कि कृत् मे अतिरिक्त कृदन्त में शेषत्व विवक्षा नहीं होती है । वार्तिक और भाष्यकार विरोध परिहार तो यथोत्तरं मुनीनां प्राभाण्यात् से जानना । अर्थात् भाष्यकार का मत ही ठीक है ।

अधीयन्निति । 'इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि' (३।२।१३०) इति शता । द्विषन्निति । द्विषोऽमित्रे' (३ २।१३१) इति शता । शेषे षष्ठी त्विति । इदञ्चिन्त्यमि (५) त्युक्तं परैः ।

अधीयन्निति । इङ् धातु से 'शत्रकृच्छ्रिणि' से शतृ प्रत्यय होती है । द्विषन्निति । 'द्विषोऽमित्रे' से शतृ प्रत्यय जानना । शेषे षष्ठी त्विति । यह चिन्त्य है, यह किसी का मत है क्तातिरिक्त विषये नशा इत्यादि रूप से कहा है ।

अकेनो [२।३।७०] । अत्र यथासंख्यं नेष्यते । अकस्याधमर्ण्येऽसम्भवादाह–भविष्यत्यकस्येति । वर्षशतस्य पूरक इत्यादौ 'एतत्कर्मकयाजनकर्तारः' इत्यर्थके 'अङ्ग यजता लप्स्यन्तेऽस्य याजकाः' इत्यादौ च षष्ठी भवत्येव । कर्तृमात्रार्थके 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) इति ण्वुलि पदान्तरसम्बन्धेन भविष्यत्त्वप्रतीतावपि अकस्य तत्रावृत्तेः 'तुमुन्ण्वुलौ' (३।३।१०) इति ण्वुल् तु भविष्यतीत्यधिकृत्य विधानाद्भविष्यदर्थक एवेति भावः । व्रजङ्गमीति । 'गमेरिनिः' (उ० सू०) इत्यौणादिक इनिः । स च भविष्यति 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३) इत्युक्तेः । गामीति पाठे बाहुलकाद् वृद्धिः । शतन्दायीति । 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' (३।३।१७०) इति णिनिः आवश्यके णिनावप्ययं निषेधः । सूत्रे आधम–

र्थ्यपदेन तत्सूत्रोक्तार्थोपलक्षणात् । अत एव 'अंशं हारी' (५।२।६९) इति निर्देशः सङ्गच्छते । तत्र हि आवश्यके णिनिः । न च तत्र भविष्यदर्थकत्वेन सिद्धिः, भूतवर्त्तमानयोरावश्यकत्वबोधनस्य वैफल्येन भविष्यत एव ततो बोधादिति वाच्यम् । वस्तुतो भविष्यतो बोधेऽपि तत्त्वेनाबोधात् णिनेस्तदर्थकत्वाभावाच्च । अत एवावश्यङ्कारी कटस्येति वृत्त्युदाहृतं सङ्गच्छते । तत्र हि नानेन णिनिः, (१) अवश्यम्पदोपादानात् । किन्तु 'सुप्यजातौ' (३।२।७८) इत्यनेनेति नव्याः ।

अकेनो । यहाँ यथासंख्य इष्ट नहीं है क्योंकि अक् का आधमर्ण्य में होना सम्भव नहीं है । भविष्यत्यकस्येति । वर्षशतस्य पूरकइत्यादि में 'एतत्कर्मकयाजनकर्तारः' के अर्थ वाले अङ्गयजतां लप्स्यन्तेऽस्य याजकाः" इत्यादि में तो षष्ठी होगी। कर्ता में होने वाले 'ण्वुल्तृचौ' ण्वुल् में तो अन्य पद के सम्बन्ध से भविष्य की प्रतीति होने पर भी अक् भविष्यत् में नहीं है ।'तुमुन्ण्वुलौ' से होने वाला ण्वुल् तो भविष्यति अधिकार में होने से भविष्यत् अर्थ में होता है क्योंकि 'भविष्यति गम्यादयः' कहा है । गामी पाठ होने पर बाहुलक मानकर वृद्धि करना । शतन्दायीति । आवश्यकाधर्मण्ययोः से णिनि् प्रत्यय होता है । आवश्यक णिन् में 'अकेनो' निषेध करता है क्योंकि सूत्र में आधमर्ण्य पद से उस सूत्र में कहे अर्थ को उपलक्षण मानने से (निषेध होता है) । इसी से अंशंहारी यह निर्देश भी सिद्ध होता है, हारी में आवश्यक में णिनि है । वहाँ भविष्यत् अर्थ मानकर सिद्ध हो जायेगी -क्योंकि भूत और वर्तमान में आवश्यक बोधन विकल्प से होता है । इसलिए भविष्यत् का ही बोध होता है । यह किसी की शंका उचित नहीं है क्योंकि वास्तविक में भविष्यत् का बोध होने पर भविष्यत् से बोध नहीं है और णिन् प्रत्यय में भविष्यत् अर्थ में नहीं है । इसी से अवश्यकारी कटस्य यह वृत्तिका उदाहरण भी संगत होता है । अर्थात् यहाँ षष्ठी का निषेध नहीं होता है । नवीनों का कहना है कि वहाँ इससे णिन् प्रत्यय नहीं होता है--क्योंकि उसमें अवश्यपद का उपादान है किन्तु 'सुप्यजातौ' से 'णिनि होती है ।

कृत्यानाम् [२।३।७१] । कर्तृकर्मणो' (२।३।६५) इति नित्ये प्राप्ते विभाषा । कर्मनिवृत्त्यर्थं कर्तृग्रहणम् । अनुवर्त्तत इति । निषेधोऽय कर्त्तरि कर्मणि च । 'कर्तरि वा' इति त्वनुभयप्राप्तिविषयमिति वृत्तिकैयटादयः । व्रजमित्यत्र 'गुणकर्मणि वेष्यते' इति विकल्पस्तु न, कृत्यातिरिक्ते चरितार्थस्य तस्य 'दोग्धव्या गावः

पयः कृष्णेन' इत्यादौ गुणकर्मणि उक्तत्वात् प्रधाने चरितार्थेनानेन परत्वाद्बाधात् ।

कृत्यानाम् । 'कर्तृकर्मणोः' से नित्य प्राप्त होने पर यह विकल्प के लिये है। कर्म की निवृत्ति के लिये कर्तृग्रहण है अनुवर्त्ततइति । यह निषेध कर्ता और कर्म में होता है। "कर्तरि श्वा" तो अनुभवप्राप्ति के विषय में जानना, ऐसा वृत्तिकार तथा कैयट का मत है। व्रजम् 'गुणकर्मणि वेष्यते' गौण कर्म में विकल्प से होता है। यह विकल्प नहीं होता है। कृत्य से अतिरिक्त विषय में चरितार्थ होने से 'दोग्धव्या गावः पयः कृष्णेन' इत्यादि गुण कर्म के उक्त होने से प्रधान में चरितार्थ होने से यह पर होने से बाध करता है ।

तुल्यार्थैर्योग इति । तुल्यत्वार्थैरित्यर्थः । अत एवातुलोपमाभ्यामिति चरितार्थम् । अतएव पर्युदासादनव्ययोग एवेद, तेन इवशब्दयोगे न ।

तुल्यार्थैर्योग इति । तुल्यत्वार्थ के योग में अर्थ करना इसी से अतुलोपमाभ्याम् चरितार्थ हुआ । इसी पर्युदास से अनव्यय के योग में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। इससे इव शब्द के योग में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

चतुर्थी चाशिषि (२।३।७३) आशीर्विषयक्रियान्वय्यर्थकात् प्रातिपदिकात्तद्द्वारके आयुष्यादियोगे चतुर्थीषष्ठ्याविवत्यर्थः । अत एवैतदर्थकचतुर्थ्यन्तेन सुखहितादिभिर्न समासः । उभयोरपि क्रियान्वयेन परस्परमसामर्थ्यात्, अत एव हि तेन चतुर्थीसमासविधानं तद्योगे चतुर्थीज्ञापकमित्या (२) करोक्तं सङ्गच्छते । यत्तु वृत्तावुद्देश्यविधेयभावेनानन्वयादशीर्विषये च तथाऽन्वयान्न समास इति । तन्न, वृत्तावपि प्राप्तत्वादिपर्यालोचनेन 'लोहितोष्णीषाः' इत्यादौ (३) तथान्वयदर्शनात् । भाष्ये तथान्वये वृत्तेरसाधुताया-अनुक्तेश्चेति समासवादे मञ्जूषायां विस्तरः। व्याख्यानादिति । सूत्रेऽर्थशब्दः पृथङ् निमित्तामिति भावः। भाष्ये तु नैतद् दृश्यते ।

॥ इति षष्ठी ॥

चतुर्थी चाशिषि । आशीर्वाद के विषय में क्रियान्वय्य अर्थ वाले प्रातिपदिक से उसके द्वारा आयुष्यादि के योग में चतुर्थी तथा षष्ठी होती है। इसीलिये इस

अर्थ वाले चतुर्थ्यन्त सुख तथा हित के योग में समास नहीं होता है। क्योंकि दोनों का क्रिया में अन्वय होने से आपस में सामर्थ्य नहीं है, इसी से उससे चतुर्थी समास का विधान उसके योग में चतुर्थी का ज्ञापक है – यह भाष्योक्त भी संगत होता है– तात्पर्य यह हैकि इससे सुख तथा हितादि योग में चतुर्थी होने पर सामर्थ्य से 'हितयोगे च' यह कल्पना भाष्यकार की व्यर्थ है। किसी का यह कथन कि उद्देश्य विधेयभाव से अन्वय न होने से और आशीर्वाद में उद्देश्य विधेय भाव से अन्वय होने से समास नहीं होता है। यह उनका कथन ठीक नहीं है– क्योंकि वृत्ति में प्राप्तत्वादि देखने से लोहितोष्णीषाः (लाल पगड़ी वाले) इत्या-दि उस प्रकार का अन्वय देखते हैं। प्राप्त उष्णीष को उद्देश्य कर अप्राप्त लोहितत्वमात्र विधान होता है। भाष्य में उस प्रकार के अन्वय होने पर वृत्ति की असाधुता नहीं कही है। यह समास बाद में मञ्जूषा में अधिक विचार्य है। व्याख्यानादिति। सूत्र में अर्थ शब्द पृथक् निमित्त है। भाष्य में यह नहीं दीखता है।

॥इति षष्ठी॥

आधारो (१।४।४५) ' 'कारके' (१।४।२३) इत्यधिकारात्क्रियाजनके एतत्प्रवृत्त्योपस्थितत्वादाधारः क्रियाया एव। तत्रेप्सिततम—स्वतन्त्रपदाभ्यां साक्षात्क्रियाधारयोः कर्मकर्तृसञ्ज्ञाभ्यां (१) बाधात्परम्परया तदाश्रयस्य ग्रहणम्। परम्परा च कर्तृकर्मद्वारिकैव व्याख्यानादित्याह—कर्तृकर्मद्वारेति। यद्यपि कालस्य साक्षात्क्रियापरिच्छेदकत्वं तथापि तदधिकरणं कर्तृकर्मद्वारैव। तथैवानुभवात्, साक्षात्तदाधारत्वेऽपि स्वरितत्वप्रतिज्ञानात्परम्पराधारस्य ग्रहणम्। किञ्च साक्षात्तदाधारत्वे कर्तृत्वमेव तस्य स्यात्। कालः पचति भूतानीतिवत्। एवञ्च क्रियान्वयोऽप्यस्य कर्त्राद्यन्वयद्वारैव। यस्य यद्द्वारा कारकत्वं तस्य तद्द्वारैव क्रियान्वय इति व्युत्पत्तेः। अत एव 'अक्षशौण्डः' इत्यादौ समासः। अत्र, आसक्त्यादिक्रियान्तर्भावेण बोधाननुभवात् 'क्रियाद्वारा सामर्थ्यम् इति (२) कैयटाद्युक्तं न युक्तम्। 'मूले वृक्षाः कपिसंयोगी' इत्यादावस्तिक्रियामध्याहृत्य तस्याः स्वकर्तृकपिसंयोगिवृक्षद्वारा मूलवृत्तित्वादाधारत्वम्। (३) विशिष्टवृक्षस्य मूलवृत्तित्वबोधेऽन्यत्रान्वयने [४] तद्विशिष्टवृक्षाभावप्रतीतेः। कपिसंयोगे तदवच्छेद्यत्वं फलतीति दिक्।

आधारो। कारके के अधिकार से क्रिया जनक में ही इसकी प्रवृत्ति होने से

और उपस्थिति होने से आधार क्रिया का ही लेना। वहाँ ईप्सिततम और स्वतन्त्र पदों से साक्षात् क्रिया के आधारों की कर्मसंज्ञा तथा कर्तृसंज्ञा से बाध होने से परम्परा से जो क्रिया आधार हो उसका ग्रहण करना। इसी से गृहं प्रविशिति मोक्षमिच्छति में सप्तमी नहीं होती है और व्याख्यान से परम्परा भी कर्ता या कर्म के द्वारा होगी। उसको स्पष्ट करते हैं—कर्तृकर्मद्वारेति। यद्यपि काल साक्षात् क्रिया का परिच्छेदक है तो भी उसका अधिकरण कर्ता या कर्म के द्वारा ही है। अनुभव भी उसी प्रकार का होता है। साक्षात् उसके आधार में भी स्वरितत्व के प्रतिज्ञान से परम्परा से जो आधार उसका ग्रहण है और साक्षात् उसके आधार में कर्तृसंज्ञा ही होगी। जैसे कालःपचति भूतानि में होती है। इससे अधिकरण का क्रिया मेंअन्वय भी कर्ता या कर्म के द्वारा ही होता है। जिसका जिसके द्वारा कारकान्वय है, उसका उसके द्वारा ही क्रियान्वय होता है। ऐसी व्युत्पत्ति है। उक्त नियम के मानने से अक्षशौण्ड (पांसे डालने में चतुर) इत्यादि में समास होता है। यहाँ आसक्त्यादि क्रिया के अन्तर्भाव से बोध का अनुभव नहीं होता है। यहाँ क्रिया के द्वारा सामर्थ्य है। ऐसा कैयटादिका कथन उचित नहीं है। यहाँ कैयट का आशय यह है कि अक्षशौण्डस्य धनम् इत्यादि में कर्ता और कर्म के द्वारा भी क्रियान्वय के अभाव से आसक्त्यादि क्रिया के अन्तर्भाव से समासादि वृत्ति कल्पना आवश्यक है। उस प्रकार सब स्थलों में उसी प्रकार वृत्ति के निर्वाह होने पर अधिकरणकारक का परम्परा सम्बन्ध से क्रियान्वय कल्पना उचित नहीं है। क्योंकि अक्षशौण्डस्य धनम् इत्यादि में उद्देश्य वाचक अक्ष में लक्षणा मानने पर भी अक्षशौण्ड में विधेय वाचक में लक्षणा नहीं होती है। क्योंकि (न विधौ परः शब्दार्थः) विधेय में पर (लक्षणा) नहीं होती है। और उक्तस्थल में अक्ष विषय शौण्ड ही विवक्षित है। इसलिये लक्षणा का आश्रयण उचित नहीं है, इसलिए कर्ता के द्वारा ही वहाँ अधिकरण का अन्वय होता है। तब सरलता से वृत्ति हो जायेगी। कैयट के मतका नागेश खण्डन करते हैं कि मूले वृक्षः कपिसंयोगी (अर्थात् वृक्षकी जड़ में वानर बैठा है)। इत्यादि में अस्तिक्रिया का अध्याहार कर उसका अस्तिक्रिया का कर्ता वानर उसके संयोग वाले वृक्ष के द्वारा मूल में रहने से आधार है। कपिसंयोग विशिष्ट वृक्ष में मूलवृत्तिता के बोध होने पर अन्य शाखादि अवयव में कपिसंयोगाभावविशिष्ट वृक्ष की प्रतीति होती है। इसलिए कपिसंयोग में मूलाविच्छेद्यत्वं फलित होता है। संयोग अव्याप्त वृत्ति होता है—क्योंकि उसका भाव (मूल) और अभाव (शाखाओं) में होने से अव्याप्यवृत्ति जिसका भाव और अभाव एक स्थान में रहता हो उसको अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। वृक्ष में मूलावच्छेदेन कपिसंयोगा तथा शाखावच्छेदेन कपिसंयोगभाव होने से संयोग अव्याप्य वृत्ति है।

चकारादिति । प्रातिपदिकार्थं इति शेषः । त्रिधेति । तत्र सकलावयवव्याप्तौ व्यापकाधारत्वम् । यथा तिलेषु तैलम् । इदमेव मुख्यमधि-करणमिति 'स्वरितेन' (१।३।११) इत्यत्र 'साधकतमम्' (१।४।४२) इत्यत्र च भाष्ये स्पष्टम् । उप-समीपे-श्लेषः, सम्बन्धस्तत्कृतमौपश्लेषिकम्, अत एव 'इको यणचि' (६।१।७७) इत्यादावौपश्लेषिके आधारे सप्तम्युक्ता 'संहितायाम्' ६।१।७२) इति सूत्रे भाष्ये । तत्राजादिसामीप्यमेवेगादीनाम् । 'यन्मासेऽति-क्रान्ते दीयते तस्य मास औपश्लेषिकमधिकरणम्' इत्युक्तं 'तत्र च दीयते' (५।१।१६) इति सूत्रे भाष्ये । 'तदस्मिन्नधिकम्' (४।१।६७) इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टमिदम् । 'कटे आस्ते' इति तु नौपश्लेषिकोदाहरणं युक्तम् । उक्तभाष्यविरोधात् । यद्वा, एक-देश वच्छेदेन श्लेषेऽपि श्लेषस्य समीपमुपश्लेषं तत्कृतमिति व्यु-त्पत्त्यौपश्लेषिकत्वमित्यभिप्रायेण तदुदाहरणम् । तदेतत् सर्वं गौण-मधिकरणं, 'गङ्गायाङ्गावः' इत्यादिकञ्चेति 'स्वरितेन' (१।३।११) इत्यादौ भाष्ये स्पष्टम् । गौणोऽप्याधारादिः सप्तम्यादिशक्य एवेति बोद्धव्यम् । एतदतिरिक्तं सर्वं वैषयिकम् । अधिकरणत्व-शक्तिमांश्चाधिकरणविभक्त्यर्थः ।

चकारादिति । इसका शेष प्रातिपदिकार्थ है । त्रिधेति । सकल अवयवों में व्याप्त होने से व्यापकाधार होता है । जैसे-तिलेषु तैलम् (तिलों के सब अंशों में तैल है । यह ही मुख्य अधिकरण है । यह स्वरितेन तथा साधकतमम् के भाष्य में स्पष्ट है । उप अर्थात् समीप में श्लेष सम्बन्ध होने पर औपश्लेषिक होता है इसी से 'इकोयणचि' में औपश्लेषिक आधार में सप्तमी संहितायाम् सूत्र के भाष्य में कही है। वहाँ अच् आदि का सामीप्य ही इक् आदि में है । जो मास (महीना) के बीतने पर दिया जाता है, वहाँ मास औपश्लेषिक अधिकरण है । ऐसा तत्र च दीयते' तथा तदस्मिन्नधिकम् सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है । उक्त भाष्य के विरोध से कटे आस्ते औपश्लेषिक का उदाहरण नहीं है । अथवा एक देश में सम्बन्ध होने पर श्लेष के समीप उपश्लेष तत्कृतम् औपश्लेषिकम् ऐसी व्यु-त्पत्ति से वह भी उदाहरण है । ये सब गौणाधिकरण हैं, गङ्गायाङ्गावः' भी गौणआ-धार का उदाहरण है । यह स्वरितेन इत्यादि के भाष्य में स्पष्ट है । गौणाधारादि भी सप्तमी के शक्य ही हैं । उक्त दोनो से अतिरिक्त सब वैषयिक हैं । अधिकरणत्व शक्ति वाला ही अधिकरण विभक्ति का अर्थ है ।

इन्विषयस्येति । इनो विषयस्येन्प्रकृतेः क्तान्तस्य कर्मणी-त्यर्थः । तेन 'कृतपूर्वी कटम्' इत्यत्र न । उदाहरणे न कर्मणि क्तः, अभिहितत्वेन सप्तम्यनापत्तेः । किन्तु भावे । इष्टादिभ्यश्चेति । तत्र हि श्राद्धमनेनेत्यतोऽनेनेति वर्तते । अत्र कर्मशब्देन काला-दिव्यतिरिक्तमेव गृह्यते व्याख्यानात्, तेन 'मासमधीते व्याकरणे' इत्यत्र नेति कैयटः ।

इन्विषयस्येति । इन् का विषय अर्थात् इन् प्रकृति वाले क्तान्त के कर्म में यह अर्थ है । इससे 'कृतपूर्वीकटम्' में नहीं होता है । क्योंकि वहाँ क्तान्त का कर्म कट नहीं है । उदाहरण में कर्म में क्त प्रत्यय नहीं है क्योंकि अभिहित होने से सप्तमी का होना संभव नहीं था किन्तु भाव में ही क्त प्रत्यय है। इष्टादिभ्यश्चेति। वहाँ श्राद्धमनेनेति से अनेन की अनुवृत्ति होती है । यहाँ व्याख्यान से कालादि से भिन्न ही कर्मशब्द से ग्रहण करना । उक्त व्याख्यान या 'मासमधीती व्याकरणे' में मास से सप्तमी नहीं होती है । ऐसा कैयट का मत है ।

साध्वसाधु (का० वा०) । शेषषष्ठ्यपवादोऽयम् । 'साधु-निपुणाभ्याम्' (२।३।४२) इत्येव सिद्धे अनर्चार्थमत्र साधुग्र-हणम् । तेन तत्त्वकथनेऽपि भवति । सूत्रेऽर्चग्रहणन्तु (१) निपु-णार्थम् ।

साध्वसाधु । यह शेषे षष्ठी का अपवाद है । 'साधुनिपुणाभ्याम्' से ही सिद्ध था । साधुग्रहण अनर्चा के लिये है। इससे तत्त्वकथन में भी होती है । सूत्र में अर्चा-ग्रहण तो निपुण अर्थ के लिये है । अब सूत्र में साधु ग्रहण व्यर्थ है ।

निमित्तादिति । निमित्तवाचकात् सप्तमी भवति, तस्य नि-मित्तस्य प्रत्यासत्त्या (२) स्वान्वयिक्रियाकर्मणा योगे इत्यर्थः । निमित्तञ्चात्र क्रियाफलम् एवञ्च फलं सप्तम्यर्थः। चर्मणीति। चर्मणः फलत्वञ्च हननस्य तल्लाभेच्छाधीनत्वात् । कर्मसम्बन्धश्च स्व-रूपसन्नेव निमित्तम् । द्वीपिचर्मणोरण्डकोशमृगयोश्च समवायः, इतरयोः संयोगः । मुक्ताफलाय करिणं रघुवीरेत्यादौ 'क्रियार्थो-पपदस्य' (२।३।१४) इति चतुर्थी । घ्नन्तीति शेषः । मुक्ताफ-लान्याहर्तुमित्यर्थः ।

निमित्तादिति। निमित्त के वाचक से सप्तमी होती है। उस निमित्त का प्रत्यासत्य (सामीप्य) से निमित्त में अन्वय होने वाली क्रिया के कर्म से योग होने पर सप्तमी होती है। यहाँ दार्शनिकों का मत है कि कर्म अर्थात् क्रिया उसके योग में अर्थात् सम्बन्ध में निमित्तवाचक से सप्तमी होती है। यह वार्तिक का अर्थ है निमित्त प्राप्त की इच्छा से प्रयोज्य अथवा जिसकी प्रयोजक क्रिया हो प्रथम का उदाहरण चर्मणिद्वीपिनं हन्ति है। द्वितीया का अविद्यारजनीक्षये है। प्रथम में प्राप्त की इच्छा ही सप्तमी का अर्थ है। द्वितीया में अनुकूलत्व सप्तमी का अर्थ है यहाँ निमित्त ही क्रिया का फल है—इसलिए फल ही सप्तमी का अर्थ है। चर्मणीति। चर्म फल है क्योंकि मारना चर्म के लाभ की इच्छा के अधीन है। और कर्म का सम्बन्ध स्वरूप होता हुआ ही निमित्त है। द्वीपी गेंडा और चर्म का अण्डकोश तथा मृग का समवाय सम्बन्ध है। अन्य दोनों का संयोग सम्बन्ध है। मुक्ताफलाय करिणं इत्यादि में 'क्रियार्थोपपदस्य' से चतुर्थी है, इससे शेष हन्ति है। मुक्ताफल (मोतियों को लेने के लिये अर्थ है)।

यस्य च भा (२।३।३७)। भावः क्रिया। ततः–ज्ञापकक्रियाश्रयवाचकात्। तेन गोपददुह्यमानपदयोरुभयोरपि सप्तमी सिद्धा। क्रियाश्रयः कर्ता कर्म च। तत्र 'ब्राह्मणेष्वधीयानेषु गतः' इति कर्त्रुदाहरणम्। कर्मण्याह–गोष्विति। तत्र काचित् क्रिया स्वाधारकालेनान्यां क्रियां परिच्छिनत्ति यथा प्रकृते, काचित्तु स्वाधारकालाव्यवहितपूर्वकालेन यथा गोषु धोक्ष्यमाणास्वित्यादौ, काचित्स्वाधारकालानन्तरकालेन यथा गोषु दुग्धास्वित्यादौ। ज्ञापकत्वं सप्तम्यर्थस्तस्य च भावलक्षणमित्युक्तेः क्रियायामेवान्वयः। लक्ष्यलक्षणभावः शब्दबोद्धय एवैतच्छास्त्रप्रवृत्तौ निमित्तं न तु तस्य भूयोदर्शनादिरूपमानान्तरेण ग्रहणापेक्षेति बोद्धयम्। अन्यथोदिते आदित्ये तमो नष्टमित्यादावेव स्यान्न तु प्रकृते कदाचिद्धि गोषु दुह्यमानास्वसौ गतः। इदञ्च यत्र मानान्तरेण ज्ञातस्वरूपस्यार्थस्य कालविशेषादिज्ञापनार्थं शब्दप्रयोगस्तत्रैव प्रवर्तते भाष्यस्वरसात्। 'राहूपरागे स्नायाद्' इत्यत्र राहूपरागपदेन तदाश्रयकाल उच्यते इति अधिकरणसप्तम्येव। विवाहे नान्दीमुखङ्कुर्यादित्यत्र विवाहपदेन तत्प्राक्काल उच्यते 'गवान्दोहे आगतः' इत्यत्राप्यधिकरणसप्तम्येवेत्यन्यत्र विस्तरः।

यस्य च भा। भाव क्रिया का नाम है उससे अर्थात् ज्ञापक क्रियाश्रय के वाचक से उक्त अर्थ करने से गोप तथा दुह्यमान दोनों से सप्तमी सिद्ध होती है। क्रिया का आश्रय कर्ता और कर्म दोनो ही है। कर्ता का उदाहरण ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः है। कर्म का उदाहरण लिखते हैं—गोष्विति। वहाँ कोई क्रिया अपने आधार काल से अन्य क्रिया को बतलाती है। जैसे कि उदाहरण में है और कोई अपने आधार काल में अव्यवहित पूर्वकाल से जैसे गोषुधोक्ष्यमाणासु में कोई अपने आधारकाल से अनन्तर काल से भेद करती है। उदाहरण गोषु दुग्धासु है। भविष्य में पूर्वकाल तथा भूत में उत्तरकाल होगा। ज्ञापकत्व ही सप्तमी का अर्थ है उसका भाव लक्षण कहने से क्रिया में ही अन्वय होता। लक्ष्यलक्षणभाव शब्द से बोद्धय ही इस शास्त्र की प्रवृत्ति में निमित्त है। उसको 'अनेक बार देखना आदि मानान्तर ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं है। अन्यथा उदिते (सूर्य के उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो गया) इत्यादि में प्रवृत्ति होगी। प्रकृत उदाहरण में नहीं होगी, कभी गायों के दुहने के समय में यह गया। भाष्य के अनुभव से जहाँ मानान्तर से जाने हुये स्वरूप वाले अर्थ का विशेष काल समझाने के लिये शब्द प्रयोग होगा वहाँ इसकी प्रवृत्ति होगी। राहूपरागे स्नायात् ग्रहण में स्नान करना चाहिए। यहाँ राहूपराग पद से उसके आश्रय वाले काल का ग्रहण है। इसलिये अधिकरण में सप्तमी है। विवाहे—विवाह में नान्दीमुख श्राद्ध करना चाहिए। यहाँ विवाह पद से उसके पूर्वकाल का ग्रहण करना अर्थात् विवाह से पूर्व उक्त श्राद्ध करना चाहिये। इस श्राद्ध के करने से जनन शौच तथा मरण शौच नहीं होता है। गवां दोहे आगतः में सप्तमी अधिकरण में है।

अर्हाणाम् (का० वा०) कर्तृत्वार्हाणाम्। तद्वैपरीत्ये-अर्हाणामकर्तृत्वं अनर्हाणां च कर्तृत्वे इत्यर्थः। वाक्यतुष्टयमेतत्। कर्तृसमर्पकादकर्तृसमर्पकाच्च सप्तमीत्यर्थः। सप्तम्यां तदन्वयिक्रियावाचकाद्धातोरप्रथमासामानाधिकरण्याच्छतृशानचावेव। लक्ष्यलक्षणभावाविवक्षार्थमिदम्।

अर्हाणाम्। जो कर्ता के योग्य है। तद्वैपरीत्ये—अर्हायोग्य के कर्ता न होने पर और अयोग्य के कर्ता होने पर यहाँ चार वाक्य हैं—कर्ता के सम्पर्क से और अकर्ता के सम्पर्क से सप्तमी होती है। सप्तमी में उसके अन्वय वाली क्रिया के वाचक धातु से प्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य न होने से शतृ तथा शानच् प्रत्यय ही होते हैं। यह सूत्र लक्ष्यलक्षणभाव की अविवक्षा के लिए है।

सत्स्वति । सन्तो हि तरणक्रियाकर्तृत्वार्हाः तरणक्रियाकर्तृ-सत्सम्बन्धि असत्कर्तृकमासनमिति बोधः । स्वक्रियाधिकरणकालवृत्तित्वं सम्बन्धः ।

सत्स्वति । सज्जन हीं तरणक्रिया के योग्य है । तरणक्रिया के कर्ता से सम्बन्ध वाला असज्जनों का रहना है । यहाँ स्वक्रियाधिकरण कालवृत्तित्व सम्बन्ध । स्वपद से तरण लेना अर्थात् तरण क्रिया के अधिकरण काल में असन्तों का रहना है ।

असत्स्वति । तरणक्रियाकर्तृत्वानर्हाणां तदकर्तृत्वमत्र । यद्यपि स्थितिक्रियाकर्तृत्वार्हत्वेनेदं सिद्धं तथाप्यसतां तरणक्रियानर्हत्वादि-कमपि बोधविषय इति भावः ।

असत्स्वति । जो तरण क्रिया के योग्य नहीं है उनका अकर्ता होना ही प्रकृति में है । यद्यपि स्थिति क्रिया के कर्ता के योग्य होने से यह सिद्ध था तो भी असत् पुरुषों के तरण क्रिया की अयोग्यता का बोधन भी यहाँ है ।

सत्स्वति । तरणक्रियाकर्तृत्वार्हाणां तदकर्तृत्वमत्र ।

सत्स्वति । तरणक्रिया के कर्ता की योग्यता होने पर भी उनके कर्ता का न होना हीं यहाँ है ।

असत्स्वति । तरणकर्तृत्वानर्हाणां तत्कर्तृत्वमत्र ।

असत्स्वति । तरण क्रिया के कर्ता न होने पर उनके कर्तृत्व का बोधन करना ही प्रकृति में है ।

षष्ठी चा (२।३।३८) । 'अनादरे' इति विषयसप्तमी, 'यस्य च भावेन' (२।३।३७) इत्याद्यनुवर्तते । अनादरे गम्यमाने सति यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी षष्ठी चेत्यर्थः । फलितमाह–अनादराधिक्य इति । लक्ष्यलक्षणभावः षष्ठ्यर्थः । अनादरविशिष्टं प्रव्रजनं धात्वर्थः । तत्र षष्ठी तात्पर्यग्राहिका, (१) अनादरश्च प्रत्यासत्त्या पुत्रादिविषयक एवेति भावः ।

षष्ठीचा । अनादरे में विषय सप्तमी है । यस्य च भावेन इत्यादि की अनुवृत्ति होती है । अनादर की अभिव्यक्ति होने पर जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया का ज्ञान हो उससे सप्तमी तथा षष्ठी होती है । फलित कहते हैं । अनादराधिक्य इति । यहाँ लक्ष्यलक्षणभाव ही षष्ठी का अर्थ है । अनादर से युक्त जानना ही धातु का अर्थ है। वहाँ षष्ठी तात्पर्य की ग्राहक है । अनादर समीप होने से पुत्रादिविषयक ही ग्रहण करना ।

स्वामीश्वरा (२।३।३९) शब्दपरत्वाद् 'विरूपाणामपि' (का० वा०) इति नैकशेषः । पर्यायान्तरसङ्ग्रहापत्त्या स्वाम्यर्थ इति नोक्तम् । दीयते इति व्युत्पत्त्या दीयमानांशरूपं दायमादत्ते इति सोपसर्गादप्यादन्तादत एव निपातनात्कः गवादिकं च दीयमानेऽन्वेति ।नित्यसाकाङ्क्षत्वाद् वृत्तिः । दायादशब्दः स्वामिपर्याय इत्यन्ये । षष्ठ्यामेवेति । 'शेषे षष्ठी' इत्यनेनेति भावः ।

स्वामीश्वरा । यहाँ स्वामी तथा ईश्वर का समानार्थ होने से 'विरूपाणामपि' समानार्थानाम् एकशेष नहीं होता है । क्योंकि यहाँ दोनों शब्दपरक है अर्थात् इन शब्दों से योगविभक्ति होती । स्वाम्यर्थ कहने से अन्य पर्यायों का भी ग्रहण हो जाता इसलिये स्वाम्यर्थ नहीं कहा । दीयते इस व्युत्पत्ति से देने वाले दायभाग का जो ग्रहण हो—यहाँ आदत्ते में आद् उत्सर्ग होने से 'आतोऽनुपसर्गे कः से क प्रत्यय नहीं होना चाहिए क्योंकि वहाँ उपसर्गरहित से कर्ता है । परन्तु यहाँ निपान से क प्रत्यय होता है ।गाय आदि का दीयमान में अन्वय होता है । देवदत्तस्य गुरुकुलम् की तरह नित्यसाकांक्ष होने से समासादि वृत्ति होती है । दायादशब्द स्वामी का पर्याय है यह किसी का मत है । षष्ठ्यामेवेति । 'शेषे षष्ठी' से षष्ठी जानना ।

तात्पर्ये इति । आसेवापदस्य तत्र रूढेरिति भावः । तात्पर्यञ्च तदेकव्यापारता । आयुक्तयोगेऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमीप्राप्तौ, सम्बन्धविवक्षायाम् (२) अत्र कुशलयोगे च षष्ठीप्राप्तौ वचनम् ।

तात्पर्ये इति । आसेवापद उसमें रूढ है और तात्पर्य से उसके साथ एक व्यापार का होना है । आयुक्त के योग में अधिकरण की विवक्षा में सप्तमी थी–सम्बन्धविवक्षा में आयुक्त के योग में षष्ठी की प्राप्ति होने पर उक्त वचन का निर्माण हुआ ।

यतश्च (२।३।४१) । जातिगुणक्रियासंज्ञाभिरिति । विशिष्टस्येत्यध्याहारः । तद्विशिष्टस्य यतः स्वघटितसमुदायात्स्वेतर-समुदायघटकव्यावृत्तधर्मकरणकं (३) पृथक्करणं तद्वाचकात् । षष्ठीत्यर्थः । यत इति किम् ? यस्य जात्यादिविशिष्टस्य स्वेतरव्यावृत्तधर्मवत्त्वबोधनं तत एव मा भूत् । षष्ठ्यपवादत्ववत् प्रथमापवादत्वस्यापि सम्भवात् । स्वघटितसमुदायावधिक-स्वेतरसमुदायघटकव्यावृत्तधर्मकरणकपृथक्करणरूप (१) निर्धारण-विषयत्वरूपो (२) ऽवयवावयविभावरूपश्च सम्बन्धो विभक्त्यर्थः ।

नृसमुदायावधिक— द्विजेतरनरव्यावृत्तधर्मकरणकपृथक्करणरूपनि-र्धारण-विषयो नृसमुदायावयवो द्विजः श्रेष्ठ इति बोधः । संसर्ग-घटककरणं च श्रेष्ठत्वादिरूपमें वप्रत्यासत्तेः । (३) अत एव 'न निर्धा-रणे' (२।२।१०) इति सूत्रबोधितं निर्धारणस्य (४) विभक्त्यर्थत्वं सङ्गच्छते । उद्‌भूतावयवभेदविवक्षया नृणामिति बहुवचनम् । ति-रोहितावयवभेदाविवक्षया निर्धारणविषये एकवचनं त्वसाध्विति 'कारके' (१।४।१३) इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । तत्र हि निर्धारणे कारकेष्विति ब्रूयादित्युक्तम् । 'मिदचोऽन्त्यात्' (१।१।४७) इत्यादौ तु सौत्रो निर्देश इति (१) तदाशयः । द्वन्द्वः सामासिकस्य चेत्यत्र समाससमूहमद्ध्ये इत्यर्थः । समूहेऽर्थे 'अचित्त' (४।२।४७) इति ठक् ।

यतश्च । जाति, गुण, क्रिया अथवा संज्ञा से यहाँ विशिष्ट का अध्याहार है । जात्यादि विशिष्ट का जिससे अर्थात् स्वघटित समुदाय से अपने से भिन्न समु-दाय में वृत्ति लग करना धर्मकरणक पृथक् करण हो उसके वाचक से षष्ठी होती है । यहाँ निर्धारण का अर्थ इस प्रकार का है – जात्यादि विशिष्ट का स्व (अपने)से भिन्न धर्म वाला जिसमें विशेषण हो। इस प्रकार के ज्ञान का विषय करना ही है। इसका समन्वय नराणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः में इस प्रकार से है -ब्राह्मणत्वादि वि-शिष्ट का उससे भिन्न मनुष्यादि से व्यावृत्ति श्रेष्ठत्व धर्म वाले का प्रतिपादन है । इसलिये नर शब्द से षष्ठी और सप्तमी होती है । यह यतः के अभाव में ब्राह्मण शब्द से भी षष्ठी सप्तमी होने का योग था क्योंकि जात्यादि से युक्त जिसको अपने से भिन्न धर्म वाले का बोधन होने से प्राप्त थी। षष्ठी के अपवाद की तरह प्रथमा का भी अपवाद संभव था । इसलिये वहाँ प्रथमा बाधक होगी । यह कहना भी संभव नहीं है । यहाँ विभक्ति का अर्थ इस प्रकार से जानना अपने से युक्त समुदाय को अवधि लेकर अपने से भिन्न समुदाय के मध्य वाले से व्यावृत्ति धर्म को करना रूपी पृथक् करण रूप निर्धारण में और अवयवावयविभाव सम्बन्ध है । मनुष्य के समुदाय को अवधि मानकर ब्राह्मण से इतर भिन्न धर्म करने वाला निर्धारण का विषय मनुष्य समुदाय का अवयव ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ऐसा बोध करना यहाँ नर समुदाय अवयवी है। और द्विज अवयव है । और सामीप्य होने से श्रेष्ठत्वादि है । सम्बन्ध के मध्य में कहा है । निर्धारण विषयत्व को षष्ठ्यर्थ मानने से ही 'न निर्धारणे' से ज्ञात निर्धा-को विभक्त्यर्थ भी सिद्ध होता है । उद्‌भूत अवयव की भेद विवक्षा में नृणाम् यह बहुवचन है । तिरोहिता अवयव भेद विवक्षा से निर्धारण के विषय में एकवचन असाधु है – ऐसा 'कारके' के भाष्य में स्पष्ट है । वहाँ भाष्य में निर्धारणे कारकेषु कहना चाहिए। कहा है–मिदचोऽन्त्यादि में सौत्र निर्दे है ऐसा उनका आशय है ।

द्वन्द्वः समासिकस्य च (इस गीता के प्रयोग) में तो समास समुदाय के मध्य अर्थ है। समूह अर्थ में 'अचित्त' इत्यादि सूत्र से ठक् प्रत्यय होता है।

पञ्चमीवि (२।३।४२)। 'यतश्च निर्धारणम्' (२।३।४१) इत्यनुवर्तते विभागोऽत्र भेदः। तत्र निर्धारणे यथाकथञ्चिद्भेदस्य सत्त्वेन विभक्तग्रहणसामर्थ्यात् यत्र भेद एव न तु केनाप्युपात्तरूपेण अभेदस्तत्रैव प्रवृत्तिरित्याह-भेद एवेति। पञ्चम्यर्थो निर्धारणविषयत्वरूप एव। पाटलिपुत्रकावधिकनिर्धारणाविषय माथुरा आढ्यतरा इति बोधः। एवञ्च त्रितयोपादान एव निर्धारणप्रतीतिरिति 'पुरुषोत्तमः' इत्यादौ सम्बन्धसामान्ये षष्ठी उत्तमनिरूपितेति (२) समाससिद्धिरिति तरप्सूत्रे कैयटः।

पञ्चमीवि। इसमें यतश्च निर्धारणम् की अनुवृत्ति होती है। यहाँ विभाग का अर्थ भेद है, वहाँ निर्धारण में सब स्थलों में किसी प्रकार से भेद का रहना संभव है। फिर विभक्ति ग्रहण करने से जहाँ भेद ही हो, किसी उपात्त रूप से अभेद न हो, उस स्थल में ही प्रवृत्ति हो—इसलिये कहा है भेद एवेति। यहाँ पचम्यर्थ निर्धारण विषयत्वरूप ही है। पाटलिपुत्र (पटना) को अवधि मानकर मथुरा वाले अधिक धन वाले है। इस प्रकार तीनों के तुपादाम में ही निर्धारण की प्रतीति होती है, इसलिए पुरुषोत्तम इत्यादि में (पुरुष उत्तम) के अपादान में उक्त सूत्र से षष्ठी नहीं होतीं है, किन्तु सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है (उसका अर्थ उत्तम निरूपिता है।) अतएव ससास की सिद्धि होती है, यदि उक्त सूत्र से षष्ठी होती तो 'न निर्धारणे, से निषेध हो जाता।

साधुनि (२।३।४२)। निपूर्वात् 'पुण कर्मणि शुभे' इत्यत्र इगुपधलक्षणः कः। अर्चतेश्च भौवादिकाद् 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) इत्यप्रत्ययः—अर्चा। चौरादिकात्तु 'ण्यासश्रन्थ' (३।३।१०७) इति युच् स्यात्। षष्ठ्यपवादोऽयम्। अप्रत्यादिभिरिति। 'लक्षणेत्थम्' (१।४।९०) इति सूत्रोपात्ताः प्रत्यादयः।

साधुनि। निपूर्वक पुण्धातु से इगुपधलक्षण क प्रत्यय होता है और भ्वादि अर्च् धातु से 'गुरोश्चहलः' से अ प्रत्यय करने पर अर्चा की सिद्धि होती है। चौरादिक अर्च से तो 'ण्यासश्रन्थ' से युच् हो जाता। यह षष्ठी का अपवाद है। अप्रत्यादिभिरिति। प्रत्यादिलक्षणेत्थ सूत्र में कहे हैं।।

नक्षत्रे च (२।३।४५) लुप्शब्देन लुप्सञ्ज्ञया लुप्तप्रत्ययार्थो लक्ष्यते इति बोध्यम्। अधिकरणे किम्? अद्य पुष्यः। (३) असत्यां तद-

नुवृत्तावन्तरङ्गत्वात्प्रातिपदिकार्थ एव स्यात् । **मूलेनेति** । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः (४।२।३) इत्यणो 'लुबविशेषे (४।२।४) इति लुप् । नक्षत्रे किम् ? पञ्चालेषु तिष्ठन्ति । 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) इति लुप् ।

नक्षत्रे च । लुप् शब्द से लुप्त प्रत्यय का अर्थ प्रतीत होता है । यदि अधिकरण का ग्रहण न होता तो अद्य पुष्यः में सप्तमी होने लगती । उसकी अनुवृत्ति न होने पर अन्तरंग होने से प्रातिपदिकार्थ में होती । मूलेनेति । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' से विहित अण् का 'लुब विशेषे' से लुप् होता है । पञ्चालेषु तिष्ठन्ति में न हो इसलिए नक्षत्र ग्रहण किया । यहाँ जनपदे लुब् से लुप् होता है ।

सप्तमीपञ्चम्यौ (२।३।७) । 'कालाध्वनोः' (२।३।५) इत्यतस्तदनुवर्त्तते । तच्च पञ्चम्या विपरिणम्यते । मध्यस्यावधिद्वयसापेक्षतया(१) द्विवचनान्तेन समासः । बोधस्तु शक्तित्वेन शक्तिद्वयस्य, न तु द्वित्वेनेति बोद्धव्यम् । ननु कर्तृरूपस्य कारकस्यैकत्वाद्भेदनिबन्धनमध्यव्यपदेशासम्भवोऽत आह – **शक्तिद्वयमध्ये याविति** । कर्तृत्वादिशक्तिरेव कारकम् । सा च क्रियाभेदेन भिन्नेति भावः । यद्यप्यवध्यवधिमतोस्साजात्यानियमान्न कालाध्वानौ कारकमध्ये सम्भवस्तथापि शक्तिशब्देन तदाधारकालादिग्रहणान्न दोषः षष्ठ्यपवादोऽयम् । स्वानन्तरकालवृत्तित्वादिकं विभक्त्यर्थः । शक्तिद्वयमध्यवर्त्तित्वन्तु (२) वस्तुसन्निमित्तम् ।

सप्तमीपञ्चम्यौ । 'कालाध्वनोः' से उसकी अनुवृत्ति होती है उसको पञ्चमी से विपरिणाम करना मध्य की दो अवधियों की अपेक्षा करता है। इसलिये कारकयो र्मध्ये इस विग्रह में द्विवचनान्त से समास करना । शक्तित्वेन से दो शक्तियों का बोध होगा । द्वित्व से नहीं होगा । कर्तृरूप कारक एक होने से भेद मानकर मध्य व्यवहार सभव नहीं हैं । इसलिये कहते है शक्तिद्वयमध्ये । कर्तृत्वादिशक्ति ही कारक है । वह क्रिया के भेद से भिन्न है । इसलिये भेद मानकर कार्य सिद्ध हुआ । यद्यपि अवधि तथा अवधिमान के एक जातीय होने का नियम है। इसलिये काल और अध्वा(मार्ग) कारक के मध्य में नही हो सकते हैं । तो भी शक्ति से शक्ति के आधारकाल के ग्रहण करने से कोई दोष नही है । यह षष्ठी का अपवाद है । अपने पश्चात् काल में वृत्तिता ही विभक्ति का अर्थ है । दो शक्तियों के मध्य में रहना वास्तविक होना चाहिये, उसके शब्दबोध में भाव की अपेक्षा नहीं है ।

अधिकशब्देनेति । कर्त्तरि क्तप्रत्ययान्ताध्यारूढशब्दार्थकाधिक-शब्दयोगे लोकशब्दात् षष्ठ्यां प्राप्तायां ज्ञापकादिमे इष्येते इत्यर्थः । 'तदस्मिन्नधिकम्' (४।२।६७) इति सूत्रे भाष्ये तु उपश्लिष्टपदाध्याहारेणोपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमीत्युक्तम् । कर्मणि क्तप्रत्ययान्ताध्यारूढशब्दार्थकाधिकयोगे तु अधिको लोको हरि-णेति प्रथमैव । उपपरार्द्धे इति । 'उपोऽधिके च' (१।४।८७) इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । ननु 'मामुद्दिश्य विनियोक्ष्यते' इत्यर्था-दत्र कर्मणि द्वितीयैवेति किङ्कर्मप्रवचनीयत्वेनेत्यत आह-अगति-त्वादिति । तिङि चेति । उदात्तवति तिङन्ते गतिर्निहन्यते इत्य-र्थः । अत्र 'तिङ्ङतिङः' [८।१।२८] इति निघातस्य 'निपातै-र्यद्यदि' (८।१।३०) इत्यादिना निषेधात् करिष्यतीति तिङन्त-स्योदात्तवत्त्वमिति सर्वेष्टसिद्धिः ।

इति विभक्त्यर्थाः ।

अधिकशब्देनेति । कर्त्ता में क्त प्रत्ययान्त अध्यारूढ शब्द के अर्थ वाले अधिक शब्द के योग में लोकशब्द से षष्ठी प्राप्त होने पर ज्ञापक से यह दोनों होती है । 'तदस्मिन्नधिकम्' सूत्र के भाष्य में तो उपश्लिष्ट पद के अध्याहार से औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी कही है । कर्म में क्तान्त अध्यारूढ शब्द के अर्थ वाले अधिक के योग में तो अधिको लोको हरिणा में प्रथमा ही होगी । उपपरार्द्धेइति । 'उपोऽ-धिके च' से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । मुझको उद्देश्य करके नियुक्ति करेगा ऐसे अर्थ से कर्म में द्वितीया सिद्ध थी फिर कर्मप्रवचनीयसंज्ञा करना व्यर्थ है । इसका उत्तर करते है-अगतित्वादिति । अर्थात् कर्मप्रवचनीय संज्ञा से गति संज्ञा का बाध होता है । तिङिचेति । उदात्तस्वर वाले तिङन्त के परे गतिसंज्ञक को अनुदात्त होता है । यहाँ तिङ्ङतिङः से प्राप्त अनुदात्त का निपातैर्यद्यदि से निषेध होने पर करिष्यति तिङन्त उदात्त स्वर वाला है ,इससे सबइष्ट सिद्धि होगी ।

।। इति विभक्त्यर्थाः ।।

।। अव्ययीभावसमासप्रकरणम् ।।

समर्थः पद (२।१।१) विभिशब्दः कर्मसाधनः, शेषषष्ठ्-या समासस्तदाह-पदसम्बन्धीति । (३) पदविधिसहचरितोऽपि पदविधिशब्देन गृह्यते । अत एव सन्नन्तादेकार्थीभावः । पदविधिश्च

समाससञ्ज्ञादिः ।तस्य च न सामर्थ्यं साक्षात् विशेषणसम्भवात् अत आह-समर्थाश्रितइति । सामर्थ्यं चात्र न व्यपेक्षा । व्याख्यानात्, समासादिवृत्तिषु तस्यासम्भवाच्च । किन्त्वेकार्थीभावः । स च विशेषणभावावगाह्युपस्थितिजनकत्वम् । संसृष्टार्थं समर्थम्-इतिभाष्योक्तेः ।अत एव राजपुरुषैकदेशे राज्ञि ऋद्धस्येत्यादिविशेषणान्वयो न। देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यादौ तु गमकत्वाद्भवत्येव वृत्तिः । एवं 'राजपुरुषः' इत्यादौ विशेषणपदे सङ्ख्याऽनवगमोऽप्येकार्थीभावकृतः । सङ्ख्याविशेषप्रकारेण यत्तादर्थ्यभाने पृथगुपस्थितेस्तन्त्रत्वात् । यथा 'घटाः' इत्यादितो बहुत्वेनैव त्रिचतुरादिव्यक्तीनां भानं, न तु त्रित्वचतुष्ट्वादिना तथा वृत्तौ राजत्वादिनैकानेकव्यक्तिभानं तात्पर्यवशान्न त्वेकत्वद्वित्वादिना । एवं 'तावकीनः, यौष्माकीणः' इत्यादौ सम्बोध्यत्वेनैवेकानेकव्यक्तिभानं न त्वेकत्वबहुत्वादिना । विग्रहवाक्यीयैकवचनत्वारोपेण । शास्त्रप्रवृत्तिमात्रं न तु तद् [illegible] त्तिस भाव [illegible] धादिति मञ्जूषायां विस्तरः ।

समर्थः पद । यह विधि शब्द कर्मप्रत्ययान्त है-शेष षष्ठी होने से समास होने से अर्थ होता है -पद सम्बन्धी पद विधि के साथ रहने वाला भी पदविधि से गृहीत होता है । इसीलिये सन्नन्तादि में एकार्थीभाव है। वास्तविक में तो पदसंज्ञा प्रयोजकप्रत्ययोत्पत्ति प्रयोजक संज्ञा विधायक शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक रूपावच्छिन्न संम्पादक विधित्वादि पदविधि है । इसका समन्वय इस प्रकार से है । कृत् प्रत्यय विधायक में , तद्धित प्रत्यय विधायक में , समास संज्ञा विधायक में और सनादि प्रत्यय विधायक में है ।(प्रारम्भ के कृत्, तद्धित, समासादि तीनों में पद संज्ञा के प्रयोजक सुप् प्रत्यय सुप्तिङन्तम् से पद संज्ञा होती है ।) की उत्पत्ति की प्रयोजक प्रातिपादिक संज्ञा के करने वाला सूत्र 'कृत्तद्धितसमासाश्च' है उसका उद्देश्यता वच्छेदक कृत्व, तद्धितत्व समासत्व इनसे युक्त कृत् ,तद्धित, समास उसके सम्पादक होने से कार्य सिद्ध होता है और सनादि विधायक को पदसंज्ञा प्रयोजक तिङ् प्रत्यय की उत्पत्ति कीं प्रयोजकधातु संज्ञा उसका करने वाला सनाद्यन्ताः धातवः सूत्र के उद्देश्यतावच्छेदक सन्त्व से युक्त सन् के सम्पादक होने से सिद्ध होता है ।

समाससंज्ञादि ही पद विधि है। उसका सामर्थ्य साक्षात् विशेषण असम्भव होने से नहीं है इसीलिए समर्थाश्रितः कहा । यहाँ व्यपेक्षासामर्थ्य नहीं है-क्योंकि समासादि

वृत्ति में उसका सम्भव नहीं है । और व्यख्यान से भी उसका ग्रहण नहीं होता है किन्तु एकार्थीभाव ही लेना और वहाँ विशेष्य विशेषण मानकर जो उपस्थिति उसकी जनक होना ही है । क्योंकि भाष्य में कहा है क्योंकि 'संसृष्टार्थ (सम्बन्ध से युक्त) मिला हुआ अर्थ ही समर्थ है । संसृष्टार्थ होने से ही राजपुरुष के एक देश राजा में ऋद्ध विशेषण का अन्वय नही होता है । देवदत्तस्य गुरुकुलम् चैत्रस्यन ता इत्यादि में गमक नित्य साकांक्ष होने से समास होता है । इस प्रकार से राजपुरुष में इत्यादि में विशेषण (राज) पद में संख्या के ज्ञान का न होना भी एकार्थीभाव का ही फल है । अलग उपस्थिति होने पर ही संख्या प्रकारक बोध होना मिश्रित है । जैसे घटाः इत्यादि से बहुत्व होने से तीन–चार व्यक्तियों का भान होता है । त्रित्व अथवा चतुष्टत्व से नहीं होता है—वृत्ति में गजत्व से एक अथवा अनेक व्यक्तियों का भान तात्पर्य के द्वारा होता है । एकत्व या द्वित्व रूप से नहीं होता है इसी तरह तावकीनः यौष्माकीणः इत्यादि में सम्बोध्यत्व से ही एक अथवा अनेक व्यक्ति का भान होता है, एकत्व या बहुत्व से नहीं होता हे । विग्रह वाक्य के एक वचन के आरोप से शास्त्र की प्रवृत्ति होती है उसका बोध नहीं होता है । इसमें वृत्ति के स्वभाव का विरोध ही कारण है ।

गमकत्वादेव 'शिवस्य भगवतो भक्तः' इत्यर्थे 'शिवभागवतः' इति 'अय.शूल' (५।२।७६) इति सूत्रे भाष्ये प्रयोगः । परं तु तत्र वृत्तिरेव न तु शिवस्य भागवत इति वाक्यं साधु । तत्र भगवच्छब्दादण्, शिवपदेन भगवच्छब्दस्य समासश्च युगपदेवेति बोध्यम् । तथोपस्थितिश्च समुदायशक्तिसाध्या । एवञ्च क्लृप्त-शक्तित्यागे मानाभावात् प्रत्येकशक्तिसहकृतया समुदायशक्त्या तथोपस्थितिः । अयमेव चैकार्थीभावः । जहत्स्वार्था वृत्तिः पदानामानर्थक्यमिति तु न युक्तम् । 'महाबाहुः' 'सुपन्थाः' इत्यादावात्वाद्यनापत्तेः । (अर्थवत्त्वे) भूतपूर्वगत्याश्रयणं तु सत्यां गतावयुक्तम् । तदुक्तं वृद्धैः—

जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिर्विरोधिनी । इति ।

अवयवार्थविरुद्धो यत्र समुदायार्थस्तत्रैव सेति तदर्थः । यथा गौरखर–कृष्णसर्पादौ ।

गमक होने से ही 'शिवस्य भगवतो भक्तः' इस अर्थ में 'शिवभागवतः' प्रयोग 'अयः शूल' सूत्र में भाष्यकार ने किया है परन्तु वृत्ति ही होती है । शिवस्य

भागवतः वाक्य साधु नहीं है वहाँ भगवत शब्द से अण् प्रत्यय और शिव पद से भगवत शब्द का समास एक साथ ही होता है। उस प्रकार की उपस्थिति तो समुदाय शक्ति से होती है। अर्थात् निश्चित शक्ति के त्याग में प्रमाण न होने से प्रत्येक शक्ति के सहयोग से समुदाय शक्ति के द्वारा उस प्रकार की उपस्थिति होती है। इसका नाम ही एकार्थीभाव है। पदों के अनर्थक होने से जहत्स्वार्था वृत्ति का मानना उचित नहीं है क्योंकि 'महाबाहुः' में 'आन्महतः' से आत्व और 'सुपन्थाः' में ऋकपूरबधूः से अप् नहीं होगा। क्योंकि आपके मत में महत् तथा पथिन् शब्द निरर्थक हैं। गति होने पर भूतपूर्वगत का आश्रयण करना उचित नहीं है (अर्थात् पहले महत् और पथिन् शब्द सार्थक थे)। वृद्धों ने भी कहा है कि जिस स्थान में रूढि शक्ति विरोध करने वाली होती वहाँ ही जहत्स्वार्था होती है। जहाँ अवयवार्थ से विरुद्ध समुदाय का अर्थ होता वहाँ जहत्स्वार्था होती है। जैसे गौरखरः और कृष्णसर्पः में कृष्ण सर्प काले सर्प को नहीं कहते है। किन्तु विलक्षण जाति वाले सर्प में ही रूढि है। उसी प्रकार गौरखरः में रूढि है। यहाँ विशेषण समास नहीं होता है।

परिभाषेयम्। सा च पदविधिरिति सूत्रस्वरसात्, 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' (८।३।८०) इत्यादौ समासग्रहणाच्च, 'गतिर्गतौ' (८।१।७०) इति सूत्रे 'पदस्येत्यधिकारात् समर्थपरिभाषोपस्थितिः' इति कैयटस्वरसाच्च पदत्वेन सुबन्तत्वेन वा यत्र साक्षादुद्देश्यता तत्रैव प्रवर्त्तते। तेन 'अन्यारादितर' (२।३।२९) इत्यादौ नास्याः प्रवृत्तिः।

यह परिभाषा है। पदविधि सूत्र के स्वरस से और 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' सूत्र में समासग्रहण से 'गतिर्गतौ' सूत्र में पदस्य के अधिकार से समर्थ परिभाषा की उपस्थिति होती है—ऐसा कैयट का भी कथन है। जहाँ पदत्व या सुबन्तत्व से साक्षात् उद्देश्यता होगी वहाँ ही इसकी प्रवृत्ति होगी। अतएव 'अन्यारादितर' इत्यादि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

एकार्थीभावश्चालौकिकविग्रहवाक्य एव कल्प्यते। यथा शत्रादौ द्वितीयासामानाधिकरण्यं दृष्ट्वा लकारेऽपि तत्कल्पना तथा 'अन्यपदार्थे' 'समर्थः' 'चार्थे' इत्यनुवादबलादस्य तत्र कल्पनेति। तथा च शतृविधायके भाष्यम्–'लस्याप्रथमासमानाधिकरणेनार्थेनायोगादादेशानुपपत्तिस्तस्य क्वापि प्रयोगाभावात्'

इत्याशङ्क्य 'आदेशसामानाधिकरण्यं दृष्ट्वाऽनुमानाद्रन्तव्यं प्रकृतेरपि तद् भवतीति'। तत्र कैयटः-सिद्धानां शब्दानामन्वाख्यानात् 'पचन्तं देवदत्तं पश्य' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् स्थानिनोऽपि लटः प्रक्रियार्थं विहितस्याप्रथमासामानाधिकरण्यमनुमीयत इति। अत्रानुमाने सौत्रानुवाद एवानुकूलस्तर्कः। अत्र प्रक्रियार्थं विहितस्येत्यनेनान्यस्यापि प्रक्रियार्थं कल्पितस्य लोकेऽबोधकत्वं सूचितमित्यन्यत्र विस्तरः। समर्थः किम्? पश्य कृष्णं, श्रितो राममित्यत्र कृष्णश्रितयोः परस्परसम्बन्धाभावेनैकोपस्थित्यजनकत्वेन।सामर्थ्यम्।

एकार्थीभाव की कल्पना अलौकिक विग्रहवाक्य में ही करते है। जैसे शतृ आदि प्रत्यय में द्वितीया का सामानाधिकरण्य देखकर लकार में उसकी कल्पना करते है उसी प्रकार अन्य पदार्थों में 'समर्थः' में 'चार्थे' में अनुवाद के बल से एकार्थीभाव की कल्पना होती है। शतृ प्रत्यय को करने वाले सूत्र के भाष्य में कहा है लकार का अप्रथमा सामानाधिकरण्य वाले अर्थ से योग न होने से आदेश का सम्भव नहीं है क्योंकि उसका कही प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार की शंका कर आदेश के साथ सामानाधिकरण्य को देखकर अनुमान से जानना कि प्रकृति को भी होता है। अब यहाँ कैयट का कहना है—सिद्ध शब्दों का अन्वाख्यान होने से पचन्तं देवदत्तं पश्य इत्यादि प्रयोगों के देखने से स्थानी लट् भी प्रक्रिया के लिये होने से अप्रथमा सामानाधिकरण्य का अनुमान करना। इस अनुमान में अनुकूल तर्क और सौत्रानुवाद ही है। यहाँ प्रक्रियार्थम् से विहितस्य के कहने से अन्य का भी प्रक्रिया के लिये कल्पित का लोक में बोधकता नहीं है। समर्थ के अभाव में पश्य कृष्णं, श्रितो रामं मित्रः। यहाँ कृष्ण और श्रित का आपस में सम्बन्ध के न होने से एकार्थ की उपस्थिति जनकता के न होने से असामर्थ्य है।

सह सुपा (२।१।४)। 'सुबामन्त्रिते' (२।१।२) इत्यतः सुबिति वर्त्तते। सुबन्तसहितं सुबन्तं समासञ्ज्ञकमित्यर्थः। समस्यते इत्युक्तिस्त्वबुधानां भिन्नयोः शब्दयोरनेन संश्लेष क्रियत इति प्रतिपत्तेस्तदनुसारेण। सम्पूर्वकास्यतेश्च संश्लेषोऽर्थः। 'प्राक्कडारात्' (२।१।३) इत्यतः प्राग्ग्रहणमावर्त्तते। तेन प्राक्समाससञ्ज्ञा भवन्ति, तत्सञ्ज्ञाः सन्तोऽव्ययीभावादिसञ्ज्ञका

इत्यर्थात्तयोः समावेश इति भाष्ये स्पष्टम् । अन्यथा आकडारत्वात् पर्यायः स्यात् इति दिक् ।

अत्र सुबित्येकत्वं विवक्ष्यते । तेन महिष्या अजायाश्च क्षीरमित्यत्र सुबन्तसमुदायस्य न क्षीरशब्देन समास इति कैयटादयः ।

सह सुपा । 'सुबामन्त्रिते' से सुप् की अनुवृत्ति होती है । सुबन्त के सहित सुबन्त समास संज्ञक होता है । समस्यते (समास को प्राप्त होते हैं) यह कथन तो भिन्न शब्दों का यह संश्लेष (जोड़) करता है । इस प्रकार के ज्ञान के अनुसार है यह कथन पंडितों का नहीं है सम्पूर्वक अस् का संश्लेष अर्थ है । 'प्राक्कडारात्' से प्राक् की अनुवृत्ति होती है । इससे पहले समास संज्ञा होती है । उस संज्ञा को पाकर अव्ययीभावादि संज्ञक होते हैं इस प्रकार के अर्थ से उनका समावेश ही होता है । ऐसा भाष्य में स्पष्ट है अन्यथा आकडार से पर्याय हो जाता । यहाँ सुप् के एकत्व की विवक्षा है—इससे महिष्या अजायाश्च क्षीरम् में सुबन्त समुदाय का समास नहीं होता है ऐसा कैयटादि का मत है ।

परे तु (१) अनुवाद्यत्वादेकत्वविवक्षैव । किञ्च तद्विवक्षायामेकेनैव केनचित्सुबन्तेन किञ्चिदेकं सुबन्तं समस्यते न त्वन्यैरन्यानि । तस्मात्सुबित्यादौ जातिविवक्षा । एवञ्च यथा स्वाङ्गग्रहणेन स्वाङ्गसमुदायस्य न ग्रहणं, स्वाङ्गत्वस्य प्रत्येकं समाप्तत्वात्, एवं सुबन्तत्वादेरपि प्रत्येकं समाप्तत्वेन सुबन्तादिग्रहणेन न सुबन्तादिसमुदायस्य ग्रहणमिति नोक्तदोषः । स्पष्टञ्चेदं मतुप्सूत्रसमर्थसूत्रयोर्भाष्ये । तत्रत्यकैयटादीनां तु प्रमादः । अत एव 'विभक्तिश्च' (१।४।१०४) इति सूत्रे प्रतिप्रत्ययं विभक्तिसञ्ज्ञेति पक्षे प्रथमयोरित्यादौ विभक्तिसमुदायस्य विभक्तिग्रहणेनाग्रहणात् प्रथमयोः प्रत्ययोरेव ग्रहणं प्राप्नोतीत्युक्तं कैयटेनेत्यन्यत्र विस्तर इत्याहुः ।

यहाँ नागेश का कथन इस प्रकार से है—कि गृहं समार्ष्टि इत्यादि में उद्देश्य में होने से एकत्व की अविवक्षा है— उसी प्रकार यहाँ भी है और एकत्व की विवक्षा में भी एक ही किसी सुबन्त किसी एक सुबन्त ही समास को प्राप्त होता । अन्य से अन्यो का समास प्राप्त नहीं होता इसलिये सुप् में जाति विवक्षा है ।

जिस तरह से स्वाङ्ग के ग्रहण से स्वाङ्ग समुदाय का ग्रहण नहीं होता है (क्योंकि स्वाङ्गत्व प्रत्येक में समाप्त है) उसी प्रकार सुबन्तत्व भी प्रत्येक में समाप्त होने से सुबन्तादि के ग्रहण से सुबन्तादि समुदाय का ग्रहण नहीं होता है—इस प्रकार की व्याख्या से पूर्वोक्त दोष नहीं है यह विषय मतुप् सूत्र तथा समर्थ सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ कैयटादि का प्रमाद है। इसी से विभक्तिश्च सूत्र में प्रत्येक प्रत्यय में विभक्ति संज्ञा होती है इस पक्ष में प्रथमयोः इत्यादि में विभक्ति समुदाय का विभक्ति ग्रहण से ग्रहण न होने पर प्रथम प्रत्ययों का ही ग्रहण प्राप्त होता है। ऐसा कैयट ने कहा।

अनुव्यचलदिति। अनोर्व्यचलदित्यनेन वेश्च अचलदित्यनेन युगपत्समासः। अनु इति सुबन्तेन व्यचलदिति समुदायस्य समर्थत्वात्।

अनुव्यचलदिति। अनु का व्यचलत् के साथ और वि का अचलत् के साथ एक साथ समास होता है। अनुसुबन्त से व्यचलत् समुदाय का सामर्थ्य है।

सुपेति। इदं लक्षणमधिकारश्च अन्त्ये फलन्तु देवः करोति, मातुः स्मरतीत्यादौ विशेषणसमास–षष्ठीसमासयोरभावः।

सुपेति। यह लक्षण सूत्र तथा अधिकार सूत्र भी है। देवः करोति में विशेषण समास तथा मातुः स्मरति में षष्ठी समास का न होना ही अधिकार का फल है।

सुपो धा (२।४।७१)। (१) अङ्गनिमित्तस्य सुप इत्यर्थ-भ्रमवारणायाङ्गस्य सुप इति नोक्तम्। पूर्वनिपात इति। भूशब्द-स्यैवेत्यर्थः। अन्यथा विनिगमनाविरहेण प्रथमानिर्दिष्टत्वाविशे-षाद(२) नियमः स्यादिति भावः।(३) अत एव निर्देशादीदृशे विषयेऽवयवद्वारकसामर्थ्येऽप्यस्य प्रवृत्तिः। 'विस्पष्टपटुः' इत्या-दावपि विस्पष्टादीनि गुणवचनेष्विति गमकं बोध्यम्। तत्र हि विस्पष्टमित्यादि पटुत्वादिविशेषणमिति कैयटे स्पष्टम्। इवे-नेति। हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन्मातेव हितकारिणीम्। इत्य-साध्वेव। 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा, अभिहिते प्रथमा' इति-वार्त्तिकस्वारस्येन, प्रथमायास्तत्र तत्र कारकविभक्तित्वोक्तिपर-भाष्येण च क्रियायोगे एव प्रथमायाः प्रवृत्त्या मातेति प्रथमाया

मातृसदृशीमित्यर्थेऽसाधुत्वादित्यन्यत्र विस्तरः। एतद्योगविभाग-सिद्धसमासस्य विशेषसञ्ज्ञा न सन्त्येव। तत्तदधिकारेष्वपाठात्। जीमूतस्येवेति। अत्र यथार्थत्वादिप्रयुक्तोऽव्ययीभावस्तु न। 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) इति निर्देशात्।

सुपो धा। अङ्ग के निमित्त सुप् को ही ऐसे भ्रम का निवारण करने के लिये अङ्गस्य सुपः नहीं कहा। पूर्वनिपातइति। अर्थात् भूत शब्द का यदि भूत शब्द का पूर्व निपात स्वीकार नहीं करते तो विनिगमना के अभाव से दोनों के प्रथमा निर्दिष्ट होने से अविशेष होने से नियम नहीं होता। इसी से निर्देश से इस प्रकार के विषय में अवयवद्वारक सामर्थ्य में इसकी प्रवृत्ति होती है। विस्पष्टपटुः इत्यादि में भी विस्पष्टादीनि गुणवचनस्य के गमक होने से विस्पष्ट का पूर्व निपात होता है। वहाँ विस्पष्ट पटुत्व का विशेषण है ऐसा कैयट में स्पष्ट है। इवेनेति। हरीतकीं—हे राजन् माता की तरह हित करने वाली हर्र को खाओ यह प्रयोग असाधु है क्योंकि तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा। अभिहिते प्रथमा। इन वार्तिकों के स्वारस्य से और प्रथमा को कारक विभक्ति कहने वाले भाष्य से क्रिया के योग में प्रथमा की प्रवृत्ति होने से माता, यह प्रथमा मातृ सदृश अर्थ में असाधु है। सह सुपा योगविभाग से सिद्ध समास की विशेषसंज्ञा नहीं है। अव्ययीभावादि क्योंकि उन अधिकारों में इसका पाठ नहीं है। जीमूतस्येवेति। यहाँ यथार्थ को मानकर अव्ययीभाव समास नहीं होता है। इसमें निर्देश 'तत्र तस्येव' है।

अव्ययी (२।४।१८)। अनव्ययमव्ययं भवतीति 'भवतेर्णस्य उपसङ्ख्यानम्' इति कर्तरि णः। महासञ्ज्ञाकरणं प्राचामनुरोधात्।

अव्ययी। अनव्यय अव्यय हो—इस विग्रह में 'भवतेर्णस्य उपसङ्ख्यानम्' से कर्ता में ण प्रत्यय होता है। प्राचीनों के अनुरोध से महासंज्ञा की है।

योगो विभज्यते इति। भाष्ये त्विदं न दृश्यते। 'अपदिशम्' इत्यादिमान्तानां स्वरादिपाठादव्ययत्वम्। 'अपदिशेन' इत्यादि तु चिन्त्यमेवेत्यन्ये।

योगो विभज्यते इति। यह विषय भाष्य में नहीं दीखता है। 'अपदिशम्' इत्यादि मान्तों का स्वरादि में पाठ होने से अव्ययसंज्ञा होती है। पक्ष में 'अपदिशेन' का प्रयोग तो सर्वथा चिन्ता का विषय है।

ननु समासगतेऽन्तर्वर्तिविभक्त्याश्रये प्रथमान्तत्वे आश्रीय-

माणे कष्टश्रितादौ श्रितस्य पूर्वनिपातापत्तिः, निर्दिष्टपदञ्च व्यर्थमत आह–समासशास्त्रे इति । समाससञ्ज्ञाविधायके शास्त्रे इत्यर्थः । न च राज्ञः कुमारीं श्रितो राजकुमारीश्रित इत्यत्र द्वितीयाया 'द्वितीयाश्रित' (२।१।२४) इति सूत्र प्रथमानिर्दिष्टत्वेन कुमारीशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तिरिति वाच्यम् । 'अप्रधानमुपसर्जनम्' इति शास्त्रान्तरोक्तमहासञ्ज्ञाकरणेनास्य तदर्थकतया 'समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमप्रधानत्वसमानाधिकरणोपसर्जनपदवत्' इति वाच्यार्थे निष्पन्नेऽप्रधानत्वस्य ससम्बन्धिकत्वाद् यं प्रति यदप्रधानं तं प्रति तदुपसर्जनसञ्ज्ञमित्यवगतेरदोषादिति । भाष्येणैव समाधानात् । प्रकृते च न राजनिरूपितमप्राधान्यं कुमार्या इति न तदपेक्षोऽस्य पूर्वनिपातः ।

समासगत अन्तर्वर्तिनी विभक्ति के आश्रय प्रथमान्त मानने पर कष्टश्रित इत्यादि में श्रुत के प्रथमान्त होने से पूर्व निपात होने लगेगा और निर्दिष्ट पद भी व्यर्थ हो जायेगा । इसलिये कहते हैं समासशास्त्रे इति । समास संज्ञा के करने वाले सूत्र में जो प्रथमानिर्दिष्ट हो उसका पूर्व निपात होता है । इसका अर्थ है समास संज्ञा विधायक सूत्र में । अब यहाँ शंका करते हैं कि राज्ञः कुमारीं श्रिता इस विग्रहे में निष्पन्न राजकुमारीश्रितः इस प्रयोग में 'द्वितीयाश्रित' इस सूत्र में द्वितीया के प्रथमा अन्त होने से द्वितीयान्ताकुमारी का पूर्वनिपात होना चाहिये । उत्तर अप्रधान को उपसर्जन कहते हैं यह अन्य शास्त्र में महासंज्ञा के करने से उस अर्थ के मानने से समासशास्त्र में प्रथमा निर्दिष्ट अप्रधान के साथ समानाधिकरण करने वाला ही उपसर्जन पद वाला होता है इस प्रकार के वाक्यार्थ के निष्पन्न होने पर जिसके प्रति जो अप्रधान हो वह उपसर्जन होता है इस प्रकार भाष्योक्त अर्थ के स्वीकार करने से कोई दोष नहीं है । प्रकृत में राजा को लेकर अप्राधान्य कुमारी को नहीं है इसलिये कुमारी का पूर्वनिपात नहीं होता है । तात्पर्य यह है उक्त प्रयोग में कुमारी की अपेक्षा कुमारी अप्रधान है इसलिये श्रित से पूर्व कुमारी का पूर्व निपात है ।

न चैवं पूर्वकायाद्यसिद्धिः, कायनिरूपिताप्राधान्यस्य पूर्वपदार्थेऽभावादिति वाच्यम् । समासशास्त्रस्थप्रथमानिर्दिष्टशब्दगताप्राधान्यस्याश्रयणेनादोषात् । समासशास्त्रे यं प्रति यदप्रधानं तं प्रति तदुपसर्जनमित्यर्थात् । भवति च श्रितादीन्प्रति तथा ।

सहयुक्ततृतीयान्तार्थस्य शाब्दगुणान्वयित्वाभावरूपाप्राधान्येऽपि तत्समभिव्याहृतप्रथमाद्यन्तार्थे तदधीनत्वरूपाप्राधान्यप्रतीतेः । अत एव समकक्षयोरप्येकस्य 'परेण सहागन्तव्यम्' इत्युक्ते दुःखं दृश्यते । प्रकृतेऽपि द्वितीयान्तं श्रिताद्यधीनम् । तं विना समासाघटकत्वात् । श्रितादिकन्तु तं विनापि समासान्तरे घटकमिति द्वितीयान्तस्य श्रिताद्यधीनता । एवमन्यत्राप्यूह्यम् । 'यस्य शब्दस्य समासविधौ यत्प्रथमानिर्दिष्टं तं प्रति तदुपसर्जनमिति वक्तव्यम्' इतिवार्तिकप्रत्याख्यानाय तद्भाष्यप्रवृत्तेः, भाष्येऽपि 'यं शब्दं प्रति यत्प्रथमानिर्द्दिष्टमप्रधानं तं शब्दं प्रति तत्प्रथमानिर्द्दिष्टवाच्यं पदम उपसर्जनम्' इत्यर्थस्यैवौचित्यात् । अत एव यं यदिति भिन्नलिङ्गनिर्देशः । बहुव्रीहौ त्वेकविभक्तीत्येवोपसर्जनत्वमित्यनुपदमेव स्फुटीभविष्यति अन्वर्थत्वविरोधान्नानेनेति भाष्यसिद्धान्त इति बोध्यम् । यत्त्वर्थगताप्राधान्येनान्वर्थत्वेऽपि पूर्वकायादौ न दोषो, ऽन्वर्थसञ्ज्ञा हि यत्र सोऽर्थः सम्भवति तत्र प्रवृत्तिनिमित्तापेक्षा प्रवर्त्तते, अन्यत्र तु विधानसामर्थ्यात्तन्निरपेक्षा, यथा स्वादीनां कर्मप्रवचनीयत्वमिति प्रथमानिर्देशसामर्थ्यात्पूर्वादीनां प्रवर्त्तते इति, तन्न । निर्विभक्तिकस्योच्चारणासम्भवेन तत्सामर्थ्यायोगात् । प्राथम्य दन्वितार्थकत्वाल्लघुत्वाच्च प्रथमैवोच्चारितेःयस्य वक्तुं शक्यत्वादित्यलम् ।

अप्रधान का उक्त अर्थ मानने पर पूर्वकायादि पदों की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि पूर्व काय के प्रति अप्रधान नहीं है। इसका उत्तर करते हैं। समास विधायकशास्त्र में स्थित प्रथमा निर्दिष्ट शब्दगत अप्राधान्य को ग्रहण करने से कोई दोष नहीं है। समासशास्त्र में जिसके प्रति जो अप्रधान है उसके प्रति वह उपसर्जन है। श्रितादियों के प्रति कुमारी उपसर्जन है। सहयुक्ते से क्रिया तृतीयान्त का जो अर्थ उसका शब्द और गुण में अन्वय के अभाव रूप अप्राधान्य होने पर भी उसके समीपस्थ प्रथमान्त अर्थ में अधीन होने के कारण अप्राधान्य स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इसीलिये एक योग्यता वाले दो पुरुषों के उपस्थित होने पर इसके साथ तुम जाना यह कहने पर उसको दुःख होता है। प्रकृत में भी द्विती-

यान्त श्रितादियों के अधीन हैं। उसके बिना समास के मध्य में आना कठिन हैं। श्रितादि तो द्वितीयान्त के बिना भी अन्य समास में प्रविष्ट हो सकते हैं। इसलिये द्वितीयान्त श्रितादि के अधीन हैं। अन्य स्थल में भी इसी प्रकार का विचार कर लेना। "यस्य शब्दस्य समासविधौ यत्प्रथमानिर्दिष्टं तं प्रति तदुपसर्जनमिति वक्तव्यम्" जिस शब्द के समास विधि में जो प्रथमान्त हो उसके प्रति उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है यह कहना चाहिये। इस वार्तिक का प्रत्याख्यान करने के लिये उक्त भाष्य प्रवृत्त है। भाष्य में भी जिस शब्द के प्रति जो प्रथमा निर्दिष्ट अप्रधान है उस शब्द के प्रति वह प्रथमान्त पद उपसर्जन होता है, इस प्रकार का अर्थ करना ही उचित है। इसीलिये यं और यत् में भिन्न लिङ्गों का निर्देश किया है। (अर्थात् यं पुंलिंग है और यत् नपुंसकलिङ्ग है) बहुव्रीहि में तो एक विभक्ति से उपसर्जन संज्ञा होती है। यह शीघ्र ही स्पष्ट होगा। अन्यर्थ विरोध होने से इससे नहीं होगी, यह भाष्य का सिद्धान्त है। अब यहाँ शंका करते हैं अर्थगत अप्राधान्य के अन्वर्थ होने पर भी पूर्वकायादि में कोई दोष नहीं है। अन्वर्थ संज्ञा का तात्पर्य यह है जहाँ वह अर्थ सम्भव है वहाँ प्रवृत्तिनिमित्त की अपेक्षा होती है। अन्य स्थल में विधान होने के कारण से उसकी उपेक्षा नहीं है जैसे स्वादियों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। प्रथमा निर्देश होने के कारण पूर्वादियों की उपसर्जनसंज्ञा होती है। यह उनकी शंका ठीक नहीं है। विभक्तिरहित का उच्चारण असंभव होने से वहाँ सामर्थ्य कल्पना करनी असंभव है। प्रथमा के प्रथम होने से अन्वितार्थ होगे से और लघु होने से प्रथमा का ही उच्चारण प्रथम होना चाहिये।

उपसर्जनम् (२।२।३०)। समास इत्यधिकृतं योग्यताबलेन सप्तम्या विपरिणम्यते, तदाह–समासे इति। न च राज्ञः कुमार्यौ इति परिनिष्ठितविभक्त्या समासे कुमार्यौ अपि पूर्वनिपातापत्तिरिति वाच्यम्। 'षष्ठ्यन्तयोः समासेऽर्थभेदात् प्रधानस्यापूर्वनिपातः' इति भाष्येण समाधानात्। अर्थाभेदात्–अर्थस्य प्रधानस्याभेदात्समस्यमानराजपदार्थनिरूपितसम्बन्धाभावात् अस्य (१) षष्ठयन्तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वाभावान्न पूर्वनिपात इति तदर्थः।

उपसर्जनम्। अधिकृत समास योग्यता के बल से सप्तम्यन्त से विपरिणमित होती है (अर्थात् उसको सप्तम्यन्त मान लिया जाये)। समासे इति। अब यहाँ शंका करते हैं 'राज्ञः कुमार्यौ' में परिनिष्ठ (षष्ठ्यन्त) से समास करने पर कुमारी का भी पूर्वनिपात हो जाना चाहिये। उत्तर दोनों षष्ठ्यन्तों के समास में

अर्थ ऐक्य होने पर कुमारी का पूर्वनिपात नहीं होता है। यह भाष्य का आशय है। अर्थ के अभेद होने से प्रधान अर्थ के अभेद होने से समास होने वाले राज-निरूपित सम्बन्ध के न होने से इस षष्ठ्यन्त को प्रथमा निर्दिष्ट के अभाव में पूर्व निपात नहीं होता है।

अयं भावः। 'षष्ठी' (२।२।८) इत्यादिसूत्रे येन सुबन्तेन समासस्तदर्थनिरूपितसम्बन्धाद्यर्थकमेव षष्ठ्याद्यन्तं गृह्यते। तदेव च तत्र प्रथमानिर्दिष्टमिति। तदुक्तं कैयटेन 'राज्ञः पुरुष-स्येत्यत्र राजापेक्षया पुरुषः प्रधानमेवेति नासौ भिद्यते राजा-पेक्षया न व्यतिरिच्यते इत्यप्रधानस्यैव पूर्वनिपात' इति। उक्त-रीत्याऽप्रधानषष्ठ्यन्तमेव तत्र प्रथमानिर्दिष्टं न तु प्रधानमिति तद्भावः। यत्तूपसर्जनसञ्ज्ञाऽन्वर्थत्वादप्रधानस्यैवेति 'उपसर्जनं पूर्वम्' (२।२।६०) इत्यत्र कैयटस्तन्नेत्युक्तमेवेत्यलम्।

अयं भावः। इसका तात्पर्य यह है कि षष्ठी इत्यादि सूत्र में जिस सुबन्त से समास हो, उसके अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला षष्ठ्यन्त जानना। वही वहाँ पर प्रथमा निर्दिष्ट है। कैयट ने भी कहा है 'राज्ञः पुरुषस्य' में राजा की अपेक्षा पुरुष प्रधान ही है इसको कोई भेद नहीं है। राजा की अपेक्षा वह अतिरिक्त नहीं है। इसलिये अप्रधान का ही पूर्वनिपात होता है।" उक्त रीति से षष्ठ्यन्त ही अप्रधान है। वहाँ प्रथमा निर्दिष्ट है प्रधान नहीं है। जो कैयट ने भी कहा अन्वर्थ होने से उपसर्जन संज्ञा अप्रधान की होती है। उपसर्जन सूत्र में वह ठीक नहीं है।

'प्रथमानिर्दिष्टम्' (१।१।४३) इत्यतोऽनुवृत्तं 'समासे' इति तदर्थविग्रहपरमित्याह- विग्रहे इति। नियतेति। एकग्रहणादव-धारणगर्भसमासलाभ इति भावः। 'निष्कौशाम्बिः' इत्युदाह-रणम्। परिनिष्ठितविभक्त्यापि समासे 'निष्क्रान्तो' निष्कान्तेन' इत्यादिक्रमेण तस्यानियतविभक्तिकतया कौशाम्बीपदस्य तद-पेक्षया नियतविभक्तिकत्वादनेनोपसर्जनत्वेन ह्रस्वत्वम्। परि-निष्ठितविभक्त्या समासे चेदमेव ज्ञापकम्। अयं पक्षः-'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (६।२।२) इति सूत्रे भाष्ये। प्रथमान्तेन समास इति पक्षोऽपि 'अनेकम्' इति सूत्रे भाष्ये इति केचित्।

प्रथमानिर्दिष्टम् से समासे की अनुवृत्ति होती है, उसका अर्थ विग्रह परक है। नियतेति। एक के ग्रहण से अवधारणगर्भ समास का लाभ होता है अर्थात् एक ही थे। निष्कौशाम्बिः उदाहरण है। परिनिष्ठित विभक्ति से समास करने पर निष्क्रान्तं (द्वितीयान्त) निष्क्रान्तेन (तृतीयान्त) इत्यादि रीति से निष्क्रान्तिके अनियत विभक्ति होने के कारण उसकी अपेक्षा कौशाम्बी के नियत विभक्ति होने से उसकी उपसर्ज। संज्ञा होने से ह्रस्व होता है। परिनिष्ठ विभक्ति से समास होने में यही ज्ञापक है। तात्पर्य यह है कि कौशाम्बी पंचयश्न्त ही रहेगा। निष्क्रान्त में प्रायः अनेक विभक्ति हो सकती हैं इसलिये कौशाम्बी नियत विभक्ति है। यह पक्ष 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ सूत्र के भाष्य में है। प्रथमान्त से समास होता है। यह पक्ष भी 'अनेकमन्यपदार्थे' सूत्र के भाष्य में है। यह किसी का कहना है।

परे तु 'अनेकम्' (२।२।२४) इति सूत्रे भाष्ये समासार्थविग्रहे प्रत्यासत्त्या समासापेक्षया नियतविभक्तिकस्यानेनोपर्सजनत्वमुक्तम्, 'राज्ञः कुमारी, राजकुमारी' इत्यत्र परिनिष्ठितविभक्त्यापि समासस्य सत्वान्न तदपेक्षया कुमार्या नियतविभक्तिकत्वमिति न तस्या उपसर्जनत्वमित्युक्तम्। चित्रगुरित्यत्र च गोपदस्यानेनोपसर्जनत्वमङ्गीकृत्यानेकग्रहणं प्रत्याख्यातम्। बहूनां समासस्तु 'तद्धितार्थ' (२।१।५१) इत्यनेनोत्तरपदे द्विगुविधानात् ज्ञापकात्सिद्ध इति चोक्तम्। एवञ्चोत्तरपदेन परिमाणिनेत्यपि प्रत्याख्यातम्। अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानान्न। तदुक्तम्—अनेकवचनमुपसर्जनार्थं, न वैकविभक्तित्वादिति। वार्त्तिककृताऽन्वर्थत्वानुक्तेस्तद्रीत्या प्रयोजनवार्त्तिकं, नवेति तु तत्खण्डनं, भाष्यरीत्या त्वेतदप्राप्तिरेवात्रेति बोद्ध्यम्। अन्यथा 'चित्रगुः' इत्यस्य विग्रहे द्वयोरपि नियतविभक्तिकतया किमपेक्षं गोशब्दस्य नियतविभक्तिकत्वं स्यात्। एकस्यानियतविभक्तिकत्वे हि तदपेक्षमन्यस्य तत्त्वं वाच्यम्। समासापेक्षं नियतविभक्तित्वमेव युक्तमाश्रयितुम्। अन्यथा 'सभार्यः' इत्यत्रोपसर्जनह्रस्वानापत्तिः। सहशब्दस्याव्ययतया विभक्तिमात्राभावेन, लुकाऽनुत्पत्तेरेवान्वाख्यानेन चानियतविभक्तित्वाभावात्तदपेक्षनियतविभक्तित्वस्य भार्ययेत्यत्राभावेनोपसर्जनत्वानापत्तिः। मम तु समासस्यानियतविभक्तित्वात्तदपेक्षं तत्त्वमस्त्येवेति न दोष इत्याहुः।

यहाँ नागेश कहते हैं कि अनेकम् सूत्र के भाष्य में समास के लिये विग्रह में प्रत्यासत्ति से समास की अपेक्षा नियतविभत्तिक की उपसर्जन संज्ञा इसमें कही है। राज्ञः कुमारी इस विग्रह में निष्पन्न इस राजकुमारी में परिनिष्ठित विभक्ति

से समास होने पर भी उसकी अपेक्षा कुमारी को नियत विभक्तिक न होने से इसलिये उसकी उपसर्जन संज्ञा नहीं होती है। चित्रगुः में गोपद की इससे उपसर्जन संज्ञा कर अनेक ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया। अनेक पदों का समास होता है। यह तद्धितार्थ सूत्र से उत्तरपद के परे द्विगुसमास के करने से ज्ञापकद्वारा सिद्ध है। इस तरह उत्तर पद में परिमाणिनेत्यपि का प्रत्याख्यान कर दिया है। अनभिधान मानने से अतिप्रसंग भी नहीं है। कहा भी है—अनेक वचन उपसर्जन के लिये हैं, एक विभक्ति होने से नहीं हैं। वार्तिककार ने अन्वर्थत्व नहीं कहा। उन्हीं की रीति से यह प्रयोजन वार्तिक है, 'नव' इत्यादि से वार्तिक का खण्डन है। भाष्य की रीति से तो यहाँ पर प्राप्ति ही नहीं है। नहीं तो 'चित्रगुः' विग्रह में दोनों के नियतविभक्ति होने से किसकी अपेक्षा गोशब्द नियतविभक्तिक हो। अर्थात् चित्रा गावो यस्य इस विग्रह में दोनों ही प्रथमान्त हैं। एक के अनियत विभक्ति होने से उसकी अपेक्षा दूसरों को भी अनियत विभक्तिक कह सकते हैं। समास को लेकर नियत विभक्तिकत्व मानना ठीक है। नहीं तो 'सभार्यः' में भी उपसर्जन ह्रस्व का भी अभाव हो जाता। सह शब्द के अव्यय होने के कारण सम्पूर्ण विभक्तियों के अभाव में लुक से विभक्ति की अनुत्पत्ति स्वीकार करने से नियतविभक्तिक के अभाव होने से उसकी अपेक्षा भार्या में नियतविभक्तिक के अभाव होने से ह्रस्व नहीं होगा। अर्थात् उपसर्जन संज्ञा नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि अव्यय से विभक्ति नहीं आती है। विभक्ति के अभाव में अव्ययादाप्सुपा से लुक् होना असम्भव है। उस लुक् से विभक्ति की अनुत्पत्ति ही ज्ञापन करते हैं। इसलिये सहशब्द को अनियत विभक्तिकत्व कहना संभव नहीं है। मेरे मत में तो समास के अनियत विभक्तिक होने से उसकी अपेक्षा भार्या में नियतविभक्तिकत्व होने से उपसर्जनसंज्ञा तथा ह्रस्व हो जायेगा।

गोस्त्रियो (१।२।४८)। अत्र स्त्रीशब्दः स्वर्यते। तेन स्त्र्यधिकारोक्तचातुर्थिकप्रत्ययलाभः। उपसर्जनस्येति गोस्त्रियो-विशेषणम्। 'प्रत्ययग्रहणपरिभाषया च स्त्रीशब्देन तदन्तग्रहणम्। ताभ्याञ्च प्रातिपदिकविशेषणात्तदन्तविधिरित्याह–**उपसर्जनं च इत्यादि**। 'गोकुलं' 'राजकुमारीपुत्रः' इत्यादौ तु न दोषः। महासञ्ज्ञाकरणेन येन शब्देन समासविधौ यत्प्रथमानिर्दिष्टं तस्य प्रत्येवोक्तरीत्याऽप्रधानत्वेनोपसर्जनत्वात्। प्रत्यासत्त्या तदन्ततत्समासप्रातिपदिकान्त्यस्यैव ह्रस्व इत्यदोष इति भाष्ये स्पष्टम्। तत्र ह्येवं भाष्यम्–'अप्रधानमुपसर्जनमिति सम्बन्धिशब्दावेतौ तत्र सम्बन्धादेतद्गन्तव्यं यं प्रति यदप्रधानं तस्य चेत्सोऽन्तो भव-

तीति' । यत्प्रथमानिर्दिष्टं तस्य तद्घटितसमासस्य सोऽप्रधान-शब्दोऽन्तो भवतीति तदर्थः । यद्यपि 'कुक्कुटमयूर्यौ' इति द्वन्द्वे बहुव्रीहाविव एकविभक्तीत्युपसर्जनत्वम् । द्वन्द्वः प्रथमान्तानामेवेति 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) इत्यत्र वक्ष्यते । 'एकविभक्ति'(१।२।४४) इत्युपसर्जनसञ्ज्ञाऽप्रधानार्थकस्यैवेति मतेऽपि उद्भूतावयवभेद-साहित्यं प्रति मयूरीपदार्थस्य तत्त्वमस्ति । सर्वत्र द्वन्द्वे साहित्यमेव विशेष्यमिति चार्थसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्, तथापि भाष्ये 'द्वन्द्वे न' इतिवचनारम्भान्न दोषः । अत एव कुमारीमिच्छन् ब्राह्मणः कुमारीत्यत्र ह्रस्वो न। 'प्रथमानिर्दिष्टम्' (१।१।४३) इत्यादेः शास्त्रीयस्यैवात्रोपसर्जनस्य ग्रहणात् । अत एव 'गोबष्कयणी' इत्यादौ बष्कयणीशब्दस्य गुणशब्दत्वाद (१) प्रधानत्वेऽपि तदन्तस्य ह्रस्वो न एतच्च (२) 'इद्गोण्याः' (१।२।५०) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

गोस्त्रियोः । यहाँ स्त्री शब्द का स्वरित होने से अधिकार है । इससे स्त्री के अधिकार में कहे गये चातुर्थिक प्रत्ययों का भी लाभ होता है । उपसर्जनस्य यह गो और स्त्री का विशेषण है । और प्रत्यय ग्रहण की परिभाषा के बल से स्त्री शब्द से तदन्तग्रहण है । गो और स्त्री प्रातिपदिक के विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । उसका फल कहते हैं उपसर्जनं च इत्यादि । गोकुलं राजकुमारीपुत्रः में कोई दोष नहीं है । (अर्थात् गो और कुमारी का ह्रस्व नहीं होता है) । महासंज्ञा के करने से जिस शब्द से समासविधायकशास्त्र में जो प्रथमा निर्दिष्ट हो उसकी उसके प्रति ही पूर्वोक्त रीति से अप्रधान होने से उपसर्जन होता है । प्रत्यासत्ति से तदन्त भी उस समास के प्रातिपदिक का ही अन्त लेना और उसी को ह्रस्व हो । इस प्रकार के अर्थ स्वीकार करने से दोष नहीं है, यह भाष्य में स्पष्ट है । वहाँ भाष्य इस प्रकार है । अप्रधान उपसर्जन है ये दोनों शब्द सम्बन्ध वाले हैं । वहाँ सम्बन्ध से इस प्रकार जानना जिसके प्रति जो अप्रधान है उसको यदि हो तो वह अन्त होता है । जो प्रथमा निर्दिष्ट है उसका उससे युक्त समास का अपघटित वह अप्रधान शब्द अन्त होता है यह उसका अर्थ होता है । यद्यपि कुक्कुटमयूर्यौ इस द्वन्द्व समास में बहुव्रीहि की तरह एक विभक्ति होने से उपसर्जद संज्ञा है । प्रथमान्तों का ही यह द्वन्द्व होता है । यह 'चार्थे द्वन्द्वः' सूत्र में कहेंगे । एक विभक्ति से उपसर्जन संज्ञा अप्रधानार्थक की होती है । इस मत में भी उद्भूत अवयवों के भेदरूपी साहित्य में प्रति उपसर्जनत्व मयूरी को है । सर्वत्र द्वन्द्व में साहित्य ही विशेष्य रहता है । यह 'चार्थे द्वन्द्वः' सूत्र में स्पष्ट है । मयूरी साहित्य का विशेषण होने से उपसर्जन है तो भी 'द्वन्द्वे न' इस वचन के आरम्भ करने से दोष नहीं है ।

इसी से कुमारीमिच्छन् ब्राह्मणः इस विग्रह में सिद्ध कुमारी शब्द में ह्रस्व नहीं होता है। प्रथमानिर्दिष्टम् इत्यादि शास्त्रीय उपसर्जन का ही ग्रहण करना। इसीलिये गोवष्कयणी इत्यादि में बष्कयणी गौण होने से अप्रधान होने पर भी उसको ह्रस्व नहीं होता है। यह 'इद्गोण्याः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। यद्यपि बष्कयणी गो शब्द के विशेषण होने से उपसर्जन है तथापि समास विधायकशास्त्र में प्रथमान्त न होने से शास्त्रीय उपसर्जन नहीं है।

(३) अतिराजकुमारीरित्यादौ स्त्रीप्रत्यये तदादिनियम-निषेधात् राजकुमारीत्यस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वम् । न च तस्यात्यर्थं प्रत्युपसर्जनत्वेन कथं स्त्रीप्रत्ययान्तत्वमुपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादि-नियमादिति वाच्यम् । यस्य समुदायस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वमानेयं तदर्थं प्रति स्त्रीप्रत्ययस्यानुपसर्जनत्वमेवेत्यदोषात् । प्रत्यासत्त्या तादृशानुपसर्जनत्वस्यैव निषेधनिमित्तत्वात् । अस्य चाति-क्रान्तार्थं प्रत्युपसर्जनत्वेऽपि राजकुमारीत्येतदर्थं प्रत्यनुपसर्जनत्व-मेवेति दिक् ।

अतिराजकुमारी इत्यादि में स्त्री प्रत्यय में तदादि नियम के अभाव से राजकुमारी को भी स्त्री प्रत्ययान्तत्व है। उसको भी अर्थ के प्रति उपसर्जन होने से स्त्रीप्रत्ययान्तत्व कैसे है? उपसर्जन स्त्री प्रत्यय में तदादि नियम के होने से इस शंका का उत्तर करते हैं—जिस समुदाय में स्त्रीप्रत्ययान्त को लाना हो उसी अर्थ के प्रति स्त्री को अनुपसर्जन होना चाहिये ऐसे स्वीकार करने से कोई दोष नहीं है। प्रत्यासत्ति से उसी प्रकार का अनुपसर्जन ही निषेध का निमित्त है। अति-क्रान्तादि अर्थ के प्रति उपसर्जन होने पर भी राजकुमारी के प्रति अनुपसर्जन ही है।

नाव्ययीभावात् (२।४।८३) । अपञ्चम्या इत्यस्य एव विशे-षणं न लुगभावस्य । तुना व्यवच्छेदात् । अपदिशमिति । यद्यपि नपुंसकह्रस्वेनापीदं सिध्यति तथापि चित्रगुरित्यत्रार्थमावश्य-केन गोस्त्रियोरित्यनेनापीदं सिद्ध्यतीति तदुपन्यासः । दिश-शब्दस्य शरदादिषु पाठेऽपि लिङ्गविशिष्टपरिभाषयाऽत्र न टच् । समासान्तप्रकरणे लिङ्गविशिष्टपरिभाषाऽभावस्य ङ्या-प्सूत्रे भाष्ये उक्तत्वात् । टाबन्तदिशाशब्दोऽकारान्तप्रकृतिक

एवेति मते टचः प्राप्तेरेवाभावः । अमरस्वारस्यात् दिश्शब्देन विग्रहे तु न ह्रस्वः प्रयोजनम् । इत्यादाविति । आदिनैकविंशतिभारद्वाजं, सप्तगङ्गमित्यादिसङ्ग्रहः ।

नाव्ययीभावा । अपञ्चम्या अम् का ही विशेषण है लुग् भाव का नहीं है। क्योंकि सूत्र से उसका विच्छेद हो गया है । अपदिशमिति । यद्यपि 'ह्रस्वो नपुंसक' से ह्रस्व करने पर भी अपदिशम् सिद्ध हो सकता है तो भी चित्रगुः के लिये आवश्यक 'गोस्त्रियो' से भी यह सिद्ध हो सकता इसलिये इसका यहाँ उल्लेख है। दिश् शब्द का शरदादि गण में पाठ होने पर भी लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के सहयोग से यहाँ टच् नहीं होता है, क्योंकि समासान्त प्रकरण में लिङ्गविधि परिभाषा का अभाव है। यह सब ङ्याप् सूत्र के भाष्य में कहा है । टाबन्तदिशा शब्द आकारान्त प्रकृति वाला ही है। इस मत में टच् की प्राप्ति ही नहीं है। दिश् शब्द से विग्रह करने पर तो ह्रस्व की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अमर सूत्र के सिद्धान्त से लिखा है। इत्यादाविति । आदि पद से एकविंशति (२१ भारद्वाज) भारद्वाज सप्तगङ्ग का संग्रह करना ।

विभक्तीत्यादेरिति । विभक्तिशब्देन तदर्थो लक्ष्यते । वचनशब्दः कर्मसाधनः प्रत्येकं सम्बध्यते । विभक्त्यादयश्च श्रुतत्वादव्ययस्यैव विशेषणानि । तदाह–विभक्त्यर्थादिष्विति । अत्र सुबन्तेनेत्यस्य समर्थेनेति विशेषणम् । अत एव तदुत्तरविभक्त्यर्थान्तर्भावेणैकार्थीभावः । 'द्वितीयाश्रित' (२।१।२४) इत्यादौ समर्थेन सुबन्तेनेत्यस्य समर्थप्रकृतिकसुबन्तेनेत्यर्थः । अत एव कष्टं श्रितस्येति परिनिष्ठितविभक्त्या समासेऽप्युत्तरपदीयविभक्त्यर्थान्तर्भावेण न स अत एव कष्टंश्रितस्य धनमित्यादौ (१) षष्ठी द्वियीयान्तं समर्थमित्यर्थात्तादर्थान्तर्भावेणैकार्थीभावादुक्तार्थत्वान्न द्वितीयेत्याहुः ।

विभक्तीत्यादेरिति । विभक्ति शब्द की विभक्ति के अर्थ में लक्षणा है। कर्म प्रत्यय वाले वचन शब्द का प्रत्येक से सम्बन्ध होता है। विभक्ति आदि श्रूयमाण होने से अव्यय के विशेषण हैं। वही कहते हैं – विभक्त्यर्थादिष्विति । यहाँ पर सुबन्तेनसमर्थ का विशेषण है। इसीलिये आगे विभक्ति अर्थ का अन्तर्भाव करके एकार्थीभाव है। द्वितीयाश्रित इत्यादि में समर्थेन सुबन्तेन इसका समर्थ प्रकृतिक वाला सुबन्त ही अर्थ है। इसी से कष्टं श्रितस्य में परिनिष्ठत विभक्ति से

समास करने पर उत्तरपद की विभक्ति के अर्थ का अन्तर्भाव करने पर वह नहीं होता। अर्थात् समास नहीं होता। इसलिये कष्टं श्रितस्य धनम् में षष्ठी होती है। समर्थ द्वितीयान्त हो यह उसका अर्थ है उसके अर्थ के अन्तर्भाव करके एकार्थीभाव मानकर द्वितीया नहीं होती है। ऐसा कहते हैं।

हरि ङीति। फलविशेषेऽपि 'अन्तरङ्गानपि' इतिन्याय-प्रवृत्तिमभ्युपेत्येदम्। ङ्यध्योः समानार्थत्वध्वननाय ङ्युत्तर-मेवात्राधिशब्दप्रयोगः। वचनेति। प्रत्यासत्त्या यद्विभक्त्यर्थवाच-काव्ययेन सुबन्तस्य समासस्तद्विभक्त्यैव यत्सुबन्तं तस्य ग्रहणा-दिति भावः। तिङ्कृत्तद्धितसमासैरिति भाष्यसम्मतपरिगण-नाच्च तेनाभिहिते सप्तमीत्यपि बोध्यम्। अत एव गृहस्योपरि इत्यादौ न समासः। उपरीत्यस्याधिकरणशक्तिप्रधानत्वेऽपि येन सुबन्तेन समासस्तद्घटकविभक्त्यर्थावाचकत्वात्। अधिहरि भक्तिरित्यत्र हर्यधिकरणिका भक्तिरिति बोधः। न च 'प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्' (५।४।८२) इति सूत्रसम्मतसप्तम्यर्थमात्रवृत्ति-प्रतिरूपाव्यये चरितार्थस्याधेः शौण्डादिपठितत्वेन परत्वात् 'सप्तमी शौण्डैः' (२।१।४०) इत्यनेन बाधः स्यादिति वाच्यम्। आधेयप्रधानस्यैवाधेस्तत्र पाठात्। विधानसामर्थ्यादिति। एतच्च रक्षितानुसारेण। वस्तुतो मध्यार्थकसमयाशब्दयोगे द्वितीया-विधानस्य दूरार्थकाऽऽराच्छब्दयोगे पञ्चमीविधानस्य च चारि-तार्थ्यादि (१) दमयुक्तम्। समया–निकषा–ऽऽराच्छब्दा अधि-करणशक्तिप्रधाना इति समीपमात्रवाचित्वाभावान्नैतैः समासः। समीपे इति हि तेषामर्थः। अब्भक्षन्यायेन हि भक्त्यर्थसमी-पादिमात्रवृत्त्यव्ययस्यैव तेन समासात्। उपशब्दस्तु तन्मात्रवाची कृष्णसामीप्यवन्त इति बोधादिति बोध्यम्।

हरि ङीति। फल में विशेषता न होने पर भी 'अन्तरङ्गानपि' न्याय को स्वीकार करके यह लिखा है। तात्पर्य यह है कि नकार की संज्ञा कर हरि इ लिखना चाहिये था। लुक् सब का बाधक होता है इसलिये हरि ही लिखा है। ङ और अधि का समानार्थक ध्वनन करने के लिये ङ् के उत्तर ही अधि शब्द का

प्रयोग किया है वचनेति । जिस विभक्ति के अर्थ का वाचक अव्यय से सुबन्त का समास हो उस विभक्ति से जो सुबन्त हो उसी का ग्रहण करना और तिङ्, कृत्, तद्धित समास यह भाष्य के परिगणन से भी पूर्वोक्त अर्थ लेना है । उससे उक्त होने पर सप्तमी भी होती है । इसलिये गृहस्योपरि में समास नहीं होता है । ऊपर के अधिकरण शक्ति प्रधान होने पर भी जिस सुबन्त के साथ समास है, उसमें उसकी विभक्ति के अर्थ का वह वाचक नहीं हैं अर्थात् वह अधिकरण शक्ति को नहीं कहता है । अधिहरि भक्ति यहाँ पर हरि अधिकरण वाली भक्ति यह बोध है । प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् इस सूत्र से सम्मत सप्तम्यर्थ मात्र में रहने वाले प्रति अव्यय में चरितार्थ होने से अधि का शौण्डादि गण में पाठ होने से पर होने से 'सप्तमी शौण्डैः' से इसका बाध हो जाना चाहिये । यह कहना उचित नहीं है क्योंकि शौण्डादि गण में आधेय शक्ति प्रधान वाले अधि का ही ग्रहण है । अधिकरण शक्ति प्रधान वाले का नहीं है । विधानसामर्थ्यादिति । यह रक्षित के अनुसार है । वास्तव में मध्यार्थक समया शब्द के योग में द्वितीया करने से और दूरार्थ-काऽऽराच्छब्दयोगे' इस सूत्र से पंचमी विधान चरितार्थ होने से यह ठीक नहीं है । समया निकषा आराच्छब्द आदि शब्द अधिकरण शक्तिप्रधान होने से केवल समीप मात्र अर्थ के वाचक न होने से इनके साथ वास्तव में समास नहीं होता है । समीप ही उनका अर्थ है । अब्भक्षन्याय से विभक्ति के अर्थ समीपादि मात्र में रहने वाले अव्यय से ही समास करता है । अबभक्षन्याय का अर्थ इस प्रकार से है, जल खाता है इससे जल ही पीता है । उसी प्रकार केवल समीपादि मात्र अर्थ ही लेना। उपशब्द केवल उसी अर्थ को कहता है । कृष्ण के समीप वाले यह बोध होता है ।

सुमद्रमिति । वचनग्रहणात्समृद्ध्यादिवाचकत्वेऽव्ययीभाव । 'सुमद्राः' इत्यादौ तु सुशब्दो द्योतकः, समृद्धा मद्रा इति बोधा-दिति नायमव्ययीभावः । निपातानां वाचकत्वं द्योतकत्वञ्चेत्य-त्रैव भाष्ये स्पष्टम् । उपदेशादावुपस्य समीपवर्त्तिपदार्थबोध-कत्वेन समीपमात्रबोधकत्वाभावान्नाव्ययीभावः । व्िगतेति । ऋद्धेरभाव इति यावत् । अर्थाभावशब्देन समस्यमानपदार्था-भावस्यैव ग्रहणादत्र तेन न सिद्धिः, तद् ध्वनयन्नाह—'मक्षिका-णामभाव' इत्यादिना । अर्थाभावशब्देन उत्तरपदार्थाभावस्यैव ग्रहणं व्याख्यानात् । (२) नञा तु नायं समासः । अर्थाभाव-

शब्दे नञ उपादानेन सूत्रगृहीताव्ययेनैतत्समासाप्राप्तेः । तच्च नञ्सूत्रे उपपादयिष्यते । न चाभावेत्येव सिद्धेऽर्थग्रहणं व्यर्थम् । (१) प्रतियोगिभूतबहिर्विद्यमानार्थसमानाधिकरणाभाववाचकेनैव समासो यथा स्यादित्येतदर्थं तत्सत्त्वात् । तेनाभावार्थनिरा शशश्रृङ्गादिशब्दानामयं न । (२) प्रागभावार्थेन च तेन स न । अत एवात्ययग्रहणञ्चरितार्थम् । तदुदाहरणं 'निर्हिमं, निःशीतम्' इति वृत्त्युक्तमेव युक्तम् । अतेस्तदर्थत्वाभावाद् । 'अतिहिमम्' इत्युक्ते तदतिशयस्यैव प्रतीतेः । अत्ययशब्देऽतेः सूत्रगृहीताव्ययत्वाच्चेति दिक् ।

सुमद्रमिति । वचन ग्रहण से समृद्ध आदि के वाचक होने से अव्ययीभाव समास होता है । सुमद्राः इत्यादि में तो सुशब्द द्योतक है, समृद्ध मद्र है यह बोध होने से यह अव्ययीभाव नहीं है । निपात द्योतक तथा वाचक होते हैं । यह इसी भाष्य में स्पष्ट है । उपदेश में विद्यमान जो उप है वह समीपवर्ती पदार्थ का बोधक है और केवल समीप का बोधक न होने से अव्ययीभाव समास नहीं होता । विगतेति । ऋद्धि का अभाव यह अर्थ है । अर्थाभाव शब्द से समस्यमान समास को प्राप्त पदार्थ के अभाव को ग्रहण करने से उससे यहाँ सिद्धि नहीं हो सकती है । उसी को स्पष्ट करते हुये कहते हैं—'मक्षिकाणामभावः' । अर्थाभाव शब्द से उत्तरपदार्थ के अभाव का ही व्याख्यान से ग्रहण करना । नञ् के साथ यह समास नहीं है । अर्थाभाव शब्द में नञ् के उपादान से सूत्र में पठित अव्यय से यह नहीं होता है क्योंकि समास की अप्राप्ति है । इस बात को नञ् सूत्र में कहेंगे । अब यहाँ शंका करते हैं कि अभाव से ही कार्य सिद्ध था फिर अर्थग्रहण व्यर्थ है । प्रतियोगभूत बाहर विद्यमान जो अर्थ समानाधिकरण अभाव वाचक के साथ ही समास हो इसलिये है । इससे अभावार्थक निरा तथा शशश्रृङ्ग (खरगोश के सींङ्ग) इनके साथ समास नहीं होता है । प्रागभाव अर्थ वाले तेन के साथ भी समास नहीं होता है । इसलिये अव्यय ग्रहण भी चरितार्थ है । उसका उदाहरण निर्हिमं, निःशीतम् वृत्त्युक्त ही ठीक है । अति में उस अर्थ का अभाव है । अतिहिमम् कहने से बर्फ की अधिकता की प्रतीति होती है और अव्यय में अति के सूत्र गृहीत अव्यय के होने से भी उक्त कथन ठीक नहीं है ।

सम्प्रति न युज्यत इति । वृत्तौ भुजिक्रियान्तर्भाविणेकार्थीभावः । 'अतिनिद्रमासीत्' इत्यादौ तथाव्यवहारविषयेऽतिनिद्र-

शब्दस्य लक्षणेति बोध्यम् ।

शब्दप्रादुर्भावेत्यस्य शब्दविषयप्रकाशार्थेनाव्ययेन समास इत्यर्थः । भाष्यप्रयोगेति । 'अचः परस्मिन्' (१।१।५७) इति सूत्रेऽयं प्रयोगः । एतद्भाष्यप्रयोगादेतत्सूत्रे तत्तदर्थबोधकपदघटकतया गृहीताव्ययेन तत्तदर्थकेन नायं समासः । अत एव यथाऽसादृश्ये' (२।१।७) इति सूत्रे (३) 'सादृश्यसम्पत्तीति प्राप्नोति' इति भाष्ये उक्तम् । यथाशब्देन तु भवत्येव, उत्तरसूत्रारम्भादिति भावः ।

सम्प्रति न युज्यत इति । वृत्ति में युजिक्रिया के अन्तर्भाव से एकार्थीभाव है । अतिनिद्रमासीत् में उस प्रकार के व्यवहार के विषय में अतिनिद्र शब्द की लक्षणा है । तात्पर्य यह है कि उस प्रकार का प्रयोग वर्तमान काल में ही होता है । अतिनिद्रम् आसीत् में यह प्रयोग जो जो भूतकाल में किया है वह लाक्षणिक है ।

शब्द प्रादुर्भाव इसका शब्द विषय प्रकाशार्थक अव्यय से समास है । भाष्य प्रयोगेति । 'अचः परस्मिन्' इस सूत्र के भाष्य में यह प्रयोग है । इस भाष्य के प्रयोग से इस सूत्र में उन-उन अर्थ के बोधक पद के मध्य में गृहीत अव्यय से उन-उन अर्थ वाले अव्यय से यह समास नहीं होता है । इसीलिये 'यथाऽसादृश्ये' इस सूत्र में सादृश्यसम्पत्ति प्राप्त होता, ऐसा भाष्य में कहा है । यथाशब्द से तो समास होगा ही, क्योंकि इसमें उत्तर सूत्र का आरम्भ ही प्रमाण है । अर्थात् सम्पत्ति सादृश्य आदि में समास नहीं होगा ।

ननु नित्यसमासत्वाद्वाक्यं दुर्लभमत आह–प्रतिशब्दस्येति । इदं प्राचामनुरोधेन । वस्तुतः 'प्रतिस्थानम्' इत्यादौ षत्वाभावसम्पादनेन सा चरितार्था । तस्मादर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थमिति सरूपसूत्रादिस्थभाष्यप्रयोगात् यदा द्विर्वचनं तदा प्रतिशब्दस्य वीप्सावृत्तित्वाभावात्समासाप्राप्त्या वाक्यं साध्विति तत्त्वम् । वृत्तौ द्विर्वचनन्तु न, समासेन वीप्साया द्योतितत्वात् इति 'हयवरट्' सूत्रे कैयटः । प्रतिना तस्या तत्त्वादिति तत्त्वम् । शक्तिमनतिक्रम्येति । 'परावरयोगे च' (३।४।४०) इति क्त्वा । परावरत्वञ्च बोद्धम् । हरेः सादृश्यमिति । 'हरि टा सह'

इत्यलौकिकम् । वक्ष्यमाणेनेति । अत्र सूत्रालेखो वैचित्र्यार्थः । यथा सूत्रेषूत्तरत्र कृतस्य पूर्वत्रापकर्षणं वैचित्र्याय तद्वत् ।

इस समास के नित्य होने से वाक्य का होना कठिन है । इसलिये कहते हैं–प्रतिशब्दस्येति । यह प्राचीनों के अनुरोध से कहा है । वास्तव में 'प्रतिस्थानम्' में सत्त्व के अभाव करने से वह चरितार्थ है । इसलिये अर्थं अर्थं इस विग्रह में प्रति प्रत्यर्थं यह सरूप सूत्र के भाष्य में प्रयोग से जब द्वित्व होगा उस समय प्रतिशब्द की वीप्सा में वृत्ति न होने के कारण समास के अभाव में वाक्य साधु है । वृत्ति में द्विर्वचन तो नहीं है, क्योंकि समास ही वीप्सा का द्योतक है, ऐसा हयवरट् सूत्र में कैयट ने कहा है । वीप्सा प्रति से उक्त हो चुकी है यह उसका तत्त्व है । शक्तिमनतिक्रम्येति । 'परावरयोगे च' से यहाँ क्त्वा प्रत्यय है । परावरत्व बुद्धिस्थ समझना । हरेः सादृश्यमिति । हरि टा सह यह अलौकिक विग्रह है । वक्ष्यमाणेनेति । यहाँ सूत्र का न लिखना विचित्रता के लिये है । जैसे उत्तर सूत्रों में किये हुये पदों का अपकर्ष पूर्व सूत्रों में विचित्रता के लिये होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना अर्थात् अग्रिम सूत्र से यहाँ साधु होता है ।

'अनुज्येष्ठं कार्यं कृतम्, अनुज्येष्ठं प्रणमति' इत्यादौ करणत्वेनान्वयात्परिनिष्ठितविभक्त्या समासमभिप्रेत्याह–ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेति । आनुपूर्व्यं क्रमः । पूर्वं क्रमेणेत्यनुपूर्वमिति सूत्रगृहीताव्ययेनाप्यनुना समासः, एतस्मात्सूत्रप्रयोगात् ।

अनुज्येष्ठं कार्यं कृतम्, अनुज्येष्ठं प्रणमति इत्यादि में करण से अन्वय होने के कारण परिनिष्ठित विभक्ति से समास को स्वीकार कर कहते हैं–ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेति । आनुपूर्वी का अर्थ क्रम है । पूर्व क्रम से यह अनुपूर्वम् का अर्थ है । इस सूत्र के प्रयोग से सूत्रगृहीत अव्यय अनु के साथ समास होता है ।

युगपच्छब्देन तु न समासः, सूत्रगृहीतत्वात् । उभयत्रापि स्वार्थे ष्यञ्, तद् ध्वनयन्नाह–चक्रेण युगपदिति ।

गुणभूते इति । व्याख्यानात्सादृश्येति स्वार्थे ष्यञिति भावः । सम्पत्तिसमृद्धयोः पर्यायत्वमाशङ्क्याह–ऋद्धेरिति । धनधान्यादेरित्यर्थः । अनुरूपो योग्य आत्मनः समस्यमानोत्तरपदस्य भावः प्रवृत्तिनिमित्तं क्षत्रत्वादिः सम्पत्तिरित्यर्थः । सक्षत्रमित्यस्य क्षत्रियाणां योग्यं क्षात्रमित्यर्थः ।

युगपत् शब्द के साथ तो समास नहीं होता है, इसमें सूत्रागृहीत ही कारण है। दोनों जगह स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय है, उसी को प्रकट करते हैं—चक्रेण युगपदिति ।

गुणभूते इति । व्याख्यान से सादृश्य से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय है। सम्पत्ति और समृद्ध को पर्याय की आशंका कर कहते है—ऋद्धेरिति । धनधान्यादि को वृद्धि कहते हैं। अनुरूप का अर्थ आत्मा के अनुरूप समास को प्राप्त उत्तरपद का भाव प्रवृत्तिनिमित्त क्षत्रत्वादि है, उसी को सम्पत्ति कहते हैं। सक्षत्रम् इसका क्षत्रियों के योग क्षात्र अर्थात् वीरत्वादि है यह इसका अर्थ है।

तृणमपि इति । साकल्यबोधकाव्ययेन समासः । समासस्य नित्यत्वादस्वपदविग्रहो दर्शितः । तृण टा सहेत्यलौकिकम् । अपरित्यज्येति । 'परावरयोगे च' (३।४।२०) इति क्त्वा । तद्योगश्च बौद्धः । न त्वत्रेति । 'तृणेन सह भुङ्क्ते' इतिबोधोत्तरं यस्तृणानि भक्षयेत्स कथमन्यत्परित्यजेदिति प्रतीतेः सकलं भोज्यमत्तीत्यत्रैव तात्पर्यादिति भावः ।

तृणमपि इति । साकल्यबोधक अव्यय से समास है। नित्य समास होने के कारण अस्वपद विग्रह दिखलाया है। नित्य समास में विग्रह में अन्य पद तथा समास अन्य पद होता है उसी का नाम अस्वपद विग्रह है। तृण टा सह यह लौकिक विग्रह है। अपरित्यज्येति । परावरयोगे च से क्त्वा प्रत्यय है। उसका योग बौद्ध है। न त्वत्रेति । 'तृणेन सह भुङ्क्ते' तृण के साथ खाता है इस बोध के साथ जो तिनका भी खा सकता है वह और किसी चीज को कैसे छोड़ सकता है। इस ज्ञान के बाद सम्पूर्ण भोज्य को खाता है, यह उसका अर्थ है। यहाँ तृण भक्षण में तात्पर्य नहीं है किन्तु पत्तल में जो भोज्य पदार्थ है उसको खा लेता है।

अग्निग्रन्थपर्यन्तमिति । बहुव्रीहौ द्वितीयान्तं, ग्रन्थोऽन्यपदार्थः । अधीत इत्यस्य तु न समासेऽन्तर्भावो मानाभावात् । अन्त्यत्वं साहित्यञ्च सहार्थः । अन्त्याग्निग्रन्थसहितमिति बोधः । 'अग्नि टा सह' इत्यलौकिकम् न च 'तदधीते' (४।२।५९) इत्यणप्रसङ्गो, वैकल्पिकत्वात् ।

अग्निग्रन्थपर्यन्तमिति । यह बहुव्रीहि समास में द्वितीयान्त है। ग्रन्थ अन्य पदार्थ है। अधीते का समास में अन्तर्भाव नहीं है क्योंकि अन्तर्भाव होने में कोई प्रमाण नहीं है। अन्त्यत्व और साहित्य यह सह का अर्थ है। अन्त्य अग्नि में ग्रन्थ

के साथ पढ़ा है यह बोध है। 'अग्नि टा सह' यह अलौकिक विग्रह है। विकल्प होने के कारण तदधीते मे यहाँ अण् प्रत्यय नहीं होता है।

यथाऽसा (२।१।७)। असादृश्ये इति च्छेदः, तत्रैव वर्त्तमान इत्यर्थः। तथा हर इति। तथाशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वेऽपि न समासः। सदृश इत्युक्ते नियमेन प्रतियोग्याकाङ्क्षादर्शनात्सादृश्यप्रतियोगिवाचकेनैव तद्बोधकाव्ययस्य समासात्। द्योतयतीति। सामान्यस्य भेदको यो विशेषस्तद्रूपे प्रकारे थालिति यद्विशेषवान् हरिस्तद्विशेषवदभिन्नो हर इति बोधे यत्तच्छब्दाभ्यां तयोरेकत्वावगमेऽर्थादुपमानत्वप्रतीतेरिति भावः। सूत्रेऽपि सादृश्यशब्देनोपमानत्वमेव। थाल्सूत्रे सादृश्यस्य प्रकारशब्देन ग्रहणे य सादृश्यवान्हरिस्तत्सादृश्यवान्हर इत्येव बोधः स्यान्न तु हरिसदृशो हर इति।

यथाऽसा। असादृश्येइतिच्छेदः, इसका अर्थ है – असादृश्य में विद्यमान। तथा हर इति। सादृश्य होने पर तथा शब्द से समास नहीं होता है। सदृश कहने पर नियम से प्रतियोगी की आकांक्षा होती है। सादृश्य का जो प्रतियोगी उसके वाचक के साथ उसके बोधक अव्यय से समास होया है (सादृश्य का एक प्रतियोगी होता है और दूसरा अनुयोगी, जिसका सादृश्य होता है उसका प्रतियोगी होता है और जिसमें सादृश्य होता है वह अनुयोगी होता है। जैसे चन्द्रमुख में चन्द्र का सादृश्थ मुख में है इसलिये सादृश्य का प्रतियोगी चन्द्र है और अनुयोगी मुख है।) द्योतयतीति। सामान्य का भेदक जो विशेष उसके प्रकार होने पर 'थाल्' होता है। जिस विशेषता वाला हरि शब्द है उस विशेषता वाले से अभिन्न हर है' इस प्रकार के बोध में यत् तत शब्द से उन दोनों में एकता की प्रतीति होती है अर्थात् यहाँ पर हर उपमान है सूत्र में भी सादृश्य शब्द उपमान का वाचक है। थाल् विधायक सूत्र में प्रकार शब्द से सादृश्य शब्द के ग्रहण करने पर जिस सादृश्य वाला हरि है उसी सादृश्य वाला हर है, यह बोध होता है। हरि के सदृश हर है ऐसा बोध नहीं होता है।

भाष्य नुसारिणस्तु– यथाऽसादृश्ये' (२।१।६) इत्य यथाशब्दः सुबन्तेन समस्यते, सादृश्ये द्योत्य नेत्यर्थः। यथाशक्ति, यथाबलम् इत्य द्युदाहरणम्। अत एव भाष्य 'असादृश्ये इति किमर्थं यथा देवदत्तास्तथा यज्ञदत्त.' इत्युक्तं, न तु सूत्रमेव

किमर्थमित्युक्तम् । यथार्थत्वेन तु न सिद्धिः । सूत्रगृहीताव्ययेन तेनासमासात् । अत्र चेदमपि ज्ञापकम् । न च प्रकारवचने थाला निष्पन्नस्य यथा-शब्दस्य सर्वथा सादृश्यद्योतकत्वेन सूत्रोदाहरणासम्भव इति सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम् । अत्र सूत्रे अव्युत्पन्नस्य वीप्सा-योग्यता-पदार्थानतिवृत्तिबोधकस्यैव ग्रहणेनादोषात् । 'यथाशक्ति' इत्युदाहरणे तदर्थक एव सः ।

भाष्यानुसारी इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं 'यथासादृश्ये' सूत्रस्थ यथाशब्द सुबन्त से समास को प्राप्त करता है । सादृश्य की प्रतीति में समास नहीं होता है । यथाशक्ति यथाबलम् इत्यादि इसके उदाहरण हैं । इसीलिये भाष्य में असादृश्ये का ग्रहण किसलिये है ? जैसा देवदत्त वैसा यज्ञदत्त ऐसा कहा है, सूत्र ही किसलिये है ? ऐसा नहीं कहा है । यथा के अर्थ से सिद्धि नहीं हो सकती है । सूत्र में गृहीत अव्यय के साथ वह समास नहीं करता है, इसमें यह सूत्र ही ज्ञापक है ।

यहाँ शंका करते हैं कि—प्रकारार्थ में निष्पन्न 'थाल' से यथाशब्द को सादृश्यद्योतक होने के कारण सूत्र का उदाहरण होना संभव नहीं है । इसलिये यह सूत्र व्यर्थ है । इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि—इस सूत्र में अव्युपन्न वीप्सा-योग्यता-पदार्थानतिवृत्ति बोधक यथाशब्द का ग्रहण है इसलिये दोष नहीं है । यथाशक्ति उदाहरण में पदार्थानतवृत्ति अर्थ वाला ही है ।

यद्यपि-'यथाशब्द उपमानत्वं द्योतयति' इति सकलाभियुक्तोक्तेर्यद्विशेषवानित्यादिप्रागुक्तबोधोत्तरम् उपमानदेवदत्ताभिन्न उपमेयो यज्ञदत्त इति बोधः । गृहीतविशेषधर्म एव च साधारणधर्मः । लक्षणामूलकव्यञ्जनाजन्यबोधस्थले इवोभयोः शाब्दत्वं सुवचम् । अत एवोपमानोपमेययोः समानविभक्तिकत्वसिद्धिः । एवञ्च पूर्वपदार्थप्राधान्याभावेन नात्राव्ययीभावप्रसक्तिः,-तथापि प्रसिद्धत्वात्प्रकारवचनस्यैवात्र ग्रहणे तत्सामर्थ्याद् 'द्विमुनि' इत्यादाविव तदभावेऽपि समासः स्यात्,-अतोऽसादृश्ये इति सूत्रे कृतम् । तत्र कृते तु तद्भिन्नस्याव्युत्पन्नस्यैवात्र सूत्रे ग्रहणम् । न च यथाबलमित्याद्युदाहरणे प्रकारवाचिथालन्तस्यैव ग्रहणमस्तु, सादृश्यसम्पत्तीत्यनेन च समासोऽस्तु इदं सूत्रञ्च मास्तु, पूर्व-

सूत्रे यथाग्रहणञ्च मास्त्विति वाच्यम् । एतत्सूत्रारम्भसामर्थ्येन तत्र तदप्रयोगात् । तत्रार्थे साधोरन्यत्रार्थेऽसाधुत्वापत्तेश्च ।

यद्यपि 'यथाशब्द उपमान का द्योतन करता है' यह सभी विद्वानों का मत है । जिस विशेषता वाला इत्यादि पूर्व कथित बोध के बाद उपमान देवदत्त से अभिन्न उपमेय यज्ञदत्त है । ऐसा बोध होता है । गृहीत विशेष धर्म ही साधारण धर्म है । लक्षणामूलक व्यंजनाजन्य बोध में दोनों ही अर्थ शब्दजन्य होते हैं जैसे कि

"साधयन्ती सखि सुभगं, क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशं तावद्विरचितं त्वया ।।"

(मेरे लिये, मेरे पति को अनुकूल करने के लिए क्षण प्रतिक्षण खिन्न होती हो । सखी के कर्त्तव्य को तुमने स्नेह सदृश पालन किया) इस उदाहरण में 'मेरे पति के साथ रति करके तुमने शत्रुता प्रकट की है' यह अर्थ लक्ष्य है । लक्ष्य अर्थ के पश्चात् मेरा पति व्यभिचारी है, इस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है । इसलिये उपमान और उपमेय में एक ही विभक्ति होती है । इस तरह पूर्व पदार्थ के प्रधान के अभाव में अव्ययीभाव की प्राप्ति नहीं है । फिर भी प्रसिद्ध होने से यहाँ प्रकार वचन के ग्रहण करने से उसके सामर्थ्य से द्विमुनि इत्यादि की तरह पूर्वपद के प्रधान न होने पर भी समास हो जाता है । इसलिये सूत्र में असादृश्ये कहा । उक्त सूत्र में असादृश्य का ग्रहण करने से उससे भिन्न अव्युत्पन्न का ही सूत्र में ग्रहण है । अब यहाँ शंका करते हैं कि यथाबलम् इस उदाहरण में प्रकार वाची 'थाल्' प्रत्ययान्त का ही ग्रहण हो, सादृश्य सम्पत्ति से समास हो जायेगा । इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है । पूर्व सूत्र में यथाग्रहण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है । इस शंका का समाधान करते हुये कहते हैं—इस सूत्र के आरम्भ करने से उस स्थल में उसका प्रयोग नहीं होता है । इस अर्थ में सिद्ध करने पर अन्य अर्थों में असाधुता आ जायेगी ।

इदमेव सूत्रमव्युत्पन्नस्य तदर्थकस्य यथाशब्दस्य सत्त्वेन मानम् । तथा च भाष्ये 'असादृश्ये इत्युच्यते, तत्रेदं न सिद्ध्यति-यथाशक्ति यथाबलम् प्रकारे यस्थाल् तदन्तस्य सादृश्य एव वृत्तेः' इत्याशङ्क्य वीप्सादिवाचिनोऽत्र सूत्रे, यथाबलमित्युदाहरणे च ग्रहणमित्यर्थकोक्त्यनन्तरम् 'अथ यः प्रकारवचने थाल् तदन्तस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति, पूर्वेण प्राप्नोति सादृश्यसम्पत्तीति' इति पूर्वपक्षिणोक्ते 'प्रतिषेधवचनसामर्थ्यान्न भविष्यति'

इत्युत्तरितम् । नानेन भाष्येण प्रकृतसूत्रे प्रकारवचनथालन्तस्य ग्रहणं शङ्क्यते इति वक्तुं युक्तम् । असादृश्ये इत्यस्य सूत्रे श्रवणात् । यद्यपि तद्विस्मरणेनायं पूर्वपक्ष इत्यपि वक्तुं शक्यम् । तथापि पूर्वेण प्राप्नोतीत्यादेरसङ्गतिः । तस्मादुदाहरणे थालन्तस्य ग्रहणं तत्र सादृश्यार्थकेन समासं कृत्वाऽन्यत्रार्थे प्रयोगे बाधकाभाव इत्यभिमानेनार्थघटितं साधुत्वमित्यजानतोऽव्युत्पन्नसत्त्वे मानञ्चापश्यतः शङ्केयमिति युक्तम् । प्रतिषेधवचनेत्यस्य प्रतिषेधयुक्तैतद्वचनसामर्थ्यादित्यर्थः । एवञ्चाव्युत्पन्नतत्सत्त्वेऽर्थघटितं साधुत्वमित्यत्र चैतदेव मानमिति भावः ।

यही सूत्र अव्युत्पन्न पूर्वोक्त अर्थ वाले यथाशब्द के ग्रहण में प्रमाण है । जैसा कि भाष्य में पूर्वपक्षी ने कहा कि असादृश्ये कहते हैं । उसके कहने से यथाशक्ति एवं यथाबलम् की सिद्धि नहीं होगी । प्रकार में जो थाल् है तदन्त यथाशब्द की सादृश्य में ही वृत्ति है, ऐसी आशंका करके इस सूत्र में वीप्सावाची और यथाबलम् में भी वीप्सावाची का ग्रहण है, ऐसे अर्थ वाली उक्त के बाद 'थाल्' प्रत्ययान्त का ग्रहण क्यों नहीं होता है, सादृश्य सम्पत्ति अर्थ में पूर्व सूत्र से प्राप्त है । इसका उत्तर देते हुये कहते हैं 'निषेध वचन के सामर्थ्य के कारण नहीं होगा, इस भाष्य से प्रकृत सूत्र में प्रकार वाची थाल् प्रत्ययान्त के ग्रहण की शंका की है । यह कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि सूत्र में असादृश्ये का श्रवण है । यद्यपि उस विषय के विस्मरण से यह पूर्व पक्ष है, ऐसा भी कह सकते हैं तो भी पूर्व से प्राप्त होता है इत्यादि वचन की असंगति हो जायेगी । उदाहरण में थाल् प्रत्ययान्त का ग्रहण है, वहाँ सादृश्यार्थक के साथ समास करके अन्य अर्थ वाले प्रयोग में कोई बाधक नहीं है । इस अभिमान से अर्थ से युक्त साधुत्व है । इस वाक्य को न जानते हुये और अव्युत्पन्न के होने में प्रमाण को न देखते हुये यह शंका है— यह कहना ठीक है । प्रतिषेध वचन का अर्थ है प्रतिषेध युक्त इस वचन के होने से । इस प्रकार से अव्युत्पन्न उस शब्द की सत्ता में और अर्थघटित साधुत्व है । इन दोनों में यही प्रमाण है ।

यत्तु–प्रतिषेधेति प्रतीकमुपादाय 'यथार्थे यदव्ययमिति पूर्वेणैव सिद्धे समासे सादृश्यप्रतिषेधार्थत्वादस्यारम्भस्य' इति कैयटः, तन्न । सूत्रगृहीताव्ययेन तेन सूत्रेणासमासात् । नियमत्वापेक्षयैतदर्थज्ञापकत्वस्यैवोचितत्वात् । तत्र सूत्रे यथार्थशब्देन सादृश्या-

ग्रहणाच्च । अत एव तत्र सूत्रे सादृश्यग्रहणं चरितार्थम् । अत एव भगवता 'सादृश्यसम्पत्तीति प्राप्नोति' इत्युक्तम् । न च सादृश्यग्रहणं गुणभूतसादृश्यग्रहणार्थम् । लक्ष्यानुरोधेन प्रधानन्यायाप्रवृत्त्योभयत्रापि तेन सिद्धेः । यथा योग्यतायां यथार्थत्वेऽपि रूपस्य योग्यमनुरूपमित्यादौ तद्वदर्थकेनापि समासस्तद्वत् । पूर्वसूत्रे यथार्थग्रहणं तदर्थकान्याव्ययग्रहणार्थम् । एवञ्च यथाशक्तीति एतदुदाहरणमेवेति भाष्ये स्पष्टम् । वीप्सादावपि यथाशब्देन समासो भवत्येव । 'यदव्युत्पन्नं वीप्सावाचि तस्येदं ग्रहणम्' इति भाष्यात् । एवञ्च स्पष्टमेवोपक्रमोपसंहाराभ्यामस्य सूत्रस्य विधित्वं भाष्याल्लभ्यते । अत्र सूत्रे यथाशब्देन यथार्थस्य न ग्रहणं मानाभावात् । पूर्वसूत्रे तु (१) वचनग्रहणात्तथा, विभक्तिशब्देनेव (२) त्याहुः ।

जो कि—प्रतिषेधेति इस प्रतीक को लेकर 'यथा के अर्थ में जो अव्यय है वहाँ पूर्व सूत्र से ही समास सिद्ध है। इस सूत्र का निर्माण सादृश्य प्रतिषेध के लिये है'। यह कैयट का मत है परन्तु यह उचित नहीं है। वह सूत्र सूत्रगृहीत अव्यय के साथ समास नहीं करता है। नियम की अपेक्षा इस अर्थ का ज्ञापन करना ही उचित है और उस सूत्र में यथा शब्द से सादृश्य का ग्रहण भी नहीं है। इसलिये उस सूत्र में सादृश्य का ग्रहण चरितार्थ है। इसीलिये भाष्यकार ने सादृश्यसम्पत्तीति प्राप्नोति कहा। वहाँ पर सादृश्य का ग्रहण गुणीभूत सादृश्य के लिये है। यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि लक्ष्य के अनुरोध से प्रधानाप्रधानयोः इत्यादि न्याय की अप्रवृत्ति से प्रधान तथा अप्रधान दोनों में उसकी प्रवृत्ति होती है। जैसे योग्यता के यथार्थ होने पर भी अनुरूपम् इस लक्ष्य में (रूपस्य योग्यम्) इस विग्रह में अनुरूप इत्यादि में उस प्रकार के अर्थ वाले से भी समास जैसे होता है उसी तरह पूर्व सूत्र में यथार्थ का ग्रहण उस अर्थ वाले अन्य अव्ययों के ग्रहण के लिये है। इसी प्रकार यथाशक्ति यह भी उदाहरण है। यह भाष्य में स्पष्ट है। वीप्सा इत्यादि में भी यथाशब्द मे समास होगा ही। जो अव्युत्पन्न वीप्सा वाची है। उसका यह ग्रहण है ऐसा भाष्य में कहा। इसी प्रकार उपक्रम और उपसंहार से यह सूत्र विधायक है। यह स्पष्ट ही भाष्य से प्राप्त होता है। इस सूत्र में यथाशब्द से यथार्थ के अर्थ वालों का ग्रहण नहीं है क्योंकि उनके ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वसूत्र में वचनग्रहण यथा के अर्थ वालों का ग्रहण होता

है विभक्ति शब्द की तरह ।

यावदव (२।१।८) सङ्ख्यादिनेयत्तापरिच्छेदोऽवधारणम् । तद्बोधकं यावदित्यव्ययं समस्यते इत्यर्थः । अवधारणे किम् ? यावद्दत्तं तावद् भुक्तम् । कियद् भुक्तमिति नावधारयामीत्यर्थः ।

यावदव । संख्या आदि के द्वारा इतने का मान करना अवधारण है । अर्थात् संख्या या माप इत्यादि के द्वारा किसी वस्तु, स्थान आदि का परिमाप निश्चित करना । उसका बोधक यावत् अव्यय को प्राप्त होता है । जितना दिया उतना खाया । यहाँ संख्या आदि का निर्धारण नहीं है अर्थात् कितना खाया निश्चित नहीं होता ।

सुप्प्रतिना (२।१।९) । मात्राशब्दोऽल्पपर्यायः । पुनः सुब्ग्रहणमव्ययनिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा 'दोषामन्यमहः' इत्यादौ दोषादीनां वृत्तिविषये (१) सत्त्वप्रधानतादर्शनात्तादृशाव्ययेनैव समासः स्यात् ।

सुप्प्रतिना । मात्रा शब्द अल्पवाचक है । फिर सुप् का ग्रहण अव्यय की निवृत्ति के लिये है । सुप् के अभाव में 'दोषामन्यमहः' (दिन को रात्रि समझना) इत्यादि में दोषादिकों की वृत्ति के विषय में सत्त्वप्रधानता देखने से (अर्थात् लिङ्ग और संख्या का अन्वय होने से) उसी प्रकार के अव्ययों के साथ समास होता ।

वृक्षं प्रति इति । लक्षणे प्रतिः । कर्मप्रवचनीयत्वन्तु प्रतेः 'गतिर्गतौ' (८।१।७०) इति निघाताभावयेत्याहुः ।

वृक्षं प्रति इति । लक्षण अर्थ में प्रति है । प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा तो 'गतिर्गतौ' से निघात के अभाव के लिये है अर्थात् गति संज्ञा का बाध हो जाता है ।

अक्षशाला (२।१।१०) समस्यन्ते इति शेषः । पराजय एवेति । पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिः कपर्दैर्भवति । तत्र यदि सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति, तदा पातयिता जयति, अन्यथा जीयते । विपरीतवर्त्तने कर्तृत्वेनाक्षादेस्तृतीया । वृत्तौ परे (२) स्तदर्थः । 'अक्ष ङस् परि' इत्यलौकिकम् । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । वैपरीत्यञ्च जयापेक्षयेति भावः । अक्षेणेति । अक्षाभ्यां विपरीतं वृत्तामित्याद्यर्थे न समासो (३)

ऽनभिधानात् । अक्षत्वेनैकाक्षबोधे एवास्य साधुत्वम्, न तु तेन रूपेणानेकाक्षबोधे । एकत्वादिना बोधस्तु वृत्तौ नास्त्येवेति भाष्ये स्पष्टम् ।

अक्षशला । इसका शेष समस्यन्ते है । पराजय एवेति । (पराजय में ही होता है) पाँच कौडियों से खेला जाने वाला जुआँ पञ्चक कहलाता है। वहाँ यदि सभी पाँचों कौडियाँ चित्त या पट्ट गिरती हैं तो डालने वाला जीत जाता है अन्यथा दूसरों द्वारा जीता जाता है अर्थात् हार जाता है । विपरीत व्यवहार में कर्त्ता होने से अक्ष आदि से तृतीया होती है। वृत्ति में पर शब्द का विपरीतवर्तन अर्थ है । 'अक्ष ङस् परि' यह अलौकिक विग्रह है । नित्य समास होने के कारण यह स्वपद विग्रह है । जय की अपेक्षा पराजय ही वैपरीत्य है । अक्षेणेति । दो अक्षों से विपरीत हो गया इत्यादि अर्थ में अनभिधान न होने के कारण समास नहीं है । अक्षत्व रूप से एक अक्ष के बोधन से ही इसकी साधुता है। उस रूप से अनेकार्थबोधन में समास नहीं होता है। वृत्ति में एकत्वेन बोध तो नहीं है है, ऐसा भाष्य में स्पष्ट है ।

विभाषा (२।१।१) । यद्यपि एकार्थीभावे समासस्य, व्यपेक्षायां वाक्यस्य च सिद्धेरिदं व्यर्थम् । एकार्थीभावे एव समाससञ्ज्ञादिविकल्पस्तु (४) नेष्यते । एवं समासनिषेधसूत्राणि, 'नित्यं क्रीडा' (२।२।१७) इत्यत्र नित्यग्रहणञ्च व्यर्थम् । निषेधविषये एकार्थीभावाभावेन समासाप्राप्तेः । नित्याधिकारविषयेऽस्याभावेन वाक्याप्राप्तेश्च, तथापि लक्षणैकचक्षुष्कान् मन्दान् प्रति क्वैकार्थीभावो नित्यः, क्व पाक्षिकः, क्व नास्त्येवेत्यर्थबोधनार्थं सर्वमावश्यकम् । ध्वनितं चेदं 'समर्थानाम्' (४।१।८२) इति सूत्रे भाष्ये । लक्ष्यैकचक्षुष्कं प्रति 'समर्थः' (२।१।१) इति सूत्रे भाष्ये तत्प्रत्याख्यातम् । एवञ्च विशेषणीभूतैकार्थीभावस्य विकल्पादिबोधकानीमानि । अत एव 'पारेमध्ये' (२।१।१८) इति सूत्रे भाष्ये एकया वृत्तिर्विभाषा, परया वृत्तिविषयेऽनित्योऽपवादः' इत्युक्तम् । तत्र वृत्तिरेकार्थीभावः ।

विभाषा । यद्यपि एकार्थीभाव में समास तथा व्यपेक्षा में वाक्य के होने से विकल्प सिद्ध ही था, अतः यह सूत्र व्यर्थ है । एकार्थीभाव में समास संज्ञा का

विकल्प इष्ट नहीं है। क्योंकि संज्ञा के भाव और अभाव दोनों एक ही स्थान में नहीं होते हैं। इसी प्रकार समास के निषेध करने वाले सूत्र और 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः में नित्य ग्रहण व्यर्थ ही है। निषेध के विषय में एकार्थीभाव के अभाव से समास की प्राप्ति नहीं है। नित्याधिकार के विषय में इसके अभाव से वाक्य की प्राप्ति भी नहीं है तो भी सूत्र के अनुसार चलने वाले सामान्य बुद्धि वालों के लिये कहाँ एकार्थीभाव नित्य है, कहाँ पाक्षिक है, और कहाँ नहीं है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये सभी आवश्यक है। 'समर्थानाम्' सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट है। प्रयोगानुसार चलने वालों के लिये तो इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। भाष्य में इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। विशेषण को प्राप्त ही एकार्थीभाव के विकल्प के लिये बोधक है इसीलिये पारेमध्ये षष्ठ्यावा इस सूत्र के भाष्य में एक से वृत्ति की (समास) का विकल्प और दूसरी के द्वारा समास के विषय में अनित्य है, वहाँ समास का अर्थ एकार्थीभाव है।

एतत्सार्थ्यादिति । अत्रैतत्करणात् प्राक् तदसम्बन्धेन तद्विषये एकार्थीभावस्य नित्यत्वमिति भावः । नन्वेवं 'सुप्सुपा' इत्यस्यापि नित्यतापत्तिः । एवञ्च भाष्ये, सुप्सुपेत्युदाहरणभूते 'विस्पष्टपटुः' इत्यत्र विस्पष्टं पटुरितिविग्रहदर्शनासङ्गतिरत आह-सुप्सुपेति त्विति । एतत्समासानुवादेनैवाव्ययीभावादिसञ्ज्ञाविधानेन सिद्धे पुनस्तैः समाससञ्ज्ञाविधाने तदनित्यत्वज्ञापकम् । 'उपपदमतिङ्'(२।१।१९)'कर्तृकरणेकृता'(२।१।३) 'आख्यातमाख्यातेन'(का०वा०)इत्यादावुद्देश्याप्रसिद्ध्या 'अनेकमन्यपदार्थे'(२।२।२४) इत्यादौ त्र्यादिपदघटितसमासरूपोद्देश्याप्रसिद्धया तेषु समाससञ्ज्ञाविधानस्यावश्यकत्वेनार्थाधिकारानुरोधात्सर्वत्र (१)तस्य विधेयसमर्पकत्वम् । 'प्रथमानिर्दिष्टम्'(१।१।४३) इतिसूत्रे 'समासे' इत्यस्य समासत्वव्याप्यसञ्ज्ञाविधायके लक्षणयाऽव्ययादीनामुपसर्जनत्वं साधयितुं शक्यमिति न तदर्थं समाससञ्ज्ञाविधानं चरितार्थमिति भावः । विग्रहप्रदर्शनपरोक्तभाष्यादपि तस्यानित्यत्वं बोध्यम् ।

एतत्सार्थ्यादिति । इस सूत्र के यहाँ करने से इससे पूर्व विभाषा का सम्बन्ध न होने से वहाँ एकार्थीभाव नित्य है अर्थात् इससे पूर्व के सूत्र नित्य समास करते हैं। उक्त अर्थ स्वीकार करने से इससे पूर्व समास करने वाला सुप्सुपा भी नित्य

हो जायेगा। उस के नित्य मानने पर सुप्सुपा के उदाहरण "विस्पष्टपटुः" यह विग्रह प्रदर्शन असंगत हो जायेगा। क्योंकि नित्य समास में अस्वपद विग्रह होता है। सुप्सुपेति त्विति। इस सूत्र से समास के अनुवाद से ही अव्ययीभावादि संज्ञा के करने से सिद्ध था फिर उन-उन सूत्रों से समास संज्ञा का करना उसके अनित्यत्व का बोधक है। 'उपपदमतिङ्' 'कर्तृकरणेकृता' 'आख्यातमाख्यातेन' इत्यादि सूत्रों की अप्रसिद्धि होने से तथा अनेकमन्यपदार्थे इत्यादि में तीन रूप पद वाली समास की उद्देश्य की अप्रसिद्धि होने से उन सूत्रों में समास संज्ञा करने की आवश्यकता होने से और अर्थाधिकार के अनुरोध से सब जगह उसको विधेय समझना। प्रथमानिर्दिष्टम् इस सूत्र में समासे का समासत्व से व्याप्य संज्ञा के विधायक लक्षणा से अव्यय की उपसर्जन संज्ञा सिद्ध करने के लिये संभव है। इस-लिये उनके लिये समास संज्ञा का विधान चरितार्थ नहीं कह सकते। विग्रह प्रदर्शन परक उक्त भाष्य से उसका अनित्यत्व जानना चाहिये।

लक्षणेनाभिप्रती (२।१।१४) ॥ अभिप्रती आभिमुख्यस्याग्नेर्ज्ञापकत्वसम्बन्धेनान्वयस्य च द्योतकौ। अग्निज्ञाप्यं शलभकर्त्तृकं पतनमिति बोध उदाहरणे। तथाबोधे चाग्न्यभिमुखत्वं शलभपतनस्य लोकप्रसिद्धया मनसा गृह्यते इत्याभिमुख्यद्योतकताऽभिशब्दस्य।

लक्षणेनाभिप्रती। अभि और प्रति यह दोनों अग्नि का ज्ञापकत्व सम्बन्ध से आभिमुख्य के द्योतक हैं। अग्नि से ज्ञाप्य शलभकर्ता वाला पतन यह बोध होता है। उस प्रकार के बोध होने पर अग्नि के सन्मुख शलभों का पतन लोक-प्रसिद्ध होने से मन से ग्रहण होता है। यह अभिमुख शब्द की अभिशब्द की द्योतकता है।

अग्निज्ञाप्यं शलभकर्तृकं प्रत्यासत्त्याऽग्न्यभिमुखं पतनमिति बोध इत्यन्ये। कर्मप्रवचनीयद्योत्यसम्बन्धेनान्वयाद्वाक्ये द्वितीया, तदाह-अग्निमभीति। लक्षणेनेति किम् ? स्रुघ्नं प्रतिगतः। (१) स्रुघ्नादागतस्तमेव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः। आभिमुख्ये किम्? वृक्षं प्रति विद्योतते' इत्यादावाभिमुख्यद्योतनाभावे समासो मा भूदिति। अस्य समासस्य वैकल्पिकत्वेन पक्षे कर्मप्रवचनीयत्वं चरितार्थम्। अभिप्रती इति किम् ? अग्नेः सम्मुखं शलभाः पतन्तीत्यर्थे सांमुख्यार्थकसंशब्देन लक्षणत्वसम्बन्धेनान्वये समासो मा भूदिति।

अग्नि से ज्ञाप्य शलभ कर्ता वाला सामीप्य से अग्नि के सम्मुख गिरना इस प्रकार का बोध वही मानते हैं। कर्मप्रवचनीय से द्योत्य सम्बन्ध से अन्वय होने से वाक्य में द्वितोया हैं, वैसा कहा है अग्निमभीति । लक्षणेन के अभाव में स्रुघ्नं प्रतिगतः में भी समास हो जाता। स्रुघ्न से आया है वहाँ पर ही लौट के चला गया। यहाँ पर द्वितीया कर्म में है क्योंकि वह प्रतिनिवृत्त धातु का कर्म है। आभिमुख्य न कहने पर 'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' यहाँ पर आभिमुख्य द्योतन के अभाव में समास न हो। इस समास के विकल्प होने से पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा भी चरितार्थ है। अभिप्रती के ग्रहण न करने से अग्नि के सम्मुख पतंगे गिरते हैं इस अर्थ में 'सम्' शब्द के साथ लक्षणत्व संबन्ध से अन्वय करने पर समास का न होना ही प्रयोजन है।

अनुर्य (२।१।१५)। लक्षणेनेति वर्त्तते। समयेत्यधिकरण-शक्तिप्रधानम्। यदिति सामान्ये नपुंसकं द्वितीयान्तम्। यं पदार्थं समयेत्यर्थद्योतकोऽनुः तेन लक्षणभूतेन तद्वाचकेन समस्यते इत्यर्थ-स्तदाह–यमिति। वनादेर्लक्षणत्वं समीपद्वारा। स्वसामीप्येन हि वनेनाशनिदेशो ज्ञाप्यते। लक्षणत्वन्तु वस्तुसन्निमित्तं, न तु तेन सम्बन्धेनान्वयस्तदाह–वनस्य समीपमिति।

अनुर्य। इस सूत्र में लक्षणेन की अनुवृत्ति होती। समया अधिकरण शक्ति प्रधान है। 'यत्' सामान्य में नपुंसक होने से द्वितीयान्त है। जिस पदार्थ को समया इस अर्थ का द्योतक अनुः लक्षण भूत उसके वाचक के साथ समास को प्राप्त होता है इसलिये कहते हैं यमिति। समीपद्वारा वनादि लक्षण है। सामीप्य सम्बन्ध से वन अशनिदेश को ज्ञापित करता है अर्थात् वन के पास अशनिदेश है। लक्षण वस्तु होते हुये निमित्त है लक्षण सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता है वही कहते हैं–वनस्यसमीपमिति।

यस्य दैर्घ्यमिति। यद्दैर्घ्यसदृशदैर्घ्यमित्यर्थः। अत्रापि लक्ष-णत्वं वस्तुसदेव निमित्तं। तद् ध्वनयन्नाह–गङ्गाया अन्विति। तद्द्योत्यसम्बन्धेनान्वयाभावान्न द्वितीया। उपलक्षितेति। विशिष्टेत्यर्थः। दैर्घ्यसदृशदैर्घ्यविशिष्टत्वमनोरर्थः। तथा बोधे च गङ्गायां ज्ञापकत्वस्य गङ्गासमीपं गत इति बोधे च गङ्गायां ज्ञापकत्वस्य नियमेन मनसा बोधादन्यलभ्यत्वेन नात्र (२) तद् अनोर्द्योत्यमिति तात्पर्यम्। तेन सम्बन्धेनान्वये तु 'वनमनु'

'गङ्गामनु' इति द्वितीयैवेति बोध्यम् । 'निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं चमूम्' इति रामायणे प्रयोगात् । वाराणस्याः (३) स्वरूपेण ज्ञातत्वेऽप्यायामवैशिष्ट्येन ज्ञाप्यत्वं बोध्यम् ।

यस्य दैर्घ्यमिति । इसके लम्बाई के समान लम्बाई यहाँ भी लक्षण वस्तु होते हुये ही निमित्त है । उसी को ध्वनित करते हुये कहते हैं—गङ्गाया अन्विति । लक्ष्यलक्षणभाव द्योतकत्व के अभाव से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा के अभाव से गङ्गाया में द्वितीया नहीं होती है । उपलक्षितेति । उपलक्षित का अर्थ है विशिष्ट । लम्बाई के सदृश लम्बाई से युक्त यह अनु का अर्थ है । उस प्रकार के बोध में गङ्गा में ज्ञापकत्वका, गंगा के समीप-गया इस बोध में नियम से मन से बोध होने के कारण अन्य से प्राप्त होने के कारण यहाँ पर अनु द्योतक नहीं है । (जहाँ अन्य से प्राप्ति न हो वहाँ शब्द का अर्थ होता है) उस सम्बन्ध से अन्वय करने पर तो वनमनुगंगामनु के योग में द्वितीया ही होगी । 'निवेश्य गङ्गामनु तां महानदींचमूम्' यह बाल्मीकि रामायण के अनु के प्रयोग में द्वितीया दृष्टिगोचर होती है । यद्यपि असी और वरुणा नदी के मध्य को वाराणसी कहते हैं । इस प्रकार स्वरूप से ही ज्ञान होने पर भी दीर्घता के वैशिष्ट्य से ज्ञाप्यत्व जानना ।

तिष्ठद्गुप्र (२।१।१७) ॥ चेनैषां वृत्त्यन्तरे प्रवेशो न । आ तिष्ठद्गु जपेत्सन्ध्यां पश्चिमामाऽयतीगवात् ॥ इति भट्टिश्लोके तिष्ठद्, आ आयतीगवादिति भिन्ने पदे । इह–उक्तोदाहरणद्वये । तत्राद्ये शत्रादेशमात्रम् । प्रथमासामानाधिकरण्यात्तदप्राप्तिः । यद्यपि 'पचन्पुरुषः' इतिवत्सिध्यति, तथाऽप्युपायान्तरमिदम् । समासान्तश्चेति । इदमन्त्ये । चेनान्यपदार्थेऽव्ययीभाव इति बोद्ध्यम् ।

तिष्ठद्गुप्र । चकार से इनका अन्य वृत्ति में प्रवेश नहीं होता है । "गायों के आने से लेकर उनके ठहरने तक सायंकाल की सन्ध्योपासन करना चाहिये" इस भट्टि श्लोक में आतिष्ठद्गु, आ आयतीगवात् यह भिन्न–२ पद है । इन दोनों उदाहरणों में—यहाँ प्रथम उदाहरण में केवल शतृ करना है । प्रथमा के संग सामानाधिकरण्य होने से शतृ की प्राप्ति नहीं है । यद्यपि पचन्पुरुष की तरह सिद्धि हो सकती है तो भी यह दूसरा उपाय है । समासान्तश्चेति । यह दूसरे उदाहरण में आयतीगवात् में है । चकार से अन्य पदार्थ में अव्ययीभाव समास है ।

पक्षे षष्ठीति । अयं भावः–महाविभाषा नैकार्थीभावस्य विकल्प-

बोधिका, वृत्तिश्चैकार्थीभावे नित्येति येन नाप्राप्तिन्यायेनाव्ययीभावस्तत्पुरुषं बाधेत, यथैकदेशिसमासः षष्ठीतत्पुरुषम् इति (१) पक्षे तल्लाभाय पुनर्वाग्रहणमिति ।

पक्षे षष्ठीति । इसका तात्पर्य यह है—महाविभाषा एकार्थीभाव के विकल्प की बोधक नहीं है। एकार्थीभाव में वृत्ति नित्य होती है। येननाप्राप्तिन्याय से अव्ययीभाव तत्पुरुष का बाध कर देता है, जैसे एकदेश समास षष्ठी तत्पुरुष का बाध करता है, पक्ष में उसके (षष्ठी तत्पुरुष) लाभ के लिये फिर 'वा' का ग्रहण किया है।

सङ्ख्येत्यादित्रिसूत्री स्वभावात्समानाधिकरणविषया । वंश इति । एकस्वभावः सन्तानप्रबन्धो वंशः । द्वौ मुनी—पाणिनिकात्यायनौ । त्रिमुनि—भाष्यकृत् तौ च । स्वपदार्थप्राधान्य एवायं समासः । नन्वेवं 'त्रिमुनिव्याकरणम्' इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरत आह विद्येति। अन्ये तु बहुव्रीहौ त्रिमुनिव्याकरणम्, अव्ययीभावे व्याकरणस्य इति, स्वरभेदश्चेष्ट एवेत्याहुः ।

संख्या इत्यादि त्रिसूत्री स्वभाव से ही समानाधिकरण विषयक है अर्थात् समान विभक्ति में ही इनकी प्रवृत्ति होती है। वंश इति । एक स्वभाव वाले सन्तान परम्परा को वंश कहते हैं। द्वौ मुनी—अर्थात् पाणिनि और कात्यायन । त्रिमुनि—भाष्यकार पतंजलि, कात्यायन और पाणिनि । अपने पदार्थ में प्रधान होने पर ही यह समास होता है। त्रिमुनिव्याकरणम् में समान विभक्ति की अनुपपत्ति है। इसलिये कहते हैं विद्येति । अन्य लोग बहुव्रीहि समास में त्रिमुनि व्याकरण बनता है और अव्ययीभाव में व्याकरणस्य त्रिमुनि इन प्रयोगों में समास भेद से स्वर भेद इष्ट ही है। अर्थात् बहुव्रीहि में पूर्व पद प्रकृति स्वर होता है। और अन्य समासों में 'समासश्च' से अन्तोदात्त होता है।

परे तु विद्यावंशो नाम गुरुशिष्यपरम्परा । न चैतस्य मुनित्रयस्य तत्त्वे मानमस्ति । 'त्रिमुनिव्याकरणस्य' इति यदीष्यते तदेदं तिष्ठद्गुप्रभृतिषु पाठात्साध्यमित्याहुः । मूलं तु वृत्त्यनुसारेण । किञ्च 'न हि त्रिपुत्रो 'त्रिपुत्रव्यपदेशं लभते' इति न्यायेन द्विमुनीति व्यवहारसङ्गतिर्बोध्या । जन्मनोदाहरति—एकविंशतीति । एकविंशतिर्भरद्वाजा वंश्या इति विग्रहः । वृत्तौ 'तृतीया-

सप्तम्योः' [२।४।८४] इतिसूत्रस्थभाष्यप्रयोगात्तत्प्रमाण्येनोपकादि [२] ष्वनयोः पाठाद् 'यञञोश्च' [२।४।६४] इति-लुगभावो बोध्यः।

नागेश कहते हैं कि विद्यावंश तो गुरुशिष्य परम्परा है। मुनित्रय में उस प्रकार के वंश होने का कोई प्रमाण नहीं है। यदि व्यकरणस्य त्रिमुनि प्रयोग इष्ट है तो तिष्ठद्गु में पाठ मानकर सिद्ध कीजिये। मूल तो वृत्ति के अनुसार है। तीन पुत्र वाला दो पुत्र वाले व्यवहार को नहीं प्राप्त करता है। इस न्याय से द्विमुनि यह व्यवहार असंगत है। जन्मवंश का उदाहरण देते हैं—एक विंशतीति। एक विंशतिः भारद्वाजा वंश्याः यह विग्रह है। वृत्ति में 'तृतीयासप्तम्योः' इस सूत्र में स्थित भाष्य के प्रयोग के प्रामाण्य से उपकादियों में इन दोनों का पाठ होने से 'यञञोश्च' यञ् प्रत्यय का लुक् नहीं होता है।

नदीभिश्च (२।१।२०) ॥ अत्र च बहुवचननिर्देशान्न सञ्ज्ञाया ग्रहणं, नापि शब्दस्वरूपस्य। शब्दसञ्ज्ञात्वाच्च। किन्तु नदीत्यर्थग्रहणम्। तेन तद्वाचके सर्वत्र प्रवृत्तिः। एतच्च सङ्ख्या-सञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। समाहारे चेति। तत्रैवेत्यर्थः। एवञ्च तदविवक्षायां 'पूर्वकालैक' २।१।४९) इति समासे 'एकनदीतरः' सिद्धिः। अन्यथा समानाधिकरणतत्पुरुषं बाधित्वाऽव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वापत्तिः। 'अच् प्रत्यन्वव' (५।४।७५) इतियोगविभाग-सिद्धोऽभियुक्तोक्तः।

गोदावर्याश्च नद्याश्च सङ्ख्याया उत्तरे यदि।

इत्यच् तु न। योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वाद् भाष्यकृता तदनुक्तेश्चेति भावः।

नदीभिश्च। यहाँ बहुवचन होने से नदी संज्ञा का और स्वरूप का ग्रहण नहीं है। और शब्द संज्ञा होने से भी उन दोनों का ग्रहण नहीं है। किन्तु नदी से अर्थग्रहण करना। नदी के वाचक सभी शब्दों में उसकी प्रवृत्ति होती है। यह संख्या संज्ञा सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। समाहारेचेति। समाहार में ही यह अर्थ है। इस प्रकार समाहार की अविवक्षा में पूर्वकाल से समास करने पर एकनदीतरा भी सिद्ध होता है। अन्यथा उससे समास न करने पर समानाधिकरण तत्पुरुष को बाधकर अव्ययीभाव समास करने पर नपुंसक होने से ह्रस्व होने लगता। 'अच् प्रत्यन्वव'—इस योग विभाग से सिद्ध अभियुक्तों से

कहा—गोदावरी इत्यादि में अच् नहीं होता है। योग विभाग इष्ट सिद्धि के लिये होता है और भाष्यकार ने कहा भी नहीं है।

अन्यपदा (२।१।२१) ॥ सङ्ख्येति निवृत्तम् । नदीग्रहणमनुवर्त्तते । सञ्ज्ञाऽनवगमादिति । सञ्ज्ञेति कर्मण्यङ् । तेन सञ्ज्ञिनो देशविशेषस्यानवगमादित्यर्थः । नित्यसमास इति । तत्सदृश इत्यर्थः । तत्सादृश्यञ्च समाससमानार्थकवाक्याभावेन । समासघटकपदानां विग्रहस्त्वस्त्येव । महाविभाषाया असम्बन्धे मानाभावात् । अत एव 'द्वितीयतृतीय' (२।२।३) इति सूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणेनोत्सर्गापवादयोर्महाविभाषाविषयत्वेऽपवादाभावे उत्सर्गाप्रवृत्तिरित्यर्थे ज्ञापिते 'उन्मत्तगङ्गम्' इत्युदाहृतम् । अव्ययीभावेन मुक्ते बहुव्रीहिर्न' इति चोक्तं भाष्ये । अस्य नित्यत्वे तेन मुक्ते इत्यसङ्गतिः स्पष्टैव । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् ।

अन्यपदा । संख्या की निवृत्ति हो गयी और नदी ग्रहण की अनुवृत्ति होती है। सञ्ज्ञाऽनवगमादिति । संज्ञा शब्द से कर्म में अङ् प्रत्यय है। उससे संज्ञा वाले देश विदेश के अज्ञान से यह अर्थ है। नित्य समास इति । उसके समान यह अर्थ है। समास समानार्थक वाक्य का न होना ही उनका सादृश्य है। समास के मध्यवर्ती पदों का विग्रह तो है ही। महाविभाषा के असम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिये 'द्वितीय, तृतीय' अन्यतरस्याम् के ग्रहण करने से उत्सर्ग तथा अपवाद दोनों के महाविभाषा विषय होने पर अपवाद के अभाव में उत्सर्ग की अप्रवृत्ति होती है। इस अर्थ के ज्ञापन करने से उन्मत्तगङ्गम् यह उदाहरण दिया। अव्ययीभाव से मुक्त होने पर बहुव्रीहि नहीं होता है ऐसा भाष्य में कहा है। इसके नित्य होने पर उसके अभाव में यह उसकी सरलता या असंगति हो जाती है। अन्य स्थल में उसी प्रकार करना चाहिये।

समासान्ताः [५।४।६८] ॥ अत्र समासपदं यत्सम्बन्धयलौकिकविग्रहवाक्यपरम्, एवमव्ययीभावादिपदान्यपि तत्पराणि । अत एव 'बहुकुमारीकः' इत्यादौ ह्रस्वो न । 'गोस्त्रियोः' (१।२।४८) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टमेतत्, अन्तः' (६।२।६२) इति सूत्रे भाष्ये च । एवञ्चालौकिकविग्रहवाक्ये समासञ्ज्ञासमकालमेव समासान्ता इति सिद्धान्तः । न च पूर्वं समासान्ते तत्सन्नियोग-

शिष्टाद्युदात्तत्वे तदेकवाक्यतापन्ने पूर्वस्य निघाते च कृते पूर्वपदस्योदात्तस्वरितयोगित्वाभावेन पूर्वपदप्रकृतिस्वराप्रवृत्तौ टचश्चित्त्वं व्यर्थमिति वाच्यम् । तत्सामर्थ्येन समासान्तविधौ 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) इत्यस्यासम्बन्धज्ञापनात् । तेन समृद्धा पूर्यस्य समृद्धपुरो राजेत्यादौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरसिद्धिः । 'द्वित्रिभ्याम्' इति सूत्रस्थं समासे कृते समासान्ता इत्येतत्परं भाष्यमेकदेश्युक्तिः, उक्तभाष्यद्वयविरोधादित्यन्यत्र प्रपञ्चितम् । अन्तशब्दश्चरमावयववाची । स च समुदायावयवः । अत एव 'उपशरदम्' इत्यत्र 'नाव्ययीभावात्' (२।४।८३) इत्यम् 'अव्ययानाम्' (का० वा०) इति टिलोपाभावश्च सिद्धः । पूर्वभागस्याव्ययीभावत्वाभावेनानव्ययत्वात् ।

समासान्ता । यहाँ समास पद से सम्बन्ध रखने वाले अलौकिक विग्रह वाक्य को कहता है। अव्ययीभावात् पद भी एतदर्थक भी है। इसीलिये बहुकुमारीक को ह्रस्व नहीं होता है। गोस्त्रियो के भाष्य में यह स्पष्ट है। अतः इस सूत्र के भाष्य में भी स्पष्ट है। इस प्रकार अलौकिक विग्रह वाक्य में समास संज्ञा के साथ ही समासान्त प्रत्यय होते हैं। अब यहाँ शंका करते हैं—प्रथम समासान्त करने पर और उसके संयोग वाले आदि उदात्तत्व करने पर उससे एकवाक्यता को प्राप्त और पूर्व को निघात (अनुदात्त) करने पर पूर्व पद में उदात्त और स्वरित के योग के अभाव में पूर्व पद प्रकृतिस्वर की प्रवृत्ति न होने से टच् का चित्व व्यर्थ हो जायेगा, यह कहना उचित नहीं है। टच् के चित्व होने से समासान्त विधि में आद्युदात्तश्च की प्रवृत्ति नहीं होती है। जिससे कि सम्बन्ध के अभाव से ही समृद्धापूर्वस्य इस विग्रह में निष्पन्न समृद्धपुराः में पूर्व पद प्रकृति स्वर की सिद्धि होती है। द्वित्रिभ्याम् सूत्रस्थ समास करने पर समासान्त होते हैं। यह भाष्य एक देशी की उक्ति है क्योंकि पूर्वोक्त दो भाष्यों का विरोध ही इसमें कारण है। ऐसा कहा है। अतः शब्द अन्त्य अवयव को कहता है। वह समुदाय का अवयव है। इसी से उपशरदम् में नाव्ययीभावात् से अम् और अव्ययानाम् से टि लोप का अभाव भी सिद्ध होता है। पूर्व भाग में (अर्थात् उपशरद में) अव्ययीभाव के अभाव से अनव्यय होने के कारण टि लोप नहीं होता है।

यत्तु कैयटेन 'गोस्त्रियोः' (१।२।४८) इति सूत्रे समासपदस्य समासार्थविग्रहवाक्यस्थोत्तारलक्षणोत्तरपदावयवत्वमुक्तम् ।

तथा सरूपसूत्रे उक्तम्--'उत्तरपदावयवत्वमित्यपि भाष्यकारस्य मतम्' इति, तन्न । फलाभावात् । द्विपुरी' इत्यादौ स्त्रीत्वस्य लोकतः सिद्धेः लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' इति भाष्येण लिङ्गप्रकरणस्य नियमार्थत्वाभावबोधनात् । अत एव 'परवल्लिङ्गम्' (२।४।२६) इति सूत्रसत्त्वेऽपि 'द्विनावम्' 'अर्द्धखारम्' इत्यादौ नपुंसकत्वसिद्धिः । पञ्चराजम्' इत्यादावपि तत्प्रवृत्त्यापत्तौ 'अकारान्तोत्तरपद' इत्यत्रोत्तरपदग्रहणस्य व्यर्थत्वापत्तिश्च ।

कैयट गोस्त्रियोः इस सूत्र में समास पद की समास के लिये विग्रह वाक्य में स्थित उत्तरपद में लक्षणा करके उत्तरपद का अवयव समासान्त को स्वीकार किया है तथा स्वरूप सूत्र में भी कहा है 'समासान्त उत्तरपद का अवयव होता है यह भाष्यकार का मत है' यह उनका कथन ठीक नहीं है । उत्तरपद के अवयव मानने में कोई फल नहीं है । द्विपुरी त्रिपुरी में पुरी में स्त्रीत्व लोक से ही सिद्ध है । लिङ्गमशिष्यं इत्यादि लोकाधीन होने से लिङ्ग का विचार करना उचित नहीं है इस भाष्य से लिङ्गप्रकरण नियमार्थक नहीं है इससे 'परवल्लिङ्गम्' सूत्र के रहने पर भी द्विनावम् अर्द्धखारम् इत्यादि स्थल में नपुंसकलिङ्ग की सिद्धि होती है । (अन्यथा नौ और खारी के स्त्रीलिङ्ग होने से स्त्रीलिङ्ग होना उचित था ।) पञ्चराजम् में भी उसकी प्रवृत्ति होने से और 'अकारान्तोत्तरपद' इस सूत्र में व्यर्थ हो जाता ।

'अन्तः' (६।२।९२) इत्यादिसूत्रस्थभाष्यविरुद्धं चोत्तरपदावयवत्वम् । एवं हि तत्र भाष्यम्-'समासस्यान्तोदात्तत्वमुत्तरपदस्य वा' इति विकल्पे आद्ये 'इदम्प्रथमकाः' इत्यादौ कपोऽन्तोदात्तत्वापत्तिमुक्त्वाऽन्त्ये 'अनृचः' इत्यत्रान्तोदात्तत्वासिद्धिरित्युक्त्वा उभयोरपि प्रकरणेन लक्ष्यानुसारात्क्वचिदुत्तरपदान्तस्य क्वचित्समासान्तस्योदात्तत्वम् इति ।

उत्तरपद का अवयव मानना अन्तस्थ सूत्र के भाष्य के विरुद्ध है । वही भाष्य इस प्रकार है—'अन्तोदात्त समास को होता है अथवा उत्तरपद को होता है । ऐसे विकल्प में प्रथम पक्ष में इदम्प्रथमकाः इत्यादि में 'कप्' के लिये अन्तोदात्त हो जायेगा । इस प्रकार की आपत्ति को कहकर द्वितीय पक्ष में 'अनृचः' में अन्तोदात्तत्व की सिद्ध नहीं होगी । यह कहकर दोनों की ही प्रकरण से लक्ष्य के

अनुसार कहीं–कहीं उत्तरपद के अन्त को और कहीं समास के अन्त को उदात्त होता है ।

सरूपसूत्रस्थभाष्यं तदनाश्रयणेऽपि योजयितुं शक्यम् । तथाहि–कृतद्वन्द्वानां विभक्तौ परत एकशेष इति पक्षे 'ऋक् च ऋक् च ऋचौ असारूप्यादेकशेषो न प्राप्नोति' इति भाष्यम् । समासान्तानां समासावयवत्वेऽपि तत्प्राग्भागस्य विभक्तिपरत्वा-भावस्तद्विशिष्टस्य तु न सरूपत्वमिति तद्भावः । न च तस्या-नर्थक्येन तदनुक्त्या भाष्यस्य न्यूनता । द्वन्द्वावयवानामर्थवता-मेवैकशेष इत्यर्थे मानाभावात् । विशिष्टरूपोपादानाभावेन तत्परिभाषाया इहाप्रवृत्तेः । भाष्यान्तरं तु तादृशं नोपलभ्यत एवेति (१) दिक् ।

सरूप सूत्र में स्थित जो भाष्य है उसके अस्वीकार करने पर भी लगा सकते हैं । जैसा कि कहा है द्वन्द्व करने पर विभक्ति से परे एक शेष होता है । इस पक्ष में 'ऋक् च ऋक् च, ऋचौ' सारूप्य के अभाव में एकशेष की प्राप्ति नहीं होती है । समासान्तों को समास के अवयव मानने पर भी उसके पूर्व भाग से विभक्ति परे नहीं है । विभक्ति विशिष्ट में सारूप्य नहीं है—यह उसका भाव है । उसके अनर्थक होने से, उसके न कहने से भाष्य की न्यूनता है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ वाले द्वन्द्व के अवयवों का ही एक शेष होता है । ऐसे अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है । विशिष्ट रूप में उपादान के अभाव में है । अन्य भाष्य उस प्रकार का नहीं होता है ।

स च समासान्तो 'बहु जस् गोमत् जस्' इत्यवस्थायामलौ-किके वाक्ये सुपः परस्तादेव । ततः पूर्वत्वे तु वाच्यार्थविरोधः । न हि सुब्रहितं समासार्थं किन्तु तद्विशिष्टमेव । न च विशिष्ट-मेव सुबन्तत्वाभावेन सुब्रन्तासहित इतिसिद्धान्तविरोधः । तेषा-मर्थाभावेन 'परिपूर्णं पदम्' इति तन्मूलभूतन्यायस्यात्र विषया-भावात् । अत एव 'पुंयोगात्' (४।१।४८) इति सूत्रेऽत्यन्त-स्वार्थिकानां सुबुत्पत्तेः पूर्वमेवोत्पत्तिर्भाष्ये उक्ता ।

वह समासान्त 'बहु जस् गोमत् जस्' इस अवस्था में लौकिक वाक्य में

सुप् से परे होता है। सुप् से पूर्व मानने पर तो वाच्यार्थ से विरोध होगा। क्योंकि सुप् से रहित समासार्थ नहीं है किन्तु सुप् विशिष्ट ही समासार्थ है। विशिष्ट में सुबन्त के अभाव होने से सुबन्त से तद्धि की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धान्त से विरोध हो जायेगा यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उनके अर्थ के अभाव से 'परि-पूर्ण पदम्' इस न्याय का यहाँ विषय नहीं है। इसीलिये पुंयोगात् सूत्र में अन्यन्त स्वार्थिकों की सुप् की उत्पत्ति से पूर्व में ही उत्पत्ति होती है।

किञ्च समासान्तप्रकरणे 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (४।१।१) इत्यस्याप्यसम्बन्धः। तस्यामवस्थायां वाक्यस्याप्रातिपदिकत्वात्। तत्र कबुत्पत्तिकाले एव तत्पूर्वभागस्य समाससञ्ज्ञा, विरोधा-भावात्। समासान्तस्य च तद्वाक्यावयवत्वेन तद्ग्रहणेन ग्रहणात् 'बहुकुमारीक' इत्यादावुपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तप्रातिपदिकाभावान्न ह्रस्वः। कब् ह्रस्वादन्तरङ्गतरः। तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्। 'येषां पदानां समासो, न तावत्तेषामन्यद्भवति कपं तावत्प्रतीक्षते' इति भाष्येण स्पष्टं तथाऽभिधानात्। तत्राद्यस्य 'तावत्' कपः प्रथम-मित्यर्थः। अन्यत् समासञ्ज्ञारूपं कपा स्वभवनाय कपं पश्य-तीत्यर्थः। पूर्वं स्वप्रवृत्तौ हि तदर्थकवाक्याभावेन कप्शास्त्र-वैयर्थ्यभिया तद्भवनकालप्रतीक्षा। अन्यथा तदनपेक्षत्वेन कप्प्र-तीक्षोक्तिरत्यन्तासङ्गता स्यात्। अत एव 'प्रत्ययस्थात्' (७।३।४४) इति सूत्रभाष्योदाहृते 'बहुचर्मिका' इत्यादावापः सुपः परत्वाभावादित्वसिद्धिरिति दिक्।

और समासान्त प्रकरण में 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इसका भी सम्बन्ध नहीं है। उस अवस्था में वाक्य प्रातिपदिक नहीं है वहाँ कप् की उत्पत्ति के समय में उसके पूर्वभाग की समास संज्ञा है। क्योंकि इसमें विरोध का न होना ही कारण है। समासान्त को समास के वाक्य में अवयव होने के कारण उसके ग्रहण से उसका ग्रहण होने से बहुकुमारी प्रयोग में उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक के अभाव से ईकार को ह्रस्व नहीं होता है। कप् से पूर्व ह्रस्व का होना भी संभव नहीं है क्योंकि ह्रस्व से कप् अन्तरंगतर है। तादर्थ्य होने से लक्षणा से ताच्छब्द का प्रयोग है। जिन पदों का समास होता है उस समय उनको अन्य कुछ नहीं होता है। केवल कप् की प्रतीक्षा करती है। इस प्रकार भाष्य में स्पष्ट ही कहा है। पहले तावत् का कप् से पूर्व यह अर्थ है दूसरा समास संज्ञा रूप कप् के साथ अपने होने

के लिये कप् की प्रतीक्षा करता है। पूर्व में अपनी प्रवृत्ति में उसके अर्थ वाले वाक्य के अभाव से कप् शास्त्र के व्यर्थ होने के भय से कप् के होने के काल की प्रतीक्षा करता है। कप् के होने की प्रतीक्षा न करने से कप् की प्रतीक्षा करता है यह उक्ति असंगत हो जाती। इसी से प्रत्ययस्थात् इत्यादि सूत्र के भाष्य में उदाहरण के रूप में दिये गये बहुचर्मिका इत्यादि प्रयोग में आप् के सुप् से परे न होने से इत्व की सिद्धि होती है।

अथाव्ययीभावेऽसाधारणसमासान्तानाह–अव्ययीभावे (६।३।८१)। अव्ययीभावे उत्तरपदतया वर्त्तमानं यच्छरदादिप्रकृतिकसुबन्तं तदन्ताट्टच्। स च समासार्थविग्रहवाक्यस्यान्तावयव इत्यर्थः। 'राजाहः' (५।४।९१) इत्यतष्टजनुवर्त्तते। अन्नन्तादव्ययीभावादित्यादि तु फलितार्थपरतया कथञ्चिन्नेयम्। अत्र गणे ये झयन्तास्तेषां 'झयः' (५।४।१११) इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठ इति केचित्। प्रत्यक्षमिति। 'लक्षणेनाभि'(२।१।२४) इति समासः। परोक्षमिति। इन्द्रियाजन्यज्ञानम्। विषये त्वर्शआद्यजन्तः प्रयोगः। नन्वत्राव्ययीभावाप्राप्तिरत आह–सामर्थ्यादिति।

परस्यौकारेति। परशब्दस्य ओकारान्तादेश इत्यर्थः। एङ् इति पूर्वरूपत्वम्। परस्योकारेति पाठे परस्याक्षिशब्दस्यादेरुकार इत्यार्थः। आद् गुणः।

अर्श आद्यचीति। धर्मपराद्दिति भावः। अत्र गणसूत्रे परग्रहणं प्रक्षिप्तमिति 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) इतिसूत्रस्थभाष्यकैयटस्वरसः। तत्र हि समासान्तोऽपि निपातनात्साधितः।

अव्ययीभाव में असाधारण समासान्त को कहते है–अव्ययीभावे। अव्ययीभाव में उत्तर पद में विद्यमान जो शरदादि प्रकृति वाले सुबन्त ऐसे सुबन्तान्तों से टच् होता है। वह समासान्त विग्रह वाक्य का अन्त अवयव होता है। 'राजाहः' इत्यादि से यहाँ टच् की अनुवृत्ति होती है। अन्नन्त अव्ययीभाव से (समासान्त) होते हैं। यह फलितार्थ है (वाच्यार्थ नहीं है) इसलिये किसी प्रकार से उसको सिद्ध करना। जो झयन्त शब्द है उनको 'झयः' से विकल्प से टच् प्राप्त था। इस गण में नित्य टच् करने के लिये उनका पाठ है। यह किसी का मत है। प्रत्यक्षमिति। लक्षणेनाभि सूत्र से समास है। परोक्षमिति। इन्द्रिय से न होने वाला ज्ञान। अर्शाद्यचु से अच् करके विषय में उसका प्रयोग है। यहाँ अव्ययीभाव को

अप्राप्ति है। यह शब्द करके कहते हैं–सामर्थ्यादिति।

परस्यौकारेति। परशब्द को ओकारान्तादेश हो जाता है। एङ् से पूर्व रूप हो जाता है। पर को ऊकार होता है इस पाठ में पर अक्ष शब्द को ऊकार होता है। आद् गुणः से गुण होता है।

अर्श आद्यचीति। धर्मपरक होने से इस गण सूत्र में पर का ग्रहण प्रक्षिप्त है अर्थात् नहीं है परोक्षे लिटि सूत्र के भाष्य और कैयट का यह मत है वहाँ समासान्त प्रत्यय भी निपातन से सिद्ध किया है।

पूजार्थमिति। वेति वक्तव्ये तत्पूजार्थमपीत्यर्थः। अन्यतरस्याङ्ग्रहणस्य तु स्वरितत्वं नास्त्येव। अत एव 'नदीपौर्णमासी' (५।४।११०) इति सूत्रं नदीशब्देन विशेषाणामग्रहणे शरदादिषु विपाट्शब्दपाठस्य ज्ञापकत्वमुक्तं सङ्ख्यासञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये नदीत्यादेर्वैकल्पिकत्वे नित्यत्वाय पाठस्यावश्यकतया ज्ञापकत्वासङ्गतिः स्पष्टैव। तत्र झयन्तपाठस्तु प्रपञ्चार्थः। तत्र नदीसञ्ज्ञकस्य न ग्रहणं, पौर्णमास्यादिग्रहणात्। न च 'अशब्दसञ्ज्ञा इति निषेधात्स्वरूपस्यापि ग्रहणं न स्यादिति वाच्यम्। लक्ष्यानुसारेण सामर्थ्येन च तस्यात्र त्यागात्। अत एव तत्सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातमिति प्रामाणिकाः।

इत्यव्ययीभावः।

पूजार्थमिति। गिरेश्च वा कहना था फिर सेनक का ग्रहण पूजा के लिये हैं। और अपि से विकल्प के लिये है। अन्यतरस्याम् ग्रहण में तो स्वरितत्व नहीं है। इसलिये उसकी अनुवृत्त यहाँ नहीं हो सकती थी इसीलिये नदीपौर्णमासी सूत्र में नदी शब्द से विशेषों का ग्रहण नहीं होता है इसमें शरदादि गण में विपाट्शब्द का पाठ ही व्यापक है। यह संख्या संज्ञा सूत्र के भाष्य में कहा है। नदी आदि के वैकल्पिक होने से नित्य टच् करने के लिये पाठ की आवश्यकता होने से ज्ञापक देना सर्वथा असंगत था। वहाँ झयन्त पाठ प्रपञ्च के लिये हैं। वहाँ पौर्णमासी आदि के ग्रहण से नदी संज्ञा वालों का ग्रहण नहीं है। स्वं रूपम् सूत्र में अशब्द संज्ञा के निषेध करने से स्वरूप का भी ग्रहण संभव नहीं है। यह कहना उचित नहीं है क्योंकि प्रयोगानुसार और सामर्थ्य से यहाँ उसका त्याग कर दिया है। और उस सूत्र का भाष्य में प्रत्याख्यान भी है इस सूत्र का भाष्य में प्रमाण भी है।

॥ इत्यव्ययीभावः ॥